य' साङ्ख्यपुरुष इव प्रकृतीरजाः स्वाः
स्वोपासनेन कुरुते बहुधा कृतार्था,
शान्त स्वय स्वरतिरेव पुनस्तटस्थ-
स्तस्मै नमोऽस्तु मुनये किल मोहनाय।

—नारायणशास्त्री खिस्ते

●

श्रुत्वा त्वन्नवशान्तिमन्त्रमपरं निस्तब्धभूत जगद्
हिंसास्त्राणि वृथेति सत्यमवनौ ज्ञात च सर्वैर्जनैः,
त्व देवोऽसि समस्तमानवकुले त्व सेवको वै पर
शब्दे या तव शक्तिरस्ति महती स्वातन्त्र्यदात्र्यस्तु सा।

—बादरायण

●

जडवाद जर्जरित जग मे तुम अवतरित हुए आत्मा महान!
यन्त्राभिभूत युग मे करने मानव-जीवन का परित्राण।
बहु छाया-बिम्बो मे खोया पाने व्यक्तित्व प्रकाशमान,
फिर रक्तमास प्रतिमाओ मे फूंकने सत्य से अमर प्राण।
ससार छोडकर ग्रहण किया नरजीवन का परमार्थ-सार,
अपवाद बने मानवता के, ध्रुव नियमो का करने प्रचार!
हो सार्वजनिकता जयी, अजित! तुमने निजत्व निज दिया हार,
लौकिकता को जीवित रखने तुम हुए अलौकिक हे उदार।

—सुमित्रानन्दन पत

●

गीता माझि तुम्ही, श्रुतिस्मृनि तुम्ही, तुम्हीच सत्सस्कृति,
त्याचा अर्थ मला विशक शिकवी ती आपुली सत्कृती।

—साने गुरु

●

पेरकोल्लै वपियाम पोर वपि इकष्ण्ताय अदनि तुम तिरन पेरिछुडैत्ताम
अरु कलैवाणर मेयत्तोण्डर तगल अर वपि एन्दनी अरिन्दाय,
नेरु किय पयन सेर ओत्तुपैयामै नेरियिनाल इन्दियाविकु
वरदगहि कण्डु पहेत्तोपिल मरन्दु वैयहमवाप्ह नल्लरत्ते।

—सुब्रह्मण्य भारती

नीति : धर्म : दर्शन

[गांधी जी]

•

प्रधान सम्पादक
श्रीरामनाथ 'सुमन'

•

उत्तर प्रदेश गांधी-स्मारक-निधि
सेवापुरी : वाराणसी

•

प्राप्ति-स्थान
गांधी-साहित्य-प्रकाशन
इलाहाबाद

[दर्शन]

अन्त में :

नीति : धर्म : दर्शन

सकेतार्थ

महात्मा गाधी	सकलन, गाधी हिन्दी पुस्तक भण्डार कालवादेवी बम्बई, सस्करण पौष १९७८।
इ० ओ०	इण्डियन ओपीनियन गाधी जी का अग्रेजी-गुजराती-हिन्दी विचार-पत्र।
य० इ०	यग इण्डिया गाधी जी का अग्रेजी साप्ताहिक विचार-पत्र।
हि० न० जी०	हिन्दी-नवजीवन गाधी जी का हिन्दी साप्ताहिक विचार पत्र।
न० जी०	नवजीवन गाधी जी का गुजराती साप्ताहिक विचार-पत्र।
ह० से०	हरिजन-सेवक गाधीजी का हिन्दी साप्ताहिक विचार-पत्र।
ह० ज०	हरिजन गाधी जी का अग्रेजी साप्ताहिक विचार-पत्र।
ह० ब०	हरिजन-बन्धु गाधीजी का गुजराती साप्ताहिक विचार-पत्र।
स० गा० वा०	सम्पूर्ण गाधी वाड्मय भारत-सरकार का प्रकाशन।
गा० से० स०	गाधी-सेवा-सघ गाधी जी की विचारधारा मे सर्वांगीण श्रद्धा रखनेवाले विचारको एव कार्यकर्त्ताओ का सघ।
म० प्र०	मगल प्रभात सकलन, नवजीवन प्रकाशन।
म० भा० डा०	महादेव भाई की डायरी। न० जी० प्रकाशन।
हि० स्व०	हिन्द स्वराज्य गाधी जी के समाज-रचना-सम्बन्धी मौलिक विचारो की, उन्ही द्वारा लिखित, पुस्तक।
इ० हो० रू०	इण्डियन होमरूल हिन्द स्वराज्य का अग्रेजी सस्करण।
बापू की छाया मे	सस्मरण, लेखक श्री बलवन्त सिह (नवजीवन प्रकाशन)।
कुछ पुरानी चिट्ठिया	श्री जवाहरलाल के पत्र, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली।
प्रा० प्र०	प्रार्थना-प्रवचन, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली।
आ० क०	आत्मकथा। न० जी० प्रकाशन।
हि० आ० क०	हिन्दी आत्मकथा।

अशुद्धि-संशोधन

[बहुत सावधानी रखने पर भी टाइपिंग की भूल के कारण कुछ अशुद्धियाँ रह गई है। कुछ प्रमुख अशुद्धियाँ नीचे दी जा रही हैं, कृपया उन्हे शुद्ध कर ले। इनके लिए हम क्षमाप्रार्थी है। —सम्पादक।]

पृष्ठ	अशुद्ध रूप	शुद्ध रूप
२४	सूक्ति ६२ मे आचरण-रहित विकार	आचरण-रहित विचार
२७	सूक्ति ७५ मनुष्य स्वय०	इसे ७६ क्रम पर होना चाहिए।
२८	,, ७६ क्रोध	इसे ७७ होना चाहिए।
२८	,, ७७ मानव की०	इसे ७८ होना चाहिए
२८	,, ७८ आलस्य	इसे ७५, पृष्ठ २७ पर होना चाहिए
२८	,, ३।३।१९३७	इसकी तिथि ३।३।१९३६ होनी चाहिए
३१८	पहिली सूक्ति के अन्त मे जहाँ तिथि दी गई है, उसमे 'अग्रेजी से' के आगे 'स्टार' शब्द जोडिए।	
३८७–८८	१२ सख्यावाला 'गोरक्षा०' की सख्या १३ होनी चाहिए और ३८८ के १३ की १२ होनी चाहिए।	
४१५	५२ सख्यक 'वर्ण और आश्रम' लेख की सख्या ५३ होगी और यह लेख पृष्ठ ४१७ के लेख न० ५३ के बाद होना चाहिए। ५२ तिरपन और तिरपन ५२ हो जायगा।	
८४८	लेख के अन्त मे ३०।७।३५ की जगह ३०।७।१९२५ होना चाहिए।	

प्राक्कथन

गाधी-साहित्य-प्रकाशन

भारत मे गाधी जी ने एक नये युग का प्रवर्तन किया, ऐसा हम कह सकते हैं। स्वय गाधी जी ने कभी नही कहा कि गाधी-मार्ग कोई नई चीज है। वैसे तो सत्य और अहिंसा का मार्ग ही उन्होने नये सस्कारो से अधिक तेजस्वी बनाया और उसका अभिनव रूप न केवल भारत के सामने वर अखिल मानव-जाति के सामने रक्खा। जो समझते है कि गाधी जी ने केवल भारत की स्वतन्त्रता का मार्ग बताया और अहिंसा से उसको पूर्ण करने की प्रक्रिया बताई वे गाधी जी को पूर्ण रूप से नही समझते। गाधी जी केवल एक राष्ट्राभिमानी आदमी ही नही थे, हम कह सकते है कि भारतीय और जागतिक जो धर्म और सस्कृतिया है उन सबो का पूर्ण मन्थन करके मानवता के विकास के लिए जो मार्गदर्शन करना चाहिए था वह गाधी जी ने किया। इस दृष्टि से देखें तो गाधी जी का उपदेश एक अखिल मानव-कुलव्यापी और विशेपत इस युग मे सब देशो को और लोगो को नई प्रेरणा देने वाली चीज है।

वैसे तो हिन्दी मे गाधी-साहित्य काफी प्रकाशित हुआ है। दूसरे-दूसरे लेखको ने और प्रकाशको ने इस क्षेत्र मे अच्छा काम किया है। परन्तु गाधी-स्मारक निधि का विशेप कर्त्तव्य है कि गाधी जी के विचारो का जो विपयानुसार निचोड है वह उन्ही के शब्दो मे प्रकाशित करे। यदि कोई ऐसा मनुष्य है कि जो हिन्दी के अतिरिक्त दूसरी भापा नही जानता तो उसके लिए गाधी-स्मारक-निधि का यह प्रकाशन गाधी विचारो का विराट स्वरूप दिखा सकता है।

इस दृष्टि से उत्तरप्रदेश गाधी-स्मारक-निधि ने गाधी साहित्य-प्रकाशन का बहुत महत्व का बोझ उठाया है। इस काम मे श्री रामनाथ 'सुमन' जैसे प्रधान सम्पादक मिल गये हैं, यह एक सौभाग्य की बात है।

गाधी जी के विचारो का प्रसार केवल भारत की ही नही किन्तु दुनिया की भिन्न-भिन्न भापाओ मे भी हुआ है। आजकल बहुत बडे-बडे विद्वान और दुनिया के विचारशील लेखक गाधी जी के विचारो का अध्ययन कर रहे है और उनके बारे मे अपने विचार प्रकट कर रहे हैं। इसका मुख्य कारण तो यही है कि आजकल के अणु-युग मे प्रेम, शान्ति, सहयोग इनका जो सन्देश गाधी जी ने दिया वह बहुत

मूल्यवान है। जैसे बुद्ध भगवान ने मैत्री, करुणा, कल्याण इस त्रिपुटी का स्वय अनुभव लेकर अपनी सम्बोधि के पश्चात् मानवो को अपना सन्देश दिया उसी तरह गाधी जी ने आजकल की परिस्थिति मे नया सन्देश दिया है।

गाधी जी केवल एक विचारशील आदमी ही नही थे, वे आचार को प्रधान मानते थे। जिस विचार को आचार मे नही ला सकते उसे वे बहुत गौण समझते थे। साथ ही साथ वे बडे भक्त थे अर्थात् परमात्मा के सतत् चिन्तन मे वे अपना जीवन बिताते थे। इस दृष्टि से वे न केवल कर्मयोगी थे किन्तु भक्तियोगी और ज्ञानयोगी भी थे।

उन्होने जो कुछ लिखा है वह उनके अन्तर्बाह्य जीवन पर प्रकाश डालने वाला भाष्य है। हम कह सकते हैं कि गाधी जी, उनकी जीवनी, उनके विचार और उन्होने भारत और दक्षिण अफ्रीका मे जो प्रयोग किये और उनमे जो कामयाबी मिली, वह सब एक महाभारत है। अक्सर ऐसा होता है कि कार्य करने वाले या ग्रन्थ लिखने वाले और उसका अर्थ लगाने वाले भिन्न-भिन्न होते है। परन्तु गाधी जी की विशेषता यह है कि उन्होने स्वय विचार किया, उनको ही दर्शन हुआ, उस दर्शन को उन्होने प्रत्यक्ष कार्य-रूप दिया और उस पर भाष्य भी लिखा। वे मानव-मन, मानव-जीवन, और मानव-समाज इन विषयो की ओर वैज्ञानिक दृष्टि से देखने वाले और प्रयोग करने वाले महापुरुष थे। यह ध्यान मे रखकर हमे उनके जीवन और विचारो का अध्ययन करने की आवश्यकता है। उस अध्ययन की दिशा मे गाधी स्मारक निधि का यह जो प्रयत्न है वह अवश्य स्वागत करने योग्य है।

मैं इस प्रयत्न को बधाई देता हुआ चाहता हू कि यह पूर्ण यशस्वी हो और प्रत्येक हिन्दी पाठक इसका पूर्ण लाभ ले।

—रगनाथ दिवाकर

प्रस्तावना

श्री सुमनजी-जैसे सम्मान्य व्यक्ति के आग्रह पर ये पंक्तियाँ लिखने उद्यत तो हो गया हूँ, लेकिन मन मे एक अजीब-सी हिचक, घबराहट और सकोच है। कारण स्पष्ट है। एक तो यह विषय ऐसा है कि जिसके सम्बन्ध मे मैं किसी प्रकार का अधिकार नही रखता हूँ। जब मेरी बुद्धि आज की अपेक्षा भी अधिक अप्रगल्भ और अपरिपक्व थी तब मैं बिना हिचकिचाये, नीति, धर्म और दर्शन के विषय मे मत बनाता था, मत रखता था, और मत-प्रतिपादन करता था। अब कम-से-कम इतनी तो समझ आ गई है कि मैं वह सब नासमझी के कारण करता था। इसलिए यहाँ मैं अपनी किसी धारणा, मत या विश्वास का प्रतिपादन करने की चेष्टा से यथासभव बचूँगा।

दूसरे, मुझसे एक ऐसी विभूति के धार्मिक विश्वासो, मान्यताओ और मन्तव्यो के विषय मे लिखने को कहा जा रहा है, जिसका विभूतिमत्व सदैव अनाकलनीय रहा। गाधी का विभूतिमत्व स्थिर और एकविध कभी नही रहा। उनका विभूति-मत्त्व निरन्तर प्रगतिपरायण और विकासोन्मुख रहा। उसमे जडता की स्थिरता या पूर्णता की परिणतावस्था कभी नही आई। पुण्यसलिला गगाजी की पवित्र धारा की तरह उसमे सतत-सजीवता और नित्यनूतनता रही। गगाजी की धारा मे सातत्य है परन्तु वह सजीव सातत्य है। प्रतिक्षण प्रवाह नूतन होता है। असल मे जीवन की इस गतिशीलता मे ही उसकी निर्मलता है। गाधी की विभूति इस निर्मलता से ओतप्रोत है। इसी निर्मलता का नाम तटस्थता या नम्रता है। जो तटस्थ और नम्र नही है, वह जिज्ञासु कभी नही हो सकता, और अखण्ड जिज्ञासा तो धार्मिक व्यक्ति का शील ही है। जहाँ जिज्ञासा नही वहाँ अभिमान और आग्रह होता है। अभिमान अपने अनुभव का, आग्रह अपने सिद्धान्तो का। इस प्रकार का आग्रह गाधी की मति को छू तक नही गया था। इसीलिए वे सत्य के आग्रह का अगीकार कर सके। जहाँ दूसरे किसी आग्रह के लिए स्थान है वहाँ सत्य के आग्रह के लिए कोई अवकाश ही नही रह सकता। इसलिए गाधी के जीवन मे किसी सिद्धान्त का, किसी विचार-सम्प्रदाय का, या किसी धर्म-पन्थ का आग्रह नही पाया जाता। उनकी सत्यनिष्ठा के सम्मुख ग्रन्थ-निष्ठा, विभूति-निष्ठा और

सम्प्रदाय-निष्ठा सभी गौण है। उनके जीवन मे गतिशीलता है, निरन्तर और अकुण्ठित प्रयोगशीलता है, लेकिन उस प्रवाह की एक निश्चित दिशा है, जैसे गगाजी की धारा की एक निश्चित दिशा है। वह दिशा है, सत्य के शोध की। गगा सागरोन्मुख है, गाधी सत्याभिमुख है।

गाधी के परम सुहृद दिवगत हेनरी पोलक ने एक पुस्तक की भूमिका मे गाधी के विषय मे लिखा था—"इस आदमी का व्यक्तित्व पकड मे नही आता। वह यहाँ है, वहाँ है, और कही है, इस विचार से ज्यो ही आप उसका स्पर्श करने दौडते है, त्योही वह वहाँ से खिसक जाता है।" यही उपयुक्त भी है। सत्यनिष्ठा का यही स्वरूप है। जो सत्यनिष्ठ है वह सुसगति का कायल नही होता। सुसगतता को वह सत्यनिष्ठा मे प्रत्यवायस्वरूप मानता है। यह कोई जरूरी बात नही है, कि जो सत्य है वह हमेशा सुसगत ही होगा। इसलिए गाधी के जीवन मे, उनकी उक्तियो मे और लेखो मे सुसगतता का आग्रह कही नही है। सत्यपरायण व्यक्ति के लिए सुसगतता एक मिथ्या दैवत है, जो सत्य की खोज मे अन्तराय बन जाता है। अतएव उन्होने कहा था कि मैने किसी विषय के सम्बन्ध मे सबसे आखिर मे जो कहा हो उसी को मेरा यथार्थ मन्तव्य मानो। उससे पहिले मैंने जो कहा हो उसे गलत मानो। यही प्राजलता है। यह बालसुलभ प्राजलता, जिसे ईसा ने 'इन्नोसेंस' या निरागसता कहा है, ही सहज सत्यनिष्ठा का सत्त्व है। यह निरागसता या नम्रता कोई गुण नही है, और न वह कोई व्रत हो सकता है। 'मगल-प्रभात' मे व्रतो का विचार करते हुए गाधी ने इसका स्पष्टीकरण किया है। इसीलिए उनके जीवन मे और उनकी भाषा मे सत्यनिष्ठा की अनलकृत स्वाभाविक सुरम्यता है।

जो सत्य के शोध मे मग्न हो, उसके लिए जीवन की अन्य महनीय विभूतिया गौण हो जाती है। गाधी ने नीति, धर्म और दर्शन के अनेक अगोपागो के विषय मे समय-समय पर कभी अत्यन्त भिन्न, और कभी परस्पर-विरोधी विचार भी व्यक्त किये है। परन्तु उन सब मे सत्यनिष्ठा का सूत्र अनुस्यूत है। इस दृष्टि से सनातन धर्म, इस्लाम, ईसाई धर्म, वेद, उपनिषद, गीता, रामायण, महाभारत, कुरान या बाइबिल के विषय मे उन्होने जो कहा है उसे उनका पारमार्थिक विचार नही मानना चाहिए। वह उनकी विभूति का 'उपादान' नही है। इसलिए अवान्तर दृष्टि से उनका महत्त्व कितना ही क्यो न हो, गाधी के अध्यात्म मे उनका स्थान गौण है। यही कारण है कि उनकी धर्म की कल्पना और व्याख्या मे और जन-साधारण की धर्म की कल्पना और व्याख्या मे अन्तर है। गाधी जब कहते है—सभी धर्म सत्य है, तो असल मे उनका जोर सत्य पर होता है, न कि धर्म पर।

गांधी का अभिप्राय यह है कि आखिर ईश्वरनिष्ठा, सत्यनिष्ठा या सदाचार और प्राणिमात्र के लिए आत्मीयता की भावना ही तो सारे धर्मों की सिखावन का निचोड़ है। इसीलिए सारे धर्म समान रूप से अनुष्ठेय और पूजनीय हैं। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। ईश्वर-परायणता, नीति-निष्ठा और बन्धुत्व तो सभी धर्मों के लिए समान हैं, इसलिए विशिष्ट धर्म के अनुयायी उन्हें अपना स्वधर्म नहीं मानते। परिणाम यह है कि जो अपने आपको अपने विशिष्ट धर्म के चुस्त अनुयायी मानते हैं, वे यह कहते पाये जाते हैं कि एक साधारण मुसलमान भी धार्मिक दृष्टि से महात्मा गांधी की अपेक्षा श्रेष्ठ है। उसी तरह प्रत्येक वर्णाश्रमवादी सनातनी ब्राह्मण के लिए दुराचारी ब्राह्मण भी सदाचारी अस्पृश्य की अपेक्षा अधिक पवित्र तथा सामाजिक व्यवहार के लिए अधिक उपादेय है। इस सबका तात्पर्य यह है कि रूढ़ अर्थ में धर्म उस क्रिया-कलाप और संस्कार-कलाप का नाम है जो ईश्वर, नीति और बन्धुत्व को छोड़ने के बाद शेष रह जाता है। इसके विपरीत इन विशिष्ट क्रिया-कलापों और संस्कारों को बाद देने पर जो सत्त्व बच जाता है उसे गांधी ने धर्म शब्द से अनुलक्षित किया है। इसलिए गांधी की भूमिका में सत्य ही धर्म है। और, अतएव धर्म एक ही हो सकता है।

समन्वय का यह एक अनूठा गुण है। प्राचीन धर्मपरायण व्यक्तियों ने अपने-अपने धर्मग्रन्थों के अनुकूल अन्य सभी धर्मग्रन्थों का और प्रमाणों का अर्थ लगाने में अपनी बुद्धि की कुशलता का विनियोग किया। इसी का नाम उन्होंने समन्वय रखा। गांधी के समन्वय में वही धर्मग्रन्थ, कर्मकाण्ड और व्यवहार प्रशस्त तथा आदरणीय हैं जो सत्यनिष्ठा के अनुकूल हों, और सत्य के आविष्कार के लिए पोषक हों। धर्म के क्षेत्र में परधर्मसहिष्णुता से लेकर सर्व-धर्म-समन्वय और सर्व-धर्म समादर तक सभी भावनाओं का प्रतिपादन राममोहन राय से लेकर श्री रामकृष्ण परमहंस देव तक पूर्वसूरियों ने किया। परन्तु समन्वय की इस यथार्थ भूमिका का सम्यक स्वीकार गांधी के जीवन में विशेष रूप से पाया जाता है।

ईश्वरपरायणता ने भी भिन्न-भिन्न धार्मिक समुदायों को एक-दूसरे के निकट लाने में कोई सफलता नहीं पाई है। कहने को तो सभी कहते हैं, कि ईश्वर एक ही है, और वह सब का है, किन्तु हर एक का यह आग्रह है, कि जो एक ही ईश्वर है वह मेरा है और वही सबका होना चाहिए। दूसरे सारे ईश्वर या तो अनीश्वर हैं या शैतान हैं। यह धर्मनिष्ठा धर्म-कलह की जननी है। गांधी-जैसा प्रामाणिक सत्यनिष्ठ पुरुष ईश्वर के इस संस्करण से विमुख हो गया। वह ताड़ गया कि यह ईश्वर वह नहीं है जिसने मनुष्य को बनाया, प्रत्युत वह है जिसे मनुष्य ने बनाया है। जिसकी जैसी भावना, आकांक्षा और अभिलाषा होती है उसके अनुरूप वह

अपने ईश्वर की मूर्ति गढ लेता है। ईसाई मानते है कि भगवान ने इसान को अपनी शकल मे बनाया, वाल्टेयर कहता है, मनुष्य क्यो पीछे रहता ? उसने भी भगवान का उपकार कृतज्ञतापूर्वक लौटाने के लिए अपनी शकल मे भगवान की प्रतिमाओ का निर्माण किया। गाधी ने कहा, मेरे लिए ईश्वर के ये सारे मानव-निर्मित सस्करण ईश्वर के ही स्वरूप हैं, क्योकि वही घर-घर मे विराजमान है। इसका अर्थ यह हुआ कि जितने नाम है और जितने रूप हैं, सभी ईश्वर के ही है। अर्थात् ईश्वर की या तो सभी सज्ञाए हैं या कोई सज्ञा नही है। वह अनाम है, इसीलिए सर्वनाम है। सर्वनाम ही विश्व रूप है। परन्तु कुछ नाम और कुछ रूप ऐसे भी हैं, जिनमे कुछ मानव समुदाय प्रगाढ निष्ठा रखते है, फिर भी ये नाम और ये रूप ईश्वर के अनुरूप नही हैं। इसलिए गाधी अन्तत इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सत्य ही ईश्वर है। सत्य की जिज्ञासा ही मुमुक्षा है और सत्य का शोध ही साधना।

एक अन्य दृष्टि से भी उनका यह निष्कर्ष समीचीन प्रतीत होता है। जो एक ही है उसके अनन्त नाम भले ही रखे जाय, फिर भी वस्तुत वह सर्वनाम ही है। अत सत्य के लिए तत् शब्द का भी प्रयोग होता है। 'तत्त्वमसि' और 'सर्व खल्विद ब्रह्म' अद्वैत दर्शन के दो महावाक्य हैं। परमार्थत दोनो का अभिप्राय एक ही है। 'तू वह है' मे तू और वह दोनो केवल सज्ञाए हैं, वस्तु एक ही है। 'सर्व' और 'ब्रह्म' शब्द दो है परन्तु जिस वस्तु के वे बोधक है वह 'अर्थ' एक ही है। दार्शनिको ने इसे 'जहदजहल्लक्षणा' या 'भागत्यागलक्षणा' कहा है। उनका मतलब इतना ही है कि 'तू' और 'वह' दोनो वस्तुगत सत्य नही है, औपाधिक अभिधाए है। जीव ही ब्रह्म है, उससे अलग नही है ('जीवो ब्रह्मैव नापर'), उपर्युक्त महावाक्य का अनुवाद है। ईश्वर अगर मैं ही हूँ तो फिर उसे खोजने का प्रयोजन ही क्या है ? और यदि उसे खोजने की आवश्यकता है तो फिर मैं ईश्वर कैसे हो सकता हू ? ईश्वर और मैं अगर एक ही है तो फिर मेरा अलगपन कहाँ से आया ? और अगर मेरा पृथक् अस्तित्व मिथ्या है तो फिर ईश्वर का ईश्वरत्व भी औपाधिक हो जाता है। इस स्वाभाविक जिज्ञासा का उत्तर 'सदसदख्याति' या 'अनिर्वचनीय ख्याति' की युक्ति से देने का प्रयास हुआ। लेकिन उससे जिज्ञासा का समाधान नही हुआ। सम्भवत इसीलिए गाधी ने 'ईश्वर ही सत्य' की जगह 'सत्य ही ईश्वर है' के सिद्धान्त को अपना ध्रुववाक्य बनाया।

गाधी का सत्य कोई अनाकलनीय, परोक्षतत्त्व नही है। भूतमात्र और जीव-मात्र के जीवन का अधिष्ठान ही परम सत्य है। मनुष्य का अन्य मनुष्यो के साथ और मनुष्य का मनुष्येतर प्राणियो के साथ पारस्परिक सम्बन्ध ही इस सत्य से

आविष्कार का धर्मक्षेत्र है। यह धर्मक्षेत्र अनवधान से और प्रमाद या मोहवश कहीं कुरुक्षेत्र में परिवर्तित न हो जाय, इसकी चिन्ता उन्हे निरन्तर रही। यह सावधानता ही उनकी अहिंसा के रूप मे परिणत हुई। इस दृष्टि से गांधी न तो ज्ञानयोगी है, न भक्तियोगी है, न कर्मयोगी, वे सत्यनिष्ठ 'प्रयोगी' है। नीति वह है जो मनुष्य और मनुष्य के बीच, तथा मनुष्य और दूसरे जीवधारियो के बीच पारस्परिकता के विकास के लिए उपकारक होती है। अनीति वह है जो इस पारस्परिकता मे बाधक होती है। इसीलिए विशिष्ट परपरागत और भिन्न-भिन्न समाजो मे रूढ जो आचार और व्यवहार इस पारस्परिकता के अनुकूल प्रतीत हुए उन्ही को गांधी ने नैतिक माना और इसी भूमिका मे वर्णभेद, वर्गभेद, जातिभेद तथा अस्पृश्यता का प्रखर विरोध किया। उन्होने तो अनीश्वरवादियो की सत्य-निष्ठा को प्रणाम किया। और यहाँ तक कहा कि मेरे लिए तो अनीश्वरवादी की प्रामाणिक निष्ठा भी ईश्वर ही है। अनीश्वरवादी जवाहरलाल को और प्रो० गोरा जैसे निष्ठावान अनीश्वरवादी को भी उन्होने सत्याग्रह का अधिकारी माना। यह सत्यनिष्ठा इतनी व्यापक होती है कि उसमे व्यावर्तकता के लिए अवकाश ही रह नही जाता।

वास्तविक आस्तिकता का आशय भी यही है। जो ईश्वरनिष्ठ है वह ईश्वर-विरोधी तत्त्व के अस्तित्व को ही अस्वीकार करता है, क्योंकि अस्तित्व तो एक ही का है। अगर अच्छाई की पृथक् सत्ता है तो बुराई की भी पृथक् सत्ता अनिवार्य है। इस तरह भी भगवान का प्रतियोगी शैतान उपस्थित हो जाता है। सत्यनिष्ठ गांधी ने दो पृथक् सत्ताओ को नही माना। असत्य या असत् को उन्होने पारमार्थिक नही माना। क्योंकि झूठ और बुराई का निराकरण सभव है और वाछनीय है। अतएव बुराई या असत्य मनुष्य की प्रकृति नही है। परिणाम यह है, कि गांधी के शब्दकोश मे प्रतियोगी और प्रतिपक्षीय तो है लेकिन विपक्षीय या शत्रु कोई नही है। जो प्रतिवशी है उसके लिए भी प्रेम है और जो अपने को विपक्षी मानता है उसके लिए भी प्रेम ही है। आखिर विपक्षी भी तो प्रतिवेशी ही है। (गांधी की) स्वदेशी का यह उनका अपना विशिष्ट अर्थ है।

उनकी विशिष्ट नैतिकता का बोध एक और प्रसग से होता है। १९१९ की अमृतसर कांग्रेस मे गीतारहस्यकार, भारतीय लोकाकाक्षा की प्रतिमूर्ति लोकमान्य उपस्थित थे। देश के दिग्गज नेताओ ने प्रस्ताव पेश किया, कि जलियानवाला बाग और अन्य स्थानो के अत्याचारो के लिए यह कांग्रेस ब्रिटिश सरकार का धिक्कार करती है। गांधी ने नम्रतापूर्वक एक सशोधन प्रस्तुत किया यह कांग्रेस उन अतिरेको का भी धिक्कार करती है जो जनता के पक्ष-द्वारा किये गये। सारी कांग्रेस

स्तब्ध हो गई। एक प्रक्षोभ-सा छा गया। नैतिकता का यह तकाजा था कि दूसरे की आँख का मूसल देखने के पहिले अपनी आँख का तिनका देखो। आँख का तिनका भी आँख मे पीडा के साथ-साथ दर्शन मे विकृति पैदा करता है। नीति कोई दूकानदारी नही है। वहाँ सुवर्ण तौलने का धर्मकाँटा भी नही चलता। उपकार और प्रत्युपकार, दान और प्रतिदान के पलडे अगर बराबर रहे तो वह ईमानदारी का सौदा होगा लेकिन सदाचरण नही। सदाचरण मे उपकार का पलडा हमेशा नीचे रहता है। पारस्परिकता का आरभ स्वयम् से होता है। उसमे प्रतिदान, प्रतिप्रेम आदि के लिए अवकाश ही नही है। मनुष्यो के व्यवहार मे यह जो पारस्परिकता अभिव्यक्त होती है वही ईश्वर का साक्षात्कार है। निर्व्याज और निरपेक्ष प्रेम उसी का नाम है। मानवीय व्यवहार मे वही सत्य का आविष्कार है। उसके अनुसरण को ही गाधी ने सत्य के प्रयोग का अभिधान दिया है।

जिसका कोई शत्रु नही है, वह विश्वसुहृद है। उसके लिए दूसरो के सुख-दुःख यदि अपने सुख–दुःखो के समान है तो दूसरो के दोष, अपराध और प्रमाद भी अपने दोष, अपराध और प्रमादो के समान ही है। कुसस्कार और कुशिक्षण के कारण मनुष्य प्राय अपने अपराधो के लिए क्षमा और दूसरो के अपराधो के लिए दण्ड चाहता है। यह नैतिकता तो है ही नहीं, न्यायनिष्ठा भी नही है। इसलिए गाधी ने कहा, मै इस वृत्ति के प्रतिकूल अभ्यास करूँगा, अपने लिए सजा और दूसरो के लिए माफी की आकाक्षा रखूँगा। अनासक्ति योग मे 'ये यथा मा प्रपद्यन्ते' श्लोक पर उनकी जो टिप्पणी है वह उनकी इस भूमिका की परिचायक है।

जो सत्यनिष्ठ है उसके लिए जीवन एक, अखण्ड और समग्र है। वह उसको भिन्न-भिन्न खण्डो मे या टुकडो मे नही बाँट सकता। गाधी ने इसीलिए केवल धर्मक्षेत्र के अस्तित्व को माना कुरुक्षेत्र से मुह मोड लिया। १९१९ के सविनय कानूनभग के बाद जार्ज अरुण्डेल ने पत्र लिखकर गाधी से पूछा था, 'आपके समान धार्मिक पुरुष राजनीति के झगडे मे क्यो पडता है?' गाधी ने उत्तर दिया था, 'मेरी स्वाभाविक प्रवृत्ति तो धार्मिक ही है। और अगर मै राजनीति मे हिस्सा लेता हू तो इसलिए, कि आज राजनीति भारतवर्ष के प्राणो को ही स्पर्श करती है।' गाधी ने राजनीति क्षेत्र मे नैतिकता और सभ्यता के बीज बोने के लिए प्रवेश किया। पुरानी राजनीति का व्यवहारवादी सूत्र था—'आज का दोस्त कल का दुश्मन हो सकता है इसलिए आज से ही सावधान रहो।' गाधी ने कहा—'इसे पलट दो, आज का दुश्मन कल का दोस्त भी हो सकता है। इसलिए आज से ही भरोसा करो।' इस [illegible] को उन्होने मानवीय व्यवहार मे वीरता का तत्त्व माना। यही वास्तविक अहिंसा और वीरता है। इसका विनियोग उन्होने

अपने राजनैतिक व्यवहार में किया। इस अर्थ में गांधी आत्मबल-सम्पन्न अध्यात्म-वीर थे।

अब रहा दार्शनिक गांधी। गांधी तत्त्वदर्शी के अर्थ में तो दार्शनिक थे, लेकिन तत्त्ववादी के अर्थ में नहीं। उन्होंने अपने किसी विशिष्ट सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया। किसी तत्त्वज्ञान के प्रवर्त्तन का दावा नहीं किया। एक कवि ने कहा है कि पुराने सारे धर्म अपनी टिमटिमाती हुई मोमबत्तियाँ लेकर अकड़ दिखाने लगे। उधर से तगड़ा सत्य आया। एक झकोरे में सारी मोमबत्तियाँ बुझ गयीं। इस मर्म को गांधी ने पकड़ा था। इसलिए उनका धर्म व्यवहारमय था, व्यवहार धर्ममय था और दोनों सत्याभिमुख थे। यही गांधी का दर्शन है अर्थात् उसकी जीवन-निष्ठा।

मैं एक ऐसे विभूतिमत्सत्त्व की मीमांसा करने के लिए उद्यत हुआ जो निरन्तर नवनवोन्मेष प्रकट करता रहा। मेरी अल्पदृष्टि में गांधी के जैसे दर्शन हुए उनका निरूपण मैंने यथामति किया है।

राइट टाउन,
जबलपुर।
२५-११-१९६६

—दादा धर्माधिकारी

०

नीति : धर्म : दर्शन

भूमिका

●

इस जगत् मे या जगत् से बाहर जो अनेकानेक जगत् है, मतलब सृष्टि मे जो कुछ है और जितने भी पदार्थों की कल्पना की जा सकती है, सब का स्रोत एक है। जो 'है' उसमे भी वही एक है और जो 'नही है' उसमे भी वही है। उसके बिना किसी वस्तु की कल्पना ही सभव नही है। वह एक ही अनेक हो गया है; अनेक रूपो, नामो, स्थितियो, कालो, मे वही प्रकाशित होता है। जड भी वही है, चेतन भी वही है। अन्तर इतना ही है कि चेतन मे उसकी अभिव्यक्ति अधिक सघन, अधिक बोधगम्य है, वहाँ हमारे लिए उसका ग्रहण सहज है, सुलभ है। जिसे हम जड कहते हैं वह भी सुपुप्त चेतन है, वस्तुत यह सब वर्गीकरण मानव ने अपने मे, अपनी समझ के लिए, व्यवहार की सुविधा के लिए कर लिया है, अन्यथा कही कुछ भी जड नही है, सब चैतन्य है। हाँ, चैतन्य की विविध स्थितियाँ हो सकती है किन्तु सब को अपने मे समेटे जो विराट चैतन्य है, वही सब का स्रोत है। जिसके बिना हम नही हो सकते, जिसके बिना कुछ भी नही हो सकता, वही है मूल चैतन्य, वही है परमात्मा, वही है विविध जीवनो का जीवन,—सब कुछ जिससे है, जिसको लेकर है, जिसमे है।

व्यापक चैतन्य-बोध

हम उसी से है, उसीसे निकले हैं और उसी के अन्दर हैं, इसलिए जाने-अनजाने उसी की ओर प्रधावित है। कभी-न-कभी, किसी-न-किसी रूप मे उसी विराट को पाने, उसको अनुभव करने की प्रेरणा मानव मे स्फुरित होती है। मानव ही क्यो समस्त जगत्, जगत् का प्रत्येक अणु उसी मूल चिन्मय शक्ति की धारा मे बहता हुआ, उसको पाने के लिए थिरकता, नृत्य करता चल रहा है। सब कुछ उसीमे और उसी की ओर प्रधावित है। मनुष्य मे उस चिन्मयता के कुछ अधिक कण होने के कारण, विकास की प्रक्रिया तीव्र होने के कारण, वह प्रयत्न करने पर उसका आभास पा सका है। वह जान सका है कि सब उसी के चिदश है इसलिए

एकत्व का बोध

इन चिदशो मे भी एक आकर्षण है। सब मे एकत्व है इसलिए उनमे एक दूसरे को अपनाने की सहज प्रेरणा है। यही प्रेरणा कि सब अन्त मे एक है, कर्मसुलभ होने पर नीति, भावसुलभ होने पर धर्म और ज्ञानसुलभ होने पर दर्शन के रूप मे अवतरित होती है।

मानव ने अपने सुख-सुविधा के लिए एक जगह रहना सीखा, छोटे-छोटे घर बनाये, फिर उसका यह क्रम कबीलो मे, जनपदो मे विकसित हुआ। वही एकत्व की प्रक्रिया अधिक से अधिक को अपने मे खीचती रही। मनुष्य ने सीखा मनुष्य के साथ रहना। जटिलताए आइ, सघर्ष आये। इनके बीच मनुष्य ने सीखा अपनी मूल प्रेम-प्रेरणा को सुरक्षित रखना और उसे आगे बढाना। इसलिए नियम बने, कालान्तर मे इन नियमो के अनुभव मे नीति का विकास हुआ। मनुष्य को अपने प्रति और समाज मे रहते दूसरो के प्रति कैसा व्यवहार करना कि मनुष्य की मनुष्यता सुरक्षित रहे और उनके बीच का जो ऐक्य-बोध है उसकी धारा कुण्ठित न हो, अवरुद्ध न हो, आगे ही बढती जाय, अपने गन्तव्य की ओर, विराट चैतन्य-स्रोत की ओर, यही है नीति का आधार। विविध देशो, कालो, वर्गो, समाजो के लिए बनाये आचरण के ऐसे नियम जो जीवन की मूल प्रेरणा, मूल धारा को आगे बढाने मे सहायक होते है, नीति है।

नीति का आधार

इस प्रकार मनुष्य का अपने साथी मानवो के प्रति, बल्कि समस्त जगत् के प्रति जो आचरण है वह सब नीति के क्षेत्र के अन्तर्गत है। उसमे स्वभावत देश, काल, स्थिति के अनुसार विविधता पाई जाती है किन्तु इस विविधता के भीतर भी, अन्तिम गन्तव्य एक होने के कारण कुछ नियम, कुछ निष्कर्ष ऐसे है जो समस्त नीति के मूलाधार हैं और प्राय सार्वदेशिक है, और जिन्हे सब मान सकते है क्योकि उनको मानने मे सबका समान हित है और उन्हे मानकर चलते हुए हमारे लिए अपनी मजिल पर पहुँचना सरल हो जाता है।

इसलिए श्रेष्ठ नीति का आधार है मानव का मानव के प्रति, बल्कि जीवमात्र के प्रति, भ्रातृत्व-बोध, ऐक्यबोध। यही भ्रातृत्वबोध, ऐक्य-बोध गाधी जी के जीवन-दर्शन का नैतिक आधार है। यही उनके परमेश्वर, जिसे वह 'सत्य' कहना ज्यादा पसन्द करते है, का उद्घाटक तत्त्व है। इसी से अहिंसा आई, अपरिग्रह आया, अनासक्ति आई, इसी ने उन्हे पीडितो, शोषितो, दुखियो, दीन जनो को प्यार करने की ताकत दी। क्योकि जब सब अपने है, बन्धु है तो उनके प्रति विरोध, रोष और हिंसा का भाव आ ही कैसे सकता है ? जब सब

गाधीजी के जीवन-दर्शन का नैतिक आधार

जगत् उसी एक प्रभु से आच्छन्न है, जो सबका है, जिसमे सबका अस्तित्व है, और सब जिसके अश हैं, तब विरोध कैसा, हिंसा कैसी ? यहाँ गाधी जी की मनोभूमि प्राय वही है जो तुलसीदास की है और जो उमा के प्रति शिव के वचन-रूप मे कहते है —

उमा, जे राम-चरण-रत, विगत काम, मद, क्रोध।
निज प्रभुमय देखहि जगत्, केहिसन करहि विरोध॥

इस अनुभूति, इस गन्तव्य की ओर चलने मे मानव के जितने आचरण-नियम सहायक है वे सब उदात्त नीति की परिधि मे आते है। इस दृष्टि से यद्यपि नीति दर्शन या अध्यात्म विद्या से अलग है, क्योकि वह सामाजिक आचरण का विषय है, और आवश्यक नही कि नैतिक मानव आध्यात्मिक भी हो, किन्तु इतना मानना ही पडेगा कि उदात्त नीति आध्यात्मिक अनुभव की सीढी है, वह आध्यात्मिक अनुभूतियो के लिए जमीन तैयार करती है, वातावरण वनाती है। विना इसके जीवन मे जो ज्ञान आता है वह खोखला होता है। नीति समस्त चारित्र्य का प्रेरक तत्त्व ह और जव ज्ञान के पीछे चारित्र्य की ज्योति नही होती तो वह अपने को ही काट देता है और पाखण्ड वन जाता है।

नीति का कार्य

इसीलिए गाधी जी नीति को ही, जीवन का आधार मानते है। नीति से ही मनुष्य जानता है कि उसे कैसा वनना चाहिए, और वैसा वनने के लिए उससे किन प्रकार के आचरण की आशा की जाती है। मनुष्य जैसा है, जिस स्थान पर खडा है, उस अवस्था मे, उस स्थान मे, जैसा उसे होना चाहिए अर्थात् जहाँ उसे जाना है, वहा तक पहुँचने के लिए जो नियम है, जो सिद्धान्त है, उन्हे ही नीति कहते हैं। हमे क्या वनना है और दुनिया को कैसा वनाना है, ये सव विषय नीति के क्षेत्र हैं।

सच पूछे तो जीवन के जितने भी कार्य हैं, आचरण हैं, सिद्धान्त हैं वे सव नीति के अन्तर्गत ही हैं। इस दृष्टि से धर्म का आधार भी नीति है किन्तु आज अधिकाश व्यवहार मे धर्म नीति से विल्कुल पृथक् और विच्छिन्न हो गया है। विशाल जन-समूहो ने नीति को छोडकर धर्म का अनुगमन किया है, इसीलिए मनुष्य का निजी और सामाजिक जीवन अन्तर्विरोधो और विडम्बनाओ से भर गया है। गाधीदर्शन नीति एव धर्म की इस विच्छिन्नता पर, पृथकता पर प्रवल आघात करता है। वह कहता है, नीति ही जीवन का, अत. धर्म का भी, मेरुदण्ड है। विना नीति के धर्म लवादा है, शास्त्र वितण्डा है। सच पूछे तो धर्म के सम्वन्ध

मे गाधी जी की जो धारणा है, वह बहुत कुछ नीति मे ही आ जाती है। उन्होंने स्वय ही कहा है—"सच्ची नीति मे, बहुत अशो मे, धर्म का समावेश हो जाता है।"

नीति ऐसा शास्त्र है जिसकी सम्पूर्ण प्रेरणा आचरण-प्रधान है। अन्य शास्त्रो या विद्याओ की भाति इसे आचरण से अलग किया ही नही जा सकता। इसे जीवन से भी अलग नही किया जा सकता, और अलग करते ही जीवन धूल मे लोटने लगता है तथा उसकी तीर्थयात्रा, उदात्त बनने का सकल्प, जीवमात्र के प्रति ऐक्य की अनुभूति का बल सब समाप्त हो जाता है।

नीतिहीन जीवन जीवन ही नहीं है

अपने प्रति ईमानदारी ही नीति-मार्ग मे हमे आगे बढाती है। और उसीसे दूसरो के प्रति न्याय और भलाई करने की शक्ति आती है। गाधी जी के ही शब्दो मे "न्याय या भलाई करने की शक्ति कही बाहर से नही आती। वह अपने अन्दर—आत्मा मे ही मौजूद है। केवल उसे विकसित करने की आवश्यकता है।" इस प्रकार नीति मे आत्मचैतन्य का समाजीकरण होता है, वह 'स्व' मे 'पर' को बाँधती और 'पर' का एक सीमातक 'स्व'करण, स्वीकरण करती है। नीति का मूल भी, धर्म की भाति ही, आत्मबोध है, उसका मूल अपने अन्दर है, वैयक्तिक है किन्तु रूप एव विस्तार सामाजिक है। व्यक्ति उसका उद्गम है, समाज उसका क्षेत्र है।

वैयक्तिक पक्ष मे नीति मे व्यक्ति की, कर्त्ता की भावना ही प्रधान है। यदि भावना शुभ है, उसके पीछे दूसरे के, समाज के मगल की प्रेरणा है, यदि वह मगल भावना आचरण मे, कार्यरूप मे प्रकट होती है तो वह कार्य नीतिमय है, नैतिक है, यदि बाहर से आचरण मे भला दीखते हुए भी व्यक्ति का मन निर्मल, सच्चा एव मगल भावना से पूर्ण नही है तो कार्य नीतिमय वा नैतिक नही कहा जा सकता।

नीति की प्रेरणाए

नीति के लिए भावना की पवित्रता एव शुभ सकल्प अनिवार्यत आवश्यक है। गाधी जी ने लिखा है—"दो मनुष्य एक ही काम करते है, परन्तु उनमे से एक का काम नीतिमय हो सकता है और दूसरे का नीति-रहित। जैसे कि एक मनुष्य अत्यन्त दयार्द्र होकर गरीबो को भोजन देता है और दूसरा मान-बडाई या प्रतिष्ठा के लिए या ऐसे ही अन्य स्वार्थपूर्ण विचार से वही कार्य करता है। दोनो काम एक से होने पर भी पहिला नीतियुक्त है और दूसरा नीति-रहित।"

यहाँ एक प्रश्न उठ खडा होता है। उक्त उदाहरण मे हम देखते है कि दोनो

कार्यो का स्थूल परिणाम तो एक ही है। दोनो कार्यो से भूखो का पेट तो भरता ही है। कार्य मे समानता है, फल मे भी बहुत कुछ समानता है। परन्तु रूप और परिणाम के एक होते हुए भी भावनाओ के, प्रेरणाओ के असादृश्य के कारण वे दो कोटियो मे रख दिये गये हैं। इससे यह मालूम होता है कि कार्य एव परिणाम की एकरूपता भी किसी आचरण के नैतिक होने की कसौटी नही है। किसी कार्य के नैतिक होने के लिए आवश्यक है कि वह शुभ एव पवित्र भावना से, जिसके लिए किया जा रहा हो उसी के हित या मगल से प्रेरित होकर किया जाय।

नीति मे भावना की प्रधानता

कभी-कभी तो यह भी देखा जाता है कि हम शुभ भावना से, ईमानदारी के साथ, कोई काम करते है किन्तु उसका अच्छा परिणाम नही दिखाई पडता। इस से यह निष्कर्ष निकलता है कि नैतिक कार्य की कसौटी उससे होने वाला परिणाम नही है। नैतिक कार्य मे परिणाम का विचार गौण है, कार्य एव भाव अवश्य ही शुद्ध होने चाहिए, फल भले अन्यथा हो। कदाचित इसीलिए गीता मे फलाशा का त्याग कर कर्म करने का आदेश दिया गया है।

किन्तु नीति के सम्बन्ध मे विचार करते हुए गाधी जी इसके भी एक पग आगे जाते है। यदि कार्य के पीछे शुभ इच्छा हो किन्तु शुभ इच्छा अपनी ही चेतना, अपनी ही प्रेरणा से, या दूसरो के सत्कर्मो को देखकर स्वत होनेवाली स्फुरणा के कारण न उत्पन्न हुई हो बल्कि किसी बाहरी शक्ति के दबाव या भय से उत्पन्न हुई हो तो भी कार्य को नीतियुक्त नही माना जा सकता। जैसे 'मैं आफिस देर से पहुँचा करूँगा तो मेरी नौकरी चली जायगी' इस भय से कोई प्रात काल जल्दी उठता है तो उसके कार्य मे कोई नैतिक तत्त्व नही है। एक ऐतिहासिक उदाहरण देते हुए गाधी जी कहते है—"एक बार इग्लैण्ड के द्वितीय रिचर्ड के पास कुछ किसान आये और उन्होने लाल आँखें करके रिचर्ड से अपने अधिकार मागे। रिचर्ड ने उस समय कुछ नही कहा और अपने हाथ से उनके अधिकारो का 'दस्तावेज' लिखकर किसानो को सौप दिया। रिचर्ड को किसानो से जो भय था वह जब दूर हो गया, तब उसने जोर-जुल्म करके वह दस्तावेज उनसे छीन लिया। इस घटना के विषय मे यदि कोई यह कहे कि रिचर्ड का पहिला काम नीतियुक्त था और दूसरा अनीतियुक्त, तो यह कहना भूल से खाली नही। रिचर्ड का पहिला काम भय के कारण हुआ था अत उसमे नीति का जरा भी अंश न था।"

नीति में दबाव नहीं

इसलिए उत्तम नीति या विशुद्ध नीति धर्म के लिए गांधी जी निम्नांकित शर्तें लगाते हैं —

१ काम शुभ हो,

२ शुभ भावना से किया गया हो,

३ उसमें अपने लाभ या स्वार्थ की इच्छा न हो,

४ आत्मानुभव से आस्था स्वरूप किया गया हो,

५ किसी बाहरी भय या दबाव के कारण न किया गया हो।

इस अन्तिम शर्त के कारण गांधीजी की नीति की रचना परम्परागत नीति से अलग, अधिक ऊँचे स्तर पर चली गई है। परम्परागत नीति के अधिकांश नियमों के साथ दण्ड की, दबाव की भावना है। वहां शासन की उत्पत्ति भी नीति की रक्षा के लिए ही है। चोर चोरी न करे, इसलिए शासन ने भय का वातावरण उत्पन्न किया है, उससे भी काम न चलने पर वही भय दण्ड का रूप धारण करता है। इस प्रकार आजतक की समस्त नीति में दबाव का स्थान सहज रूप से माना जाता रहा है। अपराधी और दण्डदाता, शासित और शासक के बीच भेदबुद्धि का विस्तार ही इसका कारण है, प्रत्येक व्यक्ति दूसरे से स्वतन्त्र इकाई के रूप में मान लिया गया है। यहां उस आत्मैक्य का, भ्रातृत्वबोध का विस्मरण, बल्कि निषेध, है, जिसकी मूल प्रेरणा से समाज बना था। वास्तविक नीति-व्यापार में सब कुछ एक दूसरे से सम्ग्रथित है, सब एक विराट के घटक हैं, अंग हैं इसलिए अपराधी और दण्डदाता के बीच गांधीजी की व्यापक नीति अविच्छेद्य दीवार नहीं खड़ा करती, यदि बुराई है तो मूलतः उसमें सब का ही उत्तरदायित्व है, इस कर्तव्यबोध के साथ बुराई करनेवाले को अपना कर प्रेमपूर्वक उसे उचित मार्ग पर डालना ही सच्ची नीति हो सकती है। बाहरी दबाव एवं दण्डभावना नीति के मूल हेतु पर ही कुठाराघात करती है इसलिए गांधी जी की नीति में उसका कोई स्थान नहीं हो सकता।

क्या सत्याग्रह दबाव नहीं है?

जब मैं यह लिख रहा हूँ, तब मैं बहुत से लोगों-द्वारा उठाई गई इस बात को भूला नहीं हूँ कि गांधी जी ने अपने जीवन-काल में जो सत्याग्रह-आन्दोलन चलाये, उनके द्वारा स्वयं विदेशी शासकों पर गहरा दबाव पड़ा था। परन्तु यह भ्रम है और सत्याग्रह को ठीक तरह से न समझ सकने के कारण उत्पन्न हुआ है। गांधी जी-प्रवर्तित सत्याग्रह की धारणा के विषय में दो बातें याद रखनी चाहिए। पहिली बात यह कि "सत्याग्रही किसी बाहरी बल पर भरोसा नहीं रखता।" और "उसका बल संख्या में नहीं, आत्मा में है—दूसरे शब्दों में ईश्वर में है। सत्याग्रही का दूसरा कोई नहीं है। ईश्वर का

विश्वास भीतरी शक्ति है।"[१] दूसरी बात यह है कि "विरोधी को पीडा देकर नही, बल्कि स्वय कष्ट उठाकर सत्य की रक्षा"[२] सत्याग्रह का मूलाधार है। सत्याग्रही पर-पक्ष को अपने कष्ट-सहन से मृदुल बनाकर उसे उच्च भूमिका पर प्रतिष्ठित करता है और उसके हृदय का परिवर्तन करके बुराई को दूर करता है। विरोधी मे स्वय अपनी विकृति की अनुभूति एव उस स्थिति से ऊपर उठने की प्रेरणा जागरित करना ही सत्याग्रह का वास्तविक ध्येय है। मैं यह नही कहता कि सदा ऐसा ही हुआ है या प्रत्येक व्यक्ति इसी दृष्टि-बिन्दु से सोचता है। इतना ही कहना चाहता हूँ कि गाधी जी ने इसी महती आध्यात्मिक प्रेरणा से सत्याग्रह की सृष्टि की है। उनके अनुयायियो मे वह दृष्टि पूरी तरह न हो, यह सभव है—बल्कि सच भी है किन्तु यह गाधी जी की सत्याग्रह-कल्पना का दोष नही, हमारी अपूर्णता का या हमारी मानसिक क्लान्ति का दोष है।

ऐसी नैतिकता के निर्माण के लिए गाधी जी जीवन को यज्ञमय, व्रतमय बनाने का निर्देश करते है। यहाँ भी उनका यज्ञ पारम्परिक यज्ञ से भिन्न और विशद

जीवन में यज्ञ

अर्थ रखता है। "इस लोक मे या परलोक मे कुछ भी बदला लिये या चाहे बिना परार्थ के लिए किये हुए किसी भी कर्म को यज्ञ कहेंगे। परार्थ के लिए का मतलब केवल मनुष्य वर्ग नही बल्कि जीवनमात्र लेना चाहिए। मनुष्य जाति की सेवा के लिए भी दूसरे जीवो को होमना या उनका नाश करना यज्ञ की गिनती मे नही आ सकता।. . . .इस व्याख्या के अनुसार विचारने पर हम देख सकते है कि जिस कर्म से अधिक-से-अधिक जीवो का, अधिक-से-अधिक क्षेत्र मे कल्याण हो और जो कर्म अधिक-से-अधिक मनुष्य अधिकाधिक सरलता से कर सकें, और जिसमे अधिकाधिक सेवा होती हो वह महायज्ञ या अच्छा यज्ञ है। अत किसी भी सेवा के निमित्त अन्य किसी का अकल्याण चाहना या करना यज्ञ-कार्य नही है। इस यज्ञ से अलावा किया कार्य बन्धनरूप है।"

इस प्रकार इनकी नीति के अनुसार जीवन को यज्ञमय बनाकर बिताना ही इष्ट है। क्योंकि ऐसे यज्ञ के बिना ससार क्षणभर भी नही टिक सकता। इसलिए गीताकार ने... साफ शब्दो मे कहा है कि हम यज्ञ को जन्म से ही साथ लाते है। अत मान लें कि हमें यह शरीर केवल परमार्थ के लिए मिला है और इस-

---

१. गांधी-सेवा-सघ सम्मेलन, वृन्दावन (बिहार) ३।५।३९ तथा ६।५।३९
२. यंग इण्डिया, २८।१।१९२०
३. मङ्गलप्रभात २१।१०।१९३०

लिए यज्ञ किये बिना जो खाता है वह चोरी का खाता है। जो शुद्ध जीवन बिताना चाहता है उसके सब काम यज्ञ-रूप होते हैं।"[1]

यह यज्ञभावना दूसरे रूप अर्थ में आत्मसमर्पण है। जीवन उसी का है और उसी के लिए अर्थात् जीवमात्र के लिए, सम्पूर्ण जगत के लिए है, अपना कुछ नहीं है। इस आत्मसमर्पण को सहज बनाने और सिद्ध करने के लिए आत्मशुद्धि आवश्यक है। क्योंकि "आत्मशुद्धि के बिना जीवमात्र के साथ ऐक्य सध ही नहीं सकता।"[2] तब आत्मशुद्धि के लिए गांधी जी कुछ व्रतों की व्यवस्था करते हैं। व्रत का अर्थ है किसी शुभ कार्य में अपने को निरन्तर लगाये रहने का निश्चय। व्रत या प्रतिज्ञा जीवन को गतिमान बनाती है। इसीलिए गांधी जी की राय में "प्रतिज्ञाहीन जीवन बिना नींव का घर, अथवा कागज का जहाज है।" सत्य जीवन का व्रत है। आत्मशुद्धि के लिए अविकार और अहिंसा के साथ अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह इत्यादि व्रतों की आवश्यकता है, क्योंकि बिना इनके स्वार्थ की वृत्तियाँ बढ़ती हैं और जगत् के प्रति सहज सेवा एवं ऐक्य-बोध सम्भव नहीं होता।

आत्मार्पण के लिए आत्म-शुद्धि

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि सर्वात्मभाव या जगत् में भ्रातृबोध, ऐक्य-बोध के लिए जो प्रेरणा स्फुरित हुई उसी से नीति की आदि रेखा बनी है। वही रेखा सामाजिक आचरण और उसके नियंत्रण, उदात्तीकरण के नियमों में परिवर्तित हुई, 'पर' को अपनाने की क्रिया के साथ, सेवा की वृत्ति आई। सेवा के लिए, स्वार्थ का निरोध आवश्यक हुआ, स्वार्थ के निरोध के लिए अस्वाद, अपरिग्रह और अस्तेय इत्यादि व्रतों का जन्म हुआ और सब मिलाकर इस विनम्र अनुभव में कि सब कुछ प्रभु का है और उसी के लिए है, उसको सतत साक्षी रखकर जगत् के कल्याण करने की वृत्ति से जो भाव, आचरण, नियम, प्रतिबन्ध आवश्यक समझे गये या समझे जायँ वे सब नीति हैं। नीति का उद्देश्य स्व और पर का भेद दूर करने के लिए दोनों के हितों को समन्वित करना, दोनों में ऐक्य का बोध जगाना और मानव में दूसरे के लिए जीने की तत्परता लाना है।

गांधी जी ने नीति को जीवन में इतना उच्च स्थान दिया है कि उसके क्रोड में समस्त जीवन-विस्तार ही आ गया है। एक प्रकार से तो उनका धर्म और दर्शन भी उनकी नीति के अन्तर्गत ही आ जाते हैं। धर्म एवं दर्शन के गूढ़ तत्त्वों, रहस्यों

---

१. मंगलप्रभात २१।१०।१९३०

२ आत्मकथा

विश्वास भीतरी शक्ति है।"[१] दूसरी बात यह है कि "विरोधी को पीडा देकर नही, बल्कि स्वय कष्ट उठाकर सत्य की रक्षा"[२] सत्याग्रह का मूलाधार है। सत्याग्रही पर-पक्ष को अपने कष्ट-सहन से मृदुल बनाकर उसे उच्च भूमिका पर प्रतिष्ठित करता है और उसके हृदय का परिवर्तन करके बुराई को दूर करता है। विरोधी मे स्वय अपनी विकृति की अनुभूति एव उस स्थिति से ऊपर उठने की प्रेरणा जागरित करना ही सत्याग्रह का वास्तविक ध्येय है। मैं यह नही कहता कि सदा ऐसा ही हुआ है या प्रेत्यक व्यक्ति इसी दृष्टि-बिन्दु से सोचता है। इतना ही कहना चाहता हूँ कि गाधी जी ने इसी महती आध्यात्मिक प्रेरणा से सत्याग्रह की सृष्टि की है। उनके अनुयायियो मे वह दृष्टि पूरी तरह न हो, यह सभव है—बल्कि सच भी है किन्तु यह गाधी जी की सत्याग्रह-कल्पना का दोष नही, हमारी अपूर्णता का या हमारी मानसिक क्लान्ति का दोष है।

ऐसी नैतिकता के निर्माण के लिए गाधी जी जीवन को यज्ञमय, व्रतमय बनाने का निर्देश करते हैं। यहाँ भी उनका यज्ञ पारम्परिक यज्ञ से भिन्न और विशद अर्थ रखता है। "इस लोक मे या परलोक मे कुछ भी बदला लिये या चाहे बिना परार्थ के लिए किये हुए किसी भी कर्म को यज्ञ कहेंगे। परार्थ के लिए का मतलब केवल मनुष्य वर्ग नही बल्कि जीवनमात्र लेना चाहिए। मनुष्य जाति की सेवा के लिए भी दूसरे जीवो को होमना या उनका नाश करना यज्ञ की गिनती मे नही आ सकता। ...इस व्याख्या के अनुसार विचारने पर हम देख सकते है कि जिस कर्म से अधिक-से-अधिक जीवो का, अधिक-से-अधिक क्षेत्र मे कल्याण हो और जो कर्म अधिक-से-अधिक मनुष्य अधिकाधिक सरलता से कर सकें, और जिसमे अधिकाधिक सेवा होती हो वह महायज्ञ या अच्छा यज्ञ है। अतः किसी भी सेवा के निमित्त अन्य किसी का अकल्याण चाहना या करना यज्ञ-कार्य नही है और यज्ञ के अलावा किया कार्य बन्धनरूप है।"[३]

जीवन मे यज्ञ

इस प्रकार उनकी नीति के अनुसार जीवन को यज्ञमय बनाकर बिताना ही इष्ट है। क्योंकि "ऐसे यज्ञ के बिना ससार क्षणभर भी नही टिक सकता। इसलिए गीताकार ने... साफ शब्दो मे कहा है कि हम यज्ञ को जन्म से ही साथ लाये हैं। यहाँ तक कि हमें यह शरीर केवल परमार्थ के लिए मिला है और इस-

---

१. गांधी-सेवा-संघ सम्मेलन, वृन्दावन (बिहार) ३।५।३९ तथा ६।५।३९
२. यंग इण्डिया, २४।१।१९२०
३. मंगलप्रभात २१।१०।१९३०

लिए यज्ञ किये बिना जो खाता है वह चोरी का खाता है। जो शुद्ध जीवन बिताना चाहता है उसके सब काम यज्ञ-रूप होते हैं।"[1]

यह यज्ञभावना अपने सूक्ष्म अर्थ में ईश्वरार्पण है। जीवन उसी का है और उसी के लिए अर्थात् जीवमात्र के लिए, सम्पूर्ण जगत् के लिए है, अपना कुछ नही है। इस आत्मसमर्पण को सहज बनाने और सिद्ध करने

आत्मार्पण के लिए आत्म-शुद्धि

के लिए आत्मशुद्धि आवश्यक है। क्योंकि "आत्मशुद्धि के बिना जीवमात्र के साथ ऐक्य सध ही नही सकता।"[2] तब आत्मशुद्धि के लिए गाधी जी कुछ व्रतो की व्यवस्था करते है। व्रत का अर्थ है किसी शुभ कार्य मे अपने को निरन्तर लगाये रहने का निश्चय। व्रत या प्रतिज्ञा जीवन को गतिमान बनाती है। इसीलिए गाधी जी की राय मे "प्रतिज्ञाहीन जीवन बिना नीव का घर, अथवा कागज का जहाज है।" सकल्प जीवन का बल है। आत्मशुद्धि के लिए अविरोध और अहिंसा के साथ अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह इत्यादि व्रतो की आवश्यकता है, क्योंकि बिना उनके स्वार्थ की वृत्तियाँ बढती है और जगत् के प्रति सहज सेवा एव ऐक्य-बोध सभव नही होता।

इस प्रकार हम देख सकते है कि सर्वात्मबोध या जगत् से भ्रातृबोध, ऐक्य-बोध के लिए जो प्रेरणा स्फुरित हुई उसी मे नीति की आदि रेखा बनी है। वही रेखा सामाजिक आचरण और उसके नियत्रण, उदात्तीकरण के नियमो मे परिवर्तित हुई, 'पर' को अपनाने की क्रिया के साथ, सेवा की वृत्ति आई। सेवा के लिए, स्वार्थ का निरोध आवश्यक हुआ, स्वार्थ के निरोध के लिए अस्वाद, अपरिग्रह और अस्तेय इत्यादि व्रतो का जन्म हुआ और सब मिलाकर इस विनम्र अनुभव से कि सब कुछ प्रभु का है और उसी के लिए है, उसको सतत साक्षी रखकर जगत् के कल्याण करने की वृत्ति से जो भाव, आचरण, नियम, प्रतिबन्ध आवश्यक समझे गये या समझे जाय वे सब नीति है। नीति का उद्देश्य स्व और पर का भेद दूर करने के लिए दोनो के हितो को समन्वित करना, दोनो मे ऐक्य का बोध जगाना और मानव मे दूसरे के लिए जीने की तत्परता लाना है।

गाधी जी ने नीति को जीवन मे इतना उच्च स्थान दिया है कि उसके क्रोड मे समस्त जीवन-विस्तार ही आ गया है। एक प्रकार मे तो उनका धर्म और दर्शन भी उनकी नीति के अन्तर्गत ही आ जाते है। धर्म एव दर्शन के गूढ तत्त्वो, रहस्यो

---

१. मगलप्रभात २१।१०।१९३०

२ आत्मकथा

मे दिग्भ्रमित मानव के सामने उन्होने कुछ सरल आचरण के नियम रख दिये हैं, और घोषणा की है कि इनके अनुसार जीवन की रचना करने पर धर्म एव दर्शन सब अपने-आप उसके पास चले आयेगे। इनके कारण मतो से उत्पन्न कट्टरता और कटुता दूर होगी। इनके कारण धर्म के जटाजूट और भूलभुलैया से आच्छादित एव भ्रमित मानव का सच्चा रूप—'स्वरूप'—निखर आयेगा।

गाधी जी ने विश्व पर अपना जो व्यापक प्रभाव छोडा है उसका बहुत बडा कारण उनका नीति का ऐसा उदात्त रूप मे प्रस्तुत करना ही है। इसीलिए वह अपने समय मे विश्व के नैतिक बैरोमीटर बन गये थे। बुद्ध के पश्चात् कदाचित् ही किसी महापुरुष ने जीवन मे नीति को इतनी प्रधानता दी हो, बल्कि कई अशो मे तो बुद्ध की कल्पना से भी वह आगे निकल गये है। नीति के ग्रहण से समस्त भगवद्विभूतियाँ, एक-एक करके साधक के पास चली आती है, और मिथ्याडम्बर से उसकी रक्षा भी हो जाती है। नीति के हर एक पहलू पर गाधी जी ने प्रकाश डाला है। सार्वभौम नीति की उदात्त भावनाए तो उनमे है ही, विविध अवस्थाओ एव स्थितियो मे बरती जाने वाली आचरण-नीतियो का भी उन्होने समय-समय पर सम्यक विवेचन किया है। इन सब मे उनके अनुभव का प्रकाश है, उनके निजी प्रयोगो को वाणी प्राप्त हुई है। इसलिए जीवन के पथिक और श्रेष्ठ सात्विक जीवन के साधको के लिए उनका विशेष महत्व है।

०

धर्म

धर्म चमत्कारिक शब्द है

'धर्म' भारतीय वाङ्मय का एक चमत्कारिक शब्द है। ससार की किसी भी भाषा मे उसका वस्तुत कोई पर्याय नही है। जिस तत्व से किसी भी वस्तु का अस्तित्व सभव होता है वही है धर्म। विष का धर्म है उसका विषत्त्व या मारना, अमृत का धर्म है उसका अमृतत्व या जिलाना। जबतक विष मे विषत्त्व है तभी तक उसका धर्म है, जबतक अमृत जिलाता है तभी तक वह अमृत है। इसी प्रकार जबतक मानव का मानवत्त्व है तभी तक मानव मानव है। मतलब धर्म वह है जिसमे हम है—जिसके बिना हम हो नहीं सकते।

जिस विराट चैतन्य से सब का उद्भव है, उससे अपनी निजी या जगात्मा को जोडना ही धर्म है। क्योंकि उसी विराट् के अगभूत हमारा अस्तित्व है। इस प्रकार धर्म की मूल प्रेरणा वैयक्तिक है—जब वह सार्वभौम आत्म तत्त्व की गुह्य साधना मे लग जाती है तब दर्शन या अध्यात्म के क्षेत्र मे चली जाती है। अपने ही अन्तर से धर्म का उद्भव होता है, क्योंकि उसमे आत्मानुभव का ही अग प्रधान है। इसीलिए धर्म श्रद्धा का विषय है, हृदय की चीज है। नीति जहा मुख्यत कर्म है तहाँ धर्म मुख्यत भक्ति या आस्था है, हृदय उसका क्षेत्र है। उद्भूत वह नीति से ही होता है किन्तु साधना उसकी अपनी होती है। वह एक प्रकार की आत्मगत साधना है—साधना वह जिससे हम अपने से, जीवन के आदिस्रोत से, परमेश्वर से, परमसत्य से, राम से (सहस्रो नामो मे से उसे चाहे जिससे पुकार लीजिए) जोडते है।

धर्म निजी साधना है

गाधीजी ने स्वय ही कहा है—"धर्म वस्तुत बुद्धिग्राह्य न थी, परन्तु हृदयग्राह्य छे। आपणाथी जुदी एवी ए वस्तु न थी, परन्तु एवी वस्तु छे के जेने आपणे आपणा पोतामाथीज खीलववानी छे। ते सदा आपणा अन्तर माँज छे। केटलाकोने तेनु भान छे, बीजा केटलाकोने तेनु जरापण भान न थी, परन्तु ते तत्त्व तेओमा पण छे। धर्म एक व्यक्तिगत सग्रह छे। तेने माणस पोतेज राखी शके छे, अने पोतेज खुए छे। समुदाय माज बचावी शकाय ते धर्म न थी, मत छे।" अर्थात् "धर्म वस्तुत बुद्धिग्राह्य नही, हृदयग्राह्य है। वह ऐसी वस्तु नही जो अपने से अलग हो, वर ऐसी वस्तु है जिसे हमे अपने अन्दर से ही विकसित करना है। वह सदा हमारे अन्तर मे ही है। कुछ लोगो को उसका भान है, और दूसरे कुछ लोगो को उसका जरा भी भान नही है। किन्तु वह तत्त्व तो उनमे भी वर्तमान है ही। धर्म एक व्यक्तिगत सग्रह है। समुदाय मे ही जिसकी रक्षा सभव हो वह धर्म नही है, मत है।"

ससार मे धर्म को लेकर जो गडबडी आज तक हुई है और आज भी हो रही है उसका मुख्य कारण यही है कि सामान्य भाषा मे हमने धर्म को मत से मिला दिया है—उसका पर्याय बना दिया है। स्वभावत इससे दृष्टि धूमिल हुई है, विकृतियाँ पैदा हुई है, पक्ष-विपक्ष बने है और विद्वेष से मानव भर गया है। वस्तुत धर्म और मत दो भिन्न वस्तुए है, दोनो की प्रेरणा भिन्न है, प्रवृत्ति भिन्न है, पकड—'एप्रोच'—भिन्न है। धर्म जहाँ आत्मगत साधना है, तहाँ मत अपने विचार को सगठित कर उसे सामाजिक रूप देने, उसके बन्धन मे अपन को और

धर्म और मत

दूसरो को बाँधने का प्रयत्न है। धर्म भावना है, मत कर्मकाण्ड है। धर्म अपने को उपास्य से, ईश्वर से जोडता है, मत अपने को ससार से जोडता और उस पर अपना आरोपण करता है। क्रिश्चियेनिटी मत है, इस्लाम मत है, हिन्दुइज्म मत है, किन्तु प्रेम धर्म है, शान्ति धर्म है, दया धर्म है, सेवा धर्म है, सयम धर्म है।

जैसे प्रेम शब्द को लोगो ने यौनाकर्षण या वासना का पर्याय बना दिया, वैसे ही 'धर्म' को 'मत' मे जाकर मिला दिया है। बात यह है कि मनुष्य का समस्त जीवन विश्वास का आश्रय लेकर चलता है। कोई स्वीकार करे या न करे, और कोई चाहे कैसा ही तार्किक हो, उसके अन्दर कुछ अस्पष्ट विश्वास अवश्य होते हैं। जर्मन विद्वान गेटे ने लिखा है—"ससार एव मानवेतिहास का एक, और केवल एक ही वास्तविक तथा गहन, वर्ण्य विषय है—और सब वर्ण्य विषय उसके अधीन हैं—विश्वास एव अविश्वास के बीच का सघर्ष।"

इन विश्वासो से ही ससार मे विविध मतो का उद्भव और विकास हुआ है। जल-वायु, इतिहास, भौगोलिक एव आर्थिक परिस्थितियो की भिन्नता ने प्रत्येक को एक विशेष प्रकार की आचरण-मालिका प्रदान की है।

मतो का जन्म क्यो होता है?

विश्व मे जितने भी मत है सब ईश्वरीय वाणी या प्रेरणा से अपने को उद्भूत मानते है। उनकी यह ईश्वरीय वाणी उनकी किसी प्रधान धर्म-पुस्तक मे सचित है। वे उसे ही एक मात्र सत्य मानते है—दूसरे मतो को वे ईश्वर-प्रेरित नही मानते या कम-से-कम उस अश मे नही मानते जिस अश मे अपने को मानते हैं और प्राय दूसरे मतो की ओर उनकी हीन दृष्टि है।

इसी हीन दृष्टि या अपने विशिष्ट मतवादी अहकार के कारण प्रत्येक युग मे धर्म (मत के अर्थ मे) को लेकर खीचतान होती रही है, वे आपस मे टकराते रहे है। उनको लेकर भयानक रक्तपात हुआ है। परन्तु ये सब दुखद काण्ड इसी-लिए होते रहे है कि मानव-समाज की विभिन्न जातियाँ धर्म के केन्द्रीय सत्य या [illegible] को भूलकर उनके कर्मकाण्ड मे, उसके बाह्याडम्बर मे उलझ गई हैं, धर्म की आत्मा दृष्टि से ओझल हो गई है, और उसका शरीर या आकार मात्र रह गया है।

एक वर्ग का सगठित अहकार ही मत है। मत चूंकि निजी धर्म-भावना का ही बाह्य प्रसार है, इसलिए उसमे भी सत्य का आलोक तो होता ही है परन्तु मत

मत का गर्व : धर्म की नम्रता

बडा आग्रही होता है; हमी सत्य है, दूसरे सब झूठे, हमारी ही शरण मे आने से मुक्ति होगी—यह 'मत' की दंभभरी वाणी है; तुम में, हम मे सब मे कुछ सत्य है,—'एकं सत विप्रा बहुधा वदन्ति'—एक ही सत्य

को विद्वज्जन अनेक प्रकार से कहते हैं—, 'सर्वे नद्यः स्यन्दमाना समुद्रे—' सब नदियाँ (अपने अपने नाम रूप छोड़ कर) समुद्र में मिल जाती हैं'—यह धर्म बोल रहा है।

गांधी जी ने धर्म को उसके मूल अर्थ में ही ग्रहण किया है। वितण्डा से बचने के लिए, जाल में न फस जाने के हेतु उन्होंने धर्म को उदात्त नीति-धर्म में संयुक्त कर दिया है। उनके विचार में जो धर्म (मत) नैतिक आदर्शों या तत्त्वों का उल्लंघन करता है वह धर्म ही नहीं है। धर्म का काम मानव में मानवता के विकास की प्रक्रिया को गति देना है, कुण्ठित करना नहीं। इसीलिए जहाँ अहिंसा नहीं है, हिंसक भावना या कर्म है, जहां गर्व है, जहाँ स्वार्थ है, जहाँ प्रतिबन्धित दृष्टि है वहाँ उनके विचार में धर्म नहीं, धर्म का निषेध है।

समस्या का एक व्यावहारिक समाधान

ऊपर मैंने कहा है कि मतों में भी सत्यांश है। इसलिए मतों की भी मानव-समाज में अपनी एक भूमिका है। उनमें भी लोकानुभव एवं लोकहित के तत्त्व हैं। तब उनका वर्तन किस प्रकार होना चाहिए कि वे अपनी भूमिका में श्रेयस्कर सिद्ध हों? गांधी जी ने इसके लिए दो आचरण-नियमों की व्यवस्था की है—१ स्वधर्म का ग्रहण। २ सर्वधर्म-समभाव। दोनों व्यावहारिक समाधान उपस्थित करते हैं। १ सब अपने-अपने धर्म (मत) में रह कर आत्मबोध पायें, उन्हें अपना मत या मजहब छोड़ने की आवश्यकता नहीं। हर एक के लिए अपना मत ठीक, वह उसी को लेकर चले, उसी में मरे, दूसरे का धर्म न ग्रहण करे (स्वधर्मे निधनं श्रेयः—) परन्तु २ अन्य धर्मों के प्रति समानता का भाव रखे। जैसे हमारा मत हमारे लिए ठीक है, वैसे ही दूसरे का मत दूसरे के लिए भी ठीक होगा। जैसे हमारे मत में हमारे लिए सत्य है और हमें उसका अनुगमन करना चाहिए, वैसे ही दूसरे के लिए दूसरे का मत भी सत्य है और उसे उसी में से तत्त्वसिद्धि करनी चाहिए। जैसे हमारा मत ईश्वर-प्रेरित है हमारे लिए, वैसे ही दूसरे का मत ईश्वर-प्रेरित है उसके लिए। वस्तुतः इस दृष्टि में आत्यन्तिक सत्य तो नहीं है क्योंकि तत्त्ववेत्ता तो अपना-पराया मानता नहीं और न वह अपने मत में इसलिए सन्तोष पा सकता है कि वह अपना है किन्तु इन नियमों की अवतारणा में गांधी जी ने व्यावहारिक लाभ की दृष्टि अपनाई है। इससे मनुष्य के उस सामाजिक अहंकार की भी तुष्टि हो जाती है जो उसे अपने विशेष मत के विषय में है और उन झगड़ों का भी निराकरण हो जाता है जो विविध मतों की खींचातानी के कारण पैदा होते हैं। उनका यह भी खयाल है कि दूसरे मतों की आलोचना से विरत होकर प्रत्येक मतानुयायी यदि

दूसरो को बाँधने का प्रयत्न है। धर्म भावना है, मत कर्मकाण्ड है। धर्म अपने को उपास्य से, ईश्वर से जोडता है, मत अपने को ससार से जोडता और उस पर अपना आरोपण करता है। क्रिश्चियेनिटी मत है, इस्लाम मत है, हिन्दुइज्म मत है, किन्तु प्रेम धर्म है, शान्ति धर्म है, दया धर्म है, सेवा धर्म है, सयम धर्म है।

जैसे प्रेम शब्द को लोगो ने यौनाकर्षण या वासना का पर्याय बना दिया, वैसे ही 'धर्म' को 'मत' मे जाकर मिला दिया है। बात यह है कि मनुष्य का समस्त जीवन विश्वास का आश्रय लेकर चलता है। कोई स्वीकार करे या न करे, और कोई चाहे कैसा ही तार्किक हो, उसके अन्दर कुछ अस्पष्ट विश्वास अवश्य होते हैं। जर्मन विद्वान गेटे ने लिखा है—"ससार एव मानवेतिहास का एक, और केवल एक ही वास्तविक तथा गहन, वर्ण्य विषय है—और सब वर्ण्य विषय उसके अधीन हैं—विश्वास एव अविश्वास के बीच का सघर्ष।"

इन विश्वासो से ही ससार मे विविध मतो का उद्‌भव और विकास हुआ है। जल-वायु, इतिहास, भौगोलिक एव आर्थिक परिस्थितियो की भिन्नता ने प्रत्येक को एक विशेष प्रकार की आचरण-मालिका प्रदान की है।

मतो का जन्म क्यो होता है?

विश्व मे जितने भी मत हैं सब ईश्वरीय वाणी या प्रेरणा से अपने को उद्‌भूत मानते हैं। उनकी यह ईश्वरीय वाणी उनकी किसी प्रधान धर्म-पुस्तक मे सचित है। वे उसे ही एक मात्र सत्य मानते है—दूसरे मतो को वे ईश्वर-प्रेरित नही मानते या कम-से-कम उस अश मे नही मानते जिस अश मे अपने को मानते हैं और प्राय दूसरे मतो की ओर उनकी हीन दृष्टि है।

इसी हीन दृष्टि या अपने विशिष्ट मतवादी अहकार के कारण प्रत्येक युग मे धर्म (मत के अर्थ मे) को लेकर खीचतान होती रही है, वे आपस मे टकराते रहे हैं। उनको लेकर भयानक रक्तपात हुआ है। परन्तु ये सब दुखद काण्ड इसी-लिए होते रहे हैं कि मानव-समाज की विभिन्न जातियाँ धर्म के केन्द्रीय सत्य या स्रोत को भूलकर उनके कर्मकाण्ड मे, उसके बाह्याडम्बर मे उलझ गई हैं, धर्म की आत्मा दृष्टि से ओझल हो गई है, और उसका शरीर या आकार मात्र रह गया है।

एक वर्ग का सगठित अहकार ही मत है। मत चूँकि निजी धर्म-साधना का ही बाह्य प्रसार है, इसलिए उसमे भी सत्य का आलोक तो होता ही है परन्तु मत बडा आग्रही होता है, हमी सत्य है, दूसरे सब झूठे,

मत का गर्व : धर्म की नम्रता

हमारी ही शरण मे आने से मुक्ति होगी—यह 'मत' की दर्पभरी वाणी है, तुम मे, हम मे सब मे कुछ सत्य है,—'एक सत विप्रा बहुधा वदन्ति'—एक ही सत्य

को विद्वज्जन अनेक प्रकार से कहते है—, 'सर्वे नद्य स्यन्दमाना समुद्रे—' सब नदियाँ (अपने अपने नाम रूप छोड कर) समुद्र मे मिल जाती है'—यह धर्म बोल रहा है।

गांधी जी ने धर्म को उसके मूल अर्थ मे ही ग्रहण किया है। वितण्डा से बचने के लिए, जाल मे न फस जाने के हेतु उन्होने धर्म को उदात्त नीति-क्रम मे सयुक्त कर दिया है। उनके विचार मे जो धर्म (मत) नैतिक आदर्शो या तत्त्वो का उल्लघन करता है वह धर्म ही नही है। धर्म का काम मानव मे मानवता के विकास की प्रक्रिया को गति देना है, कुण्ठित करना नही। इसीलिए जहाँ अहिसा नही है, हिसक भावना या कर्म है, जहा गर्व है, जहाँ स्वार्थ है, जहा प्रतिबन्धित दृष्टि है वहाँ उनके विचार मे धर्म नही, धर्म का निषेध है।

ऊपर मैंने कहा है कि मतो मे भी सत्याश है। इसलिए मतो की भी मानव-समाज मे अपनी एक भूमिका है। उनमे भी लोकानुभव एव लोकहित के तत्त्व है। तब उनका वर्तन किस प्रकार होना चाहिए कि वे अपनी भूमिका मे श्रेयस्कर सिद्ध हो? गाधी जी ने इसके लिए दो आचरण-नियमो की व्यवस्था की है—१ स्वधर्म का ग्रहण। २ सर्वधर्म-समभाव। दोनो व्यावहारिक समाधान उपस्थित करते है। १ सब अपने-अपने धर्म (मत) मे रह कर आत्मबोध पाये, उन्हे अपना मत या मजहब छोडने की आवश्यकता नही। हर एक के लिए अपना मत ठीक, वह उसी को लेकर चले, उसी मे मरे, दूसरे का धर्म न ग्रहण करे (स्वधर्मे निधन श्रेय —) परन्तु २ अन्य धर्मो के प्रति समानता का भाव रखे। जैसे हमारा मत हमारे लिए ठीक है, वैसे ही दूसरे का मत दूसरे के लिए भी ठीक होगा। जैसे हमारे मत मे हमारे लिए सत्य है और हमे उसका अनुगमन करना चाहिए, वैसे ही दूसरे के लिए दूसरे का मत भी सत्य है और उसे उसी मे से तत्त्वसिद्धि करनी चाहिए। जैसे हमारा मत ईश्वर-प्रेरित है हमारे लिए, वैसे ही दूसरे का मत ईश्वर-प्रेरित है उसके लिए। वस्तुत इस दृष्टि से आत्यन्तिक सत्य तो नही है क्योकि तत्त्ववेत्ता तो अपना-पराया मानता नही और न वह अपने मत से इसलिए सन्तोष पा सकता है कि वह अपना है किन्तु इन नियमो की अवतारणा मे गाधी जी ने व्यावहारिक लाभ की दृष्टि अपनाई है। इससे मनुष्य के उस सामाजिक अहकार की भी तुष्टि हो जाती है जो उसे अपने विशेष मत के विषय मे है और उन झगडो का भी निराकरण हो जाता है जो विविध मतो की खीचातानी के कारण पैदा होते है। उनका यह भी खयाल है कि दूसरे मतो की आलोचना से विरत होकर प्रत्येक मतानुयायी यदि

समस्या का एक व्यावहारिक समाधान

ईमानदारी से अपने मतोपदिष्ट आदर्शों एव तत्वो की उपलब्धि का यत्न करता रहेगा तो अन्त मे उसमे वह दृष्टि कभी-न-कभी आ ही जायगी जो सब मतो से ऊपर उठ कर सब मतो मे निहित सार्वभौम सत्य को देख लेती है। इसीलिए वह एक ईसाई से हिन्दू बनने को नही, 'अच्छा ईसाई' बनने को कहेगे, एक हिन्दू को 'अच्छा हिन्दू' तथा एक मुसलमान को 'अच्छा मुसलमान' बनने को कहेगे। एक 'अच्छा मुसलमान' और एक 'अच्छा हिन्दू', यदि ईमानदार हैं तो कालान्तर मे एक 'अच्छा मानव' बनकर रहेगे।

कोई धर्मग्रन्थ अन्तिम नहीं है

गाधी जी के धर्म-सिद्धान्त के विषय मे एक दूसरी बात यह है कि वह किसी भी शास्त्र या धर्म-ग्रन्थ को अन्तिम सत्य नही मानते। उनके लिए वेद उसी अर्थ मे ईश्वर-वाणी हैं, जिस अर्थ मे बाइबिल या कुरान ईश्वर-वाणी है, इनमे मात्रा-भेद सभव है पर गुण-भेद नही। अमुक ही ग्रन्थ मे ईश्वर का अन्तिम आदेश निहित है, इस मान्यता पर उन्होने तीव्र प्रहार किया है। उनका कहना है कि ईश्वर यदि अनन्त और असीम है तो किसी एक ही ग्रन्थ मे सिमट कर, सीमित होकर नही रह सकता, वह जो कुछ कह चुका है, उसके आगे नही कह सकता, या नहीं कहेगा, यह कैसी विडम्बना-भरी बात है! पहिले उसने कहा अवश्य है पर आगे कहने के अधिकार का त्याग तो नही किया है? वह सदा था, सदा है, सदा रहेगा, और जैसे कभी आया था, जैसे कभी ऋषियो ने पैगम्बर-प्रवक्ताओ ने उसे प्रत्यक्ष देखा और सुना, वैसे ही वह फिर आ सकता है, फिर आयेगा और आगे भी प्रवक्ता तथा ऋषि उसका प्रत्यक्ष दर्शन करेंगे, उसकी वाणी सुनेंगे, इसलिए इस प्रकार का दावा कि अमुक ही धर्म-ग्रन्थ अन्तिम है, अविवेकपूर्ण है, बल्कि एक प्रकार की प्रवचना है। इस प्रकार गाधी जी व्यक्ति के इस अधिकार को, जो उसे परम प्रभु से ही मिला है, छोडने को किसी भी रूप मे तैयार नही है कि जितने भी सत्यो का उद्घाटन आज तक हुआ है, उसके आगे भी हो सकता है और वह उसके आगे जा सकता है। वस्तुत, यदि गाधी जी की बात न मानी जाय तो धर्म का कुछ अर्थ ही नही रह जाता और मानव मुक्ति-पथ पर अग्रसर होने की जगह एक विशिष्ट धर्म-विश्वास के बन्धनो मे जकडा ही रह जायगा।

शास्त्र की चमत्कारी परिभाषा

गांधी जी यह भी कहते है कि वेद या शास्त्र का अर्थ भी तभी प्रकट होता है जब वह जीवन मे प्रकट होता है। विद्याभिमानी ने उन्हें कभी आकर्षित नही किया। उन्होंने लिखा है—"शब्द मार डालता है...यह (शब्द का) भाव है जो

प्रकाश देना है।" उनकी शास्त्र की परिभाषा भी चमत्कारी है—"गीता के सिद्धान्तो पर जीवन मे आचरण करने वाले पुरुष का आचरण ही शास्त्र है।" सम्पूर्ण शास्त्र निरर्थक है यदि वह आत्म-तत्त्व की ओर प्रेरित नही करता। नरसी मेहता के शब्दो मे—

ज्या लगी आतमातत्त्व चीन्यो नही
त्या लगी साधना सर्व जूठी।

अर्थात् "जबतक आत्मा का तत्त्व नही पहिचान पाये तबतक सब साधनाए झूठी है।"

तब साधक क्या करे ? शास्त्र उसे विमोहित करता है, मत उसे जगज्जाल मे बाधता है, कर्मकाण्ड उसमे प्रतारणाए उत्पन्न करता है। कैसे हम धर्म को जाने, कहाँ से प्रकाश ले ? गाधी जी महर्षि व्यास के दो श्लोको की ओर इशारा करके हमारा पथ सरल कर देते है। धर्म की सारी गुत्थिया यहाँ खुल जाती है—

विद्वद्भि. सेवित सद्भि नित्यमद्वेष-रागिभि
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्त निबोधत।

विद्वानो ने जिसका सेवन किया हो, सन्तो ने जिसका सेवन किया हो, रागद्वेष से नित्य-मुक्त वीतराग पुरुषो ने जिसका सेवन किया हो और जिसको अपने हृदय ने स्वीकार किया हो, ऐसे धर्म को तू जान।

श्रूयता धर्मसर्वस्वम्, श्रुत्वाचैवावधार्यताम्।
आत्मन' प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत॥

धर्म का रहस्य सुनो और सुन कर हृदय मे उतारो। वह यह कि जो अपने लिए प्रतिकूल लगे, उसे दूसरो के प्रति न करो।

इसीलिए उनकी दृष्टि मे "धर्म वह है जो आत्मा को शुद्ध करता है, जो फल की आकाक्षा नही रखता, जिसे अटूट विश्वास है और जिसमे स्वार्थ का होना असभव है। जो कार्य इस धर्म के अनुकूल है वह धार्मिक है। इसका यह अर्थ हुआ कि धर्म बुद्धिगम्य नही, हृदयगम्य है। हृदय के जागरण के लिए तप के सिवा दूसरा कोई उपाय नही है। तप त्याग की परिसीमा है। दुख सहने का नाम तप है।"

---

१ १६।११।१९३२ महादेवभाई की डायरी भाग २, पृष्ठ २०६
२ हरिजनबन्धु ६।५।१९३३

इस धर्म-साधना मे वह प्रार्थना-उपासना को बहुत महत्वपूर्ण स्थान देते हैं। "प्रार्थना वियोगी का विलाप है।" वह "आत्मा का आहार है।" प्रार्थना का अर्थ है प्रभु के चरणो मे सर्वस्वार्पण। जहाँ प्रार्थी के लिए जगत् के सब साधन चुक जाते हैं, कुछ भी नही रहता, केवल प्रभु ही एकमात्र अवलम्ब-रूप बच रहते हैं; वह है और उसका प्रियतम प्रभु—ऐसी प्रार्थना के बिना, ऐसी शून्य स्थिति के बिना ईश्वर नही मिलता, धर्मानुभव नही होता, आत्मतत्त्व नही मिलता। यह प्रार्थना गहरी श्रद्धा से, हृदय की गहराइयो के बीच से उठती है। मत की दृष्टि से गाधी जी सनातनी हिन्दू है और हिन्दू पन्थ मे उनका अटूट विश्वास है। यह इसीलिए कि हिन्दू पन्थ सब से कम मत है और उसमे सार्वभौम सत्य का प्रकाश अन्य मतो की अपेक्षा कही अधिक है। कोई धर्म उसकी भाँति जीवमात्र के कल्याण की भावना से ओतप्रोत नही है, उसके समान कोई आशीर्वाद नही करता कि—सर्वे भवन्तु सुखिन सर्वे सन्तु निरामया, सर्वे भद्राणि पश्यन्तु—सब सुखी हो, सब निरामय हो, सब श्रेय को देखे। इसीलिए वह स्वय कहते हैं—"निष्पक्ष भाव से विचार करते हुए मुझे यह प्रतीति हुई है कि हिन्दू धर्म मे जो सूक्ष्म और गूढ विचार हैं, आत्मा का निरीक्षण है, दया है, वह दूसरे धर्मो मे नही है. "

इतनी विवेचना के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है—

१ जो बाते मन को शुद्ध करती हैं अर्थात् सच्चे सदाचरण या नीति से प्रेरित हैं, जो मानव-मानव मे विभेद न उत्पन्न कर उसे एक-दूसरे से जोडती है, ईश्वर की ओर, परम सत्य की ओर उन्मुख करती है उनका समवाय ही धर्म है।

२ स्वभावत यह धर्म-भावना नीति से शासित और प्रेरित है।

३ यह धर्म जब आचरित हो कर जीवन मे व्यक्त होता है तभी सच्चा धर्म है।

४ यह धर्म व्यक्तिगत भावना का विषय है और बुद्धि से नही, हृदय से ही पकड मे आता है।

५ स्वधर्म मे रहते हुए भी सब धर्मो या मतो के प्रति समानता की दृष्टि रखना आवश्यक है।

६ धर्म किसी प्रवक्ता या शास्त्रग्रन्थ मे सीमित नही है। शब्द के पीछे जो शब्दातीत भाव है उसी को ग्रहण करने पर वह समझ मे आता है। प्रबुद्ध जनो, सन्तो एव वीतराग पुरुषो के जीवन को देख कर उसका बोध किया जा सकता है।

७ त्याग, तप और प्रार्थना उसका साधन है। भगवान के चरणो मे अपने को अर्पित कर देना ही सच्ची प्रार्थना है।

सार्वभौम धर्म के साथ ही गाधी जी ने मतो एव सम्प्रदायो के रूप में जो धर्म प्रचलित है उनके सम्बन्ध मे भी बहुत लिखा है, उन्होंने उनके अग-उपागो एव

विविध स्थितियो पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। हिन्दू धर्म, हिन्दू धर्म के आचार-विचार और ग्रन्थो, वर्णाश्रम, गोसेवा, अस्पृश्यता-निवारण इत्यादि की एक-एक गुत्थी खोल कर उन्होने रख दी है, साथ ही ईसाई, इस्लाम, जैन, बौद्ध इत्यादि मतो के गुणावगुणो पर भी उन्होने कम प्रकाश नही डाला है। साधना तथा धर्माध्ययन मे साधक के सामने जो समस्याए आती है, जो कठिनाइया एव प्रवचनाए उपस्थित होती है, उनके बारे मे भी बहुत लिखा है। सब मे बडी बात यह कि उनके विचार उनके अनुभव और अनुभव आचरण एव प्रयोग मे प्राप्त हुए है।

गाधी जी की धर्म-भावना का एक गुण यह भी है कि उसमे विवेक एव श्रद्धा दोनो का सम्यक् सामञ्जस्य है। यहाँ श्रद्धा का ग्रहण है, बल्कि उस पर बल भी दिया गया है परन्तु बुद्धि का त्याग नही है। परन्तु सब मिला कर देखने से उनकी नीति जहाँ कर्म-प्रधान है, तहाँ उनका धर्म भावनाप्रधान है, हृदयगम्य है। आधुनिक युग मे नीति-समन्वित और प्रभु के प्रति आत्मार्पण मे पूर्ण निष्ठाप्रधान धर्म पर कदाचित् ही दूसरे किसी महापुरुष ने इतना जोर दिया हो। उनका धर्म भौगोलिक बन्धनो से परे है और सब को अपनी ओर खीचता है। खण्डित जीवन मे परिपूर्ण जीवन, ईश्वर-वियुक्त जीवन मे ईश्वरयुक्त जीवन की ओर ले जाने वाला धर्म ही गाधी-प्रतिपादित धर्म है। यह धर्म पशु मानव को ईश्वरीय मानव मे बदल देता है।

०

दर्शन

दर्शन चिन्तन या भावना की वह प्रक्रिया है जिसमे साधक या मुमुक्षु तत्त्व को प्रत्यक्ष करता है। तत्त्व को देखना ही दर्शन है। यह शब्द के पीछे शब्दातीत को देखने का यत्न है, पदार्थ मे उसकी आत्मा को पाने का प्रयास है। प्रेरणा जब शुद्धाचरण मे प्रकट होती है तब नीति, जब हृदय मे दीप्त होती तब धर्म और जब चिन्तन मे मथी जाकर व्यापक चैतन्य मे युक्त होती है, रूप लुप्त हो जाता है और उसमे निहित तत्त्व प्रकट होता है तब दर्शन होती है। इस प्रकार नीति तत्त्व का आधान धर्म और उसकी साधना तथा उसकी सिद्धि दर्शन है।

ईश्वरसिद्धि या आत्मसिद्धि ही दर्शन का ध्येय है। सम्प्रदाय-भेद मे इसे ब्रह्मदर्शन, आत्म-साक्षात्कार, मोक्ष, पुरुष-दर्शन, निर्वाण इत्यादि नामो से भी पुकारा गया है। गाधी जी इसे सत्य या सत्येश्वर का साक्षात्कार कहते है। यह सत्य या परमेश्वर मन-वाणी से परे है। जगत् मे व्याप्त हो कर भी उससे अतीत

है। सब कुछ उसी के कारण है, उसी को लेकर है। गाधी जी के ही शब्दो मे " यदि वह नही तो हम भी नही हो सकते। इसीलिए हम सब उसे अनेक और अनन्त नाम से पुकारते है। वह एक है, अनेक है। अणु से भी छोटा और हिमालय से भी वडा है। समुद्र के एक बिन्दु मे भी समा जा सकता है और ऐसा भारी है कि सात समुद्र मिल कर भी उसे सहन नही कर सकते। उसे जानने के लिए बुद्धिवाद का उपयोग ही क्या हो सकता है? वह तो बुद्धि से अतीत है।"[1]

कल्पना जहाँ तक जा सकती है, सब ईश्वर है। "ईश्वर सत्य और प्रेम है, ईश्वर नीति और सदाचार है, ईश्वर अभय है, ईश्वर प्रकाश और जीवन का स्रोत है, फिर भी इन सब से ऊपर और परे है। ईश्वर विवेक-शक्ति है। वह नास्तिक की नास्तिकता भी है। . वह वाणी और बुद्धि से परे है। हम मिथ्या है; एक वही सत्य है।"[2] यहाँ 'हम' माया-विद्ध जीव के लिए है अन्यथा 'हम' मे भी उसी का दर्शन है क्योकि 'हम' भी उससे रहित नही है।

गाधी-दर्शन, अन्य दर्शनो की भाँति ही, सत्य की सिद्धि या आत्मसाक्षात्कार का दर्शन है। इसमे ईश्वर है, जीव है, कभी-कभी माया भी है। ईश्वर को जानने, देखने, पाने का सतत प्रयत्न है किन्तु जो दर्शन या तत्त्व-ज्ञान इन्द्रियलब्ध समस्त अनुभवो को पार कर जाता है, जो सदाचार से भी अतीत है, जहाँ कर्ममात्र वन्धन है और जो सब इच्छाओ-अपेक्षाओ, वन्धनो से परे है—यहाँ तक कि मुक्ति की इच्छा भी जिसके लिए वन्धन रूप है, ऐसे आत्यन्तिक दर्शन या गुह्य अध्यात्म-तत्त्व की पकड उसमे नही है।

और इसका कारण है। गाधी जी का जीवन नैतिक आदर्शो के सरल राजपथ मे चलने वाला जीवन है, उनकी धर्म-भावना भी उनके नैतिक आदर्शों से सयमित है। उनका जीवन प्रेम, तप, त्याग, नि स्वार्थ सेवा के साधनो को अपनाकर सीधे आगे बढता गया है। उसमे धर्म की जटिल समस्याओ मे कतरा कर आगे निकल जाने का प्रयास है। वह उन गहराइयो से वचते है जिनसे दिग्भ्रम होना सभव है, वह हठयोग या तत्र की सिद्धियो की भूलभुलैया मे कभी प्रवेश नही करते। वह जगत् की सेवा मे ही ईश्वर को पाने का प्रयत्न करते है, यह जगत् ही उनके लिए ईश्वर की विराट देह है, उसके जीव ही उनके आत्मबोध की प्रयोगशाला है इसलिए समस्त धर्मो एवं प्रवृत्तियो का त्याग जहाँ है, जहाँ निवृत्ति मार्ग का सूक्ष्म दर्शन है, पुरुष-प्रकृति या माया, जीव और ब्रह्म के सम्बन्धो का या ईश्वर एव ब्रह्म के

---

१ नवजीवन २१।१।१९२६
२ यंग इण्डिया ५।३।१९२५

भेद का विवेचन है वहाँ या तो उनकी गति नहीं है या फिर वह अपने ऋजु पथ के लिए इनकी आवश्यकता नहीं मानते।

जीवन के उत्तर काल में एक ऐसी स्थिति का पता उनको चल गया था, जहाँ अकर्म ही कर्म हो जाता है, निवृत्ति ही प्रवृत्ति हो जाती है और शून्यता के अवगाहन में चरम चैतन्य की अनुभूति होती है। अपने देहावसान के लगभग साढ़े तीन मास पूर्व उन्होंने लिखा—"एक स्थिति ऐसी होती है जब व्यक्ति को विचार प्रकट करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। उसके विचार ही कर्म बन जाते हैं। वह संकल्प से कर्म कर लेता है। जब ऐसी स्थिति आती है, तब व्यक्ति अकर्म में कर्म देखता है यानी अकर्म में कर्म होता है, ऐसा कहा जा सकता है। मैं उस स्थिति से दूर हूँ। उस तक पहुँचना चाहता हूँ। मेरा प्रयत्न उसी ओर रहता है।"[1]

यह 'अकर्म में कर्म', जिसकी ओर गांधी जी ने संकेत किया है, जीव की वह उदात्त आध्यात्मिक भूमिका है जिसमें वह पार्थिव बन्धनों से छूट जाता है और मोक्ष के सन्निकट होता है। इसके बाद भी एक स्थिति है जिसमें विचार भी नहीं उठते, सब शून्य और शान्त, स्थिर और निश्चल हो जाता है। क्योंकि जबतक विचार हैं, कर्म भी हैं। अन्तर इतना ही है कि वे सूक्ष्म स्तर पर और चिन्मय होते हैं। जबतक सूक्ष्म कर्म हैं तबतक यह जगत् भी है, तबतक उसका लोप नहीं है, क्योंकि कर्म से ही नामरूपात्मक, नित्य-चंचल जगत् की सृष्टि होती है। जहाँ जगत् का तिरोधान है, वहीं सब कर्मों अतः सब बन्धनों से मुक्ति है। इस जटिल आध्यात्मिक स्थिति का उल्लेख उनमें कहीं नहीं मिलता। परन्तु व्यक्तिगत रूप से मैं जानता हूँ कि अन्तिम वर्षों में इस सर्वोच्च आध्यात्मिक स्थिति का कुछ-कुछ भान उनको होने लगा था और वह यह मानने लगे थे कि कर्ममात्र विषय है और विषय में, अतः कर्म के बन्धन से छूटे बिना मोक्ष नहीं है।

सब मिला कर देखने पर ज्ञात होता है कि उनमें कर्मयोग और भक्तियोग का प्रकाश ही अधिक है, ज्ञानयोग का कम है, या तो प्रसंगवशात् है या संकेत एवं सन्दर्भ के रूप में है। उनका प्रारम्भिक एवं मध्य जीवन तीव्र कर्म-प्रेरणा से शासित है, उसमें अविरल गति है, उसमें उनके निजत्व से समाज का सुखद सम्पर्क एवं सामञ्जस्य हुआ है, अपनी शक्ति से उन्होंने समाज में व्यापक चैतन्य की उद्भावना की है। वह आत्म-पीड़ा और पर-पीड़ा दूर करने में यत्नवान हैं। इसी के लिए उन्होंने सेवा एवं सेवा के लिए संयम का मार्ग अंगीकार किया। उससे नैतिक नियमों एवं आदर्शों की एक दुनिया ही उनके सामने उद्घाटित होती गई।

---

१ नई दिल्ली, १६।१०।१९४७, ह० से० २६।१०।१९४७

उन्होंने जीवन की एकता के दर्शन किये, विरोधी के प्रति भी उस गहरे प्रेम से उनका जीवन भर उठा जो मानव मे ईश्वरत्व की विभूति है। अपने कर्मबहुल एव सक्रिय जीवन मे धर्म एव दर्शन का नियमित, शास्त्रीय अध्ययन करने के लिए उन्हे समय कहाँ मिल सकता था ? उन्होने यह भी देखा कि भगवद्विभूतियो की साधना के लिए शास्त्रज्ञान की अपेक्षा निर्मल हृदय, सवेदनशील और दर्दी हृदय की आवश्यकता अधिक है इसलिए अपने कर्म को उन्होने भगवान के चरणो मे उँडेल दिया और धर्मसाधना के लिए सतो का मार्ग अपनाया। फलत आत्मार्पण एव आत्मानुभव से उनका जीवन पूर्ण है। उनकी समस्त शिक्षा, उनके समस्त निष्कर्ष प्रयोग-जनित है, अपने जीवन मे भोगे हुए हैं और अपने ही अनुभव की दीप्ति से प्रकाशित है। आचरण ही उनका शास्त्र है, ईश्वर या चिरसत्य के प्रति आत्मार्पण ही उनकी साधना है तथा जीवमात्र के प्रति अभेदभाव ही उनकी सिद्धि है। उनका धर्मज्ञान शास्त्रीय नही, हृदयजन्य और आत्मानुभूत है। इसीलिए उसमे दर्शन के अश अपेक्षाकृत अल्प हैं।

उनकी नीति जीवन के उदात्त सस्कारो से उद्भूत हुई है, उनका धर्म हृदय-मन्थन का प्रसाद है, उनका दर्शन ईश्वर के प्रति एक प्रबुद्ध आत्मा की वियोग-व्यथा का प्रकाश है। नीति मे उनका कर्म, धर्म मे उनकी भक्ति एव दर्शन मे उनके ज्ञान की अभिव्यक्ति है और यह कर्म, भक्ति और ज्ञान तीनो मिल कर गीतोक्त स्थितप्रज्ञ की रचना मे लगे हुए दिखाई पडते हैं। उनका जीवन विन्दु से सिन्धु और वामन से विराट होने की निरन्तर साधना का जीवन है।

इस जीवन का विस्तार देखकर दर्शक चकित रह जाता है। उन्होने नीति और धर्म पर तो इतना लिखा है, इतने पहलुओ से उसे देखा है, परखा है और लिखा है कि अपनी विविधता मे उसने कुछ-कुछ विश्वकोश का-सा रूप धारण कर लिया है। छोटी-से छोटी पर आवश्यक बात उनकी दृष्टि से छूट नही पाई है और सस्कारवान जीवन के प्रेमियो के लिए, आत्मार्थियो के लिए, साधको एव मुमुक्षुओ के लिए बडी उपयोगी सामग्री इसमे हमे मिलती है।

उत्तरप्रदेश गाधी स्मारक-निधि भारी व्यय-भार उठाकर गाधी जी के विचारो को विषयानुसार वर्गीकरण करके उन्हे प्रामाणिक रूप मे उपस्थित करने के लिए जो ग्रन्थमाला निकाल रही है, यह 'नीति धर्म . दर्शन' उसका तृतीय ग्रन्थ है। यह काफी बडा हो गया है। हमारी चेष्टा रही है कि प्रत्येक विषय पर गाधी जी ने जो कुछ लिखा या कहा हो उसे सकलित कर दिया जाय। यही चेष्टा इस ग्रन्थ मे भी दिखाई देगी। इतने पर भी हम यह नही कह सकते कि तद्-

विषयक कोई चीज छूटने नहीं पाई है, इतना ही कह सकते है कि हमारी नम्र चेष्टा यही है।

तुलसीदास जी ने रामचरितमानस मे कहा है कि इसमे जो कुछ शुभ है वह राम के अमित गुणो के कारण है, अन्यथा मेरे जैसे मतिमन्द की वाणी मे क्या रखा है। मै भी उनका अनुगमन करते हुए यही कहूँगा कि इस ग्रन्थ की उपयोगिता इसलिए है कि उसमे एक महामानव के आत्मानुभूत विचारो का सकलन है, उसमे जो दोष है वे मेरे है, जो गुण है वे मेरे हृदयदेव गाधी जी के है।

हमारे अनुरोध पर आचार्य दादा धर्माधिकारी ने इस ग्रन्थ की भूमिका लिख देने की कृपा की है, वह गाधी जी के विशाल परिवार के गुरुजनो मे है, अपने है, उनके प्रति आभार प्रकट करना दिखावा-मात्र होगा।

विशेष व्यस्तता की स्थिति मे ग्रन्थ का मुद्रण हुआ है। जब ग्रन्थ अन्तिम रूप मे आया और मुद्रण का आरम्भ हुआ तो हमारे एक सहकारी अकस्मात् काम छोडकर सरकारी सेवा मे चले गये। इससे बहुत सावधानी रखने पर भी प्रूफ मे कही-कही अशुद्धियाँ रह गई है, कुछ मुख्य अशुद्धियो की ओर अन्यत्र सकेत किया गया है। इनके लिए हम क्षमाप्रार्थी है।

—श्री रामनाथ 'सुमन'
१७।१२।६७

साधना-सदन
७७।१५६ लूकरगज
इलाहाबाद-१

नीति

[पृष्ठ १–१३६]

विषयानुसारिणी अनुक्रमणिका

२ नीति : क्रियापक्ष [३३–९२]

३. नीति : विविध [९३–१२६]

नीति

[पृष्ठ १–१३६]

कालक्रमानुसारिणी निर्देशिका

२२	नीति की रक्षा में मृत्यु	ले० ति० ३।१।१९१७	२५
२३	महान व्रत	ले० ति० १८।१।१९१८	२
२४	आसक्ति-त्याग	ले० ति० २।२।१९१८	२५
२५	प्रतिज्ञा की गम्भीरता	ले० ति० १५।३।१९१८	३७
२६	ईमान	ले० ति० १०।३।१९१८	२
२७	धर्म और आत्म-सम्मान	ले० ति० १०।४।१९१८	३८
२८	प्रतिज्ञा का मूल्य	ले० ति० १७।४।१९१८	२६
२९	पञ्चपरमेश्वर	ले० ति० २२।४।१९१८	८
३०	पुरुषार्थ	ले० ति० २।५।१९१८	१०
३१	यज्ञ का अर्थ	ले० ति० १६।५।१९१८	३८
३२	आत्मबल	ले० ति० ७।९।१९१८	१०
३३	ईश्वर से याचना	ले० ति० २६।११।१९१८	१०
३४	व्रत-भंग अनुचित है	ले० ति० २७।१।१९१९	३८
३५	प्रच्छन्न पातक	ले० ति० ६।७।१९१९	
		प्र० ति० ९।७।१९१९	१०
३६	संयम हमारी शक्ति	ले० ति० ६।७।१९१९	
		प्र० ति० २१।७।१९१९	३२
३७	धर्म-नीति	ले० ति० १८।१।१९२०	
		प्र० ति० २१।१।१९२०	३२
३८	स्वच्छता और आध्यात्मिक प्रगति	ले० ति० २२।१।१९२०	
		प्र० ति० २५।२।१९२०	२६
३९	नीतिविरुद्ध धर्म-सिद्धान्त त्याज्य	प्र० ति० २।७।१९२०	२६
४०	गोपनीयता पाप है	प्र० ति० २२।१२।१९२०	४०
४१	आत्म-दण्ड	प्र० ति० २०।२।१९२१	११
४२	पवित्रता का लक्षण	ले० ति० २।४।१९२१	
		प्र० ति० ६।४।१९२१	४०
४३	आशावाद	प्र० ति० २८।१०।१९२१	११
४४	धर्म की प्रमुख शर्त नैतिकता	प्र० ति० २४।११।१९२१	४२
४५	आचार और विचार	प्र० ति० २७।४।१९२४	४१
४६	आत्मोन्नत आचरण	प्र० ति० १८।५।१९२४	४१
४७	श्रद्धा का अर्थ	प्र० ति० १८।९।१९२६	११
४८	भय अनुचित	प्र० ति० १८।९।१९२६	२६

४९	आत्म-बल	प्र० ति०	२८।९।१९२४	१२
५०.	प्रण-पालन . ईश्वर-भक्ति का प्रमाण	प्र० ति०	२८।९।१९२४	४२
५१	प्रेम-तत्त्व	प्र० ति०	२६।१०।१९२४	१२
५२.	मेरा धर्म सेवा	प्र० ति०	२६।१०।१९२४	९६
५३	सामान्य सिद्धान्त सब धर्मो मे एक है	प्र० ति०	९।११।१९२४	९७
५४	त्याग और दान	प्र० ति०	१६।११।१९२४	४३
५५	श्रद्धा	प्र० ति०	२३।११।१९२४	४३
५६	प्रेम	प्र० ति०	७।१२।१९२४	१२
५७	प्रायश्चित्त	प्र० ति०	७।१२।१९२४	९७
५८	शक्ति और उसकी कार्य-विधि	प्र० ति०	७।१२।१९२४	९७
५९	दगा	ले० ति०	१०।१२।१९२४	
		प्र० ति०	२१।१२।१९२४	९७
६०.	न पापे प्रति पाप स्यात्	ले० ति०	१०।१२।१९२४	
		प्र० ति०	२१।१२।१९२४	९८
६१	विश्वास	प्र० ति०	२१।१२।१९२४	९८
६२	आत्मरक्षा	प्र० ति०	२१।१२।१९२४	९८
६३	सर्वश्रेष्ठ नियम	प्र० ति०	१।१।१९२५	१३
६४	देवासुर-सग्राम	प्र० ति०	१।१।१९२५	९८
६५	भ्रामक मनोदशा	प्र० ति०	१।१।१९२५	९९
६६	द्रोहहीनता	प्र० ति०	८।१।१९२५	१३
६७	दिल साफ कीजिए	प्र० ति०	८।१।१९२५	९९
६८	सच्चे सैनिक का लक्षण	प्र० ति०	८।१।१९२५	९९
६९.	रामनाम और श्रद्धा	प्र० ति०	२२।१।१९२५	१३
७०.	रोटी बनाम आत्म-सम्मान	प्र० ति०	५।२।१९२५	१००
७१.	प्रेम	प्र० ति०	१९।२।१९२५	१४
७२.	प्रेम-बन्धन	प्र० ति०	५।३।१९२५	१४
७३	नम्रता आवश्यक है	प्र० ति०	२५।६।१९२५	४३
७४	प्रेम	प्र० ति०	९।७।१९२५	१४
७५.	बन्धुत्व धर्म है	प्र० ति०	२३।८।१९२५	१००
७६	श्रद्धा	प्र० ति०	२४।९।१९२५	१५
७७	इन्द्रियों का उपयोग	प्र० ति०	८।१०।१९२५	८६

नीति : तिथि-विहीन

नीति : परिशिष्ट

धर्म

[१३७–८००]

विषयानुसारिणी निर्देशिका

१ धर्म तत्त्व और सिद्धान्त [पृष्ठ १३७-२२७]

३. धर्म : हिन्दू धर्म-सिद्धान्त [पृष्ठ ३१५–३७४]

४. धर्म : हिन्दू धर्म-व्यवहारपक्ष [पृष्ठ ३७५–४७९]

५२२	११४	[illegible]	ले० ति०	८।८।१९४७	४६९
			प्र० ति०	२७।८।१९४७	
५२३	११५	[illegible]	ले० ति०	२५।८।१९४७	४७०
			प्र० ति०	११।५।१९४७	
५२४	११६	हिन्दुत्व का लक्षण	ले० ति०	७।६।१९४७	४७१
			प्र० ति०	[illegible]।६।१९४७	
५२५	११७	ईश्वर, आत्मा और उसका ज्ञान	ले० ति०	[illegible]।६।१९४७	४७१
			प्र० ति०	२२।६।१९४७	
५२६	११८	हिन्दू-धर्म के प्राचीन प्रमाण	ले० ति०	१५।६।१९४७	४७३
			प्र० ति०	२२।६।१९४७	
५२७	११९	[illegible] की निशानियाँ	ले० ति०	२१।६।१९४७	४७३
			प्र० ति०	२९।६।१९४७	
५२८	१२०	धर्म की दृष्टि	ले० ति०	१७।७।१९४७	४७५
			प्र० ति०	२७।७।१९४७	
५२९	१२१	गो-रक्षा	ले० ति०	१९।७।१९४७	४७५
			प्र० ति०	२७।७।१९४७	
५३०	१२२	उदार हिन्दू धर्म	ले० ति०	२८।७।१९४७	४७५
			प्र० ति०	१०।८।१९४७	
५३१	१२३	गो-रक्षा का उपाय	ले० ति०	२२।८।१९४७	४७५
			प्र० ति०	३१।८।१९४७	
५३२	१२४	हिन्दू-धर्म और पाकिस्तान	ले० ति०	२५।९।१९४७	४७७
			प्र० ति०	५।१०।१९४७	
५३३	१२५	प्राण-प्रतिष्ठा	ले० ति०	३०।११।१९४७	४७८
			प्र० ति०	७।१२।१९४७	
५३४	१२६	हिन्दू-धर्म की व्याख्या	ले० ति०	२३।१।१९४८	४७८
			प्र० ति०	१।२।१९४८	
५३५	१२७	देव-मन्दिर			४७८

५ धर्म हिन्दू धर्म-ग्रन्थ [पृष्ठ ४८१–५३६]

५३६	१	तुलसीकृत रामायण का सार	प्र० ति०	१७।१०।१९०८	४८३
५३७	२	रामायण, महाभारत	ले० ति०	२८।३।१९१५	४८३
५३८	३	स्मृतिया	ले० ति०	२०।२।१९१८	४८४
५३९	४	गीता धर्मों का सार	ले० ति०	८।५।१९१९	४८४

६. धर्म : हिन्दूधर्मेतर धर्म [पृष्ठ ५३७–५८९]

७ धर्म विविध [पृष्ठ ५९१–७३४]

७२३	८७	रामनाम हर समय चलता रहे	ले० ति०	१३।१०।१९३०	६५४
७२४	८८	कर्मयोग आचरण की वस्तु	ले० ति०	१७।११।१९३०	६५५
७२५	८९	श्लोक-स्मरण	ले० ति०	२२।११।१९३०	६५५
७२६	९०	सन्यासी और योगी	ले० ति०	१६।१२।१९३०	६५५
७२७	९१	योगी	ले० ति०	१६।१२।१९३०	६५५
७२८	९२	अन्ते मति सा गति	ले० ति०	२९।१२।१९३०	६५६
७२९	९३	ईश्वर ही रक्षक है	प्र० ति०	२।८।१९३१	६५६
७३०	९४	दैव-चिन्तन	प्र० ति०	२०।८।१९३१	६५६
७३१	९५	ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण करे	प्र० ति०	३।९।१९३१	६५६
७३२	९६	तपश्चर्या और पवित्रता	ले० ति०	३१।३।१९३२	६५७
७३३	९७	आध्यात्मिक चिकित्सा	ले० ति०	८।४।१९३२	६५७
७३४	९८	उपनिषदो का अर्थ	ले० ति०	४।४।१९३२	६५७
७३५	९९	प्रेम	ले० ति०	४।४।१९३२	६५८
७३६	१००	अन्त समय राम-नाम	ले० ति०	६।५।१९३२	६५८
७३७	१०१	धर्म-द्वेष	ले० ति०	२१।५।१९३२	६५८
७३८	१०२	ईश्वर पर श्रद्धा	ले० ति०	२३।५।१९३२	६५८
७३९	१०३	धर्म मेरी मान्यता	ले० ति०	३०।५।१९३२	६५९
७४०	१०४	ईश्वर	ले० ति०	४।६।१९३२	६५९
७४१	१०५	जनसाधारण और आध्यात्मिक प्रश्न	ले० ति०	२१।६।१९३२	६५९
७४२	१०६	पापी	ले० ति०	१४।८।१९३२	६६०
७४३	१०७	जप-यज्ञ का अर्थ	ले० ति०	१५।८।१९३२	६६०
७४४	१०८	क्रोध	ले० ति०	२०।८।१९३२	६६०
७४५	१०९	भगवान का स्व-वर्णन अहकार नही	ले० ति०	२८।८।१९३२	६६१
७४६	११०	प्राणायाम एक योग-क्रिया	ले० ति०	८।९।१९३२	६६१
७४७	१११	पूर्ण ब्रह्मचारी	ले० ति०	११।९।१९३२	६६१
७४८	११२	प्रार्थना मे विश्वास	ले० ति०	१८।९।१९३२	६६२
७४९	११३	उपवास आध्यात्मिक प्रयोजन	ले० ति०	१५।९।१९३२	६६२
७५०	११४	यज्ञ का प्रारम्भ	ले० ति०	१९।९।१९३२	६६२
७५१	११५	निष्काम भाव	ले० ति०	१९।९।१९३२	६६३
७५२	११६	मूर्ति और मन्दिर	ले० ति०	६।१०।१९३२	६६३
७५३	११७	मन्दिर और मूर्तिपूजा	ले० ति०	१०।१०।१९३२	६६३

८५०	२१४	प्रार्थना व्यर्थ है	ले० ति०	६।१२।१९४६	७११
			प्र० ति०	१२।१।१९४७	
८५१	२१५	धर्म प्रश्नोत्तर	ले० ति०	२२।२।१९४७	७१२
			प्र० ति०	१६।३।१९४७	
८५२	२१६	धर्म, नीति और धार्मिक शिक्षा	ले० ति०	२१।२।१९४७	७१३
			प्र० ति०	२३।४।१९४७	
८५३	२१७	मेरा विश्वास	ले० ति०	८।३।१९४७	७१४
			प्र० ति०	३०।३।१९४७	
८५४	२१८	मेरा धर्म	ले० ति०	७।४।१९४७	७१४
			प्र० ति०	२७।४।१९४७	
८५५	२१९	धर्मों का उपहास उचित नही	ले० ति०	१७।४।१९४७	७१४
			प्र० ति०	४।५।१९४७	
८५६	२२०	धर्म-ग्रन्थ एक दृष्टि	ले० ति०	७।५।१९४७	७१४
			प्र० ति०	१८।५।१९४७	
८५७	२२१	धर्म-ग्रन्थो का पठन	ले० ति०	१३।५।१९४७	७१५
			प्र० ति०	२५।५।१९४७	
८५८	२२२	धर्म और राष्ट्रीयता	ले० ति०	२२।६।१९४७	७१५
			प्र० ति०	२९।६।१९४७	
८५९	२२३	भगवान का प्रत्यक्ष दर्शन	ले० ति०	२३।७।१९४७	७१५
			प्र० ति०	३।८।१९४७	
८६०	२२४	कुछ आध्यात्मिक प्रश्नोत्तर	ले० ति०	२५।७।१९४७	७१६
			प्र० ति०	४।८।१९४७	
८६१	२२५	रामधुन की शक्ति	ले० ति०	२२।८।१९४७	७१८
			प्र० ति०	३१।८।१९४७	
८६२	२२६	धर्म	ले० ति०	२२।८।१९४७	७१८
			प्र० ति०	३१।८।१९४७	
८६३	२२७	अल्लाहो-अकबर	ले० ति०	२३।८।१९४७	७१९
			प्र० ति०	३१।८।१९४७	
८६४	२२८	प्रार्थना की शर्त	ले० ति०	१७।९।१९४७	७१९
			प्र० ति०	२८।९।१९४७	
८६५	२२९	प्रार्थना अखण्ड है	ले० ति०	१८।९।१९४७	७१९
			प्र० ति०	२८।९।१९४७	

८. धर्म : परिशिष्ट [पृष्ठ ७३५–८००]

धर्म

[१३७–८००]

कालक्रमानुसारिणी निर्देशिका

५४	रामायण, महाभारत	ले० ति०	२८।३।१९१५	४८३
५५	धर्म का अनुसरण	ले० ति०	३१।३।१९१५	
		प्र० ति०	१।४।१९१५	३८२
५६	धर्म और राजनीति	ले० ति०	२७।४।१९१५	१४३
५७	धर्म-भावना	ले० ति०	२।१।१९१६	
		प्र० ति०	९।१।१९१६	१४३
५८	धर्मात्मा पुरुष	ले० ति०	४।२।१९१६	२३३
५९	धार्मिक वृत्ति	ले० ति०	४।२।१९१६	२३३
६०	धर्माचरण मे व्रतो का महत्व	ले० ति०	१६।२।१९१६	
		प्र० ति०	फरवरी १९१६	२३४
६१	धर्म एव आस्था	ले० ति०	१६।२।१९१६	
		प्र० ति०	१७।२।१९१६	३८३
६२	हिन्दू-धर्म और ईसाई मिशनरी	ले० ति०	१४।२।१९१६	
		प्र० ति०	२८।२।१९१६	६०५
६३	ईश्वर मे डरे	ले० ति०	२६।२।१९१६	
		प्र० ति०	२९।२।१९१६	६०७
६४	मैं सनातनी हू	ले० ति०	२०।३।१९१६	३१८
६५	भारत धर्म-भूमि	ले० ति०	२३।१२।१९१६	
		प्र० ति०	२७।१२।१९१६	६०७
६६	चातुर्वर्ण वर्णाश्रम	ले० ति०	२९-३१।१२।१९१६	३८३
६७	ईश्वर पर विश्वास	ले० ति०	१५।४।१९१७	६०८
६८	वर्णाश्रम	ले० ति०	२।९।१९१७	३१९
६९	इस्लाम की उन्नति क्यो हुई?	ले० ति०	२।९।१९१७	५४०
७०	राम और रावण	ले० ति०	२।९।१९१७	६०८
७१	गोरक्षा समस्या और समाधान	ले० ति०	९।१०।१९१७	३८४
७२	तपस्या	ले० ति०	२०।१०।१९१७	१४४
७३	धर्म अनिवार्य है	ले० ति०	१५।१०।१९१७	२३६
७४	राजनीतिक प्रश्न और धार्मिक वृत्ति	ले० ति०	३।११।१२१७	६०८
७५	मेरा धर्मानुभव	ले० ति०	५।११।१९१७	३१६
७६	आज वर्ण-धर्म कहाँ है?	ले० ति०	५।११।१९१७	३८८
७७	गोरक्षा का प्रश्न	ले० ति०	११।११।१९१७	३८७
७८	धर्म का ह्रास	ले० ति०	१८।११।१९१७	३८८

७९.	व्रत का महत्व	ले० ति०	२२।११।१९१७	१४४
८०.	भगवान के प्रति समर्पण	ले० ति०	१२।१२।१९१७	१४४
८१	हिन्दू धर्म की परिभाषाए	प्र० ति०	२।१।१९१८	३२०
८२	यम-नियम का पालन	ले० ति०	१३।१।१९१८	२३७
८३	श्रीकृष्ण और हिन्दू धर्म	ले० ति०	१७।१।१९१८	३२०
८४	गोरक्षा-धर्म	ले० ति०	१६।१।१९१८	
		प्र० ति०	१९।१।१९१८	६०८
८५	शुद्ध धर्म-वृत्ति	ले० ति०	१९।२।१९१८	२३८
८६	धर्म और राजनीति	ले० ति०	१९।२।१९१८	६१०
८७.	स्मृतिया	ले० ति०	२०।२।१९१८	४८४
८८	धर्म-साधना	ले० ति०	१२।४।१९१८	२३८
८९	शास्त्र	ले० ति०	१७।४।१९१८	६१०
९०	अपराजित	ले० ति०	२२।४।१९१८	१४४
९१.	धार्मिक उपचार	ले० ति०	२०।८।१९१८	६११
९२	रूढिधर्म त्याज्य है	ले० ति०	९।९।१९१८	२३९
९३	ईश्वर का नियम	ले० ति०	१०।१।१९१९	६११
९४.	व्रत	ले० ति०	२५।१।१९१९	२३९
९५	वीरता और धर्म-रक्षा	ले० ति०	१४।४।१९१९	६११
९६	उपवास	ले० ति०	७।५।१९१९	२४०
९७	गीता . धर्मो का सार	ले० ति०	८।५।१९१९	४८४
९८.	ईसामसीह	ले० ति०	१२।५।१९१९	५४०
९९	प्रार्थना आत्मा का भोजन है	ले० ति०	१।६।१९१९	२४१
१००	धर्माचरण और धर्म-गुरु	ले० ति०	२८।६।१९१९	
		प्र० ति०	६।७।१९१९	२४१
१०१.	धर्म और विद्या	ले० ति०	२९।६।१९१९	
		प्र० ति०	१३।७।१९१९	१४५
१०२.	दया धर्म का मूल है	ले० ति०	१६।७।१९१९	
		प्र० ति०	२०।७।१९१९	१४५
१०३	धर्म एव राजनीति	ले० ति०	४।८।१९१९	
		प्र० ति०	६।८।१९१९	६११
१०४	धर्म-पालन	ले० ति०	८।८।१९१९	६१२
१०५	इस्लाम की वृत्ति	प्र० ति०	७।९।१९१९	५४१

१०६	शास्त्रों का कथन	ले० ति०	७।१।१९१९	६१२
		प्र० ति०	१४।१।१९१९	
१०७	मोक्षाग्रह	ले० ति०	१५।१।१९१९	१८५
१०८	प्रार्थना और उपवास	प्र० ति०	८।१०।१९१९	१४५
१०९	उपवास एवं प्रार्थना	प्र० ति०	१२।१०।१९१९	२८१
११०	भारत में धर्म	ले० ति०	२८।९।१९१९	
		प्र० ति०	१२।१०।१९१९	६१२
१११	मन्दिर और पुरोहित	ले० ति०	२८।९।१९१९	
		प्र० ति०	१२।१०।१९१९	३८९
११२	गीता की सार्वदेशिकता	प्र० ति०	१२।१०।१९१९	४८४
११३	ईसाइयों को सन्देश	ले० ति०	३।११।१९१९	५८१
११४	मुक्ति का मार्ग	ले० ति०	२४।११।१९१९	
		प्र० ति०	६।१२।१९१९	६१२
११५	ईसाई आश्रमवासी को धर्म-निर्देश	ले० ति०	७।१२।१९१९	६१३
११६	धर्मान्तर आवश्यक नहीं	ले० ति०	१३।१।१९२०	३८९
११७	मेरा हिन्दुत्व	ले० ति०	१३।१।१९२०	३८९
११८	जीवहत्या और गोहत्या	ले० ति०	२५।१।१९२०	३८९
११९	सत्याचरण धर्म है	प्र० ति०	२५।१।१९२०	६१३
१२०	धर्म और नम्रता	ले० ति०	१२।१।१९२०	
		प्र० ति०	२५।१।१९२०	३९०
१२१	बाइबिल मेरी पथ-प्रदर्शिका	ले० ति०	२२।१।१९२०	
		प्र० ति०	२५।२।१९२०	५४१
१२२	वास्तविक धर्म	प्र० ति०	१२।५।१९२०	१४५
१२३	निष्काम कर्म	प्र० ति०	११।७।१९२०	१४६
१२४	बुद्धिहीन धार्मिक सिद्धान्त	प्र० ति०	२१।७।१९२०	६१४
१२५	गोरक्षा	प्र० ति०	४।८।१९२०	३९१
१२६	गोरक्षा हिन्दू धर्म की सबसे महत्वपूर्ण बाह्य अभिव्यक्ति	प्र० ति०	८।८।१९२०	३९१
१२७	मेरे धर्म की सार्वदेशिकता	प्र० ति०	११।८।१९२०	१४६
१२८	हिन्दू-धर्म-रक्षा का उपाय	प्र० ति०	२९।८।१९२०	३९२
१२९	धर्म अपरिवर्तनीय है	ले० ति०	३।९।१९२०	२४२
१३०	धर्म-शुद्धि	प्र० ति०	८।९।१९२०	२४२

२०५	ईश्वर	प्र० ति०	५।२।१९२५	१५०
२०६	आध्यात्मिक ऐकान्तिकता उचित नही	प्र० ति०	५।२।१९२५	६२६
२०७	राम का न्याय	प्र० ति०	५।२।१९२५	६२६
२०८	आत्मार्थी	प्र० ति०	१९।२।१९२५	१५०
२०९	हिन्दू धर्म का नवनीत	प्र० ति०	१९।२।१९२५	३२८
२१०	धर्म की शक्ति सख्या नही, गुण	प्र० ति०	१९।२।१९२५	४००
२११	धर्म-ग्रन्थो का प्रचार प्रमाण नही	प्र० ति०	२६।२।१९२५	५४८
२१२	ब्रह्मचर्य	प्र० ति०	२६।२।१९२५	६२७
२१३	महासभा और ईश्वर	प्र० ति०	५।३।१९२५	६३०
२१४	कुरान शरीफ और उसकी आलोचना	प्र० ति०	५।३।१९२५	७३९
२१५	ब्राह्मण कुछ आदर्श परिकल्पनाए, स्थापनाए	प्र० ति०	१९।३।१९२५	३२९
२१६	धर्मान्तर का प्रश्न	प्र० ति०	२६।३।१९२५	६३३
२१७	इस्लाम कुछ विचार	प्र० ति०	२।४।१९२५	५४९
२१८	राम-नाम	ले० ति०	१३।४।१९२५	२४८
२१९	राम-नाम की महिमा	प्र० ति०	३०।४।१९२५	२४९
२२०	धर्म और व्यावहारिक प्रश्न	प्र० ति०	७।५।१९२५	१५०
२२१	मूर्ति-पूजक और मूर्ति-भजक	प्र० ति०	७।५।१९२५	३२९
२२२	गोरक्षा का अर्थ	प्र० ति०	७।५।१९२५	४०१
२२३	वासना की आँधी और राम नाम का मणिदीप	प्र० ति०	२१।५।१९२५	१५१
२२४	कृष्ण और महाभारत	प्र० ति०	२१।५।१९२५	४८८
२२५	सन्यास-धर्म और राजनीति	प्र० ति०	२१।५।१९२५	६३३
२२६	ब्रह्मचर्य के लिए एकान्त-वास अनिवार्य नही	प्र० ति०	२८।५।१९२५	२५०
२२७	धर्म की अभिवृद्धि	प्र० ति०	११।६।१९२५	६३४
२२८	धर्म	प्र० ति०	१६।७।१९२५	१५६
२२९	सन्यास	प्र० ति०	३०।७।१९२५	१५६
२३०	मुमुक्षु	प्र० ति०	३०।७।१९२५	१५६
२३१	धर्म-परिवर्तन का अर्थ	प्र० ति०	२०।८।१९२५	२५०
२३२	इस्लाम शस्त्र-धर्म नही	प्र० ति०	२७।८।१९२५	५५०

२३३.	अर्थ का अविरोधी धर्म	प्र० ति०	१०।९।१९२५	६३५
२३४.	हिन्दू धर्म मे शैतान की कल्पना	प्र० ति०	१७।९।१९२५	३३१
२३५	ब्राह्मण	प्र० ति०	१७।९।१९२५	३३२
२३६.	ईश्वर-भजन	प्र० ति०	२४।९।१९२५	२५०
२३७.	कृष्ण और महाभारत	प्र० ति०	८।१०।१९२५	४८९
२३८	गुरु गोविन्दसिंह और सिख-धर्म	प्र० ति०	८।१०।१९२५	७३९
२३९	वर्ण और जाति	प्र० ति०	१५।१०।१९२५	४०१
२४०.	गीता का अर्थ	प्र० ति०	१५।१०।१९२५	४९०
२४१.	ईश्वर-भजन	प्र० ति०	२९।१०।१९२५	२५२
२४२.	मन्दिर	प्र० ति०	५।११।१९२५	४०१
२४३.	गीता का सन्देश	प्र० ति०	१९।११।१९२५	४९३
२४४	राम-नाम का प्रचार	प्र० ति०	१९।११।१९२५	६३५
२४५	मेरी आस्था	ले० ति०	३०।११।१९२५	
		एव	३।१२।१९२५	१५६
२४६	ईसाई मिशनरी	प्र० ति०	१७।१२।१९२५	७४०
२४७	भूत-प्रेतादि	प्र० ति०	१४।१।१९२६	६३८
२४८	तीन प्रश्न	प्र० ति०	२१।१।१९२६	४०२
२४९	हिन्दू धर्म एक दृष्टि	प्र० ति०	११।२।१९२६	३३२
२५०	ब्रह्मचर्य का दावा	प्र० ति०	१८।२।१९२६	६३९
२५१	धर्म-सम्वन्धी कुछ प्रश्न	प्र० ति०	८।४।१९२६	४०५
२५२	मासाहार एक धर्म-सकट	प्र० ति०	८।४।१९२६	६४१
२५३	श्राद्ध और सगर-आख्यान	प्र० ति०	१५।४।१९२६	४०९
२५४	धर्म और रिवाज	प्र० ति०	२२।४।१९२६	३३४
२५५	प्रार्थना किसे कहते है ?	प्र० ति०	१०।६।१९२६	३३४
२५६	गुरु की शोध	प्र० ति०	१७।६।१९२६	६४१
२५७	सहवर्ती धर्मो का अध्ययन	प्र० ति०	२।९।१९२६	६४२
२५८	बुद्धिवाद बनाम श्रद्धावाद	प्र० ति०	१४।१०।१९२६	२५५
२५९.	मेरा हिन्दुत्व	प्र० ति०	१४।१०।१९२६	४१०
२६०	हिन्दू और हिन्दुत्व	प्र० ति०	२८।१०।१९२६	३३६
२६१.	गोरक्षा	प्र० ति०	२।१२।१९२६	४१०
२६२	स्त्रियो का धर्म	ले० ति०	१९२६	७४०
२६३.	गीता का अर्थ	प्र० ति०	१९।१।१९२७	४९३

३९०	पैगम्बरो और अवतारो का अनुकरण	ले० ति०	२।५।१९३२	५५८
३९१	क्षात्र-धर्म	ले० ति०	६।५।१९३२	४३२
३९२	अन्त समय राम-नाम	ले० ति०	६।५।१९३२	६५८
३९३	सिद्धिया	ले० ति०	८।५।१९३२	२७१
३९४	गीता की शिक्षा	ले० ति०	८।५।१९३२	५१२
३९५	कुछ अध्यात्म-सूक्तिया	ले० ति०	१६।५।१९३२	१७४
३९६	गीता का पाठ	ले० ति०	१६।५।१९३२	५१२
३९७	प्रार्थना	ले० ति०	१९।५।१९३२	१७४
३९८	धर्म-द्वेष	ले० ति०	२१।५।१९३२	६५८
३९९	प्रभु के प्रति समर्पण	ले० ति०	२२।५।१९३२	१७५
४००	ईश्वर पर श्रद्धा	ले० ति०	२३।५।१९३२	६५८
४०१	पारसी-धर्म का आधार वेद	ले० ति०	२५।५।१९३२	५५९
४०२	धर्म मेरी मान्यता	ले० ति०	३०।५।१९३२	६५९
४०३	मृत्यु संस्मरण और दर्शन	ले० ति०	३०।५।१९३२	७४९
४०४	स्वामी रामकृष्ण परमहंस	ले० ति०	१।६।१९३२	४३२
४०५	ईश्वर	ले० ति०	४।६।१९३२	६५९
४०६	ईश्वर	ले० ति०	१२।६।१९३२	२७२
४०७	अपरिग्रह-व्रत	ले० ति०	१७।६।१९३२	२७२
४०८	गीता का ध्यान	ले० ति०	१८।६।१९३२	५१३
४०९	प्रार्थना	ले० ति०	१९।६।१९३२	२७२
४१०	धर्मग्रन्थो का अध्ययन	ले० ति०	१९।६।१९३२	५१४
४११	संयममयी श्रद्धा	ले० ति०	२१।६।१९३२	१७५
४१२	जनसाधारण और आध्यात्मिक प्रश्न	ले० ति०	२१।६।१९३२	६५९
४१३	मन्दिर, मूर्तिपूजा, वैष्णव-धर्म	ले० ति०	२५।६।१९३२	८३३
४१४	रामकृष्ण और विवेकानन्द	ले० ति०	१।७।१९३२	४३३
४१५	प्रार्थना मे भार नही	ले० ति०	२।७।१९३२	२७३
४१६	बुद्धि-योग	ले० ति०	३।७।१९३२	२७३
४१७	इस्लाम की शक्ति श्रद्धा	ले० ति०	५।७।१९३२	५५९
४१८	आश्रम-प्रार्थना का पहिला श्लोक	ले० ति०	१०।७।१९३२	२७४
४१९	प्रार्थना मे समय का व्यय दुरुपयोग नही	ले० ति०	१०।७।१९३२	२७४
४२०	धर्म का उपाय	ले० ति०	१०।७।१९३२	२७५

५४८	प्रभु की प्रतिज्ञा	प्र० ति०	२३।२।१९३३	१८५
५४९	कामधेनु गीता	ले० ति०	२४।२।१९३३	५२१
५५०	सती का माहात्म्य	प्र० ति०	२।३।१९३३	४४२
५५१	आत्म-विश्वास का अर्थ ईश्वर मे विश्वास है	प्र० ति०	१७।३।१९३३	१८६
५५२	धर्म का नाश नही	प्र० ति०	१७।३।१९३३	२८३
५५३	क्या मन्दिर आवश्यक है?	प्र० ति०	१७।३।१९३३	६७३
५५४	आत्मशुद्धि-हेतु मन्दिर	प्र० ति०	१८।३।१९३३	२८४
५५५	अन्तर्नाद	प्र० ति०	२४।३।१९३३	६७५
५५६	ब्रह्मचर्य	ले० ति०	३०।३।१९३३	२८५
५५७	वर्ण-धर्म	प्र० ति०	३१।३।१९३३	४४३
५५८.	ब्राह्मण और ब्राह्मण धर्म	प्र० ति०	७।४।१९३३	४४६
५५९	वर्ण-व्यवस्था	प्र० ति०	७।४।१९३३	४४७
५६०	वर्ण-धर्म	प्र० ति०	२१।४।१९३३	४४८
५६१	ईश्वर	ले० ति०	२२।४।१९३३	१८६
५६२	अनशन का आध्यात्मिक प्रयोजन	प्र० ति०	२८।४।१९३३	४४९
५६३	रोगी हिन्दू-धर्म	प्र० ति०	२८।४।१९३३	४५१
५६४	ईश्वरेच्छा	प्र० ति०	२८।४।१९३३	६७५
५६५	उपवास	ले० ति०	३०।४।१९३३	१८६
५६६	आध्यात्मिक उपवास की शर्त्ते	प्र० ति०	३०।४।१९३३	२८५
५६७	भक्ति-धारा कैसे बहे?	प्र० ति०	५।५।१९३३	१८६
५६८	धर्म	प्र० ति०	६।५।१९३३	१८८
५६९	कठोर स्वामी का दास हू	प्र० ति०	६।५।१९३३	६७६
५७०.	अनशन के विषय मे	प्र० ति०	१४।७।१९३३	२८५
५७१	वर्ण-धर्म एक दृष्टिकोण	प्र० ति०	११।८।१९३३	४५२
५७२.	धर्म का रहस्य	प्र० ति०	१८।८।१९३३	४५३
५७३.	शरीर रखने से धर्म-रक्षा नही	ले० ति०	१९।८।१९३३	६७६
५७४	गुण की उपेक्षा	प्र० ति०	२५।८।१९३३	६७६
५७५	धार्मिक आन्दोलन	प्र० ति०	२५।८।१९३३	६७६
५७६	ब्राह्मण-धर्म और वर्ण-धर्म	प्र० ति०	२२।९।१९३३	४५२
५७७	दुख ईश्वर का वरदान है	ले० ति०	३।१०।१९३३	१८९
५७८	भविष्य का वर्ण-धर्म	प्र० ति०	६।१०।१९३३	४५३

५७९	अन्त करण	ले० ति०	८।१०।१९३३	१८९
५८०	रामनाम रामबाण औषधि है !	प्र० ति०	१३।१०।१९३३	१८९
५८१	ईश्वर के विषय मे	प्र० ति०	१३।१०।१९३३	१९०
५८२	धर्म की रक्षा	प्र० ति०	२०।१०।१९३३	६७७
५८३	मोह और सेवा	ले० ति०	२३।१०।१९३३	१९०
५८४	स्त्री-द्वारा धर्म-रक्षा	ले० ति०	२५।१०।१९३३	६७७
५८५	वर्ण-व्यवस्था की धार्मिक बुनियाद	ले० ति०	१।११।१९३३	४५५
५८६	शुद्धि के लिए उपवास	प्र० ति०	३।११।१९३३	३५५
५८७	ईश्वर का नाम	प्र० ति०	१०।११।१९३३	१९०
५८८	जीवन ही प्रार्थनामय	ले० ति०	१४।११।१९३३	१९१
५८९	धर्म मे द्वेष नही	प्र० ति०	१७।११।१९३३	१९१
५९०	मेरे धर्म की शिक्षा	ले० ति०	८।११।१९३३	
		प्र० ति०	२४।११।१९३३	६७७
५९१	धर्म का पालन	प्र० ति०	२४।११।१९३३	१९१
५९२	धर्म का पालन सबका कर्त्तव्य	प्र० ति०	२४।११।१९३३	१९१
५९३	समस्त धर्मों की राय	प्र० ति०	२४।११।१९३३	१९१
५९४	अनुयायियो की अनीति	प्र० ति०	२४।११।१९३३	१९१
५९५	मेरी दृष्टि मे इस्लाम	प्र० ति०	२४।११।१९३३	५६१
५९६	धार्मिक प्रवृत्ति का प्रभाव	ले० ति०	८।११।१९३३	
		प्र० ति०	२४।११।१९३३	६७७
५९७	मेरा प्रेरणा-स्रोत	ले० ति०	९।११।१९३३	
		प्र० ति०	२४।११।१९३३	६७७
५९८	धर्म अर्थ का समन्वय	ले० ति०	१६।११।१९३३	
		प्र० ति०	१।१२।१९३३	२८९
५९९	वर्ण, धर्म, ईश्वर	प्र० ति०	१।१२।१९३३	४५६
६००	धम और राजनीति	ले० ति०	१६।११।१९३३	
		प्र० ति०	१।१२।१९३३	६७८
६०१	धर्म और कानून	प्र० ति०	८।१२।१९३३	६७८
६०२	धर्म के लिए तप	प्र० ति०	९।१२।१९३३	२८९
६०३	सनातन धर्म	प्र० ति०	२२।१२।१९३३	१९२
६०४	धम की प्रक्रिया	प्र० ति०	२२।१२।१९३३	२८९
६०५	धर्म-पालन	प्र० ति०	२२।१२।१९३३	६७८

६०६ मैं सनातनी हू प्र० ति० २९।१२।१९३३ ४५६

६०७ हिन्दू-धर्मग्रन्थो का प्रमाण प्र० ति० २९।१२।१९३३ ५२१

६०८ ईश्वर प्र० ति० २९।१२।१९३३ ६७८

६०९ अन्तर्नाद प्र० ति० १९३३ ६७८

६१० धर्म का पालन प्र० ति० १२।१।१९३४ २९०

६११. वर्ण-धर्म प्र० ति० १९।१।१९३४ ४५६

६१२ ब्राह्मण और ब्राह्मणत्व प्र० ति० २६।१।१९३४ ४५७

६१३ धर्म का अर्थ ले० ति० २०।१।१९३४
प्र० ति० २।२।१९३४ १९२

६१४ वेद यो पढें ले० ति० २०।१।१९३४
प्र० ति० २।२।१९३४ ५२२

६१५ धर्मो का मूल आधार प्र० ति० ९।२।१९३४ १९२

६१६. धर्म अनेक और एक ले० ति० १८।१।१९३४
प्र० ति० २।३।१९३४ १९२

६१७ सभी धर्म समान है ले० ति० १०।२।१९३४
प्र० ति० २।३।१९३४ ६७९

६१८. ऋग्वेद का सन्देश ले० ति० २०।२।१९३४
प्र० ति० २।३।१९३४ ३५५

६१९. हमारी हर एक प्रवृत्ति का आधार प्र० ति० २।३।१९३४ ६७९

६२० धर्म-साक्षात्कार प्र० ति० ९।३।१९३४ १९३

६२१. धर्ममय जीवन प्र० ति० ९।३।१९३४ २९०

६२२. धर्मों का उद्देश्य प्र० ति० ९।३।१९३४ ६७९

६२३ धर्म का रक्षण प्र० ति० १६।३।१९३४ १९३

६२४. धर्म का नाश नही होता ले० ति० २८।२।१९३४
प्र० ति० १६।३।१९३४ २९०

६२५ ईश्वर पर आस्था प्र० ति० २३।३।१९३४ १९३

६२६ मनुस्मृति प्र० ति० ६।४।१९३४ ५२२

६२७ सर्वधर्म-समन्वयी प्रार्थना प्र० ति० १३।४।१९३४ ६७९

६२८. परिणाम-चिन्तन ले० ति० १८।४।१९३४ ५२२

६२९ गलत रास्ता प्र० ति० २०।४।१९३४ ४५७

६३० सर्वधर्म-समादर प्र० ति० २०।४।१९३४ ६८०
एव ४।५।१९३४

६३१	धर्म-सेवक	प्र० ति०	४।५।१९३४	६८०
६३२	धर्म-परिवर्तन	प्र० ति०	८।५।१९३४	६८१
६३३	अवतार बनाम इतिहास-पुरुष	प्र० ति०	४।५।१९३४	६८१
६३४	सनातन धर्म-सिद्धान्त	प्र० ति०	५।५।१९३४	३५५
६३५	मृत्यु-विजय उपनिषद्-सन्देश	ले० ति०	२२।५।१९३४	५२३
६३६	धर्म और हिंसा	प्र० ति०	१।६।१९३४	१९३
६३७	आदर्श मन्दिर	प्र० ति०	१।६।१९३४	६८१
६३८	इस्लाम और हजरत मुहम्मद साहब	ले० ति०	२३।६।१९३४	
		प्र० ति०	१३।७।१९३४	५६१
६३९	धर्म-रक्षा	प्र० ति०	२०।७।१९३४	१९४
६४०	धर्म से धरती का अस्तित्व	ले० ति०	१।७।१९३४	
		प्र० ति०	२०।७।१९३४	१९४
६४१	धर्म मे काट-छाँट अवाछनीय है	ले० ति०	१।७।१९३४	
		प्र० ति०	२०।७।१९३४	६८२
६४२	सत्याश्रयी धर्म	ले० ति०	२२।७।१९३४	
		प्र० ति०	३।८।१९३४	१९४
६४३	हिन्दू-धर्म	ले० ति०	१।८।१९३४	
		प्र० ति०	१०।८।१९३४	३५५
६४४	गीता पर उपदेश	ले० ति०	१।८।१९३४	
		प्र० ति०	१०।८।१९३४	५२३
६४५	नाम-जप राम-नाम	ले० ति०	४।८।१९३४	
		प्र० ति०	२८।८।१९३	१९४
६४६	उपवास एक आध्यात्मिक क्रिया	प्र० ति०	२४।८।१९३४	२९०
६४७	वर्णाश्रम धम	प्र० ति०	२४।८।१९३४	४५९
६४८	रामचरितमानस	ले० ति०	७।८।१९३४	
		प्र० ति०	२८।८।१९३४	५२१
६४९	गीता की एक शिक्षा	प्र० ति०	२८।८।१९३४	५२१
६५०	वर्ण-धर्म की व्याख्या	प्र० ति०	३१।८।१९३४	४५९
६५१	धर्मग्रन्थो का प्रमाण	प्र० ति०	३१।८।१९३४	५२४
६५२	अध्यात्म-बल	प्र० ति०	७।९।१९३४	६८२
६५३	ईश्वर, निराशा और श्रद्धा	ले० ति०	१६।१२।१९३४	१९५
६५४	रामनाम राम-बाण है	ले० ति०	३१।१२।१९३४	२९१

६५५	धर्मोपदेश	प्र० ति०	५।४।१९३५	२९१
६५६.	मौन	प्र० ति०	३।५।१९३५	२९२
६५७.	जीवमात्र की समानता और अहिंसा-धर्म	प्र० ति०	२८।५।१९३५	७५१
६५८	नियमित प्रार्थना के नये आयाम	प्र० ति०	३१।५।१९३५	१९५
६५९	निर्बल के बल राम	प्र० ति०	७।६।१९३५	२९२
६६०.	आइए, प्रार्थना करे	प्र० ति०	१४।६।१९३५	१९७
६६१.	प्रार्थना का रहस्य	प्र० ति०	२१।६।१९३५	१९८
६६२	प्रार्थना या सेवा ?	प्र० ति०	२८।६।१९३५	२९३
६६३	धर्मान्तर के विषय मे	प्र० ति०	५।१०।१९३५	५६३
६६४	जाति और वर्ण	ले० ति०	२८।११।१९३५	
		प्र० ति०	२५।१।१९३६	४५९
६६५	गीता का उपदेश	प्र० ति०	२९।२।१९३६	५२५
६६६	धर्म-परिवर्तन सौदा नही	प्र० ति०	२१।३।१९३६	६८२
६६७.	ईसा की शरण	प्र० ति०	८।४।१९३६	५६८
६६८	धर्म-परिवर्तन	प्र० ति०	६।६।१९३६	६८३
६६९	ईश्वर की अनुभूति	प्र० ति०	१३।६।१९३६	२००
६७०.	मेरा विद्रोह	प्र० ति०	१३।६।१९३६	५७०
६७१	धर्म-परिवर्तन और शुद्धि	प्र० ति०	११।७।१९३६	४५९
६७२	धर्म-समन्वय और ईसाई मिशनरी	ले० ति०	१८।७।१९३६	
		प्र० ति०	२५।७।१९३६	५७१
६७३	ईश्वर-सेवा	प्र० ति०	२२।८।१९३६	२९४
६७४	गीता, महाभारत, रामायण	प्र० ति०	३।१०।१९३६	५२८
६७५	कामधेनु गीता	ले० ति०	२४।९।१९३६	
		प्र० ति०	७।११।१९३६	५२५
६७६	प्रभु-स्मरण	ले० ति०	११।१०।१९३६	२०४
६७७	श्रद्धा का अर्थ धर्म-परिवर्तन नही	प्र० ति०	२८।११।१९३६	६८३
६७८	मेरी आध्यात्मिक प्रेरणा का स्रोत	प्र० ति०	१२।१२।१९३६	२९४
६७९	मेरी आस्था	प्र० ति०	२।१।१९३७	६८३
६८०	हिन्दू धर्म की मुख्य विशेषताएं	प्र० ति०	९।१।१९३७	३५६
६८१	प्रभु के कार्य	प्र० ति०	९।१।१९३७	६८४
६८२	गोसेवा-धर्म	प्र० ति०	३०।१।१९३७	४६०

७५७.	प्रार्थना पागलपन दूर करने का साधन	ले० ति०	१।५।१९४६	
		प्र० ति०	५।५।१९६७	३०१
७५८.	ईश्वर पर आस्था	ले० ति०	१।५।१९४६	
		प्र० ति०	५।५।१९४६	७००
७५९	राम और प्रार्थना	ले० ति०	२२।४।१९४६	
		प्र० ति०	५।५।१९४६	७००
७६०	रोग-नाश का उपाय ईश्वर-स्तुति	ले० ति०	९।५।१९४६	
		प्र० ति०	१९।५।१९४६	२१६
७६१	प्रभु पर आस्था	प्र० ति०	१९।५।१९४६	२१६
७६२	प्रार्थना और ईश्वरीय विधान	ले० ति०	१५।५।१९४६	
		प्र० ति०	१९।५।१९४६	३०१
७६३	प्रार्थना मे शान्त रहे	ले० ति०	१५।५।१९४६	
		प्र० ति०	१९।५।१९४६	७०२
७६४	त्रिविध ताप-हर	ले० ति०	२४।५।१९४६	२१७
७६५	कल्पतरु नाम	ले० ति०	२५।५।१९४६	२१७
७६६	चित्तशुद्धि का साधन	ले० ति०	२१।५।१९४६	
		प्र० ति०	२६।५।१९४	२१७
७६७	प्रार्थना का प्रयोजन	ले० ति०	१९।५।१९४६	
			एव २१।५।१९४६	
		प्र० ति०	२६।५।१९४६	७०२
७६८	अनेकता मे एकता	ले० ति०	२१।५।१९४६	
		प्र० ति०	२६।५।१९४६	७०२
७६९	ईश्वर-श्रद्धा	ले० ति०	२१।५।१९४६	
		प्र० ति०	२६।५।१९४६	७०३
७७०	ईश्वरानुभूति	ले० ति०	१७।४।१९४६	
		प्र० ति०	२।६।१९४६	३०२
७७१	राम कौन ?	ले० ति०	२६।५।१९४६	
		प्र० ति०	२।६।१९४६	३६३
७७२	रामनाम मे जागृति आवश्यक है	ले० ति०	२५।५।१९४६	
		प्र० ति०	२।६।१९४६	७०३
७७३	राम कौन है ?	ले० ति०	२७।५।१९४६	
		प्र० ति०	२।६।१९४६	७०३

८२६	नाम-साधना की निशानिया	ले० ति०	२१।६।१९४७	
		प्र० ति०	२९।६।१९४७	४७३
८२७	धर्म और राष्ट्रीयता	ले० ति०	२२।६।१९४७	
		प्र० ति०	२९।६।१९४७	७१५
८२८	ईश्वर का वशवर्ती	ले० ति०	२९-३०।६।१९४७	३११
८२९	धर्म की दृष्टि	ले० ति०	१७।७।१९४७	
		प्र० ति०	२७।७।१९४७	४७५
८३०	गो-रक्षा	ले० ति०	१९।७।१९४७	
		प्र० ति०	२७।७।१९४७	४७५
८३१	भगवान का प्रत्यक्ष दर्शन	ले० ति०	२३।७।१९४७	
		प्र० ति०	३।८।१९४७	७१५
८३२	कुछ आध्यात्मिक प्रश्नोत्तर	ले० ति०	२५।७।१९४७	
		प्र० ति०	४।८।१९४७	७१६
८३३	भगवदेच्छा	ले० ति०	२२।७।१९४७	
		प्र० ति०	१०।८।१९४७	२२०
८३४	उदार हिन्दू धर्म	ले० ति०	२८।७।१९४७	
		प्र० ति०	१०।८।१९४७	४७५
८३५	सनातन हिन्दू-धर्म	ले० ति०	३१।७।१९४७	
		प्र० ति०	१०।८।१९४७	५३१
८३६	गो-रक्षा का उपाय	ले० ति०	२२।८।१९४७	
		प्र० ति०	३१।८।१९४७	४७५
८३७	रामधुन की शक्ति	ले० ति०	२२।८।१९४७	
		प्र० ति०	३१।८।१९४७	७१८
८३८	धर्म	ले० ति०	२२।८।१९४७	
		प्र० ति०	३१।८।१९४७	७१८
८३९	अल्लाहो-अकबर	ले० ति०	२३।८।१९४७	
		प्र० ति०	३१।८।१९४७	७१९
८४०	राम ही चिकित्सक है	ले० ति०	२७।९।१९४७	२२०
८४१	मेरा धर्म	ले० ति०	१३।९।१९४७	
		प्र० ति०	२८।९।१९४७	३६६
८४२	हिन्दू-धर्म	ले० ति०	१८।९।१९४७	
		प्र० ति०	२८।९।१९४७	३६६

दर्शन

[८०१–९२१]

विषयानुसारिणी निर्देशिका

१. दर्शन : तत्व [पृष्ठ ८०१–८२६]

२. दर्शन : भाष्य [पृष्ठ ८२७–८८३]

३. दर्शन : विविध [पृष्ठ ८८५–९११]

दर्शन

[८०१–९२१]

कालक्रमानुसारिणी निर्देशिका

दर्शन

[८०१-९२१]

कालक्रमानुसारिणी निर्देशिका

५८	ब्रह्म	ले० ति०	२६।१।१९३२	८००
५९	आत्मा	ले० ति०	३०।१।१९३२	८१०
६०	जगत एक ऊर्ध्वमूल वृक्ष	ले० ति०	३१।४।१९३२	८१०
६१	ॐकार की महत्ता	ले० ति०	१८।२।१९३२	८०२
६२	सत्य-रूप ईश्वर	ले० ति०	२१।३।१९३२	८०३
६३	मृत्यु	ले० ति०	२१।३।१९३२	८०३
६४	प्रभु-साक्षात्कार	ले० ति०	२२।३।१९३२	८०३
६५	ईश्वर का अस्तित्व	ले० ति०	८।४।१९३२	८११
६६	ईश्वर और सत्य	ले० ति०	८।४।१९३२	८५८
६७	ईश्वर जैन और वैदिक निरूपण	ले० ति०	१८।४।१९३२	८५८
६८	ईश्वर और विज्ञान	ले० ति०	२५।४।१९३२	८०४
६९	पिण्ड और ब्रह्माण्ड	ले० ति०	२८।४।१९३२	८६१
७०	ईश्वर का अस्तित्व	ले० ति०	५।५।१९३२	८६१
७१	तर्क और भक्ति	ले० ति०	१२।५।१९३२	८९८
७२	ईश्वर-दर्शन	ले० ति०	१७।५।१९३२	८११
७३	आयु-सीमा	ले० ति०	१०।५।१९३२	८०५
७४	किस प्रतीक की उपासना करे?	ले० ति०	२०।५।१९३२	८०६
७५	जगत्-कर्त्ता	ले० ति०	२५।५।१९३२	८६२
७६	आत्मार्पण का आदर्श	ले० ति०	३।६।१९३२	८१२
७७	व्यक्त और अव्यक्त की उपासना	ले० ति०	२।६।१९३२	८६३
७८	जीवन मृत्यु की तैयारी	ले० ति०	१६।६।१९३२	८१२
७९	प्रार्थना मे साकारोपासना	ले० ति०	१७।६।१९३२	८६८
८०	जीवन का ध्येय	ले० ति०	२१।६।१९३२	८९८
८१	अनासक्ति	ले० ति०	२५।६।१९३२	८०८
८२	आध्यात्मिक प्रश्नोत्तर	ले० ति०	३।७।१९३२	८१३
८३	ईश्वर एवं सत्य	ले० ति०	९।७।१९३२	८९८
८४	जन्म-मृत्यु	ले० ति०	१०।७।१९३२	८०८
८५	श्वेताश्वतर उपनिषद् एक अनुचिन्तन	ले० ति०	१५।७।१९३२	८६६
८६	ईश्वर और उसका कानून	ले० ति०	२५।७।१९३२	८९९
८७	ईश्वर का कार्य	ले० ति०	३१।७।१९३२	८६६
८८	विश्वरूप दर्शन	ले० ति०	१०।७।१९३२	८१३
८९	आत्मा का ज्ञान	ले० ति०	७।८।१९३२	८१८

९०	ईश्वर	ले० ति०	७।८।१९३२	८९९
९१	अन्तर का स्वर	ले० ति०	७।८।१९३२	९००
९२	शरीर के प्रति दृष्टिकोण	ले० ति०	७।८।१९३२	९००
९३	दुखानुभूति	ले० ति०	१४।८।१९३२	९०१
९४	ब्रह्म एव जगत्	ले० ति०	२०।८।१९३२	८१४
९५	काल-चक्र और हमारा अस्तित्व	ले० ति०	२०।८।१९३२	९०१
९६	गीता का चमत्कारिक श्लोक	ले० ति०	२३।८।१९३२	९०१
९७	मायावाद	ले० ति०	११।९।१९३२	८१५
९८	मृत्यु के बाद भोग	ले० ति०	११।९।१९३२	८१५
९९	मन्दिर एव मूर्तिपूजा एक दृष्टिकोण	ले० ति०	११।९।१९३२	९०२
१००	पुनर्जन्म	ले० ति०	१२।९।१९३२	८१५
१०१	सुख-दुख और मृत्यु-भय	ले० ति०	५।१०।१९३२	८१५
१०२	ईश्वर-दर्शन	ले० ति०	१०।१०।१९३२	९०२
१०३	आपका ईश्वर मेरा ईश्वर	ले० ति०	१७।१०।१९३२	९०४
१०४	मूर्तिपूजा विश्लेपण	ले० ति०	२२।१०।१९३२	८६७
१०५	प्रार्थना, शरीर और आत्मा	ले० ति०	२७।१०।१९३२	८१६
१०६	विद्या और अविद्या	ले० ति०	३०।१०।१९३२	९०४
१०७	गीता की आत्मा	ले० ति०	३१।१०।१९३२	९०४
१०८	आत्मतत्व और भूततत्व	ले० ति०	२।११।१९३२	८१६
१०९.	ईशोपनिपद् का आशय	ले० ति०	२।११।१९३२	८६८
११०	योग	ले० ति०	२।११।१९३२	८६८
१११	श्रद्धा	ले० ति०	३।११।१९३२	९०५
११२	अनासक्ति की साधना	ले० ति०	७।११।१९३२	९०५
११३	जन्म-मृत्यु	ले० ति०	८।११।१९३२	८१६
११४	जीवन-मृत्यु	ले० ति०	८।११।१९३२	९०७
११५	मूर्ति-पूजा का तत्व	ले० ति०	२९।११।१९३२	९०७
११६	माया	ले० ति०	२६।११।१९३२	८१७
११७	मुमुक्षु-परम्परा का अन्तर्नाद	ले० ति०	६।१२।१९३२	९०९
११८	आत्मा की निर्लेपता	ले० ति०	१२।१२।१९३२	८६८
११९	ईश्वर है	ले० ति०	१९।१२।१९३२	८१७
१२०	अन्तर का स्वर	ले० ति०	१०।१।१९३३	८६९
१२१	ईश्वर का अस्तित्व	ले० ति०	१०।१।१९३३	९०९

सिद्धान्त एवं भाष्य

१. बुराई का जवाब भलाई से देने का सिद्धान्त

हम एक ऐसे राष्ट्र के लोग है, जिसमे धर्म-चिन्तन बहुत होता है और जिसमे ग बदला न लेने और बुराई का जवाब भलाई से देने के सिद्धान्त पर निष्ठा रखते । हम तो यहा तक मानते है कि हम अपने विचारो से उनके उन कर्मो पर भी ग चढा सकते है, जिनका हम विचार करते है। अपने दैनिक जीवन मे हम प्राय इसके उदाहरण देखते है। एक आदमी कोई बडा जुर्म करता है तो उसका चेहरा इस तरह बदल जाता है, मानो उस पर उस कुकर्म की छाप लग गई हो, इसी प्रकार अगर कोई बडा पुण्य करता है तो उसके चेहरे पर दूसरे प्रकार का शुभ प्रभाव अंकित हो जाता है। इस तरह मनुष्य अपने कार्यो से लोगो को अपनी तरफ आकर्षित करता हुआ या दूर हटाता हुआ पाया गया है। इसलिए हम अपना यह परम कर्त्तव्य समझे कि हमारे विचार मे जो हमारे साथ बुरा व्यवहार भी करता है, उनके बारे मे हम बुरे विचार अपने हृदय मे न आने दे। जो हमारे साथ भलाई करते है, उनके साथ अगर हम भलाई करे तो इसमे कौन बडे सद्गुण की बात है? इतना तो कुकर्मी लोग भी करते है। हा, विरोधी के प्रति भलाई करे तो जरूर कुछ बात हुई। अगर हम यह सीधी-सीधी बात ध्यान मे रखे तो हमे इतनी जल्दी सफलता मिल सकती है, जिसकी हम कल्पना भी नही कर सकते।

—इ० ओ०, २०।८।१९०३। 'मुसीबतो के फायदे' शीर्षक लेख से।]

२. आस्थापूर्ण प्रयत्न

जो साहसपूर्वक और परमात्मा मे विश्वास रख कर प्रयत्न करते है, वे अवश्य सफल होते हैं।

—गुजराती से। इ० ओ०, ३०।११।१९०७]

३. हमारी नैतिकता : हमारा धर्म

कई पहलुओ से विचार करके देखने पर मालम होगा कि भारत मे महामारी, भुखमरी वगैरह बढ गई है। इसका कारण भारतीय प्रजा का पाप है। यदि कोई

कहे कि राज्यकर्त्ताओ का पाप है तो यह बात हमे मान्य है। उनके पाप के कारण प्रजा दुखी होती है, यह सदा का अनुभव है। किन्तु याद रखने योग्य बात यह है कि पापी सरकार पापी प्रजा को ही मिलती है। इसके अलावा सच्चा नियम यह है कि दूसरो को दोष देने के बदले अपने दोषो की छानबीन करना अधिक लाभ-प्रद होता है।

हिन्दू-मुसलमान के बीच फूट और कटुता पाप है। किन्तु ये असल पाप नही हैं। फूट मिट जाये और दोनो कौमे मिलकर रहने लगे तो विदेशी शासन हट जायगा अथवा उसकी नीति मे परिवर्तन होगा। किन्तु उससे प्लेग और अकाल भी मिट ही जायँगे, ऐसा मानने का कोई कारण नही।

मुख्य पाप तो भारतीय प्रजा का असत्य है। महामारी के समय हम सरकार को तथा अपने आपको धोखा देते हैं। ऊपर से सफाई रखने का दिखावा करते हैं, किन्तु सच्ची स्वच्छता नही रखते। घर को धुआ देकर शुद्ध करना हो तो उसका केवल दिखावा किया जाता है। यदि उसके बिना चल सकता हो, सिपाहियो को रिश्वत दी जा सकती हो, तो वह देकर हम आवश्यक कामो से बच जाते हैं। यह रोग बचपन से ही चलता रहता है। शाला मे एक बात सिखाई जाती है। वहा बच्चा 'हा' कह देता है, घर आने पर उससे उलटा ही बरतता है। वैसा करने मे माता-पिता सहमत रहते हैं। स्वच्छता रखनी चाहिए या नही, इस सम्बन्ध मे नियम बनाये जाते हैं। किन्तु उनका पालन किया जाय या नही, इस बात को हम ताक पर रख देते है। उसके बारे मे मतभेद भले हो, किन्तु यहा जो बात सिद्ध करना चाहता हू वह यह है कि हम असत्य का सहारा लेते हैं। बहुतेरी बातो मे हम केवल आडम्बर करते है। इससे हमारे तन्तु ढीले पड जाते हैं, हमारा खून पाप की गन्दगी से बिगड जाता है और हर तरह के कीटाणुओ के वश मे हो जाता है। देखने मे आता है कि अमुक वर्णों को महामारी वगैरह नही होती। इसका कारण यह है कि वे स्वच्छता का या और किसी प्रकार का आडम्बर नही करते, बल्कि वे जैसे हैं, वैसे ही दिखते हैं। उन्हे आडम्बर करनेवालो की अपेक्षा उस हद तक हम ऊचा समझते हैं। उपर्युक्त कथन का मतलब यह नही कि सभी इसी तरह करते है। लेकिन अधिकतर वैसा होता है।

उपर्युक्त पाप मे से एक दूसरी लत पैदा हुई है और वह सभी वर्गों मे है, और भयानक है। वह है—विषय-लोलुपता, व्यभिचार। इस विषय मे सक्षेप मे ही लिखा जा सकता है। सामान्यत इसकी चर्चा करते हुए लोग हिचकते हैं, हम भी हिचकते हैं। फिर भी अपने पाठको के सामने यह विचार रखना हम अपना फर्ज समझते हैं। परस्त्री-सग ही केवल व्यभिचार नही है। स्व-स्त्रीसग मे भी व्यभि-

चार है। यह सब धर्मो की शिक्षा है। स्त्री-सग केवल प्रजा उत्पन्न करने के लिए ही ठीक है। सामान्यत देखने मे आता है कि व्यभिचार भावना मे सग किया जाता है, और उसके परिणामस्वरूप सन्तान उत्पन्न होती है। हम मानते है कि भारत की दशा इतनी खराब है कि इस समय बहुत ही कम सन्तान-उत्पत्ति होनी चाहिए। इसका मतलब यह हुआ कि यदि सग हो तो वह बहुत-कुछ व्यभिचार मे ही शामिल होगा।

यदि यह मान्यता ठीक हो तो समझदार भारतीय का कर्तव्य है कि या तो वह बिल्कुल शादी न करे और यदि वह उसके वश की बात न हो तो स्त्री-सग करने से मुक्त रहे। यह सब कठिन काम है, फिर भी बिना किये छुटकारा नही है।

नही तो पाश्चात्य प्रजा का अनुकरण करना होगा। पाश्चात्य प्रजा राक्षसी उपाय बरत कर सन्तान-निरोध करती है। वह युद्ध मे बहुत लोगो का नाश होने देती है, और ईश्वर पर से आस्था छोडकर दुनियाई सुखो मे ही रची-पची रहने की तजवीज करती है। इस तरह करके भारतीय भी उनकी ही तरह महामारी आदि से मुक्त रह सकते है। किन्तु हम मानते है कि भारत मे पश्चिम का राक्षसी रग प्रवेश नही कर सकता।

यानी भारत या तो खुदा-ईश्वर की ओर एक नजर रखकर पापमुक्त होगा और सुखी रहेगा या सदा गुलामी मे रहकर, जनाना बनकर, मौत से डरते हुए, महामारी वगैरह बीमारियो मे सडकर बिना मौत मरता रहेगा।

ये विचार किसी को आश्चर्यजनक, किसी को हास्यास्पद, किसी को अज्ञानपूर्ण मालूम होगे। फिर भी हम बेधडक लिख रहे है और समझदार भारतीयो से प्रार्थना करते है कि वे इन पर पूरी तरह विचार करे। पागलपन के हो या सयाने, ये विचार लेखक ने अपने गहरे अनुभव के आधार पर लिखे है। इनके अनुसार आचरण करने से नुकसान तो होगा ही नही। सत्य के सेवन और ब्रह्मचर्य के पालन मे किसी को नुकसान नही होता। कोई यह भी न माने कि एक-दो व्यक्तियो के पालने से प्रजा को क्या लाभ होगा। ऐसा कहनेवाले व्यक्ति को नादान समझना चाहिए।

—गुजराती से। इ० ओ० २८।१२।१९०७। स० गा० वा० भाग ७ पृ० ४५२–४५३]

- मुख्य पाप तो भारतीय प्रजा का असत्य है।
- दूसरो को दोष देने के बदले अपने दोषो की छानबीन करना अधिक लाभप्रद होता है।
- परस्त्री-सग ही केवल व्यभिचार नहीं है। स्व-स्त्री-सग मे भी व्यभिचार है।

- सत्य के सेवन और ब्रह्मचर्य के पालन से किसी को नुकसान नहीं होता।

४. मनुष्य जाति का सेवक वन्दनीय है

जो आदमी खुदा का बन्दा बनकर निरन्तर मनुष्य जाति अथवा जीवमात्र की सेवा करता है और उसी मे मग्न रहता है उसे अवश्य खुदा की चाकरी मे रहने—निर्वाण पाने का लालच है। ऐसे मनुष्य की हम पूजा करते है। यदि ससार मे इस प्रकार के बहुत-से मनुष्य हो जाय तो आज जो पाप, क्लेश, दु ख, भुखमरी, रोग आदि दिखाई पडते है उनके वजाय पुण्य, समृद्धि, शान्ति, सुख और ऐक्य दिखाई देने लगेंगे।

—गुजराती से। इ० ओ०, १५।२।१९०८]

५. गलत क़दम

जो कदम उठाने से आत्मोन्नति नही होती, उससे न देश चढ सकता है, न धर्म बढ सकता है।

—श्री मगनलाल गाधी को लिखे पत्र से। सोमवार की रात, २८।१२।१९०८]

६. आदर्श व्रत आत्मार्थ होते है

ब्रह्मचर्यादि व्रत आत्मार्थ हो, तभी वे पवित्र और सुखकर होते है। असुरो के हाथ मे पडकर तो वे दु ख की ही वृद्धि करते है। यह बात बहुत गम्भीर है फिर भी यह यथार्थ है। भगवान पतजलि[1] ने अपने योगदर्शन मे इसे बहुत अच्छी तरह समझाया है। हमारे धर्म की शिक्षा भी यही है।

—मगनलाल गाधी को लिखे पत्र से। सोमवार की रात, २८।१२।१९०८]

७. आत्मा की खोज मे नीति

आत्मा की खोज के लिए पहिले तो नीति पर दृढता होनी चाहिए, अर्थात्

---

१. योग-दर्शन के प्रमुख आचार्य।

अभय, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि गुणो का सम्पादन करना चाहिए। ऐसा करते हुए देश-सेवा अपने-आप हो सकती है। मेरा विचार ऐसा है कि शहरो मे, जहा लोग घनी आबादी मे रहते है और जहा बहुतेरे प्रलोभन है, नैतिक नियमो का पालन करना बहुत कठिन है।

—श्री मणिलाल गाधी को लिखे पत्र से। यूनियन कैसिल लाइन, आर० एम० किल्डोनन कैसिल, २४।११।१९०९। स० गा० वा०, खण्ड १० पृ० ७०]

८. यह भोग-लिप्सा है

सारी भगवद्गीता मे मुझे ऐसा कुछ नही मिलता, जिसमे कहा गया हो कि जिस मनुष्य का केवल कर्मेन्द्रियो पर नियन्त्रण है परन्तु जो 'मन को विषयो के चिन्तन मे अलग नही रख सकता' उसके लिए यही बेहतर है कि जबतक वह मन पर भी नियन्त्रण न कर ले, तबतक कर्मेन्द्रियो मे भोग करे। साधारण व्यवहार मे हम ऐसी प्रकृति को भोग-लिप्सा कहते है। हम यह भी जानते है कि आत्मा के दुर्बल होने पर भी यदि हम इन्द्रियो पर काबू रख सके और सतत कामना करते रहे कि आत्मा भी वैसी ही बलवान हो तो हम आत्मा और इन्द्रिय मे ऐक्य साध सकेंगे। मेरा ख्याल है कि जो वाचन आपने उद्धृत किया है वह एक ऐसे व्यक्ति से सम्बन्धित है जो दिखाने के लिए तो इन्द्रिय-दमन करता प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव मे जान-बूझकर अपने मन मे विषयो का चिन्तन करता है।

—श्री डब्ल्यू० जे० वायबर्ग को लिखे पत्र से। १०।५।१९१०। अग्रेजी। इ० ओ०, २१।५।१९१०। स० गा० वा०, खण्ड १०, पृ० २६५]

९. तालसताय का धर्म

उन (तालसताय) की शिक्षा धर्म पर आधारित थी। वे स्वय ईसाई थे इसलिए हमेशा यही मानते थे कि ईसाई धर्म सर्वश्रेष्ठ है, परन्तु उन्होने अन्य धर्मों का खण्डन नही किया। उन्होने तो यह कहा था कि सभी धर्मों मे सत्य अवश्य है। साथ ही यह भी कहा है कि स्वार्थी पादरियो, स्वार्थी ब्राह्मणो और स्वार्थी मुल्लाओ ने ईसाई और इसी तरह दूसरे धर्मों को गलत रूप दे दिया है और मनुष्यो को भ्रमित कर दिया है।

तालसताय का विशेष रूप से यह कहना था कि शरीर-बल की अपेक्षा आत्म-बल अधिक शक्तिशाली होता है और यही सब धर्मों का सार है। ससार मे दुष्टता

मिटाने का मार्ग यही है कि बुरे के साथ हम बुराई के बदले भलाई करें। दुष्टता अधर्म है। अधर्म का इलाज अधर्म नही हो सकता, धर्म ही हो सकता है। धर्म मे तो दया का ही स्थान है। धर्मात्मा व्यक्ति अपने शत्रु का भी बुरा नही चाहता। इसलिए सदा धर्म-पालन करते रहना इष्ट हो तो नेकी ही करनी चाहिए।...

—गुजराती से। इं० ओ०, २६।११।१९१०। सं० गां० वां०, खण्ड १०, पृ० ३९७]

१०. नीति-मर्यादा

जहा नीति के प्रश्नो को लेकर हमारे मन मे सशय हो वहा अपेक्षाकृत कम दर्जे के बुजुर्गों की आज्ञा का उल्लघन किया जा सकता है बल्कि उल्लघन करना कर्त्तव्य है। जहा नीति-विषयक सशय न हो वहा तो माता-पिता की आज्ञा का भी उल्लघन किया जाता है, करना कर्त्तव्य है। मुझे मेरे पिता चोरी करने को कहे तो वह नही करनी चाहिए। मेरा इरादा ब्रह्मचर्य पालन करने का हो और वे विपरीत आज्ञा दे तो मुझे विनयपूर्वक उनकी आज्ञा का उल्लघन करना चाहिए।. .

—श्री नारायणदास गांधी को लिखे पत्र से। ताल्सताय फार्म, माघ सुदी १०;।८।२।१९११ सं० गां० वां०, खण्ड १०, पृ० ४३६, ३७]

११. धार्मिक कार्य

समाज के लिए निःस्वार्थ भाव से किये गये कार्य को मैं सासारिक कार्य नहीं वल्कि धार्मिक कार्य मानता हू।...अशुद्ध मन से किये गये धार्मिक कार्य को मैं धार्मिक नही मानता।...

—गुजराती से। इं० ओ०, १३।७।१९१२]

१२. स्वधर्म

[श्री छगनलाल गांधी को लिखे पत्र से]

फीनिक्स मे सभी का प्रेम सम्पादन करना। इसी में दया-धर्म निहित है। दया का अर्थ अत्यन्त गूढ है, इस पर विचार करना।.. आत्मा के अनुकूल कार्य

किये जाय तो वह उन्नत होती है और विपरीत कार्यों मे पतित होती है। स्वधर्म की यह व्याख्या ठीक जंचती है।

—जहाज पर, श्रावण सुदी ६, २८।७।१९१४। म० गा० वा०, खण्ड १२, पृ० ५१२]

१३. धर्म और आचार

धर्म आचार पर निर्भर है।

—गुजराती से। काठियावाड टाइम्स, १२।११।१९१६]

१४. महान व्रत

[श्री जमनादास गाधी को लिखे पत्र से]

अत्यन्त स्वादिष्ट भोजनो से घिरे रहकर अस्वाद का व्रत लेना निश्चय ही महान व्रत है।

—मोतीहारी, पौष सुदी ६, १८।१।१९१८। स० गा० वां०, खण्ड १४, पृ० १४५]

१५. ईमान

जिसका ईमान रह गया, उसका सब कुछ रह गया। ईमान जाय और दुनिया का राज्य भी मिले, तो वह धूल के बराबर है।

—मिल-मजदूरो की हडताल के समय प्रकाशित पत्रिका सख्या १७ से। अहमदाबाद, १९।३।१९१८। गुजराती 'एक धर्मयुद्ध' से]

१६. पंच-परमेश्वर

पच की वाणी परमेश्वर की वाणी है।

—सुणाव मे दिये गये भाषण से, २२।४।१९१८। गुजराती 'खेडा सत्याग्रह'। स० गा० वा०, खण्ड १४, पृ० ३४६]

१७. पुरुषार्थ

[श्री हरिलाल गाधी को लिखे पत्र से]

स्वभाव को जीतने मे ही पुरुषार्थ है, यही धर्म है।

—गाड़ी में, १।५।१९१८। गुजराती। 'महादेवभाईनी डायरी', खण्ड ४]

१८. आत्मबल

[श्री शंकरलाल बैंकर को लिखे गये पत्र से]

उचित आत्मबल के अभाव मे ऊची से ऊची भावना व्यर्थ है।

—अहमदाबाद, ७।९।१९१८। गुजराती। महादेव भाई की डायरी, खण्ड ४। सं० गां० वां०, खण्ड १५, पृ० ४५]

१९. ईश्वर से याचना

[श्री हरिलाल गांधी को लिखे गये पत्र से]

इसान घमण्डी बनकर ईश्वर की सहायता नही माग सकता, अपनी दीनता स्वीकार करके ही माँग सकता है।

— अहमदाबाद, २६।११।१९१८। गुजराती। 'महादेव भाईनी डायरी', खण्ड ४ सं० गां० वा९, खण्ड १५, पृ० ६८]

२०. प्रच्छन्न पातक

छिपा हुआ पाप जहर के समान है जो सारे शरीर को दूषित कर देता है। यह जहर जितनी जल्दी निकाल दिया जाय, समाज के लिए उतना ही अच्छा है। जैसे सखिया मे शुद्ध दूध मिला देने से सखिया का कुप्रभाव कम नही हो जायगा वैसे ही किसी समाज मे अगर किसी पाप का प्रायश्चित्त न किया जाय तो फिर उसमे चाहे जितने सुकर्म क्यो न किये जाय, वे उस पाप के प्रभाव को दूर नही कर सकते।

—नडियाद, ६।७।१९१९। यं० इं० ९।७।१९१९]

- छिपा हुआ पाप जहर के समान है जो सारे शरीर को दूषित कर देता है।

२१. आत्म-दण्ड

आत्मदण्ड भी एक प्रकार की तपश्चर्या है। इसका फल नेक काम से बढ़नेवाले पवित्र गुण के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। यहां तक कि शत्रु भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।

—गुजराती। न० जी०, २०।२।१९२१। अंग्रेजी से अनूदित। 'कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गांधी', खण्ड १९, पृ० ३७५]

२२. आशावाद

आशावाद आस्तिकता है। सिर्फ नास्तिक ही निराशावादी हो सकता है। आशावादी ईश्वर का डर मानता है, विनयपूर्वक अपना अन्तर्नाद सुनता है, उसके अनुसार बरतता है और मानता है कि ईश्वर जो करता है अच्छे के लिए ही करता है।

—न० जी०, हि० न० जी०, २८।१०।१९२१]

२३. धर्म की प्रमुख शर्त नैतिकता

ज्योंही हम नैतिक आधार खो देते हैं, त्योंही हम धार्मिक नहीं रह जाते। नैतिकता का उल्लंघन करनेवाले धर्म-जैसी कोई चीज नहीं है। उदाहरण के लिए, मनुष्य झूठा, निर्दय और असंयमी होते हुए यह दावा नहीं कर सकता कि ईश्वर उसके साथ है।

—य० इं०, २४।११।१९२१]

२४. श्रद्धा का अर्थ

श्रद्धा का अर्थ है आत्मविश्वास और आत्मविश्वास के मानी हैं ईश्वर पर विश्वास। जब चारों ओर काले बादल दिखाई देते हों, कहीं किनारा नजर न आता हो और ऐसा मालूम होता हो कि अब डूबे तब डूबे, तब भी जिसे विश्वास रहता है कि वह हरगिज नहीं डूबेगा, उसे कहते हैं श्रद्धावान। द्रौपदी का वस्त्र-हरण हो रहा था। उसकी रक्षा करने में युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव, सभी असमर्थ थे। फिर भी द्रौपदी ने श्रद्धा न छोड़ी। वह 'कृष्ण, कृष्ण' पुकारती रही। उसे इस बात पर श्रद्धा थी कि जबतक कृष्ण मौजूद हैं, तबतक किसकी

मजाल है कि उसका वस्त्र-हरण कर सके। आपमे ऐसी श्रद्धा है ? यदि आपके अन्दर ऐसी श्रद्धा हो, तो आप अकेले, पूना के बल, स्वराज्य ले सकते हैं। जो श्रद्धा-वान होता है, वह ईश्वर के साथ वादा नही करता—इकरार नही करता। हरिश्चन्द्र ने वादा नही किया था। वे अपनी पत्नी के गले पर छुरी फेरने को भी तैयार हो गये थे।

—पूना की सभा मे दिये गये भाषण से। न० जी०। हि० न० जी० १४।९।१९२४]

- **श्रद्धा का अर्थ है आत्म-विश्वास और आत्म-विश्वास के मानी है ईश्वर पर विश्वास।**
- **जो श्रद्धावान होता है, वह ईश्वर के साथ सदा वादा नहीं करता—इकरार नहीं करता।**

२५. आत्म-बल

आत्मबल के सामने तलवार-बल तृण के समान है। . तलवार का उपयोग करके आत्मा शरीरवत् बनती है।

—दिल्ली, क्वार बदी ११ बुधवार। हि० न० जी०, २८।९।१९२४]

२६. प्रेम-तत्व

प्रेमतत्व ही ससार पर शासन करता है। मृत्यु से घिरा रहते हुए भी जीवन अटल रहता है। विनाश के निरन्तर जारी रहते हुए भी यह विश्व बरावर चलता ही रहता है। असत्य पर सत्य सदा जय पाता है। प्रेम घृणा को जीत लेता है। ईश्वर शैतान पर सदैव विजय पाता है।

—यं० इं०। हि० न० जी०, २६।१०।१९२४]

२७. प्रेम

प्रेम ही ससार मे सबमे सूक्ष्म शक्ति है।

—यं० ; ०। हि० न० जी०, ७।१२।१९२४]

२८. सर्वश्रेष्ठ नियम

'आत्मन प्रतिकूलानि[1] परेषा न समाचरेत्', यह सर्वोत्तम नियम है।
—हि० न० जी०, १।१।१९२५]

२९. द्वेषहीनता

आपको किसी के प्रति घृणा या द्वेष-भाव रखने का अधिकार नही है। किसी को दुर्वचन कहने का अधिकार आपको नही। मै चाहता हू कि आप इस उच्च-हृदयता के नुस्खे का सेवन करे। इससे बढिया नुस्खा मै आपको नही दे सकता। ईश्वर आपको उसका सेवन करने की शक्ति दे। ...
—हि० न० जी०। ८।१।१९२५]

३०. रामनाम और श्रद्धा

राम, अल्लाह और गॉड सब मेरे निकट एकार्थक शब्द है। मैने देखा कि सीधे-सादे, भोले लोगो ने धोखे मे अपना यह खयाल बना लिया है कि मै मुसीबत के समय उनको दिखाई देता हू। मै इस वहम को दूर कर देना चाहता हू कि मैं किसी का दर्शन नही देता था। एक नश्वर शरीर पर भरोसा रखना उनका भ्रम था। इसलिए मैंने उनके सामने एक सादा और सरल नुस्खा रखा, जो कभी व्यर्थ नही जाता—अर्थात् हर रोज सुबह सूरज निकलने के पहिले और शाम को सोने के समय अपनी प्रतिज्ञाओ को पूरा करने के लिए ईश्वर से सहायता माँगना। लाखो हिन्दू उसे राम के नाम से पहिचानते है। मै बचपन मे जब-जब डरता, (मुझसे) राम नाम लेने को कहा जाता था। मेरे अनेक साथी ऐसे है, जिन्हे मुसीबत के समय राम नाम से बडी तसल्ली मिलती है।

विद्वत्ता हमे जीवन की अनेक अवस्थाओ से पार ले जाती है, पर सकट और प्रलोभन के समय वह हमारा साथ बिल्कुल नही देती। उस स्थिति मे केवल श्रद्धा ही उबारती है। राम नाम उन लोगो के लिए नही है जो ईश्वर को हर तरह से फुसलाना चाहते है और उससे हमेशा अपनी रक्षा की आशा लगाये रहते है। यह

---

१. जो आचरण स्वय को प्रतिकूल अनुभव होता हो, उसे दूसरे के साथ व्यवहार मे न लाना चाहिए।

उन लोगो के लिए है जो ईश्वर से डर कर चलते है, सयमपूर्वक जीवन विताना चाहते हैं और जो अपनी निर्बलता के कारण उसका पालन नही कर पाते।
—यं० इं०। हि० न० जी०, २२।१।१९२५]

• विद्वत्ता हमे जीवन की अनेक अवस्थाओं से पार ले जाती है, पर संकट और प्रलोभन के समय वह हमारा साथ बिल्कुल नहीं देती।

३१. प्रेम

प्रेम अगणित सूर्यों से मिलकर बना है। जब एक छोटा-सा सूर्य छिपा नही रहता तब प्रेम क्यो छिपने लगा ? क्या किसी माता को कहना पडता है कि वह अपने बच्चे को चाहती है ? जिस बच्चे को बोलना नही आता वह माता की आँखो मे देखता है और जब आँख से आँख मिल जाती है, तब हम देखते हैं कि वे किसी अलौकिक वस्तु को देख रहे हैं।
—हि० न० जी०, १९।२।१९२५]

३२. प्रेम-बन्धन

हर एक धर्म पुकार-पुकार कर कहता है कि प्रेम की ग्रन्थि से ही जगत् बँधा हुआ है। विद्वान् लोग यह सिखाते हैं कि यदि प्रेम-बन्धन न हो तो पृथिवी का एक-एक परमाणु अलग-अलग हो जाय और पानी मे भी यदि स्नेह न हो तो उसका एक-एक विन्दु अलग-अलग हो जाय। इसी प्रकार यदि मनुष्य-मनुष्य के बीच प्रेम न होगा तो हम मृतप्राय ही रहेगे।
—हि० न० जी०, ५।३।१९२५]

३३. प्रेम

प्रेम कभी दावा नही करता, वह तो हमेशा देता है। प्रेम हमेशा कष्ट सहता है, न कभी झुझलाता है, न वदला लेता है।
—यं० इं०। हि० न० जी०, ९।७।१९२५]

३४. श्रद्धा

श्रद्धा ही हमें तूफानी समुद्रों के पार ले जाती है, श्रद्धा ही पर्वतों को हिला देती है और श्रद्धा ही महासागर को कूदकर पार कर जाती है। यह श्रद्धा और कुछ नहीं, केवल अन्तर्यामी प्रभु का सजीव, जाग्रत भान ही है। जिसे यह श्रद्धा प्राप्त हो गई, उसे और कुछ नहीं चाहिए। शरीर से रोगी होकर भी वह आध्यात्मिक दृष्टि से नीरोग है। भौतिक दृष्टि से चाहे वह निर्धन हो, पर आध्यात्मिक दृष्टि से वह सम्पन्न होता है।

—यं० इं०, २४।९।१९२५]

३५. शुद्ध प्रेम देह का नहीं होता

जहाँ शुद्ध प्रेम होता है वहाँ अधीरता को स्थान ही नहीं होता। शुद्ध प्रेम देह का नहीं, आत्मा का ही सम्भव है। देह का प्रेम विषय ही है। आत्म-प्रेम को कोई बन्धन बाधा-रूप नहीं होता है परन्तु उस प्रेम में तपश्चर्या होती है और धैर्य तो इतना होता है कि मृत्यु-पर्यन्त वियोग रहे तो भी क्या हुआ?

—न० जी०। हि० न० जी०, ८।८।१९२६]

३६. अनुचित प्रेम

जो प्रेम पशुवृत्ति की तृप्ति पर आश्रित है वह आखिर स्वार्थ ही है और थोड़े से भी दबाव से ठण्डा पड़ सकता है।

—यं० इं०। हि० न० जी०, १६।९।१९२६]

३७. मृत्यु एवं वियोग का शोक

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

मैं जितना ही अधिक वस्तुओं को देखता हूँ और अध्ययन करता हूँ उतना ही मेरा यह विचार पक्का होता जाता है कि वियोग और मृत्यु का शोक शायद सबसे बड़ा भ्रम है। यह समझ लेना कि यह भ्रम है, इससे मुक्त होना है। आत्मा की न तो मृत्यु है, न वियोग। लेकिन दुःख की बात तो यह है कि यद्यपि हम अपने मित्रों से उनके अन्दर रहनेवाली आत्मा के कारण ही प्रेम करते हैं, फिर भी आत्मा पर

जो क्षणभगुर आवरण रहता है उसके नाश पर हमे दु ख होता है। होना यह चाहिए कि सच्ची मित्रता का उपयोग पिण्ड-द्वारा ब्रह्माण्ड को प्राप्त करने के लिए किया जाय।...

— २७।४।१९२७। बापू के पत्र·मीरा के नाम, पृ० ३४-३५, न० जी० प्र० म०]

३८. उद्यम-नीति

बूंद-बूंद करके सरोवर भरता है और ककर-कंकर करके पाल बँधती है। उद्यम के आगे कुछ भी असम्भव नही।

— नन्दी दुर्ग, २१।५।१९२७। बापू के पत्र : मणिबहिन पटेल के नाम, पृ० ६२ न० जी० प्र० मं०]

३९. उदारता

उदारता का पदार्थ-पाठ तभी सीखा जाता है, जब हम किसी को दोषी मानने पर भी उसके प्रति रोष न रख कर उससे प्रेम करे, उसकी सेवा करे। जबतक एक-दूसरे के बीच विचार और आचार की एकता है, तबतक यदि सद्भाव रहता है, तो वह उदारता या प्रेम का गुण नही। वह तो केवल मित्रता है, परस्पर प्रेम है, इतना ही कहा जा सकता है।

— १७।१०।१९२७। बापू के पत्र : आश्रम की बहिनो को, पृ० ५१। न० जी० प्र० मं० संस्करण १९५०]

४०. ईश्वरेच्छा और आत्मरक्षा

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

ईश्वर की मर्जी के बिना पत्ता भी नही हिलता। अगर हमारा उस पर भरोसा हो तो वह सम्हाल लेगा। लेकिन हमारा भरोसा उन लोगो-जैसा न होना चाहिए, जो रुपये से मिलनेवाली तमाम सार-सम्हाल रखने के बाद उस पर भरोसा करते है। यह सच है कि हमे कुछ तो अपनी सम्हाल रखनी ही चाहिए। परन्तु श्रद्धालु लोग अपने स्वभाव के प्रति हिसा नही करते और असाधारण असावधानी रखकर ऐसे उपाय नही करते, जिनके करनेका आम लोगोंके पास साधन नही होता। इसलिए सूत्र यह है कि जितनी कम चिन्ता उतना अच्छा। और उचित प्रयत्न से छोटे

छोटे आदमी का भी जितना नसीब हो सके उससे अधिक उपाय न किया जाय।
— २४।१०।१९२७। बापू के पत्र मीरा के नाम, पृ० ५८, न० जी० प्र० म०]

४१. जो पिण्ड में, वही ब्रह्माण्ड में

एक साफ हो जाय तो दूसरे होंगे ही। इस सम्बन्ध मे हमारे यहा दो कहावते है—१ आप भला तो जग भला और २ यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे। अगर ऐसा न हो तो दुनिया के लिए कभी आशा ही नही रखी जा सकती।
— २५।१०।१९२७। दीवाली, मगलवार, सम्वत् १९८३, बापू के पत्र आश्रम की बहिनो को, पृ० ५२, न० जी० प्र० म०]

४२. संसार का ऋण

जगत लेनदार है। हम उसके कर्जदार है।
— २५।१०।१९२७। दीवाली, मगलवार सम्वत् १९८३। बापू के पत्र आश्रम की बहिनो को, पृ० ५२, न० जी० प्र० म०]

४३. शुभ प्रयत्न व्यर्थ नही

हमारी कोशिश मे ही कामयाबी है। शुभ प्रयत्न कभी बेकार नही जाते, यह भगवान की प्रतिज्ञा है, और इसका थोडा-बहुत अनुभव हम सबको है।
— ३१।१०।१९२७। कातिक सुदी ६, सम्वत् १९८४। बापू के पत्र. आश्रम की बहिनो को, पृ० ५३, न० जी० प्र० म०]

४४. कर्तव्यपरायणता

कर्तव्यपरायण रहना और अशान्ति मे भी शान्ति प्राप्त करना सीखना। हमारा आनन्द हमारे धर्म-पालन मे हो, कार्य की सफलता मे या सयोगो की अनुकूलता मे नही। नरसी मेहता ने कहा है—

नीपजे नरथी[1] तो कोई न रहे दुखी
शत्रु मारीने[2] सहु[3] मित्र राखे।

१ नर से, २ मारकर, ३ सब।

मगर मनुष्य तो एक प्राणी है। वह राजा तभी होता है, जब वह अहकार छोडकर ईश्वर मे समा जाता है। समुद्र से अलग होकर बिन्दु किसी के काम नही आता। परन्तु समुद्र मे समा जाने से अपनी छाती पर इस बडे जहाज का भार झेल रहा है। इसी तरह अगर हम आश्रम मे और उसके जरिये जगत् मे यानी ईश्वर मे समा जाना सीख ले, तो पृथिवी का भार उठानेवाले माने जायेंगे। मगर उस समय तो मैं-तू मिलकर वही अकेला रह जाता है।

—७।११।१९२७। बापू के पत्र : आश्रम की बहिनो को, पृ० ५४, न० जी० प्र० मं०]

४५. स्वादेच्छा

स्वाद का रस लेने मे पाप नही है। लेने की इच्छा होने पर भी न होने का भाव दिखाने मे पाप है, फिर चोरी से लेने मे पाप है।

—वर्धा, १०।१२।१९२८। बापू के पत्र : आश्रम की बहिनो को, पृ० ६५, न० जी० प्र० म०]

४६. प्रेम

. . प्रेम से भरा हृदय अपने प्रेम-पात्र की भूल पर दया करता है और खुद घायल हो जाने पर भी उससे प्यार करता है। अकेले सुख का साथी प्रेमी नही होता।

—य० इं०। हि० न० जी०, २४।३।१९२९]

४७. गोपनीयता पाप है

जहा साहस नही, वहा सत्य हो ही नही सकता। भूल करने मे तो पाप है ही, परन्तु उसे छिपाने मे उससे भी बडा पाप है। शुद्ध हृदय से जो अपने आप भूल स्वीकार कर लेता है, उसका पाप धुल जाता है और वह सीधे रास्ते लग सकता है। जो झूठी शर्म रखकर भूल को छिपाता है, वह गहरे गढे मे गिरता है। यह हमने तमाम मामलो मे देख लिया है, इसलिए मैं तो बहिनो से यही माँगता हू कि तुम झूठी शर्म से बचना।

—८।४।१९२९। मौनवार। बापू के पत्र : आश्रम की बहिनो को, पृ० ७४, ७५, न० जी० प्र० मं०]

४८. प्रतिज्ञा की ढाल

मैं स्वय वचपन से प्रतिज्ञा लेने का आदी हू, इससे प्रतिज्ञा के प्रति मेरा वडा पक्षपात है। मेरा अपना अनुभव तो यह है कि प्रतिज्ञा के कारण मैं अनेक वार भय-मुक्त हुआ हू। दूसरो को भी मैंने भय-मुक्त होते देखा है। प्रतिज्ञा-हीन जीवन विना नीव का घर है, अथवा यो कहिए कि कागज का जहाज है। प्रतिज्ञा लेने का अर्थ है, निश्चल होना। जो आदमी निश्चल, दृढप्रतिज्ञ नही है, उसका विश्वास कौन कर सकता है? हम आपस मे जो इकरारनामा लिखते है वे भी प्रतिज्ञापत्र ही है। मुह से कही हुई वात भी इकरारनामा ही है। पहिले प्रतिष्ठित लोगो की वात, उनका वचन ही पर्याप्त होता था। उसी के वल पर वे लाखो का लेन-देन कर सकते थे। प्रतिज्ञा के वल पर ही यह ससार टिका हुआ है। अगर मनुष्य के आपसी व्यवहार प्रतिज्ञावद्ध न हो तो ससार छिन्न-भिन्न हो जाय। हिमालय प्रतिज्ञावद्ध है। अगर वह जव चाहे तव हलचल कर सकता होता, तो आज भारत का अस्तित्व नही होता, हो भी नही सकता। सूर्य-चन्द्र आदि ग्रह अगर प्रतिज्ञा-वद्ध न हो तो मानव जाति का जीवन असम्भव हो जाय। लेकिन हम जानते है कि असख्य वर्ष वीत चुके ,सूर्य नियम से उगता रहा है और आगे भी उगता रहेगा। शीतरश्मि चन्द्र-मा भी अपनी कलाओ के साथ उदय-अस्त होता रहा है, भविष्य मे भी उसका यही क्रम जारी रहेगा। यही वजह है कि हम सूर्य-चन्द्र के आधार पर अपने काम करते है , तिथिया निश्चित करते हैं, समय जानते हैं और उसकी रक्षा या सदुपयोग करते है।

ग्रहादि जिन नियमो का भलीभाति पालन करते हैं, मनुष्य के लिए भी वे ही नियम उपयुक्त होते है। जो आदमी अपने जीवन को प्रतिज्ञामय नही वनाता वह कभी स्थिर नही वन सकता। हम अक्सर देखते है कि मनुष्य इन शब्दो मे अपना अहकार प्रकट करता है—'मुझे व्रत की क्या जरूरत है? फला काम तो चुटकियो मे कर सकता हू, और अगर न भी किया तो क्या? जव करना आवश्यक हो पडता है तव तो कर ही लेता हू। मै शराव छोडने की प्रतिज्ञा क्यो करू? मै पागल तो वनता नही। कभी-कभी एकाध प्याली पी लेता हू।' ऐसा मनुष्य वुरी आदतो की गुलामी से कभी नही छूट सकता।

प्रतिज्ञा न लेने का अर्थ अनिश्चित या डावाँडोल रहना है। अनिश्चित मनुष्य के सहारे ससार का कोई काम नही किया जा सकता। अनिश्चित सैनिक या सेना-पति क्या कर सकता है? जो चौकीदार कहता है कि जहा तक हो सकेगा चौकसी करूगा, उसके भरोसे कोई गृहस्वामी आज तक सुख की नीद नही सोया। यथा-

सम्भव जागरित रहने की बात कहनेवाला सेनापति आज तक कभी विजयी नही हुआ।

व्रत को समकोण की उपमा दी जा सकती है। जिस तरह एक नन्हा-सा समकोण आलीशान इमारतो को सुडौल बनाने मे और उन्हे स्थिर रखने मे समर्थ है, उसी तरह व्रत-रूपी समकोण भी जीवन को शुद्ध और स्थिर बनाने मे समर्थ है।

हा, व्रत की मर्यादा होनी चाहिए। सामर्थ्य के बाहर का व्रत लेनेवाला अविचारी कहा जायगा। व्रत मे शर्त्तो की गुजाइश होती है। .व्रत के अर्थ यह नही है कि कठिन से कठिन काम किया जाय, बल्कि सरल या कठिन काम को नियमपूर्वक करने का निश्चय ही व्रत है।

व्रत मे सयम तो होना ही चाहिए। दूसरे शब्दो मे, अधिक से अधिक खाने, रोज-रोज नाचने, गाली देने या ऐसे दूसरे स्वेच्छाचारपूर्ण व्रत, व्रत नही होते। मुझे यह स्पष्टीकरण इसलिए करना पडता है कि आज भी मुझे कुछ ऐसे उदाहरण याद है जिनमे अनीतिपूर्ण कार्यों को व्रत का रूप दिया गया था। जब असहयोग आन्दोलन अपने पूरे जोश मे था, किसी ने पूछा था—मैं सरकार की नौकरी करने को बधा हू, उमे कैसे छोडू ? मै शराब की दूकान पर पाँच वर्ष तक काम करने को बँधा हू, अब उसे कैसे छोडू ? कई बार ये और एसे ही प्रश्न आदमी को उलझन मे डाल देते है। लेकिन हम गहरा विचार करके देखें तो हमे पता चलेगा कि पाप करने के व्रत नही लिये जाते। व्रत के गर्भ मे उन्नति है, अवनति कदापि नही।

—न० जी०। हि० न० जी० १५।८।१९२९]

- प्रतिज्ञा-हीन जीवन बिना नींव का घर है।
- प्रतिज्ञा लेने का अर्थ है निश्चल होना।
- प्रतिज्ञा के बल पर ही यह संसार टिका हुआ है।
- हिमालय प्रतिज्ञा-बद्ध है।
- व्रत को एक समकोण की उपमा दी जा सकती है। जिस तरह एक नन्हा-सा समकोण आलीशान इमारतो को सुडौल बनाने मे समर्थ है, उसी तरह व्रत रूपी समकोण भी जीवन को शुद्ध और स्थिर रखने मे समर्थ है।
- सामर्थ्य से बाहर का व्रत लेनेवाला अविचारी कहा जायगा।
- सरल या कठिन काम को नियमपूर्वक करने का निश्चय ही व्रत है।
- पाप करने के व्रत नहीं लिये जाते।
- व्रत के गर्भ में उन्नति है, अवनति कदापि नहीं।

४९. दुर्भावना

दुर्भावना को मै मनुष्यत्व का कलक मानता हू।
—य० इ०। हि० न० जी०, १२।९।१९२९]

५०. प्रार्थना

कर्त्तव्य-परायणता ही प्रार्थना है। प्रत्यक्ष सेवा के लिए योग्यता प्राप्त करने को हम प्रार्थना मे बैठते है। मगर जहा प्रत्यक्ष कर्त्तव्य आ पडे, वहा प्रार्थना उसमे समा जाती हे। समाधि मे बैठी हुई स्त्री किसी को बिच्छू काटने पर चिल्लाते हुए सुने, तो वह समाधि छोडकर उसकी मदद के लिए दोडने को बॅधी हुई हे। दुखी की सेवा मे समाधि की पूर्ति है।
—कानपुर, २३।९।१९२९। मौनवार। बापू के पत्र आश्रम की बहिनो को। पृ० ८२, न० जी० प्र० म०]

- कर्त्तव्य-परायणता ही प्रार्थना है।
- दुखी की सेवा मे समाधि की पूर्ति है।

५१. क्रोध-मद

क्रोध के लक्षण शराब और अफीम दोनो से मिलते है। शराबी की भाति क्रोधी मनुष्य भी पहिले आवेशवश लाल-पीला होता है। फिर आवेश के मन्द होने पर भी क्रोध न घटा तो वह अफीम का काम करता है और मनुष्य की बुद्धि को मन्द बना देता है। अफीम की तरह वह दिमाग को कुरेद डालता है। क्रोध के लक्षण क्रमश सम्मोह, स्मृति-भ्रश और बुद्धिनाश माने गये है।
—न० जी०। हि० न० जी०, २४।१०।१९२९]

५२. भावना-शून्यता

. भावनाहीन मनुष्य पशु-तुल्य है। भावना को सही दिशा मे ले जाना हमारा परम धर्म है।
—यरवदा मन्दिर, १३।७।१९३०। बापू के पत्र कुमारी प्रेमा बहिन कटक के नाम, पृ० १५, न० जी० प्र० म०]

५३. निद्रा-दर्पण

निद्रावस्था जाग्रत अवस्था की स्थिति जाँचने का दर्पण है। भावना को गलत मार्ग से रोकने की शक्ति हम सब मे होती है। यह उत्कृष्ट प्रयत्न है। इस प्रयत्न मे हार के लिए स्थान ही नही है।

—यरवदा मन्दिर, २।८।१९३०। बापू के पत्र : कुमारी प्रेमा बहिन कंटक के नाम, पृ० १७, न० जी० प्र० मं०]

५४. अल्पता का भान

अपनी अल्पता का दर्शन करना महान बनने का आरम्भ है। अलग पडा हुआ समुद्र-बिन्दु अपने को समुद्र कहकर सूख जायगा। परन्तु अपनी बिन्दुता को स्वीकार करे तो वह समुद्र की ओर प्रयाण करेगा और उसमे लीन होकर समुद्र बन जायगा।

—५।१।१९३१। बापू के पत्र : कुमारी प्रेमा बहिन कटक के नाम, पृ० ४१, न० जी० प्र० म०]

५५. प्रेम

प्रेम तो त्याग से ही पनपता है।

—२३।१।१९३२। बापू के पत्र : मीरा के नाम, पृ० १३८, न० जी० प्र० म०]

५६. विकारों का त्याग

इस शरीर को और उसके विकारो को जानना चाहिए, क्योंकि उनको त्यागना है। इस त्याग के लिए ज्ञान चाहिए। यह ज्ञान अर्थात् मानीपने का त्याग, दम्भ का त्याग, अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरुसेवा, शुद्धता, स्थिरता, विषयो पर अकुश, विषयो मे वैराग्य, अहकार का त्याग, जन्म, मृत्यु, बुढापा और उसके सिलसिले मे निहित रोग-समूह, दुःख-समूह और नित्य होने वाले दोषो का पूरा भान, स्त्री, पुत्र घर, द्वार, सगे-सम्बन्धी इत्यादि मे मन को खींच लेना और ममता छोड़ना, अपने मनोनुकूल कुछ हो या मन के प्रतिकूल - उसमे समता रखना ईश्वर की अनन्य भक्ति, एकान्त-सेवन, लोगो में मिलकर भोग भोगने की ओर अरुचि, आत्मा के

विपय मे ज्ञान की प्यास और अन्त मे आत्म-दर्शन। इससे विपरीत का नाम अज्ञान है।

—सोमप्रभात, २६।१।१९३२। गीता-बोध, पृ० ६८, स० सा० म०, दसवा सस्करण १९५४]

५७. रोग-दुःख

[सुश्री रेहाना तैयब जी को लिखे पत्र से]

अगर तुमने अपना सब कुछ ईश्वर को सौंप दिया है तो शरीर उसका है, तुम्हारा नही है। रोग भी उसी को है, तुम्हे नही है।

—२०।६।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ५३५]

५८. सत्संग

[एक प्रत्राश]

सत्सग एक पारसमणि है, यह समझकर उसकी सुगन्धि मे रहना।

—२९।६।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० २५४]

५९. दम्भ

दम्भ तो सिर्फ झूठ की पोशाक है।

—२०।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ३६७]

६०. परमार्थ दृष्टि से कार्य

जिसकी दृष्टि पारमार्थिक बन जाती है उसे एक भी काम नीचा या नीरस नही जान पडता। जो सामने आये उसी मे वह ईश्वर को देखेगा, उसी की सेवा करेगा। उसका रस काम के, जाति-वर्ग के ऊपर अवलम्बित नही होता। उसका रस उसके अन्तर से, उसकी कर्त्तव्यपरायणता से निकलता है। जो अनासक्ति-योग को समझना, साधना चाहता हो उसको हर एक काम इसी तरह करना उचित है।

—यरवदा मन्दिर, ११।९।१९३२। आश्रमवासियो से, पृ० ६७]

५३. निद्रा-दर्पण

निद्रावस्था जाग्रत अवस्था की स्थिति जाँचने का दर्पण है। भावना को गलत मार्ग से रोकने की शक्ति हम सब मे होती है। यह उत्कृष्ट प्रयत्न है। इस प्रयत्न मे हार के लिए स्थान ही नही है।

—यरवदा मन्दिर, २।८।१९३०। बापू के पत्र : कुमारी प्रेमा बहिन कटक के नाम, पृ० १७, न० जी० प्र० म०]

५४. अल्पता का भान

अपनी अल्पता का दर्शन करना महान बनने का आरम्भ है। अलग पडा हुआ समुद्र-बिन्दु अपने को समुद्र कहकर सूख जायगा। परन्तु अपनी बिन्दुता को स्वीकार करे तो वह समुद्र की ओर प्रयाण करेगा और उसमे लीन होकर समुद्र बन जायगा।

—५।१।१९३१। बापू के पत्र : कुमारी प्रेमा बहिन कटक के नाम, पृ० ४१, न० जी० प्र० म०]

५५. प्रेम

प्रेम तो त्याग से ही पनपता है।

—२३।१।१९३२। बापू के पत्र : मीरा के नाम, पृ० १३८, न० जी० प्र० म०]

५६. विकारों का त्याग

इस शरीर को और उसके विकारो को जानना चाहिए, क्योकि उनको त्यागना है। इस त्याग के लिए ज्ञान चाहिए। यह ज्ञान अर्थात् मानीपने का त्याग, दम्भ का त्याग, अहिंसा , क्षमा, सरलता, गुरुसेवा, शुद्धता, स्थिरता, विषयो पर अकुश, विषयो मे वैराग्य, अहकार का त्याग, जन्म, मृत्यु, बुढापा और उसके सिलसिले मे निहित रोग-समूह, दु ख-समूह और नित्य होने वाले दोषो का पूरा भान, स्त्री, पुत्र घर, द्वार, सगे-सम्बन्धी इत्यादि से मन को खीच लेना और ममता छोडना, अपने मनोनुकूल कुछ हो या मन के प्रतिकूल —उसमे समता रखना ईश्वर की अनन्य भक्ति, एकान्त-सेवन, लोगो मे मिलकर भोग भोगने की ओर अरुचि, आत्मा के

विपय मे ज्ञान की प्याम और अन्त मे आत्म-दर्शन। इमसे विपरीत का नाम अज्ञान है।
—सोमप्रभात, २६।१।१९३२। गीता-बोध, पृ० ६८, स० सा० म०, दसवा सस्करण १९५४]

५७. रोग-दुःख

[सुश्री रैहाना तैयब जी को लिखे पत्र से]

अगर तुमने अपना सब कुछ ईश्वर को सौंप दिया है तो शरीर उमका है, तुम्हारा नही है। रोग भी उमी को है, तुम्हे नही है।
—२०।६।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ५३५]

५८. सत्संग

[एक पत्रांश]

सत्सग एक पारसमणि है, यह समझकर उसकी सुगन्धि मे रहना।
—२९।६।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० २५४]

५९. दम्भ

दम्भ तो सिर्फ झूठ की पोशाक है।
—२०।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ३६७]

६०. परमार्थ दृष्टि से कार्य

जिसकी दृष्टि पारमार्थिक बन जाती है उसे एक भी काम नीचा या नीरस नही जान पडता। जो सामने आये उसी मे वह ईश्वर को देखेगा, उसी की सेवा करेगा। उसका रस काम के, जाति-वर्ग के ऊपर अवलम्बित नही होता। उसका रस उसके अन्तर मे, उसकी कर्त्तव्यपरायणता मे निकलता है। जो अनासक्ति-योग को समझना, साधना चाहता हो उसको हर एक काम इसी तरह करना उचित है।
—यरवदा मन्दिर, ११।९।१९३२। आश्रमवासियो से, पृ० ६७]

६१. विकार

[एक पत्राश]

विकार का अर्थ अच्छी तरह समझने की जरूरत है। क्रोध करना भी एक विकार ही है। मन मे अनेक प्रकार की इच्छाए होते रहना भी विकार है। इसलिए यह पहनू यह ओढू, यह खाऊ, यह न खाऊ—यह विकार है, और विवाह की इच्छा हो या विवाह की इच्छा हुए बिना बराबर के लडको का सग अच्छा लगे, उनके साथ गुप्त बाते अच्छी लगे, उन्हे छूना अच्छा लगे, उनके साथ दिल्लगी करना अच्छा लगे, तो यह भी विकार है। यह आखिरी विकार एक भयकर विकार माना जाता है।
— ११।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १७]

- क्रोध करना भी एक विकार है।
- मन मे अनेक प्रकार की इच्छाएं होते रहना भी विकार है।

६२. आचरण-रहित विचार

आचरण-रहित विकार कितने ही अच्छे क्यो न हो, तो भी उन्हे खोटे मोती की तरह समझना चाहिए।
— ११।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १५]

६३. सन्त और सेवा

[एक पत्रांश]

सन्त पुरुष के लिए एकान्त मे रहकर विचार मात्र से भी सेवा कर सकना सम्भव है। ऐसा लाखो मे एक निकल सकता है।
— ११।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १५]

६४. अहंकार

[सुश्री प्रेमा के नाम लिखे पत्र से]

अहकार का बीज शून्यता के अनुभव से ही जाता है। एक भी क्षण कोई गहरा विचार करे, तो उसे अपनी अति तुच्छता मालूम हुए विना रह ही नही सकती। पृथिवी के आगे जैसे हम जन्तुओ को तुच्छ मानते हैं, उससे करोडो गुनी बडी मात्रा

मे इस जगत् के आगे मनुष्य प्राणी तुच्छ है। उसमे बुद्धि है, इसमे कुछ भी फर्क नही पडता। उसकी महिमा अपनी तुच्छता अनुभव करने मे ही है। क्योकि इस अनुभव के साथ ही यह दूसरा ज्ञान पैदा होता है कि जैसा वह अपने आप मे तुच्छ है, वैसा वह भगवान का तुच्छतम अश होने के कारण जब भगवान मे उसका लय होता है, तब वह भगवान रूप है और इस सूक्ष्म अणु मे भगवान की शक्ति भरी है।
—११।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १८]

○ अहकार का बीज शून्यता अनुभव करने मे ही जाता है।

६५. दरिद्र और धनवान : नास्तिक और आस्तिक

[श्री कन्हैयालाल को लिखे पत्र से]

दरिद्र वह है जिसमे शुद्ध प्रेम की बूद तक नही है। धनवान वह जिसके प्रेम मे जन्तु से लेकर मस्त हाथी (तक) समा सकता है। नास्तिक वह, जो शरीर के बाहर विश्वव्यापी आत्मा को नही पहिचानता। आस्तिक वह, जो हर जगह आत्मा के सिवा कुछ नही देखता।
—१९।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० ४७]

६६. आत्मज्ञान की पहिली सीढी निःस्वार्थ सेवा

[एक पत्राश]

सब तरह की नि स्वार्थ सेवा का फल आत्मशुद्धि होता है। आर्थिक और नैतिक उन्नति साथ-साथ होनी चाहिए। आत्मा वह है जो शरीर को प्राणवान बनाये। आत्मशुद्धि से आत्मज्ञान होता है। भोजन सबके लिए आवश्यक है, तो प्रार्थना भी सबके लिए आवश्यक है।
—७।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० ९६]

● आत्मशुद्धि से आत्मज्ञान होता है।

६७. प्रारब्ध और पुरुषार्थ

[एक पत्राश]

प्रारब्ध अवश्य है। परन्तु साथ ही पुरुषार्थ भी है। प्रारब्ध का इतना ही अर्थ है कि पुरुषार्थ के अभाव मे पूर्वकर्मो का फल ही बाकी रहता है। पुरुषार्थ होते हुए

प्रारब्ध बदल सकता है। इस कारण जो ब्रह्मदर्शन करना चाहता है, उसे ब्रह्मचर्य आवश्यक है।
— ११।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० ११०]

● जो ब्रह्मदर्शन करना चाहता है, उसे ब्रह्मचर्य आवश्यक है।

६८. ज्ञानमय प्रेम और मोह

ज्ञानमय प्रेम मे हमेशा धैर्य होता है। अज्ञान (मय) प्रेम सस्कृत के मोह शब्द का बेढगा अनुवाद है।
— २७।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १५३]

६९. आदर्श व्यवहार-नीति

[एक पत्राश]

क्रोध के प्रति क्रोध नही, अवगुण के प्रति अवगुण नही, क्रोध के सामने शान्ति, अवगुण के बदले गुण, गाली के बदले प्रेम और बुराई के बदले भलाई, यह धर्म है, यह आश्रम-व्यवहार है।
— ७।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १७७]

७०. आचरण ही शास्त्र

गीता के सिद्धान्तो पर जीवन मे आचरण करनेवाले पुरुष का आचरण ही शास्त्र है।
— १६।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २०६]

७१. देवासुर-संग्राम

[अकोला-निवासी श्री नानाभाई को लिखे पत्र से]

हृदय मे देवासुर-सग्राम चलता ही रहता है। कब हमे असुर भरमाता है और कब देव रास्ता बतलाता है, यह हम सदा नही जान सकते। इसीलिए धर्म सिखाता है कि जो देव को जगाना चाहता है, उसे यम-नियमादि रूपी तलवार की धार पर चलना पडेगा।
— ११।१२।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २७१]

७२. मिथ्या गर्व

[डा० विधानचन्द्र राय को लिखे पत्र से]

विनाश का पूर्वाभास गर्व से और पतन का पूर्वाभास मिथ्या गर्व से होता है।

—यरवदा केन्द्रीय जेल, १५।१२।१९३२। गांधीजी की छत्रछाया में, पृ० ११८]

७३. शरीर, मन एवं आहार

[सुश्री मदालसा को लिखे पत्र से]

शरीर और मन के बीच ऐसा निकट सम्बन्ध है कि एक की शुद्धता के साथ दूसरे का सम्बन्ध अधिकतर जुड़ा होता है। मनुष्य जो खाता है वैसा ही बनता है। अन्न से भूत (पंचभूत) बनते हैं। गीता का वाक्य भी यही सूचित करता है।

—वर्धा, १४।२।१९३५। बापू के पत्र बजाज-परिवार के नाम, पृ० ३३९, स० भा० स० मे० म०]

७४. परिग्रह

वास्तव में परिग्रह मानसिक वस्तु है। मेरे पास घड़ी है, रस्सी है और कच्छ (लंगोटी) है। इनके अभाव में यदि मुझे क्लेश होता है तो मैं परिग्रही हूं। यदि किसी को बड़े कम्बल की जरूरत हो तो वह उसे रखे, पर खो जाने पर क्लेश न करे तो वह अपरिग्रही है।

—गांधी-सेवा-संघ सम्मेलन, सावली, ३।३।१९३६]

७५. मनुष्य स्वयं ही अपना शत्रु-मित्र है

मनुष्य मात्र का एक ही शत्रु है, एक ही मित्र है, और वह मनुष्य स्वयं ही है। यह मेरा वचन नहीं, समस्त शास्त्रों का वचन है। जब मनुष्य स्वयं को धोखा देता है, तब वह खुद ही अपना शत्रु बन जाता है। जब वह अपने अन्तर में रहने वाले परमेश्वर की गोद में स्वयं को छोड़ देता है, तब वह अपना मित्र बन जाता है।

—ह० बं०। ह० से०, ५।१२।१९३६]

७६. क्रोध

क्रोध और किसी को नहीं जलाता। क्रोध करनेवाला ही जलता है।

— १३।७।१९३७। बापू की छाया में, बलवन्त सिंह, पृ० १५८, संस्करण १९५७, न० जी० प्र० मं०]

७७. मानव की दृष्टि से भलाई-बुराई

शुद्ध शास्त्रीय दृष्टि से दुनिया में हम जो भलाई और बुराई देखते हैं उन दोनों की जड़ में ईश्वर ही है। डाक्टर का चाकू और कातिल का छुरा, दोनों वही चलवाता है। परन्तु इसके बावजूद मानव की दृष्टि से तो भलाई और बुराई एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न और मेल न खानेवाली वस्तुएं हैं। वे प्रकाश और अन्धकार की, खुदा और शैतान की प्रतीक हैं।

— ह० ज०, २०।२।१९३७]

७८. आलस्य

जो सत्य और अहिंसा का उपासक है, भारत और
चाहता है वह सुस्त नहीं रह सकता। जो समय का नाश
और सेवा का भी नाश करता है।

— गांधी-सेवा-संघ, सावली, ३।३।१९३७]

आलस्य एक प्रकार की

— तृतीय गांधी-सेवा-संघ

८०.

परिग्रह का अर्थ है म।
अनुयायी कल के लिए किसी

— सर्वोदय, नवम्बर १९३८

८१. साधन

मावन का मावनत्व इमी मे है कि वह अव्यवहार्य न हो। यदि हम मावन की रक्षा करें तो आज नही तो कल हम माव्य को प्राप्त कर ही लेंगे।
— सर्वोदय, नवम्बर १९३८, पहिले कवर का उद्धरण।

८२. साध्य-साधन-अभेद

कहा जाता है कि आखिर मावन तो मावन ही है। मै कहूगा कि अन्त मे मावन ही मव कुछ है। जैमा मावन वैमा माव्य। माव्य और मावन मे कोई अभेद्य दीवार नही है। जिम अनुपात मे मावन का अनुष्ठान होगा उसी अनुपात मे ध्येय-प्राप्ति होगी। यह नियम निरपवाद है।
— सर्वोदय, १९३८, अन्तिम कवर का उद्धरण।]

८३. वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि

प्रेम की मेरी कल्पना यह है कि वह कुमुम से भी कोमल और वज्र से भी कठोर हो सकता है।
— ह० से० १३।१।१९४०]

८४. आतंक

आतक सबमे ज्यादा नि सत्व करनेवाली अवस्था है, जिसमे कोई हो मकता है।
— सेवाग्राम, ४।६।१९४०। ह० से०, ८।६।१९४०]

८५. प्रेम

[आश्रमवासियो को लिखे पत्र से]

प्रेम कभी सन्देह नही करता। प्रेम के पाम दोप छिप नही सकता।
— सेवाग्राम, ७।६।१९४०। वापू के पत्र बीबी अमतुस्सलाम के नाम, पृ० १६९, न० जी० प्र० म०]

७६. क्रोध

क्रोध और किसी को नही जलाता। क्रोध करनेवाला ही जलता है।
— १६।२।१९३७। बापू की छाया मे, बलवन्त सिंह, पृ० १५४, संस्करण १९५७, न० जी० प्र० म०]

७७. मानव की दृष्टि से भलाई-बुराई

शुद्ध शास्त्रीय दृष्टि से दुनिया मे हम जो भलाई और बुराई देखते है उन दोनो की जड मे ईश्वर ही है। डाक्टर का चाकू और कातिल का छुरा, दोनो वही चलवाता है। परन्तु इसके बावजूद मानव की दृष्टि से तो भलाई और बुराई एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न और मेल न खानेवाली वस्तुए हैं। वे प्रकाश और अन्धकार की, खुदा और शैतान की प्रतीक है।
— ह० ज०, २०।२।१९३७]

७८. आलस्य

जो सत्य और अहिंसा का उपासक है, भारत और जीवमात्र की सेवा करना चाहता है वह सुस्त नही रह सकता। जो समय का नाश करता है वह सत्य, अहिंसा और सेवा का भी नाश करता है।
— गांधी-सेवा-संघ, सावली, ३।३।१९३७]

७९. आलस्य

आलस्य एक प्रकार की हिंसा है।
— तृतीय गांधी-सेवा-संघ सम्मेलन, हुदली, १७।४।१९३७]

८०. सत्यान्वेषी और अपरिग्रह

परिग्रह का अर्थ है भविष्य के लिए प्रबन्ध करना। सत्यान्वेषी प्रेम-धर्म का अनुयायी कल के लिए किसी चीज का सग्रह नही कर सकता।
— सर्वोदय, नवम्बर १९३८, पृ० पाच के नीचे उद्धरण।

८१. साधन

माधन का सावनत्व इमी मे है कि वह अव्यवहार्य न हो। यदि हम मावन की रक्षा करें तो आज नही तो कल हम माध्य को प्राप्त कर ही लेंगे। .
— सर्वोदय, नवम्बर १९३८, पहिले कवर का उद्धरण।

८२. साध्य-साधन-अभेद

कहा जाता है कि आखिर मावन तो मावन ही है। मे कहूगा कि अन्त मे मावन ही मव कुछ है। जैमा मावन वैमा माध्य। माध्य और मावन मे कोई अभेद्य दीवार नही है। जिम अनुपात मे मावन का अनुष्ठान होगा उसी अनुपात मे ध्येय-प्राप्ति होगी। यह नियम निरपवाद है।
— सर्वोदय, १९३८, अन्तिम कवर का उद्धरण।]

८३. वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि

प्रेम की मेरी कल्पना यह है कि वह कुसुम से भी कोमल और वज्र से भी कठोर हो सकता है।
—ह० से० १३।१।१९४०]

८४. आतंक

आतक सबसे ज्यादा नि सत्व करनेवाली अवस्था है, जिसमे कोई हो मकता है।
—सेवाग्राम, ४।६।१९४०। ह० से०, ८।६।१९४०]

८५. प्रेम

[आश्रमवासियो को लिखे पत्र से]

प्रेम कभी सन्देह नही करता। प्रेम के पाम दोप छिप नही सकता।
— सेवाग्राम, ७।६।१९४०। बापू के पत्र बीबी अमतुस्सलाम के नाम, पृ० १६९, न० जी० प्र० म०]

८६. प्रेम निर्भय है

जहा प्रेम है, वहा भय को स्थान ही कहा है ?

—ह० से० २७।७।१९४०]

८७. क्रोध

गुस्सा एक प्रकार का क्षणिक पागलपन है। जो लोग जानबूझ कर या विना जाने इसके वश मे अपने को होने देते हैं उन्ही को उसका नतीजा भुगतना पडता है।

—शिमला जाते हुए ट्रेन में, २५।९।१९४०। ह० से० ५।१०।१९४०]

८८. शरीर

शरीर ईश्वर का घर है, उसे ज्यो-का-त्यो ही रखना चाहिए।

—महाबलेश्वर, २७।४।१९४५। बापू के पत्र : मणिबहिन पटेल के नाम, पृ० १३६, न० जी० प्र० म०]

८९. निराशा

[सुश्री मदालसा को लिखे पत्र से]

निराशा केवल अपनी कल्पना मे वसती है।

—पूना, ८।१०।१९४५। बापू के पत्र : बजाज-परिवार के नाम, पृ० २४६, अ० भा० स० से० स०]

९०. प्रायश्चित्त

प्रायश्चिन्त सिर्फ जवान से कहने का नाम नही है, वल्कि हृदय का भी परिवर्तन होना चाहिए।

—प्रार्थना-सभा, १९।५।१९४७। ह० ज०। ह० से० १।६।१९४७]

९१. एकपक्षीय प्रेम

• 'प्रेम यदि एकपक्षीय भी हो तो वह सर्वांश में दुख नहीं हो सकता।
—आ० क०। सस्ता हिन्दी संस्करण १९३९, अध्याय ८, पृ० १८]

९२. शुद्ध प्रेम

शुद्ध प्रेम के लिए दुनिया मे कोई बात असम्भव नहीं।
—आ० क०। सस्ता हिन्दी सस्करण, १९३९, अध्याय ४, पृ० १४]

९३. आत्मशुद्धि का मार्ग

आत्मशुद्धि के बिना जीवमात्र के साथ ऐक्य सध नहीं सकता। आत्मशुद्धि के बिना अहिंसा धर्म का पालन असम्भव है। अशुद्ध आत्मा परमात्मा के दर्शन करने मे असमर्थ है। अतएव जीवन-मार्ग के सभी क्षेत्रो मे शुद्धि की आवश्यकता है। यह शुद्धि साध्य है, क्योकि व्यष्टि और समष्टि के बीच ऐसा निकट का सम्बन्ध है कि एक की शुद्धि अनेक की शुद्धि के बराबर हो जाती है। और व्यक्तिगत प्रयत्न करने की शक्ति तो सत्यनारायण ने सबको जन्म से ही दी है।

लेकिन मै प्रतिक्षण यह अनुभव करता हू कि शुद्धि का यह मार्ग विकट है। शुद्ध बनने का अर्थ है मन, वचन और काया से निर्विकार बनना, रागद्वेषादि से रहित होना। इस निर्विकारता तक पहुंचने का प्रतिक्षण प्रयत्न करते हुए भी मै पहुच नही पाया हू, इसलिए लोगो की स्तुति मुझे भुलावे मे नही डाल सकती। उलटे यह स्थिति प्राय तीव्र वेदना पहुचाती है। मन के विकारो को जीतना ससार को शस्त्र-युद्ध मे जीतने की अपेक्षा मुझे कठिन मालूम होता है। हिन्दुस्तान आने के बाद भी मै अपने भीतर छिपे हुए विकारो को देख सका हू, शर्मिन्दा हुआ हू, किन्तु हारा नही हू।
—आत्मकथा, पृ० ४३२-३३, सस्करण १९५७]

- आत्मशुद्धि के बिना जीवमात्र के साथ ऐक्य सध नहीं सकता।
- अशुद्ध आत्मा परमात्मा के दर्शन करने मे असमर्थ है।
- शुद्ध बनने का अर्थ है मन, वचन और काया से निर्विकार बनना।

९४. मुमुक्षु का धर्म

नम्रता का सम्पूर्ण अर्थ तो शून्यता है। शून्यता मोक्ष की स्थिति है। मुमुक्षु अथवा सेवक के प्रत्येक कार्य मे नम्रता अथवा निरभिमानता न हो, तो वह मुमुक्षु नही है, सेवक नही है। वह स्वार्थी है, अहकारी है।

—आत्मकथा, पृ० ३४४, संस्करण १९५७]

२
क्रियापक्ष

१. वास्तविक ईश्वरोपासना

जात-पाँत के मामले मे झगड़ना, दम्भ, गलत होड़े, प्लेग का डर, ये सब बातें दुर्दशा का कारण नहीं, बल्कि दुर्दशा ही हैं। इन सबका कारण एक ही है, और वह यह कि हम कर्त्तव्य का पालन नहीं करते, हम ईश्वर को भूल गये हैं और शैतान को पूज रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य तो ईश्वर को भजना है। माला फेरना, ईश्वर-भजन का चिह्न नहीं है, मस्जिद या मन्दिर मे जाना, नमाज पढ़ना या गायत्री जपना —अपनी जगह ठीक है। लोगो के लिए अपने-अपने धर्म के अनुसार इनमे से एक या दूसरी चीज आवश्यक है। परन्तु इनमे से किसी को भी ईश्वरोपासना का लक्षण नहीं माना जा सकता। ईश्वर को तो वह भजता है जो दूसरो के सुख को अपना सुख मानता है, जो किसी की निन्दा नहीं करता, जो धन सचय करने मे अपना समय नहीं गवाता, अनीति के मार्ग पर नहीं चलता, जो सबको मित्र मानता हुआ सदा अपना लोक-व्यवहार चलाता है, जो केवल ईश्वर से ही डरता है, इसलिए प्लेग से या मनुष्य से नहीं डरता। ऐसा व्यक्ति जाति के डर से जाति-भोज नहीं करेगा। यदि वह युवा होगा तो उचित अवस्था को प्राप्त हुए बिना अथवा आवश्यकता बिना, केवल जातिवालो के डर से अपने पुत्रो और पुत्रियो को गढे मे नहीं ढकेलेगा। ऐसा व्यक्ति कोई काम करते समय इस तरह नहीं सोचेगा कि अमुक व्यक्ति या हमारी बिरादरी इसके बारे मे क्या सोचेगी। वह तो यह सोचेगा कि मेरे इस कार्य के विषय मे परमेश्वर क्या कहेगा? इस सबका मतलब यह निकला कि हम चाहे हिन्दू हो या मुसलमान, पारसी हो या ईसाई, अपने-अपने असली धर्म को भुला बैठे है।

—गुजराती से। इ० ओ०, १५।७।१९११। स० गा० वा०, खण्ड ११, पृ० १२१]

२. माता-पिता के प्रति सम्मान सब धर्मो का आदेश है

अपने पिता और माता का मान करो। यह ईसा, मुहम्मद, जरथुस्त्र और वेद सभी का आदेश है।

—अंग्रेजी से। इ० ओ०, १९।८।१९११]

३. व्रत

कोई काम करने का फैसला किया जाय और उसे करने मे जान तक जाने की नौबत आ जाय तो प्राण चला जाने दिया जाय, इसे व्रत कहा जाता है। इस प्रकार का व्रत लेने की आदत प्रत्येक मनुष्य को डालनी चाहिए। इससे मनुष्य दृढ बन सकता है और महान कार्य करने मे समर्थ होता है। सरल और सादे व्रतो के बाद मनुष्य आगे चलकर कठिन व्रत ले सकता है। ..

—गुजराती से। इ० ओ०, ८।१०।१९१३]

४. पढ़ो कम, गुनो अधिक

थोडा पढो, परन्तु जो पढो उस पर विचार करो और उसका रहस्य समझकर उसके अनुसार आचरण करने को तैयार रहो।

—केपटाउन, बुधवार, ज्येष्ठ बदी ३ १०।६।१९१४। गुजराती से। 'गांधीजी नी साधना।' सं० गां० वां०, खण्ड १२, पृ० ४१५]

५. विरुद्धाचरण का धर्म

[श्री रावजी भाई पटेल को लिखे गये पत्र से]

रामचन्द्र जी वनवास जाने लगे तब दशरथ ने उनसे कहा कि कैकेयी को दिये हुए वचन की कोई पर्वाह नही, वचन-भग होने पर भी तुम वन न जाओ। लौकिक और स्थूल पुत्र-प्रेम से पैदा होनेवाली इस इच्छा का अनादर करके रामचन्द्र जी वन गये और सच्ची पितृभक्ति का आचरण करके उन्होने राजा दशरथ का और अपना भी नाम अमर कर दिया। हरिश्चन्द्र ने अपनी स्त्री को बेचकर रोहित के गले पर तलवार रखने तक को तयार होकर स्त्री-भक्ति और पुत्र-प्रेम प्रकट किया। प्रह्लाद ने पिता की आज्ञा का उल्लघन करके पितृभक्ति की और उनका उद्धार किया। मीराबाई ने राणा कुम्भा को त्यागकर उन्हे अपना भक्त बना लिया। दयानन्द ने अपने माता-पिता के पास से भागकर, सगाई से इन्कार करके तथा अपने पीछे भेजे गये आदमियो के हाथ से छूटकर मातृभक्ति और पितृ-भक्ति ही की। बुद्धदेव अपनी युवा स्त्री को सोती हुई छोडकर चल दिये।

—केपटाउन, बुधवार, ज्येष्ठ बदी ३, १०।६।१९१४। गुजराती से। 'गाधीजीनी साधना'। स० गां० वा०, खण्ड १२, पृ० ४१५]

६. अपनी प्रशंसा न सुनो !

मेरे धर्म मे एक हिदायत है और मै समझता हू कि वह सभी धर्मो के लिए सच्ची है। हिदायत यह है कि जब किसी व्यक्ति की प्रशसा हो रही हो तब उस व्यक्ति को उस जगह से दूर चले जाना चाहिए और यदि वह ऐसा न कर सके तो अपने कान बन्द कर लेने चाहिए। यदि वह इन चीजो मे से एक भी न कर सके तो उसे वह सब कुछ जो उसके सम्बन्ध मे कहा गया हो, उस सर्वशक्तिमान दैवी-तत्व को समर्पित कर देना चाहिए जो विश्व के प्रत्येक जीव और पदार्थ मे व्याप्त है।
— अग्रेजी से। इ० ओ०, स्वर्ण अक १९१४।]

७. मुमुक्षु का धर्म

[श्री मथुरादास त्रिकमजी को लिखे पत्र का अश]

सत्य, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, अस्तेय और अपरिग्रह—इन पाच यमो का पालन करना प्रत्येक मुमुक्षु के लिए आवश्यक है। मुमुक्षु तो सभी को होना चाहिए। इसलिए मनुष्य का चरित्र उक्त पाचो यमो की भित्ति पर बनाया जाना चाहिए। इनका आचरण समस्त ससारी जीवो को करना चाहिए, इसमे सन्देह नही।
— ७।२।१९१५। गुजराती से। 'बापुनी प्रसादी'। स० गा० वा०, खण्ड १३, पृ० १९]

८. प्रतिज्ञा की गम्भीरता

इस युग मे प्रतिज्ञा का मूल्य, टेक की कीमत नष्ट हो गई है। लोग जब चाहते है और जिस तरह चाहते है, ली हुई प्रतिज्ञा तोड देते है, और इस तरह प्रतिज्ञा का पानी उतार देने मे मुझे दुःख होता है। साधारण आदमी को बाँधने के लिए प्रतिज्ञा से बढकर दूसरी कोई डोर नही। परमात्मा को अपना साक्षी बनाकर जब हम कोई काम करने के लिए तैयार होते है तो वही हमारी प्रतिज्ञा हो जाती है। जो उन्नत है, वे बिना प्रतिज्ञा के भी अपना काम चला सकते है। लेकिन हमारे समान अवनत या पिछडे हुए लोग वैसा नही कर सकते। हम लोगो के लिए जो जीवन मे हजारो बार गिरते है, इस तरह की प्रतिज्ञाओ के बिना ऊपर चढना असम्भव है।
— मिल-मजदूरो की सभा मे दिये गये भाषण से। अहमदाबाद, १५।३।१९१८। गुजराती 'एक धर्मयुद्ध' से।]

९. धर्म और आत्म-सम्मान

जो व्यक्ति आत्मसम्मान की रक्षा नही कर सकता, कहना चाहिए कि उसकी आस्था धर्म मे नही है। जिसे ईश्वर का भय है उसे किसी अन्य का भय नही होता। जिस ईश्वर की कल्पना हमने सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ के रूप मे की है वह समस्त ससार का रक्षण और कल्याण करता है।

—गुजराती। सीहुंज मे दिये गये भाषण से, १०।४।१९१८]

१०. यज्ञ का अर्थ

गीता मे कहा गया है कि जो यज्ञ किये बिना खाता है वह चोर है। यज्ञ का अर्थ है कि हमारा यह शरीर प्रजा की अर्थात् प्रभु की सेवा के लिए है। लोक-कल्याण के लिए उसकी आहुति देना, यही सच्चा यज्ञ है। जिस प्रजा ने इस मन्त्र को समझ लिया है उसके ऊपर कोई सत्ता अत्याचार नही कर सकती। यदि इसका रहस्य हमारे लहू मे मिल जाय तो समझो कि हमने दुनिया मे सब कुछ जीत लिया।

— सन्देसर मे दिये गये भाषण से, १६।५।१९१८। गुजराती। 'खेड़ा सत्याग्रह'। सं० गा० वां०, खण्ड १४, पृ० ३८३]

११. व्रत-भंग अनुचित है

[श्री नरहरि परीख को लिखे पत्र से]

...जबतक (किसी व्यक्ति को) अपना व्रत भूल-भरा प्रतीत न हो या पाप-युक्त न लगे, तब तक किसी के भी लिए उस व्रत को छोडने का अधिकार प्राप्त नही होता। अगर एक बार भी व्रत तोडने की छूट दे दी जाय तो उसका पालन नही हो सकता और उनकी महिमा जाती रहेगी। परन्तु व्रत के जो भी अर्थ हो सकते हो, वे अर्थ करके उनसे लाभ उठाने मे मुझे कोई हानि नही है।

—बम्बई, २७।१।१९१९। गुजराती। 'महादेवभाईनी डायरी', खण्ड ५। सं० गा० वां०, खण्ड १५, पृ० ८१]

१२. संयम : हमारी शक्ति

जिस स्थान पर रामचन्द्र जी का जन्म हुआ और जहा सीता जी खेली, उस विहार प्रदेश मे और उसके आसपास के प्रान्तो मे मैं रह आया हू। वहा ऐसे बहुत से व्यक्ति

मौजूद हैं जो गाड़ी में सफर करते समय कुछ नहीं खाते, उपवास रखते हैं। ट्रेन में कुछ न खाये, ऐसी धार्मिक भावना मूल्यवान है। इसमें संयम है। संयम अर्थात् अमुक वस्तु का समझ-बूझकर त्याग करना। इसमें किसी भी व्यक्ति पर, किसी भी व्यक्ति-द्वारा दबाव नहीं डाला जाता।

इसमें आत्मबल दृढ़तर होता है। खाने योग्य वस्तु को न खाने से, पीने योग्य चीज को न पीने में संयम है। मगर किसी का निरादर करें तो हम पाप में पड़ते हैं। खाने की वस्तु मिले या न मिले, (मैं नहीं खाऊंगा), इस कारण नहीं, बल्कि अमुक व्यक्ति के हाथ का बना हुआ नहीं खाना चाहिए, इस मान्यता से कोई न खाये तो मैं मानता हूं कि इसमें अधम है।

—नडियाद, ६।७।१९१९। गुजराती २०।७।१९१९। म० गा० बा०, खण्ड १५, पृ० ४५४]

१३. धर्म-नीति

'सुधार-प्रस्ताव' शीर्षक लेख लिखते हुए गांधी जी ने लोकमान्य तिलक के सम्बन्ध में कहा कि वे राजनीति में हर बात के नैतिक और सही होने का ध्यान रखते हैं। इसे पढ़कर लोकमान्य ने १८।१।१९२० को पूना से गांधी जी को पत्र लिखकर व्यक्त किया कि उनके विचार का ग़लत प्रतिपादन किया गया है। वे राजनीति को साधुओं का नहीं, सांसारिक व्यक्तियों के उपयोग का विषय मानते हैं। वे बुद्ध के वचन 'अक्कोधेन जिने क्कोध' के बजाय श्रीकृष्ण के 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' को ज्यादा तरजीह देते हैं।

गांधी जी ने इस पत्र के उत्तर में जो टिप्पणी लिखी, उसके कुछ अंश यहां दिये जा रहे हैं।—सम्पा०]

मैं स्वभावतः लोकमान्य के साथ ऐसे प्रश्न पर विचार-विमर्श करने में लज्जा-शीलता का अनुभव करता हूं, जो धार्मिक कृतियों की व्याख्या से सम्बद्ध हैं। किन्तु बाह्य और अन्तर में ऐसी बहुत-सी बातें हैं जिनमें भावना व्याख्या को लांघ जाती है। मेरी दृष्टि में लोकमान्य-द्वारा उद्धृत दोनों सुभाषितों में कोई अन्तर नहीं है। बौद्ध पाठ एक शाश्वत सिद्धान्त की स्थापना करता है। भगवद्गीता का पाठ मुझे यह सिद्धान्त सुझाता है कि घृणा को प्यार से, असत्य को सत्य से जीता जा सकता है और अवश्य जीता जाना चाहिए। यह सत्य है कि ईश्वर हमारे साथ उसी के अनुरूप बरतता है जैसा व्यवहार हम दूसरों के साथ करते हैं तो इससे यह परिणाम निकलता है यदि हम उचित दण्ड से बच जाते हैं तो हमें क्रोध के बदले क्रोध नहीं,

सज्जनता का व्यवहार करना चाहिए। और यह नियम विरक्त के लिए नही, आवश्यक रूप से सासारिक के लिए है। लोकमान्य से असहमति व्यक्त करते हुए मैं कहने का साहस करूंगा कि यह सोचना कि राजनीति साधुओ के लिए नही है, अपने मानसिक आलस्य को प्रकट करना है। समस्त धर्मों का शीर्ष तत्व पुरुषार्थ को बढाना है और पुरुषार्थ साधु बनने अर्थात् प्रत्येक दृष्टि से सज्जन बनने के प्रयास के सिवा और कुछ नही है।...

—दिल्ली, १८।१।१९२० के बाद। यं० इं०, २१।१।१९२०। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गांधी, खण्ड १६, पृ० ४९०, ४९१]

- **समस्त धर्मों का शीर्षतत्त्व पुरुषार्थ को बढ़ाना है और पुरुषार्थ साधु बनने......के प्रयास के सिवा और कुछ नहीं है।**

१४. गोपनीयता पाप है

भारत के अभिशापो मे से एक बहुधा गोपनीयता का पाप है। किसी अज्ञात परिणाम के भय से हम फुसफुसा कर बोलते हैं। . मैं भगवान के प्रति कृतज्ञ हू कि मैं वर्षों पहिले इस निर्णय पर पहुँचा कि गोपनीयता, विशेषकर राजनीति मे, पाप है। यदि हम जो करते या कहते हैं, उन सब मे भगवान के साक्ष्य का अनुभव करते हैं, तो हमारे पास धरती पर किसी व्यक्ति से छिपाने के लिए कुछ न होगा, क्योकि हम अपने सृजनकर्त्ता के समक्ष गन्दी बातें नही सोचेंगे ; उनका उच्चारण भी नही करेंगे। यह गन्दगी है जो गोपनीयता और अन्धकार चाहती है। मानव-स्वभाव की प्रवृत्ति गन्दगी को छिपाने की होती है। हम गन्दी चीजो को देखना या छूना नही चाहते, हम उन्हे दृष्टि से दूर रखना चाहते है। हमारे वचन के साथ भी यही होना चाहिए। मैं सुझाव दूगा कि हम ऐसे विचारो का चिन्तन भी टाल जाय, जिनको हमे ससार से छिपाना पडे।

—यं० इं०, २२।१२।१९२०। मूल अंग्रेजी से अनूदित। 'कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गांधी', खण्ड १९, पृ० १४४, ४५]

- **गोपनीयता......पाप है।**
- **यह गन्दगी है जो गोपनीयता और अन्धकार चाहती है।**

१५. पवित्रता का लक्षण

पवित्रता का एक अनिवार्य लक्षण यह है—प्रत्येक पुरुष प्रत्येक स्त्री को अपनी माता या वहिन और प्रत्येक स्त्री हर पुरुष को अपना भाई या पिता समझे।...यदि

हम राक्षस-राज्य नही, धर्म राज्य चाहते है, तो आप मुझसे सहमत होगे कि व्यक्तिगत पवित्रता राष्ट्रीय पवित्रता की ही तरह आवश्यक है। हमारा स्वराज्य आत्म-उच्छृखलता पर नही, आत्म-नियन्त्रण पर आधारित है।

—कोकनाडा, २।४।१९२१। 'दि हिन्दू', ६।४।१९२१। अग्रेजी से अनूदित। 'कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गाधी', खण्ड १९, पृ० ५०३]

१६. आचार और विचार

आचार की पूजा करते हुए हमे विचार-शुद्धि की आवश्यकता को न भुला देना चाहिए। जहा विचार मे दोष होगा, वहा आचार अन्तिम सीढी पर न चढ पायगा। रावण और इन्द्रजित[1] की तपस्या मे क्या कमी थी? इन्द्रजित के सयम का मुकाबला करने के लिए लक्ष्मण के सयम की आवश्यकता थी। यह दिखाकर आदि कवि[2] ने आचार का महत्त्व सिद्ध किया। परन्तु इन्द्रजित के विचार मे, विश्वास मे, आर्थिक वैभव को मुख्य स्थान दिया गया था और लक्ष्मण के विश्वास मे वह पद परमार्थ को मिला था। अन्त मे कवि ने लक्ष्मण को विजय-माला पहिनाई। 'यतो धर्मस्ततोजय' का अर्थ भी उच्च-से-उच्च विचार अर्थात् विश्वास और उसका श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ आचार, यही हो सकता है।

तीसरे प्रकार के भी लोग हैं। उनके लिए इस चर्चा मे स्थान नही। वे हैं ढोगी। उनके पास विचार का, विश्वास का केवल दावा है, पर (उनका) आचार बिल्कुल स्वाग है, आडम्बर है। वास्तव मे उनकी कोई आस्था नही होती, तोता राम-राम रटता है। क्या उसके कारण लोग उसे रामभक्त कहेगे? फिर भी हम दो तोतो या तोते और चिडिया की बोली की तुलना करके उनके स्वर की कीमत आँक सकते हैं।

—न० जी०। हि० न० जी०, २७।४।१९२४]

१७. शास्त्रोक्त आचरण

जो लोग ऐसा कहते और मानते है कि शास्त्र के नाम से प्रचलित पुस्तको मे जो कुछ लिखा है, वह सब सत्य है, उसमे कुछ भी परिवर्तन नही हो सकता, उन्हे पग-

---

१ रावण-पुत्र मेघनाद।

२ महर्षि वाल्मीकि।

पग पर धर्म-सकट होगे। एक ही श्लोक के अनेक अर्थ होते हैं और वे एक-दूसरे के विरुद्ध भी होते हैं। फिर भी अनेक शास्त्रो मे अटल सिद्धान्त होते हैं और अनेक देश-काल आदि के अनुसार देश-विशेष या काल-विशेष के लिए होते हैं। उत्तरी ध्रुव मे छ मास तक सूर्य अस्त नही होता। यदि कोई वहा रह सके तो वह सन्ध्या-वन्दन किस समय करे ? उसे स्नानादि के लिए क्या करना चाहिए ? मनुस्मृति मे खाद्याखाद्य-सम्बन्धी अनेक नियम बताये गये हैं। आज उनमे से किसी का भी पालन नही होता। ऐसा भी नही है कि सभी श्लोक एक ही व्यक्ति के रचे और एक ही समय लिखे गये हो। इसलिए जो ईश्वर से डरकर चलना चाहता है और जो नीति-नियमो को भग नही करना चाहता, उसे तो उन सभी बातो का त्याग करना आवश्यक है, जो नीति और सदाचार के विरुद्ध दीख पडे। स्वेच्छाचार कभी धर्म नही हो सकता। हिन्दू धर्म नही जनता कि सयम की मर्यादा होती है। शास्त्र के अर्थ के झगडे मे पड कर हमे अत्याचार नही करना चाहिए। शास्त्र वही है जो हमे मोक्ष की ओर प्रेरित करे, धर्म वही है जो हमे सयम की शिक्षा दे। जो पाप के कुए मे डूब मरता है, वह कर्महीन कहा जाता है। अखा भगत ने शास्त्र को अन्धा कुआ माना है, ज्ञानेश्वर ने वेद को कृपण कहा है, नरसी मेहता ने अनुभव को ही ज्ञान बताया है।

—न० जी०। हि० न० जी०, १८।५।१९२४]

- **स्वेच्छाचार कभी धर्म नहीं हो सकता।**
- **शास्त्र वही है जो हमे मोक्ष की ओर प्रेरित करे।**
- **धर्म वही है जो हमे संयम की शिक्षा दे।**

१८. प्रण-पालन : ईश्वर-भक्ति का प्रमाण

रामचन्द्र की माता कैकेयी ने राम के वनवास का वरदान माँगा। दशरथ को उसे स्वीकार करना पडा। सामान्य रूप से यही कह सकते है कि दशरथ पागल तो नही हो गये थे ? पर रामचन्द्र क्यो डिगने लगे ? उनसे कहा गया, तुम्हारे वियोग मे पिता रो-रोकर मर जायेंगे, अयोध्या विधवा हो जायगी। पर उन्होंने सब बातो को तुच्छ समझा।

रघुकुल रीति सदा चलि आई,
प्राण जाइ वरु, वचन न जाई।

अयोध्या निस्तेज हुई, दशरथ की मृत्यु हुई। पर राम अटल रहे। विश्वामित्र ने दशरथ मे दो लडके मागे। क्या दशरथ ने देने मे आनाकानी की ? हरिश्चन्द्र

ने अपनी पत्नी की गर्दन पर छुरी उठाई। ये सब काम उन्ही से हो सकते है, जो ईश्वर-भक्त हो, खुदापरस्त हो। खुदा के साथ तकब्बुरी (अहकार) करनेवाले ऐसा नही कर सकते।

— चरखा-द्वादशी, अनशन अष्टमी। न० जी०। हि० न० जी०, २८।९।१९२४]

१९. त्याग और दान

मुझे इस सीमा तक त्याग करना चाहिए कि प्रतिपक्षी को अनुभव हो कि अब तो हद हो गई। यहा तक कि वह स्तम्भित हो जाय।

दान करने का धर्म ही यह कहता है (कि) इतना दो, इतना दे डालो कि खानेवाला खाकर तृप्त हो जाय,

— हि० न० जी०, १६।११।१९२४]

२०. श्रद्धा

जिसे अपने कार्य और सिद्धान्त पर अविचल श्रद्धा है वह दूसरे की अश्रद्धा या उसके त्याग से क्यो डरने लगा, क्यो बेचैन होने लगा, क्यो चचल होने लगा? जो श्रद्धावान होता है वह तो दूसरे की अश्रद्धा देखकर उलटे दुगना दृढ होता है। सुरक्षित मनुष्य रक्षको के चले जाने पर जिस तरह असावधानी छोडकर सावधान हो जाता है, उसी प्रकार श्रद्धावान मनुष्य अपने साथियो को भागता देखकर स्वय सुदृढ होता है, सिंह की तरह अकेला लडता है और पहाड-सा अडिग हो जाता है।

— हि० न० जी०, २३।११।१९२४]

२१. नम्रता आवश्यक है

बगाल मे कार्यकर्त्ताओ से बातचीत करते हुए मेरा साबका एक नवयुवक से पडा, जिसने कहा कि लोग मुझे इसलिए भी आदर दे कि मैं ब्रह्मचारी हू। उसने यह बात इस तरह कही और ऐसे विश्वास के साथ कही कि मैं देखता रह गया। मैंने मन मे कहा कि वह उन विषयो की बात करता है, जिसका ज्ञान उसे बहुत कम है। उसके साथियो ने उसकी बात का खण्डन किया। और जब मैंने उससे जिरह करनी शुरू की तब उसने स्वय भी स्वीकार किया कि उसका दावा टिक नहीं सकता। जो व्यक्ति शारीरिक पाप न करता हो वह ब्रह्मचारी नही। जो व्यक्ति परम सुन्दरी

रमणी को देखकर अविचल नही रह सकता, वह ब्रह्मचारी नही। जो केवल आवश्यकता के वशीभूत होकर अपने शरीर को अपने वश मे रखता है, वह अच्छी बात करता है, पर वह ब्रह्मचारी नही। हमे अनुचित, अप्रासगिक प्रयोग करके पवित्र शब्दो का मान नही घटाना चाहिए। वास्तविक ब्रह्मचर्य का फल अद्‌भुत होता है, वह पहिचाना भी जा सकता है। इस गुण का पालन करना कठिन है। प्रयत्न तो बहुतेरे करते हैं, पर सफल बिरले ही हो पाते है। जो लोग गेरुआ वस्त्र पहिनकर सन्यासियो के वस्त्र मे देश मे घूमा करते हैं वे अक्सर बाजार के साधारण आदमी से अधिक ब्रह्मचारी नही होते। अन्तर इतना ही है कि सामान्य आदमी बहुधा उसकी डीग नही हाँकता, इसलिए बेहतर होता है। वह इस बात पर सन्तुष्ट रहता है कि परमात्मा मेरी आजमाइश को, मेरे प्रलोभनो को, मेरे विजयोत्सव और भगीरथ प्रयत्न होते हुए भी घटित पतन को जानता है। यदि ससार उसके पतन को देखे और उससे तोले तो भी वह सन्तुष्ट रहता है। वह अपनी सफलता को कजूस के धन की तरह छिपाकर रखता है। वह इतना विनयी होता है कि उसे प्रकट नही करता। ऐसा मनुष्य उद्धार की आशा रख सकता है। परन्तु वह आवा सन्यासी, जो सयम का ककहरा या वर्णमाला भी नही जानता, यह आशा नही रख सकता। वे सार्वजनिक कार्यकर्त्ता जो सन्यासी का वेश नही बनाते पर, जो अपने त्याग और ब्रह्मचर्य का ढिढोरा पीटते फिरते है और दोनो को सस्ता बनाते हैं, स्वय को और अपने सेवा-कार्य को बदनाम करते हैं, समझिए कि उनसे खतरा है।

मैंने जब अपने साबरमती आश्रम के लिए नियम बनाये तो उन्हे सलाह और समालोचना के लिए मित्रो के पास भेजा। एक प्रति स्वर्गीय सर गुरुदास बनर्जी को भी भेजी थी। उस प्रति की पहुँच लिखते हुए उन्होने सलाह दी कि नियमो के अन्तर्गत उल्लिखित व्रतो मे नम्रता का भी एक व्रत होना चाहिए। उन्होंने अपने पत्र मे लिखा था कि आजकल के नवयुवको मे नम्रता का अभाव पाया जाता है। मैंने उनसे कहा कि आपकी सलाह के मूल्य को तो मानता हू और नम्रता की आवश्यकता को भी सोलहो आने मानता हू, पर व्रत मे उसको स्थान देना उसके गौरव को और कम कर देना है। हमे यह बात स्वीकार करके चलना चाहिए कि जो लोग अहिसा, ब्रह्मचर्य, का पालन करेंगे वे अवश्य ही नम्र रहेगे। नम्रताहीन सत्य एक उद्धत हास्य-चित्र होगा।. . जो व्यक्ति सारे ससार के साथ , यहा तक कि शत्रु कहे जाने वाले के साथ भी, प्रेम करना चाहता है वह जानता है कि केवल अपने बल पर ऐसा करना कितना असम्भव हैं। जबतक वह अपने को एक क्षुद्र रजकण नही समझने लगेगा, तबतक अहिसा के तत्व को नही ग्रहण कर सकता। जिस प्रकार उसके प्रेम की माला बढती जाती है उसी प्रकार यदि उसकी नम्रता की माला न

वढी तो वह किसी काम का नही। जो मनुष्य अपनी आँखो मे तेज लाना चाहता है, जो स्त्री मात्र को अपनी मगी माता या वहिन मानता हे, उमे तो रजकण से भी क्षुद्र होना पडेगा। उसे एक खाई के किनारे ग्वडा ममझिए। तनिक भी मुह इधर-उधर हुआ कि वह गिरा। वह अपने मन से भी अपने गुणो की कानाफूसी करने का साहम नही कर मकता क्योकि वह नही जानता कि अगले क्षण क्या होने वाला है। उमके लिए अभिमान के पीछे विनाश चलता हे और मगरूरी के पीछे पतन। गीता मे सत्य कहा है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिन ।
रसवर्ज्यं रसोप्यस्य पर दृष्ट्वा निवर्तते ॥

और जवतक मनुष्य के मन मे अह भाव मौजूद है, तवतक उसे ईश्वर के दर्शन नही हो सकते। यदि वह ईश्वर मे मिलना चाहता है तो उसे शून्यवत् वन जाना चाहिए। इस सघर्ष-पूर्ण जगत् मे कौन कहने का साहस कर सकता हे—मैंने विजय प्राप्त की ? हम नही, ईश्वर हमे विजय प्राप्त कराता हे।

हमे इन गुणो का मूल्य इस तरह कम नही कर देना चाहिए जिससे हम सव उनका दावा कर सके। जो वात भौतिक विपय मे सत्य है, वही आध्यात्मिक विपय मे भी सत्य है। यदि एक मासारिक सग्राम मे विजय पाने के लिए युरोप ने पिछले[१] युद्ध मे, जो कि स्वय ही एक नाशमान वस्तु है, कितने करोड लोगो का वलिदान कर दिया, तो यदि आध्यात्मिक युद्ध मे करोडो लोगो को इमके प्रयत्न मे मिट जाना पडे, ताकि ससार के सामने एक पूर्ण उदाहरण रह जाय, तो क्या आश्चर्य है ? यह हमारे अधीन है कि हम असीम नम्रता के साथ इस वात का उद्योग करे।

उनके लिए इन उच्च गुणो की प्राप्ति ही कृत परिश्रम का पुरस्कार है। जो उस पर व्यापार चलाता है, वह अपनी आत्मा का नाश करता है। सद्गुण कोई व्यापार करने की चीज़ नही है। मेरा सत्य, मेरी अहिमा, मेरा ब्रह्मचर्य—ये मेरे और मेरे कर्त्ता मे सम्वन्ध रखनेवाले विपय है। ये विक्री की चीजे नही है। जो युवक इनका व्यापार करने का साहस करेगा वह अपना ही नाश कर वैठेगा। ससार के पास ऐमा कोई वाट नही है, कोई साधन नही है, जिससे इन वातो की तोल की जा सके। वहा छानवीन और विश्लेषण की गुजर नही। इसलिए हम कार्य-कर्त्ताओ को चाहिए कि हम इन्हे केवल अपने शुद्धीकरण के लिए प्राप्त करें। हम ससार से कह दे कि वह हमारे कामो से हमारी पहिचान करे।

—य० इ०। हि० न० जी०, २५।६।१९२५]

---

१ प्रथम महायुद्ध

- जो व्यक्ति शारीरिक पाप न करता हो, किन्तु मानसिक पाप करता हो, वह ब्रह्मचारी नहीं।
- वास्तविक ब्रह्मचर्य का फल अद्‌भुत होता है।
- नम्रता-हीन सत्य एक उद्धत हास्य-चित्र होगा।
- ....अभिमान के पीछे विनाश चलता है और मग़रूरी के पीछे पतन।
- हम नहीं, ईश्वर हमे विजय प्राप्त कराता है।
- जो बात भौतिक विषय मे सत्य है, वही आध्यात्मिक विषय मे भी सत्य है।
- सद्‌गुण......व्यापार करने की चीज़ नहीं है।
- मेरा सत्य, मेरी अहिंसा, मेरा ब्रह्मचर्य, ये मेरे और मेरे कर्त्ता से सम्बन्ध रखनेवाले विषय हैं।

२२. इन्द्रियों का उपयोग

यह सिद्धान्त नही है कि इन्द्रिय मात्र का उपयोग आवश्यक है। जो पुरुष ज्ञान-पूर्वक वाचा के उपयोग का त्याग करता है, वह ससार पर उपकार करता है। इन्द्रिय-उपयोग धर्म नही, इन्द्रिय-दमन धर्म है। ज्ञान और इच्छापूर्वक किये गये इन्द्रिय-दमन से आत्मा को लाभ होता है, हानि नही। विषयेन्द्रिय का उपयोग केवल सन्तति की उत्पत्ति के लिए स्वीकार किया गया है। पर जो सन्तति का मोह छोड देता है, उसकी शास्त्र भी वन्दना करते हैं। इस युग मे विकारो की महिमा इतनी बढ गई है कि लोग अधर्म को ही धर्म मानने लग गये हैं। विकारो की वृद्धि अथवा तृप्ति मे ही जगत का कल्याण है, ऐसी कल्पना करना अत्यन्त दोषपूर्ण है, ऐसा मेरा विश्वास है। शास्त्र भी यही कहते हैं और यही आत्मदर्शियो का स्वच्छ अनुभव है।
—न० जी०। हि० न० जी०, ८।१०।१९२५]

- इन्द्रिय-उपयोग धर्म नहीं, इन्द्रिय-दमन धर्म है।
- इस युग में विकारो की महिमा इतनी बढ़ गई है कि लोग अधर्म को ही धर्म मानने लगे हैं।

२३. गुणों का गोपन

एक महाशय लिखते हैं—

"आपके उपवास और अन्य प्रायश्चित्त-प्रार्थनाओं के सम्बन्ध मे मेरा विचार है कि उसमें कुछ न कुछ त्रुटि अवश्य रह जाती है। यही कारण है कि उसका उचित

परिणाम नहीं होता। यदि इस प्रकार के त्यागों का परिणाम प्राप्त करना हो तो उनका विज्ञापन नहीं करना चाहिए और उसे यथासम्भव चुपचाप छिपाकर ही करना चाहिए। शास्त्रों मे कहा गया है कि गुणों को छिपाना चाहिए और पापों को प्रकट करना चाहिए।"

पत्र-लेखक जो कहते है, उसमे बहुत-कुछ सत्य है। जहा तक स्वयं मेरे उपवास, प्रायश्चित्त और प्रार्थनाओं का सम्बन्ध है उनमें से कुछ तो अवश्य ही प्रकट होंगे क्योंकि वे सार्वजनिक परिणाम प्राप्त करने के लिए ही किये जाते है। लेकिन मैं बड़ी कठिनाइयो के बीच काम कर रहा हू। मैं जिसे छिपाना चाहता हू उसे भी नही छिपा सकता। इसलिए मुझे तो अपने मार्ग का अनुसरण करना चाहिए और इस परिस्थिति मे मुझे प्रायश्चित्तों से जो सान्त्वना मिले, प्राप्त करनी चाहिए। यदि मैं अपने लिए इतना ही प्रमाण दे सकू कि मैं अपने निजी प्रायश्चित्तो को प्रकट नही करना चाहता तो यही पर्याप्त होगा। सार्वजनिक प्रायश्चित्तो के सम्बन्ध मे मुझे उसकी सूक्ष्म योग्यता के बारे मे कोई सन्देह नही है, इसलिए यदि मैं शीघ्र ही उनका परिणाम न देख सकू तो इससे मेरा क्या बिगड़ता है? यदि प्रत्येक अच्छे या बुरे काम का परिणाम फौरन ही मिल जाया करे तो श्रद्धा-जैसी वस्तु का कुछ भी मूल्य न रहेगा। परिणामों का अनिश्चित स्वरूप ही मनुष्य की कसौटी करता है, उसे नम्र बनाता है और उसकी सच्चाई एवं श्रद्धा की परीक्षा करता है।

—य० इ०। हि० न० जी०, २४।१२।१९२५]

२४. प्रतिज्ञा भंग की जा सकती है?

[प्रश्नोत्तर]

प्रश्न—यदि मनुष्य किसी मानसिक दुर्बलता-वश कोई प्रतिज्ञा कर ले और उस प्रतिज्ञा का कुछ दिनो तक पालन करने के बाद उसे यह मालूम हो कि प्रतिज्ञा करने मे भूल हुई है, तो क्या उस प्रतिज्ञा का त्याग किया जा सकता है?

उत्तर—प्रतिज्ञा सदैव किसी सत्कार्य के लिए ही की जा सकती है। कुकर्म के लिए प्रतिज्ञा नही हो सकती। यदि अज्ञान के कारण कोई ऐसी प्रतिज्ञा कर ले तो उसे भंग करना ही उसका धर्म हो जाता है। मान लीजिए कि कोई व्यक्ति व्यभिचार करने की प्रतिज्ञा करता है, परन्तु उसकी जागृति और शुद्धि इसी मे है कि वह उस प्रतिज्ञा का त्याग करे। उस प्रतिज्ञा का पालन करना पाप है।

—न० जी०। हि० न० जी०, २५।३।१९२६]

- **प्रतिज्ञा किसी सत्कार्य के लिए ही की जा सकती है।**
- **कुकर्म के लिए प्रतिज्ञा नहीं हो सकती।**

२५. स्वाभाविक किसे कहें ?

आजकल स्वाभाविक शब्द का बडा दुरुपयोग हो रहा है। एक भाई लिखते हैं—"जिस प्रकार मनुष्य के लिए खाना-पीना स्वाभाविक है, उसी प्रकार क्रोध करना भी स्वाभाविक है।" दूसरे भाई लिखते है—"जिस प्रकार हम लोगो के लिए सोना-बैठना स्वाभाविक है, उसी प्रकार विषय-भोग करना भी स्वाभाविक है। यदि यह बात ठीक न हो तो ईश्वर ने हमे विषय-वासना ही क्यो दी ? दुष्ट मनुष्य के प्रति क्रोध करना और साधुजन की स्तुति करना यदि हमारा धर्म नही है, तो हमे स्तुतिनिन्दा करने की शक्ति क्यो दी गई है ? सर्वशक्तियो का सम्पूर्ण विकास ही धर्म क्यो न हो ? "

ऊपर लिखी हुई ये सब दलीले किसी एक ही मनुष्य की नही है, परन्तु दो-चार या उससे भी अधिक मनुष्यो की दलीलो का सचित सार है। . यदि मनुष्य को भी पशुओ की श्रेणी मे रख दिया जाय तो अनेक बाते जिन्हे हम स्वाभाविक मानते हैं, स्वाभाविक सिद्ध हो सकती है। परन्तु यदि हम उन दोनो मे जातिभेद होना स्वीकार करे तो यह नही कहा जा सकता कि जो बाते पशुओ के लिए स्वाभाविक हैं वे सब मनुष्यो के लिए भी स्वाभाविक है। मनुष्य ऊर्ध्वगति प्राणी है। उसे सारासार-विवेक—बुद्धि दी गई है। वह बुद्धिपूर्वक परमात्मा का भजन करता है और उसे जानने का, पहिचानने का भी प्रयत्न करता है, उसकी पहिचान कर लेना ही वह अपना पुरुषार्थ समझता है। परन्तु यदि यह कहा जा सके कि पशु भी ईश्वर का भजन करता है तो वह अनिच्छा से ही ऐसा करता है, स्वेच्छा से नही। और मनुष्य तो अपनी इच्छा से शैतान की भी पूजा करता है। इसलिए मनुष्य का स्वभाव तो ईश्वर को जानना ही होना चाहिए। जब मनुष्य शैतान की पूजा करता है, तब वह अपने स्वभाव के प्रतिकूल कार्य करता है। यदि कोई यह मानता हो कि मनुष्य और पशु मे कोई जातिभेद नही है तो उसके लिए मेरी यह दलील अवश्य निरर्थक है। वह अवश्य कह सकता है कि पाप-पुण्य-जैसी कोई चीज नही। ईश्वर की जानकारी प्राप्त करने के स्वभाव से युक्त मनुष्य के लिए तो खाना-पीना इत्यादि भी केवल अमुक दृष्टि से ही स्वाभाविक हो सकता है। क्योकि ऐसा स्वभाव रखनेवाला मनुष्य खाने के लिए अथवा भोग के लिए नही खाये पीयेगा परन्तु ईश्वर की पहिचान करने के लिए ही भोजन करेगा। इसलिए खाने के प्रति वह हमेशा पसन्दगी, मर्यादा और त्याग का भाव ही दिखायेगा।

इसी प्रकार विचार करने से हमे यह भी मालूम होगा कि विषय-भोग मन स्वभाव के लिए प्रतिकूल वस्तु है। इस भोग का सर्वथा त्याग करना ही उसके

स्वभाव के अनुकूल है। और उस भोग का सर्वथा त्याग किये बिना ईश्वर की पहिचान करना भी असम्भव है। मनुष्य मे निहित सभी शक्तियो का सम्पूर्ण विकास करना उसका धर्म नही है, वह उसका स्वभाव नही है, परन्तु ईश्वर के निकट ले जानेवाली सर्वशक्तियो का विकास करना और उसके प्रतिकूल सारी शक्तियो का सर्वांश मे त्याग कर देना, ही उसका दोहरा धर्म है।

जिस प्राणी को ग्रहण करने की और त्याग करने की पसन्दगी अथवा स्वतन्त्रता है उसका काम पाप-पुण्य का भेद माने बिना चल ही नही सकता। पाप-पुण्य का दूसरा अर्थ है त्याज्य और ग्राह्य वस्तु। दूसरे की चीज उससे छीन लेना त्याज्य है, पाप है। हम मे अच्छी और बुरी वासनाए निहित है। बुरी वासनाओ का त्याग करना हमारा धर्म है। यदि हम ऐसा न करे तो हम मनुष्य-जन्म प्राप्त करने पर भी पशु बन जाते है। इसीलिए तो सभी धर्म पुकार-पुकार कर कहते है कि मनुष्य-जन्म दुर्लभ है। मनुष्य देह हमारी परीक्षा—कसौटी—करने के लिए दी गई है और हिन्दू धर्म कहता है कि इस कसौटी मे, परीक्षा मे, अनुत्तीर्ण होने पर हमे फिर पशुयोनि मे जाना होगा।

—न० जी०। हि० न० जी० १७।६।१९२६]

- मनुष्य ऊर्ध्वगति प्राणी है।
- विषय-भोग मनुष्य-स्वभाव के लिए प्रतिकूल वस्तु है।
- भोग का सर्वथा त्याग किये बिना ईश्वर की पहिचान करना असम्भव है।
- पाप-पुण्य का दूसरा अर्थ है त्याज्य और ग्राह्य वस्तु।
- मनुष्य देह हमारी परीक्षा.. करने के लिए दी गई है।

२६. प्रतिज्ञा का रहस्य

एक विद्यार्थी लिखते हैं—

"हम जो कार्य कर सकते हैं और जिसे करने की इच्छा भी रखते है, फिर भी कर नहीं पाते और जब वह कार्य करने का समय आता है तो मन की कमजोरी से या तो हमे अपनी प्रतिज्ञा स्मरण ही नहीं रहती अथवा स्मरण रहने पर भी हम उसकी अवहेलना कर देते है। ऐसा उपाय बताइए, कि हम उस कार्य को करने के लिए बाधित हो जाय और अवश्य करें।"

ऐसा प्रश्न किसके मन मे उत्पन्न न होता होगा? परन्तु प्रश्न मे गलतफहमी भी है। प्रतिज्ञा मनुष्य की उन्नति करती है। इसका एकमात्र कारण यह है कि

प्रतिज्ञा करते हुए भी उसके भग होने की गुजाइश होती है। प्रतिज्ञा कर चुकने के बाद अगर उसके भग होने की गुजाइश न हो तो पुरुषार्थ के लिए कोई स्थान न रहे। सकल्प तो सकल्पकर्त्ता-रूपी नाविक के लिए दीप के समान है। दीप की ओर लक्ष्य रखे तो अनेक तूफानो मे से गुजरते हुए भी मनुष्य उबर सकता है। परन्तु जिस प्रकार वह दीपक यद्यपि तूफान को शान्त नही कर सकता, तो भी वह उस तूफान के बीच से उसके सुरक्षित रूप से निकल जाने की शक्ति प्रदान करता है, उसी प्रकार मनुष्य का सकल्प हृदय-रूपी समुद्र मे उछाल मारती हुई तरगो से बचानेवाली प्रचण्ड शक्ति है। ऐसी हालत मे सकल्पकर्त्ता का पतन कभी न हो, इसका उपाय आजतक न ढूँढने से मिला है और न मिलनेवाला ही है। यह उचित भी है। यदि ऐसा न हो तो सत्य और यमनियमादि की जो महत्ता है, वह जाती रहेगी। सामान्य ज्ञान प्राप्त करने मे मनुष्य भारी प्रयत्न करता है, उत्तर-ध्रुव जैसी साधारण वस्तु का दर्शन करने के लिए अनेक मनुष्य अपनी जान-माल को जोखम मे डालने मे भय नही खाते है, तो राग-द्वेष रूपी महाशत्रुओ को जीतने के लिए उपर्युक्त प्रयत्नो की अपेक्षा सहस्रगुना प्रयत्न करना पडे, तो इसमे आश्चर्य और क्षोभ क्यो हो? इस प्रकार की अमर विजय प्राप्त करने के प्रयत्न करने मे ही सफलता है। प्रयत्न ही विजय है। यदि उत्तर ध्रुव का दर्शन न हुआ तो सब प्रयत्न व्यर्थ ही माना जाता है किन्तु जबतक शरीर मे प्राण रहे तबतक राग-द्वेष इत्यादि को जीतने मे जितना प्रयत्न किया जाय उतना हमारी प्रगति का ही सूचक है। ऐसी वस्तु के लिए थोडा प्रयत्न भी निष्फल नही होता, ऐसा भगवान का वचन है।

इसलिए मैं इस विद्यार्थी को इतना ही आश्वासन दे सकता हू कि उनको प्रयत्न करते हुए हर्गिज निराश न होना चाहिए। और सकल्प को भी नही छोडना चाहिए, बल्कि अशक्य शब्द को अपने शब्दकोश से पृथक् कर देना चाहिए। यदि सकल्प का स्मरण न रहे तो प्रायश्चित्त करना चाहिए। उनको पूरा ख्याल रखना चाहिए कि जहा भूले हो वही से फिर चले या मन मे दृढ विश्वास रखें कि अन्त मे जीत तो उन्ही की होगी। आज तक किसी भी ज्ञानी ने इस प्रकार का अनुभव नही बतलाया है कि असत्य की कभी विजय हुई है। वर सब ने एकमत होकर अपना यह अनुभव पुकार-पुकार कर बतलाया है कि अन्त मे सत्य ही की जय होती है। उस अनुभव का स्मरण करते हुए तथा शुभ काम करते हुए जरा भी सकोच न करना चाहिए और शुभ सकल्प करते हुए किसी को डरना भी न चाहिए। प० रामभजदत्त चौधरी एक कविता लिखकर छोड गये हैं। उसका एक पद यह है—'कधि नहिं हारना भावें साडी जान जावे।'

– हि० न० जी०, ५।८।१९२६]

० सकल्प तो सकल्पकर्त्ता-रूपी नाविक के लिए दीप के समान है।
० प्रयत्न ही विजय है।

२७. प्रेम की नीति

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

मनुष्य कुछ भी करे, तुम्हे तो उससे प्रेम ही करना है। अन्त मे तो आश्रम साबरमती मे नही है, अपने आपमे है। बुरे-से-बुरे आदमी को भी हमे शुद्ध मान कर चलना चाहिए। सबके साथ समान व्यवहार करने का और विरोधी चीजो के इस विश्व मे पानी मे कमल की तरह अलिप्त रहने का यही अर्थ है।

—सोदपुर कलकत्ता, ३।१।१९२७। बापू के पत्र मीरा के नाम, पृ० १७, न० जी० प्र० म०]

० अन्त मे तो आश्रम साबरमती मे नहीं है, अपने-आप मे है।

२८. भूल का प्रायश्चित्त

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

जहा भूल होने का ज्ञान हो, वहा अधिकाश मामलो मे सुधार कर लेने की तैयारी ही काफी प्रायश्चित्त और इलाज है।

—बनारस, १०।१।१९२७। बापू के पत्र मीरा के नाम, पृ० १८, न० जी० प्र० म०]

२९. नियमितता

[आश्रम की बहिनो को लिखे पत्र से]

नियमित किये गये काम का असर नियमित किये गये भोजन जैसा होता है। वह आत्मा का पोषण करता है। एक ही बार मे ज्यादा ली हुई खूराक जैसे शरीर को बिगाडती है, वैसे ही एक बार मे किये हुए अधिक काम से आत्मा को कष्ट होता है।

—शोलापुर, २१।२।१९२७। सोमवार माघ वदी ५, सम्वत् १९८३। बापू के पत्र आश्रम की बहिनो को, पृ० १९, न० जी० प्र० म०]

३०. सहिष्णुता : आलोचना की नीति

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

हमे उस वक्त कडी-से-कडी आलोचना करने का अधिकार मिल जाता है, जब हमारे पडोसियो को हमारे प्रेम का और हमारी ठीक रायो का विश्वास हो जाता है, और जब हमारे अन्दर यह यकीन हो जाता है कि हमारी राय न मानी गई या उस पर अमल नही किया गया तो हमे तनिक भी अशान्ति नही होगी। दूसरे शब्दो मे आलोचना करने के अधिकार के लिए हममे स्पष्ट समझ और पूरी सहिष्णुता की प्रेम-शक्ति होनी चाहिए।

—कुमार पार्क, बगलौर, १७।७।१९२७। बापू के पत्र : मीरा के नाम, पृ० ४८, न० जी० प्र० म०]

३१. हमारा मार्ग

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

खतरे तो जिधर जाय उधर ही मौजूद है। मगर कुछ भी हो जाय, हमे तो अपने मूल स्वभाव पर ही चलना चाहिए।

—२८।७।१९२७। बापू के पत्र . मीरा के नाम, पृ० ४९, न० जी० प्र० म०]

३२. धोखा नहीं दें

हमे अपने आपको, दूसरे को या जगत् को धोखा नही देना है। इसलिए जो कुछ मन मे भरा हुआ हो उसे प्रकट करना चाहिए। एक बार मन मे भरा हुआ मैल निकल जायगा, तो फिर नया भरने मे देर लगेगी। लेकिन यदि जरा भी मैल रहा तो जैसे मैले बरतन मे डाला हुआ साफ पानी भी मैला हो जाता है, वैसे ही मैले मन मे अच्छे विचार मिल जाय तो वे भी मैले बन जाते है। जिसके बारे मे हमे एक बार शक हो जाता है, उसकी तमाम बातो पर हमे शक रहने लगता है।

—१०।१०।१९२७। क्वार बदी १ सम्वत् १९८३। बापू के पत्र : आश्रम की बहिनो को, पृ० ५०, न० जी० प्र० म०]

३३. मिथ्याचारी और शुभ प्रयत्नकारी

गीताजी मे एक जगह कहा है कि जो ऊपर से सयम करके मन मे विषयो का सेवन करता है, वह मूढात्मा, मिथ्याचारी है, यह वाक्य पाखण्डी के लिए है। वही गीता जी सच्चा प्रयत्न करनेवाले के लिए कहती है कि प्रमाथी इन्द्रियो का बार-बार सयम करो।

—कटक, १९।१२।१९२७। मोनवार। बापू के पत्र आश्रम की बहिनो को, पृ० ६०, न० जी० प्र० म०]

३४. क्षमा का रहस्य

[खादी-सेवा-सघ के विद्यार्थियो को दिये गये उपदेश का अश—सम्पा०]

क्षमा आखिर है क्या ? क्या क्षमा केवल अक्रोध —क्रोधहीनता मात्र है ? क्रोध का कारण उपस्थित होने पर भी चुप्पी साध लेना, मार खा लेना, मार खाकर भी कुछ न बोलना, इसी मान्यता ने हिन्दुस्तान की जड खोद फेंकी है। बुद्ध भगवान ने जब कहा था कि अक्रोधेन जिने क्रोध—अर्थात् अक्रोध से क्रोध को जीतना चाहिए, तब क्या उनके मन मे यही धारणा होगी कि अक्रोध का अर्थ है कुछ नही करना, हाथ पर हाथ धरकर बैठे रहना ? मुझे तो ऐसा नही लगता। कहा है—क्षमा वीरस्य भूषणम्। तब क्या यह क्षमा केवल निष्क्रिय क्षमा होगी ? नही यह अक्रोध, यह क्षमा जब दया के रूप मे बदलती है, प्रेम का रूप धारण करती है, तभी यह शुद्ध क्षमा होती है, वीर का भूषण बनती है। क्रोध के बदले क्रोध न करते हुए क्रोधी के सामने जाकर कहिए कि तुम्हे क्रोध दिलाने के लिए माफी माँगता हू और फिर उसे नम्रता से समझाइए कि अगर दूसरा भाई कोई भूल भी करे तो क्रोध करना उचित नही है। यो, आत्मा की शक्ति का प्रयोग करने मे क्षमा समाहित है। क्षमा के बारे मे यह ज्ञान होना चाहिए कि यो आत्मा की शक्ति प्रकट करके हम जगत् का कल्याण करेंगे। यह सच है कि यह क्षमा वे ही दिखला सकते है, जिनमे यह ज्ञान हो। मगर यह ऐसा गुण है जो पैदा भी किया जा सकता है।

—न० जी०। हि० न० जी० १९।१।१९२८]

- ○ मार खा लेना और मार खाकर भी कुछ न बोलना, इसी मान्यता ने हिन्दुस्तान की जड खोद फेंकी है।
- ● आत्मा की शक्ति का प्रयोग करने मे क्षमा समाहित है।

३५. शान्तिपूर्वक काम करने की आदत

स्थितप्रज्ञ के श्लोक गानेवाले को शान्तिपूर्वक काम करने की आदत डालनी ही चाहिए।

—बारडोली, ६।८।१९२८। बापू के पत्र : आश्रम की बहिनो को, पृ० ६१, न० जी० प्र० म०]

३६. साधु का त्रास

[प्रश्नोत्तर]

प्रश्न—क्या आप साधु के अत्याचार के विषय मे जानते हैं? हैदराबाद मे एक साधु ने जुल्म से पैसा लेने का प्रयत्न किया। गुजरात के गांवो मे भी ऐसे साधु गाव-गाव जाकर बहुत कष्ट देते हैं; गरीब लोगो से जोर-जुल्म से सौ-पचास रुपये की रकम अपने भोजन, मिष्ठान्न के लिए निकलवाते है। हैदराबाद मे तो पुलिस थी। लेकिन गाव मे कहा से पुलिस बुलाई जाय?

उत्तर—लोगो को इस प्रकार दण्ड देनेवाले साधु कहलाने योग्य नही हैं। भगवा वस्त्र पहननेवाले या सिर्फ लगोटी से निर्वाह करनेवाले लोगो के भुलावे मे पडकर, वेश से भूलनेवाले इस देश के लोग उन्हे साधु के रूप मे पूजते है। वेश मात्र से कोई साधु नही बन सकता। इस देश मे साधु-वेश धारणकर हजारो असाधु घूमते है। साधु के रूप मे दीखनेवाले या भलीभाति प्रकट करते हुए असाधुओ से गाव वालो के डर जाने का कोई कारण नही । गाववालो मे साधु को पहचानने की शक्ति आनी चाहिए। उन्हे दुष्टो का डर छोडना चाहिए। उनका विरोध कर सकने की शक्ति पैदा करनी चाहिए।

—न० जी०। हि० न० जी०, ६।९।१९२८]

● वेश मात्र से कोई साधु नहीं बन सकता।

३७. गुण-चिन्तन

प्रत्येक गुण ढूंढकर उनका चिन्तन करना। दोष दिखे तब सोचना कि दोष-रहित ससार मे एक भी चीज नही होती। 'जड-चेतन गुण दोषमय' नामक दोहा गाना और उसका मनन करना।

—सक्खर, ९।२।१९२९। बापू के पत्र : कुसुम बहिन देसाई के नाम, पृ० १९, न० जी० प्र० म०]

३८. दुःख-निवारण

दुःख का निवारण उसके सहन करने में ही है। फिर कोई क्या कहता है, क्या करता है, कैसे रहता है—इसका विचार भी क्यों करें? हमें जो करना हो वह हम शान्ति और आनन्द से करें।

— सफर, ९।२।१९२९। बापू के पत्र कुसुम बहिन देसाई के नाम, पृ० १९, न० जी० प्र० म०]

३९ सेवा का क्षेत्र एवं शक्ति अमर्यादित है

सेवा का क्षेत्र अमर्यादित है। सेवा की शक्ति भी अमर्यादित बनाई जा सकती है, क्योंकि आत्मा की शक्ति की कोई मर्यादा नहीं है। जिसके हृदय के कपाट खुल गये हैं, उसके हृदय में तो सब कुछ समा सकता है।° ऐसे आदमी का तनिक-सा काम भी खिल उठता है। जिसके हृदय पर मुहर लगी हुई है, उसका ज्यादा काम भी नहीं के बराबर होगा। विदुर के शाक और दुर्योधन के मेवे में यही अर्थ छिपा हुआ है।

— गोरखपुर, ७।१०।१९२९। बापू के पत्र आश्रम की बहिनों को, पृ० ८३-८६, न० जी० प्र० म०]

° जिसके हृदय के कपाट खुल गये हैं उसके हृदय में सब कुछ समा सकता है।

४०. दृढ़ता

निश्चय करने की और उस पर डटे रहने की आदत डालने की बड़ी जरूरत है। कोई निश्चय करने के बाद यदि यह लगे कि उसमें पाप ही है, तो अलग सवाल है। पाप करने के निश्चय दुनिया में हो ही नहीं सकते।

— मेरठ, २८।१०।१९२९। बापू के पत्र आश्रम की बहिनों को, पृ० ८६, न० जी० प्र० म०]

४१. अवनति का उत्स

हम अपने में दोष न देखें और गुण ही देखा करें, तब हमारी अवनति का आरम्भ हुआ समझना चाहिए।

— शाहजहाँपुर, ११।११।१९२९। बापू के पत्र कुमारी प्रेमा बहिन कंटक के नाम, पृ० ६, न० जी० प्र० म०]

४२. महाव्रतों का माहात्म्य

महाव्रतो का तीनो काल (भूत, वर्तमान, भविष्य) मे पूरा-पूरा पालन करने मे जो समर्थ है, उसे जगत् मे कुछ भी करना बाकी नही रहता, वह भगवान है, मुक्त है। हम तो अल्पमुक्ति की इच्छा रखनेवाले (मुमुक्षु), जानने की इच्छा रखने वाले (जिज्ञासु), सत्य का आग्रह रखनेवाले और उसकी खोज करनेवाले जीव है। इसलिए गीता की भाषा मे धीरे-धीरे लेकिन अतन्द्रिल रहकर कोशिश करते रहे। ऐसा करेगे तो किसी दिन प्रभु की कृपा, उसके प्रसाद के लायक हो जायगे और तब हमारे तमाम रस और भोग की लालसाए जल जायगी।

— मगल प्रभात। १२।८।१९३०, पृ० २३, , न० जी० प्र० मं०, सस्करण १९५८]

४३. योगः कर्मसु कौशलम्

जो कर्त्तव्य-कर्म को समझता है और उस पर आचरण करता है, उसकी तृष्णा तो मिटती ही है। जिसकी तृष्णा नही मिटी उसे कर्त्तव्य-कर्म का भान ही नहीं है। तृष्णा का पर्वत तो इतना ऊचा है कि उसे कोई पार कर ही नही सकता। उसे धराशायी किये बिना अन्य कोई उपाय नही है। तृष्णा छोडना अर्थात् कर्त्तव्य का भान होना। मुझे मालूम हो कि मुझे काशी जाना है, वहा जाने का मार्ग भी मुझे मालूम हो, तो फिर मुझे कौन-सी तृष्णा उस मार्ग से —कर्त्तव्य से हटा सकती है? मेरी तृष्णा ही काशी के मार्ग पर जाने की हो और वह पूरी हो जाय, तो फिर बाकी क्या बचा? सहजप्राप्त सेवा तेरे पास है। उसे एकनिष्ठा से तू करती रहे, तो उसमे तुझे पूर्ण सन्तोष मिलना चाहिए। उसके सिलसिले मे जो साथ मिले, जो पढने को मिले वह ग्राह्य है, उसके सिवा दूसरी चीज का विचार भी नही होना चाहिए। यही मेरी दृष्टि मे 'योग कर्मसु कौशलम्' है। यही समत्व और समाधि है।

— यरवदा मन्दिर, २।१०।१९३०। बापू के पत्र कुमारी प्रेमा बहिन कंटक के नाम, पृ० २५, न० जी० प्र० म०]

४४. व्रत-पालन की नीति

जीवन को गढने के लिए व्रत कितने जरूरी हैं, इस पर यहा सोचना मुनासिब लगता है।

एक सम्प्रदाय ऐसा है और वह बलवान भी है, जो कहता है, 'अमुक नियमों का पालन करना ठीक है, लेकिन उसके बारे में व्रत लेने की जरूरत नहीं है, इतना ही नहीं वह मन को कमजोर बनाता है और नुकसान करनेवाला भी हो सकता है। और व्रत लेने के बाद ऐसा नियम अड़चन-रूप लगे या पाप-रूप लगे, तो भी उससे चिपके रहना पड़े यह तो सहन नहीं होता। वे कहते हैं, 'मिसाल के तौर पर शराब न पीना अच्छा है, इसलिए नहीं पीना चाहिए। लेकिन कभी पी ली गई तो क्या हुआ? दवा के तौर पर तो पीना ही चाहिए। इसलिए उसे न पीने का व्रत लेना तो गले में फन्दा डालने के बराबर है। और जैसा शराब के बारे में है वैसा और चीजों के बारे में भी है। भले के लिए झूठ भी क्यों न बोलें?'

मुझे इन दलीलों में कोई सार मालूम नहीं होता। व्रत का अर्थ है अटल निश्चय। अड़चनों को पार करने के लिए ही तो व्रतों की आवश्यकता है। अड़चन बर्दाश्त करते हुए जो टूटता नहीं, वही अटल निश्चय माना जायगा। ऐसे निश्चय के बगैर इन्सान लगातार ऊपर चढ़ ही नहीं सकता। सारी दुनिया का अनुभव ऐसी गवाही देता है। जो आचरण पापरूप हो उसके निश्चय को व्रत नहीं कहा जायगा। वह राक्षसी वृत्ति है। और जो निश्चय पहिले पुण्यरूप लगा हो और अन्त में पाप-रूप साबित हो, उसे छोड़ने का धर्म जरूरी हो जाता है। लेकिन ऐसी चीज के बारे में कोई व्रत नहीं लेता, न लेना चाहिए। सब धर्म जिसे मानते हैं, लेकिन जिसे आचरने की हमें आदत नहीं पड़ी है, उसके लिए व्रत लेना चाहिए। ऊपर की मिसाल में तो पाप का सिर्फ आभास हो सकता है। सच कहने से किसी को नुकसान पहुँचेगा तो इसका विचार सत्यवादी करने नहीं बैठेगा। सत्य से इस जगत् में किसी का नुक-सान नहीं होता, न होनेवाला है, ऐसा वह विश्वास रखे। इसी तरह शराब पीने के बारे में। या तो उस व्रत में दवा के तौर पर शराब लेने की छूट रहनी चाहिए, या छूट न रखी हो तो व्रत लेने के पीछे (बाद) शरीर का खतरा उठाने का निश्चय होना चाहिए। दवा के तौर पर भी शराब न पीने से देह छूट जाय तो भी क्या हुआ? शराब पीने से देह रहेगी ही, ऐसा पट्टा कौन लिखवा सकता है? और उस क्षण देह टिकी और दूसरे ही क्षण किसी और कारण से छूट गई, तो उसकी जिम्मेवारी किसके सिर होगी? इससे उल्टा, देह छूट जाय तो भी शराब न पीने की मिसाल का चमत्कारी असर शराब की लत में फँसे हुए लोगों पर होगा, यह दुनिया का कितना बड़ा फायदा है? देह छूटे या रहे, मुझे तो धर्म पालना ही है, ऐसा भव्य निश्चय करनेवाला ही ईश्वर की झाँकी किसी समय कर सकता है। व्रत लेना कम-जोरी की निशानी नहीं बल्कि, बल की निशानी है। अमुक बात करनी ठीक है तो फिर उसे करनी ही है—इसका नाम है व्रत। इसमें ताकत है। फिर उसे व्रत न

कहकर किसी और नाम से पहिचाने तो उसमे हर्ज नही। लेकिन जहा तक हो सकेगा करूँगा, ऐसा कहनेवाला अपनी कमजोरी का या अभिमान का दर्शन कराता है, भले ही वह खुद उसे नम्रता कहे। उसमे नम्रता की बू भी नही है। 'जहा तक हो सकेगा', ऐसा वचन शुभ निश्चयो मे जहर-जैसा है, यह मैंने तो अपने जीवन मे और बहुतो के जीवन मे देखा है। जहा तक हो सकेगा वहा तक करने के मानी (अर्थ) हैं पहिली ही अडचन पर गिर जाना। 'जहा तक हो सकेगा वहा तक सच्चाई का पालन करूगा,' इस वाक्य का कोई अर्थ ही नही है। व्यापार मे हो सका तो फला तारीख को फला रकम चुकाने की किसी चिट्ठी का कही भी चेक या हुण्डी के रूप मे स्वीकार नही होगा। उसी तरह जहा तक हो सके वहा तक सत्य का पालन करने वाले की हुण्डी ईश्वर की दूकान मे नही भुनाई जा सकती।

ईश्वर खुद निश्चय की, व्रत की सम्पूर्ण मूर्ति है। उसके कायदे मे एक जर्रा (कण) भी हटे तो वह ईश्वर न रह जाय। सूरज बडा व्रतधारी है। इसलिए जगत् का कालमान तैयार होता है और शुद्ध पचाग (पत्रा या जन्त्री) बनाये जा सकते है। उसने ऐसी साख जमाई है कि वह हमेशा उगा है और हमेशा उगता रहेगा, और इसलिए हम अपने को सलामत (सुरक्षित) मानते है। तमाम व्यापार का आधार एक टेक पर रहा है। व्यापारी एक दूसरे से बंधे हुए न रहे तो व्यापार चले ही नही। यो, व्रत सर्वव्यापक, सब जगह फैली हुई चीज दिखाई देता है। तब फिर जहा अपना जीवन गढने का सवाल उठता हो, ईश्वर के दर्शन करने का प्रश्न हो, वहा व्रत के बगैर कैसे चल सकता है? इसलिए व्रत की जरूरत के बारे मे हमारे दिल मे कभी सन्देह पैदा ही न होना चाहिए।

— १४।१०।१९३०। मंगल-प्रभात, पृ० ६०, ६१, ६२, ६३, न० जी० प्र० म० संस्करण १९५८]

- व्रत का अर्थ है अडिग निश्चय।
- देह छूटे या रहे मुझे तो धर्म पालना ही है, ऐसा भव्य निश्चय करनेवाला ही ईश्वर की झाकी......कर सकता है।
- व्रत लेना कमजोरी की नहीं बल्कि बल की निशानी है।
- ईश्वर खुद निश्चय की, व्रत की सम्पूर्ण मूर्ति है।

४५. यज्ञ और उसका व्यापक अर्थ

इस लोक मे या परलोक मे कुछ भी बदला लिये या चाहे बिना परार्थ के लिए किये हुए किसी भी कर्म को यज्ञ कहेगे। कर्म कायिक हो, मानसिक हो, अथवा

वाचिक, उसका विशाल-से-विशाल अर्थ लेना चाहिए। परार्थ के लिए का मतलब केवल मनुष्य वर्ग नहीं, बल्कि जीवनमात्र लेना चाहिए और अहिंसा की दृष्टि से भी, मनुष्य जाति की सेवा के लिए भी, दूसरे जीवों को होमना या उनका नाश करना यज्ञ की गिनती में नहीं आ सकता। वेदादि में अश्व, गाय इत्यादि को होमने की जो बात आती है उसे हमने गलत माना है। वहां पशु-हिंसा का अर्थ लें तो सत्य और अहिंसा की तराजू पर ऐसे होम नहीं चढ़ सकते, इतने में हमने सन्तोष मान लिया है। जो वचन धर्म के नाम से प्रसिद्ध हैं उनका ऐतिहासिक अर्थ करने में हम नहीं फँसते और वैसे अर्थों के अन्वेषण की अपनी अयोग्यता हम स्वीकार करते हैं।

उक्त व्याख्या के अनुसार विचारने पर हम देख सकते हैं कि जिस कर्म में अधिक-से-अधिक जीवों का, अधिक-से-अधिक क्षेत्र में कल्याण हो और जो कर्म अधिक-से-अधिक मनुष्य अधिकाधिक सरलता से कर सकें और जिसमें अधिकाधिक सेवा होती हो, वह महायज्ञ या अच्छा यज्ञ है। अतः किसी की भी सेवा के निमित्त अन्य किसी का अकल्याण चाहना या करना यज्ञ-कार्य नहीं है और यज्ञ के अलावा किया हुआ कार्य बन्धनरूप है।

ऐसे यज्ञ के बिना यह संसार क्षण भर भी नहीं टिक सकता। इसलिए गीताकार ने साफ शब्दों में कहा है कि हम यज्ञ को जन्म से ही साथ लाये हैं। यहां तक कि हमें यह शरीर केवल परमार्थ के लिए मिला है और इसलिए जो यज्ञ किये बिना खाता है वह चोरी का खाता है। जो शुद्ध जीवन बिताना चाहता है, उसके सब काम यज्ञ-रूप होते हैं। हमारे यज्ञ-सहित जन्म लेने का मतलब है कि हम हमेशा के ऋणी हैं। इसलिए हम संसार के सदा के गुलाम हैं। और जिस प्रकार स्वामी दास को सेवा के बदले में खाना-कपड़ा आदि देता है उसी प्रकार जगत् का स्वामी हमसे गुलामी लेने के लिए हमें जो अन्नवस्त्रादि देता है, उसे कृतज्ञतापूर्वक लेना चाहिए। यह न समझना चाहिए कि जो मिलता है उतने का भी हमें अधिकार है, न मिलने पर मालिक को दोष न दें। यह देह उसकी है, जिसे वह चाहे तो रखे या न रखे। यह स्थिति दुःखद नहीं है, न दयनीय है। यदि हम अपना स्थान समझ लें तो यह स्वाभाविक, इसलिए सुखद और चाहने योग्य, है। ऐसे परम सुख के अनुभव के लिए अचल श्रद्धा अवश्य (होनी) चाहिए। अपने लिए कोई चिन्ता न करना, सब परमेश्वर को सौंप देना, ऐसा आदेश मैंने तो सब धर्मों में पाया है।
—मंगल-प्रभात, २१।१०।१९३०। गीता-बोध, पृ० २६, २७, २८, स० सा० म०, संस्करण १९५४]

- जीवों को होमना या नाश करना यज्ञ की गिनती में नहीं आ सकता।
- यज्ञ के अलावा किया हुआ कार्य बन्धन रूप है।

- जो यज्ञ किये विना खाता है चोरी का खाता है।
- जो शुद्ध जीवन विताना चाहता है, उसके सब काम यज्ञ-रूप होते हैं।

४६. योग

जो भी नतीजा हो, उसके विषय मे निश्चिन्त रहकर तथा समता रखकर मनुष्य को अपने कर्त्तव्य मे तन्मय रहना चाहिए। इसका नाम योग है और इसी मे कर्म-कुशलता है।

— सोमप्रभात, १७।११।१९३०। गीताबोध, पृ० ११, स० सा० मं०, सस्करण १९५४]

४७. गोपनीयता : धर्माधर्म

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

गुप्तता के बारे मे तुम्हारे प्रकट किये हुए विचारो मे कुछ गडवड मालूम होती है। अगर कोई कसाई मुझसे पूछे कि गाय किधर गई है, तो उसे वता देना हर्गिज धर्म नही है। मैं उसे गलत रास्ता भी न बताऊ और न यह बताऊ कि गाय कहा गई। इतना ही नही, मैं गाय को छिपा भी सकता हू। ऐसा करना सचमुच मेरा धर्म होगा। इस दृष्टान्त से हम परिस्थिति के अनुसार अपना आचरण निश्चित कर सकते है।

— १२।१।१९३१। बापू के पत्र : मीरा के नाम, पृ० १२२, न० जी० प्र० मं०]

४८. अन्तर्बाह्य शुचिता

हमे आत्मा का बोध है, इसलिए हमारी सफाई भीतर-बाहर दोनो की होनी चाहिए। पर अन्दर की सफाई तो सचाई है। सफाई ही सबसे वडी पवित्रता, इसलिए स्वच्छता है। हम बाहर से साफ-सुथरे हो और अन्तर मैला हो तो या तो यह आडम्बर मात्र है, या दम्भ है, विषयभोग की निशानी है। इसलिए सयमी स्त्री-पुरुषो की स्वच्छता अन्तर की पवित्रता का लक्षणरूप ही हो तो काम की है।

हमारा शरीर हमारा महामन्दिर है। हम उसमे बाहर से कोई मैल न भरें। अन्दर मन को कुविचारो से मलिन न करें। इस शौच को साधनेवाला अपने हर

एक काम मे स्वच्छता प्रकट करेगा। यह उसके लिए स्वाभाविक वस्तु हो जानी चाहिए।

—यरवदा मन्दिर, ९।५।१९३२। आश्रमवासियो से, पृ० ३३]

४९. रामायण की एक शिक्षा : विषमताओ का सहन

खलबली के बिना जीवन बहुत नीरस बन जायगा। इसलिए जीवन की विपमताए सह लेने मे ही समझदारी है। रामायण मे हमे जो कीमती पाठ मिलता है, वह यही है।

—१७।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १५५]

- जीवन की विपमताए सह लेने मे ही समझदारी है।

५०. दुर्वृत्तियों पर विजय : हमारा धर्म

[श्री दाऊभाई को लिखे पत्र से]

बुरे विचारो और वृत्तियो के खिलाफ शेर की तरह जूझना। जूझना हमारा धर्म है। जीत होना ईश्वर के हाथ है। हमारा सन्तोप जूझने मे ही है। हमारा जूझना सच्चा ही होना चाहिए। सत्सग मे रहना। इसके लिए सद्वाचन चाहिए।

—२९।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १८३]

- बुरे विचारो ओर वृत्तियो के खिलाफ जूझना हमारा धर्म है।
- जीत होना ईश्वर के हाथ है।

५१. जीवित व्यक्ति की मूर्ति का ध्यान

[श्री विनोबा भावे के भाई श्री भाऊ को लिखे पत्र से]

जीवित लोगो की मूर्ति का ध्यान अच्छी बात नही है। जिसका ध्यान करे उसमे पूर्णता का आरोपण होता है, होना चाहिए। जीवितो मे किसी को पूर्ण न कहा जाय। रामायण आदि मे जो चित्र आते है, वे अच्छे नही होते। किन्तु मूर्ति की आवश्यकता क्यो ? ईश्वर निराकार, निर्गुण है। उसका ध्यान क्या न करे ? यदि यह अशक्य है, तो ओंकार का ध्यान किया जाय, अथवा अपनी कल्पना की मूर्ति का। गीता माता का ही ध्यान क्यो नही ? उसे कामधेनु की उपमा दी है।

इस धेनु का ध्यान किया जाय। इसमे बहुत अर्थ पाये जाते है। वैसे भी जीवितो की मूर्तियो का ध्यान हानिकर हो सकता है। इसलिए त्याज्य समझो।
— ३०।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १८८]

० ईश्वर निराकार, निर्गुण है।

५२. जिज्ञासु की शंका

जिज्ञासु को जिसपर श्रद्धा हो, उससे तात्विक निर्णय कम से कम मांगना चाहिए। काल्पनिक शकाओ का निवारण कभी न कराना चाहिए। अपने को कोई कदम उठाना हो और उसके बारे मे शक हो, तो उस पर सवाल जरूर पूछा जा सकता है। किसी घटना के बारे मे पूछना हो तो उस वक्त उस घटना का हाल बताना चाहिए। उस घटना के आधार पर कोई सार्वजनिक प्रश्न कभी नही बनाना चाहिए, क्योकि इस तरह प्रश्न बनाते समय असली चीज मे से कुछ न कुछ रह जाने की सम्भावना है।
— ३०।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १८५]

५३. तितिक्षा और यज्ञ

कोढ़ से पीड़ित एक भाई ने नीचे लिखे उद्गार प्रकट किये हैं:—

"मेरा यह विश्वास दिन-दिन बढ़ता जा रहा है कि मुझ-जैसे रोगियों के लिए आसन-प्राणायाम आदि सामान्य क्रियाए और यज्ञ करने के बाद प्राप्त किया हुआ अन्न अच्छी-से-अच्छी चीज है। गीता इत्यादि के पाठ मे, भजन गाने मे, ध्यान में और कम-से-कम ५०० गज सूत कातने मे मेरा समय जाता है। हमारा धर्म तितिक्षा सिखाता है, और तितिक्षा का अर्थ तो यह है—सब दुखो को मन मे बिना विरोध किये, बिना चिन्ता किये, बिना कलपे सहन करना। यह सहन-शक्ति अपने आप मे उत्पन्न कर रहा हूँ और यह यत्न करते हुए यह अनुभव कर रहा हूं कि अगर हम कोई भी यज्ञकार्य न करते हो तो ऐसी तितिक्षा आती नहीं। मुझ-जैसे आदमी से दूसरा-तीसरा यज्ञकार्य तो हो नहीं सकता, इसलिए आम रास्ता साफ करना, मैला साफ करना और कातना यही यज्ञ ईश्वर-कृपा से खुले हुए हैं और इनसे आनन्द प्राप्त कर लेता हूं और सहनशक्ति बढ़ा रहा हूं। पर अक्सर मन मे यह विचार आता है कि अगर शरीर ऐसा हो जाय कि यज्ञ विल ल हो ही न सके तो ? शास्त्र तो पुकार-पुकार कर कहते हैं, आपने अक्सर कहा और लिखा है और

मैंने अनुभव भी किया है कि यज्ञहीन जीवन मृतवत् है, भाररूप है, और जगत् के लिए त्रास उपजाने वाला है। तब सवाल यह पैदा होता है कि अगर मनुष्य व्याधि से इतना अधिक घिर जाय कि उससे किसी भी प्रकार का यज्ञ हो ही न सके और उसका शरीर प्रतिक्षण दूसरों की सेवा पर ही टिक रहा हो, तो ऐसे समय क्या कर्त्तव्य है। किसी-किसी शास्त्र में यह भी पढ़ा है कि जब आदमी को ऐसा असाध्य रोग हो जाय तब वह पानी में डूब कर या ऐसे ही किसी और उपाय से प्राण-त्याग करे।"

यह एक सुन्दर पत्र का मेरी भाषा में किया हुआ खुलासा है। इस पत्र में अपने लोगों के लिए तो मैं इतना ही अर्थ निकालना चाहता हूं कि इस भाई ने जैसी लिखी है वैसी सहनशक्ति हम सब अपने में उत्पन्न करें और रोग से पीड़ित होते हुए भी शरीर जबतक बोझा उठा सके तबतक यज्ञ करते ही रहें। सहनशक्ति बढ़ाना और यज्ञ करना दोनों बातें बहुत पुरानी हैं। आश्रम में तो पद पद पर हम इन्हें सुनते हैं, पर जब किसी अनुभवी की कलम से यह बात हमारे पास आती है तब नई-सी मालूम होती है और उसमें खूब शक्ति भरी हुई होती है। कोढ़ से पीड़ित जनों से ऐसी भाषा और ऐसे अनुभव की आशा हम नहीं रखते। आम तौर से ऐसे लोग अगर लिखते हैं तो अपना दुखड़ा रोते हुए दिखाई देते हैं। यहां हमें एक निराली ही चीज का अनुभव हुआ है। इसी से इस पत्र का सार मैंने आश्रमवासियों के लिए लिख दिया है। इसमें जो शंका उठाई गई है वह भी विचारने योग्य है।

यज्ञ का अर्थ हम परोपकार के लिए मन लगाकर किया हुआ कोई भी शारीरिक कर्म करते हैं, पर इससे यह मान लेना जरूरी नहीं है कि जो शरीर से अशक्त है वह यज्ञहीन है। जो शरीर से सर्वथा अशक्त है वह अपने मानसिक बल से अनेक प्रकार की सेवा कर सकता है और वह अवश्य यज्ञरूप मानी जायगी, पर ऐसी स्थिति की कल्पना की जा सकती है जहां अपना होश-हवास इस काबिल न हो कि यज्ञ किया जा सके, वैसा मनोबल न हो फिर भी यज्ञकर्म करने की तीव्र इच्छा हो। देह के विषय में उदासीनता आ गई हो, दूसरों की सेवा लेने में दुःख होता हो, बीमारी प्राणघातक है, इसका अपने आपको इतमीनान हो गया हो। मेरा ख्याल है कि ऐसी हालत में जिसमें ऐसी शक्ति हो उसको प्राण-त्याग करने का पूर्ण अधिकार है, धर्म है, यह भी शायद कहा जा सके। पर धर्म है, यह कहना, सुननेवाले को आघात पहुँचाने वाला वाक्य समझा जायगा। जीने वाले के मुंह से दूसरे के लिए प्राण-त्याग धर्म है, कहना शोभा न देगा, और यह वाक्य सुननेवाला व्याधिग्रस्त मनुष्य शायद व्याकुल भी हो जाय। पर मैंने, यह मानकर कि ऐसा अनर्थ यहां होना सम्भव नहीं जो मुझे उचित जान पड़ा उसे मर्यादापूर्वक लिख डाला है। अगणित उपाय

करके और असीम सेवा लेकर भी जीने की तृष्णा घट जाय और मृत्यु का हो गया भय दूर हो जाय तो यह चाहने योग्य बात है। यही दृष्टि रखकर लिखा है कि समझदार मनुष्य असाध्य रोग के समय प्राणत्याग को धर्म माने तो यह मानने के लिए कोई कारण नही कि वह गलत ही कर रहा है।

—यरवदा मन्दिर, ९।६।१९३२। आश्रमवासियो से पृ० ४३–४४–४५]

५४. कुविचारों का प्रकटीकरण

[एक पत्रांश]

तुम आत्मविश्वास खो बैठो, यह ठीक नही है। बुरे विचार मनुष्य को अक्सर आते है। मगर जैसे घर मे कूडा-करकट भर जाने पर जो उसे समय-समय पर निकालता रहता है उसके लिए कहा जाता है कि वह साफ है और अपना घर साफ रखता है, उसी तरह कुविचारो के आते ही जो (उन्हे) साफ करता रहे, उसकी सदा जय ही है। वह कभी दम्भी नही कहलाता। इस दम्भ से बचने के लिए मैंने सुवर्ण उपाय यह बताया है कि हमे इन विचारो को कभी नही छिपाना चाहिए, बल्कि जाहिर कर देना चाहिए। उनकी डौडी पीटने की भी जरूरत नही है। किसी न किसी मित्र से जरूर कह देना चाहिए। और मन की यह स्थिति होनी चाहिए कि सारी दुनिया जान ले तो भी हर्ज नही।

— १७।६।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० २२२]

५५. ईश्वराकांक्षी

[श्री परशुराम को लिखे पत्र से]

जो आदमी ईश्वर को चाहता है, वह रोज आठ घण्टे के हिसाब से अपना काम नही मापता। वह हरदम काम करता ही रहता है। उसे छुट्टी होती ही नही। जब मौका मिलता है वह भलाई करता रहता है। उसे सदा और सर्वत्र प्रभु-प्रीत्यर्थ काम करने का अवसर मिलता ही है। वह जहा जाता है वहा अपनी सुगन्ध फैलाता है।

— १७।६।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० २२१-२२२]

५६. शून्यवत् स्थिति

[सुश्री मंगला के पत्र का उत्तर]

शून्यवत् होकर रहने का मतलब है अच्छी (बढ़िया चीजें) लेने में सबसे पीछे रहना। सबकी सेवा करना, उपकार की आशा न रखना और कष्ट-सहन करने में दूसरों की पहल करना। जो इस तरह शून्यवत् रहेगा, वह अपने कर्तव्य में लगा हुआ ही रहेगा।

—३।७।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० २६६]

५७. मोक्ष-हेतु सेवा

[श्री मैथ्यू को लिखे पत्र से]

गीता में कहा है—मनुष्य ही अपने मोक्ष या बन्धन का कारण है। यह मोक्ष प्राप्त करने के लिए ही मैं कहता हूँ कि हमें परिया[1] और मजदूरों की तरह सेवा करनी चाहिए।

—९।७।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० २७५]

५८. मृत्यु में आनन्द

[चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य को लिखे पत्र से]

हम ईश्वर को पहिचानते हैं, तो मृत्यु में भी आनन्द मानना सीखना ही चाहिए।

—२६।७।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ३२४]

५९. गुणों का मोह

[एक पत्रांश]

हम व्यक्ति का मोह न रखें। व्यक्ति के गुणों का मोह हो सकता है, परन्तु वह मोह शुद्ध प्रेम का होगा। सबके गुण कुछ न कुछ कार्यरूप में परिणत होते हैं। अगर

---

१ दक्षिण भारत की एक शूद्र जाति।

हम उन गुणो को अच्छा समझते हो, तो उनसे जो कार्य मूर्तिमन्त हो उसे उत्तेजन देना चाहिए।...

— ३१।७।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ३३१]

६०. गुण-पूजा

[एक पत्रांश]

व्यक्ति के बजाय गुण-पूजा करनी चाहिए। व्यक्ति तो गलत साबित हो सकता है और उसका नाश तो होगा ही, गुणो का नाश नही होता।

— ३१।७।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ३३१]

६१. बन्धुभाव का धर्म

[सुश्री एस्थर मेनन को लिखे पत्र से]

बन्धुभाव अभी तो दूर का सपना है। सच्ची आध्यात्मिकता की मुझे यह कसौटी मालूम होती है। जबतक जीवमात्र के साथ एकता महसूस न हो, जबतक प्रार्थना, उपवास, जप-तप सब थोथी बातें है। मगर अभी तक तो हमने यह चीज बुद्धि से भी नही मानी। फिर हृदय के साक्षात्कार की तो बात ही क्या ? अभी तो हम अच्छे-बुरे देखने लगते हैं। बन्धु भाव मे किसी तरह का हिसाब नही लगाया जाता, वापस जवाब मिलने की जरूरत नही होती। अगर हम ऐसे भेदभाव करने लगेंगे तो जिन्हे हम दुष्ट आदमी मानते हैं, उन स्त्री-पुरुषो के साथ प्रेम-भाव नही रख सकते। आजकल के कलह और रोग-द्वेष के बीच ऐसा करना बहुत कठिन है। फिर भी सच्चा धर्म तो हमसे यही माँग रहा है। .

—४।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ३४०]

- जबतक जीवमात्र के साथ एकता महसूस न हो तबतक प्रार्थना, उपवास, जप-तप सब थोथी बातें हैं।

६२. नम्रता की नीति

[सुश्री प्रेमा बहिन कंटक को लिखे पत्र से]

दुनिया के सामने खडे रहने के लिए घमण्ड या गुस्ताखी पैदा करने की जरूरत नही है। ईसामसीह दुनिया के खिलाफ हुए, बुद्ध भी अपने युग के विरुद्ध

हुए, प्रह्लाद ने भी ऐसा ही किया। ये सब नम्रता की मूर्ति थे। इसके लिए आत्म-विश्वास और भगवान पर श्रद्धा चाहिए। घमण्ड में आकर विरोध करने वाले अन्त में गिरते ही है।

—१२।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ३५४]

६३. क्रोध-निग्रह

[एक लडकी को लिखे पत्र से]

क्रोध आये तब क्या करे, यह प्रश्न न करके पूछना चाहिए कि क्रोध न आय, इसके लिए क्या करे? क्रोध न आये, इसके लिए सबके प्रति उदारता सीखनी चाहिए और यह भावना बनानी चाहिए कि सब में हम है और हममें सब है। जैसे समुद्र की सब बूँदें अलग होने पर भी एक ही है, वैसे ही हम इस ससार-सागर में है। इसमें कौन किस पर क्रोध करे?

—१४।८।१९३२। म० भा० डा० भाग १, पृ० ३५६]

० जैसे समुद्र की सब बूँदें अलग होने पर भी एक ही हैं, वैसे ही हम इस ससार-सागर मे हैं।

६४. आचार प्रथम धर्म

['आचार प्रथमो धर्म' सूत्र का रहस्य जानने के इच्छुक एक जिज्ञासु को लिखे पत्र से]

आचार का अर्थ केवल बाह्याचार है और बाहरी आचार समय-समय पर बदला जा सकता है। भीतरी आचरण हमेशा एक ही हो सकता है। यानी सत्य, अहिंसा आदि पर स्थिर रहना, और इस पर कायम रहते हुए बाह्याचार को जहा जहा बदलना पडे वहा बदला जा सकता है। शास्त्र मे कहा है कि आचार प्रथम धर्म है। यह कहकर या मानकर किसी चीज पर डटे रहने की जरूरत नही हो सकती। स्मृति मे दिये हुए सभी विचार कोई शास्त्र नही है। मानव धर्मशास्त्र के नाम से पहिचाना जानेवाला ग्रन्थ भी सचमुच शास्त्र नही है। शास्त्र पुस्तको मे लिखी हुई चीज नही है। वह जीवित वस्तु होनी चाहिए। इसलिए चरित्रवान, ज्ञानी या जिसके कहने और करने मे भेद न हो उनका कथन ही हमारा शास्त्र है, और ऐसी कोई मशाल हमारे हाथ मे न हो तब अगर हमे सच्चा मिले तो, तो हमे जो सत्य मालूम हो वही हमारा शास्त्र है।

—१५।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ३५९]

- आचार का अर्थ केवल बाह्याचार है और बाहरी आचार समय-समय पर बदला जा सकता है।
- शास्त्र पुस्तकों मे लिखी हुई चीज नहीं है।
- जिसके कहने और करने मे मेल है उसका कथन ही हमारा शास्त्र है।

६५. वैचारिक व्यभिचार, चित्तशुद्धि एवं ब्रह्मचर्य

[श्री दरबारी को लिखे पत्र से]

यह कहना मुझे ठीक नही मालूम होता कि ऐसा क्रम है कि मनुष्य कुछ समय निकम्मे विचार करने मे बिताता है। अगर इसमे एक भी अपवाद हो, तो यह नही कह सकते कि ऐसा नियम है। और अपवाद तो हमे बहुत-से नजर आते है। इतना सही है कि अनगिनत लोग तरह-तरह के मसूबे यानी बेकार विचार किया करते है। ऐसा न हो तो एकाग्रता वगैरह पर जो जोर दिया जाता है, उसकी जरूरत ही न हो। हमारे लिए अभी जो चीज काम की है वह यह है—हम खुद तरह-तरह के घोडे दौडाते है, अनेक प्रकार के विचार करते है। उनमे से बहुत तो याद भी नही रहते। यह सब विचारो का व्यभिचार कहलाता है।

जैसे मामूली व्यभिचार से इमान अपने शरीर की शक्ति को बर्बाद करता है वैसे ही विचारो के व्यभिचार से मानसिक शक्ति का नाश करता है। और जैसे शारीरिक कमजोरी का मन पर असर पडता है, वैसे ही मन की अशक्ति का असर शरीर पर होता है। इसीलिए मैंने ब्रह्मचर्य की व्यापक व्याख्या करके निरर्थक विचारो को भी ब्रह्मचर्य का भग ही माना है। ब्रह्मचर्य की सकुचित व्याख्या करके हमने उसे ज्यादा मुश्किल चीज बना दिया है। व्यापक व्याख्या को मानकर हम इन्दिय मात्र का, ग्यारहो[1] इन्द्रियो का, सयम करे तो एक इन्द्रिय को काबू मे रखना मुकाबले मे बहुत आसान हो जाता है। तुम अन्दर ही अन्दर ऐसा मानते दीखते हो—बाह्य कर्म करने मे आन्तरिक शुद्धि का अवलोकन रह जाता है या कम होता है। मेरा अनुभव इससे बिल्कुल उलटा है। बाहरी कार्य आन्तरिक शुद्धि के बिना निष्काम भाव से हो ही नही सकता। इसलिए अधिकतर आन्तरिक शुद्धि का हिसाब बाह्य कर्म की शुद्धि से ही लगाया जाता है। जो बाह्य कर्म के बिना आन्तरिक शुद्धि करने लगेगा, उसे भुलावे मे पड जाने का पूरा डर रहता है। इस तरह के

---

१. पांच ज्ञानेन्द्रिया : चक्षु, कर्ण, त्वक्, नासिका, जिह्वा पाच कर्मेन्द्रियां : हस्त, पाद, वाक्, गुदा और उपस्थ और ग्यारहवीं इन्द्रिय मन।

उदाहरण मैंने बहुत देखे हैं। एक मामूली मिसाल ही देता हूं। मैंने देखा है कि जेल में बहुत-से साथियों ने तरह-तरह के अच्छे निश्चय किये। मैंने यह भी देखा कि बाहर निकलने पर वे निश्चय पहिले ही सपाटे में खत्म हो गये। जेल में तो उन्होंने यही मान लिया था कि उनका निश्चय कभी नहीं बदलेगा, आन्तरिक शुद्धि पूरी हो गई है, अवलोकन शान्ति में हुआ है और प्रार्थना में एकाग्रता आ गई है। मगर चारदीवारी से निकलते ही यह सब काफूर होते मैंने देखा है।

गीता जी के तीसरे अध्याय का पांचवां श्लोक[1] बहुत ही चमत्कारिक है भौतिकशास्त्री बता चुके हैं कि इसमें बताया हुआ सिद्धान्त सर्वव्यापक है। इसका अर्थ यह है कि कोई भी आदमी एक क्षण भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। कर्म का अर्थ है गति, और यह नियम जड-चेतन सबके लिए लागू है। मनुष्य इस नियम पर निष्काम भाव से चलता है, तो यही उसका ज्ञान और यही उसकी विशेषता है। इसी की पूर्ति में ईशोपनिषद् के दो मन्त्र हैं और वे भी इतने ही चमत्कारी हैं।

बुद्ध भगवान की आलोचना मेरे-जैसा क्या करेगा? मैं तो उनका पुजारी हूं। मगर रचना बुद्ध भगवान ने की थी या उनके बादवालों ने? कुछ भी हुआ हो, मगर जो संघ बने वे इस सर्वव्यापक नियम के अनुसार जडवत् हो गये और अन्त में आलसी के नाम से मशहूर हुए। आज भी सीलोन, ब्रह्मदेश और तिब्बत में बौद्ध साधु ज्ञानहीन और आलस्य के ही पुतले पाये जाते हैं।

हिन्दुस्तान में भी सन्यासी नाम से पुकारे जानेवाले साधु चमकते हुए नजर नहीं आते। इससे मुझे ऐसा लगता है कि सच्ची और शाश्वत चित्त-शुद्धि मनुष्य कर्म करते हुए ही कर सकता है। फिर गीता का वचन उद्धृत करने की मन में आती है। चौथे अध्याय के अठारहवें श्लोक[2] का अर्थ यह है कि जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है वही बुद्धिमान है, वही योगी है और वही पूरा कर्मी है, मगर यह तो मैंने अपने अनुभव की बात लिखी। गीता के श्लोक इसलिए उद्धृत किये हैं कि इनमें जो शिक्षा भरी है वही मेरे अनुभव में आई है। जिन शास्त्र वचनों को मैंने अनुभव में नहीं परखा है, उन्हें मैं उद्धृत नहीं करता। मेरे अनुभव के विरुद्ध दूसरा का अनुभव हो सकता है, और वे शायद गीता में से विरोधी वचन भी उद्धृत कर सकते हैं। और मैं जो श्लोक उद्धृत करता हूं, सम्भव है उन्हीं श्लोकों का दूसरे लोग दूसरा

---

१ न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवश कर्म सर्व प्रकृतिजैर्गुणै ॥

२ कर्मण्यकर्म य पश्येदकर्मणि च कर्म य ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्त कृत्स्नकर्मकृत ॥

अर्थ करके अपने अनुभव के समर्थन मे उद्धृत कर सके। इसलिए मेरा अनुभव मान लेने के बारे मे मुझे किसी तरह का आग्रह नही हो सकता।

— २३।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ३७३, ३७४, ३७५]

- जैसे मामूली व्यभिचार से इसान अपने शरीर की शक्ति को बर्बाद करता है, वैसे ही विचारो के व्यभिचार से मानसिक शक्ति का नाश करता है।
- बाहरी कार्य आन्तरिक शुद्धि के बिना निष्काम भाव से हो ही नहीं सकता।
- आन्तरिक शुद्धि का हिसाब बाह्य कर्म की शुद्धि से ही लगाया जाता है।
- कोई भी आदमी एक क्षण भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता।
- कर्म का अर्थ है गति।
- सच्ची और शाश्वत चित्त-शुद्धि मनुष्य कर्म करते हुए ही कर सकता है।
- जो कर्म मे अकर्म और अकर्म मे कर्म देखता है वही बुद्धिमान है, वही योगी है और वही पूरा कर्मी है।

६६. मौन

[एक पत्रांश]

हमारे यहा मौन की बडी महिमा है। समाधि मौन ही है। मुनि शब्द भी इसी से निकलता है। मौन के समय पहिले पहल नीद आती है और तरह-तरह के विचार आते हैं, यह सब सच है। इसे दूर करने के लिए ही मौन की जरूरत है। हमे बहुत बोलने और आवाजें सुनने की आदत पड गई है। इसलिए मौन कठिन लगता है। थोडे अभ्यास से वह अच्छा लगने लगेगा और अच्छा लगने के बाद उससे जो शान्ति मिलेगी वह अलौकिक होगी। हम सत्य के पुजारी हैं, इसलिए हमे मौन का अर्थ जानकर उस अर्थ के अनुसार ही मौन-पालन की कोशिश करनी चाहिए। मौन मे भी राम-नाम तो रटते ही रहे। असल बात यह है कि हमारा मन मौन के लिए तैयार होना चाहिए . .

— २८।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ३८१, ३८२]

६७. दोष-दर्शन-नीति

[एक पत्रांश]

अपने पडोसी के हमेशा गुण देखने चाहिए, अपने सदा दोष देखने चाहिए। तुलसीदास-जैसे भी अन्त मे अपने को कुटिल कहते हैं।

— ११।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १५]

६८. गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्

[श्री बबल भाई को लिखे पत्र से]

अमुक काम करना अच्छा है—यह निश्चय हो जाने के बाद उसे करने मे एक क्षण भी नही रुकना चाहिए, क्योकि सिर पर मौत लटक रही है। इसलिए अच्छे काम के आरम्भ मे देर करने से सारा सौदा ही रह जाता है, क्योकि जीव देह छोडता है, तब आरम्भो को साथ ले जाता है। अमल न होनेवाले विचार तो उसके नाम लिखे जाते है। मान लो, रेल मे जाते समय मैंने साथ मे पाच रुपये ले जाने का विचार किया, मगर आलस्य के मारे नही लिये। गाडी मे बैठा। विचारो को तो मै भुना नही सकता। और वे मेरे दिमाग पर बोझ बनकर मुझे कुरेदते रहेगे।

— ११।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १४, १५]

● जीव देह छोडता है तो आरम्भो को साथ ले जाता है।

६९. शुद्ध जीवन की नीति

[श्री हरजीवन कोटक को लिखे पत्र से]

जीवन की अशुद्धि भी काम मे खलल डालती है। दूसरे लोग, जिनके जीवन गन्दे होते है, व्यापार वगैरह मे सफलता प्राप्त कर सकते है, ऐसा विचार न करना। उनकी सफलता-असफलता का निर्णय हम न करे। हम व्यक्तिगत, सार्वजनिक या व्यापारी जीवन मे भेद नही करते। हमारी सभी प्रवृत्तिया आत्मशुद्धि के लिए होती है। इसलिए हमारी अशुद्धि हमारे मार्ग मे पग-पग पर बाधक होगी।

— ३०।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १५९]

७०. शरीर बनाम आत्मा का विश्राम

[सुश्री उर्मिला देवी को लिखे पत्र से]

शरीर के आराम का अधिकारी कोई नही। आत्मा का आराम हमेशा सम्भव है। अपने मे ऐसा सकल्प होना चाहिए। यही अनासक्तियोग है। जो अनासक्ति से काम करता है, वह शरीर से थकता नही और थके तो तुरन्त सो जाता है और अपार आराम ले लेता है। अनासक्ति के कारण आत्मा को तो आराम ही रहेगा।

— १३।२।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० १४०]

७१. हमें धूल बन कर रहना है

व्रत धारण करके कोई अभिमान से आकाश मे नही उडने लगता, धरती पर ही रहता है। हम लोग तो अणु-रेणु हैं, धूल के समान हैं। हम मिट्टी से बने हैं और अन्त मे हमे मिट्टी मे मिल जाना है—इसे मैं सत्य मानता हू। हम मिट्टी से ही पैदा हुए हैं, मिट्टी के ही पुतले हैं, फिर अभिमान किस बात का करें ? चीटी अपनी बाँबी की जैसी सुन्दर कलामयी रचना कर लेती है, वैसी हमसे नही बनती। कीडो, चीटियो, इत्यादि ने सम्पूर्णता प्राप्त कर ली है, पर हमने नही। हमारा शरीर भी सम्पूर्ण नही है। इसलिए हमे सम्पूर्णता खोजनी है। हम जिस स्थिति मे है, उसमे रहते हुए हमे सन्तोष नही होता। हमे ईश्वर ने ही यह दैवी असन्तोष दिया है। इसलिए हम 'यह नही, यह नही'—ऐसा कहा करते हैं, और बराबर आगे बढते ही जाते हैं। चीटी सम्पूर्ण है, क्योकि आगे नही बढना चाहती। हमे तो आगे बढना ही है। इसलिए हमे नम्र बनना है, धूल की तरह या शून्य के समान बनकर रहना है। आज का भौतिक शास्त्र कहता है कि एक-एक अणु मे सम्पूर्ण विश्व समाया हुआ है। उपनिषद् के ऋषियो ने तो हजारो वर्ष पहिले यह बात समझ ली थी। इसीलिए उन्होने कहा है—यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे—अर्थात् जो पिण्ड मे है, वही ब्रह्माण्ड मे है। हम परमाणु के समान बनकर रहें, शून्यवत् होकर रहे, तभी हम ईश्वरीय अश प्राप्त कर सकते है। कारण यह कि परमाणु विश्वव्यापी और शाश्वत है। इसलिए हमे आकाश मे नही उडना है किन्तु धूल के समान बनना सीखना है।

—ह० से०, २०।१०।१९३३]

७२. धर्माचरण

मेरी समझ से धर्माचरण यह नही देखता कि किसी के कार्यों के विषय मे दूसरे लोग क्या कहते हैं—जबतक कि उसके मार्ग के निर्माण मे दूसरो की राय एक सम्बद्ध अग न हो।

—अंग्रेजी। वर्धा। स्व० वेरियर एल्विन को लिखे गये निजी पत्र से। २५।१०।१९३३]

७३. कुछ नैतिक प्रश्न

एक सज्जन ने नीचे लिखे प्रश्न पूछे हैं, जो सभी सेवको के लिए उपयोगी हो सकते हैं—

"१ किसी प्रकार का व्रत लेते समय किन-किन वातो का विचार करना चाहिए, जिससे भविष्य मे वैसी स्थिति उपस्थित होने पर व्याकुल न होना पड़े ? मान लीजिए, कि वाद मे कोई वात याद आ जाय, तो क्या उसे व्रत मे वढा सकते हैं ? एक साधारण व्रत का उदाहरण देकर क्या आप इसे समझायेंगे ?

"२. आप निश्चित किये हुए समय पर प्रार्थना करने के पक्ष मे है, पर अगर मनुष्य अपनी सुविधा के अनुसार रात को सोने से पहिले और सवेरे उठकर तुरन्त ही, ये दोनो समय नियत कर ले तो क्या उसका ऐसा करना अनुचित होगा ? एक अड़चन हमेशा पड़ती है। वह यह कि प्रार्थना करते हुए कुछ ही क्षण चित्त की एकाग्रता रहती है। इसके लिए क्या किया जाय ?

"३ दैनन्दिनी (डायरी) किसी दिन लिखी जाती है, और किसी दिन नहीं। तव यह विचार आता है कि नित्यप्रति क्या लिखा जाय ? यदि उसमे यह लिखा जाय कि अमुक कारण से क्रोध आया, अव क्रोध नहीं आना चाहिए, सम्हल जाओ, और कुछ दिन वाद फिर क्रोध आ जाय, तो वारवार यही वात दुहराते जाने से डायरी से क्या सहायता मिल सकती है ? जो वात क्रोध के सम्वन्ध मे है वही काम के विषय मे भी है। तव दैनन्दिनी किस तरह लिखी जाय ? क्या-क्या लिखू कि डायरी मेरे लिए पथ-प्रदर्शक वन सके ? मै वहुत दिनो से दैनन्दिनी लिखता आ रहा हु, पर ठीक तरह से न लिख सकने के कारण यह वात मन मे खटकती ही रहती है।

"४ आप अनेक वार गीता के सूत्रो की भाति सक्षेप मे वात कह देते हैं, पर उसे समझने मे मेरे-जैसो को वडी कठिनता होती है। उदाहरण के लिए मेरे दूसरे प्रश्न का जवाव अगर गीता मे ढूढ़ा जाय, तो अभ्यास और वैराग्य वस यही उत्तर मिलेगा, और मेरी धारणा है कि आप भी यही जवाव देंगे। अभ्यास का अर्थ आपने जरा विस्तार से किया तो इतना ही करेंगे कि सत्य की लगन। पर मेरे-जैसो के लिए तो यह उत्तर गीता के उत्तर के समान ही कठिन रहा। अगर कातते हुए सूत वार-वार टूटता हो तो पहिले यही कहा जायगा कि धीरे-धीरे अभ्यास वढ जाने के वाद फिर सूत नहीं टूटेगा। फिर टूटने मे जहा-जहा भूल होती है, वहा वह वता दी जाती है कि यह करो, वह करो, इस तरह पूनिया लो, ऐसी वट दो, इस तरह चरखा घुमाओ। इस तरह की अनेक वातें वताने का यह फल होता है, कि सूत टूटता नहीं और अगर टूट भी जाता है तो कातनेवाला दुखी नहीं होता। इसी प्रकार चित्त एकाग्र करने का मार्ग अभ्यास है सही पर इसका साधन कौन-सा है ? अभ्यास का आरम्भ किस प्रकार किया जाय ? यह तो सव कहते है कि चित्त को दृढ करो, दृढनिश्चयी वनो पर यह कोई नहीं वतलाता कि ऐसा किस रीति से किया जाय।

"गीता के १२ वें अध्याय के १९ वें श्लोक मे कहा गया है—सन्तुष्टो येनकेन-चित्। इसका क्या अभिप्राय है? ईश्वर ने हमे जिस स्थिति में रख दिया है, क्या उसी में सन्तोष मानना चाहिए? फिर जेल मे सरकार ने जो सुविधाएं दी हैं, उनमें क्यो न सन्तोष माना जाय? सन्तोष मानने मे भी क्या कोई शर्त्त या मर्यादा हो सकती है?"

इन प्रश्नो का उत्तर क्रमश नीचे देता हू—

१ जो व्रत आप लें उसे स्पष्ट भाषा मे लिख ले। उस समय कोई साक्षी मिल जाय तो उसके सामने ही व्रत लें। भविष्य मे व्रत का कडा अर्थ ही निकालना ठीक है, उसे हल्का करने के लिए कोई मनमाना अर्थ नही ढूढ निकालना चाहिए। मान लीजिए कि मैंने कभी शराब न पीने का व्रत लिया है। इस व्रत मे देश की चर्चा नही आई है। मैं विलायत्त गया। स्वास्थ्य की दृष्टि से किसी ने शराब पीने का आग्रह किया। ऐसी दशा मे, मैं यह नही कह सकता कि व्रत लेते समय तो मैं भारत मे था इसलिए व्रत का पालन वही हो सकता है, विलायत मे शराब पीने की स्वतन्त्रता है। व्रत मे दवा का भी कोई उल्लेख नही है, अत दवा के लिए भी शराब पीने की स्वतन्त्रता नही मिल सकती।

२ दूसरी प्रवृत्तियो के समान प्रार्थना का भी समय निश्चित होना चाहिए। प्रार्थना का चाहे जो समय रखा जा सकता है, इसकी चिन्ता नही करनी चाहिए। सोने से पहिले और प्रात उठकर, दातून करने के बाद, प्रार्थना करने का समय उत्तम है। सोकर उठने का समय निश्चित कर लेने की भी आवश्यकता है। चित्त की एकाग्रता तुरन्त ही नही प्राप्त हो जाती। नियमित रीति से प्रार्थना करने पर ही एकाग्रता आती है। चित्त यदि एकाग्र न हो, तो इसकी चिन्ता न करें, आप तो बस एक धुन के साथ नित्य प्रार्थना किये जाय।

३ डायरी लिखने का नियम करने के बाद बराबर लिखते जाना चाहिए। तत्काल नही, तो बाद को लाभ अवश्य होगा। डायरी लिखने की आदत ही हमे अनेक दोषो से बचा लेगी, कारण कि वह अपने दोषो की साक्षी-रूप रहेगी। उसमे अपने दोषो की चर्चा रहनी ही चाहिए। उन पर टीका करने की जरा भी आवश्यकता नही है। टीका अध्याहार ही होती है। आज अमुक पर क्रोध आया, आज अमुक को धोखा दिया, इतना ही उल्लेख काफी है। यह बहुत बुरा हुआ, रे मन! अब ऐसा नही करूगा,—आदि लिखने की कोई आवश्यकता नही है। अपनी स्तुति के वचन लिखने ही नही चाहिए। निजकृत कर्मों और दोषो का उल्लेख काफी है। डायरी मे दूसरो के दोषो की चर्चा करना ठीक नही है।

४ यह प्रश्न ठीक मालूम नही होता। गीता की या मेरी भाषा सूत्र रूप मे नही है। गीता की भाषा के साथ मेरी भाषा की तुलना न की जाय। यह बात

शोभा नही देती। गीता की भाषा मुझे आ जाय, तो अच्छा है, पर मै उससे अभी दूर हू। हमे जिस विषय का परिचय कम हो उस विषय को पढे तो वह सूत्र रूप ही मालूम होगा। शास्त्रीय भाषा अपने विषय की पूर्ण भाषा है। वह बिना परिचय के सूत्र जैसी मालूम होती है। यह बात अलग है और पतजलि के सूत्रो की बात अलग है। पतजलि के सूत्रो मे तो बहुत अध्याहार है। यह बात गीता के सम्बन्ध मे नही कही जाती। किन्तु गीता मे प्राचीन शब्दो को गीताकार ने नवीन अर्थ मे लिया है, अत यह समझने मे कठिन मालूम होती है। मेरी भाषा सक्षिप्त होती है, इसलिए उसमे गुण अवश्य है किन्तु वह अपूर्ण है। गीता की भाषा पूर्ण है। मेरी भाषा अपूर्ण है अत भाषा पर अधिकार कम है, यह कहने का यहा अभिप्राय नही है। यहा तो यह समझना चाहिए कि मेरे विचार अपूर्ण है। इसलिए मेरी भाषा समझने मे कठिनता होती है। जब मेरे विचार पूर्णता को पहुच जायगे, तब वे इस रीति से प्रकट होगे कि उनके समझने म सुगमता होगी। अपनी भाषा का इतना दोष स्वीकार करने के बाद मे यह अवश्य कहूगा, कि अनेक पाठक पढने का पूरा प्रयत्न नही करते, इसी से पूर्णतया प्रकट किये हुए विचारो को भी वे नही समझते और बाद मे दोष देते है। लेखक ने जो दृष्टान्त दिया है उसे ही ले। कातने की क्रिया चूकि प्रत्यक्ष है, इसमे वह प्रत्यक्ष बताई जा सकती है। पर चित्त की व्यग्रता तो अप्रत्यक्ष है। अभ्यास से व्यग्रता दूर होगी, ऐसा कहना पूर्ण है। हमारे पास उसकी प्रत्यक्षता बताने का कोई साधन नही है। यदि कभी विचारो का चित्र खीचना सीख लेगे, तो अवश्य अभ्यास का भी कातने के जैसा ही चित्र अकित कर सकेगे। अभी तो यही कहा जा सकता है, कि धुन से प्रार्थना मे लगे रहेगे तो चित्त की अस्थिरता दूर हो जायगी। इसमे अभ्यासी की सत्यता या सत्यपरायणता पर आधार रखना पडता है। जो व्यक्ति प्रार्थना का ढोग करता हो और व्यग्र रहता हो उसे कौन जानता है? अथवा जो नित्य अपने आपको धोखा देता हो और प्रार्थना के समय मन मे अनेक सकल्प-विकल्प करता हो उसे कौन रोकता है? इसलिए अभ्यास की सफलता केवल अभ्यासी की सच्चाई पर निर्भर करती है। कातने की क्रिया मे जो अप्रामाणिकता होती है वह प्रत्यक्ष दिखाई देती है, इसलिए वह कातनेवाले को बताई जा सकती है।

५ 'सन्तुष्टो येन केन चित्' का अर्थ यह नही है कि आदमी को जो मिल जाय उसी मे वह सन्तोष मान ले। निरन्तर और यथार्थ उद्यम करने पर जो प्राप्त हो उसमे सन्तोष मानने का यहा आशय है। चूकि पुरुषार्थ करने के उपरान्त दैवी वस्तु भी उसके लिए उत्तरदायी होती है, अत प्रयत्न सफल हुआ न दिखाई दे, तो निराश होने की तनिक भी आवश्यकता नहीं है—ऐसा गीताकार का कथन है।

—ह० व०। ह० से० ३।११।१९३३]

- नियमित रीति से प्रार्थना करने पर......एकाग्रता आती है।
- शास्त्रीय भाषा अपने विषय की पूर्ण भाषा है।
- गीता की भाषा पूर्ण है।
- अभ्यास की सफलता केवल अभ्यासी की सच्चाई पर निर्भर करती है।

७४. सत्य का पन्थ ही श्रेय है

मेरा आज तक का अनुभव यह बतलाता है कि अपने को जो सत्य प्रतीत होता हो, उसी पन्थ पर चलने से अपना कल्याण है। महान् विभूतियो का मार्ग क्या है, उसे हमे स्वय ही खोज निकालना है। जो विभूति एक के लिए आदर्श है, वही दूसरे को तुच्छ मालूम होती है। एक ही विभूति के दो अनुयायी उसके वचन और आचरण के दो परस्पर-विरोधी अर्थ निकालते देखे गये हैं।

—ह० ब०। ह० से०, १०।११।१९३३]

७५. सब से बड़ा यज्ञ

किसी पुरुष या स्त्री को तबतक अपने पास धन-दौलत रखने का कोई अधिकार नही, जबतक वह उसमे से गरीबो और असहायो के लिए उचित भाग अलग निकालकर न रख दे। यह एक सामाजिक और धार्मिक कर्त्तव्य है। भगवत् गीता मे इस कर्त्तव्य को यज्ञ का नाम दिया गया है। जो यह यज्ञ नही करता वह चोरी का अन्न खाता है। गीता मे अनेक प्रकार के यज्ञो का उल्लेख हुआ है, पर गरीब और असहाय की सेवा से बढकर और कौन यज्ञ हो सकता है?

—ह० से०, १९।१।१९३४]

७६. वचन-पालन

[सुश्री ओम को लिखे पत्र से]

वचन पालन करो तो मन और कर्म मे। मन से तो वचन-पालन करने से जी चुराओ, और कर्म से पालन करने का पुण्य प्राप्त करो, यह असम्भव बात है। मुझे यह जरा भी पसन्द नही। मैंने क्या यह नही सिखाया कि जो करो, वह ठीक से करो और सुन्दरता से करो? छोटे या बडे किसी काम मे बेगार न टालो।

—२०।८।१९३४। बापू के पत्र : बजाज परिवार के नाम, पृ० २५४, २५५ अ० भा० स० से० सं०]

७७. सत्यानुसरण

[सुश्री ओम को लिखे पत्र से]

सच्ची रहना, सच्चा विचारना, सच्चा बोलना। यदि यह तुम्हारा शक्ति के बाहर हो तो मेरा त्याग करना।

—७।११।१९३४। बापू के पत्र बजाज परिवार के नाम, पृ० २५७, अ० भा० स० से० स०]

७८. विषयवासना

सभी ब्रह्मचारी न रह् सके यह तो बिल्कुल समझ में आने जैसी बात है। जो इन्द्रिय-निग्रह न कर सके वह खुशी से विवाह कर ले। परन्तु विषयों का गुप्त सेवन करे, यह मुझे असह्य लगता है। मनुष्य का पतन विषयों के गुप्त सेवन से होता है। ऐसा करने में मर्यादा नहीं रहती। मुझे गृहस्थाश्रम से तनिक भी द्वेष नहीं। यह आवश्यक स्थिति है, सुन्दर है। परन्तु आश्रम का तो अर्थ ही यह है कि उसके गर्भ में धर्म हो। गृहस्थ धर्म स्तुत्य है, स्वेच्छाचार निन्दनीय है। मेरा सारा विरोध केवल स्वेच्छाचार के खिलाफ है।

—सेगाव, ५।२।१९३७। बापू के पत्र कुमारी प्रेमा बहिन कटक के नाम, पृ० २७५, न० जी० प्र० म०]

० गृहस्थ धर्म स्तुत्य है, स्वेच्छाचार निन्दनीय है।

७९. उदारता आवश्यक है

एक मुसलमान भाई ने लम्बा पत्र भेजकर गाधी जी से अपनी शकाओं का समाधान पूछा था। उनकी शकाए सक्षेप मे क्रमश इस प्रकार थीं —

१ मैंने लम्बे अर्से मे मास खाना छोड दिया है, पर चूंकि आपने परिवार के अन्य सदस्यो या बच्चों की बुरी आदतें बलपूर्वक नहीं समझा-बुझाकर छुडवाने का उपदेश किया है, इसलिए मुझे अब तक घरवालो के लिए मास मंगाना पडता है। क्या मैं इस तरह अन्याय मे सहयोग नहीं दे रहा हू? मेरे लडके यदि चोरी, बदमाशी करने लगें तो क्या मुझे उनको बलपूर्वक समझाना नहीं चाहिए या जरूरत पडने पर पुलिस मे नहीं दे देना चाहिए? मास की ही तरह चाय, लेमन, सोडा,

- नियमित रीति से प्रार्थना करने पर......एकाग्रता आती है।
- शास्त्रीय भाषा अपने विषय की पूर्ण भाषा है।
- गीता की भाषा पूर्ण है।
- अभ्यास की सफलता केवल अभ्यासी की सच्चाई पर निर्भर करती है।

७४. सत्य का पन्थ ही श्रेय है

मेरा आज तक का अनुभव यह बतलाता है कि अपने को जो सत्य प्रतीत होता हो, उसी पन्थ पर चलने से अपना कल्याण है। महान् विभूतियो का मार्ग क्या है, उसे हमे स्वय ही खोज निकालना है। जो विभूति एक के लिए आदर्श है, वही दूसरे को तुच्छ मालूम होती है। एक ही विभूति के दो अनुयायी उसके वचन और आचरण के दो परस्पर-विरोधी अर्थ निकालते देखे गये हैं।

—ह० ब०। ह० से०, १०।११।१९३३]

७५. सब से बड़ा यज्ञ

किसी पुरुष या स्त्री को तबतक अपने पास धन-दौलत रखने का कोई अधिकार नही, जबतक वह उसमे से गरीबो और असहायो के लिए उचित भाग अलग निकालकर न रख दे। यह एक सामाजिक और धार्मिक कर्त्तव्य है। भगवत् गीता मे इस कर्त्तव्य को यज्ञ का नाम दिया गया है। जो यह यज्ञ नही करता वह चोरी का अन्न खाता है। गीता मे अनेक प्रकार के यज्ञो का उल्लेख हुआ है, पर गरीब और असहाय की सेवा से बढकर और कौन यज्ञ हो सकता है?

—ह० से०, १९।१।१९३४]

७६. वचन-पालन

[सुश्री ओम को लिखे पत्र से]

वचन पालन करो तो मन और कर्म से। मन से तो वचन-पालन करने से जी चुराओ, और कर्म से पालन करने का पुण्य प्राप्त करो, यह असम्भव बात है। मुझे यह जरा भी पसन्द नही। मैंने क्या यह नही सिखाया कि जो करो, वह ठीक से करो और सुन्दरता से करो? छोटे या बडे किसी काम मे वेगार न टालो।

—२०।८।१९३४। बापू के पत्र : बजाज परिवार के नाम, पृ० २५४, २५५ अ० भा० स० से० सं०]

७७. सत्यानुसरण

[सुश्री थोम को लिखे पत्र से]

सच्ची रहना, सच्चा विचारना, सच्चा बोलना। यदि यह तुम्हारी शक्ति के बाहर हो तो मेरा त्याग करना।

— ७।११।१९३४। बापू के पत्र बजाज परिवार के नाम, पृ० २५७, अ० भा० स० से० स०]

७८. विषयवासना

सभी ब्रह्मचारी न रहें यह तो बिलकुल समझ में आने जैसी बात है। जो इन्द्रिय-निग्रह न कर सके वह खुशी से विवाह कर ले। परन्तु विषयों का गुप्त सेवन करे, यह मुझे असह्य लगता है। मनुष्य का पतन विषयों के गुप्त सेवन से होता है। ऐसा करने से मर्यादा नहीं रहती। मुझे गृहस्थाश्रम से तनिक भी द्वेष नहीं। यह आवश्यक स्थिति है, सुन्दर है। परन्तु आश्रम का तो अर्थ ही यह है कि उसके गर्भ में धर्म हो। गृहस्थ धर्म स्तुत्य है, स्वेच्छाचार निन्दनीय है। मेरा सारा विरोध केवल स्वेच्छाचार के खिलाफ है।

— सेगाव, ५।२।१९३७। बापू के पत्र कुमारी प्रेमा बहिन कटक के नाम, पृ० २७५, न० जी० प्र० म०]

० गृहस्थ धर्म स्तुत्य है, स्वेच्छाचार निन्दनीय है।

७९. उदारता आवश्यक है

एक मुसलमान भाई ने लम्बा पत्र भेजकर गाधी जी से अपनी शकाओ का समाधान पूछा था। उनकी शकाए सक्षेप मे क्रमश इस प्रकार थीं —

१ मैंने लम्बे अर्से से मास खाना छोड दिया है, पर चूकि आपने परिवार के अन्य सदस्यो या बच्चो की बुरी आदतें बलपूर्वक नहीं समझा-बुझाकर छुडवाने का उपदेश किया है, इसलिए मुझे अब तक घरवालो के लिए मास मंगाना पडता है। क्या मै इस तरह अन्याय मे सहयोग नहीं दे रहा हू ? मेरे लडके यदि चोरी, बदमाशी करने लगें तो क्या मुझे उनको बलपूर्वक समझाना नहीं चाहिए या जरूरत पडने पर पुलिस मे नहीं दे देना चाहिए ? मास की ही तरह चाय, लेमन, सोडा,

पान, सुपारी आदि के सम्बन्ध मे भी मेरा विराग है, पर परिवार इनका सेवन करता है। क्या मुझे उनको जबरन बन्द नहीं करा देना चाहिए ?

२. मै व्यापारी-वर्ग का आदमी हू। मुझे यह अनुचित लगता है कि एक ही चीज़ का भाव मोल-तोल करके घटाया-बढ़ाया जाय। कुछ नीतिशास्त्री कहते हैं कि यदि माल अच्छा बेचा जाय और सही परिमाण या मात्रा मे बेचा जाय तो मोल-भाव करके कम-ज्यादा दाम लेने मे कोई हर्ज नहीं। आपका इस सम्बन्ध मे क्या मत है ?

३. आप हज़रत मुहम्मद साहब के प्रति श्रद्धा रखते हैं। आपने कुरान का अध्ययन किया है। आप सदैव इस्लाम की प्रशंसा ही करते हैं। किन्तु हिन्दू-धर्म का एक भी दोषपूर्ण अंश आप स्वीकार नहीं करते। तब आप कुरान के त्रुटिपूर्ण अंश की आलोचना क्यो नहीं करते, उसे प्रमाण क्यो मानते हैं ? मुझे तो अठारह-बीस वर्ष की उम्र से ही इस्लाम की त्रुटियां चुभ रही हैं।

इन शकाओ का गांधी जी ने उत्तर दिया, वह यहां सग्रहीत है।—सम्पा०]

इन भाई ने मास वगैरा छोड दिया है, यह तो स्तुत्य है ही। पर वे अपने कुटुम्बियो से इस कर्त्तव्य का पालन नही करा सकते। उनकी बुद्धि को समझाकर, उनके हृदय को पिघलाकर भले ही वे अपने जैसा बनाने का प्रयत्न करे। पर इससे अधिक कुछ करने मे बलात्कार होने की सम्भावना है। आज तक जो वे खुद करते आये हैं, जिसे उन्होंने इस्लाम के विरुद्ध नही समझा। जिसे समाज करता है उसका एकाएक कुटुम्बियो से त्याग करवाना, यह तो ज्यादती समझी जायगी। वे खुद काफी विचार और मन्थन करने के बाद मासादि का त्याग कर सके होगे। वह त्याग दूसरे लोग तुरन्त करे, ऐसी आशा अगर वे रखते हैं तो इसमे अधीरता है। इसलिए नीति का नियम तो यह है कि मनुष्य को अपनी परीक्षा कडी-से-कडी करनी चाहिए, और दूसरो के प्रति उसे उतनी ही उदारता से काम लेना चाहिए। अनुभव ऐसा कहता है कि मनुष्य अपने साथ जितना सख्त हो तो भी अन्त मे उसमे उदारता ही होती है। क्योंकि अपनी शक्ति के बाहर वह शायद ही जाता है। दूसरो के हृदय की उसे खबर नही होती। उसका जाननेवाला तो केवल ईश्वर है। इसलिए दूसरो से अपने जैसा कराने मे बहुत उदारता से काम लेते हुए भी अधीर होने की पूरी सम्भावना रहती है। अपनी बात दूसरो के गले उतारने मे उदारता-पूर्वक काम लेने से शीघ्र सफलता मिलने की सम्भावना है और इस तरह जो सफलता मिलेगी उसके स्थायी होने की अधिक सम्भावना रहेगी।

मासादि के त्याग के साथ चोरी या हत्या की तुलना नही होती। चोरी और हत्या सर्वमान्य दोष है। और चूकि ये कानून मे गुनाह माने जाते है, इसलिए

सख्त सज़ा मिलती है। ऐसा होते हुए भी हम अपने सगे सम्बन्धियो को भी बलात्कारपूर्वक चोरी या खून करने से रोक नही सकते। पर चोरी या खून करनेवाला स्पष्ट अपराध करता है। यहा तो अपराध करने की कोई बात नही है। जिसको लेखक आज दोष मानता है वह कलतक उसकी नजर मे दोष नही था, और आज भी वह उसके स्नेहीजनो की दृष्टि मे निर्दोष ही है। ऐसी स्थिति मे उनका व्यवहार सहन करना उसका धर्म है, ऐसी मेरी मान्यता है। मासाहार, चाय, पान-सुपारी इत्यादि के गुण-दोष उनके सामने प्रेमपूर्वक रखे जा सकते है। पर किसी तरह का दबाव नही डाला जा सकता।

व्यापार मे अनीति को जरा भी स्थान नही। चाहे जितना नुकसान उठाना पडे तो भी ईमानदारी को नही छोडना चाहिए। अन्त मे इसका परिणाम अच्छा ही होता है, पर ईमानदारी अच्छे परिणाम पर निर्भर न रहे। इच्छानुसार दाम लेने की छूट भले हो, पर अलग-अलग ग्राहको से अलग-अलग कीमत लेना अनुचित ही माना जायगा। किसी स्नेही या गरीब आदमी से कम दाम लेने मे मुझे कोई दोष दिखाई नही पडता। किसी चीज़ का दाम धनिको के लिए एक, और गरीबो के लिए दूसरा, यह भी हो सकता है। इसमे कोई धोखाबाजी नही। धोखाबाजी या ठगी, किसे कहे, यह समझाने की आवश्यकता नही होनी चाहिए।

अब दो शब्द इस्लाम के विषय मे। मैने जो कुछ लिखा है उस पर मै अच्छी तरह कायम हू। मैने यह कही भी नही कहा कि मै कुरान शरीफ या किसी धर्म-शास्त्र माने जाने वाले ग्रन्थ को अक्षरश मानता हू। पर धर्म की पुस्तको के दोष बताना या उनकी आलोचना करना मेरा काम नही। उनके गुण बताना और हो सके तो उनका अनुसरण करना मेरा काम है। कुरान शरीफ मे जो मुझे अच्छा नही लगता उसे बताने का मुझे अधिकार नही। यही बात पैगम्बर के जीवन के सम्बन्ध मे समझनी चाहिए। उनके जीवन की जो बात मै समझ सकता हू उसकी तारीफ करता हू। जो बात मै नही समझता उसे मुस्लिम मित्रो और मुसलमान लेखको द्वारा समझने का प्रयत्न करता हू। इस प्रकार की वृत्ति रखकर ही मै समस्त धर्मो के प्रति समानता रख सका हू। हिन्दू धर्म के दोष बताने का मुझे अधिकार है और मेरा कर्त्तव्य भी है। पर अहिन्दू लेखक जब हिन्दू-धर्म की आलोचना करते है या उसके दोष गिनाने बैठते है, तब अक्सर उनमे अज्ञान होता है। वे हिन्दू की आख से वही चीज़ नही देख सकते, इसलिए सीधी चीज उन्हे टेढी नजर आती है। इस प्रकार के अनुभव से भी मै समझ सकता हू कि जिस तरह अहिन्दू लेखको की आलोचना मुझे दोषपूर्ण मालूम देती है उसी तरह अगर मै

कुरान शरीफ या पैगम्बर की आलोचना करू तो वह मुसलमान को सदोष क्यो नही मालूम होगी ?

—ह० ब०। ह० से० २०।२।१९३७]

८०. दृश्य तथा अदृश्य दोष

एक खादी सेवक लिखते हैं—

"आप कार्यकर्त्ताओं के सदाचार पर बहुत जोर देते आ रहे हैं। आपने अधिकतर कामवासना से बचने को ही बहुत महत्व दिया है, जो ठीक भी है। जब कभी इस विशय मे किसी कार्यकर्त्ता की गिरावट का उदाहरण आपके सामने आया है, आपके हृदय को सख्त चोट लगी है और आपने उसका उल्लेख 'हरिजन' में भी किया है। लेकिन क्या सदाचार का अर्थ केवल परस्त्री के प्रति कामवासना न रखना ही है? क्या झूठ बोलना, ईर्ष्या व द्वेष रखना सदाचार के विरुद्ध नहीं है? चूंकि हमारा समाज भी इन बातो को इतनी घृणा से नहीं देखता, जितनी घृणा से वह पर-स्त्री के साथ सम्बन्ध को देखता है, इसलिए शायद आप भी इन बातो पर अधिक जोर नहीं देते। पर ये बुराइयां उससे कम नहीं, बल्कि आज की स्थिति मे तो ये कहीं अधिक हानिकारक होती हैं।

"वैसे तो पापो की तुलना ही क्या? परन्तु हमारे आजकल के समाज मे तो इन चीजो को अधिक बुरी निगाह से नहीं देखा जाता। जब एक जिम्मेदार मुख्य कार्यकर्त्ता एक दिन मे चार-पांच सफेद झूठ बोले और किसी पर झूठे इल्जाम लगाये, तो क्या हृदय विदीर्ण नहीं हो जाता? क्या इससे वह अपने को और समाज को हानि नहीं पहुंचाता?"

यह प्रश्न अच्छा है। दोषो मे ऊच-नीच की भावना नही होनी चाहिए। जहा तक मेरा सम्बन्ध है, मैं तो असत्य को सब पापो की जड मानता हू। जिस सस्था मे झूठ को बर्दाश्त किया जाता है वह सस्था कभी समाज-सेवा नही कर सकती, न उसका अस्तित्व ही अधिक दिनो तक रह सकता है। लेकिन मनुष्य जब झूठ का प्रयोग करता है, तब उस झूठ पर अनेक प्रकार के रग चढते हैं। उसका एक प्रकार व्यभिचार है। झूठ के ही रूप मे झूठ शायद ही प्रकट होता है। व्यभिचारी तीन दोष करता है। झूठ का दोष तो करता ही है क्योकि वह अपने पाप को छुपाता है। व्यभिचार को दोष मानते हुए करता है और दूसरे व्यक्ति का भी पतन करता है।

जितने और दोषो का वर्णन लेखक ने किया है वे सब गुणवाचक है। इनको हम न देख सकते है, न शीघ्र पकड सकते है। जब वे मूर्तिमन्त होते है, अर्थात् कार्य मे परिणत होते है, तभी उनका विवेचन हो सकता है। उनके दूर करने का उपाय भी तभी सम्भव होता है। एक मनुष्य किसी से द्वेष करता है, जबतक उसका कोई परिणाम नही होता तबतक न उसकी कोई टीका की जाती है, न द्वेषी मनुष्य का सुधार किया जा सकता है। लेकिन जब द्वेषवश कोई किसी को हानि पहुंचाता है, तब उसकी टीका हो सकती है और वह दण्ड के योग्य भी बनता है। बात यह है कि समाज मे और कानून मे भी व्यभिचार काफी बर्दाश्त किया जाता है, यद्यपि व्यभिचार से समाज को हानि अधिक पहुंचती है। चोर को सख्त सजा मिलती है और बेचारा चोर समाज मे बहिष्कृत हो जाता है। व्यभिचारी सफेदपोश सब जगह देखने मे आते है। उन्हे दण्ड नही मिलता। कानून उनकी उपेक्षा करता है। मेरा विश्वास है कि करोडो की सेवा करनेवाली सस्था मे जैसे चोरो को, गुण्डो को स्थान नही होना चाहिए, ठीक इसी तरह व्यभिचारियो को भी नही होना चाहिए।

—ह० से० २७।२।१९३७]

० मै तो असत्य को सब पापो की जड मानता हू।

८१. ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य का जो अर्थ शास्त्रो मे बताया गया है, वह अति शुद्ध है। नैष्ठिक ब्रह्मचारी वह है, जिसने जन्म से ही ब्रह्मचर्य का पालन किया हो, जिसका वीर्य स्वप्न मे भी स्खलित न हुआ हो। लेकिन मैं नही जानता था कि जो प्रजोत्पत्ति के हेतु सम्भोग करता है उसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी क्यो माना गया है। कल यह सुन्दर बात मेरी समझ मे आ गई। जो दम्पति गृहस्थाश्रम मे रहते हुए केवल प्रजोत्पत्ति के हेतु परस्पर सयोग और एकान्त करते है, वे ब्रह्मचारी ही है।

शुद्ध विवाह मे तो केवल ब्रह्मचर्य है। शुद्ध विवाह कब कहा जाय? दम्पति प्रजोत्पत्ति तभी करें जब जरूरत हो, और इसकी जरूरत हो तभी एकान्त (सेवन) भी करे। अर्थात् सम्भोग प्रजोत्पादन को कर्तव्य समझ कर तथा उसके लिए ही हो। इसके अतिरिक्त कभी एकान्त (सेवन) न करे। यदि कोई पुरुष इस प्रकार हेतुपूर्वक सम्भोग छोडकर स्थिरवीर्य हो, तो वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी के समान है। सोचिए, ऐसा एकान्तवास जीवन मे कितनी बार हो सकता है? वीर्यवान

नीरोग स्त्री-पुरुषो के लिए तो जीवन मे एक ही बार ऐसा अवसर हो सकता है। ऐसे व्यक्ति नैष्ठिक ब्रह्मचारी के समान क्यो न माने जाय ?
—ह० से०, ३।४।१९३७]

८२. हृदयगत प्रेम का स्वरूप

अगर हमारा प्रेम हृदयगत चीज़ है तो हमारा रास्ता तलवार का नही है। गाली का उत्तर हम गाली से नही दे सकते और न घूसे का घूसे से। प्रेम की सच्ची परीक्षा तो यह है कि हम मरकर दूसरो के अप्रेम का उत्तर दें।
—गाधी सेवा-संघ-सम्मेलन, डेलांग, २६।३।१९३८]

८३. शिकायत भी विषय है

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

हमे शिकायत नही करनी चाहिए। शिकायत करना भी एक विषय ही है। वह तबतक नष्ट नही होगा, जबतक हमे ईश्वर के प्रत्यक्ष दर्शन नही हो जाते।
—दिल्ली, २४।९।१९३८। बापू के पत्र : मीरा के नाम, पृ० २६३, न० जी० प्र० म०]

८४. श्रद्धा बनाम बुद्धि

"भाग्य ने मुझे यहां कुछ परले सिरे के नई रोशनीवाले बुद्धिवादी नौजवान अफसरों के बीच में ला पटका है। ये मेरी खिल्ली उड़ाते हैं, तिरस्कार करते हैं और मुझे निरा बुद्धू समझते हैं, क्योंकि मैं उनसे सहमत होकर भले और बुरे को, पाप और पुण्य को सिर्फ लोकाचार की बात नहीं समझता। अन्दर से जैसे मुझे कोई कहता है कि वे गलती पर हैं और मैं सही रास्ते पर हूं। मैं अब भी मानता हूं कि नीतिधर्म, शाश्वत पाप-पुण्य जैसी भी कोई चीज है।

"मेरे मित्र तर्क देकर मुझे विश्वास दिलाने की कोशिश करते हैं कि शराब पीने में उससे अधिक बुराई नहीं है जितनी चाय या कहवा पीने में है। उनका आग्रह है कि सदाचार आदमी के खाने-पीने मे नहीं रखा है।......

"इसके सिवाय एक बात और है और इसी पर मै खास तौर पर आपकी सलाह लेना चाहता हू। वे कहते है कि व्यभिचार के निषेध का हेतु समाज के सगठन की रक्षा करना है। वे जोर देकर दलील यह देते हैं कि जिस सम्भोग से किसी को हानि नहीं पहुंचती और कोई झगडा खडा नही होता वह बिल्कुल स्वाभाविक है और इसलिए उसमे पाप नहीं है। उनका कहना है कि सम्भोग की अधिकता केवल उतनी ही बुरी है जितनी कि जरूरत से ज्यादा खा लेना। इससे अधिक कुछ नहीं। जो उसूल अपनी पत्नी के साथ उचित है उसमे कोई ऐसी बात नही हो सकती कि उसे दूसरी स्त्री के साथ अनैतिक समझा जाय। इसका फैसला परिस्थिति ही कर सकती है और सवाल सदा कम-ज्यादा का ही होता है। सदाचार-नीति जैसी कोई चीज नहीं है।"

यह एक नौजवान अफसर का पत्र है जिसे मैने लगभग ज्यो-का-त्यो दे दिया है। ठीक इसी तरह के और भी बहुत से मामले होते है। जिन्होने मेरे सत्य के प्रयोगो की पुस्तक यानी मेरी आत्मकथा पढी है जानते है कि मुझे भी इसी तरह के अनुभव हुए है। जिन लोगो के सामने पत्र-लेखक की-सी कठिनाइया हो उन सब लोगो को मेरी सलाह है कि उस पुस्तक का इस विषय से सम्बन्ध रखनेवाला अध्याय पढ जाय। प्रलोभनो के आगे बेचारी बुद्धि की कुछ नही चलती। वहा तो श्रद्धा ही हमारी ढाल वन सकती है। बुद्धि तो उन्ही लोगो का साथ देती दीखती है, जो छूट से शराब पीते और व्यभिचार करते है। असल वात यह है कि ऐसे अवसरो पर बुद्धि मारी जाती है। वह स्वभाव के पीछे-पीछे चलनेवाली होती है। क्या दो विरोधी पक्षो के वकील यह दिखाने की कोशिश नही करते कि न्याय उन्ही की तरफ है? फिर भी दोनो मे से एक की बात तो गलत होती ही है और यह भी हो सकता है कि दोनो की वात गलत हो, इसलिए प्रलोभन के हमले से वचने का एकमात्र प्रवल सहारा यही है कि मनुष्य अपनी सदाचार-नीति मे दृढ विश्वास रखे।

लेखक को ललचानेवालो के तर्क देखने मे तो उपयुक्त मालूम होते है। कोई ऐसी चीज तो नही है जिसे तीनो काल के लिए शुद्ध सदाचार कह सके। लेकिन हम-जैसे अपूर्ण प्राणियो के लिए काल और स्थान के अनुसार जो सदाचार नियत है, वही धर्मरूप है। इस प्रकार शराब को दवा के रूप मे दवा की खुराक मे और डाक्टर-वैद्य की सलाह से लेने के सिवा और किसी भी तरह पीना विशुद्ध अनीति है। इसी तरह अपनी पत्नी के सिवा और किसी स्त्री को वासनादृष्टि से देखना निरा पाप है। ये दोनो स्थितिया तर्क-द्वारा भी सिद्ध की जा चुकी है। इनके विरुद्ध तो दलीले हमेशा दी जाती रही है। ऐसी दलीले तो ईश्वर के अस्तित्व के खिलाफ भी दी जाती रही है, हालाकि ईश्वर के सिवा और कुछ है ही नही। जो श्रद्धा

बुद्धि से परे है वही अनन्तकाल से हमारा एकमात्र आधार रही है। जो लोग इस नौजवान अफसर की-सी कठिनाई मे है उन्हे मैं उसी श्रद्धा का मन्त्र भेंट करता हू। मेरी श्रद्धा ने मुझे कई बार गिरते-गिरते बचाया है और वही अब भी बचा रही है। इसने मुझे कभी धोखा नही दिया। इससे अन्य किसी को धोखा हुआ हो, ऐसा जानने मे नही आया।

—सेवाग्राम १८।१२।१९३९। ह० ज०। ह० से० ३०।१२।१९३९]

- काल और स्थान के अनुसार जो सदाचार नियत है, वही धर्म-रूप है।
- जो श्रद्धा बुद्धि से परे है, वही अनन्त काल से हमारा एक मात्र आधार
- रही है ।

८५. आँखों का व्यभिचार

"मैं गरीब आदमी हूँ, मिल मे नौकर हूं। मैं बड़े असमजस मे पड़ा हूं। जब कभी मैं बाहर जाता हूं तो किसी सुन्दरी का मुख देखकर विवश हो जाता हूं। मेरा संयम काफूर हो जाता है। कभी-कभी तो मुझे यहा तक डर रहता है कि कहीं मेरे हाथ से कोई असभ्य व्यवहार न हो जाय। एक बार मैने आत्म-हत्या का विचार किया। मगर मेरी भली स्त्री ने मुझे बचा लिया। उसने सुझाया कि जब कभी घर से बाहर निकलो, मुझे साथ ले चला करो। इस सुझाव पर अमल तो हुआ, पर वह हमेशा व्यावहारिक नहीं है। अक्सर निराश होकर मै सोचा करता हू कि इन पापी आँखो को निकाल फेंकू। लेकिन पत्नी का खयाल करके रुक जाता हू। आप खुदा के बन्दे हैं। कोई उपाय बता सकते हैं?"

आप सच्चे और सीधे आदमी है। आपको मालूम होना चाहिए कि आपके जैसा ही हाल बहुत लोगो का है। आँख से व्यभिचार करना सामान्य रोग है। यह दिन-दिन बढ रहा है। इतना ही नही, इसे एक तरह की प्रतिष्ठा भी मिल गई है। मगर इससे आपको सन्तोष नही होना चाहिए। आपकी पत्नी बहादुर है। आपको उसके साथ बेवफाई नहीं करनी चाहिए। इससे तो विवाह एक खेल हो जाता है। आपको कामदेव रूपी शत्रु से डटकर लड़ना चाहिए। अपने मन में इस विचार का सचय कीजिए कि पर-स्त्रियां आपकी सगी बहिनें हैं। कामुक साहित्य, सिनेमा और अखबारो को भ्रष्ट करनेवाले कामोत्तेजक चित्र देखना छोड दीजिए। नीची निगाह करके चलिए और इस तरह चलते हुए अन्तर्यामी भगवान से प्रार्थना कीजिए कि वह आपका हृदय शुद्ध कर दे। साथ ही यह भी श्रद्धा कि वह आपको इस पाप-पक मे बचा लेगा। जरूरत हो तो काला चश्मा

बुद्धि से परे है वही अनन्तकाल से हमारा एकमात्र आधार रही है। जो लोग इस नौजवान अफसर की-सी कठिनाई मे है उन्हे मैं उसी श्रद्धा का मन्त्र भेट करता हू। मेरी श्रद्धा ने मुझे कई बार गिरते-गिरते बचाया है और वही अब भी बचा रही है। इसने मुझे कभी धोखा नही दिया। इससे अन्य किसी को धोखा हुआ हो, ऐसा जानने मे नही आया।

—सेवाग्राम १८।१२।१९३९। ह० ज०। ह० से० ३०।१२।१९३९]

○ काल और स्थान के अनुसार जो सदाचार नियत है, वही धर्म-रूप है।
○ जो श्रद्धा बुद्धि से परे है, वही अनन्त काल से हमारा एक मात्र आधार
○ रही है।

८५. आँखों का व्यभिचार

"मैं ग़रीब आदमी हूँ, मिल मे नौकर हूं। मैं बडे असमंजस मे पड़ा हू। जब कभी मै बाहर जाता हू तो किसी सुन्दरी का मुख देखकर विवश हो जाता हू। मेरा सयम काफूर हो जाता है। कभी-कभी तो मुझे यहां तक डर रहता है कि कहीं मेरे हाथ से कोई असभ्य व्यवहार न हो जाय। एक बार मैने आत्म-हत्या का विचार किया। मगर मेरी भली स्त्री ने मुझे बचा लिया। उसने सुझाया कि जब कभी घर से बाहर निकलो, मुझे साथ ले चला करो। इस सुझाव पर अमल तो हुआ, पर वह हमेशा व्यावहारिक नहीं है। अक्सर निराश होकर मै सोचा करता हूं कि इन पापी आँखो को निकाल फेंकू। लेकिन पत्नी का खयाल करके रुक जाता हूं। आप खुदा के बन्दे हैं। कोई उपाय बता सकते हैं?"

आप सच्चे और सीधे आदमी है। आपको मालूम होना चाहिए कि आपके जैसा ही हाल बहुत लोगो का है। आँख से व्यभिचार करना सामान्य रोग है। यह दिन-दिन बढ रहा है। इतना ही नही, इसे एक तरह की प्रतिष्ठा भी मिल गई है। मगर इससे आपको सन्तोष नही होना चाहिए। आपकी पत्नी बहादुर है। आपको उसके साथ बेवफाई नही करनी चाहिए। इससे तो विवाह एक खेल हो जाता है। आपको कामदेव रूपी शत्रु से डटकर लडना चाहिए। अपने मन मे इस विचार का सचय कीजिए कि पर-स्त्रिया आपकी सगी बहिने हैं। कामुक साहित्य, सिनेमा और अख़बारो को भ्रष्ट करनेवाले कामोत्तेजक चित्र देखना छोड दीजिए। नीची निगाह करके चलिए और इस तरह चलते हुए अन्तर्यामी भगवान से प्रार्थना कीजिए कि वह आपका हृदय शुद्ध कर दे। साथ ही यह भी श्रद्धा कि वह आपको इस पाप-पक से बचा लेगा। जरूरत हो तो काला चश्मा

लगाये। आपको पता चलेगा कि यह बडा बढिया बाहरी उपाय है। सचमुच बडे शहरो मे कोई तारीफ की बात नही होती। उनके भीमकाय और अव्यवस्थित होने से नाको दम आ जाता है। रोज-रोज एक ही तरह का कोलाहल और एक ही तरह की सूरते! अगर हम जडता के शिकार न हो जाय तो हमारी इन्द्रिया बार-बार वही भद्दा दृश्य देखती-देखती थक जायँ। दिन मे आपके सामने जो करने का काम हो उसमे डूबे रहिए और रात को किसी सादी-सी ज्योतिष की पुस्तक के सहारे थोडा आकाश-दर्शन कीजिए। आपकी आँखो के सामने वह दृश्य आयेगा जो दुनिया के किसी सिनेमा मे न मिल सकेगा। सम्भव है, किसी दिन आपको असख्य तारागणो की जगमगाहट मे ईश्वर साक्षात् दिखाई दे जाय। आप अपने को इस दिव्य दृश्य के साथ एकतार करे तो आपको ब्रह्माण्ड का सुकोमल शान्तिप्रद सगीत भी सुनाई देने लगेगा। रोज रात को ऐसा करके देखिए। आपकी दृष्टि और हृदय दोनो शुद्ध हो जायगे। परमात्मा आपका भला करे।

—ह० से० ३।२।१९४०]

८६. क्या व्रतो का दोहराना उचित है?

[प्रश्नोत्तर]

प्रश्न—इस बात से सब सहमत हैं कि केवल जबान से प्रार्थना का रोज-रोज दोहराया जाना निरर्थक से भी बुरा है। आत्मा पर उसका प्रभाव सुलानेवाला पडता है। मुझे बहुधा आश्चर्य होता है कि आप नित्य की दिनचर्या बनाकर सुबह-शाम ग्यारह महाव्रतो के दोहराये जाने को प्रोत्साहन क्यो देते हैं? क्या इसका हमारे बच्चो की नैतिक चेतना पर शिथिल करनेवाला असर नहीं पड सकता? क्या इन महाव्रतो की शिक्षा देने का कोई और अच्छा तरीका नहीं है?

उत्तर—अगर बार-बार दोहराने की क्रिया यान्त्रिक ही न हो तो उससे अद्भुत परिणाम होता है। इसी कारण मैं माला को अन्धविश्वास की चीज नही समझता। इससे चचल मन को स्थिर करने मे मदद मिलती है। मगर व्रतो को रोज दोहराने की बात अलग है, इससे साधक को नित्य उठते और सोते समय स्मरण होता है कि उसने ग्यारह व्रत लिये है और उन्ही के अनुसार उसे आचरण करना है। अवश्य ही, यदि कोई इस भ्रम मे हो कि केवल रटने से पुण्य मिल जायगा और जबान से व्रत को दोहराता हो तो उसका असर जाता रहेगा। आप यह पूछ सकते है कि व्रतो को दोहराने की जरूरत ही क्या? आप जानते है कि आपने व्रत लिये है, आपसे उनके पालन की आशा रखी जाती है। इस तर्क मे बल है।

पर अनुभव बताता है कि जानबूझ कर रटने से निश्चय को बल मिलता है। दुर्बल शरीर के लिए बलवर्द्धक औषधिया जो काम देती है दुर्बल मन और आत्मा के लिए वही काम व्रत देते हैं। जिस तरह तन्दुरुस्त शरीर के लिए ताकत की दवाओ की जरूरत नही होती ठीक उसी तरह सबल मन व्रतो और उनके नित्य स्मरण विना अपना स्वास्थ्य बनाये रख सकता है। पर व्रतो का ध्यानपूर्वक विचार करने से मालूम हो जायगा कि हममे से अधिकाश इतने दुर्बल है कि हमे इनकी सहायता की आवश्यकता पडती है।

—सेवाग्राम, १।४।१९४०। ह० से०, ६।४।१९४०]

८७. प्रायश्चित्त

दोष सब करते है लेकिन उसको स्वीकार करना उस दोष का सच्चा प्रक्षालन (प्रायश्चित्त) है।

—सेवाग्राम, ३।६।१९४०। बापू के पत्र : बीबी अमतुस्सलाम के नाम, पृ० १६६, न० जी० प्र० म०]

८८. गुणग्राहिता

हम गुणग्राही बनकर रहे। दूसरो का अवलोकन करके हम उनके गुणो का अनुकरण करे और अवगुणो को सहन करे, क्योकि अवगुणो को दूर करने का सबसे सच्चा उपाय यही है।

—महाबलेश्वर, ३।५।१९४५। बापू के पत्र : मणिबहिन पटेल के नाम, पृ० १३८, न० जी० प्र० म०]

८९. त्याग और सेवा

पावन शरीर सेवा के लिए ही बनाया गया है, भोग के लिए हर्गिज नही। सुखी जीवन का रहस्य त्याग मे है। त्याग ही जीवन है। भोग मृत्यु है। इसलिए हरएक का हक है और उसकी इच्छा होनी चाहिए कि वह निष्काम भाव से सेवा करते हुए सवा सौ वर्ष जिये। ऐसा जीवन पूरी तरह और एकमात्र सेवा के लिए ही समर्पित होना चाहिए।

ऐसी सेवा के खातिर किया हुआ त्याग अवर्णनीय आनन्द देता है। उसे कोई छीन नहीं सकता, क्योंकि इस अमृत का स्रोत भीतर होता है। वही जीवन को पोषण देता है। उसमे चिन्ता या अधीरता की गुंजाइश नहीं हो सकती। इस आनन्द के बिना दीर्घ जीवन असम्भव है, और सम्भव भी हो तो उसका कोई मूल्य नहीं है।

—ह० ज० २४।२।१९४६]

● सुखी जीवन का रहस्य त्याग मे है।
● त्याग ही जीवन है। भोग मृत्यु है।

९०. दान की मर्यादा

एक सज्जन के लिखने का निचोड़ यह है—

"आप धनिकों से काफी दान लेते हैं। उसका सदुपयोग ही होता होगा, इसमे शक नहीं। सवाल तो यह है कि क्या ऐसा दान किसी भी काम मे ला सकते हैं? क्या उसमे दानियो की प्रतिष्ठा नहीं बढती? इसमे तो ब्लैक मार्केटवाले भी आते हैं। इस दान मे क्या गरीबो को कुछ भी लाभ हो सकता है?"

इसकी तह मे सवाल तो यह आता है कि दानमात्र दूषित है। इसमे भी मेरे मन मे शक नही है। लेकिन दुनिया इस तरह नही चलती। गीताकार ने तो कहा है कि सब आरम्भ दूषित होते हैं, इसलिए सब कार्य अनासक्ति मे ही करो। ईशोपनिषद् कहता है, सब ईश्वरार्पण करके ही करो। अगर सब लोग दान लेना ही बन्द कर दे, तो भी हमे मानना पड़ेगा कि धनिक धन इकट्ठा करना नही छोड़ेंगे हम यह भी जानते हैं कि चन्द धनिक ऐसे कजूस होते है कि कुछ दान ही नही देते। चन्द दुरुपयोगी दान देते है। इसलिए इतना ही कहा जा सकता है कि दान लेने मे हम मर्यादा रखें, स्वार्थलाभ के लिए एक कौड़ी भी न ले। जो कुछ लें, उसमे ईश्वर को साक्षी समझे।

हाँ, मै इतना अवश्य कहूगा कि अगर हम किसी वर्ग के या व्यक्ति के प्रति कटु भाव रखते हो, तो हमे उनका दान नही लेना चाहिए। जिनके मन मे नीति-अनीति का भाव पैदा होता है उनके लिए ही ऐसी चर्चा हो सकती है।

—शिमला, ५।५।१९४६। ह० से०, १२।५।१९४६]

९१. दोष-दर्शन

[सुश्री मदालसा को लिखे पत्र से]

हम दूसरो के दोष न देखे, अपने ही देखे। इसी से जीवन सुखी होता है और हम स्वच्छ रहते है।

—सेवाग्राम, २४।८।१९४६। बापू के पत्र : बजाज परिवार के नाम, पृ० २४७, अ० भा० स० से० सं०]

९२. पर-दोष-दर्शन त्याज्य है

[सुश्री मदालसा को लिखे पत्र से]

तुम अपने दोष और दूसरो के गुण ही देखोगी तो सपाटे से आगे बढोगी और सुख अनुभव करोगी। दु ख जैसी कोई बात नही मालूम होगी। हमे किसी से कोई आशा रखने का कोई अधिकार नही है। हम देनदार हैं इसी कारण जन्म लेते है। लेनदार तो हैं ही नही। यह बात यदि तुम्हारी समझ मे आ जाय तो सारा जगत् तुम्हे सरल मालूम होगा। यह ज्ञानवार्त्ता नही है, परन्तु जीवन-प्रवाह सरलता से बहाने का सही मार्ग है।

—नई दिल्ली, ११।९।१९४६। बापू के पत्र : बजाज परिवार के नाम, पृ० ३५९, अ० भा० स० से० सं०]

९३. क्रोध

क्रोध को जीतना होगा। यह काम जगलो मे होता नही है। क्रोध का मौका आने पर भी जब अकुश मे रहता है, तभी दबता है कि नही, यह समझ मे आ सकता है।

—दिल्ली, ५।५।१९४७। बापू की छाया मे, बलवन्तसिंह, पृ० ३१२, संस्करण १९५७, न० जी० प्र० मं०]

९४. सेवा-धर्म

तो यह शरीर हमे इसलिए दिया गया है कि हम उसके द्वारा सारी सृष्टि की सेवा कर सकें।

और जिस तरह कोई नौकर अपने मालिक से अन्न-वस्त्र आदि पाता है उसी तरह उस विश्व का स्वामी दयापूर्वक हमे जो कुछ दे दे वही हमे कृतज्ञता-पूर्वक स्वीकार करना चाहिए। हमे जो कुछ मिलता है उसे सचमुच उसकी दया का दान ही कहना चाहिए, क्योकि हम तो उसके ऋणी है और जिस तरह ऋणी मनुष्य अपना कर्त्तव्य करता है तो उसे अपने कर्त्तव्य-पालन का कोई बदला पाने का अधिकार नही होता, उसी तरह हम भी अपने कर्त्तव्य-पालन का बदला पाने का अधिकार नही है। इसलिए यदि हमे यह न मिले तो अपने स्वामी को हम दोष नही दे सकते। हमारा शरीर उसका है, वह अपनी इच्छा के अनुसार चाहे उसका पालन करे चाहे उसे फेक दे। यह कोई ऐसी बात नही जिसकी शिकायत की जाय या जिसे दयनीय माना जाय, उलटे यदि हम स्रष्टा के विधान मे अपनी उचित जगह को ठीक-ठीक समझ ले तो हम महसूस करेगे कि यह न केवल एक स्वाभाविक वल्कि सुखद और अभीष्ट स्थिति भी है। अलबत्ता, यदि हम इस सर्वोच्च आनन्द का अनुभव करना चाहते हो तो हममे वैसी प्रबल श्रद्धा अवश्य होनी चाहिए। यह आदेश सभी धर्मो मे दिया गया है कि अपने विषय मे बिल्कुल चिन्ता मत करो, सारी चिन्ता ईश्वर पर छोड दो।

इस बात मे किसी को डरने की आवश्यकता नही। जिस मनुष्य ने अपने-आपको सेवाकार्य मे हृदय से समर्पित कर दिया है वह उसकी आवश्यकता दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक अनुभव करेगा और उसकी श्रद्धा निरन्तर समृद्ध होगी। जो मनुष्य स्वार्थ का त्याग करने के लिए तैयार नही है और अपने जन्म की मर्यादाए स्वीकार करने के लिए तैयार नही है वह सेवा के मार्ग पर नही चल सकता। जाने-अनजाने हममे से हरएक कुछ-न-कुछ सेवा करता ही है। अगर हम यह सेवा समझ-बूझकर करने की आदत डाल ले तो सेवा करने की हमारी इच्छा वलवान बनेगी और वह न केवल हमारे लिए वल्कि सारी दुनिया के लिए सुख का निर्माण करेगी।

इसके सिवा न सिर्फ सज्जनो को वल्कि हम सब लोगो को अपने समस्त साधन मानव-जाति की सेवा के लिए समर्पित कर देना चाहिए। और यदि नियम ऐसा ही हो तो जाहिर है कि भोगेच्छा को जीवन मे स्थान नही हो सकता और उसकी जगह त्याग को मिलनी चाहिए। यह त्याग का कर्त्तव्य ही मनुष्य जाति को पशु-जगत् से से अलग करता है और उसे श्रेष्ठता प्रदान करता है।

कुछ लोग आक्षेप करते है कि जीवन की इस कल्पना मे आनन्द और कला को कोई स्थान नही रहता और वह गृहस्थ का विचार नही करती। लेकिन त्याग का हमारा अर्थ यह नही है कि मनुष्य दुनिया को छोड दे और जगल मे जाकर रहे।

हम तो इतना ही कहते है कि जीवन की हमारी सारी प्रवृत्तिया त्याग भावना से प्रेरित होनी चाहिए। ऐसा तो कोई नही करेगा कि यदि गृहस्थ व्यक्ति जीवन को कर्त्तव्य रूप समझे तो वह गृहस्थ नही रहता। जो व्यापारी अपना काम यज्ञ की भावना से करता है, उसके हाथो से करोडो रुपयो का लेन-देन होगा, किन्तु यदि वह यज्ञ के कानून को पालता है तो वह अपनी योग्यताओ का उपयोग सेवा के लिए ही करेगा। इसलिए वह न तो किसी को ठगेगा और न अनुचित लाभ उठाने के लिए सट्टा करेगा। वह सादा जीवन बितायेगा, किसी सजीव प्राणी को किसी भी प्रकार की क्षति नही पहुँचायेगा और खुद लाखो का नुकसान सह लेगा, लेकिन किसी दूसरे को हानि नही पहुचायेगा। कोई ऐसा ख्याल न करे कि इस किस्म का व्यापारी केवल मेरी कल्पना की ही दुनिया मे है। दुनिया के सौभाग्य से ऐसे व्यापारी पश्चिम मे भी है और पूर्व मे भी हैं। यह सच है कि ऐसे व्यापारी अगुलियो पर गिने जा सकते है। लेकिन यदि इस आदर्श को सही सिद्ध करनेवाला एक भी उदाहरण मिल जाता है तो फिर उसे काल्पनिक नही कहा जा सकता। इसमे सन्देह नही कि यज्ञ की भावना से कर्म करनेवाले ये लोग अपनी जीविका अपने कर्म से ही प्राप्त करते है। लेकिन जीविका उनका उद्देश्य नही होता, उनकी प्रवृत्ति का मात्र आनुषगिक फल होता है। यज्ञमय जीवन कला का शिखर है और वह सच्चे आनन्द से परिपूर्ण होता है।

जो मनुष्य सेवा की इच्छा रखता है, वह अपनी सुविधाओ की तनिक भी चिन्ता नही करेगा। उनका विचार वह भगवान पर छोड देता है, वह चाहे तो उनकी व्यवस्था करे और न चाहे तो न करे। इसलिए वह उसे मिलनेवाली सारी वस्तुओ का सग्रह करके अपना बोझ नही बढायेगा और उनमे से केवल उतनी ही वस्तुए लेगा जिनकी उसे अनिवार्य आवश्यकता है और बाकी को छोड देगा। असुविधा की स्थिति मे भी वह शान्त , क्रोध-रहित और प्रसन्न रहेगा। जिस तरह सदाचार का पुरस्कार सदाचार ही है, उसी तरह सेवक के लिए उसकी सेवा ही उसका पुरस्कार होगी और उसमे ही वह सन्तोष मानेगा।

दूसरो की स्वेच्छापूर्वक की गई सेवा मे सेवक को अपनी सर्वोच्च क्षमता का उपयोग करना चाहिए और अपनी सेवा की तुलना मे दूसरो की सेवा को प्राथमिकता देनी चाहिए। सच तो यह है कि सच्चा भक्त मानव-जाति की सेवा मे अपने को पूरी तरह समर्पित कर देता है।

—यरवदा मन्दिर, पृ० ५४-५५, सस्करण १९४५]

- **हमें जो कुछ मिलता है, उसे सचमुच उस (ईश्वर) की दया का दान ही कहना चाहिए।**

- अपने विषय मे बिल्कुल चिन्ता मत करो, सारी चिन्ता ईश्वर पर छोड दो।
- जो मनुष्य स्वार्थ का त्याग करने के लिए तैयार नहीं है और अपने जन्म की मर्यादाए स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है, वह सेवा के मार्ग पर नहीं चल सकता।
- भोगेच्छा को जीवन मे स्थान नहीं हो सकता।
- त्याग का कर्तव्य ही मनुष्य-जाति को पशु-जगत् से अलग करता है।
- त्याग का यह अर्थ नहीं कि मनुष्य दुनिया को छोड दे और जगल मे जाकर रहे।
- जीवन की सारी प्रवृत्तिया त्याग-भावना से प्रेरित होनी चाहिए।
- यज्ञमय जीवन कला का शिखर है और वह सच्चे आनन्द से परिपूर्ण होता है।
- सदाचार का पुरस्कार सदाचार ही है।
- सेवक के लिए उसकी सेवा ही उसका पुरस्कार होगी।
- सच्चा भक्त मानव-जाति की सेवा मे अपने को पूरी तरह समर्पित कर देता है।

९५. काम-क्रोध भाई है

मनुष्य को पापकर्म की ओर ढकेल ले जानेवाला काम है और क्रोध है। दोनो सगे भाई की भाति है, काम की पूर्ति के पहले ही क्रोध आ धमकता है। काम-क्रोधवाला रजोगुणी कहलाता है। मनुष्य के महान् शत्रु यही है। इनसे नित्य लडना है।

—मगलप्रभात। गीता-बोध, पृ० २० स० सा० म०, सस्करण १९५४]

९६. मेरा सिद्ध कवच

मैं आपको एक सिद्ध कवच दू। जब कभी आपको शका हो, या जब स्वार्थ आप पर छा जाय तब आप यह उपाय आजमाइए।

जो गरीब-से-गरीब और असहाय-से-असहाय मनुष्य आपने देखा हो उसका चेहरा याद करके अपने मन मे पूछिए कि आप जो कदम उठाने का विचार कर रहे है क्या वह उस आदमी के किसी काम का होगा? क्या उससे कोई लाभ हो

सकेगा? क्या इस कदम से उसे अपने जीवन और भाग्य पर फिर से नियन्त्रण प्राप्त हो सकेगा? दूसरे शब्दो में क्या इससे हमारे भूखे और आध्यात्मिक भोजन से वचित लाखो देशवासियो को स्वराज्य मिल जायगा?

फिर आप देखेंगे कि आपकी शकाए और आपका स्वार्थ काफूर हो जायगा।

—'दिस वाज बापू', पृ० ४८, संस्करण १९५४]
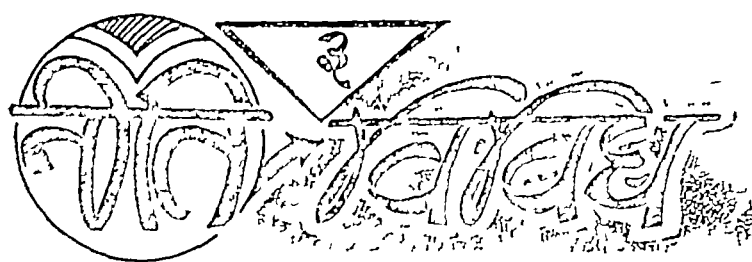
१. सदाचरण की आकाक्षा

[श्री मणिलाल गाधी को लिखे पत्र से]

तुम्हारी मेवा-भावना से अधिक मुझे तुम्हारे मदाचरण की आकाक्षा है। यदि तुम मदाचरण मे न फिसले तो ममझूगा कि मुझे मब कुछ मिल गया।

—'विटेर्नसिगल', केपटाउन, फाल्गुण सुदी ३। २८।२।१९१४। स० गा० वा, खण्ड १२, पृ० ३५७]

२. नीति की रक्षा मे मृत्यु

[श्री व्र० गो० सरैया को लिखे पत्र से]

जो कुछ आ पडे उमे आपको धीरज से महन करना चाहिए और नीति की रक्षा करते हुए मृत्यु भी स्वीकार करनी चाहिए।

—अहमदावाद, पौप सुदी १०, ३।१।१९१७। स० गा० वा०, खण्ड १२, पृ० ३२८]

३. आसक्ति-त्याग

[श्री प्रभुदास गाधी को लिखे पत्र से]

मै चाहता हू कि तुम यह समझ सको कि मैं आश्रम मे न होऊ तो भी वहा बहुत कुछ है। यदि मेरा शरीर वहा होने से ही आश्रम मे जीवन दिखाई देता हो, तो यह स्थिति ठीक नही है क्योकि शरीर तो आखिर नष्ट होगा ही। यदि वहा आत्मा की उपस्थिति मालूम होती हो तो ठीक है क्योकि वह सदा वहा बनी हुई है। हम जिस पर प्रेम रखते है, उमके शरीर के प्रति अपनी आसक्ति ज्यो-ज्यो छोडते हैं, त्यो-त्यो उसके प्रति हमारा प्रेम विशुद्ध और विस्तीर्ण होता है।

—बम्बई, २।२।१९१८। गुजराती से। 'महादेव भाईनी डायरी' खण्ड १४। स० गा० वा० खण्ड १४, पृ० १६७]

४. प्रतिज्ञा का मूल्य

आप यदि रामायण पढ़ेंगे तो समझेंगे कि प्रतिज्ञा का मूल्य बहुत बडा है। अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहने वाले को मोक्ष मिल सकता है। चाहे जितने सकट आये, आकाश-पाताल एक हो जाय, किन्तु आप अपनी प्रतिज्ञा पर आरूढ रहे
— चिखोदरा मे दिये गये भाषण से, १७।४।१९१८। गुजराती। 'खेड़ा सत्याग्रह।' स० गां० वा० खण्ड १४, पृ० ३३७]

५. स्वच्छता और आध्यात्मिक प्रगति

मैं पूरी तरह आश्वस्त हू कि हमारे देशवासी जबतक स्वच्छ नही रहते, आध्यात्मिक प्रगति नही कर सकते।
— मेरठ, २२।१।१९२०। य० इ०, २५।२।१९२०। अंग्रेजी से अनूदित। 'क्लेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गाधी', खण्ड १६, पृ० ४९५]

६. नीति-विरुद्ध धर्म-सिद्धान्त त्याज्य है

मैं किसी ऐसे धार्मिक सिद्धान्त को स्वीकार नही करता, जो बुद्धि को न जँचे और नैतिकता के विरुद्ध हो। धार्मिक भाव अनैतिक न हो तो बुद्धिसगत न होने पर भी मैं उसे सहन कर लेता हू।
— यं० इं०, २१।७।१९२०]

७. भय अनुचित

मनुष्य का डर रखना यह सूचित करता है कि हमारा ईश्वर पर अविश्वास है। जिन्हे यह विश्वास न हो कि ईश्वर हमारे चारो ओर है, सर्वव्यापी है, या यह विश्वास शिथिल हो वे अपने बाहु-बल पर विश्वास रखते हैं।
— न० जी०। हिं० न० जी०, १४।९।१९२४]

८. मेरा धर्म : सेवा

मेरा धर्म-सिद्धान्त है ईश्वर की और इसलिए मनुष्य जाति की सेवा करना पर यदि एक भारतवासी के नाते मैं भारत की और एक हिन्दू के नाते भारतीय

मुसलमानो की सेवा न करू तो मै न ईश्वर की सेवा कर सकता हू, न मनुष्य जाति की।

—य० इ० । हि० न० जी०, २६।१०।१९२४]

९. सामान्य सिद्धान्त सब धर्मो मे एक है

मैं समझता हू कि कुछ सामान्य सिद्धान्त तो सब धर्मो मे है—जैसे सच बोलना, किसी को दु:ख न देना, अतएव उनका आचरण करनेवाला जितना ईसाई है, उतना ही हिन्दू है और उतना ही मुसलमान माना जा सकता है। फिर भी मुझे अपने धर्म के द्वारा काफी शान्ति मिल रही है। यदि उसमे न मिलती हो और अन्य किसी मे मिलती हो तो मैं जरूर उसे अगीकार कर लू।

—हि० न० जी० ९।११।१९२४]

१०. प्रायश्चित्त

विधि और निषेध-सम्बन्धी पापो के लिए प्रायश्चित्त अवश्य करना पडता है। ईसाई धर्म का मुझपर बहुत ऋण है, परन्तु प्रायश्चित्त का भाव मैंने उससे नही सीखा। प्रायश्चित्त का भाव मुझे हिन्दू-धर्म से मिला है। तपश्चर्या के हजारो दृष्टान्त हिन्दूधर्म मे भरे पडे है।

—न० जी० । हि० न० जी० ७।१२।१९२४]

११. शक्ति और उसकी कार्यविधि

जो शक्ति जितनी ही उत्तम होती है, वह उतनी ही सूक्ष्म होती है और मौन रूप से काम करती है।

—य० इ०। हि० न० जी ७।१२।१९२४]

१२. दंगा

मैं आप लोगो से इतना ही कहता हू कि दगे से मत डरो। जो गये है उनका कभी नाश नही हो सकता।

—रावलपिण्डी, १०।१२।१९२४। न० जी०। हि० न० जी०, २१।१२।१९२४]

१३. न पापे प्रति पापः स्यात्

पाप के विरुद्ध पाप करके आप उसका नाश नही कर सकते। वेद या महाभारत यह नही सिखाते कि यदि मन्दिर तोडा गया तो मस्जिद भी तोडी जाय, या हमारी बहिन पर अत्याचार हुआ तो दूसरे की बहिन पर भी अत्याचार करके उसका बदला लिया जाय। मेरा धर्म तो कहता है कि यदि तुम उसकी रक्षा करते हुए प्राण दे दोगे तो जीवित ही रहोगे।

—रावलपिण्डी, १०।१२।१९२४। न० जी०। हि० न० जी०, २१।१२।१९२४]

१४. विश्वास

हम. . .एक दूसरे का विश्वास करें और हम सब सही-सलामत रहेगे। एक दूसरे का विश्वास करने का अर्थ यह कभी नही हो सकता कि हम जबानी तो एक दूसरे के प्रति विश्वास दिखायें और हृदय मे अविश्वास को ही स्थान दे। यह सचमुच भीरुता ही है। भीरु-भीरु मे या भीरु और वीरो मे मित्रता नही हो सकती।

—यं० इं०। हि० न० जी०, २१।१२।१९२४]

१५. आत्म-रक्षा

आत्म-रक्षण के दो तरीके हैं। सबसे अच्छा और प्रभावशाली कार्य है अपने स्थान पर बिना बचाव किये जोखिम उठा लेना। दूसरा अच्छा किन्तु उतना ही गौरवपूर्ण तरीका है, आत्मरक्षार्थ वीरता से लडना और सबसे ज्यादा खतरनाक स्थिति मे भी अपने को डाल देना।

—यं० इं०। हि० न० जी०, २१।१२।१९२४]

१६. देवासुर-संग्राम

मेरे दिल मे खुदा और शैतान,[1] अहुरमज्द और अहरिमान[2] की सनातन लडाई जोर-शोर से हो रही है। और यह (दिल) उनके दूसरे असख्य रणक्षेत्रो की तरह

---

१. मुस्लिम धर्मग्रन्थ कुरान के अनुसार क्रमशः दैवी और आसुरी शक्तियां।

२ पारसी धर्मग्रन्थ जेन्द अवेस्ता के अनुसार क्रमश' सात्विकी और तामसी शक्तियां।

एक खासा मैदाने जंग हो रहा है। दूसरों की चिन्ता न करना अहुरमज्द—देवता, का रास्ता है। अहरिमान हमें अपने से दूर ले जाकर अपने जाल में फाँस लेता है। ईश्वर न काबा में है, न काशी में। वह तो घट-घट में व्याप्त है, हर दिल में मौजूद है।

—य० इ०। हि० न० जी०, १।१।१९२५]

१७. भ्रामक मनोदशा

बदकिस्मती से दुनिया में बहुत-सी बातें अपनी मनोदशा के अनुसार ही करनी पड़ती हैं। यदि मैं भूल से रस्सी को साँप समझ लूं तो सम्भव है कि घबराहट के कारण मेरी हवाइयां उड़ने लगें और मैं अपने साथ खड़े उन लोगों के मनोरंजन का साधन बन बैठूं, जो जानते हैं कि दरअसल वह रस्सी है। 'मन एव मनुष्याणां[1] कारणं बन्धमोक्षयोः।'

—हि० न० जी०, १।१।१९२५]

१८. दिल साफ़ कीजिए

मैं आपसे प्रार्थना करता हूं कि आप अपना दिल साफ कीजिए, प्रेम करना सीखिए और अपने हृदय को समुद्र की तरह विशाल बना लीजिए। क्या कुरान शरीफ और क्या गीता, दोनों का यही उपदेश है। आप काजी न बनें, यदि बनेंगे तो आपके दोष देखने वाले भी हजारों निकल आयेंगे। ईश्वर ही एक न्यायमूर्ति है। आपके अन्दर अनेक शत्रु घर किये बैठे हैं, अनेक शत्रुओं ने आपको घेर रखा है। फिर भी ईश्वर उनसे आपकी रक्षा करता है और आपको अपने करुणा-कटाक्ष से शीतल करता है।

—हि० न० जी०, ८।१।१९२५]

• ईश्वर ही एक न्यायमूर्त्ति है।

१९. सच्चे सैनिक का लक्षण

गीता कहती है कि सैनिक वह है जो खतरे में पीठ नहीं दिखाता।

—य० इ०। हि० न० जी०, ८।१।१९२५]

---

१ मन ही मनुष्य की मुक्ति और बन्धन का कारण होता है।

२०. रोटी बनाम आत्म-सम्मान

मनुष्य सिर्फ रोटी खाकर ही नही जीता। बहुत से लोग भोजन से आत्म-सम्मान को अधिक पसन्द करते हैं।

—यं० इं०। हि० न० जी०, ५।२।१९२५]

२१. बन्धुत्व धर्म है

बन्धुत्व का अर्थ यह नही कि जो आपके भाई बनें, जो आपको चाहे उनके आप भाई बनें। यह तो सौदा हुआ, बदला हुआ। बन्धुत्व मे व्यापार नही होता। मेरा धर्म तो मुझे यह शिक्षा देता है कि बन्धुत्व मनुष्य के साथ नही, प्राणिमात्र के साथ होना चाहिए।...सब धर्म प्राणिमात्र के बन्धुत्व का उपदेश करते हैं।

—न० जी०। हि० न० जी०, २७।८।१९२५]

२२. इच्छाओं और प्राणियों के उपयोग का त्याग

बहुत-सी वस्तुओ का सर्वथा त्याग इष्ट है और कुछ का यथाशक्ति त्याग ही पर्याप्त है । प्रभु से उसकी समस्त कृति ओतप्रोत है। प्राणी केवल मनुष्य की अनेक इच्छाओ का मूर्त्त स्वरूप है। अतएव जिस प्रकार इच्छा का त्याग इष्ट है, उसी प्रकार अन्य प्राणियो के उपयोग का त्याग भी इष्ट है।

—न० जी०। हि० न० जी०, ८।१०।१९२५]

२३. अपना आचरण दूसरों पर मत लादिए

अन्त करण सबके लिए एक ही वस्तु नही है। इसलिए यद्यपि व्यक्तिगत आचरण के निर्णय के लिए वह अच्छा मार्गदर्शक है, लेकिन सब पर वही आचरण लादना सबके अन्त करण की स्वतन्त्रता मे असह्य हस्तक्षेप करना होगा।

—यं० इं०, २३।९।१९२६]

२४. निग्रह-नीति

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

जिस चीज को लेने की जरूरत न हो या इच्छा न हो, उसका स्वाद हमें क्यों जानना चाहिए? क्या तुम्हें मालूम है कि हर तरह के पापाचरण को उचित ठहराने के लिए यही दलीलें दी गई हैं? यह वर्जित मेव का लाखों बार दोहराया हुआ किस्सा है। अगर तुम मेरे तर्क की कद्र करती हो तो भविष्य में चेतावनी का काम देने के लिए है। मगर इसका परिणाम आत्मनिन्दा न होना चाहिए।

—ट्रेन में सौन के मध्य, १०।१।१९२७। बापू के पत्र मीरा के नाम, पृष्ठ १९; न० जी० प्र० म०]

२५. आतम-सुधार

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

आत्मसुधार में प्रफुल्लता आनी चाहिए।

— ३१।१।१९२७। बापू के पत्र मीरा के नाम, पृ० २२, न० जी० प्र० म०]

२६. मेरी नीति

लोग मेरी निन्दा करें, मेरा अपमान करें इस कारण मैं जवाब में निन्दा या अपमान न करूंगा। मैं तो वही करूंगा, जिसे करने का तुलसीदास ने उपदेश किया है यानी तपश्चर्या। मेरी प्रकृति ही ऐसी बनी है। मुझसे दूसरा क्या होगा? गीता जी ने कहा है कि सब जीव अपनी प्रकृति के अनुसार ही चलते हैं, निग्रह क्या करेगा? इसलिए मुझे तो तपश्चर्या करनी है।

— न० जी०। हि० न० जी०, ३। ३। १९२७]

---

१ मीरा बहिन ने श्री व्रजकृष्ण के यहाँ स्वादिष्ट भोजन किया था और हकीम अजमल खाँ के हाथों पान खाया था। उन्होंने स्वादिष्ट भोजन और पान लेने को उचित ठहराते हुए उसके पक्ष में तर्क दिये थे।—सम्पा०

२ बाइबिल का आदम और ईव का प्रसिद्ध किस्सा।

२७. संकोच आत्मसंयम का परिणाम हो

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

मैंने पता लगाया है कि जाने-अनजाने किसी से कुछ लिये बिना हम कभी नही देते। एक हद तक सकोच मैं सब मे चाहता हूं। मगर वह सकोच आत्मसयम का परिणाम होना चाहिए, भावुकता का नही।

— भरतपुर के बाद गाड़ी मे, २२।३।१९२७। बापू के पत्र: मीरा के नाम, पृ० २६, न० जी० प्र० म०]

२८. बुद्धि बनाम श्रद्धा

माडले से एक डाक्टर साहब ने कई सवाल भेजे है। पहिला सवाल यह है—

"एक बार य० इ० मे आपने लिखा था कि श्रद्धा का आरम्भ वहा से होता है, जहां बुद्धि की सीमा समाप्त होती है। मैं आशा करता हू कि यदि कोई आदमी अपने विश्वास का कारण न बतला सके तो उसे आप श्रद्धा कहेंगे। तब क्या यह स्पष्ट नहीं हो जाता कि श्रद्धा का अर्थ अकारण विश्वास करना है। अगर कोई आदमी किसी अकारण बात मे विश्वास करे तो क्या उसे आप उचित या सत्य समझेंगे? मै इस प्रकार विश्वास करने को मूर्खता समझता हूँ। मुझे पता नहीं कि आप का वकीली दिमाग इसे क्या कहेगा? अगर आप भी मेरी तरह सोचें तो मुझे विश्वास है कि आप श्रद्धा को मूर्खता ही कहेंगे।"

अगर योग्य डाक्टर साहब मुझे कहने दे तो मै कहूगा कि उनके प्रश्न से ही यह बात झलकती है कि उन्होने मेरा मतलब नही समझा। जो बुद्धि से परे है, वह निश्चय ही निर्बुद्धिता नही है। मूढ विश्वास का नाम अन्ध विश्वास है और वह प्राय वहम होता है। किसी को ऐसी बात मे, जिसके प्रमाण दिये जा सकते है, यू ही विश्वास करने को कहना, अवश्य मूढता है। जैसे किसी बुद्धिमान पुरुष से यह विश्वास करने को कहना कि त्रिभुज के तीनो कोणो का योग फल दो समकोण के बराबर होता है और इसके लिए कोई प्रमाण न देना, अयुक्त होगा। लेकिन किसी अनुभवी पुरुष-द्वारा दूसरे से यह कहने का, कि ईश्वर है मगर मैं उसे सिद्ध नही कर सकता, यह अर्थ है कि वह नम्रता-सहित अपनी सीमाए मानता है और दूसरे को अपने अनुभव की बात मान लेने को कहता है। यह तो केवल उस व्यक्ति की विश्वासालुता का प्रश्न है। ससार की सामान्य बातो मे प्राय धोखा खाते रहने पर भी हम लोगो की बात पर विश्वास करते हैं। तब हम जीवन-मरण की

समस्या पर संसार के सन्तो की यह बात क्यो न मान ले कि ईश्वर वास्तव मे अवश्य है और उसकी प्राप्ति सत्य और निष्पाप मार्ग (अहिंसा) से ही होगी। यह कम-से-कम इतना युक्तियुक्त अवश्य है कि मैं पत्र-लेखक से सारे संसार की साक्षी मे उतनी श्रद्धा रखने को कहूं जितनी मुझसे आशा रखेंगे कि अनेक डाक्टरो द्वारा कोई फायदा न होने पर भी मैं उनकी दी हुई दवा आँख-कान मूंदकर केवल उसी श्रद्धा-सहित खा लूं। मैं यह कहने का साहस करता हू कि श्रद्धा और विश्वास न हो तो क्षण भर मे प्रलय हो जाय। सच्ची श्रद्धा का अर्थ है उन लोगो के युक्ति-युक्त अनुभवो का आदर करना जिनके विषय मे हमारा विश्वास है कि उन्होंने तपस्या और भक्ति से पवित्र जीवन बिताया है। इसलिए प्राचीन काल के अवतारो या नबियो मे विश्वास करना व्यर्थ का श्रम नही है। यह आत्मा की आन्तरिक क्षुधा की सन्तुष्टि है। इसलिए मैंने नम्रतापूर्वक झूठ-सच की पहिचान का जो उपाय प्रस्तुत किया है, वह यह है कि जिस बात का प्रमाणित किया जा सके, उसे प्रमाण बिना नही मानना चाहिए और जिस बात को स्वानुभव बिना सिद्ध नही किया जा सकता हो उसे वेदवाक्य-सा मान लेना चाहिए।

—य० इं०। हिं० न० जी० १४।८।१९२७]

- जो बुद्धि से परे है वह निश्चय ही निर्बुद्धिता नहीं है।
- श्रद्धा और विश्वास न हो तो क्षण भर मे प्रलय हो जाय।
- अवतारो या नबियो मे विश्वास करना व्यर्थ का भ्रम नहीं है।
- यह (अवतारो या नबियो मे विश्वास) आत्मा की आन्तरिक क्षुधा की सन्तुष्टि है।

२९. मानव का कर्त्तव्य

मनुष्य सदैव अपने मन मे परमात्मा का भय रखकर चले अर्थात् एक-सी आत्मशुद्धि करता रहे। मनुष्य को सच्चा मानव बनने के लिए, जैसा कि हिन्दू और ईसाई लोग भी कहते है, द्विजन्मा अथवा पुनर्जन्मा होना जरूरी है।

—य० इं०। हिं० न० जी०, २१।४।१९२७]

३०. वास्तविक जीवन

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

हम सचमुच अपने कार्य के द्वारा और कार्य मे ही जीते है। अगर हम अपने नाशवान शरीरो को अस्थायी साधनो के तौर पर उपयोग न

[illegible] [illegible] तो उन्ही के द्वारा नष्ट हो जाते है।

— २७।४।१९२७। बापू के पत्र, मीरा के नाम, पृ० ३५, न० जी० प्र० मं०]

३१. यज्ञों का नियम

[श्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

[illegible] लगाओ [illegible] लगाओ।

— २८।४।१९२७। बापू के पत्र मीरा के नाम, पृ० ३६, न० जी० प्र० मं०]

३२. प्रदर्शन अनुचित

[कुमारी मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

मुझे सबसे ज्यादा चिन्ता इस बात की है कि तुम जैसी नही हो वैसी दीखने की कोशिश न करो। तुम जैसी हो वैसी ही स्वीकार करना और तुम्हे जैसी बनना चाहिए वैसी बनने मे मदद देना मेरा धर्म है।

— १२।५।१९२७। बापू के पत्र मीरा के नाम, पृ० ४०-४१, न०जी० प्र० मं०]

३३. सत्कार्य

[श्री घनश्यामदास बिडला को लिखे पत्र से]

मेरा तो यह विश्वास है कि सत्पुरुष के कार्य का सच्चा आरम्भ उसके देहान्त के बाद ही होता है। शेक्सपीयर का यह कथन कि मनुष्य का भला कार्य प्राय उसी के साथ चला जाता है और बुरा कार्य उसके पश्चात् रह जाता है, ठीक नही है। बुराई की कभी इतनी आयु नही होती। राम जीवित है और उनके नाम से हम पवित्र होते है। रावण चला गया और अपनी बुराइयो को अपने साथ ले गया। दुष्ट मनुष्य भी रावण नाम का स्मरण नही करते। राम के युग मे राम जाने कैसे थे। कवि ने इतना तो बता दिया है कि अपने युग मे राम पर भी आक्षेप हुआ करते थे। परन्तु आज राम की सब अपूर्णता राम के शरीर के साथ भस्म हो गई और उनको अवतारी समझकर हम पूजते हैं। राम का राज्य आज जितना व्यापक है उतना राम के शरीरस्थ रहते हर्गिज नही था। यह बात

मैं बडे भारी तत्वज्ञान की नही लिख रहा हू परन्तु मैं दृढता से यह कहना चाहता हू कि जिनको हम सन्त पुरुष मानते है उनके देहान्त का कुछ भी दु ख नही मानना चाहिए। और इतना दृढ विश्वास रखना चाहिए कि सन्त पुरुष के कार्य का सच्चा आरम्भ या कहो सच्चा फल उसके देहान्त के बाद ही होता है। अपने युग मे जो उसके बडे-बडे कार्य माने जाते है वे भविष्य मे होने के परिणाम के साथ केवल यत्किंचित् है। हा, हमारा इतना कर्त्तव्य अवश्य है कि हम अपने ही युग मे, जिनको हम सत्पुरुष माने उनकी सारी भावना का यथाशक्ति अनुकरण करे।

—नन्दी दुर्ग, ३१।५।१९२७। गाधी जी की छत्रछाया मे, पृ० ६३–६४]

- सत्पुरुष के कार्य का सच्चा आरम्भ उसके देहान्त के बाद ही होता है।
- बुराई की कभी इतनी आयु नहीं होती।
- जिनको हम सन्त पुरुष मानते है उनके देहान्त का कुछ भी दु ख नहीं मानना चाहिए।

३४. आत्म-हनन

आत्महत्या करनेवाले ससार की झूठी चिन्ता करनेवाले होते है या दुनिया मे अपने दोष छिपानेवाले होते हैं। हम जो नही है वह दीखने का ढोग कभी न करें, जो न हो उसे करने के मनोरथ न करे।

— १।८।१९२७। श्रावण सुदी ४ सम्वत् १९८३। बापू के पत्र' आश्रम की बहिनो को, पृ० ४१, न० जी० प्र० म०]

३५ ईश्वर के राज्य की खोज कीजिए

किसी पवित्र ध्येय मे कभी पराजय स्वीकार मत कीजिए। और आज से यह दृढ निश्चय कर लीजिए कि आप शुद्ध और पवित्र रहेगे और आपको ईश्वर की ओर से उत्तर मिलेगा। ईश्वर आपकी प्रार्थना अवश्य सुनेगा। परन्तु ईश्वर अहकारी मनुष्य की प्रार्थना कभी नही सुनता। न वह उन लोगो की प्रार्थना सुनता है जो उसके साथ सौदा करते है। यदि ईश्वर की सहायता आपको चाहिए तो आप जैसे है वैसे ही उसके पास जाय। बिना किसी चोरी या दुराव-छिपाव के उसकी शरण मे जाय, साथ ही अपने मन मे यह भय या शका भी न रखे कि वह आपके-जैसे पतित की सहायता कैसे कर सकता है। जिसने अपनी शरण मे आने वाले लाखो-करोडो मनुष्यो की सहायता की है वह आपको ही कैसे छोड देगा ?

३३. १

[श्री घनश्यामदास बिड़ला

मेरा तो यह . . विश्वास है कि सत्पुरुष के
देहान्त के बाद ही होता है। शेक्सपीयर का यह कथ·
प्राय उसी के साथ चला जाता है और बुरा कार्य उस·
ठीक नही है। बुराई की कभी इतनी आयु नही होती। रा
उनके नाम से हम पवित्र होते है। रावण चला गया और अपनी ु
साथ ले गया। . . दुष्ट मनुष्य भी रावण नाम का स्मरण नही
के युग मे राम जाने कैसे थे। कवि ने इतना तो बता दिया है कि अपने यु·
पर भी आक्षेप हुआ करते थे। परन्तु आज राम की सब अपूर्णता राम के·
के साथ भस्म हो गई और उनको अवतारी समझकर हम पूजते है। राम का
आज जितना व्यापक है उतना राम के शरीरस्थ रहते हर्गिज नही था। यह

उत्तर—'भक्त आरम्भ न करे' इसका मतलब यह है कि किसी भी व्यवसाय के मसूबे न गाठे। जैसे एक व्यापारी आज कपडे का व्यापार करता है तो कल उसमे लकडी का और शामिल करने का उद्यम करने लगा, अथवा कपडे की एक दूकान है तो कल पाँच और दूकानें खोल बैठा—इसका नाम आरम्भ है। भक्त उसमे न पडे। यह नियम सेवाकार्य के बारे मे भी लागू होता है। आज खादी की मार्फत सेवा करता है तो कल गाय की मार्फत, परसो खेती की मार्फत और चौथे दिन डाक्टरी की मार्फत। इस प्रकार सेवक भी फुदकता न फिरे। उसके हिस्से मे जो आ जाय उसे पूरी तरह करके मुक्त हो। जहा 'मै' गया, 'मुझे' क्या करने को रह जाता है?

सूतरने[1] तातणे मने हरजीए बाँधी,
जेम ताने तेम तेमनी रे
मने लागी कटारी प्रेमनी रे।

भक्त के सब आरम्भ भगवान रचता है। उसे सब कर्म-प्रवाह प्राप्त होते है, इससे वह 'सन्तुष्टो येन-केन चित्' रहे। सर्वारम्भत्याग का भी यही अर्थ है। सर्वारम्भ अर्थात् सारी प्रवृत्ति या काम नही, बल्कि उन्हे करने के विचार, मसूबे गाठना। उनका त्याग करने के मानी उनका आरम्भ न करना, मसूबे गाठने की आदत हो तो उसे छोड देना। 'इदमद्यमया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्'-यह आरम्भ-त्याग का उलटा है।

——मगल प्रभात, ४।११।१९३०। गीता-बोध, पृ० ६६–६७, स० सा० म०, सस्करण १९५४]

३९. मानस रोग की चिकित्सा : संस्कार

हम लोग जब कभी बीमार पडते है, साधारणतया उसके पीछे-पीछे न केवल आहार-सम्बन्धी त्रुटि ही होती है, अपितु हमारे मस्तिष्क का ठीक-ठीक काम न करना भी होता है। गीताकार ने स्पष्टत इस चीज को देखा और साफ-साफ भाषा मे सस्कार को उसकी रामबाण औषधि बताया। इसलिए जब कभी कोई चीज तुम्हारे मस्तिष्क को हैरान करती हो तो तुम्हे गीता की मुख्य शिक्षा पर

---

१ मुझे भगवान ने सूत के धागे से बांध लिया है। वे (धागे को) ज्यो-ज्यो तानते हैं, मै उनकी होती जाती हूं। मुझे तो प्रेम-कटारी लगी है।

सहायता करने मे वह कभी कोई अपवाद नही करता। आप देखेंगे कि आपकी प्रत्येक प्रार्थना सुनी जाती है। पतित-से-पतित और पापी-से-पापी की प्रार्थना भी ईश्वर सुनेगा। ये सब बाते मैं अपने व्यक्तिगत अनुभव से आपके सामने कह रहा हू। मैं इस यातना मे से गुजर चुका हू। सबसे पहिले ईश्वर के राज्य की खोज करे। उसके बाद और सब चीजे आपको अवश्य ही मिल जायंगी।

—य० इं०, ४।४।१९२९]

● **ईश्वर अहंकारी मनुष्य की प्रार्थना कभी नहीं सुनता।**

३६. शरीर का अस्तित्व

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

जबतक ईश्वर मेरे शरीर की रक्षा करना चाहता है, तबतक वह मुझे बचाता है। जिस क्षण उसकी जरूरत पूरी हो जायगी, उस क्षण मेरी कोई सावधानी मुझे बचा नही सकेगी।

—८।४।१९२९। बापू के पत्र : मीरा के नाम, पृ० ७३, न० जी० प्र० मं०]

३७. पतन का मार्ग

जो स्वार्थ का विचार करते होंगे उनका पतन जरूर होगा। जो सेवा-परायण रहेंगे, उन्हे पतन का समय भी कहा से मिलेगा? मेरा सदा यह अनुभव रहा है कि जितने गिरे हैं, व सत्य-विमुख रहे हैं और हुए है। पाप-कर्म को अँधेरे की जरूरत होती है। वह ज्यादातर छिपकर ही होता है। ऐसे मनुष्य देखे जाते है जिन्होने शर्म छोड दी है और जो खुलकर पाप-कर्म करते हैं, और कुछ ऐसे भी है जो पाप को पुण्य मानते है। हम ऐसो की बात तो नही करते।

—दिल्ली, २३।१२।१९२९। बापू के पत्र : आश्रम की बहिनो को, पृ० ९३, न० जी० प्र० म०]

● **पाप-कर्म को अँधेरे की जरूरत होती है।**

३८. आरम्भ न करने का अर्थ

[प्रश्नोत्तर]

प्रश्न—भक्त आरम्भ न करे का क्या मतलब है, कोई दृष्टान्त देकर समझाइएगा?

उत्तर—'भक्त आरम्भ न करे' इसका मतलब यह है कि किसी भी व्यवसाय के मसूबे न गाठे। जैसे एक व्यापारी आज कपड़े का व्यापार करता है तो कल उसमे लकड़ी का और शामिल करने का उद्यम करने लगा, अथवा कपड़े की एक दूकान है तो कल पाच और दूकाने खोल बैठा—इसका नाम आरम्भ है। भक्त उसमे न पडे। यह नियम सेवाकार्य के बारे मे भी लागू होता है। आज खादी की मारफत सेवा करता है तो कल गाय की मारफत, परसो खेती की मारफत और चौथे दिन डाक्टरी की मारफत। इस प्रकार सेवक भी फुदकता न फिरे। उसके हिस्से मे जो आ जाय उसे पूरी तरह करके मुक्त हो। जहाँ 'मै' गया, 'मुझे' क्या करने को रह जाता है?

सूतरने[1] तातणे मने हरजीए बाँधी,
जेम ताणे तेम तेमनी रे
मने लागी कटारी प्रेमनी रे।

भक्त के सब आरम्भ भगवान रचता है। उसे सब कर्म-प्रवाह प्राप्त होते है, उसमे वह 'सन्तुष्टो येन-केन चित' रहे। सर्वारम्भत्याग का भी यही अर्थ है। सर्वारम्भ अर्थात सारी प्रवृत्ति या काम नही, बल्कि उन्हे करने के विचार, मसूबे गाठना। उनका त्याग करने के मानी उनका आरम्भ न करना, मसूबे गाठने की आदत हो तो उसे छोड देना। 'इदमद्य मया लब्धमिम प्राप्स्ये मनोरथम्'-यह आरम्भ-त्याग का उल्टा है।

—मगल प्रभात, ४।११।१९३०। गीता-बोध, पृ० ६६–६७, स० सा० म०, सस्करण १९५४]

३९. मानस रोग की चिकित्सा : संस्कार

हम लोग जब कभी बीमार पड़ते है, साधारणतया उसके पीछे-पीछे न केवल आहार-सम्बन्धी त्रुटि ही होती है, अपितु हमारे मस्तिष्क का ठीक-ठीक काम न करना भी होता है। गीताकार ने स्पष्टत इस चीज को देखा और साफ-साफ भाषा मे सस्कार को उसकी रामबाण औषधि बताया। इसलिए जब कभी कोई चीज तुम्हारे मस्तिष्क को हैरान करती हो तो तुम्हे गीता की मुख्य शिक्षा पर

---

१ मुझे भगवान ने सूत के धागे से बांध लिया है। वे (धागे को) ज्यो-ज्यो तानते हैं, मैं उनकी होती जाती हूं। मुझे तो प्रेम-कटारी लगी है।

४६. पर-दोष-दर्शन

किसी के छिद्र देखना और किसी का न्याय करना हमारा काम नही है। हमे अपना न्याय करते-करते थकावट लगनी चाहिए, और जबतक हमे अपने मे एक भी दोष दिखाई देता हो और इस दोष के होते हुए भी हमारी अन्तरात्मा यह चाहती हो कि सगे-सम्बन्धी और मित्र वगैरह हमे न छोडे, तबतक हमे औरो के दोष देखने का हक नही है। जब हमे चाहे—अनिच्छा से—दूसरो के ऐसे दोष दिख जाय, तब हममे शक्ति हो और ऐसा करना उचित हो, तो हमने जिसके दोष देखे हो उससे पूछे। मगर और किसी से पूछने का हमे अधिकार नही है।
— २।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १३१]

४७. दया-धर्म

वीतराग पुरुष दया का सागर होना चाहिए। और जहा करोडो के प्रति दया की बात है, वहा यह कहना कि यह दया सात्विक होने पर भी रागरहित नही है या तो दया का अर्थ न समझना है या उसका नया अर्थ करना है। आमतौर पर हम दया का वही अर्थ करते है, जिसमे तुलसीदास जी ने दया शब्द का इस्तेमाल किया है। तुलसीदास जी का अर्थ नीचे के दोहे मे साफ जाहिर है—

दया धर्म को मूल है, पाप (देह) मूल अभिमान।
— १२।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १४९]

● वीतराग पुरुष दया का सागर होना चाहिए।

४८. मृत्यु और शरीर-पोषण

[सुश्री हेमप्रभा बहिन के लड़के की बीमारी का समाचार सुनकर उन्हें लिखे गये पत्र से]

वैसे तो मरना और जीना एक ही सिक्के के दो पहलू हैं और हम जितने आनन्द से जीते है उतने ही आनन्द से हमे मरना चाहिए। फिर भी जबतक जीवन है, तबतक शरीर को उसका हक देना ही चाहिए। यह तो हमारे लिए ईश्वर की दी हुई धरोहर है। और हमे उसकी उचित सम्हाल रखनी ही चाहिए।
—२२।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १६५]

● मरना और जीना एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

● यह (शरीर) तो हमारे लिए ईश्वर की दी हुई धरोहर है।

४९. हमारा कर्त्तव्य : सेवा

[सुश्री लारी सोवर को लिखे पत्र से]

जिन्हें ईश्वर पर श्रद्धा है, उनके लिए मौत और जिन्दगी बराबर है। हमारा फर्ज तो आखिर दम तक सेवा करना है।

—१९।६।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० २२८]

५०. वीरमृत्यु और मोक्ष

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

बहादुरों को मौत का आनन्द एक ही बार मिलता है, इस वाक्य में जो गहरा अर्थ भरा है वह तुम्हारे ध्यान में नहीं आया दीखता। इसमें हिन्दुओं की मोक्ष-भावना के अनुसार पूरा सत्य समाया हुआ है। इसका अर्थ है जन्म-मरण के फेर से छुटकारा पाना। बहादुरों का अर्थ 'ईश्वर की खोज में बहादुर' करें, तो ऐसे लोग एक ही बार मरते हैं। उन्हें दुबारा जन्म लेना या मरना नहीं पड़ता।

—२२।६।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० २४०]

५१. बुराई और भलाई

[एक पत्रांश]

बुराई इस दुनिया में क्यों है और क्या चीज है, ये प्रश्न हमारी मर्यादित बुद्धि से परे हैं। हमारे लिए इतना जानना काफी है कि बुराई और भलाई दोनों हैं, और जब-जब हम इन दोनों को अलग-अलग जान सकें, तब-तब हमें भलाई को पसन्द करना चाहिए और बुराई को छोड़ना चाहिए।

—१४।७।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० २८६]

५२. तत्वज्ञान जो प्रेममय सेवा में नहीं बदलता

[एक पत्रांश]

हमारे तत्वज्ञान की खाक के बराबर कीमत नहीं, अगर वह तत्काल प्रेममय सेवा में नहीं बदल जाता।

—३१।७।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ३३१]

५३. व्यक्तिपूजा : गुणपूजा

[सुश्री प्रेमा बहिन कटक को लिखे पत्र से]

तुम नारदमुनि का उदाहरण तो देती हो, परन्तु उनके वचनो का रहस्य कहा जानती हो ? उनके जैसी व्यक्तिपूजा जरूर करो। वह करने योग्य है। जैसे ऐतिहासिक वैकुण्ठ के भगवान वैसे ही उनके कृष्ण। नारद मुनि के भगवान उनके कल्पना-मन्दिर मे विराजमान थे। वे नारदमुनि तो आज भी है और उनके कृष्ण भी है, क्योकि वे दोनो हमारी कल्पना मे ही रहे है। मेरे खयाल से इतिहास की अपेक्षा कल्पना बढकर है। राम से नाम का दर्जा ऊचा है, तुलसीदास ने जो यह कहा है उसका अर्थ यही हो सकता है। तुम व्यक्ति-पूजा के चक्कर मे पडी हो इसीलिए मुझे चिन्ता मे डालती हो न ? आश्रम के बारे मे तुम मुझे वेफिक्र नही कर सकती। नारणदास कर रहे है। ऐसे और भी नमूने बता सकता हू। वे भी व्यक्तिपूजक तो है ही। कौन नही है ? मगर अन्त मे वे व्यक्ति को पार करके उसके गुणो या उसके कार्य के पुजारी बन जाते हैं। यह अमूल्य वस्तु भूलकर हमने अपनी मूढता मे स्त्रियो को सती होना सिखाया। यह व्यक्तिपूजा की पराकाष्ठा है। वैसे पत्नी का धर्म तो यह है कि खुद पति का काम अपने मे अमर करे, पति-पत्नी के अन्दर से विकार और नर-मादा का विचार निकल जाय, तो यह आदर्श सारे ससार के लिए हर हालत मे लागू होता है। यानी यह प्रेम जाकर भगवान मे मिलता है।

— १२।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ३५३]

- इतिहास की अपेक्षा कल्पना बढकर है।
- राम से नाम का दर्जा ऊँचा है।
- कौन (व्यक्ति-पूजक) नहीं है ?
- यह (सती-प्रथा) व्यक्तिपूजक की पराकाष्ठा है।

५४. विश्वास : एक सुखद नीति

[एक पत्रांश]

जैसे हम यह चाहते हैं कि दुनिया हमारी बात पर विश्वास रखे, वैसे ही हम भी दूसरे की बात पर विश्वास रखें। वह विश्वासपात्र साबित न हो तो पछतायें नही। विश्वास रखनेवालो ने दुनिया मे आज तक कुछ भी नही खोया और विश्वास-घात करनेवाले करोडो रुपया पाने की कोशिश मे खोते ही है। हमारी आत्मा मैली

हो जाय तो हमने खोया ही। धन-दौलत तो आती-जाती ही रहती है। चली जाय तो रंज हर्गिज न करें।

— १६।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ३६१]

५५. व्रत का आशय

[श्री मथुरादास को लिखे पत्र से]

व्रत का अर्थ ही यह है कि जिस चीज का व्रत लिया है, उसके विषय में हमें मन रोकने का प्रयत्न नहीं करना पड़ता। जैसे व्यापारी किसी चीज का सौदा कर लेता है तो फिर उसका विचार नहीं करता और दूसरी चीज पर ध्यान देता है, वैसी ही बात व्रतों की है।

— २०।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ३६७]

५६. दुःखों की प्राणवायु

[सुश्री उर्मिला बहिन को लिखे पत्र से]

जो आज हो सकता है, उसे कल पर न छोड़ो, और जो अभी हो सकता है उसे दूसरे क्षण के लिए न छोड़ो। इस दुनिया में केवल सुख हो, तो हमारा जीवन उनसे ऊब जाय। दुःखों की प्राणवायु के बिना हम मर जायं।

— ९।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १०१]

५७. सच्ची निवृत्ति

[सुश्री उर्मिला देवी को लिखे पत्र से]

गीता के सतत अध्ययन से तुम्हें तमाम चिन्ताओं से मुक्त रहना सीखना चाहिए। जब हम सबकी फिक्र करनेवाला ईश्वर बैठा है, तब हम यह बोझ नाहक क्यों ढोयें? हम तो अपने हिस्से में आया हुआ काम कर दें और निश्चिन्त रहें।

इसीलिए मैं कहता हूं कि तुम निवृत्ति का विचार ही न करो। सच्ची निवृत्ति शरीर से नहीं होती, वह तो अन्दर से पैदा होती है। सतत प्रवृत्ति के बीच हमें निवृत्ति ढूंढनी है। गुफा में रहनेवाले लोगों के मन भी अक्सर सतत निवृत्ति में नहीं होते।

—२२।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १४१]

● सतत प्रवृत्ति के बीच हमें निवृत्ति ढूंढनी है।

५८. झूठ बोलने और चोरी करने की आदत

[एक छोटी लड़की को, जिसे धोखा देने और झूठ बोलने की आदत पड गई थी, लिखे पत्र का अश।—सम्पा०]

मुझे आशा है तूने झूठ न बोलने और चोरी न करने का जो वचन दिया है, उसका पालन करेगी। तुझे यह पसन्द नही होगा कि दूसरे लोग तुझे धोखा दें या तेरी चीज चुराये। इसलिए तुझे यह आशा हर्गिज न रखनी चाहिए कि तू दूसरो को धोखा दे या दूसरो की चीजें चुराये, तो वे उसे पसन्द करेंगे।
— ३१।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १६०]

५९. मौन की कोटियां

[एक पत्रांश]

पीडित अपने दर्द के कारण मौन लेते है। कोई वक्ता अपने कण्ठ को आराम देने के लिए मौन लेते हैं। कोई अन्तर्मुख होने के कारण मौन लेते हैं। तीनो को अपने हेतु के अनुकूल लाभ मिल सकता है। जो अन्तर्मुख होने के कारण मौन लेंगे, वे सामान्यतया उस दिन एकान्त मे रहेगे, उपवास या अल्पाहार करेंगे। आवश्यक होने पर अन्तर्मुखता बढानेवाले ग्रन्थो का मनन करेंगे। येन-केन-प्रकारेण मौन लेने का कम ही लाभ हो सकता है, और हानि होने की सम्भावना रहती है। सत्यार्थी की प्रत्येक प्रवृत्ति का स्पष्ट हेतु होता है।
— ३१।१०।१९३२। म०भा०डा०, भाग, २ पृ० १५१]

६०. शरीर के प्रति दृष्टिकोण

[श्री सतीश बाबू के रुग्ण पुत्र को लिखे पत्र से]

...शरीर को अपना नही मानना चाहिए। । यह शरीर ईश्वर का है। ईश्वर ने उसे तुझको थोडे समय के लिए स्वच्छ और नीरोग रखने के लिए और सेवा मे लगाने के लिए दिया है। इसलिए तू उसका ट्रस्टी है, मालिक नही। मालिक अपनी सम्पत्ति का दुरुपयोग भी कर सकता है, मगर ट्रस्टी या रक्षक को तो बहुत ही सावधानी रखनी चाहिए। सौंपी हुई सम्पत्ति का उसे अच्छा-से-अच्छा उपयोग करना है। इसलिए तुझे शरीर के बारे मे चिन्ता तो नही करनी चाहिए, मगर साथ ही उसकी यथासम्भव सम्हाल अवश्य रखनी चाहिए। ईश्वर की जब इच्छा होगी, तब वह इसे वापस ले लेगा।
— ५।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १७५]

६१. भगवान और हम

[कीकी लालवानी को लिखे पत्र से]

भगवान ने ही गीता में बताया है कि वह तो क्षण का भी आराम नहीं लेता। उसे तो न सोना चाहिए, न खाना चाहिए, न पानी चाहिए। तब हमारे नसीब में भी आराम कैसे हो सकता है?

— ८।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १८७]

६२. शरीर-रक्षा

[श्री जमनालाल बजाज को लिखे पत्र से]

शरीर को अमानत समझकर यथासम्भव उसकी रक्षा करना रक्षक का धर्म है।

— यरवदा मन्दिर, ८।११।१९३२। बापू के पत्र बजाज परिवार के नाम पृ० ८३, अ० भा० स० से० स०]

६३. स्वच्छ विचार और स्वच्छ जीवन

[श्री वेरियर एल्विन को उनके आश्रम के लिए प्रेषित सन्देश से]

स्वच्छ हवा, स्वच्छ पानी, सादा भोजन और स्वच्छ विचार यानी ईश्वर के साथ सच्ची एकता, ये चार मुख्य नियम हैं। चौथे नियम में से पहिले तीन निकलते हैं। इसी तरह तुम्हारी अंग्रेजी कहावत है—सादा जीवन और उच्च विचार। इस वचन को मैं इस तरह और भी सरल बनाता हूं, स्वच्छ विचार और स्वच्छ जीवन।

— १३।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २०१]

६४. सम्पूर्णता

[श्री नटराजा को लिखे पत्र से]

ईश्वर अपनी आवाज सुनने के लिए पवित्र-से-पवित्र साधन पसन्द करता है। परन्तु हम पामर प्राणियों के लिए सम्पूर्णता के निकट पहुंचना ही सम्भव है। जब-तक हम यह शरीर धारण किये हुए हैं, तबतक पूर्णता प्राप्त नहीं की जा सकती।

— १६।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २०७]

६५. ईश्वर : शरीर का स्वामी

[एक बंगाली असिस्टेण्ट एकाउण्टेण्ट जनरल को लिखे पत्र से]

आप मेरे शरीर की बहुत चिन्ता रखते हैं, जिसकी मैं कद्र करता हूं। आप जो यह कहते है कि यह राष्ट्र की सम्पत्ति है, इसे मैं पूरी तरह स्वीकार करता हू। मगर राष्ट्र ईश्वर का है और ईश्वर यदि इस शरीर का ऐसा कोई उपयोग करना चाहता हो तो उसका विरोध कैसे किया जा सकता है?

— २५।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २३५]

६६. ईश्वरभक्त रोगी

[श्री डाह्याभाई को लिखे पत्र से]

जो ईश्वरभक्त है, वह तो बीमारी का भी सदुपयोग कर सकता है, बीमारी से हारता नही।

— २६।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २३९]

६७. प्रार्थना

[एक बंगाली युवक को लिखे पत्र से]

तुम अच्छा बनने का दृढ सकल्प कर लो। स्वय को अच्छा बनाने की प्रार्थना भगवान से सदा करो, तो तुम अच्छे बन जाओगे।

— २९।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २४३]

६८. सम्पूर्ण स्वार्पण

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

सम्पूर्ण स्वार्पण का अर्थ ही यह है कि किसी भी तरह की चिन्ता से पूरी तरह मुक्त रहे। बच्चा कभी कोई चिन्ता करता है? वह सहजवृत्ति से ही जानता है कि माता-पिता उसकी सम्हाल करेंगे। यह चीज हम बडी उम्र के आदमियो के लिए तो ज्यादा सच्ची होनी चाहिए। इसी में श्रद्धा की-या तुम्हे पसन्द हो तो गीता की अनासक्ति की कसौटी है।

— ५।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० १४]

६९. अपवित्र कौन ?

क्या आप यह कहना चाहते है कि मन्दिर मे जानेवाले सभी पवित्र होते है ? कुछ तो स्त्रियो के चेहरे देखने के लिए ही मन्दिर मे जाते है। किन्तु मैं इन लोगो को अपवित्र कहने को तैयार नही, क्योकि मै भी अपवित्र हू। यदि मैं पवित्र और पूर्ण होता, तो परमेश्वर हो जाता और आसमान से शास्त्र उतारता होता।

—९।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० ३५]

७०. आत्मशुद्धि

आत्मशुद्धि की पहली सीढी यह है कि हम अपनी अशुद्धि को स्वीकार करे। हम यदि अपने को विशुद्ध मानते हो, तब तो हमे मन्दिरो मे जाने या प्रार्थना करने की कोई जरूरत ही नही। परमेश्वर क्या कोई शास्त्र पढता होगा ?

—९।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० ३४]

७१. आचरण

[श्री मगनभाई देसाई को लिखे पत्र से]

हम बडो के बल का अनुकरण करे, उनकी कमजोरी का कभी नही। बडो की लाल आँखो मे अमृत देखें, उनके लाड से दूर भागे। मोहमयी दया के वश होकर वे बहुत-कुछ करने की इजाजत दे, बहुत-कुछ करने को कहे, तब लोहे-जैसे सख्त बनकर उससे इन्कार करें। मै एक बार यदि कहू कि हर्गिज झूठ न बोलना मगर मुश्किल मे पडकर झूठ के सामने आँखे बन्द कर लू, तब मेरी आँखो की पलको को पकड कर जोर से खोल देने मे तुम्हारी भक्ति होगी, मेरे इस दोष की उपेक्षा करने मे द्रोह होगा।

—३।२।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० ११२]

७२. मृत्यु

मौत के बारे मे मैंने कुछ विचार बना रखे है। वे दृढ होते जा रहे है। मै मृत्यु को भयानक चीज नही समझता। विवाह भयानक हो सकता है, मृत्यु कभी नही।

—चादा, १४।११।१९३३। बापू के पत्र मणि बहिन पटेल के नाम, पृ० ११६, न० जी० प्र० म०]

७३. ईश्वर में आस्था और उसके नामों का झगड़ा

. . स्वात्माभिमानी कहते है कि इस पृथिवी पर कोई न्यायमूर्ति ईश्वर नही है और इसलिए उनका कहना है कि अगर उन्हे ईश्वर नाम की किसी वस्तु मे विश्वास करने को कहा जाय तो मनुष्यत्व ही उनका ईश्वर हो सकता है। मैं स्वीकार करता हू कि ईश्वर मे मेरा जरूरत से ज्यादा विश्वास है, भले ही इसे कोई अन्ध-विश्वास कहे। पर ईश्वर के लिए किस शब्द का प्रयोग किया जाय, इस पर मेरा किसी के साथ कोई झगडा नही। अगर उन्हे मानवता शब्द सन्तोप देता है, तो मैं भी अपने ईश्वर को मानवता के नाम से पुकारा करूगा।

--शियाली। मद्रास, २०।२।१९३४। ह० से०, २।३।१९३४]

७४. वैयक्तिक पवित्रता

पश्चिम मे व्यक्तिगत जीवन की पवित्रता की आवश्यकता नही मानी जाती, यह कहना पूरी तरह सही नही है। यह बात भी नही कि हमारे यहा सभी लोग उसकी आवश्यकता को मानते हैं। हम केवल उसकी आवश्यकता को ही स्वीकार नही करते, बल्कि यह मानते है कि अन्त शुद्धिरहित बुद्धि से होनेवाले कार्य कितने ही सुन्दर क्यो न लगते हो, तो भी उनमे स्थायित्व कभी नही रहेगा। तात्का-लिक परिणामो के आधार पर ऐसे कार्यों की तुलना की ही नही जा सकती। हा, जिनका नीति के साथ सम्बन्ध न हो उन कार्यों मे अन्त शुद्धि की जरूरत नही होती। सत्यनिष्ठा से किये गये कामो के परिणाम अवश्य आयेंगे, इस बारे मे शका ही नही हो सकती। इतना विश्वास न हो तो हम नीति की रक्षा कभी कर ही नही सकते।

—बोरसद, २८।५।१९३५। बापू के पत्र, कुमारी प्रेमा बहिन कंटक के नाम, पृ० २४६ न० जी० प्र० म०]

७५. आलस्य-त्याग

[श्री कमलनयन बजाज को लिखे पत्र से]

आलस्य छोडने के लिए सबसे अच्छी बात यह है कि नित्य के नियम बना लेना और उस पर कायम रहना।

—वर्धा, २५।७।१९३५। बापू के पत्र : बजाज परिवार के नाम, पृ० २१८, अ० भा० स० से० सं०]

७६. संयम और आश्रम-जीवन

[सुश्री मदालसा को लिखे पत्र से]

जो सयम पालन करना हो, उसे स्वाभाविक रीति से पालन करना चाहिए आश्रम का जीवन व्यतीत करने से स्वतन्त्रता आती है, उद्दण्डता, अविनय, अभिमान कभी नही।

—वर्धा, २१।८।१९३५। बापू के पत्र · बजाज परिवार के नाम, पृ० २४०, अ० भा० स० से० स०]

७७. पितृभक्ति का अर्थ

तू बीमार क्यो पडती है? पितृभक्ति का यह अर्थ तो नही करती कि पिता बीमार पडे तो तू भी बीमार हो जाय? माता-पिता अपग थे तब श्रवण ने अपना शरीर व ग्र-जैसा बनाया और अपने कन्धे पर रखकर दोनो को यात्रा कराई।

—वर्धा, ३१।१०।१९३५। बापू के पत्र मणिबहन पटेल के नाम, पृ० १२०, न० जी० प्र० म०]

७८. शरीर

शरीर को ईश्वर की दी हुई सम्पत्ति मानकर तू उसका उपयोग करे तो इस तरह बीमार न पडे। शरीर से जितना सहन हो उतना ही काम करके सन्तोष क्यो नही मानती?

—सेगाव-वर्धा, १९।११।१९३६। बापू के पत्र कुमारी प्रेमा बहिन कटक के नाम, पृ० २७०, न० जी० प्र० म०]

७९. आचरण को वाणी की जरूरत नही

[ईसाइयो के सामूहिक आन्दोलनो मे रुचि रखने वाले कुछ लोग गाधी जी से मिलने आये। उन्होंने गाधी जी से अनेक ऐसे प्रश्न पूछे जो सभी विचारशील मिशनरियो के दिमाग मे उथल-पुथल मचा रहे प्रतीत होते थे। इस वार्ता के आवश्यक अश यहा सकलित किये जा रहे हैं।—सम्पा०]

प्रश्न—ईसाई पादरी विज्ञान के क्षेत्र में भारतवर्ष की सेवा करें, इसके अलावा पूर्व और पश्चिम का सम्बन्ध स्थापित करने मे वे अगर ईसाई धर्म का प्रचार करें तो आपको वह अप्रस्तुत मालूम होता है ?

उत्तर—हा, मैं यह जरूर कहता हू। पर मेरे कहने मे एक मर्यादा है। सच्चा धर्म-प्रचार स्वाभाविक वस्तु है। इससे इन्कार करना व्यर्थ है। आपको जब यह प्रतीत होता है कि बाइबिल के आपके किये हुए विशिष्ट अर्थ से आपको शान्ति मिली है, तब आप उसमे से दूसरो को हिस्सा देते है। पर आपको यह वाणी-द्वारा बताने की जरूरत नही। आपकी जीभ की अपेक्षा आपका सारा जीवन अधिक जोर से बोल उठेगा। विचार को पूर्णतया प्रकट करने मे भाषा हमेशा विघ्नरूप हो जाती है। उदाहरण के लिए, आप जिस प्रकार बाइबिल पढते हैं, उसी प्रकार उसे पढ़ने के लिए दूसरो को आप किस तरह कहेगे ? आपको उससे प्रतिदिन और प्रतिक्षण जो प्रकाश मिलता है, उसे आप दूसरो को वाणी के द्वारा किस प्रकार देगे ? इसलिए सभी धर्म कहते है, तुम्हारा आचरण ही तुम्हारी वाणी है। आपमे अगर पर्याप्त नम्रता होगी तो आप कहेगे कि हम वाणी या लेखनी-द्वारा अपने धर्म का पूर्ण आविष्कार नही कर सकते।

प्रश्न—पर क्या कोई मनुष्य पूरी नम्रता के साथ यह नहीं कह सकता कि मैं यह जानता हू कि मेरा आचरण मेरे आदर्श से बहुत नीचा है, फिर भी मैं अपना आदर्श समझा सकता हू ?

उत्तर—नही, जिस क्षण आप यह कहते हैं कि आचरण यथेष्ट नही है उसकी पूर्ति आपको वाणी से करनी चाहिए, उसी क्षण आप नम्रता को तिलाजलि दे देते हैं। मनुष्यो को पशुओ के पास जाकर चिल्लाकर कहना नही पडता कि वे मनुष्य हैं। पशु जानते हैं कि वे मनुष्य हैं। आत्मा की भाषा वाणी से व्यक्त नही हो सकती। वह देह से परे है।

प्रश्न—तो बिना किसी शब्दबद्ध साहित्य के मनुष्य का अनुभव पीढी-दर-पीढ़ी किस तरह दिया जा सकता और टिक सकता है ?

उत्तर—शब्दबद्ध साहित्य के लिए अवकाश ही नही, आचरण खुद ही बोल उठता है। बरसो पहले मैंने गुलाब के फूल की जो उपमा दी थी उसी को लेता हू। गुलाब जो सुगन्ध चारो ओर फैलाता है या उसके जिस सौन्दर्य को प्रत्येक मनुष्य देख सकता है उसके सम्बन्ध मे गुलाब को कोई पुस्तक लिखने या प्रवचन करने की जरूरत नही पडती। आध्यात्मिक जीवन सुन्दर और सुगन्धित गुलाब से अनन्त-गुना श्रेष्ठ है। और मैं तो कहूगा कि जिस क्षण जीवन मे आत्मा का तेज प्रकट होता है उसी क्षण आसपास के वातावरण पर उसका प्रभाव पडे बिना नही रहता।

बाइबिल, गीता, भागवत और कुरान मे ऐसे कितने ही वचन है जिनमे इस वस्तु का बडा सुन्दर रसपूर्ण वर्णन किया गया है। कहते है कि श्रीकृष्ण जहा-जहा जाते, वहा लोग उनके पीछे दीवाने हो जाते थे। ईसा के बारे मे भी ऐसा ही कहा जाता है। आध्यात्मिक जीवन मे वायरलेस की किरणो मे भी अधिक शक्ति भरी हुई है। जब मेरे और मेरे सिरजनहार के बीच किसी का माध्यम नही रहता और उसके हाथ का पात्र बनकर उसका प्रभाव अपने मे प्रवाहित होने देता हू तब गगोत्री मे गगा का जल जिस तरह उमड पडता है, उसी तरह मै उमड उठता हू। इसलिए आचरण मे भिन्न या उससे अधिक सच्चा धर्म-प्रचार दूसरा नही है।

प्रश्न—पर कोई मनुष्य इस प्रकार के आचरण के उद्गम के सम्बन्ध मे पूछे तो?

उत्तर—तब आप बोलें, पर आपकी भाषा भलीभाति विचारपूर्वक कही हुई होगी। आपको खुद यह दिखाई देगा। यह चीज पूरी तरह मे वाणी-द्वारा प्रकट नही हो सकती। लेकिन पूछनेवाला अगर सच्चा साधक होगा तो वह अधिक गहरे उतरेगा। तब आप उसे अपनी ओर आकर्षित करे। आपको उसके पास जाने की जरूरत नही रहेगी। आपकी कीर्ति इतनी फैल जायगी कि ससार के अनेक भागो मे लोग आपको देखने और आपकी बात सुनने के लिए आयेंगे। तब आप उनसे बोलें। अरविन्द घोष को ही लीजिए। जगह-जगह मे अनेक उनके पास जाते हैं। वे साल मे दो ही दिन लोगो मे मिलते है, और बात तो कभी नही करते।

—ह० ज०। ह० से० १९।१२।१९३६]

- विचार को पूर्णतया प्रकट करने मे भाषा हमेशा विघ्नरूप हो जाती है।
- तुम्हारा आचरण ही तुम्हारी वाणी है।
- आत्मा की भाषा वाणी से व्यक्त नहीं हो सकती।
- आध्यात्मिक जीवन सुन्दर और सुगन्धित गुलाब मे अनन्त गुना श्रेष्ठ है।
- आचरण से भिन्न या उससे अधिक सच्चा धर्म-प्रचार दूसरा नहीं है।

८०. प्रेम और स्पर्श

शुद्ध प्रेम के लिए स्पर्श की आवश्यकता नही होती, इस कथन का ऐसा अर्थ थोडे ही है कि स्पर्शमात्र मलिन है। अपनी मा के प्रति मेरा शुद्ध प्रेम था, लेकिन

उसके पैर दुखते तब मै उन्हे दबाता था। उसमे कोई मलिनता नही थी। विकारी स्पर्श दूषित है। इसलिए मै यह कहूगा कि जो लोग ऐसा कहते है कि स्पर्श के बिना शुद्ध प्रेम अशक्य है, वे शुद्ध प्रेम को जानते ही नही हैं।

—तीथल-वलसाड़, २९।५।१९३७। बापू के पत्र : कुमारी प्रेमा बहिन कंटक के नाम, पृ० २७९, न० जी० प्र० म०]

८१. हमारा भविष्य

यह अच्छा ही है कि हमारा भविष्य हमारे सामर्थ्य, सत्यवादिता, साहस, सकल्प, सतर्कता और नियन्त्रण पर निर्भर करता है।

—सेगांव, १८।७।१९३७। गाधी जी की छत्रछाया मे, पृ० २९२-२९३]

८२. शान्ति पत्थर की नहीं, हृदय की

मैं शान्ति-परायण मनुष्य हू। शान्ति मे मेरा विश्वास है। लेकिन मैं चाहे जो कीमत देकर शान्ति नही खरीदना चाहता। आप पत्थर मे जो शान्ति पाते हैं वह मुझे नही चाहिए। जिसे आप कब्र मे देखते है वह शान्ति मैं नही चाहता। लेकिन मैं वह शान्ति अवश्य चाहता हू जो मनुष्य के हृदय मे सन्निहित है, और सारी दुनिया के वार करने के लिए उद्यत होते हुए भी सर्वशक्तिमान ईश्वर की शक्ति जिसकी रक्षा करती है।

—सर्वोदय, अप्रैल १९३९, पृ० ३७]

८३. उन्मुक्त प्रेम

गुप्त या खुले स्वतन्त्र प्रेम मे मेरा विश्वास नही है। उन्मुक्त प्रेम को मैं कुत्तो का प्रेम समझता हू। और गुप्त प्रेम मे तो, इसके अलावा कायरता भी है।

—ह० से०, ४।११।१९३९]

८४. व्याधि का उपयोग

[सुश्री मदालसा को लिखे पत्र से]

बीमारी का अच्छे-से-अच्छा उपयोग यह है कि भगवान पर आस्था बढाना और स्वभाव काबू मे रखना। इस तरह से शीघ्र स्वस्थ भी हुआ जाता है।

—सेगांव, १३।२।१९४०। बापू के पत्र : बजाज परिवार के नाम, पृ० २४१, अ० भा० स० से० सं०]

८५. झूठ

सबसे अच्छा तो यही है कि झूठ का कोई जवाब ही न दिया जाय। झूठ अपनी मौत मर जाता है। उसकी अपनी कोई शक्ति नही होती। विरोध पर वह फलता-फूलता है।
—ह० से०, २२।६।१९४०]

८६. विकार-रोग

विकारी विचार भी बीमारी की निशानी है। इसलिए हम सब विकारी विचार से बचते रहे।
—सेवाग्राम, २७।१२।१९४४]

८७. हमारा अस्तित्व

आश्चर्य यह है कि हम जानते है कि हम भी मरनेवाले तो हैं ही, बहुत बहुत करे तो वैद्यादि की दवा से शायद हम थोडे दिन और काट सकते है और इसलिए ख्वार होते हैं।
—सेवाग्राम, ३१।१२।१९४४ 'मेरा धर्म' सकलन, न० जी० प्र० म०]

८८. प्रेम सौदा नहीं है

विश्वास के बदले विश्वास प्रेम के जवाब मे प्रेम कहलाने योग्य नही। सच्चा प्रेम वह है जो शत्रु के सामने भी टिके।
—पूना, २४।२।१९४६। ह० ज०। ह० से०, ३।३।१९४६]

८९. हमारा आचरण

ईश्वर का पूरा-पूरा वर्णन अभी तक कोई नही कर सका। देहधारी मनुष्य तो सदा-सर्वदा अपूर्ण ही है। उसे भगवान की उपमा चाहे दी जाय, पर वह भगवान कदापि नही है। भगवान अदृश्य है, अदृष्ट है। इसलिए हम जिसे सन्त पुरुष मानते हैं, उसके वचनो को, आचरणो को समझें, और जो चीज़ हमारे

दिल मे बस जाय, उसके अनुसार अपना आचरण बनाये। शास्त्र और क्या करेगा?

— पूना, २५।२।१९४६। ह० ब०। ह० से०, ३।३।१९४६]

९०. मानस-मलिनता

मन की गन्दगी शरीर की गन्दगी से ज्यादा खतरनाक है, बाहरी गन्दगी आखिरकार भीतरी गन्दगी की ही निशानी है।

— उरुली, २४।३।१९४६]

९१. शत वर्ष-जीवन

ईशोपनिषद् मे शतम् शब्द है। उसका अर्थ ९९+१ नही है, १२०, १२५ या १३० वर्ष होता है।

— पटना, १९।५।१९४७। बापू के पत्र : कुमारी प्रेमा बहिन कंटक के नाम, पृ० ३५०, न० जी० प्र० मं०]

९२. सच्चा प्रायश्चित्त

जो सबसे बडा पापी है, उसे अगर सच्चा पछतावा हो जाता है, तो वह सबसे बडा सन्त बन जाता है। ऐसे उदाहरण हिन्दू-धर्म, इस्लाम और ईसाई-धर्म सबमे मिलते है।

—हिलसा, प्रार्थना सभा, २०।५।१९४७। बिहार समाचार से। ह०से०१।६।१९४७]

९३. संयम : जीवन-नीति

[सुश्री मदालसा को लिखे पत्र से]

मेरा जीवन सयम के लिए है। यह हो सकता है कि उसमे पार न उतरू परन्तु उसमे स्वेच्छाचार के लिए दरवाजे कभी नही खोजूगा, ऐसा मुझे विश्वास है।

— नई दिल्ली, ९।६।१९४७। बापू के पत्र · बजाज परिवार के नाम, पृ० २५२, अ० भा० से० सं०]

९४. जा विधि राखे राम

मुझमे राम नही है। मैं खुद राम का पुजारी हू, उसका भक्त हू। लेकिन राम के सब भक्त राम नही बन सकते। हमे तो राम रखे, उसी तरह रहना चाहिए।
— कलकत्ता, ८।९।१९४७। ह० व०। ह० से० १४।९।१९४७]

९५. अनासक्ति

मनुष्य को फल की चिन्ता किये बिना अपना काम करना चाहिए। आसक्ति से अनासक्ति अधिक लाभदायक है।
— बिडला भवन, नई दिल्ली, २१।९।१९४७। ह०ज०। ह० से०, ५।१०।१९४७]

९६. बच्चो का धर्म

बच्चो का धर्म मा का ही धर्म रहेगा। बडे होकर वे भले किसी धर्म मे चले जाय।
— बिडला भवन, नई दिल्ली, २६।१२।१९४७। ह० से० ४।१।१९४८]

९७. ईसा : सूली की सेज पर

[रोम मे सूली पर चढे हुए ईसा का एक चित्र देखकर व्यक्त किये गये गाधी जी के विचार।]

पोप के महल मे सूली पर चढे हुए ईसा की सजीव मूर्ति के सामने सिर झुका सकने के लिए मैं क्या नही दे डालता ? जीती-जागती करुणा के इस दृश्य से अलग होते हुए मुझे बडी पीडा हुई। इस दृश्य को देखते हुए मैंने मुहूर्तमात्र मे समझ लिया की व्यक्तियो की भाति राष्ट्र भी सूली की यातना सहकर ही बनाये जा सकते हैं, और किसी तरह नही। आनन्द दूसरो को पीडा पहुंचाने से नही मिलता परन्तु खुशी से स्वय कष्ट भोगने से मिलता है।
— 'दिस वाज बापू' आर० के० प्रभु, पृ० २९, १९५४ सस्करण

९८. श्रेष्ठ जनों का आचरण

नियम ही यह है कि जैसा अच्छे और बड़े माने जानेवाले मनुष्य आचरण करते है उसका अनुकरण साधारण लोग करते है।

—मंगल प्रभात। गीताबोध, १८, स० सा० म०, संस्करण १९५४]

नीति
४
परिशिष्ट

१. नीतिधर्म अथवा धर्मनीति

[सार-सक्षेप]

[गाधी जी के जीवन का दक्षिण अफ्रीका प्रवास-काल धार्मिक अनुचिन्तनो, नीति, सदाचार एव दर्शन-सम्बन्धी अन्तर्मन्थनो से परिपूर्ण रहा है। उनके परवर्ती धार्मिक विचारो एव नैतिक चिन्तनो की समस्त पृष्ठभूमि की रचना दक्षिण अफ्रीका मे ही हुई थी। दक्षिण अफ्रीका से प्रकाशित 'इण्डियन ओपीनियन' गाधी जी का एकमात्र विचारपत्र था। यह एक ओर तो प्रवासी भारतीयो का सत्याग्रह-सग्राम के लिए आवाहन करता था, दूसरी ओर उनके नैतिक, चारित्रिक पुनरुत्थान के लिए विचारपूर्ण, वोधमय सामग्री प्रकाशित करता था, ताकि उनमे आदर्श मानव, आदर्श सत्याग्रही और अच्छे नागरिक वनने की सामर्थ्य आ जाय। चारित्रिक, नैतिक और धार्मिक मानमूल्यो की चर्चा करनेवाले लेख मुख्यत गाधी जी की लेखनी से नि सृत होते थे और वे एक युगान्तकारी महापुरुष के तत्कालीन अध्ययन एव चिन्तन के प्रतीक हैं।

ऐसे ही लेखो मे अन्यतम है 'इण्डियन ओपीनियन' मे प्रकाशित विचारपूर्ण कृति 'नीति-धर्म अथवा धर्म-नीति'। यह पुस्तक शिकागो के नैतिक-सस्कृति सघ के सस्थापक विलियम मैकिंटर साल्टर के एथिकल रिलीजन' का स्वतन्त्र गुजराती अनुवाद है। साल्टर की कृति का प्रथम प्रकाशन अमरीका मे १८८९ मार्च मे हुआ था और फिर यह १९०५ मे इग्लैण्ड मे प्रकाशित की गई थी। गुजराती लेखमाला मे गाधी जी ने पन्द्रह मे से आठ का सार प्रस्तुत किया था। ये लेख क्रमश' 'इण्डियन ओपीनियन' के ५।१।१९०७, १२।१। १९०७, १९।१।१९०७, २६।१।१९०७, २।२।१९०७, ५।२।१९०७, १६।२।१९०७ और २३।२।१९०७, के अको मे प्रकाशित हुए थे। यहा हम इन लेखों का सार-सक्षेप प्राय गाधी जी के शब्दो मे प्रस्तुत कर रहे हैं।—सम्पा०]

आजकल दुनिया मे पाखण्ड वढ गया है। किसी भी धर्म का मनुष्य क्यो न हो, वह अपने धर्म के वाहरी रूप का ही विचार करता है और अपने सच्चे कर्त्तव्य को भुला देता है। धन का अत्यधिक उपयोग करने से दूसरे लोगो को क्या कष्ट होते हैं या होगे इस वात का विचार हम क्वचित् ही करते है। अत्यन्त मृदुल

और नन्हे-नन्हे प्राणियो को मार कर यदि उनकी खाल के कोमल दस्ताने बनाये जा सकें तो एसे दस्ताने पहिनने मे युरोप की महिलाओ की तनिक भी हिचक नही होती। . चारो ओर इस तरह की हालत देखकर युरोप और अमरीका मे बहुत-से लोग धर्म के विरोधी हो गये है। .

यह देख कर अभी-अभी अमरीका तथा युरोप मे अनेक लोग सामने आये हैं। उन्हे भय है कि इस तरह धर्म का नाश होने से दुनिया का बहुत नुकसान होगा और लोग नीति का रास्ता छोड देंगे इसलिए वे लोग भिन्न-भिन्न मार्गों से नैतिकता की ओर (लोगो को) प्रवृत्त करने की शोध मे लगे है।

एक ऐसे सघ[1] की स्थापना हुई है जिसने विभिन्न धर्मों की छानबीन करके यह तथ्य प्रस्तुत किया है कि सारे धर्म नीति की ही शिक्षा देते हैं, इतना ही नही सारे धर्म नीति के नियमो पर ही टिके हुए हैं। लोग किसी धर्म को मानें या न मानें फिर भी नीति के नियमो का पालन करना तो उनका फर्ज है। ये सब धर्मो का सार लेकर उसमे से केवल नीति के विषयो की ही चर्चा करते है, उसी सम्बन्ध मे लिखते है और तदनुसार स्वय व्यवहार करते है। अपने इस मत को वे नीति-धर्म या 'एथिकल रिलीजन' कहते हैं।

श्री साल्टर अमरीका के एक विद्वान सज्जन हैं। उन्होने एक पुस्तक प्रकाशित की है। वह पुस्तक बडी खूबियो से भरी है। उसी पुस्तक का साराश हम प्रति सप्ताह देना चाहते है। इस पुस्तक के लेखक के सम्बन्ध मे इतना ही कहना आवश्यक है कि वे जितना करने की सलाह हमे देते हैं उतना वे स्वय करते हैं।

जिससे हम अच्छे विचारो मे प्रवृत्त हो सकते है, वह हमारी नैतिकता का परिणाम माना जायगा। दुनिया के सामान्य शास्त्र हमे बतलाते है कि दुनिया कैसी है। नीति-मार्ग यह बतलाता है कि दुनिया कैसी होनी चाहिए। इस मार्ग से यह जाना जा सकता है कि मनुष्य को किस प्रकार आचरण करना चाहिए। . नीति का विचार वास्तुकार के नक्शे की तरह है। नक्शा तो केवल यह बतलाता है कि घर कैसा बनाया जाय। पर जैसे चुनाई और बाँधने का कार्य न किया जाय तो नक्शा बेकार ही होगा, उसी तरह नीति के अनुसार आचरण न किया जाय तो नैतिकता का विचार भी बेकार हो जायगा। बहुत लोग नीति के वचन याद करते है, उसके सम्बन्ध से भाषण करते है, परन्तु तदनुसार आचरण नही करते और करना चाहते भी नही।

---

१. नैतिक सास्कृतिक सघ शिकागो (सयुक्तराष्ट्र अमरीका)। इसकी स्थापना श्री साल्टर ने १८८५ के लगभग की थी।

फिर, कुछ यही मानते है कि नैतिकता के विचारो पर अमल करना इस दुनिया के लिए नही, मरने के बाद दूसरी दुनिया के लिए है। पर ये विचार सराहनीय नही माने जायेंगे। एक विचारवान व्यक्ति ने कहा है कि यदि पूर्ण बनना है तो हमें आज ही हर तरह के कष्ट उठाकर नीति के अनुसार आचरण करना चाहिए।

खुदा या ईश्वर सर्वशक्तिमान है, सम्पूर्ण है। उसकी दया, उसकी अच्छाई तथा उसके न्याय का पार नही है। यदि यह सत्य है तो उसके बन्दे कहलानेवाले हम लोग नीति-मार्ग का परित्याग कर ही कैसे सकते है? नीति के अनुसार आचरण करनेवाला यदि असफल होता दिखाई दे तो इसमे कोई नीति का दोष नही है। वह दोष नीति-भग करनेवाले को स्वय अपने ऊपर लेना होगा।

नीति-मार्ग मे नीति का पालन करते हुए उसका फल प्राप्त करने की बात तो उठती ही नही मनुष्य भलाई करता है तो कुछ प्रशसा प्राप्त करने के लिए नही। वह भलाई किये बिना रह ही नही सकता। सुन्दर भोजन और भलाई की यदि तुलना की जाय, तो भलाई उसके लिए श्रेष्ठ भोजन है। ऐसे मनुष्य को यदि कोई भलाई का अवसर दे तो वह भलाई का अवसर देनेवाले का आभारी होगा, वैसे ही, जैसे कोई भूखा अपने अन्नदाता को दुआ देता है।

नीति-विषयक प्रचलित विचार वजनदार नही कहे जा सकते। कुछ लोग यो मानते है कि नीति की बहुत आवश्यकता नही है। फिर कुछ लोगो का कहना है कि धर्म और नीति मे कोई सम्बन्ध नही है। पर दुनिया के धर्मो का परीक्षण किया जाय तो दीख पडेगा कि नीति के बिना धर्म टिक नही सकता। सच्ची नीति मे धर्म का बहुत-कुछ समावेश हो जाता है। जो लोग अपने स्वार्थ के लिए नही, बल्कि नीति के लिए ही नीति-नियमो का पालन करते है उन्हे धार्मिक कहा जा सकता है।

इसके अलावा, सच्ची नीति का नियम यह है कि उसमे हमारे लिए अपने परिचित मार्ग पर चलना ही बस नही, बल्कि जिस मार्ग को हम सच्चा समझते है, उससे हम परिचित हो या नही, फिर भी उस पर हमें चलना चाहिए। मतलब यह कि जब हम जानते हो कि अमुक मार्ग सही है तब हमें निर्भयता के साथ सकल्प-पूर्वक उसमे कूद पडना चाहिए। नीति का इस तरह पालन किया जाय, तभी हम आगे बढ सकते है। यही कारण है कि नैतिकता, सच्ची सभ्यता और सच्ची उन्नति ये तीनो सदा एक साथ दिखाई देती है।

इच्छा दो प्रकार की होती है। एक तो अपना निजी स्वार्थ साधने की, जिसकी पूर्ति का प्रयत्न करना ही अनीति है। दूसरे प्रकार की इच्छाएं वे होती है जिनके कारण हम हमेशा भले बनने तथा परहित साधने की ओर ध्यान रखते है। हम कितनी ही भलाई क्यो न करें, हमें उसका कभी गुमान नही करना चाहिए, और

न उसकी कीमत आँकनी चाहिए, बल्कि निरन्तर यह इच्छा करते रहना चाहिए कि हम और अधिक अच्छे बने, और अधिक भलाई करे। ऐसी इच्छाओ की पूर्ति के लिए किये गये आचरण एव व्यवहार का नाम ही सच्ची नीति है।

हमारे पास घरबार न हो तो इसमे शर्माने-जैसी कोई बात नही होती। परन्तु घर बार हो और उसका दुरुपयोग करे, धन्धा मिले और उसमे बदमाशी करे, तो हम नीति के मार्ग से च्युत होते हैं। जो हमारे लिए कर्त्तव्य है उसको करने में ही नीति निहित है। .नीति के समस्त नियमो का दोहन किया जाय, तो हम देखेंगे कि मानव-जाति के कल्याण के लिए प्रयास करना ही उत्कृष्ट नीति है। इस कुजी से नीति-रूपी मजूषा को खोलकर देखने पर नैतिकता के अन्य नियम हमे उसमे मिल जायँगे।

हमारे अधिकतर कामो मे विशेष रूप से नीति का समावेश नही होता। प्राय हम लोग सामान्य रीति-रिवाज के मुताबिक चलते है। बहुधा ऐसी रूढियो के अनुसार चलना जरूरी होता है। पर इस प्रकार रूढि-निर्वाह को नीति का नाम देना उचित नही माना जा सकता।

नैतिक काम तो अपनी ओर से यानी स्वयस्फूर्त होना चाहिए। जहातक हम यन्त्र के पुर्जे के रूप मे काम करते हैं वहाँ तक हमारे काम मे नीति का समावेश नही होता। यन्त्र के पुर्जे के समाना कार्य करना उचित है, और हम वैसा करते हैं, तो यह विचार नैतिक है, क्योकि उसमे हम अपनी विवेक-बुद्धि का उपयोग करते हैं। यह यत्रवत् काम और उस काम को करने का विचार करना, दोनो मे जो भेद है वह ध्यान मे रखने-योग्य है। जो मनुष्य अपनी बुद्धि और मस्तिष्क का उपयोग नही करता और बाढ के पानी मे लकडी की तरह बहता रहता है, वह नीति को कैसे समझेगा? कभी-कभी मनुष्य परम्परा से विमुख होकर परमार्थ की इच्छा से कर्म करता है। जब हम सबको इसी की चिन्ता रहे कि हमारा अन्तर क्या कहता है, तब समझना चाहिए कि हम नीति की सीढी पर पहुँच गये हैं। परन्तु यह स्थिति हमे तबतक नही प्राप्त होती जबतक हम यह नही मान लेते और अनुभव नही करते कि सबके अन्तर मे निवास करनेवाला परमेश्वर हमारे सारे कार्यों का साक्षी है।

अमुक कार्य मे नैतिकता है या नही, यह कर्त्ता के इरादे पर निर्भर है। दो मनुष्यो ने एक ही कार्य किया हो, तथापि एक का काम नीति-युक्त और दूसरे का नीति-रहित हो सकता है। ऐसा भी हो सकता है कि नैतिक कार्य का परिणाम सदा अच्छा होता नही दीखता। हमे नीति के सम्बन्ध मे विचार करते हुए इतना-भर देखना है कि किया गया काम शुभ है और शुद्ध इरादे से किया गया है।

उसके परिणाम पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं है। फलदाता तो एकमात्र परमेश्वर है।

नैतिक कार्य शुद्ध हेतु से किया जाय, इतना ही बस नहीं है, वह बिना दबाव के भी किया जाना चाहिए। अपने दफ्तर में समय पर न पहुँचने से मैं अपनी नौकरी खो बैठूंगा, इस भय से यदि मैं बड़े सवेरे उठूं तो उसमें किसी प्रकार की नैतिकता नहीं है। अर्थात् नीतियुक्त काम जोर-जबरदस्ती और भय से रहित होना चाहिए।

जिस प्रकार नैतिक कार्य में भय या जबरदस्ती नहीं होनी चाहिए उसी प्रकार स्वार्थ भी नहीं होना चाहिए।

जिस प्रकार इस दुनिया में लाभ पाने की दृष्टि से किया गया काम नैतिक नहीं माना जाता, ठीक उसी प्रकार परलोक में लाभ पाने की आशा से किया गया कार्य भी नीतिरहित है। भलाई भलाई के लिए करनी है, इस दृष्टि से किया गया काम नीतिमय माना जायगा। इस प्रकार नीति का पालन करना मौत पर विजय पानेवालों का काम है। मित्रों के साथ सच्चे रहना और दुश्मनों से दगाबाजी करना तो कापुरुषता है। डरते-डरते भलाई का काम करनेवाले नीतिरहित ही माने जायंगे। मनुष्य की नीति की परीक्षा करना अत्यन्त कठिन है क्योंकि उसके मन को हम परख नहीं सकते।

कोई काम अच्छा है या बुरा, इस सम्बन्ध में हम हमेशा अपना अभिप्राय देते रहते हैं। अमुक काम अच्छा है या बुरा, यह इस बात पर निर्भर नहीं कि वह हमारे लिए लाभदायक है या हानिकारक। परन्तु इसकी तुलना करने में तो हम दूसरा ही दृष्टिकोण अपनाते हैं। हमारे मन में कुछ विचार ऐसे रहते हैं, जिनके आधार पर हम अन्य लोगों के कामों की परीक्षा करते हैं।

भलाई-बुराई मनुष्य के स्वार्थ पर निर्भर नहीं है, और न वह मनुष्य की इच्छाओं पर ही निर्भर है। नीति और भावना के बीच सदैव सम्बन्ध दिखाई नहीं देता। भावना दिखाना निःसन्देह अच्छा है, पर नीति-विचार के द्वारा उसकी मर्यादा न बँधी हो तो वह विष-रूप बन जाती है।

हम यह भी देखते हैं कि नीति के नियम अचल हैं। मत बदलते रहते हैं परन्तु नीति नहीं बदलती। सम्भव है, अज्ञान की दशा में हम नीति को न समझ पायें, पर ज्ञान-चक्षु खुलने पर उसे समझने में हमें कठिनाई नहीं होती। मनुष्य की दृष्टि हमेशा भले ही की ओर ही रहे, यह क्वचित् ही होता है। इसलिए अक्सर वह स्वार्थ की दृष्टि से देखने के कारण अनीति को नीति कह देता है। ऐसा समय तो अभी आने को है जब मनुष्य स्वार्थ के विचार छोड़कर केवल नीति-विचार की ओर ही ध्यान देगा।

तव हमने देख लिया कि मनुष्यो की धारणाओ और इच्छाओ से परे नीति की ऐसी कुछ व्यवस्था है, जिसे हम विधान या कायदा कह सकेंगे। राज्य-कारोबार मे भी जब हम विधान देखते है, तब नीति का भी विधान क्यो नही हो सकता, भले वह मानव-लिखित न हो,.. नीति के विधान के मातहत रहना हमारा कर्तव्य है। नीति का विधान राज्य या व्यावसायिक विधान से भिन्न तथा श्रेष्ठ है।

इस प्रकार नीति के नियमो और दुनियादारी के नियमो मे वडा भेद है, क्योकि नीति का वास हमारे हृदय मे है। अनीति पर चलनेवाला मनुष्य भी अपनी अनीति स्वीकार करेगा। इस नीति मे या इसके निर्वाह मे लोक-परम्परा या लोकमत की परवाह नही रहती। लोकमत या रीति-रिवाज जहातक नीति के विधान का अनुसरण करते दिखाई दे वही तक वे नीतिमान व्यक्ति के लिए बन्धनकारक होगे।

नीति का यह विधान कहा से आया ? इसे राजा नही बनाते, क्योकि भिन्न-भिन्न राज्यो मे भिन्न-भिन्न कानून देखने मे आते है। सुकरात अपने जमाने मे जिस नीति का पालन करते थे उसके विरुद्ध अनेक लोग थे, तो भी सारा ससार मानता है कि उनकी नीति ही सनातन थी, और वह सर्वदा रहनेवाली है। अग्रेज कवि राबर्ट ब्राउनिंग कह गया है कि यदि कोई शैतान इस दुनिया मे द्वेष और झूठ की दुहाई फिरवा दे, तो भी न्याय, भलाई और सत्य तो ईश्वरीय ही रहेंगे। अतः हम यह कह सकते हैं कि नीति का विधान सर्वोपरि और ईश्वरीय है।

ऐसे नीति-विधान का भग कोई भी समाज या व्यक्ति अन्त तक नही कर सकता। .

सामान्य मान्यता यह है कि नीति और धर्म दो भिन्न विषय हैं। . पर लेखक ने यह दिखाने का निश्चय कर रखा है कि नीति और धर्म के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है। नीतिधर्म अथवा धर्मनीति का प्रसार करनेवाले सगठन मानते हैं कि धर्म का निर्वाह नीति के द्वारा होता है।

सर्व-सामान्य दृष्टि से नीति के विना धर्म हो सकता है और धर्म के विना नीति हो सकती है। ऐसे अनेक दुराचारी लोग दिखाई पडते हैं तो बुरे कर्म करते हुए भी धार्मिक होने का पाखण्ड करते हैं। इसके विपरीत, स्वर्गीय ब्रैडलो-जैसे नीतिपरायण लोग हैं जो अपने को नास्तिक कहलाने मे अभिमान मानते हैं और धर्म का नाम लेते ही भागते है। इन दोनो मतो के लोग भूल करते है, और पहिले मतवाले तो भ्रम मे ही नही, धर्म के वहाने अनीति का आचरण करके भयकर हो जाते है।. .नीति और धर्म एक हैं और उन्हे एक ही रहना भी चाहिए।

पूर्वकाल मे नीति केवल सामारिक रीति थी। यो करते-करते जो अच्छी रीति थी वह कायम रही और बुरी नष्ट हो गई। .ऐसा होते हम आज भी देखते है। मनुष्य जाने-अनजाने अच्छे रिवाजो को चालू रखता है। वह न नीति है, न धर्म है। फिर भी प्राय दुनिया के नीति मे खपने योग्य काम उपर्युक्त अच्छे रिवाज ही है।

इसके अलावा, मनुष्य के मन मे धर्म का विचार प्राय ऊपर ही ऊपर रहता है। कभी-कभी हम अपने पर आनेवाली आपत्तियो से बचने के लिए किये गये प्रयत्न को थोडा-बहुत धर्म मान लेते है। इस प्रकार भय-प्रेरित प्रीति के कारण किये गये मनुष्य के कामो को धर्म मानना भूल है।

लेकिन अन्त मे ऐसा वक्त आता है जब मनुष्य इच्छापूर्वक, सोच-समझकर नुकसान हो या फायदा, मरे या जिये फिर भी दृढ निश्चय से सर्वस्व बलिदान की भावना लेकर पीछे देखे बिना चला जाता है। तब कहा जा सकता है कि उस पर सच्ची नीति का रग चढा है।

ऐसी नीति धर्म के बिना कैसे निभ सकती है? जबतक नीति रूपी बीज को धर्मरूपी जल का सिंचन नही मिलता, वह अकुरित नही होता, और पानी के बिना यह बीज सूखा ही पडा रहता है और दीर्घ काल तक बिना पानी के पडा रहे तो नष्ट हो जाता है। इस तरह हम देखते है कि सच्ची नीति मे सत्यधर्म का समावेश होना चाहिए। इसी विचार को दूसरे शब्दो मे रखा जाय तो हम कह सकते हैं कि धर्म के बिना नीति का निर्वाह नही किया जा सकता, अर्थात् नीति का पालन धर्म के रूप से किया जाना चाहिए।

हम फिर यह भी पाते है कि दुनिया के महान् धर्मों मे जो नीति-नियम लिखे गये हैं वे प्राय एक-से ही है। इन धर्मों के प्रचारको ने यह भी कहा है कि धर्म की नीव नीति है। यदि हम नीव को खोद डाले तो घर अपने-आप ढह जाता है, ठीक इसी प्रकार नीतिरूपी नीव टूट जाय तो धर्मरूपी महल एकदम धराशायी हो जायगा।

अब हमे देखना है कि हमारा स्वय अपने प्रति क्या कर्तव्य है? पहिली बात तो यह है कि हमारे एकान्त व्यवहार को हमारे सिवा कोई नही जानता। ऐसे व्यवहार का असर हम पर ही होता है, अत इसके लिए हम जिम्मेवार हैं। उसका असर दूसरो पर भी होता है, अत उसके लिए भी हम जिम्मेदार है। हर एक को अपनी उमगो पर नियन्त्रण रखना चाहिए, अपना तन-मन स्वच्छ रखना चाहिए। हमें अपनी इच्छाओ को काबू मे रखना चाहिए। अर्थात्, हमे शराब नही पीनी चाहिए, असयमपूर्वक बहुत अधिक खाना भी नही चाहिए,

नही तो आखिर शक्तिहीन होकर आवरू गवानी होगी। जो मनुष्य विषयो से दूर रहकर अपने शरीर, मन, वुद्धि और जीवन की रक्षा नही करता वह वाह्य जीवन मे सफल नही हो सकता।

सबसे श्रेष्ठ लक्ष्य मनुष्य मात्र की सेवा करना और उसकी स्थिति सुधारने मे हाथ बँटाना है। इसमे ईश्वर की सच्ची प्रार्थना, सच्ची पूजा का समावेश हो जाता है। जो मनुष्य ईश्वर का काम करता है वह ईश्वरीय पुरुष है। मनुष्य-मात्र को समुचित स्थिति प्राप्त हो, ऐसे नियम का प्रत्येक मनुष्य पालन कर सकता है। .इस नियम का पालन करनेवाला मनुष्य कभी नीति-धर्म से विचलित नही होता। क्योकि इससे विचलित होकर मनुष्य-समाज का उत्कर्ष करने की धारणा सफल नही हो सकती।

हम अव सिलसिलेवार विचार करे। हमे यह निरन्तर देखना होता है कि हमारा रहन-सहन सुधारनेवाला है या विगाडनेवाला। व्यापार करनेवाला व्यापारी प्रत्येक सौदे के समय सोचेगा कि वह स्वय ठगाता तो नही या दूसरे को ठगता तो नही ? यही ध्येय सामने रखकर वकील और वैद्य अपनी कमाई के वदले अपने मुवक्किल या रोगी के हित मे पहिले सोचेगा। इस सवका साराश यह निकलता है कि यदि मजदूर अपने कर्तव्य का पालन नैतिकतापूर्वक करता है तो स्वच्छन्द चलनेवाले धनाढ्य व्यापारी, वैद्य या वकील से वह कही अच्छा माना जायगा। मनुष्य का मूल्य उसके रहन-सहन के तरीके पर निर्भर है, उसके पद पर नही। इस रहन-सहन की परीक्षा उसके बाह्य जीवन से नही होती। वह तो उसकी अन्तर्वृत्ति को जानकर ही की जा सकती है।

जो मनुष्य स्वय शुद्ध है, द्वेषरहित है, किसी से गलत लाभ नही उठाता, हमेशा पवित्र मन से व्यवहार करता है, वही मनुष्य धार्मिक है, वही सुखी है और वही धनवान है। जो मनुष्य स्वय ही नीति का पालन नही करता वह दूसरो को क्या सिखायेगा ? नैतिकता का आचरण करनेवाला मनुष्य कभी यह सवाल नही उठाता कि दुनिया की सेवा किस प्रकार की जाय, क्योकि यह सवाल ही उसके मन मे नही उठता। मैथ्यू आर्नल्ड ने कहा है —एक समय था जव मैं अपने मित्र के लिए स्वास्थ्य, विजय और कीर्ति की कामना किया करता था। पर अव वैसा नही करता। क्योकि मेरे मित्र का सुख-दु ख, स्वास्थ्य, विजय और कीर्ति पर अवलम्बित नही है। अत अव हमेशा मेरी यह कामना रहती है कि उसकी नैतिकता सदा अचल रहे।

धर्म
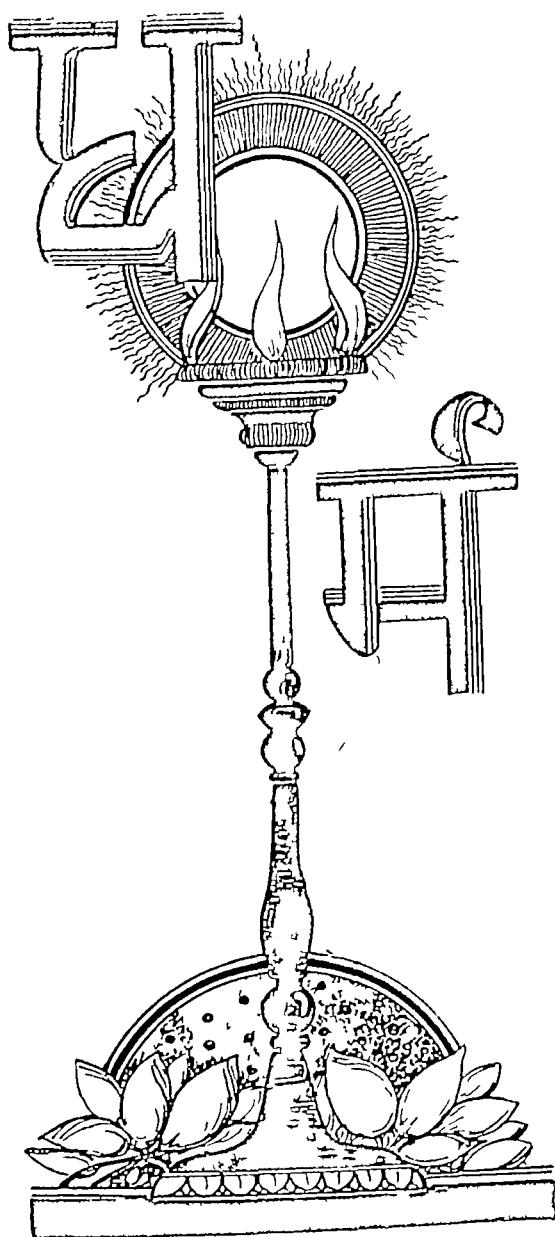
१
धर्म तत्व और सिद्धान्त

१. प्रार्थना

प्रार्थना वही है, जिसके साथ अनुरूप क्रिया भी हो, अन्यथा वह व्यर्थ ताना-रटन्त मात्र है।

—इं० ओ०, ८।१०।१९०३]

२. ईश्वर

हम ईश्वर को अपने-अपने नाप से नापते हैं और भूल जाते हैं कि उसके तरीके हमारे तरीकों से अलग हैं। अगर ऐसा नहीं होता तो हम जिसे भूल से नम्रता और प्रार्थना का नाम देते हैं उसके बावजूद हमसे बहुत-सी चीजें छिन गई होतीं। प्रभु सर्वज्ञ है। उसका सूर्य भले और बुरे सब को समान रूप से प्रकाश देता रहता है।

—इं० ओ० ८।१०।१९०३]

३. ईश्वर

वह (ईश्वर) चौबीस घण्टे सारी बातें सुनता है। अर्जी सुनने के लिए हमें उससे समय नहीं माँगना है, न कभी माँगना ही पड़ता है। वह सबकी अर्जी एक साथ सुनता है।

—गुजराती से। इं० ओ०, २७।७।१९०७]

४. धर्मों की अभेदता

हिन्दू हिन्दू-धर्म की ओर अधिक आकर्षित दिखाई देते हैं, मुसलमान इस्लाम की ओर, और अन्य भारतीय अपने-अपने धर्मों की ओर। यही ठीक भी है। हमारा दृढ़ मत है कि यदि भारत का कल्याण होना होगा तो इसी मार्ग से होगा। हर धर्मवाले यदि अपने-अपने धर्म का सच्चा रहस्य समझ जायें तो आपस में द्वेष कर

ही नही सकते। जलालुद्दीन रूमी[1] के कथनानुसार या जैसा श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है उसके अनुसार, नदिया बहुत है और अलग-अलग दिखाई देती हैं, फिर भी सबका मिलाप समुद्र मे होता है। इसी प्रकार धर्म भले ही बहुत हो, फिर भी सबका सच्चा उद्देश्य एक ही है, खुदा या ईश्वर का दर्शन कराना। अत उद्देश्य की दृष्टि से धर्मों मे भेद नही है।

—गुजराती से। इं० ओ० ९।११।१९०७]

५. धर्म की व्याख्या

धर्म से मेरा मतलब औपचारिक या रूढ धर्म नही है, बल्कि मेरा तात्पर्य उस धर्म से है जो सब धर्मों की तह मे होता है, जो लोगो का अपने सिरजनहार से साक्षात्कार कराता है। यदि आप मनुष्य को तिलाञ्जलि देते हैं और बिना कोई शारीरिक असुविधा झेले ट्रासवाल मे रहने के उद्देश्य से समझ-बूझ कर किया हुआ सकल्प तोडते है तो आप निस्सन्देह अपने प्रभु से विमुख होते है। ईसा मसीह के वचनो को दुहराते हुए कहना पडेगा कि जो भगवान का अनुचर होना चाहते हैं, उन्हे ससार का परित्याग करना पडता है।

—अंग्रेजी। इ० ओ०, १८।१।१९०८]

६. प्रभु पर आस्था

जो व्यक्ति भगवान पर भरोसा रखता है उसके लिए न कोई आतक है, न कोई भय है।

—अंग्रेजी। इं० ओ० १८।१।१९०८]

७. प्रभु का आश्वासन

हर धर्म-ग्रन्थ मे लिखा है कि जो मेरे साथ है उसकी मनोकामना मैं पूरी करूँगा।

—गुजराती। इं० ओ०, १९।१२।१९०८]

---

१. प्रसिद्ध ईरानी सूफी सन्त।

८. प्रभु पर विश्वास

जो धर्म, दीन और ईमान की रक्षा उचित प्रकार से करता है वही सत्याग्रही हो सकता है। इसका अर्थ यह है कि जो मनुष्य सब कुछ खुदा या ईश्वर पर ही छोड देता है उसको ससार मे कभी हारना नही पडता। लोग हारा हुआ कहे, इससे वह हारा हुआ नही माना जायगा। लोग उसे जीता हुआ माने तो उसमे उसकी जीत भी नही है। इसको जो जानता है, वही जानता है।

—गुजराती। इ० ओ०, २९।५।१९०९]

९. धर्म और परमार्थ

हमारा धर्म तो सदा परमार्थ सिखाता है।

—श्री खुशालचन्द गाधी को लिखे पत्र से। लन्दन, ३।१०।१९०९]

१०. धर्म : कुछ दृष्टिकोण

मुझे तो धर्म प्यारा है, इसलिए पहिला दुःख तो यह है कि भारत धर्मच्युत होता जा रहा है। यहाँ मै धर्म का अर्थ हिन्दू, मुसलमान या जरथुस्त्र धर्म नही करता। परन्तु इन सब धर्मो मे जो धर्म निहित है वह समाप्त होता जा रहा है। हम ईश्वर से विमुख होते जा रहे है।

हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई सभी धर्म सिखाते है कि हमे सासारिक बातो के प्रति मन्द और धार्मिक बातो के प्रति उत्साही रहना चाहिए। हम अपने सासारिक लोभ की सीमा बाँध दे और धार्मिक लोभ को मुक्त रखे, अपना उत्साह उसी मे रखे।.

पाखण्ड तो सब धर्मों मे है। जहाँ सूर्य है, वहाँ अँधेरा भी है। परछाई हर वस्तु की होती है। आप देखेंगे—धार्मिक धूर्त सासारिक धूर्तों से अच्छे है।

सभ्यता चूहे की भाँति फूंक-फूंक कर काटती है। जब हम को उसके प्रभाव का ज्ञान होगा, तब उसकी तुलना से हमे पुराने अन्ध-विश्वास मीठे लगेंगे। मै नही कहता कि हम उन उन अन्ध विश्वासो को कायम रखे। नही, उनसे तो हम अवश्य लडे। परन्तु वह लडाई धर्म को भूल जाने से नही लडी जायगी, बल्कि ठीक प्रकार से धर्म-सम्पादन करके लडी जा सकेगी।

—हिन्द स्वराज्य। अध्याय ८, भारत की दशा। इ० ओ०, ११।१२।१९०९]

● **सब धर्मों में जो धर्म निहित है वह समाप्त होता जा रहा है। हम ईश्वर से विमुख होते जा रहे है।**

● **सभ्यता चूहे की भाँति फूंक-फूंककर काटती है।**

११. धार्मिक सद्भावना

कह सकते हैं कि जितने व्यक्ति उतने धर्म। एक राष्ट्र होकर रहने-वाले लोग एक-दूसरे के धर्म की आड नही आते।

धर्म तो एक ही जगह पहुँचने के अलग-अलग रास्ते हैं अन्य व्यक्ति ऐसे धर्म का पालन करता है जो हमे पसन्द नही आता, तो इसीलिए उसके प्रति वैर-भाव रखना उचित नही है। हमे उसके साथ ज़बर्दस्ती नही करनी चाहिए।

—हिन्द स्वराज्य, अध्याय १०, भारत की दशा, हिन्दू मुसलमान। इं० ओ० ११।१२।१९०९]

○ **धर्म तो एक ही जगह पहुँचने के अलग-अलग रास्ते हैं।**

१२. दैवी सम्पत्

दैवी सम्पत् का प्रथम गुण अभय है।

—श्री नारायणदास गांधी को लिखे पत्र से। जोहानिसबर्ग, फाल्गुण बदी ४, सवत् १९६६। २९।३।१९१०। स० गां० वां०, खण्ड १०, पृ० २१३]

१३. सर्व-धर्म-समता

धर्म भले ही अलग-अलग हो, किन्तु एक ही परमपुरुष को —एक ही वस्तु को—आप अल्ला के नाम से, दूसरा खुदा के नाम से और मैं ईश्वर के नाम से पूजू तो इसमे क्या बुराई है। आप एक दिशा मे मुंह करके पूजते हैं और मैं दूसरी दिशा मे मुंह करके, तो इसके कारण मै आपसे क्यो वैर बांधुं ?

—गुजराती। इं० ओ०, २८।१०।१९११]

१४. आत्मान्वेषण

[श्री जमनादास गांधी को लिखे पत्र से]

हमारी सारी प्रवृत्ति केवल आध्यात्मिक होनी चाहिए। सब कुछ—यहाँ तक कि आरोग्य भी—इसके अन्दर आ जाता है। इतना निश्चित है कि जो

व्यक्ति आत्मा की खोज से लगा हुआ है, उसे शेष सब अपने-आप मिलता जाता है।
— ज्येष्ठ वदी १४। १९६९। २।७।१९१३। स० गा० वा०, खण्ड १२, पृ० १२१]

१५. सन्त-समागम

सन्त से भेंट होने पर कोई व्यक्ति सन्त नही बन जाता, सच्ची बात तो यह है कि खुद सन्त बनने पर ही सन्त मिला करते हैं।
— गुजराती। इ० ओ०, २३।८।१९१३]

१६. ब्रह्मचर्य-पालन एवं वैभव

मैं यह मानता हूँ कि जिसे ब्रह्मचर्य-पालन करना हो उसे वैभवशाली वातावरण मे नही रहना चाहिए।
— श्री रावजी भाई पटेल को लिखे पत्र से। केपटाउन, माघ वदी १२ सवत् १९७०, २१।२।१९१४। स० गा० वा०, खण्ड १२, पृ० ३४९]

१७. धर्म और राजनीति

राजनीति को धर्म से अलग नही किया जा सकता। धर्म से विच्छिन्न राजनीति गिरानेवाली चीज बन जाती है।
— वाई० एम० सी० ए०, मद्रास मे दिये भाषण से, २७।४।१९१५। अग्रेजी से स्पीचेज़ ऐण्ड राइटिंग आफ महात्मा गाधी। स० गा० वा०, खण्ड १३, पृ० ७०]

१८. धर्म-भावना

धर्म-भावना के बिना कोई भी बडा कार्य नही हुआ है और न कभी भविष्य मे होगा।
— सूरत आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव मे दिये गये भाषण से, २।१।१९१६। गुजराती से। 'गुजरात मित्र अने गुजरात दर्पण' ९।१।१९१६। गुजराती, ९।१।१९१६। स० गा० वा०, खण्ड १३, पृ० १९०]

१९. तपस्या

तपस्या धर्म का पहिला और अन्तिम चरण है।

— द्वितीय गुजरात शिक्षा सम्मेलन मे दिये गये भाषण से। भडौंच, २०।१०।१९१७ गुजराती। महात्मा गांधीनी विचारसृष्टि। सं० गा० वां०, खण्ड १४, पृ० ३८]

२०. व्रत का महत्व

[श्री चन्दुलाल को लिखे गये पत्र से]

व्रतो के बिना चरित्र का विकास नही होता, ऐसी मेरी मान्यता है। जैसे जहाज के बिना लगर है वैसे ही मनुष्य के लिए व्रत है और जैसे लगर-विहीन जहाज इधर-उधर डोलता हुआ अन्त मे चट्टानो से टकरा कर टूट जाता है, व्रतो से रहित मनुष्य की दशा भी वैसी ही होती है।

— मोतीहारी, कार्तिक सुदी ८।२२।११।१९१७। सं० गां० वां०, खण्ड १४, पृ० ९४]

२१. भगवान के प्रति समर्पण

[सुश्री एस्थर फेरिंग को लिखे गये पत्र से]

ईश्वर की गति न्यारी और बुद्धि से परे है। हमे यह मान कर चलना चाहिए कि मनुष्य की कोई बिसात नही, परमात्मा की मर्जी ही सब कुछ है।

— मोतीहारी, चम्पारन, १२।१२।१९१७। अंग्रेजी। 'माई डियर चाइल्ड'। सं० गां० वां० खण्ड १४, पृ० १०४]

२२. अपराजित

जिसने धर्म की रक्षा की है वह कभी हारेगा नही। वह कभी भूखा नही मरेगा।

— सुणाव मे दिये गय भाषण से, २२।४।१९१८। गुजराती। खेड़ा सत्याग्रह। सं० गां० वां०, खण्ड १४, पृ० ३४७]

२३. धर्म और विद्या

'विद्या धर्मेण शोभते'—यह वाक्य सत्य है। धर्म के बिना विद्या या शिक्षा का परिणाम शून्य ही होता है धर्म विचार का नहीं, आचरण का विषय है। यह भी भलीभाँति ध्यान रखना चाहिए कि वह भाषा का विषय नही है।

—अहमदाबाद, २९।६।१९१९। 'गुजराती', १३।७।१९१९। गुजराती से। स० गा० वा० खण्ड १५, पृ० ४२३]

० धर्म विचार का नहीं, आचरण का विषय है।

२४. दया धर्म का मूल है

धर्म दया में है। तुलसी दया को धर्म का मूल कहते है।

—नडियाद, ६।७।१९१९।'गुजराती', २०।७।१९१९। गुजराती। स० गा० वा०, खण्ड १५, पृ० ४५५]

२५. मोक्षाग्रह

[श्री महादेव देसाई को लिखे पत्र से]

वह व्यक्ति जो मोक्ष का आग्रह नही रखता मनुष्य नही है, वह केवल पशु है।

—सोमवार, १५।९।१९१९। अंग्रेजी से अनूदित। सलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गांधी, खण्ड १६, पृ० १४७]

२६. प्रार्थना और उपवास

प्रार्थना आत्मा की अभिलाषा व्यक्त करती है और उपवास आत्मा को प्रभावशाली प्रार्थना हेतु उन्मुक्त रखता है।

—य० इ०, ४।१०।१९१९। अंग्रेजी से अनूदित। सलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गांधी, खण्ड १६, पृ० २०७]

२७. वास्तविक धर्म

मैं समझा दूं कि धर्म से मेरा क्या मतलब है। मेरा मतलब हिन्दू-धर्म से नहीं है, जिसे मैं बेशक दूसरे सब धर्मो से अधिक पसन्द करता हूँ। मेरा मतलब उस

मूल धर्म से है जो हिन्दू-धर्म को लाँघ गया है, जो मनुष्य के स्वभाव तक का परिवर्तन कर देता है, जो भीतरी सत्य के साथ हमारा अटूट सम्बन्ध जोडता है और जो हमे निरन्तर अधिक शुद्ध और पवित्र करता रहता है। वह मानव स्वभाव का शाश्वत तत्व है, जो अपनी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए कोई भी कीमत चुकाने को तैयार रहता है और आत्मा को उस समय तक बिल्कुल बेचैन रखता है, जबतक उसे अपने स्वरूप का पता नही लग जाता, सिरजनहार का ज्ञान नही हो जाता तथा स्रष्टा के और अपने बीच का सम्बन्ध समझ मे नही आ जाता।

—यं० इं०, १२।५।१९२०]

● वह (धर्म) मानव स्वभाव का शाश्वत तत्व है।

२८. निष्काम कर्म

अपने ऊपर आ पडे कर्त्तव्य का निर्वाह करते समय भविष्य के विषय मे न सोचना, यह निष्काम कर्म है और यही धर्म है।

—गुजराती। न० जी०, ११।७।१९२०]

२९. मेरे धर्म की सार्वदेशिकता

मेरे धर्म की भौगोलिक सीमाएँ नही है।

—यं० इं०, ११।८।१९२०। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गांधी, खण्ड १८, पृ० १३४]

३०. पूर्ण ब्रह्मचर्य एक काल्पनिक स्थिति है

सेलिबेसी—कौमार्य शब्द से मिलता-जुलता सस्कृत शब्द ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य सेलिबेसी—कौमार्य से बहुत अधिक अर्थ देता है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है समस्त अगो और इन्द्रियो पर पूरा नियन्त्रण। पूर्ण ब्रह्मचारी के लिए कुछ भी असम्भव नही है। किन्तु यह एक आदर्श स्थिति है, जो कभी-कभी ही प्राप्त होती है। यह लगभग यूक्लिड की रेखा की तरह है जिसका केवल कल्पना मे अस्तित्व है, और जिसे भौतिक रूप मे कभी नही खीचा जा सकता। फिर भी यह भूमिति की महत्वपूर्ण परिभाषा है, जिससे बडे परिणाम निकलते हैं। इसलिए एक पूर्ण ब्रह्मचारी का अस्तित्व केवल कल्पना मे सम्भव है। किन्तु यदि हम इसे सतत मन की आँख के समक्ष न

रखें तो हम लगरहीन जहाज की तरह होगे। काल्पनिक स्थिति के जितने निकट पहुँच जाय, पूर्णता उतनी ही अधिक होगी।

—य० इ०, १३।१०।१९२०। अग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गाधी खण्ड १८, पृ० ३४५]

३१. हिंसा और धर्म

मेरे लिए हिंसा धर्म की अस्वीकृति है।

—गुजराती। न०जी०, ३१।१०।१९२०। अग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गाधी, खण्ड १८, पृ० ४००]

३२. ईश्वर

ईश्वर ही हमारा पालन-पोषण करता है।

—गुजराती। न० जी०, ३।११।१९२०। अग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गाधी, खण्ड १८, पृ० ४०२]

३३. शास्त्र-प्रदत्त अधिकार

सभी शास्त्र युवको को स्वय सोचने का अधिकार देते हैं।

—मूल गुजराती। न० जी० २१।११।१९२०। अग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गाधी, खण्ड १९, पृष्ठ १२]

३४. धर्म और शरीर

शरीर धर्म के पश्चात् आता है। शरीर के लिए धर्म का बलिदान नही किया जा सकता, जबकि शरीर का धर्म के लिए उत्सर्ग किया जा सकता है।

—मूल हिन्दी। आज, ३०।११।१९२०। अग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गाधी, खण्ड १९, पृ० ३६]

३५. तपस्या

तपस्या जीवन मे सबसे बडी कला है ।
— हि० न० जी०, १०।२।१९२४]

३६. अन्तरात्मा और धर्म

अन्तरात्मा तो अभ्यास से जाग्रत होती है । वह मनुष्य-मात्र मे स्वाभावत जाग्रत नही होती । उसके अभ्यास के लिए अत्यन्त पवित्र वायुमण्डल और सतत प्रयत्न की ज़रूरत होती है । वह अत्यन्त नाजुक चीज़ है। बालको के निकट अन्तरात्मा की पुकार-जैसी कोई चीज़ नही होती । जो लोग जगली माने जाते हैं उनके अन्त करण नही होता । अन्त करण क्या चीज़ है ? परिपक्व वुद्धि के मार्ग से हमारे अन्तर्पट पर पडनेवाली प्रतिध्वनि । अतएव अगर हर व्यक्ति अन्तरात्मा की पुकार का दावा करे, तो वह हास्यजनक है ।

ऐसा होने पर भी यदि सब लोग उसका दावा करते हैं तो इससे परेशान होने की ज़रूरत नही । अन्तरात्मा के नाम पर जो अधर्म किया जाता है, वह अधिक दिन नही टिक सकता । फिर वे लोग जो अन्तरात्मा की पुकार के वहाने काम करते है, कष्ट-सहन के लिए तैयार नही होते । उनका रोज़गार दो दिन चलकर बन्द हो जाता है । अतएव ऐसा दावा सैकडो लोग भले ही करते रहे, उससे ससार को हानि न होगी । हाँ, जिन्होने ऐसी सूक्ष्म वस्तु के साथ खिलवाड किया होगा, उनके नाश की सम्भावना ज़रूर है, दूसरो की नही ।
— न० जी० । हि० न० जी०, २४।८।१९२४]

- **अन्तरात्मा तो अभ्यास से जाग्रत होती है।**
- **अन्तःकरण क्या है ? परिपक्व बुद्धि के मार्ग से हमारे अन्तर्पट पर पड़ने वाली प्रतिध्वनि।**

३७. जीवन से भी श्रेष्ठ

धर्म जीवन से वढकर है । इस बात को याद रखिए कि दूसरे धर्मो के साथ तात्विक तुलना करने मे , चाहे किसी का धर्म नीचा ठहरता हो, परन्तु उसे तो अपना वह धर्म सबसे सच्चा और प्रिय ही मालूम होता है ।
— यं० इं० । हि० न० जी०, ३१।८।१९२४]

३८. ईश्वर ही कर्ता है

मैं जानता हूं कि मैं कुछ नहीं कर सकता। ईश्वर ही सब कुछ कर सकता है। प्रभु, मुझे योग्य साधन बना और मुझसे अपना वाञ्छित काम ले।

मनुष्य कोई चीज़ नहीं। नैपोलियन ने क्या-क्या मंसूबे बाँधे, पर उसे सेंट हेलेना में एक कैदी बन कर रहना पड़ा। जर्मन सम्राट कैसर[1] ने यूरोप के तख्त पर अपनी नज़र गड़ाई, पर आज वह एक मामूली आदमी है। ईश्वर को यही मंजूर था। हम ऐसे उदाहरणों पर विचार करें, तो और नम्र बनें।

—य० इं०। ६।१०।१९२४। हिं० न० जी०, १२।१०।१९२४]

३९. मेरे विश्वास का आधार

मेरा तो सारा भरोसा ईश्वर पर है। और मैं मनुष्यों पर भी इसलिए भरोसा रखता हूं कि मुझे ईश्वर पर पूरा विश्वास है। यदि मेरा आधार ईश्वर पर न होता तो मैं शेक्सपियर-वर्णित एथेंस के टिमन की तरह मनुष्य जाति से घृणा करने लगता।

—य० इं०। हिं० न० जी०, ७।१२।१९२४]

४०. धर्म-भावना और सम्पत्ति-त्याग

धार्मिकता की पराकाष्ठा पर पहुँचने के लिए हर प्रकार की सम्पत्ति का त्याग आवश्यक है। इस प्रकार अपने जीवन-धर्म का निश्चय हो जाने पर हमें अपनी शक्ति के अनुसार उसका पालन करना चाहिए, अधिक नहीं। यही मध्यम मार्ग है। जब कोई डाकू 'अ' की सम्पत्ति छीनने आये तो वह उसे सब कुछ दे देगा—अगर वह उसे अपने सगा भाई मानता होगा। यदि उसके हृदय में ऐसा भाव न पैदा हो पाया हो, वह डाकू से डरता हो और चाहता हो कि कोई आकर उसे मार भगाये तो अच्छा हो, तो उसे उसको पछाड़ देने की कोशिश करनी चाहिए। यदि वह डाकू से लड़ना तो चाहता हो, पर (उसके अन्दर) ताकत न हो तो उसे डाकू को अपना काम करने देना चाहिए और अदालत में जाकर अपनी सम्पत्ति पाने की कोशिश

---

१ जर्मन सम्राट कैसर विल्हेल्म, जिसने यूरोप में प्रथम महायुद्ध छेड़ा था। प्रथम महायुद्ध के अन्त में जर्मनी पराजित हुआ। सम्राट क़ैसर को निर्वासित होकर मामूली किसान का जीवन बिताना पड़ा।

करनी चाहिए। दोनो ही हालत मे सम्पत्ति के चली जाने और मिल जाने की पूरी सम्भावना है। यदि वह मेरी तरह विचारशील पुरुष हो तो मेरे समान इस विचार पर पहुँचेगा कि यदि हम वास्तव मे सुखी रहना चाहे, तो किसी प्रकार की सम्पत्ति न रखे, या तभी तक रखे जबतक हमारे पडोसी उसे रखने दे।

इस अन्तिम स्थिति मे हम अपने शरीर-बल के भरोसे नही रहते बल्कि उनके (पडोसियो के) सौजन्य पर रहते है। इसीलिए चरम नम्रता और ईश्वर पर भरोसा रखने की जरूरत है। इसी को आत्मबल के आधार पर रहना कहते है। यही आत्मभाव को प्रकट करने का श्रेष्ठ से श्रेष्ठ तरीका है। आइए, हम इस सिद्धान्त को अपने हृदय मे स्थान दे—यह समझकर नही कि कागज पर लिखने के लिए यह एक अच्छा, बौद्धिक और चित्ताकर्षक मन्तव्य है, बल्कि यह समझकर कि यह हमारे जीवन का एक नियम है, धर्म है, हमे निरन्तर इसका साक्षात्कार करना है। आइए, हम इस धर्म के अनुसार इस तक पहुँचने के उद्देश्य से शक्तिभर इसका पालन करें।

—यं० इं०। हि० न० जी० ५।२।१९२५]

● धार्मिकता की पराकाष्ठा पर पहुँचने के लिए हर प्रकार की सम्पत्ति का त्याग आवश्यक है।

४१. ईश्वर

दृश्य ईश्वर क्या है ? दीन की सेवा।

—न० जी०। हि० न० जी०, ५।२।१९२५]

४२. आत्मार्थी

मैं कह सकता हूँ कि मुझे सुधार की अभिलाषा नही है। मैं तो स्वार्थी आदमी हूँ और स्वय ही अपने आनन्द मे मग्न रहता हूँ। मैं तो अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहता हूँ।

—हि० न० जी०, १९।२।१९२५]

४३. धर्म और व्यावहारिक प्रश्न

जो धर्म व्यावहारिक बातो पर ध्यान नही देता और उन्हे हल करने मे मदद नही करता वह धर्म नही है।

—य० इं०, ७।५।१९२५]

४४. वासना की आँधी और राम-नाम का मणिदीप

एक सज्जन पूछते हैं —

"आपने एक बार काठियावाड़ की यात्रा में किसी स्थान पर कहा था कि मैं जो तीन बहिनों से बच गया वह केवल ईश्वर-नाम के बल पर। इस सिलसिले में 'सौराष्ट्र' ने कुछ ऐसी बातें लिखी हैं, जो समझ में नहीं आतीं। (उसने) कुछ इस आशय का लेख लिखा है कि आप मानसिक पाप-वृत्ति से नहीं बच पाये। इसका अधिक खुलासा करेंगे तो कृपा होगी।"

पत्र-लेखक से मेरा परिचय नहीं है। जब मैं बम्बई से रवाना हुआ, तब उन्होंने यह पत्र अपने भाई के हाथ मेरे पास पहुंचाया। यह उनकी तीव्र जिज्ञासा का सूचक है। सामान्य रूप से ऐसे प्रश्नों की चर्चा सर्वसाधारण के सामने नहीं की जा सकती। यदि सर्वसाधारण जन मनुष्य के वैयक्तिक जीवन में गहरे पैठने का रिवाज डालें, तो स्पष्ट है कि उसका बुरा फल हुए बिना न रहेगा।

पर मैं इस उचित अथवा अनुचित जिज्ञासा से नहीं बच सकता। मुझे बचने का अधिकार नहीं, इच्छा भी नहीं। मेरा व्यक्तिगत जीवन सार्वजनिक हो गया है। मेरे लिए संसार में एक भी बात नहीं जिसे मैं निजी रख सकूं। मेरे प्रयोग आध्यात्मिक हैं, अनेक नये हैं। उन प्रयोगों का आधार अधिकतर आत्म-निरीक्षण पर है। "यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे"—इस सूत्र के अनुसार मैंने प्रयोग किये हैं। इसमें ऐसी धारणा समाविष्ट है कि जो बात मेरे लिए सम्भव है, वही दूसरों के विषय में भी होगी। इसलिए मुझे अनेक गुह्य प्रश्नों के भी उत्तर देने की जरूरत पड़ जाती है।

फिर मुझे पूर्वोक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए राम-नाम की महिमा बताने का अवसर भी अनायास मिलता है। उसे मैं कैसे खो सकता हूं?

तो अब सुनिए, किस प्रकार मैं तीनों प्रसंगों पर ईश-कृपा से बच गया। तीनों प्रसंग वारांगनाओं से सम्बन्ध रखते हैं। दो के पास भिन्न-भिन्न अवसर पर मुझे मित्र लोग ले गये थे। पहिले अवसर पर मैं झूठी शर्म का मारा वहां जा फंसा और यदि ईश्वर ने न बचाया होता तो मेरा पतन अवश्य हो जाता। मैं इस अवसर पर जिस घर में ले जाया गया था, वहां उस स्त्री ने ही मेरा तिरस्कार किया। मैं बिल्कुल नहीं जानता कि ऐसे अवसरों पर किस तरह, क्या बोलना चाहिए, किस तरह बरतना चाहिए। इससे पहिले मैं ऐसी स्त्रियों के पास बैठने में भी लांछन मानता था। इसलिए मेरा हृदय इस घर में घुसने के समय भी कांप रहा था। मकान में जाने के बाद मैं उसके चेहरे की ओर देख भी न सका। मुझे पता नहीं, उसका चेहरा

कैसा था। ऐसे मूढ को वह चपला क्यो निकाल वाहर न करती ? उसने मुझे दो-चार बाते सुना कर रवाना कर दिया। उस समय तो मैंने यह नही समझा कि ईश्वर ने बचाया। मैं तो खिन्न होकर दबे पाँव वहाँ से लौटा। मैं शर्मिन्दा हुआ और मुझे अपनी मूढता पर दु ख भी हुआ। मुझे आभास हुआ जैसे मेरे अन्दर राम नही है। बाद मे मैंने जाना कि मूढता ही मेरी ढाल थी। ईश्वर ने मुझे मूर्ख वनाकर उबार लिया, नही तो मै, जो कि बुरा काम करने के लिए गन्दे घर मे घुसा था, कैसे वच सकता था ?

दूसरा प्रसग इससे भी भयकर था। यहाँ मेरी बुद्धि पहिले अवसर की तरह निर्दोष न थी, हालाँकि मैं सावधान अधिक था। फिर, मेरी पूजनीया माता जी-द्वारा दिलाई गई प्रतिज्ञा की ढाल भी मेरे पास थी। किन्तु इस अवसर पर प्रदेश विलायत था। मैं पूर्ण युवा था। (हम) दो मित्र एक घर मे रहते थे; थोडे ही दिन के लिए उस गाँव मे गये थे। मकान-मालकिन आधी वेश्या-जैसी थी। हम दोनो उसके साथ ताश खेलने लगे। उन दिनो मैं समय मिल जाने पर ताश खेला करता था। विलायत मे माँ-बेटा भी निर्दोष भाव से ताश खेल सकते हैं—खेलते हैं। उस समय भी हमने ताश का खेल रिवाज के अनुसार अगीकार किया। आरम्भ तो बिल्कुल निर्दोष था। मुझे पता भी न था कि मकान-मालकिन अपना शरीर वेचकर आजीविका प्राप्त करती है। पर ज्यो-ज्यो खेल जमने लगा त्यो-त्यो रग भी बदलने लगा। उस बाई ने विषयी चेष्टा शुरू की। मैं अपने मित्र को देख रहा था। उन्होने मर्यादा छोड दी थी। मैं ललचाया। मेरा चेहरा तमतमा उठा। उसमे व्यभिचार का भाव भर गया था। मै अधीर हो रहा था।

पर 'जिसे राम रक्खे उसे कौन चक्खे ?' राम उस समय मेरे मुँह मे तो न था, पर वह मेरे हृदय का स्वामी था। मेरे मुख मे तो विषयोत्तेजक भाषा थी। इन सज्जन मित्र ने मेरा रग-ढग देखा। हम एक-दूसरे से अच्छी तरह परिचित थे। उन्हे ऐसे कठिन प्रसगो की स्मृति थी जव कि मैं अपने ही इरादे से पवित्र रह सका था। पर इस मित्र ने देखा कि इस समय मेरी बुद्धि बिगड गई है। उन्होने देखा कि अगर इस रगत मे रात अधिक जायगी तो उनकी तरह मैं भी पतित हुए बिना न रहूँगा।

विषयी मनुष्यो मे भी सु-वासनाए होती हैं, इस वात का परिचय मुझे इस मित्र के द्वारा पहिली वार मिला। मेरी दीन दशा देखकर उन्हे दु ख हुआ। मै उम्र मे उनसे छोटा था। उनके द्वारा राम ने मेरी महायता की। उन्होने प्रेमवाण छोडे, "मोनिया, (यह मोहनदास का दुलार का नाम है। मेरे माता-पिता तथा हमारे कुटुम्व के मवसे वडे चचेरे भाई, मुझे इसी नाम से पुकारते थे। इस नाम से पुकारने

वाले साथी यह मित्र मेरे धर्म-भाई सिद्ध हुए) होशियार रहना। मैं तो गिर चुका हूँ, तुम जानते ही हो। पर (मैं) तुम्हें न गिरने दूँगा। अपनी मा के पास की (गई) प्रतिज्ञा का स्मरण करो। यह काम तुम्हारा नहीं, यहाँ से भागो, अपने बिछौने पर, हटो, ताश रख दो।"

मैंने कुछ जवाब दिया या नहीं, यह याद नहीं पड़ता। मैंने ताश रख दिया। तनिक दुःख हुआ, लज्जित हुआ, छाती धड़कने लगी। मैं उठ खड़ा हुआ, अपना बिस्तर सम्हाला।

मैं जगा। राम-नाम शुरू हुआ। मन में कहने लगा, कौन बचा, किसने बचाया? धन्य प्रतिज्ञा! धन्य माता! धन्य मित्र! धन्य राम! मेरे लिए तो यह चमत्कार ही था। यदि मेरे मित्र ने मुझ पर रामबाण न चलाये होते तो मैं आज कहाँ होता?

राम-बाण वाग्याँ रे होय ते जाणे,
प्रेम-बाण वाग्या रे होय ते जाणे।

मेरे लिए तो यह अवसर ईश्वर-साक्षात्कार का था।

अब मुझसे यदि सारा संसार कहे कि ईश्वर नहीं, राम नहीं, तो मैं उसे झूठा कहूँगा। यदि उस भयंकर रात को मेरा पतन हो गया होता तो मैं आज सत्याग्रह की लड़ाइयाँ न लड़ता होता, अस्पृश्यता के मैल को न धो रहा होता, चरखे की पवित्र ध्वनि न उच्चार करता, अपने को करोड़ों स्त्रियों के दर्शन करके पावन होने का अधिकारी न मानता, मेरे आसपास किसी बालक के निकट की तरह लाखों स्त्रियाँ निःशंक होकर न बैठती होतीं। मैं उनसे दूर भाग रहा होता और वे भी मुझसे दूर रहतीं। यह उचित भी था। मैं इस प्रसंग को अपने जीवन का सर्वाधिक भयंकर समय मानता हूँ। मैंने स्वच्छन्दता का प्रयोग करते हुए संयम सीखा। मुझे राम को भूलते समय राम के दर्शन हुए। अहो!

रघुवीर तुमको मेरी लाज।
हों तो पतित पुरातन कहिए, पार उतारो जहाज।

तीसरा प्रसंग हास्यजनक है। एक यात्रा में एक जहाज के कप्तान और एक अंग्रेज यात्री से मेरा मेलजोल हो गया। जहाज जहाँ-जहाँ रुकता, वहाँ कप्तान और अनेक यात्री वेश्यागृह ढूँढ़ते। कप्तान ने अपने साथ मुझे बन्दरगाह देखने के लिए चलने का आमन्त्रण दिया। मैं उसका अर्थ नहीं समझता था। हम एक वेश्या के घर के सामने आकर खड़े हो गये। तब मैंने समझा कि बन्दर देखने का क्या अर्थ

है। तीन स्त्रियाँ हमारे पास खडी की गईं। मैं तो स्तम्भित हो गया, शर्म के मारे न कुछ बोल सका, न भाग सका। मुझे विषयेच्छा तनिक भी न थी। वे दो तो कमरे मे चले गये। तीसरी स्त्री मुझे अपने कमरे मे ले गई। मैं विचार ही कर रहा था कि क्या करूँ, इतने मे दोनो बाहर आये। मैं नही कह सकता उस औरत ने मेरे बारे मे क्या खयाल किया होगा। वह मेरे सामने हँस रही थी। मेरे हृदय पर उसका कुछ प्रभाव न हुआ। हम दोनो की भाषा भिन्न थी। इसलिए मेरे बोलने का काम तो वहाँ था ही नही। उन मित्रो ने मुझे पुकारा तो मैं बाहर निकल आया, कुछ शर्माया तो जरूर। उन्होने अब मुझे ऐसी बातो मे बेवकूफ समझ लिया, उन्होने आपस मे मेरी हँसी भी उडाई, मुझ पर तरस तो जरूर खाया। उस दिन से मैं कप्तान के निकट ससार के बुद्धुओ मे सम्मिलित हुआ। उसने फिर मुझे बन्दरगाह देखने का न्योता नही दिया। यदि मैं अधिक समय रहता या उस बाई की भाषा जानता होता तो कह नही सकता, मेरी क्या दशा होती? पर मैं इतना तो जान सका कि उस दिन भी मैं अपने पुरुषार्थ के बल नही बचा था, बल्कि ईश्वर ने ही मुझे ऐसी बात मे मूढ रखकर बचाया।

उस भाषण के समय मुझे तीन ही प्रसग याद आये थे। पाठक यह न समझें कि मुझ पर और प्रसग नही बीते थे। मैं यह जरूर कहना चाहता हूँ कि प्रत्येक अवसर पर मैं राम-नाम के बल बचा हूँ। ईश्वर खाली हाथ जाने वाले निर्बल को ही बल देता है

> **जबलग गज बल अपनो बरत्यो,**
> **नेक सर्‌यो नहिं काम।**
> **निर्बल ह्वै बल राम पुकारयो,**
> **आये आधे नाम।**

तब यह राम-नाम है क्या चीज? तोते की तरह रटना? यदि ऐसा हो तो हम सबका बेडा राम-नाम रट कर पार हो जाय। राम-नाम का उच्चारण शुद्ध न हो तो कोई हर्ज नही। हृदय की तोतली बोली ईश्वर के दरबार मे स्वीकार होती है। हृदय भले ही मरा, मरा पुकारता[1] रहे, फिर भी हृदय से निकली पुकार जमा के

---

१. अनुश्रुति है कि महाकवि वाल्मीकि प्रारम्भ मे दस्यु थे। उन्हें ज्ञान हुआ और राम-नाम का उपदेश किया गया तो वे अज्ञानवश उसे उल्टा जपते रहे। इसी आशय का सकेत गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानस मे इस प्रकार किया है—

उलटा नाम जपत जग जाना, वाल्मीकि भए ब्रह्म समाना ॥१॥

गांधी जी का सकेत भी इसी ओर है।

खाते मे जमा होगी। पर यदि मुख राम-नाम का शुद्ध उच्चारण करता होगा और हृदय का स्वामी रावण होगा, तो वह शुद्ध उच्चारण भी नामे के खाते मे दर्ज होगा।

तुलसीदास ने 'मुख मे राम, बगल मे छुरी' वाले बगला भगत के लिए राम-नाम-महिमा नही गाई। उनके सीधे पासे भी उल्टे पडेगे। और जिसने हृदय मे राम को स्थान दिया है उसके उल्टे पासे भी सीधे पडेगे। बिगडी का सुधारने वाला राम ही है और इसीलिए भक्त सूरदास ने गाया है —

> बिगरी कौन सुधारे?
> राम बिन बिगरी कौन सुधारे रे।
> बनी बनी के सब कोई साथी,
> बिगरी के नहिं कोई रे।

इसलिए पाठक खूब समझ ले कि राम-नाम हृदय का बोल है। जहाँ वचन और मन मे एकता नही वहाँ वाचा केवल मिथ्यात्व है, दम्भ है, शब्दजाल है। ऐसे उच्चारण से ससार चाहे धोखा खा जाय,पर वह अन्तर्यामी राम भला खा सकता है? सीता-द्वारा दी हुई माला के मनके हनुमान ने फोड डाले, क्योकि वह देखना चाहते थे कि (उनके) अन्दर राम-नाम है या नही? अपने को समझदार समझनेवाले सुभटो ने उनसे पूछा—"सीता जी की मणिमाला का ऐसा अनादर?" हनुमान ने उत्तर दिया—'यदि उसके अन्दर राम-नाम न होगा तो सीता जी द्वारा दिया होने पर भी वह हार मेरे लिए भार-भूत होगा।' तब उन समझदार सुभटो ने मुँह बना-कर पूछा, "तो क्या तुम्हारे अन्दर राम नाम है?" हनुमान ने छुरी से तुरन्त अपना हृदय चीर कर दिखाया और कहा, "देखो, अन्दर राम-नाम के सिवा यदि और कुछ हो तो कहना।" सुभट लज्जित हुए हनुमान पर पुष्प-वृष्टि हुई और उस दिन से रामकथा के समय हनुमान का आवाहन प्रारम्भ हुआ।

सम्भव है यह कथाकार या नाटककार की रचना हो पर उसका सार अनन्त काल के लिए सच्चा है। जो हृदय मे है, वही सच है।

—न० जी०। हि० न० जी०, २१।५।१९२५]

- मुझसे यदि सारा ससार कहे कि ईश्वर नहीं, राम नहीं, तो मैं उसे झूठा कहूँगा।
- प्रत्येक अवसर पर मैं राम-नाम के बल बचा हूँ।
- ईश्वर खाली हाथ जाने वाले निर्बल को ही बल देता है।
- हृदय की तोतली बोली ईश्वर के दरबार मे स्वीकार होती है।

- सुधारने वाला राम ही है।
- राम-नाम हृदय का बोल है।
- जहाँ वचन और मन मे एकता नहीं, वहाँ वाचा केवल मिथ्यात्व है, दम्भ है, शब्दजाल है।
- जो हृदय मे है वही सच है।

४५. धर्म

किसी धर्म मे निन्दा और घृणा को स्थान नही है।
—हि० न० जी०, १६।७।१९२५]

४६. संन्यास

दुनिया सच्चे सन्यासियो को शायद ही जानती है। वे तो अदृश्य रहकर अपना काम करते हैं। उनके लिए स्तुति-निन्दा समान है, अथवा यो कहे कि वे स्तुति से दूर भागते हैं। . जो स्तुति के लिए ही सेवा करते हैं उनकी सेवा का मूल्य नही के बराबर है।
—न० जी०। हि० न० जी०, ३०।७।१९२५]

- जो स्तुति के लिए ही सेवा करते हैं, उनकी सेवा का मूल्य नहीं के बराबर है।

४७. मुमुक्षु

जान मे हो, या अनजान मे, हम सब मुमुक्षु है।
—न० जी०। हि० न० जी०, ३०।७।१९२५]

४८. मेरी आस्था

यदि मेरी अन्तरात्मा पूर्ण शुद्ध न होने के कारण गुमराह है तो भी दूसरे लोगों की सलाह पर, जो कितने ही मित्र-भाव से क्यो न दी गई हो, पर जो गलत भी हो सकती है—उस पर चलने की अपेक्षा क्या अपनी अन्तरात्मा को सन्तोष पहुँचाना ही अधिक श्रेष्ठ नही है? यदि मेरे कोई गुरु होते, और मैं गुरु की खोज कर रहा हूँ—

तो मुझे अपना शरीर और आत्मा सब उन्ही के चरणो मे रख देना चाहिए था। लेकिन इस अश्रद्धा के जमाने मे सच्चे गुरु का मिलना कठिन है। इसके बदले किसी को गुरु मान लेना बुरा है, उससे अवश्य नुकसान ही होता है। इसलिए मुझे लोगो को यह चेतावनी दे देनी चाहिए कि अपूर्ण को कोई अपना गुरु न बनाये। उस व्यक्ति को, जो यह नही जानता कि वह कुछ भी नही जानता, अपने को सौप देने की अपेक्षा अँधेरे मे भटकते रहना और करोडो गलतिया करके भी सत्य की ओर बढना कही अच्छा है। क्या किसी ने गले मे पत्थर बाधकर तैरना सीखा है ?

—३०।११।१९२५। य० इ० के लिए लिखित। हि० न० जी०, ३।१२। [१९२५]

- इस अश्रद्धा के जमाने मे सच्चे गुरु का मिलना कठिन है।
- अपूर्ण को कोई अपना गुरु न बनाये।
- क्या किसी ने गले मे पत्थर बाँधकर तैरना सीखा है ?

४९. भक्ति का अर्थ श्रद्धा है

[आश्रम की बहिनो को लिखे पत्र से]

भक्ति का अर्थ है श्रद्धा, ईश्वर के प्रति और अपने प्रति। यह श्रद्धा हममे सारे त्याग कराती है। त्याग के लिए त्याग करना मुश्किल होता है, परन्तु सेवा के निमित्त त्याग आसान हो जाता है। कोई माता जान-बूझ कर गीले मे नही सोती, मगर अपने बच्चे को सूखे मे सुलाने के लिए खुद विवश होकर गीले मे सो जायगी।

—बेतिया, २४।१।१९२७। बापू के पत्र आश्रम की बहिनो को, न० जी० प्र० म०]

५०. पाप और पुण्य एक साथ नही चल सकते

एक ओर पाप करके, दूसरी ओर पुण्य नही लूटा जा सकता। मनुष्य का जीवन एक पूरी वस्तु है, जिसके खण्ड नही किये जा सकते।

—य० इ०। हि० न० जी०, १०।२।१९२७]

५१. विकार एवं रोग

[आश्रम की बहिनों को लिखे पत्र से]

विकार के बिना रोग नही होता। निर्विकार को भी जाना तो है ही मगर वह तो पके फल की तरह अपने-आप गिर पडता है। . निर्विकार स्थिति तो जब अनुभव मे आये तब सच्ची।

—निपानी, २८।३।१९२७। बापू के पत्र : आश्रम की बहिनो को, न० जी० प्र० मं०]

५२. आत्मा

[आश्रम की बहिनो को लिखे पत्र से]

आत्मा न पुरुष है, न स्त्री; न बालक है, न वृद्ध। ये सारे गुण तो शरीर के हैं, ऐसा शास्त्र और अनुभव दोनो कहते हैं।

— २।५।१९२७। बापू के पत्र : आश्रम की बहिनों को, न० जी० प्र० मं०]

५३. श्रद्धा

[आश्रम की बहिनों को लिखे पत्र से]

भयमात्र अश्रद्धा की निशानी है। मगर श्रद्धा कोई अक्ल दौडा कर नही पैदा की जा सकती। वह धीरे-धीरे मनन, चिन्तन और अभ्यास से आती है। इस श्रद्धा को उत्पन्न करने के लिए हम प्रार्थना करते हैं, अच्छी पुस्तकें पढते हैं, सत्सग ढूंढते हैं और चरखा-यज्ञ करते हैं। . . .

— १६।५।१९२७। वैशाख सुदी पूर्णिमा। बापू के पत्र : आश्रम की बहिनो को, न० जी० प्र० मं०]

५४. बुद्धि कर्मानुसारिणी है

[श्री घनश्यामदास बिड़ला को लिखे पत्र से]

प्रत्येक मनुष्य की बुद्धि कर्मानुसारिणी होती है। ऐसी बातो मे पुरुषार्थ के लिए बहुत ही कम जगह है।

—नन्दी दुर्ग, ३१।५।१९२७। गाधी जी की छत्रछाया मे]

५५. शुद्ध अन्तःकरण

अगर अन्तर शुद्ध हो, तो तोतली बोली के भी सौ के सौ ही दाम चढ़ते हैं।
—१३।६।१९२७। जे० सुदी० १४। बापू के पत्र आश्रम की बहिनों को, न० जी० प्र० म०]

५६. सच्ची शुद्धि

[लंका में दिये गये कुछ भाषणों एवं अन्य लेखों से संकलित गांधी जी के कुछ उद्गार।—सम्पा०।]

मेरा दावा है कि मेरा एक मात्र सहारा भक्ति और प्रार्थना है और अगर मेरे शरीर के टुकड़े-टुकड़े भी कर दिये जायँ तो भी परमात्मा मुझे वह शक्ति देंगे कि मैं उन्हें अस्वीकृत न करूँगा, जोरों से यही कहूँगा कि वह हैं। मुसलमान कहता है कि एक वही है, दूसरा कोई नहीं है। ईसाई भी वही कहता है। हिन्दू भी वही मन्त्र पढ़ता है। मैं तो कहूँगा कि बौद्ध भी दूसरे शब्दों में ही सही, पर वही कहता है। परमात्मा का राज्य कुछ हमारी ही छोटी-सी पृथिवी तक सीमित नहीं। उसका साम्राज्य इस तरह के करोड़ों, शंख, महाशंख गोलकों तक विस्तृत है। हम सब परमात्मा का अपने-अपने (द्वारा किया हुआ) अलग ही अर्थ समझते हैं। हमारे-जैसे नगण्य, तुच्छ, निर्बल, असहाय, कीड़े उसका बड़प्पन, उसका अपार प्रेम, उसकी अनन्त क्षमा क्या समझ सकेंगे? उसकी क्षमाशीलता ऐसी है कि वह मनुष्यों को स्वयं परमात्मा के अस्तित्व से भी इन्कार करने देता है उसके नाम पर झगड़ने देता है, अपने ही भाइयों के गले काटने को भी क्षमा कर देता है। ऐसे क्षमाशील दिव्य भगवान् की महिमा समझने की शक्ति हमें कहाँ? इसलिए भले ही हम सब एक ही शब्द पुकारें, मगर हम सबके लिए उनका एक ही मतलब नहीं है। और इसलिए मैं कहता हूँ कि हमें भाषण या लेख के जरिए धर्म-प्रचार, या शुद्धि या तबलीग करने की कोई जरूरत नहीं है। यह शुद्धि का काम तो हम अपने जीवन के जरिए ही कर सकते हैं। हमारा जीवन खुली किताब हो जिसे सब कोई पढ़ सकें। अगर मैं धर्म-प्रचारकों को यह बात सुझा सकता, समझा सकता, तब न तो कहीं अविश्वास होता, न सन्देह होता, न विद्वेष-फूट का नामोनिशान होता।
—हि० न० जी०, १५।१२।१९२७]

● मेरा एक मात्र सहारा भक्ति और प्रार्थना है।

- परमात्मा का राज्य . . . हमारी ही छोटी-सी पृथिवी तक सीमित नहीं।
- हमारा जीवन खुली किताब हो, जिसे सब कोई पढ सकें।

५७. प्रार्थना की शक्ति

[ब्रह्मपुर, उड़ीसा की सायंकालीन सभा मे विद्यार्थियो के समक्ष किये गये प्रवचन का अंश।—सम्पा०।]

जिस प्रकार शरीर के लिए भोजन जरूरी है, उसी प्रकार आत्मा के लिए भी जरूरी है। आदमी भोजन बिना बहुत दिनो तक रह सकता है। आयरलैण्ड का प्रसिद्ध वीर मैकस्विनी सत्तर दिन बिना खाये जिया था। लेकिन परमात्मा मे विश्वास रख कर व्यक्ति एक क्षण भी प्रार्थना के बिना नही जी सकता, जीना भी नही चाहिए। तुम कहोगे कि बहुत-से आदमी कभी प्रार्थना नही करते और जिन्दा हैं। मैं मानता हू कि वे जीवित है, लेकिन वह जीवन पशु का जीवन है, जो मृत्यु से भी बुरा है। मुझे इस बात मे कोईसन्देह नही कि आज हमारा वातावरण जिस वैर, फूट और द्वेष की आग से भरा हुआ है, उसका कारण प्रार्थना के सच्चे भाव का न होना ही है। तुम इससे इन्कार करोगे और कहोगे कि करोडो मुसलमान, ईसाई और हिन्दू प्रार्थना करते है। मैं जानता था कि तुम यह आपत्ति प्रस्तुत करोगे। इसलिए मैंने कहा था—सच्ची प्रार्थना। बात यह है कि हम मुँह से तो प्रार्थना करते रहे हैं, मगर दिल से शायद ही कभी करते हो। इसी पाखण्ड से बचने के लिए हम आश्रम मे रोज़ भगवद्गीता के दूसरे अध्याय के पिछले श्लोको का पाठ करते हैं। उन श्लोको मे स्थितप्रज्ञ के जो लक्षण बतलाये गये हैं, उन पर अगर हम रोज़ विचार करें, ध्यान करे तो हमारे हृदय परमात्मा की ओर अवश्य झुके। अगर तुम विद्यार्थी लोग, शुद्ध चारित्र्य और सच्चे हृदय की नीव पर शिक्षा का भवन खडा करो तो तुम्हे रोज़ सच्चे हृदय और धार्मिक भावना से प्रार्थना करने से अधिक और किसी चीज़ से सहायता नही मिलेगी।

—यं० इं०। हि० न० जी०, १५।१२।१९२७]

५८. प्रेम नम्रता की पराकाष्ठा है

मैंने कितनी बार समझाया है कि जिसे सब कुछ प्रेमभाव से करना है उसका काम शून्यवत् हुए बिना चल ही नहीं सकता। प्रेम नम्रता की पराकाष्ठा है।

—वर्धा, २७।११।१९२८। बापू के पत्र : कुसुम बहिन देसाई के नाम, न० जी० प्र० मं०]

५९. प्रार्थना

यदि हमारे भीतर श्रद्धा हो, यदि हमारा हृदय प्रार्थना मे ओत-प्रोत हो, तो हम ईश्वर के सामने प्रलोभन नही रखेंगे, उसके साथ कभी सौदा नही करेंगे।

जबतक हम अपने आपको शून्यवत् नही बना लेते, तबतक हम अपने भीतर की बुराई को जीत नही सकते। एकमात्र प्राप्त करने योग्य सच्ची स्वतन्त्रता के मूल्य के रूप मे ईश्वर मनुष्य से सम्पूर्ण आत्म-समर्पण से कम किसी वस्तु की माग नही करता। और जब मनुष्य इस तरह अपने को खो देता है, शून्यवत् बना लेता है, तो वह तुरन्त ही अपने को ईश्वर के सब प्राणियो की सेवा मे लगा हुआ पाता है। वह सेवा ही उसके जीवन का आनन्द और उसका मनोरजन बन जाती है। वह बि कुल नया आदमी बन जाता है और ईश्वर की सृष्टि की सेवा मे अपने को खपाने मे कभी थकान महसूस नही करता।

—य० इ०, २०।१२।१९२८]

- यदि हमारा हृदय प्रार्थना से ओतप्रोत हो, तो हम ईश्वर के सामने प्रलोभन नहीं रखेंगे; उसके साथ कभी सौदा नहीं करेंगे।

६०. धर्म-सम्बन्धी कुछ प्रश्न

एक भाई नीचे-लिखे प्रश्न पूछते हैं —

१ "धर्म का वास्तविक रूप तथा उद्देश्य आज धर्म के नाम पर कैसे-कैसे अनर्थ होते हैं। जरा-जरा सी बातो मे धर्म की दुहाई दी जाती है। किन्तु ऐसे कितने मनुष्य है जो धर्म के उद्देश्य तथा रहस्य को जानते हैं? इसका एकमात्र कारण धार्मिक शिक्षा का अभाव है। मुझे आशा है, आप इस पर और नीचे-लिखे दूसरे प्रश्नो पर 'हिन्दी नवजीवन'-द्वारा अपने विचार प्रकट करने का कष्ट स्वीकार करेंगे।

२ मनुष्य की आत्मा को किन साधनो-द्वारा शान्ति मिल सकती है और उसका इहलोक व परलोक बन सकता है?

३ क्या आपके विचार से अगर मनुष्य अपने पिछले दुष्कृत्यो का प्रायश्चित्त करले तो उनका फल नष्ट हो सकता है?

४ मनुष्य के जीवन का उद्देश्य और उसके प्रमुख कर्त्तव्य क्या होने चाहिए?"

यह आश्चर्य और आनन्द की बात है कि 'य० इ०', 'गुजराती नवजीवन', और 'हिन्दी-नवजीवन' के पाठको मे हिन्दी पाठक ही धर्म के बारे मे ज्यादातर

प्रश्न पूछते हैं। इसका यह अर्थ तो हर्गिज नही होता कि दूसरे प्रान्त के लोगो मे धर्म-जिज्ञासा का अभाव है। परन्तु यह ठीक है कि 'हिन्दी नवजीवन' के पाठको मे ही अधिकतर ऐसे हैं, जिन्हे धर्म-सम्बन्धी प्रश्नो की चर्चा से प्रेम है, और उसके समाधान के लिए वे मेरी सहायता की अपेक्षा रखते हैं। मैं अपने लिए धर्मशास्त्र के गम्भीर अनुभव का दावा नही कर सकता, हाँ, धर्म-पालन के प्रयत्न का दावा मैं अवश्य करता हूँ। अपने इस प्रयत्न मे मुझे जो अनुभव होते हैं, उनसे अगर पाठको का कुछ लाभ हो सकता है तो अवश्य ही वे उनका लाभ उठा सकते हैं। अपनी इस मर्यादा का उल्लेख कर अब मैं उक्त प्रश्नो के उत्तर देने की चेष्टा करूँगा।

१ सत्सग मनुष्य के लिए क्या नही कर सकता ? तुलसीदास ने सत्सग की महिमा का जो वर्णन किया है उसे कौन नही जानता ? इसका यह अर्थ नही है कि धार्मिक पुस्तको का पठन-पाठन अनावश्यक है। इसकी आवश्यकता तभी होती है जब मनुष्य सत्सग प्राप्त कर चुकता है और कुछ हद तक शुद्ध भी बन चुकता है। यदि इससे पहिले धर्म-पुस्तको का पठन-पाठन शुरू किया जाता है तो शान्तिप्रद होने के बदले उसका बन्धक बन जाना अधिक सम्भव है। तात्पर्य यह कि समझदार मनुष्य दुनियाभर की फिक्र करने के बदले पहिले स्वय धर्म-पालन करना शुरू कर दे। फिर तो 'यथापिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' के न्यायानुसार एक के आरम्भ का असर दूसरे पर अवश्य ही पडेगा। अगर सब अपनी-अपनी चिन्ता करने लगें तो किसी की चिन्ता करने की जरूरत नही रह जाय।

साधु-जीवन से ही आत्मशान्ति की प्राप्ति सम्भव है। यही इहलोक और परलोक, दोनो, का साधन है। साधु-जीवन का अर्थ है, सत्य और अहिंसामय जीवन, सयमपूर्ण जीवन। भोग कभी धर्म नही बन सकता। धर्म की जड तो त्याग ही मे है।

३ पिछले दुष्कृत्यो का प्रायश्चित्त शक्य है और कर्त्तव्य भी है। प्रायश्चित्त का अर्थ न मिन्नत है, न रोना पीटना ही है। हाँ, उसमे उपवासादि की गुजाइश अवश्य है। पश्चात्ताप ही सच्चा प्रायश्चित्त है। दूसरे शब्दो मे, दुबारा दुष्कर्म न करने का निश्चय ही शुद्ध प्रायश्चित्त है। दुष्कर्मों के फलो का कुछ-न-कुछ नाश तो अवश्य होता है। जबतक प्रायश्चित्त नही किया जाता तबतक फल चक्रवृद्धि व्याज की भाँति बढता ही रहता है। प्रायश्चित्त कर लेने से सूद की वृद्धि बन्द हो जाती है।

४ मनुष्य-जीवन का उद्देश्य आत्म-दर्शन है। और उसकी सिद्धि का मुख्य एव एकमात्र उपाय पारमार्थिक भाव से जीवमात्र की सेवा करना है, उनमे तन्मयता तथा अद्वैत के दर्शन करना है।

—हि० न० जी० १५।८।१९२९]

- सतसग मनुष्य के लिए क्या नहीं कर सकता ?
- साधु-जीवन से ही आत्म-शान्ति की प्राप्ति सम्भव है।
- साधु-जीवन का अर्थ है, सत्य और अहिंसामय जीवन, सयम-पूर्ण जीवन।
- भोग कभी धर्म नहीं बन सकता।
- धर्म की जड तो त्याग ही मे है।
- पिछले दुष्कर्मों का प्रायश्चित्त शक्य है और कर्त्तव्य भी है।
- दुवारा दुष्कर्म न करने का निश्चय ही शुद्ध प्रायश्चित्त है।
- मनुष्य जीवन का उद्देश्य आत्मदर्शन है।

६१. धर्म के विषय में हमारा अज्ञान

मनुष्य धर्म के बिना नही जी सकता। कुछ लोग अपनी बुद्धि के घमण्ड मे कह देते है कि उन्हे धर्म से कोई वास्ता नही। परन्तु यह ऐसी ही बात है जैसे कोई मनुष्य यह कहे कि वह साँस तो लेता है परन्तु उसके नाक नही है। बुद्धि से हो, सहज बोध से हो या अन्ध विश्वास से हो, मनुष्य ईश्वर के साथ अपना कुछ-न-कुछ सम्बन्ध मानता ही है। कट्टर-से-कट्टर अज्ञेयवादी या नास्तिक भी किसी नैतिक सिद्धान्त की आवश्यकता अवश्य स्वीकार करता है और उसके पालन मे कुछ-न-कुछ भलाई तथा उसके अपालन मे कुछ-न-कुछ बुराई समझता है। ब्रैडला की नास्तिकता मशहूर है, परन्तु वह अपने अन्तरतम के विश्वास की घोषणा करने का सदा आग्रह रखता था। उसे इस प्रकार सत्य कहने के कारण काफी कष्ट सहने पडे, परन्तु इसमे उसे आनन्द आता था और वह कहता था कि सत्य स्वय ही अपना पुरस्कार है। यह बात नही कि सत्य-पालन मे मिलनेवाले इस आनन्द का उसे कोई ज्ञान नही था। परन्तु यह आनन्द सासारिक बिल्कुल नही है, यह तो दैवी सत्ता के साथ सम्बन्ध जुडने से पैदा होता है। इसीलिए मैंने कहा है कि जो मनुष्य धर्म को नही मानता वह भी धर्म के बिना नही रह सकता और नही रहता।

—य० इ०, २३।१।१९३०]

- जो मनुष्य धर्म को नहीं मानता वह भी धर्म के बिना नहीं रह सकता।

६२. सभी धर्म ईश्वर-प्रणीत

सब धर्म (मत-पन्थ) ईश्वर की देन है, परन्तु उसमे मानव की अपूर्णता का पुट है, क्योंकि वे मनुष्य की बुद्धि और भाषा के माध्यम से गुजरते है। ईश्वर-

प्रदत्त धर्म वाणी से परे हैं। अपूर्ण मनुष्यो के पास जैसी भी भाषा होती है उसी मे वे उसे रख देते हैं, और फिर उनके इन शब्दो का अर्थ उतने ही अपूर्ण मनुष्य करते हैं। तब फिर कौन अर्थ सही माना जाय? अपने-अपने दृष्टिकोण से सभी सही हैं, परन्तु क्या यह सम्भव नही है कि सभी गलत हो? इसीलिए सहिष्णुता की जरूरत है। इसका अर्थ यह नही कि हम अपने धर्म के प्रति उदासीन हो जायँ, परन्तु यह है कि उसके प्रति हमारा प्रेम अधिक बुद्धिपूर्ण और शुद्ध हो। सहिष्णुता से हमे आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है और वह धार्मिक कट्टरता से उतनी ही दूर है जितना उत्तरी ध्रुव दक्षिणी ध्रुव से दूर है। धर्म का सच्चा ज्ञान मत-पन्थो के बीच की दीवारो को हटाकर सहिष्णुता उत्पन्न करता है। दूसरे धर्मों के लिए सहिष्णुता रखने से हमे अपने धर्म को सही तौर पर समझने मे मदद मिलेगी।

—यं० इ० (बुलेटिन), २।१०।१९३०]

६३. भक्ति ही सर्वोपरि

भक्ति के बिना ज्ञान तथा कर्म शुष्क हैं और उनके बन्धन रूप हो जाने की सम्भावना है।

—मंगल प्रभात, ४।१०।१९३०। गीताबोध, स० सा० मं०, संस्करण १९५४]

६४. यज्ञमय जीवन

यज्ञमय जीवन कला की पराकाष्ठा है, सच्चा रस उसी मे है, क्योकि उसमे से नित्य रस के नये झरने प्रकट होते हैं। मनुष्य उसे पीकर नही अघाता, न वे झरने कभी सूखते हैं। यज्ञ यदि भाररूप जान पडे तो यज्ञ नही है, जो अखरे वह त्याग नही है। भोग का अन्त नाश है, त्याग का अन्त अमरता।

—मंगल प्रभात, २८।१०।१९३०। गीता-बोध, पृ० ३१, स० सा० मं०, संस्करण १९५४]

- **यज्ञमय जीवन कला की पराकाष्ठा है।**
- **भोग का अन्त नाश है; त्याग का अन्त अमरता।**

६५. निराकार : साकार

निराकार निर्गुण है, अत मनुष्य की कल्पना से परे है। अत मव देहवारी जाने-अनजाने माकार के ही भक्त है।

—मगलप्रभात, ४।११।१९३०। गीता-बोध, पृ० ६३-६४, स० सा० म०, सस्करण १९५४]

६६. ज्ञान का स्रोत

वर्म-वेदना तथा वर्म-जिज्ञासा के बिना ज्ञान नही मिलता। जिसके मन मे अच्छे और बुरे का भेद जानने की इच्छा तक नही होती, उसके सामने वर्म-चर्चा कैसी?

—मगल प्रभात, ११।११।१९३०। गीता-बोध, पृ० ८, स० सा० म०, दसवाँ सस्करण १९५०]

६७. ईश-कृपा

सूर्य के तेज से जैसे वर्फ पिघल जाती है वैसे ईश्वर-प्रसादी के तेज से दु ख मात्र भाग जाते है ।

—सोमप्रभात, १७।११।१९३०। गीता-बोध, पृ० १४, स० सा० म०, दसवाँ सस्करण १९५४]

६८. मानव-धर्म

वास्तव मे मनुष्य का धर्म फल का विचार छोड कर कर्तव्य-कर्म किये जाने का है।

—सोमप्रभात, १७।११।१९३०। गीता-बोध, पृ० ११ स० सा० म०, दसवा सस्करण १९५४]

६९. कर्म और ज्ञान

आरम्भ से ही इम जगत् मे दो मार्ग चलते आये है—एक मे ज्ञान की प्रवानता है और दूमरे मे कर्म की। कर्म के विना मनुष्य अकर्मी नही हो मकना, विना कर्म

के ज्ञान आता ही नही। सब छोडकर बैठ जानेवाला मनुष्य सिद्ध पुरुष नही कहला सकता।

—सोमप्रभात, २४।११।१९३०। गीता-बोध, स० सा० मं०, दसवां संस्करण १९५४]

७०. ज्ञान

ज्ञान से मतलब अक्षर-ज्ञान नही है। इस ज्ञान मे शका की कोई गुजाइश ही नही रहती। उसका आरम्भ श्रद्धा से होता है और अन्त मे उसका अनुभव आता है। ऐसे ज्ञान से मनुष्य सब जीवो को अपने मे देखता है और अपने को ईश्वर मे देखता है, यहाँ तक कि यह सब प्रत्यक्ष की भाँति उसे ईश्वरमय लगता है। ऐसा ज्ञान पापी-से-पापी को भी तार देता है। यह ज्ञान मनुष्य को कर्मबन्धन से मुक्त करता है अर्थात् कर्म का फल उसे स्पर्श नही करता। इसके समान पवित्र इस जगत् मे दूसरा कुछ नही।

—सोमप्रभात, १।१२।१९३०। गीता-बोध, स० सा० मं०, दसवाँ संस्करण १९५४]

७१. आत्मा की स्थिति

आत्मा का उद्धार आत्मा से ही होता है। तब कह सकते है कि आत्मा स्वय ही अपना शत्रु और मित्र बनता है। जिसने मन को जीता है, उसका आत्मा मित्र है, जिसने नही जीता है उसका आत्मा शत्रु है।

—मंगल प्रभात, १६।१२।१९३० गीता-बोध, स० सा० मं०, संस्करण १९५४]

७२. ईश्वर-भजन का अर्थ

ईश्वर ने गीता में स्वय कहा है—"मुझे भजने का अर्थ है मेरे जगत् की सेवा करना।"

—मंगल प्रभात, २३।१२।१९३०। गीता-बोध, स० सा० म० दसवाँ सस्करण १९५४]

७३. पूर्णब्रह्म, अध्यात्म और कर्म

जो सर्वोत्तम नाशरहित स्वरूप है वह पूर्णब्रह्म है और जो प्राणिमात्र में कर्ता भोक्तारूप से देह धारण किये हुए है वह अध्यात्म है। प्राणिमात्र की उत्पत्ति जिस क्रिया से होती है उसका नाम कर्म है। अत यह भी कह सकते हैं कि जिस क्रिया से उत्पत्तिमात्र होती है वह कर्म है। यज्ञ-द्वारा शुद्ध हुआ अध्यात्म-स्वरूप अधियज्ञ है।

—सोम प्रभात, २९।१२।१९३०। गीता-बोध स० सा० म० संस्करण १९५८]

७४. भक्ति का अर्थ

भक्ति का तात्पर्य है ईश्वर में आसक्ति। अनासक्ति के अभ्यास का भी यह सरल-से-सरल उपाय है। भक्ति राजयोग है और सरल मार्ग है। हृदय में जा बैठ जाय वह सरल है, जो न बैठे वह विकट है। इसलिए उसे सिर का सौदा भी माना गया है। पर यह ऐसा है कि देखनेवाले जलते हैं अन्दर पड़े हुए महासुख मानते हैं। कवि लिखता है कि उबलते तेल की कड़ाही में सुधन्वा हँसता था और बाहर खड़े हुए (लोग) काँपते थे। क्या बात है कि नन्द अन्त्यज की जब परीक्षा हुई तब वह अग्नि में नाचता था? इन सबकी सचाई की ऐतिहासिकता खोजने की जरूरत नहीं है। जो किसी भी चीज में लीन होता है उसकी ऐसी ही स्थिति होती है। वह अपने को भूल जाता है, पर प्रभु को छोड़कर दूसरे में लीन कौन होगा?

शक्कर गन्ने का स्वाद छोड़ कड़वे नीम को मत घोल रे।
सूरज-चाँद का तेज तज, जुगनू से मन मत जोड़ रे।

—सोम प्रभात, ५।१।१९३१। गीता-बोध, पृ० ५६, स० सा० म०, संस्करण १९५४]

७५. सर्वार्पण भक्ति और विराटरूप ईश्वर

सर्वार्पण और सर्वव्यापक प्रेम के बिना भक्ति नहीं है। ईश्वर के काल रूप का मनन करने से और उसके मुख में सृष्टिमात्र को समा जाता है, प्रतिक्षण काल का यह काम चलता ही रहता है—इसका भान आ जाने से सर्वार्पण और जीवमात्र के साथ ऐक्य अनायास हो जाता है। चाहे अनचाहे इस मुख में हम अकल्पित क्षण में पड़नेवाले हैं। वहाँ छोटे-बड़े का, नीच-ऊँच का, स्त्री-पुरुष का, मनुष्य-मनुष्येतर

का भेद नही रहता है। सब कालेश्वर के एक कौर हैं, यह जान कर हम क्यो दीन, शून्यवत् न बनें, क्यो सबके साथ मैत्री न करें ! .....

—सोम प्रभात, १२।१।१९३१। गीता-बोध, पृ० ६२, स० सा० मं०, संस्करण १९५४]

७६. गुणातीत

जो मनुष्य अपने पर जो आ पडे, फिर भले ही प्रकाश हो या प्रवृत्ति हो या मोह हो, ज्ञान हो, गडबड हो या अज्ञान, उसका अतिशय दु ख या सुख न माने या इच्छा न करे, जो गुणो के बारे मे तटस्थ रहकर विचलित नही होता, गुण अपने गुणानुसार बरतते है यह समझ कर जो स्थिर रहता है, जो सुख-दु ख को सम मानता है, जिसे लोहा, पत्थर या सोना समान है, जिसे प्रिय-अप्रिय की बात नही है; जिसपर उसकी स्तुति या निन्दा कोई प्रभाव नही डाल सकती; जिसे मान-अपमान समान है; जो शत्रु-मित्र के प्रति समभाव रखता है, जिसने सब आरम्भो का त्याग किया है वह गुणातीत कहलाता है।

—मौनवार, २५।१।१९३२। गीता-बोध, पृ० ७१, ७२-स० सा० मं०, संस्करण १९५४]

७७. धर्मवृत्ति और अधर्म वृत्ति

जिसमे धर्मवृत्ति होती है उसमे निर्भयता, अन्त करण की शुद्धि, ज्ञान, समता, इन्द्रिय-दमन, दान, यज्ञ, शास्त्रो का अभ्यास, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, किसी की चुगली न खाना अर्थात् अपैशुनता, भूतमात्र के प्रति दया, अलोलुपता, कोमलता, मर्यादा, अचचलता, तेज, क्षमा, धीरज, अन्तर और बाहर की स्वच्छता, अद्रोह और निरभिमानता होती है।

अधर्म वृत्तिवाले मे दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान देखने मे आता है।

धर्मवृत्ति मनुष्य को मोक्ष की ओर ले जाती है। अधर्म-वृत्ति बन्धन मे डालती है। .

अधर्म वृत्तिवाला प्रवृत्ति और निवृत्ति का भेद नही जानता, उसे शुद्ध-अशुद्ध का या सत्यासत्य का भान नही होता तो फिर उसके वर्ताव का तो ठिकाना ही कहा से होगा ? उनके मन (की भावनानुसार) जगत् झूठा, निराधार है, जगत् का कोई

नियन्ता नही है। स्त्री पुरुष का सम्बन्ध ही उसका जगत् है, अत इसमे विषय-भोग के सिवा दूसरा विचार नही मिलता।

ऐसी वृत्तिवालो के कार्य भयानक होते है, उनकी मति मन्द होती है। ऐसे लोग अपने दुष्ट विचारो को पकडे रहते है और जगत के नाश के लिए ही उनकी सब प्रवृत्तियाँ होती है। उनकी कामनाओ का अन्त ही नही होता। वे दभ, मान, मद मे भूले रहते हैं। उनकी चिन्ता का भी पार नही होता। उन्हे नित्य नये भोग चाहिए। (वे) सैकडो आशाओ के महल चुनते रहते है और अपनी कामना के पोषण के लिए द्रव्य एकत्र करने मे न्याय-अन्याय का भेद बिल्कुल छोड देते है।

आज यह पाया और कल वह और प्राप्त करूँगा, इस शत्रु का आज मारा फिर दूसरे को मारूगा, मै बलवान् हूँ, मेरे पास ऋद्धि-सिद्धि है, मेरे समान दूसरा कौन है, कीर्तिप्राप्ति के लिए यज्ञ करूँगा, दान दूंगा और चैन की बंशी बजाऊगा।—यो मन ही मन मानता हुआ वह खुश होता रहता है और अन्त मे मोह-जाल मे फँसकर नरक-वास पाता है।

ये आसुरी वृत्तिवाले प्राणी अपने घमण्ड मे भूले रह कर परनिन्दा करते हुए सर्वव्यापक ईश्वर का द्वेष करते है और इससे वे बारबार आसुरी योनि मे जनमते हैं।

—यरवदा मन्दिर, ७।२।१९३२। गीता-बोध, पृ० ७५-७६, स० सा० म०, सस्करण १९५४]

७८. ईश्वर पर श्रद्धा : लक्षण

[सुश्री मीराबहिन को लिखे पत्र से]

जिनका ईश्वर के पथ-प्रदर्शन मे विश्वास है, वे जो अच्छे से अच्छा हो सकता है, वही करते है और फिर चिन्ता नही रखते। सूर्य को कभी अधिक परिश्रम से थकान नही आती और सूर्य के समान अनोखी नियमितता के साथ कौन बेगार करता है ?

—यरवदा मन्दिर, ११।२।१९३२। बापू के पत्र मीरा के नाम, पृ० १४०, न० जी० प्र० म०]

७९. श्रद्धा के भेद

श्रद्धा तीन प्रकार की होती है—सात्विकी, राजसी और तामसी। श्रद्धा के अनुसार ही मनुष्य होता है।

८६. विभूति

[एक पत्रांश]

साथी-सहयोगी करोडो हो सकते है। मित्र तो एक ईश्वर ही है। दूसरी मित्रता ईश्वर की मित्रता मे बाधक है, यह मेरा मत और अनुभव है।

मैं यह जानता या मानता नही कि कृष्ण भगवान योगबल से या दूसरे बल से भौतिक साधनो के बिना आया-जाया करते थे। सच्चे योगी विभूति मात्र का त्याग करते हैं, क्योकि उनका योग सिर्फ साक्षात्कार साधने के लिए होता है। उसकी हल्की चीज के साथ कैसे अदलाबदली की जा सकती है ?

— २८।३।१९३२। म० भा० डा०, भाग १ पृ० ५२-५३]

८७. ब्रह्मचर्य

[श्री सुरेन्द्र को लिखे पत्र से]

तीनो काल मे और सब हालतो मे टिका रहे वही ब्रह्मचर्य है। यह स्थिति बहुत मुश्किल है, मगर इसमे आश्चर्य की कुछ बात नही। हमारा जन्म विषय से हुआ है। जो विषय से पैदा हुआ है, वह शरीर हमे बहुत अच्छा लगता है। वश-परम्परा से मिले हुए इस विषयी उत्तराधिकार को निर्विषयी बनाना कठिन ही है। फिर भी वह अमूल्य आत्मा का निवासस्थान है। आत्मा का प्रत्यक्ष साक्षात्कार हो तब ब्रह्मचर्य स्वाभाविक हो सकता है। और वह ब्रह्मचर्य साक्षात् रम्भा स्वर्ग से उतर आये और स्पर्श करे तो भी अखण्डित रहता है। सबकी माता रम्भा के समान हो सकती है। रम्भा माता का विचार करने से भी विकार शान्त होते है। इसी तरह स्त्री मात्र का विचार करने से विकार शान्त होने चाहिए। मगर कितना विस्तार करू ? इसी पर वार-वार विचार करके फलितार्थ निकालना।

—४।४।१९३२। म० भा०, डा० भाग १, पृ० ६९]

८८. ब्रह्मचर्य

[श्री सुरेन्द्र जी के पत्र मे व्यक्त शंकाओं का उत्तर। सम्पा०]

सभी हालतो मे कायम रह मके वही ब्रह्मचर्य है—इसमे सभी हालतो का पूरा अर्थ करना चाहिए। किमी भी लाल्च मे या किमी भी प्रलोभन मे आ पडे, तो भी जो टिका रहे वह ब्रह्मचर्य है। किसी ने पत्थर का पुरुष बनाया हो और उसके पास

कोई रूपवती जाय तो पत्थर पर उसका असर नहीं होगा। इसी तरह जो पत्थर की तरह रह सके, वह ब्रह्मचारी है। मगर जैसे पत्थर की मूर्ति न कानों से काम लेती है, न आँखों से, वैसे ही पुरुष भी लालच ढूंढने न जाय। वह तो ब्रह्मचारी नहीं है। इसलिए अपनी तरफ से तो पुरुष का एक भी कृत्य ऐसा नहीं होना चाहिए, जिसे विकार के चिह्न के तौर पर माना जा सके। मगर बड़ा सवाल तुम्हारे मन में यह है—स्त्री-जाति का दर्शन और उसका संग अनुभव में संयम का विघातक पाया जाता है, इसलिए त्याज्य है। इस विचार में मुझे दोष दीखता है।

जो संग स्वाभाविक है और जिसका मूल सेवा है, उसे छोड़ कर ही जो संयम पाला जा सके, वह संयम नहीं, ब्रह्मचर्य नहीं, वह तो बिना वैराग्य का त्याग है। इसलिए यह संयम मौका पाकर बढ़ेगा। 'पर' के दर्शनों के बिना विषयों की निवृत्ति हो ही नहीं सकती—यह वेदवाक्य है। मगर इसमें उल्टा वाक्य भी उतना ही सच है। विषयों की निवृत्ति के बिना 'पर' के दर्शन नहीं हो सकते। यानी दोनों चीजें साथ-साथ चलती हैं। अन्तिम वचन तनिक समझ लेने की जरूरत है। रस तो 'पर' के दर्शन के बाद मिट जाता है, यानी विषयों के शान्त हो जाने पर भी अन्दर-अन्दर अगर रस रह जाता है, तो 'पर' के दर्शन हुए बिना विषय-वासना के जागरित होने की सम्भावना रह जाती है। साक्षात्कार होने के बाद वासना मात्र असम्भव हो जाती है। यानी पुरुष नरजाति न रहकर नपुंसक हो जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह एक न रहकर शून्य बन जाता है। दूसरे शब्दों में कहें तो वह परमेश्वर में समा जाता है। जहां वासना नहीं रही वहां रस भी क्या और विषय भी क्या? इस तरह बुद्धि को तो यह बिल्कुल सीधा लगता है। यहां पर और जहां-जहां ईश्वर, ब्रह्म, परब्रह्म वगैरह शब्द आते हैं, वहाँ-वहाँ सत्य शब्द इस्तेमाल करके अर्थ करने और समझने से वस्तुस्थिति स्पष्ट हो जायगी और साक्षात्कार का अर्थ भी आसानी से समझ में आ जायगा। यह खेल आत्म-वंचना का नहीं है। आश्रम में जो कुटुम्ब-भावना के नाम पर हम अन्तर में विषयों का सेवन करते होंगे, वे भी तीसरे अध्यायवाले मिथ्याचारी हैं। हम यहां सत्याचारी की बात कर रहे हैं, और यह सोच रहे हैं कि सत्याचारी को क्या करना चाहिए।

—१९।४।१९३२। म० भा० डा० भाग १, पृ० १०७-१०८]

- सभी हालतों में कायम रह सके, वही ब्रह्मचर्य है।
- किसी भी प्रलोभन में आ पड़े, तो भी जो टिका रहे, वह ब्रह्मचर्य है।
- जो पत्थर की तरह रह सके वह ब्रह्मचारी है।

८६. विभूति

[एक पत्रांश]

साथी-सहयोगी करोडो हो सकते हैं। मित्र तो एक ईश्वर ही है। दूसरी मित्रता ईश्वर की मित्रता मे बाधक है, यह मेरा मत और अनुभव है।

मैं यह जानता या मानता नही कि कृष्ण भगवान योगबल से या दूसरे बल से भौतिक साधनो के बिना आया-जाया करते थे। सच्चे योगी विभूति मात्र का त्याग करते हैं, क्योकि उनका योग सिर्फ साक्षात्कार साधने के लिए होता है। उसकी हल्की चीज़ के साथ कैसे अदलाबदली की जा सकती है ?

—२८।३।१९३२। म० भा० डा०, भाग १ पृ० ५२-५३]

८७. ब्रह्मचर्य

[श्री सुरेन्द्र को लिखे पत्र से]

तीनो काल मे और सब हालतो मे टिका रहे वही ब्रह्मचर्य है। यह स्थिति बहुत मुश्किल है, मगर इसमे आश्चर्य की कुछ बात नही। हमारा जन्म विषय से हुआ है। जो विषय से पैदा हुआ है, वह शरीर हमे बहुत अच्छा लगता है। वश-परम्परा से मिले हुए इस विषयी उत्तराधिकार को निर्विषयी बनाना कठिन ही है। फिर भी वह अमूल्य आत्मा का निवासस्थान है। आत्मा का प्रत्यक्ष साक्षात्कार हो तव ब्रह्मचर्य स्वाभाविक हो सकता है। और वह ब्रह्मचर्य साक्षात् रम्भा स्वर्ग से उतर आये और स्पर्श करे तो भी अखण्डित रहता है। सबकी माता रम्भा के समान हो सकती है। रम्भा माता का विचार करने से भी विकार शान्त होते हैं। इसी तरह स्त्री मात्र का विचार करने से विकार शान्त होने चाहिए। मगर कितना विस्तार करू ? इसी पर बार-बार विचार करके फलितार्थ निकालना।

—४।४।१९३२। म० भा०, डा० भाग १, पृ० ६९]

८८. ब्रह्मचर्य

[श्री सुरेन्द्र जी के पत्र मे व्यक्त शंकाओं का उत्तर। सम्पा०]

सभी हालतो मे कायम रह सके वही ब्रह्मचर्य है—इसमे सभी हालतो का पूरा अर्थ करना चाहिए। किसी भी लालच मे या किसी भी प्रलोभन मे आ पड़े, तो भी जो टिका रहे वह ब्रह्मचर्य है। किसी ने पत्थर का पुरुष बनाया हो और उसके पास

कोई रूपवती जाय तो पत्थर पर उसका असर नहीं होगा। इसी तरह जो पत्थर की तरह रह सके, वह ब्रह्मचारी है। मगर जैसे पत्थर की मूर्ति न कानो से काम लेती है, न आँखो से, वैसे ही पुरुष भी लालच ढूँढने न जाय। वह तो ब्रह्मचारी नहीं है। इसलिए अपनी तरफ से तो पुरुष का एक भी कृत्य ऐसा नहीं होना चाहिए, जिसे विकार के चिह्न के तौर पर माना जा सके। मगर बड़ा सवाल तुम्हारे मन मे यह है—स्त्री-जाति का दर्शन और उसका सग अनुभव मे सयम का विघातक पाया जाता है, इसलिए त्याज्य है। इस विचार मे मुझे दोष दीखता है।

जो सग स्वाभाविक है और जिसका मूल सेवा है, उसे छोड कर ही जो सयम पाला जा सके, वह सयम नहीं, ब्रह्मचर्य नहीं, वह तो बिना वैराग्य का त्याग है। इसलिए यह सयम मौका पाकर बढेगा। 'पर' के दर्शनो के बिना विषयो की निवृत्ति हो ही नहीं सकती—यह वेदवाक्य है। मगर इससे उलटा वाक्य भी उतना ही सच है। विषयो की निवृत्ति के बिना 'पर' के दर्शन नहीं हो सकते। यानी दोनो चीजे साथ-साथ चलती हैं। अन्तिम वचन तनिक समझ लेने की जरूरत है। रस तो 'पर' के दर्शन के बाद मिट जाता है, यानी विषयो के शान्त हो जाने पर भी अन्दर-अन्दर अगर रस रह जाता है, तो 'पर' के दर्शन हुए बिना विषय-वासना के जागरित होने की सम्भावना रह जाती है। साक्षात्कार होने के बाद वासना मात्र असम्भव हो जाती है। यानी पुरुष नरजाति न रहकर नपुसक हो जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह एक न रहकर शून्य बन जाता है। दूसरे शब्दो मे कहे तो वह परमेश्वर मे समा जाता है। जहा वासना नहीं रही वहा रस भी क्या और विषय भी क्या? इस तरह बुद्धि को तो यह बिलकुल सीधा लगता है। यहा पर और जहा-जहा ईश्वर, ब्रह्म, परब्रह्म वगैरह शब्द आते हैं, वहाँ-वहाँ सत्य शब्द इस्तेमाल करके अर्थ करने और समझने से वस्तुस्थिति स्पष्ट हो जायगी और साक्षात्कार का अर्थ भी आसानी से समझ मे आ जायगा। यह खेल आत्म-वचना का नहीं है। आश्रम मे जो कुटुम्ब-भावना के नाम पर हम अन्तर मे विषयो का सेवन करते होंगे, वे भी तीसरे अध्यायवाले मिथ्याचारी हैं। हम यहा सत्याचारी की बात कर रहे हैं, और यह सोच रहे हैं कि सत्याचारी को क्या करना चाहिए।

—१९।४।१९३२। म० भा० डा० भाग १, पृ० १०७-१०८]

- सभी हालतो मे कायम रह सके, वही ब्रह्मचर्य है।
- किसी भी प्रलोभन मे आ पडे, तो भी जो टिका रहे, वह ब्रह्मचर्य है।
- जो पत्थर की तरह रह सके वह ब्रह्मचारी है।

८९. कुछ अध्यात्म-सूक्तियाँ

[एक प्रश्नकर्ता के उत्तर में अंकित सूक्ष्म विचार-कण]

१ आचार्य वह जो अपने आचार से हमे सदाचारी बनाये।

२ सच्चा व्यक्तित्व अपने को शून्यवत् बनाने मे है।

३ जीवन का रहस्य निष्काम सेवा है।

४ सबसे ऊँचा आदर्श यह है कि हम वीतराग बनें।

५ अन्तर्बाह्य नियमो का निश्चय ऋषि-मुनियो ने प्राय अपने अनुभव से किया है। ऋषि वह जिसने आत्मानुभव किया है।

६ कर्तव्य-कर्मों के त्याग को गीता सन्यास कहती है।

७ पुरुष वह जो अपने देह का राजा बनता है।

८. सौन्दर्य के आन्तरिक वस्तु होने से उसका प्रत्यक्ष दर्शन नही हो सकता।

—१६।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १५४]

९०. प्रार्थना

प्रार्थना तो एक यही शोभा देती है—'ईश्वर को जो ठीक लगे सो करे।' यह प्रश्न उठता है कि ऐसी प्रार्थना करने का अर्थ क्या ? इसका जवाब यह है कि प्रार्थना का स्थूल अर्थ नही करना चाहिए। हमारे हृदय मे बसनेवाले ईश्वर की हस्ती के बारे मे हम जागरित हैं और मोह से छूटने के लिए घडी भर ईश्वर को अपने से अलग समझ कर उससे प्रार्थना करते हैं, यानी मन हमे जहा खीच ले जाता है वहा हम जाना नही चाहते। मगर ईश्वर हमसे भिन्न हो, तो हमारा स्वामी होने के कारण वह हमे जहा खीच कर ले जायगा वही हमे जाना है। हम नही जानते कि जीने मे भला है या मरने मे। इसलिए न तो जीकर खुश हो, न मरने से डरें। यह समझकर कि दोनो एक से हैं, हम तटस्थ रहे। यह आदर्श है। यहा तक पहुँचने मे देर लगती है या शायद ही कोई पहुँच सकता है। इसलिए हम आदर्श को कभी न छोडें और ज्यो-ज्यो उसकी कठिनाई हमे महसूस होती जाय, त्यो-त्यो हम अपना प्रयत्न बढाते जाय।

—१९।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १६०]

९१. प्रभु के प्रति समर्पण

[कुमारी एस्थर फेरिंग को लिखे पत्र से]

हम अगर अपने-आपको भगवान की इच्छा के सुपुर्द कर दे, तो हमे कभी चिन्ता करनी ही न पडे ।

— २२।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १६५]

९२. संयममयी श्रद्धा

[श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार को लिखे पत्र से]

सयममयी श्रद्धा शब्द का प्रयोग मैंने लाचारी से किया था। वह मेरे सब भाव प्रकट नही करता । और कोई शब्द-रचना इस वक्त मेरे खयाल मे नही आती । तात्पर्य यह है कि वह श्रद्धा मूढ, विवेकहीन, अन्ध नही होनी चाहिए। अर्थात् जिस जगह बुद्धि भी चलती है वहा कोई कहे कि बुद्धि कुछ भी कहे, मै श्रद्धा से वही मानता हू और मानूगा—तो इस श्रद्धा मे सयम नही है। पृथिवी गोल है या नही, यह कहना बुद्धि का विषय है फिर भी कोई कहे कि मेरी श्रद्धा है कि पृथिवी मपाट है तो यह श्रद्धा सयममयी नही है ।

— २१।६।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० २३८]

● श्रद्धा मूढ, विवेकहीन, अन्ध नहीं होनी चाहिए।

९३. ईश्वर : सेवी और सेवक

[श्री भुस्कुटे ने गाधी जी को पत्र लिखकर तालसताय का यह उद्धरण प्रस्तुत किया था, "दो ईश्वर माने जाते हैं। एक वह जिसे आमतौर पर लोग मानते हैं, जो लोगो की सेवा करता है । ऐसे ईश्वर की हस्ती नहीं है। मगर वह ईश्वर, जिसकी सेवा हम सभी को करनी है, हस्ती रखता है "

उपर्युक्त उद्धरण प्रस्तुत कर श्री भुस्कुटे ने गाधी जी से पूछा था कि वह उपर्युक्त दोनो मे से किस ईश्वर को मानते है ? गाधी जी ने इस प्रश्न का निम्नलिखित उत्तर दिया।—सम्पा०]

मैं दोनो ईश्वरो को मानता हू, जिमके पास से हम मेवा लेते है, और जिमकी हम सेवा करते है। ऐमा तो हो ही नही मकता कि हम मेवा करे और किमी प्रकार की मेवा न ले। लेकिन दोनो ईश्वर काल्पनिक ह। हा, उमके नजदीक तो वही चीज

सच्ची है। जो ईश्वर सचमुच है, वह कल्पनातीत है। वह न सेवा करता है, न सेवा लेता है। उसके लिए कोई विशेषण भी नही है, क्योकि ईश्वर कोई बाह्यशक्ति नही है, वह तो हमारे अन्दर ही है। और क्योकि हम जानते नही हैं कि ईश्वर किस तरह काम करता है, इसलिए कल्पनातीत शक्ति का स्मरण करना ही चाहिए। और जब हमने स्मरण किया, वैसे ही (तभी) हमारा कल्पनामय ईश्वर पैदा हुआ। अन्त मे बात यह है कि आस्तिकता बुद्धि का प्रयोग नही है, वह श्रद्धा की बात है। बुद्धि का सहारा इस बात मे बहुत कम मिल सकता है। और जब हमने ईश्वर को माना तब विश्व के व्यवहार की बात का झगडा छूट जाता है, क्योकि पीछे (बाद मे) हमको मानना होगा कि ईश्वर की कोई कृति बगैर हेतु नही हो सकती। इससे आगे नही जा सकता हू।

— १५।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग१, पृ० ३५८-३५९]

- **जो ईश्वर सचमुच है, वह कल्पनातीत है।**
- **वह (ईश्वर) न सेवा करता है, न सेवा लेता है।**
- **ईश्वर कोई बाह्यशक्ति नहीं है....वह तो हमारे अन्दर ही है।**
- **आस्तिकता बुद्धि का प्रयोग नहीं है। वह श्रद्धा की बात है।**
- **ईश्वर की कोई कृति बगैर हेतु नहीं हो सकती।**

९४. विचारपूर्वक प्रार्थना

प्रार्थना क्या है? किसलिए की जाती है? मौन क्यो रखते हैं? प्रार्थना सस्कृत मे क्यो हो? गुजराती, मराठी या हिन्दी मे क्यो न की जाय? आदि अनेक बातो का विचार करके हम प्रार्थना को प्रचण्ड शक्ति बना सकते है, पर हम उसके विषय मे कम-से-कम विचार करते हुए जान पडते है।

योग कर्मसु कौशलम्—यह गीता का विचार प्रौढ है। योग का अर्थ है जुडना। ईश्वर के साथ जुड जाने का नाम योग है। गीतामाता सिखाती है कि कर्मकौशल से वह सहज ही सधता है। कौशल प्राप्त करनेवाले को अपने कर्म मे तन्मय अर्थात् विचारमय होना ही चाहिए इसलिए विचार भी सद्विचार, धार्मिक भावनामय, होना चाहिए। फिर भी विचार-शून्यता की तुलना मे तो मन्त्र का आविष्कार करनेवाले की विचारशक्ति पूजने योग्य ही मानी जायगी।

—यरवदा मन्दिर, २८।८।१९३२। आश्रमवासियों से, पृ० ६४-६५]

९५. हमारा बल : ईश्वर

हमारा कोई बल ही नहीं, वह तो भगवान का ही दिया हुआ है। उसी के बल से हम बलवान हैं। यह एक छोटे से घड़े की समुद्र बनने की कोशिश करने-जैसी बात है। इसमें कोई शक नहीं कि घड़े में जो पानी है, वह समुद्र के पानी का ही अंश है। मगर इसमें वह अंश है और इसलिए हमें दिन-दिन शुद्ध होकर उस महासागर में मिलना है, यह ज्ञान ही हमें पशु से अलग करता है, नहीं तो पशु जैसे गुण तो हममें बहुत हैं। जो सर्वशक्तिमान है, सर्वव्यापक है, उसके बिना हम अपंग हो जायंगे।
—७।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १०]

- उसी (भगवान) के बल से हम बलवान हैं।
- जो सर्वशक्तिमान है, सर्वव्यापक है, उसके बिना हम अपंग हो जायंगे।

९६. शुद्धि

[एक पत्रांश]

कर्म-प्राधान्य का वर्णन करके तुलसीदास जी ने ईश्वरीय न्याय की प्रशंसा की है। भक्त के पापों को भगवान क्षमा करता है। शास्त्र की भाषा में इसका अर्थ यह है कि भक्त जब भगवान में लीन हो जाता है, तब शुद्ध होता है। शुद्ध होना पाप का क्षय ही है, जैसे सुवर्ण में से कुधातु का निकलना।
—११।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १५]

९७. एक ही उपास्य

[एक पत्रांश]

परमेश्वर और प्रकृति एक ही वस्तु है। देवता परमेश्वर की एक-एक शक्ति हैं। उनकी उपासना से भी अन्त में परमेश्वर तक पहुँचा जा सकता है।
—११।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १५]

९८ प्रार्थना

[सुश्री पद्मजा नायडू को लिखे पत्र से]

यह बात सच है कि अपने आस-पास की हवा से भी जिसमें मैं सांस लेता हूं, ईश्वर मेरे ज्यादा निकट है। निर्दोष बालकों की प्रार्थना में मैं

उसी की अदृश्य उपस्थिति का अनुभव करता हू। उसी के सहारे मैं टिका हुआ हू।

—१८।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० ३६]

९९. अनशन

[सुश्री गंगा बहिन को लिखे पत्र से]

अन्तर्शुद्धि न होने पर भी पैदा हो जाय, तो वह अनशन राक्षसी हो सकता है।

—१९।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० ४३]

१००. सामुदायिक बनाम वैयक्तिक प्रार्थना

[श्री श्रीरामनाथ सुमन को लिखे पत्र से]

सामुदायिक प्रार्थना की जड वैयक्तिक प्रार्थना ही हो सकती है। सामुदायिक प्रार्थना पर मैंने वजन दिया, उसका यह अर्थ कभी नही है कि वह वैयक्तिक प्रार्थना से अधिक महत्व रखती है। परन्तु चूकि हमे सामुदायिक प्रार्थना की आदत ही नही है, इसलिए मैंने उस प्रार्थना की आवश्यकता बताने की चेष्टा की है। जो कुछ अनुभव तुम्हे एकान्त मे बैठकर होता है, वह समूह मे होना अशक्य नही, तो कठिन तो है ही, और मैंने ऐसा भी देखा है कि कई लोग एकान्त मे बैठकर प्रार्थना कर ही नही सकते, समुदाय मे ही कर सकते हैं। उनके लिए वैयक्तिक प्रार्थना आवश्यक हो जाती है। मैं यह भी कबूल करूगा कि सामुदायिक प्रार्थना के विना मनुष्य रह सकता है, वैयक्तिक के बिना कभी नही रह सकता।

—२६।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १४९-१५०]

- **सामुदायिक प्रार्थना की जड वैयक्तिक प्रार्थना ही हो सकती है।**
- **सामुदायिक प्रार्थना के विना मनुष्य रह सकता है, वैयक्तिक के विना कभी नहीं रह सकता।**

१०१. ईश्वर-प्रदत्त बल

[एक पत्रांश]

ऐसा आत्मबल हो ही नही सकता, जिसके पीछे ईश्वर का हाथ न हो।

—२७।१०।१९३२ म० भा० डा०, भाग २, पृ० १५३]

१०२. अन्तर्नाद

[श्री मोहनलाल भट्ट को लिखे पत्र से]

अन्तर्नाद किसे कहा जाय ? वह सबको हो सकता है ? ये दो बड़े प्रश्न हैं। अन्तर्नाद तो सभी को होता ही है। मगर जैसे बहरा आदमी मधुर से मधुर संगीत नही सुन सकता वैसे ही जिसके कान अन्तर्नाद सुनने को खुले न हो, वह इस नाद को नही सुन सकता और जो संयमी नहीं है, उसके कान अन्तर्नाद सुनने को खुलते ही नही। जिसमे गीता के दूसरे अध्याय मे बताये हुए स्थितप्रज्ञ के या बारहवें अध्याय मे कहे गये भक्त के या चौदहवे अध्याय मे वर्णित गुणातीत के लक्षण हो या जिसमे तीनो का सम्मिश्रण हो, उसी मे यह योग्यता हो सकती है।

—३०।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १५६]

१०३. सर्वधर्म-ऐक्य

जैसे सब हिन्दू एक और अखण्ड है, वैसे ही तमाम हिन्दू, मुसलमान, सिख, पारसी, यहूदी और ईसाई एक ही वृक्ष की शाखाएँ है। सम्प्रदाय बहुत है, परन्तु धर्म तो एक ही है।

—५।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, (परिशिष्ट), पृ० ३८५-३८६]

१०४. ईश्वर-द्वारा मार्ग-दर्शन

[एक बालक को लिखे पत्र से]

ईश्वर अपने भक्तो को रास्ता दिखाता है। जो ईश्वर का नाम तक नही लेता, उसे याद तक नही करता, उसे भी ईश्वर रास्ता दिखाता है, यह कैसे कहा जा सकता है ? हम सब अमुक संस्कारो के साथ जन्म लेते हैं, , उनके अनुसार हमे बुद्धि सूझती है। इन संस्कारो को मिटाने की शक्ति ईश्वर ने सबको दी है। इसका जो उपयोग करेगा, वह इनको मिटा सकता है।

—७।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १७८]

१०५. भगवद्भक्ति

[श्री रामदास को लिखे पत्र से]

जो उस (भगवान) की भक्ति करेगा उसे आवश्यक बुद्धि वही दे देगा, उसका निर्वाह भी वही करेगा। भक्ति का अर्थ है जिसमे ईश्वर रहता है, ऐसे

जीवमात्र की नि स्वार्थ भाव से की गई सेवा। इसमे आत्मशान्ति के लिए रामनाम का जप भी आ गया।

—७।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १७९]

१०६. धर्म का अर्थ

धर्म का अर्थ है जो धारण[1] करे। फिर भले ही वह धर्म नास्तिक का हो, मूर्तिपूजा करनेवाले का हो या निराकार की उपासना करनेवाले का हो।

—२१।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २२०]

● 'धर्म का अर्थ है जो धारण करे।

१०७. धर्म

[श्री स्टोक्स को लिखे पत्र से]

यह कितने आनन्द की बात होगी कि लोग यह समझ जाय कि धर्म बाहरी कर्मकाण्ड मे नही है, बल्कि मनुष्य की ऊची-से-ऊची वृत्तियो का अधिक-से-अधिक अनुसरण करने मे है।

—२५।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २३३]

१०८. परमेश्वर की खोज

परमेश्वर की तलाश करने मनुष्य को नही जाना पडता। अगर खोज मे निकलने से परमेश्वर मिल सकता हो, तो क्या वह परमेश्वर है? परमेश्वर तो स्वय अपने दास को, अपने भक्त को ढूंढ निकालता है।

—६।१२।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २६३]

१०९. धर्म

हर व्यक्ति को जो चीज हृदयगम हो गई है, वह उसके लिए धर्म है। धर्म बुद्धिगम्य वस्तु नही, हृदयगम्य है। इसीलिए धर्म मूर्ख लोगो के लिए भी है।

—६।१२।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २६३]

---

१. धारयतीति धर्मः।

११०. राम-नाम

[श्री डाह्या भाई पटेल को लिखे पत्र से]

सभी दवाओ और सारी खुराको से राम-नाम मे अधिक शक्ति है, यह अनुभव न किया हो तो कर देखना। इसकी शक्ति विद्युत-शक्ति से अधिक है। यह तुम्हे शान्ति और उत्साह देगा।

—यरवदा मन्दिर, १७।१२।१९३२। 'बापू के पत्र मणि बहिन पटेल के नाम,' पृ० १५४, न० जी० प्र० म०]

१११. धर्म-पालन

[श्री कोतवाल को लिखे पत्र से]

अगर धर्म-सकट पैदा ही न होते, तो धर्मपालन असिधारा-जैसा न माना जाता। आमतौर पर त्याज्य मानी जानेवाली चीज़ ज़रा से परिवर्तन के कारण कर्त्तव्य बन जाती है।

—१८।१२।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० ३००]

११२. स्वधर्म का त्याग

स्वधर्म का त्याग करना मरण है।

—६।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० १९]

११३. धर्म किसके लिए ?

धर्म तो जो पालन करे उसके लिए है।

—७।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० २२]

११४. अन्तःप्रेरणा

शास्त्राज्ञा, लोकाचार, शिष्टाचार सब पर मेरी श्रद्धा है। परन्तु उसका असर होकर अन्त मे जो प्रेरणा निकलती है, वही अन्तःस्फूर्ति मानी जाय। सारा जगत् इसी तरह चलता है। यह मेरा कोई विशेष गुण या दोष नही है। जैसे दूसरो की

वैसी मेरी अन्त स्फूर्ति अल्पज्ञता अवश्य हो सकती है। इसी कारण तो मनुष्य भूल का पुतला माना जाता है।

—९।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० २९-३०]

११५. ईश्वर

[सुश्री मदालसा को लिखे पत्र से]

जगत् हम ही हैं। हम उसके अन्दर है, वह हमारे अन्दर है। ईश्वर भी हमारे अन्दर है। हमारे अन्दर हवा भरी हुई है, यह हम आँखो से तो नही देखते, लेकिन उसे जानने की इन्द्रिय हमारे पास है, ईश्वर को जानने की इन्द्रिय का विकास किया जा सकता है। उसका विकास कर लें तो इसे भी पहिचान लेंगे।

—यरवदा मन्दिर, ११।१।१९३३। 'बापू के पत्र : बजाज परिवार के नाम', पृ० २३७, अ० भा० स० से० सं०]

११६. प्रार्थना

प्रार्थना तो हमारे श्वासोच्छ्वास मे और हर काम मे मौजूद है। मैं तुम्हे अमुक बात करने को कहता हू, यह प्रार्थना नही तो क्या है? हम एक दूसरे की प्रार्थना करके एक दूसरे पर आधार रखते है। आधार न रखते हो तो जमीन पर खडे तक नही रह सकते।

—१२।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० ४३]

११७. अन्तरात्मा का स्वर

[प्रश्नोत्तर]

प्रश्न—अन्तरात्मा की आवाज़ का क्या अर्थ है ?

उत्तर—अन्तरात्मा की आवाज ईश्वर की आवाज है। वह हमारी आवाज नही है। यह आवाज ईश्वर की भी हो सकती है और शैतान की भी। ईश्वर हमारे द्वारा बोले, इसके लिए हमे यम-नियम का अच्छी तरह पालन करना चाहिए। करोडो मनुष्य अन्तरात्मा की आवाज का दावा करें तो भी सच्ची अन्तरात्मा की आवाज एक की ही होगी। इसका सबूत नही दिया जा सकता, पर उसका असर पड सकता है। अन्तरात्मा की आवाज हमसे बाहर का बल है, किन्तु वह बाह्य

बल नहीं है। हमारे बाहर का यानी हमारे अहंकार के बाहर का बल है। अहंकार जब सोया होता है, तब उस पर दो बल काम करते है—सत् और असत। जब हम सत् बल के साथ तदाकार हो जाते है, तब गूढ भाषा मे यह कहा जाता है कि ईश्वर हमारे जरिये बोल रहा है। हम सत् के साथ इतने तद्रूप हो जाते है कि हमारा अहं शून्य हो जाता है।

प्रश्न—अन्तरात्मा की आवाज सुनने का दावा मनुष्य कब कर सकता है?

उत्तर—यह तो उस आदमी पर निर्भर है। उसे जब अनुभव हो जाय कि वह स्वय काम नही करता, तब वह ऐसा कर सकता है। मान लीजिए कि मैं अन्त-रात्मा की आवाज सुनने का हमेशा प्रयत्न करू, सदा ईश्वर से प्रार्थना करू कि तू मेरे जरिये काम कर और मुझे शून्य बना दे, तो ऐसा क्षण आ सकता है, जब मुझे यह लगे कि ईश्वर मुझे उसकी आवाज सुना रहा है। उस समय मै यह कहूगा भी कि मै ईश्वर की आवाज सुन रहा हू। किन्तु इसे मै सिद्ध कैसे करू? यह तो मेरे आचरण से ही सिद्ध होगा। किन्तु यह भी अन्तिम कसौटी नही है। मान लीजिए हिमालय की किसी गुफा मे एक आदमी गड गया है और ईश्वर उससे मिलने के लिए मुझे वहा भेजता है। मान लीजिए मैं उस जगह पहुँच गया, मैंने जरा सा खोदा और मुझे वह आदमी मिल गया। फिर भी सम्भव है कि वह अन्तरात्मा की आवाज न हो। केवल सयोग हो या मेरा भ्रम ही हो या मुझे किसी ने ऐसा कहा हो। दुनिया तो परिणाम से ही मेरा न्याय करेगी। यदि परिणाम अच्छा आये, तो दुनिया कहेगी कि यह चमत्कार हुआ। किन्तु असल मे इसमे अन्तिम प्रमाण कुछ नही है। मनुष्य कब आत्मवचना करता है और कब दभी बनता है, यह वह स्वय नही जानता। आत्मवचना मे दभ से भी ज्यादा बडा खतरा है।

एक ही चीज को बतानेवाले बहुत से उदाहरण हो, तब हमे ज्यादा सबूत मिलता है। इसमे बुद्ध, कृष्ण और मोहम्मद सब महान् पुरुष आ जाते है। उन्होने जो सत्य कहा है, वह उन्होने अपनी शक्ति से नही कहा है, बल्कि किसी अलौकिक शक्ति ने उनके जरिये कहलवाया है। कुछ मनुष्य इतने अविकारी होते है कि उनके द्वारा अलौकिक शक्ति काम करती है। किन्तु वह कब करती है, इसका सबूत नही दिया जा सकता।

—१३।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० ४८-८९]

- **अन्तरात्मा की आवाज़ हमसे बाहर का बल है, किन्तु वह बाह्य बल नहीं है।**
- **आत्मवचना मे दभ से भी ज्यादा बडा खतरा है।**

११८. वेद

किसी के भी हृदय मे ईश्वर प्रेरणा करे और वह बोले तो वह वेद है। मुहम्मद (साहब) का कहा हुआ भी वेद वाक्य हो सकता है। इसीलिए तो सत्य वेद है।

—१७।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० ६४]

११९. ईश्वर

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

ईश्वर दयासागर है, इसलिए हम कोई कल्पना करें तो अच्छे की ही करे। जैसे गीता का भक्त तो कोई भी कल्पना नही करेगा। अच्छा और बुरा आखिर तो सापेक्ष है। ईश्वर का भक्त जो घटनाए होती हैं उन्हे देखता रहता है और स्वाभाविक रूप मे अपने हिस्से मे आया हुआ काम करता रहता है। जैसे अच्छा यन्त्र यान्त्रिक के हाथ मे अच्छी तरह चलता है, वैसे ही हमे भी उस महान् यान्त्रिक के चलाये चलना है। बुद्धिवाले मनुष्य के लिए ऐसा यन्त्र बनना बहुत मुश्किल है। किन्तु हमे शून्य बन जाना हो और पूर्णता को प्राप्त करना हो, तो ठीक इसी तरह करना चाहिए। यन्त्र और मनुष्य के बीच मूल भेद तो यह है कि यन्त्र जड है और मनुष्य पूरी तरह चेतनामय है। मनुष्य उस महान् यान्त्रिक के हाथ मे यन्त्र बनता है, तो ज्ञानपूर्वक बनता है। श्रीकृष्ण ने यही बात इन शब्दो मे रखी है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढ़ानि मायया॥

—१९।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० ६९]

१२०. आत्मज्ञान

विकार को वश मे करने के लिए अन्तर्मुख बनने की जरूरत है। उन्नति का मूलमन्त्र आत्मसमर्पण है। उन्नति का अर्थ है आत्मज्ञान।

—२३।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० ८१]

१२१. मौन

[एक पत्रांश]

मौन का अर्थ न बोलना, न इशारा करना, न देखना, न सुनना, न खाना, न पीना अर्थात् एकान्त में रह अन्तर्धान होना। मौन के दिन ईश्वर-ध्यान होना चाहिए। मौन का हेतु अन्तर्धान होना है।

—२३।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० ८१]

० मौन का अर्थ अन्तर्धान होना है।

१२२. धर्म : सबका आधार

मनुष्य अल्प है, निराधार है, ऐसा तो उसे मानना ही पड़ेगा। क्योंकि शरीर निराधार है, परावलम्बी है। उपनिषद् की वह प्रसिद्ध कथा बड़ी अच्छी है। वायु से पूछा, इस तिनके को तू उड़ा सकता है? अग्नि से पूछा, तू इसे जला सकती है, तब कोई यह न कर सका। जिस शक्ति के द्वारा यह वायु और अग्नि की शक्ति चलती थी, उसी शक्ति से हम सबको सिंचन मिलता है। इसी में हमारा ऐक्य है। इस गुण से हम सब एक से हैं। इस वस्तु से मैंने यह सार निकाला कि सत्य ही ईश्वर है। होना—सत्—ईश्वर का धर्म है, दूसरे का नहीं। इसी हस्ती के सहारे हम टिके हुए हैं। फिर उसे कुछ भी कहो। चाहो तो 'नेति नेति' कहो।

—३।२।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० ११४-११५]

१२३. ईश्वर का अस्तित्व

ईश्वर है, वह करुणा का भण्डार है, दुखियों का दुख दूर करता है, भूखों का पेट भरता है।

—ह० से०, २३।२।१९३३]

१२४. प्रभु की प्रतिज्ञा

ईश्वर की प्रतिज्ञा है कि वह दुखियों का सहायक है, दया का सागर है, अशक्तों को शक्ति देनेवाला है, निर्बल का बल है, पंगु का पैर है, अन्धों की आँख है।

—ह० से०, २३।२।१९३३]

१२५. आत्म-विश्वास का अर्थ ईश्वर में विश्वास है

. .अपने ऊपर विश्वास का अर्थ है ईश्वर मे विश्वास। जो अपने अन्दर से सारा गर्व और अहकार निकाल फेकते हैं, वे ईश्वर से सर्वाधिक सहायता पाते है।
—ह० ज०। ह० से०, १७।३।१९३३]

१२६. ईश्वर

[सुश्री हेमप्रभा को लिखे पत्र से]

तेरा साथी, मित्र, सखा, पिता सब कुछ ईश्वर है, जिसको हम राम-नाम से पहिचानते है।
—२२।४।१९३३। म० भा० डा० भाग ३, पृ० २३९]

१२७. उपवास

उपवास धर्म का अविभाज्य अग है। इस्लाम मे और दूसरे धर्मों मे सैकडो इस तरह मर मिटे है। तू यह आपत्ति जरूर कर सकता है कि यह प्रकट करने की क्या जरूरत थी ? लेकिन इसकी भी जरूरत है। यह नई चीज है। प्राचीन प्रणाली मे मैं जो कुछ देखता हू उसमे सुधार कर रहा हू। इसका अनर्थ भी हो सकता है।
—३०।४।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० २५७]

१२८. भक्ति-धारा कैसे बहे ?

एक भागवत-धर्म-प्रेमी लिखते हैं—

"बहुत-से लोग अब भी इस धार्मिक आन्दोलन को हमारी एक राजनीतिक चाल समझ रहे हैं। यद्यपि आप बराबर हरिजन-आन्दोलन मे भक्तिवाद को स्थान देते आये हैं, तथापि वास्तविकता के अत्यधिक प्रभाव से इस आन्दोलन के पीछे जो धर्म-भाव है उसे लोग अभी समझ नहीं सके। यदि आप 'हरिजन', 'हरिजन-बन्धु' और 'हरिजन-सेवक' मे निरन्तर एकाध ऐसा लेख देते रहे जिसमें शुद्ध भक्ति-भाव का ही प्रवाह हो, तो बहुत सम्भव है, कि लोग शास्त्रीय वाद-विवाद को छोड़कर भागवत् धर्म की प्रबल धारा मे बह जायं। ऐसी भक्ति-भागीरथी बहाइए, जिसमें अवगाहन करके हमारे हरिजन भाई वास्तव में हरिजन हो

जाय और साथ ही हम गुनहगार भी अपने पापों का प्रायश्चित्त करके हरिजन बन जाय। क्या भागवत धर्म के प्रचार से ही हम मन्दिर-प्रवेश का अधिकार हरिजनो को न दिला सकेंगे? कानूनी कठिनाई हल हो जाने के बाद हृदय-परिवर्तन तो भागवत-धर्म ही करेगा। और मेरा विश्वास है, कि वह भक्ति-धारा इस नास्तिकता-प्रधान युग मे आप ही प्रवाहित कर सकते हैं।

"यदि मैंने अपना आशय स्पष्ट कर दिया है, तो मुझे आशा है, कि इन पत्रो मे आप अबाधित रूप से कुछ पक्तिया पतित-पावनी भक्ति पर लिखते रहेंगे।"

भक्ति-धारा लेखनी से नही बह सकती। वह बुद्धि का विषय नही है। वह तो हृदय की गुफा से ही निकल सकती है, और जब वहा से फूट निकलेगी, तब उसके प्रवाह को कोई भी शक्ति नही रोक सकेगी। गगा के प्रबल प्रवाह का कौन रोक सकता है?

ऐसी भक्ति के लिए मैं प्रयत्नशील अवश्य हू। लेकिन यह प्रयत्न शब्दाडम्बर से सिद्ध नही होगा। इसके लिए तो कर्मयोग ही एकमात्र मार्ग है। इस योग मे पूरी निष्कामता आवश्यक है। निष्काम कर्म का ही दूसरा नाम कर्मयोग है।

अत भक्ति-धारा बहाने के लिए मुझे किसी विशेष लेख की आवश्यकता प्रतीत नही होती। अग्रेजी, गुजराती, हिन्दी हरिजन का प्रत्येक शब्द यदि भीतरी भक्ति का द्योतक होगा, तो अपने आप उसका प्रभाव पडेगा।

भागवत-धर्म-प्रेमी के आशय को मैं समझ गया हू। मेरे अन्दर वह भक्ति होगी और जितनी होगी, उसी मात्रा मे बिना प्रयत्न किये ही उसका स्पर्श दूसरो का होगा, क्योकि मैं मानता हू, कि एकमात्र भागवत-धर्म से हृदय-परिवर्तन हो सकता है। यह धर्म सक्रामक है। प्रकट होने के बाद किसी को यह अछूता नही छोडता। जब हम मे से किसी मे सचमुच यह प्रकट हो जायगा, तब हरिजन और सनातनी अपने आप ही उसे पहिचान लेंगे। कम-से-कम अपने लिए मैं कह सकता हू, कि मेरे सब कार्य—क्या लिखना, क्या बोलना—मेरे अन्दर उस भक्ति के पैदा होने के कारण है। मेरा दृढ विश्वास है कि हिन्दू धर्म को विनाश से बचाना है, तो इसे छोड दूसरा कोई मार्ग नही है।

गुण्डेबाजी से अथवा पाखण्ड से, वाक्चातुर्य से अथवा कठिन लेखो से धर्म की रक्षा न तो कभी हुई है, न होगी। धर्म-रक्षा तो धर्मप्राणो की आत्म-शुद्धि और तपश्चर्या से ही हो सकती है। भागवतकार ने स्पष्ट कर दिया है, कि इस युग मे भगवद्भक्ति का ही मार्ग सुलभ है और शायद वही एक मार्ग है।

तब मैं क्यो लिखता हू क्यो बोलता हू, ऐसा प्रश्न उठ सकता है। उत्तर मेरे उक्त कार्यों मे ही भरा है। यही प्रवृत्तिया बताती हैं, कि भागवत-धर्म का पूर्ण विकास मुझमे नही हुआ है। और यदि थोडा भी हुआ है तो, ये मेरी प्रवृत्तियाँ भी उसी विकास के कारण है, और सचमुच ऐसा होगा तो, उनमे कही-न-कही भक्ति का कुछ दर्शन दूसरो को होना ही चाहिए।

—ह० से। ५।५।१९३३]

- **भक्ति-धारा लेखनी से नहीं बह सकती।**
- **वह (भक्ति-धारा) बुद्धि का विषय नहीं है। वह तो हृदय की गुफा से ही निकल सकती है।**
- **निष्काम कर्म का ही दूसरा नाम कर्मयोग है।**
- **एकमात्र भागवत-धर्म से हृदय-परिवर्तन हो सकता है।**
- **धर्म-रक्षा तो धर्मप्राणो की आत्मशुद्धि और तपश्चर्या से ही हो सकती है।**
- **इस युग मे भगवद्-भक्ति का ही मार्ग सुलभ है।**

१२९. धर्म

ऐसे चमत्कारी धर्म की व्याख्या क्या है? धर्म वह है जो आत्मा को शुद्ध करता है, जो फल की आकाक्षा नही रखता, जिसे अटूट विश्वास है और जिसमे स्वार्थ का होना असम्भव है। जो कार्य इस धर्म के अनुकूल है, वह धार्मिक है। इस अर्थ मे हरिजनो की सेवा धार्मिक कामो मे सवर्ण हिन्दुओ की शुद्धि का रूप लेती है, उनका प्रायश्चित्त बनती है। अगर यह [बात अच्छी तरह समझ मे आ जाय, तो किसी को कोई शका न रहे। हर एक स्त्री-पुरुष या सघ यथाशक्ति हरिजन-सेवा करके शुद्ध हो, किसी की निन्दा न करे और न द्वेष रखे। इसमे राजनीतिक लाभ की कही वात ही नही है।

परन्तु यह कहना आसान है, करना कठिन है। इसका अर्थ यह हुआ कि धर्म बुद्धिगम्य नही, हृदयगम्य है। हृदय के जागरण के लिए तप के सिवा दूसरा कोई उपाय नही है। तप त्याग की परिसीमा है। तप का आरम्भ उपवास से होता है। दु ख सहने का नाम तप है। उपवास का दु ख उपवासी ही जानता है। जो चीज मैं दलीलो से नही समझा सकता, वह उपवास रूपी तप से समझाने की आशा रखता हू।

—ह० व०, ६।५।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, परिशिष्ट-२, पृ० ४०६]

- धर्म बुद्धिगम्य नहीं, हृदयगम्य है।
- हृदय की शुद्धि के लिए तप के सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है।
- तप त्याग की परिसीमा है।
- दु:ख सहने का नाम तप है।

१३०. दुःख ईश्वर का वरदान है

[श्री जे० सी० कुमारप्पा को लिखे निजी पत्र से]

मुझे यह दृष्टि मिली है कि ऐसे दु:ख-शोक, कभी-कभी उस अटूट सुख की अपेक्षा ईश्वर के अधिक सच्चे वरदान हैं, जो बाह्य परिस्थितियों पर निर्भर करता है।

—अंग्रेजी। वर्धा ३।१०।१९३३। प्रधान सम्पादक के पास संग्रहीत गांधी जी के पत्रों की प्रतिलिपि से।]

१३१. अन्तःकरण

जैसा कि मैं समझता हूँ, अन्त:करण सत्य का स्पष्ट दर्शन है और चूंकि हम सत्य को केवल सापेक्षिक रूप में जान सकते हैं, हम विश्व के सन्तों को अपना पथ-दर्शक बनाते हैं। सत्य का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करने के लिए निश्चित नियम बनाये गये हैं। जैसे आवश्यक शिक्षण प्राप्त किये बिना प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह नहीं कहा जा सकता कि उसे ज्यामिति का ज्ञान है, वैसे ही जबतक किसी ने आवश्यक यम-नियमों का पालन नहीं किया है तबतक यह नहीं कहा जा सकता कि उसके पास अन्त:करण है।

—अंग्रेजी। वर्धा। बंगलोर के बी० ए० सदाशिवम् को लिखे गये एक निजी पत्र से। ८।१०।१९३३ प्रधान सम्पादक के संग्रह से।]

१३२. रामनाम रामबाण औषधि है!

[एक सज्जन ने गांधी जी से पूछा था कि राम-नाम लेने पर भी उसका कोई फल दीख नहीं पड़ता, तब राम-नाम लेने से लाभ ही क्या? गांधी जी ने इसके उत्तर में निम्नलिखित विचार व्यक्त किये।—सम्पा०]

आपके लिए, मेरे लिए और जो समझे उन सबके लिए राम-नाम रामबाण औषधि है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। राम-नाम निर्दोष और निरोगी के लिए

नही, हमारे-जैसे पातकी और रोग-ग्रस्त लोगो के लिए है। इसलिए कोई फल मिले या न मिले, तब भी, दृढता के साथ, राम-नाम की रटन तो लगी ही रहनी चाहिए।

—ह० ब०। ह० से०, १३।१०।१९३३]

१३३. ईश्वर के विषय में

[एक सज्जन ने ईश्वर और उसकी प्राप्ति के उपाय के सम्बन्ध मे पूछा। उन्हें गांधी जी ने जो उत्तर दिया, उसका सारांश निम्नलिखित है।—सम्पा०]

१ ईश्वर सत्य है।

२ अत ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग यह है कि मन, वचन और कर्म से सत्य का पालन किया जाय।

३ यदि राम-नाम का स्मरण हृदय से किया जाय, तो उससे अवश्य ही आत्म-साक्षात्कार होगा।

४ आत्म-साक्षात्कार का अर्थ है सत्य से साक्षात्कार।

—ह० ब०। ह० से०, १३।१०।१९३३।]

१३४. मोह और सेवा

[विरुआगढी, हरदोई की रानी विद्यावती को लिखे गये एक निजी पत्र से]

सेवा का भी मोह हो सकता है। मोह-मात्र छोडने से ही सच्ची सेवा हो सकती है।

—हिन्दी। वर्धा। २३।१०।१९३३। प्रधान सम्पादक-द्वारा संग्रहीत गांधी जी के पत्रों की प्रतिलिपि से]

१३५. ईश्वर का नाम

हमे ईश्वर के जिस नाम का अभ्यास हो, उसे ही सबसे अधिक उपयोगी समझना चाहिए। मुझसे पूछिए तो मुझे रामनाम बहुत प्रिय है।

—ह० ब०। ह० से०, १०।११।१९३३]

१३६ जीवन ही प्रार्थनामय

ठीक राह तो यह है कि सम्पूर्ण जीवन को ही प्रार्थनामय बना लेना चाहिए।

—गुजराती। धमतरी। श्री पुरातन को लिखे निजी पत्र से, १४।११।१९३३ प्रतिलिपि प्रधान सम्पादक के पास सग्रहीत]

१३७. धर्म में द्वेष नही

धर्म मे द्वेष के लिए कोई स्थान नही है।

—ह० से०, १७।११।१९३३]

१३८. धर्म का पालन

बलात्कार (जबर्दस्ती) से धर्म का पालन नही हो सकता।

—ह० से०, २४।११।१९३३]

१३९. धर्म का पालन सब का कर्तव्य

प्राकृत क्या और सस्कृत क्या, धर्म का पालन तो सबके लिए कर्त्तव्य है।

—ह० से०, २४।११।१९३३]

१४०. समस्त धर्मो की राय

सब धर्मो के लोगो ने माना है कि ईश्वर न्यायी है, ईश्वर सत्य है, सत्य ही ईश्वर है। ईश्वर ही है, दूसरा कुछ नही है, सारा ससार ऐसा मानता है। ऐसे ईश्वर के यहा भेदभाव हो सकता है, इसकी कल्पना नही की जा सकती।

—नागपुर। ह० से०, २४।११।१९३३]

१४१. अनुयायियो की अनीति

कोई धर्म अपने अनुयायियो की अनीति पर फल-फूल नही सकता।

—ह० से० २४।११।१९३३]

१४२. सनातन धर्म

सनातन धर्म तो सनातन सत्य है।
—ह० से०, २२।१२।१९३३]

१४३. धर्म का अर्थ

सस्कृत मे धर्म का धात्वर्थ धारण करना है। धर्म ही कर्त्तव्य मे बाँधता है। धर्म ही मनुष्य का पोषण करता है। मूलत धर्म ही व त्रोपम सदाचार है। जब मनुष्य मे सदाचार का, सच्चरित्रता का उदय होता है, तब वह धर्म का रूप धारण कर लेती है। सकट काल मे मनुष्य को धर्मरूप सदाचार ही धारण करता है और वही उसकी रक्षा करता है।
—त्रिवांकुर। २०।१।१९३४। ह० से०, २।२।१९३४]

१४४. धर्मो का मूल आधार

एक ईश्वर मे विश्वास ही तमाम धर्म—मजहबो का मूलाधार है। पर ऐसे किसी युग की कल्पना नही कर सकता, जब सारे ससार मे एक ही धर्म का प्रवर्तन दीख पडेगा। सैद्धान्तिक दृष्टि से तो चूँकि एक ही ईश्वर है, इसलिए धर्म भी एक ही हो सकता है। लेकिन व्यवहार मे मै नही जानता कि किन्ही दो मनुष्यो की ईश्वर-विषयक कल्पना बिल्कुल एक-सी होगी। इसलिए शायद विविध स्वभाव और विविध जलवायु के कारण धर्म-मजहबो की विविधता भी रहेगी। मेरी दृष्टि मे ऐसा समय जरूर आ रहा है, जब विविध धर्मावलम्वी लोग दूसरे के धर्मा के प्रति उतना ही आदर-भाव रखने लगेगे, जितना कि वे अपने धर्म के प्रति रखते हैं। मेरी मान्यता है कि हमे भेद मे अभेद का दर्शन करना है।.. हम एक ही ईश्वर की, एक ही परमपिता की सन्तान है, इसलिए निश्चय ही हम सब समान हैं।
—ह० ज०। ह० से०। ९।२।१९३४।]

१४५. धर्म : अनेक और एक

मेरा विश्वास है कि ससार के समस्त महान् धर्म सच्चे है, ईश्वरीय आदेश-द्वारा नियत किये हुए हैं, और जो उन धर्मो को मानते हैं या उनके वातावरण मे

रहते है, उनके लिए वे उपयोगी ही सिद्ध होते है। इस बात मे मेरा विश्वास नही है कि कभी ऐसा समय आयेगा, जब हम यह कह सकेगे कि ससार भर मे एक ही मौलिक धर्म है। वैसे तात्विक दृष्टि से देखा जाय तो आज भी ससार मे एक ही मौलिक धर्म दिखाई देगा। धर्म एक विशाल वृक्ष के समान है, जिसकी अगणित शाखाए है। शाखाओ की दृष्टि से तो आप कह सकते है कि धर्म अनेक है और वृक्ष के रूप मे धर्म एक है।

—एलेप्पी, १८।१।१९३४। ह० से० २।३।१९३४]

१४६. धर्म-साक्षात्कार

धर्म का साक्षात्कार आत्म-पारतन्त्र्य के द्वारा नही, किन्तु आत्म-स्वातन्त्र्य के द्वारा होता है।

—पाण्डिचेरी। ह० से०, ९।३।१९३४]

१४७. धर्म का रक्षण

मेरा यह पक्का विश्वास है कि पाशविक बल के सहारे किसी भी धर्म का पोषण नहीं हो सकता। धर्म की रक्षा उसके अनुयायियो के सदाचरण से ही होती है।

—ह० से०, १६।३।१९३४]

१४८. ईश्वर पर आस्था

मैं ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास किये बिना कैसे रह सकता हू? अवश्य ही कोई ऐसी रहस्यमयी शक्ति है, जिसे हम ईश्वर कहते है।

—शेडबाल। ह० से०, २३।३।१९३४]

१४९. धर्म और हिसा

धर्म की सेवा हिसा या बल-प्रयोग से कदापि नही हो सकती।

—कटजुडी (उडीसा) ह० से० १।६।१९३४]

१५०. धर्म-रक्षा

मेरा विश्वास है कि हिंसा, असत्य या क्रोध से न धर्म की सेवा हो सकती है, न रक्षा ही। धर्म-रक्षा आत्मत्याग और आत्म-सयम द्वारा ही हो सकती है।
—अजमेर। ह० से०, २०।७।१९३४]

१५१. धर्म से धरती का अस्तित्व

धर्म की नीव पर यह ससार-दुर्ग खडा है। अगर नीव खोदकर फेंक दी जाय तो उस इमारत के ध्वस्त हो जाने मे क्या सन्देह ?
—भावनगर, १।७।१९३४। ह० से०, २०।७।१९३४]

१५२. सत्याश्रयी धर्म

सत्य के अनुकूल आचरण करना मैं अपना धर्म समझता हू। धर्म को कैसे छोड दू ? ईश्वर क्या कहेगा ?
—कानपुर २२।७।१९३४। ह० से०, ३।८।१९३४]

१५३. नाम-जप : राम-नाम

प्रत्येक जप भगवान के अनुसन्धान का साधन है। एक के लिए गायत्री मन्त्र अनुकूल पडता है तो दूसरे के लिए द्वादशाक्षरी मन्त्र। मुझे राम-नाम से जितना आश्वासन मिलता है, उतना गायत्री मन्त्र से नही मिलता। प्रत्येक जप के पीछे उसके उत्पादक का महान तप होता है, इसलिए भविष्य मे कुछ तपस्वी कोई अन्य मन्त्र भी दें, तो दे सकते हैं। पर मेरे लिए तो राम-नाम मे ही सब कुछ आ जाता है। मेरे जीवन मे रामनाम ओतप्रोत हो गया है। बचपन मे ही मेरी धाय ने मुझे राम का नाम लेना सिखाया था। जब-जब मैं भयभीत या दुखी हुआ, राम-नाम लेकर भय-मुक्त हो सका। अब तो राम-नाम-स्मरण मेरा सहज स्वभाव बन गया है। कहा जा सकता है कि मुझे चौबीसो घण्टे राम-नाम का ही ध्यान रहता है। मैं मुंह से भले ही जप न करू, पर जो भी करता हू, उसमे राम-नाम की प्रेरणा निरन्तर रहती है। अनेक विकट प्रसगो पर राम-नाम ने मेरी रक्षा की है। मेरा

यह सदा ही सकल्प रहता है कि मेरा शरीर चाहे जिस प्रवृत्ति मे लगा हो, पर मन मे तो राम का मधुर नाम ही गूँजा करे।
—४।८।१९३४। ह० से०, २४।८।१९३४]

o मेरे जीवन मे राम-नाम ओतप्रोत हो गया है।

१५४. ईश्वर, निराशा और श्रद्धा

निराशा विषयासक्ति की निशानी होती है, अश्रद्धा की तो होती ही है। जो राम-नाम लेने मे थक जाय, निराश हो जाय—उसकी श्रद्धा को हम समाप्त हो चुकी ही कहेंगे न ? जब कोलम्बस के साथियो की श्रद्धा खत्म हो गई तब वे उसे मार डालने को तैयार हो गये। कोलम्बस श्रद्धा की आँख मे किनारे को स्पष्ट देख रहा था। उसने थोडी-सी मोहलत माँगी और वह अमरीका पहुँच गया। न खाने की चीज़ सपने मे खाई जाय तो उसका भी यही अर्थ है। ऐसे सपनो के बाहरी कारण होते हैं। उनका पता चले तब उन्हे दूर करना चाहिए। जो सब अवस्थाओ का साक्षी है वह निष्कल ब्रह्म मैं हू—ऐसा हम गाते है। ऐसा बनने का हम सतत प्रयत्न करे तभी इसे गा सकते हैं। ऐसे हम नही बने है, इसी के चिह्न-स्वरूप सपने आते है। वे हमारे लिए दीपस्तम्भ का काम करते हैं।

ईश्वर की कृपा के बिना पत्ता भी नही हिलता, परन्तु प्रयत्नरूपी निमित्त के बिना भी वह नही हिलता। प्राणिमात्र की शुद्धतम सेवा ही साक्षात्कार है।
— १६।१२।१९३४। 'बापू के पत्र कुमारी प्रेमा बहिन कटक के नाम', पृ० २३१, न० जी० प्र० म०]

● निराशा विषयासक्ति की निशानी होती है।

१५५. नियमित प्रार्थना के नये आयाम

[स्विटजरलैण्ड निवासी श्री पी० आर० सेरेसोल अन्तर्राष्ट्रीय सेवा-सेना के अध्यक्ष थे और श्री जो० विल्किसन उनके एक नोजवान साथी। ये दोनो सेवाभावी ईसाई गाधी जी से मिले और इन्होने विविध प्रश्नो पर उनसे बातचीत की। उनकी वार्ता के आवश्यक अश यहा दिये जा रहे है।—सम्पा०]

श्री सेरेसोल—आश्रम की दैनिक प्रार्थना को लक्ष्य कर एक ही चीज़ का जो बार-बार पाठ होता है, वह मेरे कान को कुछ रुचता नहीं। सम्भव है कि यह मेरे बुद्धिवादी, गणितज्ञ स्वभाव का दोष हो। पर वही श्लोक नित्य बार-बार गाये

जायं, यह मुझे अच्छा नहीं लगता। उदाहरण के लिए बाख के अलौकिक सगीत मे भी जब वहीं एक पद बार-बार गाया जाता है, तब मेरे मन पर उसका कोई प्रभाव नहीं पडता।

गाधी जी—(मुस्कराते हुए) पर आपके गणित मे क्या पुनरावर्ती दशमलव नही होता?

श्री सेरेसोल—किन्तु प्रत्येक दशमलव से एक नई ही वस्तु निकलती है।

गांधी जी—इसी प्रकार प्रत्येक जप मे नूतन अर्थ रहता है, प्रत्येक जप मनुष्य को भगवान के अधिक निकट ले जाता है, यह बिल्कुल सच्ची बात है। मैं आपसे कहता हू कि आप किसी सिद्धान्तवादी से बात नही कर रहे हैं, आप तो एक ऐसे मनुष्य से बात कर रहे है, जिसने इस वस्तु का अनुभव जीवन के प्रत्येक क्षण मे किया है, यहा तक कि इस अविराम क्रिया के बन्द हो जाने की अपेक्षा प्राणवायु का निकल जाना अधिक सरल है। यह हमारी आत्मा की भूख है।

श्री सेरेसोल—मै इसे अच्छी तरह समझ सकता हूं, पर साधारण मनुष्य के लिए यह मात्र एक अर्थ-शून्य विधि है।

गांधी जी—मैं मानता हू, पर अच्छी-से-अच्छी चीज का भी दुरुपयोग हो सकता है। इसमे यथेच्छ दभ की गुजाइश तो है, पर वह दभ भी सदाचार की स्तुति है। मैं जानता हू कि अगर दस हजार दभी मनुष्य मिलते हैं तो करोडो ऐसे श्रद्धालु भी होगे, जिन्हे ईश्वर के इस नाम-रटन से शान्ति मिलती होगी। मकान बनाते समय पाड बाँधने की ज़रूरत पडती है। यह चीज़ ठीक वैसी ही है।

श्री सेरेसोल—अगर मै आपके द्वारा की हुई इस उपमा को तनिक और आगे ले जाऊं तो क्या आप मान लेंगे कि मकान तैयार हो जाय, तब पाड़ को गिरा देना चाहिए?

गांधी जी—हा, जब शरीर-पात हो जायगा, तब वह भी दूर हो जायगा।

श्री सेरेसोल—यह क्यों?

श्री विल्किंस—यह इसलिए कि हम निरन्तर निर्माण ही करते रहते हैं।

गाधी जी—इसलिए कि हम निरन्तर पूर्णता के लिए प्रयत्न करते रहते हैं। केवल ईश्वर ही पूर्ण है, मनुष्य कभी पूर्ण नही होता।

—ह० से०, ३१।५।१९३५]

- प्रत्येक जप मे नूतन अर्थ रहता है।
- प्रत्येक जप मनुष्य को भगवान के अधिक निकट ले जाता है।

- अच्छी से अच्छी चीज़ का भी दुरुपयोग हो सकता है।
- केवल ईश्वर ही पूर्ण है, मनुष्य कभी पूर्ण नहीं होता।

१५६. आइए, प्रार्थना करें

जब कोई मनुष्य गिर पड़ता है तो वह उठने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करता है। तमिल भाषा में एक कहावत है कि वह निराधार का आधार है। क्वेटा का यह भयंकर महानाश[1] मनुष्य की बुद्धि को चक्कर में डाल देता है। वह हमारे पुनर्निर्माण के तमाम प्रयत्नों पर पानी फेर देता है। इस महानाश के विषय में सम्पूर्ण सत्य शायद कभी मालूम न हो सकेगा। जो बेचारे इस दुर्घटना में मर गये उन्हें फिर से जीवन-दान नहीं दिया जा सकता। पर मनुष्य को तो अपना प्रयत्न जारी रखना ही चाहिए। जो बच गये हैं उन्हें सहायता अवश्य मिलनी चाहिए। ऐसा पुनर्निर्माण जहाँ तक सम्भव है, किया जायगा। पर यह सब और इसी प्रकार का और भी काम ईश्वर-प्रार्थना का स्थान नहीं ले सकता।

मगर प्रार्थना क्यों की जाय? अगर कोई ईश्वर है तो क्या उसे इस भयंकर दुर्घटना का पता न होगा? उसे क्या इस बात की आवश्यकता है कि पहिले उसकी प्रार्थना की जाय तब कहीं वह अपना कर्त्तव्य-पालन करे?

ऐसी बात नहीं है। ईश्वर को याद दिलाने की कोई जरूरत नहीं। वह तो घट-घटव्यापी है। बिना उसकी आज्ञा के एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। हमारी प्रार्थना तो सिर्फ इसलिए है कि हम अपने अन्तर का शोधन करें। प्रार्थना-द्वारा तो हम खुद अपने को यह याद दिलाते हैं कि उसके अवलम्बन के बिना हम सब कितने असमर्थ और असहाय हैं। हमारा कोई भी प्रयत्न ईश्वर-प्रार्थना के बिना विफल ही है। वह प्रयत्न तबतक किसी प्रकार पूर्ण नहीं कहा जा सकता, जबतक उसमें प्रार्थना की पुट न हो। मनुष्य के जिस प्रयत्न के पीछे ईश्वर का आशीर्वाद नहीं, वह कितना ही अच्छा क्यों न हो, बेकार ही जाता है, यह एक मानी हुई बात है। प्रार्थना से हम विनम्र बनते हैं। वह हमें आत्म-शुद्धि की ओर ले जाती है, अन्तर्निरीक्षण के लिए प्रेरणा देती है।

जो बात मैंने बिहार के भूकम्प के समय कही थी, उसे मैं आज भी कहूँगा। प्रत्येक भौतिक विपत्ति के पीछे कोई-न-कोई ईश्वरीय अभिप्राय रहता है। एक समय ऐसा आयगा जब पूर्ण विज्ञान की बदौलत हमें पहिले से ही भूकम्प आने की

---

१ क्वेटा में आये भयंकर भूकम्प की ओर संकेत किया गया है।

बात उसी तरह मालूम हो जायगी जिस तरह ग्रहण लगने की सूचना पहिले ही मिल जाती है। मनुष्य के बौद्धिक ज्ञान की यह एक और विजय होगी। पर ऐसी एक नही असख्य विजयो से भी आत्मा की शुद्धि नही हो सकती, और बिना आत्मशुद्धि के सब व्यर्थ है।

इसमे कोई सन्देह नही कि जिस प्रकार हम विहार की विपत्ति को भूल गये है उसी प्रकार क्वेटा की इस महाविपत्ति को भी भूल जायगे। जो लोग आत्म-शुद्धि की आवश्यकता मे विश्वास रखते है उनसे मै कहूगा कि वे मेरे साथ प्रार्थना मे सम्मिलत हो ताकि ऐसी दारुण विपत्तियो मे हम ईश्वर के अभिप्राय को समझ सके और जब कभी ऐसी विपत्ति आये, हम विनम्र भाव से अपने सिरजनहार की शरण लेकर बिना किसी तरह के भेदभाव के अपने विपद्ग्रस्त भाइयो की सेवा-सहायता कर सके।

——ह० ज०। ह० से० १४।६।१९३५]

- **ईश्वर को याद दिलाने की जरूरत नहीं। वह तो घट-घटव्यापी है।**
- **हमारा कोई भी प्रयत्न ईश्वर-प्रार्थना के बिना विफल ही है।**
- **प्रार्थना से हम विनम्र बनते हैं।**
- **वह (प्रार्थना) हमे आत्मशुद्धि की ओर ले जाती है, अन्तर्निरीक्षण के लिए प्रेरणा देती है।**
- **भौतिक विपत्ति के पीछे कोई न कोई ईश्वरीय अभिप्राय रहता है।**
- **बिना आत्मशुद्धि के सब व्यर्थ है।**

१५७. प्रार्थना का रहस्य

मैंने गत सप्ताह क्वेटा के भूकम्प के लिए लोगो को प्रार्थना और प्रायश्चित्त करने की सलाह जिन थोडी-सी पक्तियो-द्वारा दी थी, उनके सम्बन्ध मे इधर कुछ निजी पत्र-व्यवहार हुआ है। एक पत्र-लेखक ने पूछा है कि विहार के भूकम्प के समय आपने कहा था कि इसे सवर्ण हिन्दुओ-द्वारा किये गये अस्पृश्यतारूपी पाप का दण्ड मानना चाहिए। तव यह क्वेटा का इससे भी अधिक भयानक भूक-म्प किस पाप का दण्ड होगा? लेखक को उक्त प्रश्न पूछने का अधिकार है। जिस प्रकार मैंने विहार के विषय मे खूब विचारपूर्वक कहा था, उसी प्रकार मैंने क्वेटा-विषयक यह लेख भी विचारपूर्वक ही लिखा है। प्रार्थना का यह आमन्त्रण निश्चय ही आत्मा की व्याकुलता का द्योतक है। प्रार्थना पश्चात्ताप का एक चिह्न

है। प्रार्थना हमारे अधिक अच्छे, अधिक शुद्ध होने की आतुरता को सूचित करती है। प्रार्थनापरायण मनुष्य भौतिक विपत्तियों को दैवी दण्ड समझता है। यह दण्ड व्यक्तियो तथा राष्ट्रो—दोनो के ही लिए होता है। ऐसे सभी दण्ड लोगो को एक समान नही चौंकाते। कुछ दण्डो का प्रभाव तो केवल व्यक्तियो पर पड़ता है। दूसरे कुछ दण्डो का असर जन-समूहो अथवा राष्ट्रो पर मामूली-सा होता है, क्वेटा की जैसी विपत्तिया हमे स्तब्ध बना देती है। यदि नित्य ऐसे सकट आने लगे तो अत्यन्त परिचय के कारण मन मे उनके प्रति अवज्ञा का भाव आ जाता है। भूकम्प यदि नित्य आया करता तो उसकी तरफ हमारा ध्यान भी न जाता। क्वेटा के इस भूकम्प मे भी हमारे मन मे उतनी व्यथा नही हुई जितनी कि विहार के भूक-म्प से हुई थी।

लेकिन सारे ससार का कुछ ऐसा अनुभव है कि जब भी विपत्ति पडती है, तब समझदार मनुष्य घुटने टेक देता है। वह यह मानता है कि ईश्वर ने यह मेरे पापो का दण्ड दिया है, और इसलिए अब मुझे अपना आचरण और भी अच्छा रखना चाहिए। उसके पाप उसे अत्यन्त निर्बल बना देते है, और अपनी उस निर्ब-लता मे वह प्रभु को अधीर होकर पुकारता है। इस प्रकार करोडो मनुष्यो ने अपने ऊपर पडी हुई विपत्तियो का अपनी आत्मशुद्धि के लिए उपयोग किया है। राष्ट्रो ने भी विपत्ति पडने पर ईश्वर से सहायता माँगी है—इसके भी उदाहरण मिलते है। उन्होने भगवान के आगे विनम्र बनकर प्रार्थना, प्रायश्चित्त और आत्मशुद्धि के दिवस नियत किये है।

मैंने कोई नई या मौलिक बात नही सुझाई। वर्तमान समय मे, जब कि अश्रद्धा को लोगो ने एक तरह का फैशन बना लिया है, स्त्री-पुरुषो से पश्चात्ताप करने के लिए कहा जाय तो उसमे कुछ साहस की जरूरत तो पडती ही है। पर मैं साहस के लिए कोई यश लेने का दावा नही करता, क्योकि मेरी कमजोरियो और विचि-त्रताओ को ससार मे कौन नही जानता? जिस तरह मैं विहार और विहार-वासियो को जानता हू उसी तरह अगर मैं क्वेटा को जानता होता तो क्वेटा के पाप का उल्लेख अवश्य करता, यद्यपि यह सम्भव है कि जिस प्रकार अस्पृश्यता का पाप अकेले बिहार का पाप नही था उसी प्रकार यह पाप केवल क्वेटा का ही नही हो सकता। किन्तु हम सब—शासक और प्रजा—यह मानते है कि हमे ऐसे अनेक व्यक्तिगत एव राष्ट्रीय पापो का जवाब देना है। अत यह उन सबको प्रार्थना और नम्रता के लिए आमन्त्रण है। सच्ची प्रार्थना से अकर्मण्यता कदापि उत्पन्न नही होती। उससे निरन्तर निष्काम कार्य के लिए शक्ति तथा उत्साह उत्पन्न होता है। स्वार्थ का विचार करके आलस्य मे बैठ रहनेवाला मनुष्य आत्मशुद्धि

कभी नही कर सकता। नि:स्वार्थ रीति से उद्यम करनेवाला व्यक्ति ही आत्मशुद्धि कर सकता है।

—ह० ज०। ह० से० २१।६।१९३५]

- प्रार्थना का...आमन्त्रण निश्चय ही आत्मा की व्याकुलता का द्योतक है।
- प्रार्थना पश्चात्ताप का एक चिह्न है।
- प्रार्थना हमारे अधिक अच्छे, अधिक शुद्ध होने की आतुरता को सूचित करती है।
- प्रार्थनापरायण मनुष्य भौतिक विपत्तियो को दैवी दण्ड समझता है।
- राष्ट्रो ने भी विपत्ति पड़ने पर ईश्वर से सहायता माँगी है।
- सच्ची प्रार्थना से अकर्मण्यता कदापि उत्पन्न नहीं होती।
- नि:स्वार्थ रीति से उद्यम करनेवाला व्यक्ति ही आत्मशुद्धि कर सकता है।

१५८. ईश्वर की अनुभूति

एक सज्जन बगाल से लिखते हैं —

'एक नवयुवक की कठिनाई' शीर्षक से आपने जो लेख लिखा है उसे मैंने पढा।

"मै आपके लेख के मुख्य विषय से पूरी तरह सहमत हूं। लेकिन आपने उस लेख मे ईश्वर-विषयक अपने भावो को भी प्रकट किया है। आपने कहा है कि आजकल यह फैशन-सा हो गया है कि नौजवान लोग ईश्वर को नहीं मानते और प्रत्यक्ष ईश्वर मे जीवन्त विश्वास नहीं रखते।

"लेकिन, क्या मैं आपसे पूछूं कि ईश्वर के अस्तित्व के विषय में आप क्या प्रमाण दे सकते हैं (जो निश्चित और असन्दिग्ध हो)? हिन्दू दार्शनिको अर्थात् हमारे प्राचीन ऋषियों ने ईश्वर के स्वरूप को बताने का प्रयत्न किया। और मुझे लगता है कि ऐसा करते हुए वे अन्त में इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि ईश्वर अनिर्वचनीय और मायापरिच्छिन्न आदि है। संक्षेप में कहें तो उन्होंने ईश्वर को तमिस्र के अभेद्य आवरण मे लपेट दिया और इस प्रकार ईश्वर-सम्बन्धी उलझे प्रश्न को और भी उलझा दिया। अवश्य ही मैं इस बात से इन्कार नहीं करता कि प्राचीनकाल के शंकराचार्य और बुद्ध या आधुनिक काल के श्री अरविन्द और

आप-जैसे सच्चे महात्मा ऐसे ईश्वर की कल्पना और उसके अस्तित्व का अनुभव कर सकते है, किन्तु वह साधारण मानव-बुद्धि की पहुँच के बहुत परे है।

"और हम साधारण लोग, जिनकी मन्द बुद्धि इतनी अगम्य गहराई तक कभी नहीं पहुँच सकती, जब अपने बीच उसके अस्तित्व का ही अनुभव नहीं कर सकते तो फिर ऐसे ईश्वर का क्या करें? यदि वह वास्तव मे हम सब का निर्माता और पिता है तो हम अपने हृदय की प्रत्येक धडकन के साथ उसकी उपस्थिति या उसके अस्तित्व का क्यो नहीं अनुभव करते? अगर वह अपनी उपस्थिति की अनुभूति नहीं करा सकता तो मै उसे ईश्वर नहीं मानता। इसके अलावा मेरे सामने यह प्रश्न भी है कि यदि वह इस जगत् का जनक है तो क्या वह अपनी सन्तति के कष्टो को महसूस करता है? अगर वह महसूस करता है तो उसने बिहार और क्वेटा के प्रलयकारी भूकम्पो-द्वारा अपनी सन्तति को इतना दु ख क्यो दिया और हब्शियो के प्राचीन राष्ट्र[1] को नीचा क्यो दिखाया? क्या हब्शी उसके बच्चे नहीं है? क्या वह सर्व-शक्तिमान नहीं है? तब भला वह इन सारी दुर्घटनाओ को क्यो नहीं रोक सका? हमारी पराधीनता-पीडित भारतमाता की स्वतन्त्रता के लिए आपने सत्य और अहिंसा की लडाई छेडी और उसमे ईश्वर की मदद माँगी। लेकिन, मै समझता हू वह आपको नहीं मिली और भौतिकता की प्रबल शक्ति ने, जो ईश्वर पर कभी अवलम्बित नहीं रहती, आपकी अच्छाई को दाब दिया। फलत आपको नीचा देखना पडा और आप अवकाश ग्रहण करके पीछे हट जाने को बाध्य हुए। अगर ईश्वर होता तो वह आपकी सहायता जरूर करता, क्योकि आपका काम अवश्य वाछनीय था। इसी तरह के और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, पर इसकी कोई आवश्यकता मालूम नहीं पडती।

"इसलिए आज के नवयुवक ईश्वर मे विश्वास नहीं करते तो आश्चर्य की कोई बात नहीं। बात दर असल यह है कि वे ईश्वर की कोरी कल्पना नहीं करना चाहते। वे तो वास्तविक और प्रत्यक्ष ईश्वर को चाहते हैं। अपने लेख मे आपने प्रत्यक्ष ईश्वर मे जीवित विश्वास रखने की बात कही है। अगर आप ईश्वर के अस्तित्व-विषयक कुछ निश्चित प्रमाण प्रस्तुत करें तो मै बहुत कृतज्ञ होऊगा। मे समझता हू कि आप ऐसा करके युवको का बहुत हित करेगे। मुझे विश्वास है कि आप पहिले से ही रहस्यपूर्ण इस समस्या को और रहस्यपूर्ण नहीं बनायेंगे और इस विषय पर कुछ निश्चित प्रकाश डालेगे।"

---

१ तानाशाह इटली द्वारा तत्कालीन एबीसीनिया (अब इथियोपिआ) पर किया गया आक्रमण।

मुझे बडा डर है कि मैं जो कुछ लिखने जा रहा हू, उससे वह आवरण दूर नही होगा, जिसका उक्त पत्र मे जिक्र किया गया है।

पत्र-लेखक का विचार है कि शायद मैंने प्रत्यक्ष ईश्वर के अस्तित्व का अनुभव कर लिया है। परन्तु मैं ऐसा कोई दावा नही कर सकता। यह अवश्य है कि जिस प्रकार वैज्ञानिको-द्वारा बताई गई अनेक बातो मे मेरा विश्वास है उसी प्रकार ईश्वर मे भी सच्चा विश्वास है। कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक जो बात कहते हैं उसके तो प्रमाण मौजूद होते हैं और उनके द्वारा बताई विधि से हर व्यक्ति उसकी परीक्षा कर सकता है। किन्तु ऋषि और पैगम्बर भी तो ठीक इसी प्रकार बातें करते हैं। वे कहते हैं कि जो कोई उनके बताये हुए मार्ग पर चले वह ईश्वर का पा सकता है। लेकिन वास्तविकता यह है कि हम उस रास्ते पर चलना नही चाहते और जो बात सचमुच जरूरी है उसके बारे मे प्रत्यक्षदर्शियो की बात भी नही मानते। भौतिक विज्ञान की सारी सफलताए एक साथ रखी जाय, तब भी उस बात का मुकाबला नही कर सकती जिसके कारण ईश्वर मे हमारी जीवित श्रद्धा होती है। जो लोग ईश्वर के अस्तित्व मे विश्वास नही करना चाहते वे अपने शरीर के सिवा और किसी वस्तु के अस्तित्व से विश्वास नही करते। मानवता की प्रगति के लिए ऐसा विश्वास अनावश्यक है। आत्मा या परमात्मा के अस्तित्व की प्रमाणरूप कितनी ही वजनी दलील क्यो न हो, ऐसे मनुष्यो के लिए वह व्यर्थ ही है। जिस मनुष्य ने अपने कानो मे डाट लगा रखी हो उसे आप कितना ही बढिया सगीत क्यो न सुनायें, वह उसकी सराहना तो क्या करेगा, उसे सुन भी नही सकेगा। इसी तरह जो लोग विश्वास ही नही करना चाहते उन्हे आप प्रत्यक्ष ईश्वर के अस्तित्व मे विश्वास नही करा सकते।

सौभाग्यवश सर्व-साधारण का विशाल बहुमत प्रत्यक्ष ईश्वर में जीवन्त विश्वास रखता है। वे न तो उसके बारे मे कोई तर्क कर सकते हैं, न करते हैं। उनके लिए तो वह सचमुच ही है। क्या ससार के सारे शास्त्र नानी की कहानिया ही हैं? क्या हम ऋषियो, पैगम्बरो की बात नही मानेंगे? चैतन्य महाप्रभु, रामकृष्ण परमहस, तुकाराम, ज्ञानदेव, रामदास, नानक, कबीर और तुलसी ने जो बात कही, क्या उसका कुछ भी मूल्य नही? राममोहन राय, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, विवेकानन्द के लिए आप क्या कहेगे? ये सब तो आधुनिक व्यक्ति हैं और उसी प्रकार सुशिक्षित थे जिस प्रकार आज हममे से कोई हो सकता है। मैं जीवित व्यक्तियो का, भले ही वे निर्दोष हो, साक्ष्य नही दे रहा हू। ईश्वर मे यह विश्वास श्रद्धा पर ही अवलम्बित है, जो तर्क मे प्रबल है। निस्सन्देह, जिसे हम अनुभूति कहते हैं, उसकी सतह मे भी विश्वास ही होता है, जिसके बिना वह रह

नही मकता। स्थिति ही ऐसी है कि यही होना चाहिए। अपने अस्तित्व की मर्यादाओं का अतिक्रमण कौन कर सकता है? मैं तो यह मानता हूँ कि हमारा जो जीवन है, उसमें ईश्वर की पूर्ण अनुभूति न सम्भव है, न आवश्यक। मनुष्यों को आध्यात्मिकता की पूरी ऊचाई पर पहुँचने के लिए जिस बात की आवश्यकता है, वह ईश्वर में जीवित और अटूट विश्वास का होना है। ईश्वर हमारे इस भूमण्डल से परे नही है। इसलिए बाहर का कोई प्रमाण हो भी तो उसका कोई विशेष उपयोग नही है। अपनी इन्द्रियो (भावनाओ) द्वारा हम उसे कभी नही पा सकते, क्योकि वह उनसे परे है। हम चाहे तो उसे अवश्य अनुभव कर सकते है, पर इसके लिए हमे इन्द्रियो से ऊपर उठना होगा। हमारे अन्दर दैवी सगीत सदा गुजरित होता है। इन्द्रिया से हम जो कुछ समझ या सुन सकते है वह उससे भिन्न और निश्चित रूप से ऊचे दर्जे का है। लेकिन इन्द्रियो के कोलाहल, हलचल मे वह नाजुक सगीत विलीन हो जाता है।

पत्र-लेखक यह जानना चाहते है कि ईश्वर यदि दया और न्याय का अधिष्ठाता है तो वह उन दुखो और शोको को क्यो होने देता है, जिन्हे हम अपने चारो ओर घटित देखते है। मैं इसका कोई सन्तोषजनक स्पष्टीकरण नही दे सकता। मुझे वह (पत्रलेखक) पराजित या अपमानित हुआ बतलाते है। परन्तु मुझमे पराजय, अपमान या निराशा-जैसी कोई भावना नही है। यह तो आत्मशुद्धि और अपनी तैयारी की दिशा मे प्रयत्न मात्र है—उससे कम बेश कुछ नही। यह बात मैं सिर्फ यह बताने के लिए कह रहा हूँ कि हमे जो चीज जैसी मालूम पडती है अक्सर वैसी ही नही होती। हम जिन्हे भूल से शोक, अन्याय और ऐसी ही बाते मान रहे है, सम्भव है सचाई मे जाने पर वे वैसी न निकलें। हम विश्व के सारे रहस्यो को सुलझा सके तो ईश्वर के समकक्ष ही न हो जाय? यह ठीक है कि समुद्र की जो प्रतिष्ठा है, उसका श्रेय उसके प्रत्येक बिन्दु से है। परन्तु वह बिन्दु समुद्र नही है। जीवन की इस अल्पता का विचार करके ही हम अपनी प्रात कालीन प्रार्थना के अन्त मे नित्य यह श्लोक दोहराते हैं—

विपदो नैव विपद. सम्पदो नैव सम्पद ।
विपद्विस्मरण विष्णोस्सम्पन्नारायणस्मृति ॥

—ह० ज०। ह० से०, १३।६।१९३६]

- सर्व-साधारण का विशाल बहुमत प्रत्यक्ष ईश्वर मे जीवन्त विश्वास रखता है।
- ईश्वर मे .विश्वास श्रद्धा पर ही अवलम्बित है, जो तर्क से प्रबल है।

- अनुभूति. . .की सतह मे भी विश्वास ही होता है।
- अपनी इन्द्रियो (भावनाओं) द्वारा हम उसे (ईश्वर को) कभी नहीं पा सकते।
- हमारे अन्दर दैवी संगीत सदा गुंजरित होता है।

१५९. प्रभु-स्मरण

केवल ईश्वर का ध्यान धर। इसका यह अर्थ नही कि तू मुझे छोड दे या मैं तुझे छोड दू। लेकिन इसका यह अर्थ तो है ही कि मेरे बारे मे तेरा जो कुछ विशेष खयाल है उसे छोड कर तू सिर्फ खुदा का आसरा ले। ऐसा करेगी तो तू जरूर सुखी होगी और शान्त होगी।

खुदा को याद करके रोने मे तो अर्थ है। मनुष्य को याद करके रोने से आँख बिगडती है और कुछ नही मिलता।

—सेगांव, वर्धा, ११।१०।१९३६। बापू के पत्र : बीबी अमतुस्सलाम के नाम, पृ० १०५, न० जी० प्र० मं०]

१६०. ईश्वर का वास

. . .भगवान कहा बसते है। इस प्रश्न के उत्तर मे श्री रामचन्द्र जी ने कहा है कि भगवान सन्त के हृदय से वास करते हैं, असन्त के हृदय मे नही। यह वचन भी एकान्तिक है।. . इसके विपरीत यह कहना कि भगवान दुर्जन के हृदय मे भी बसते है, अधिक शास्त्रीय भले ही हो, पर व्यवहार-दृष्टि से हानिकारक है। हत्यारे के खजर और सर्जन के नश्तर, दोनो मे शास्त्रीय दृष्टि से ईश्वर है। पर प्राकृत और व्यावहारिक-दृष्टि से एक मे देव है, दूसरे मे असुर, एक का प्रेरक राम है दूसरे का रावण, एक मे खुदा है दूसरे मे शैतान; एक मे अहुरमज्द है दूसरे मे अहरिमान। . .

—ह० से०, २०।२।१९३७]

१६१. धर्म-वृत्ति

. .एक धार्मिक और आध्यात्मिक वृत्तिवाले मनुष्य के सारे विचार, शब्द और क्रियाए धर्म अथवा यो कहे कि धर्म-वृत्ति से प्रेरित होती हैं।

जीवन मे हमे अपने कार्या के सामाजिक, राजनीतिक, व्यापारिक, धार्मिक आदि भेद करने ही पडेंगे। ये भेद असख्य हो सकते है। मगर ईश्वर को ढूंढनेवाला अपनी धार्मिक भावना और आध्यात्मिक वृत्ति से ही हर जगह काम लेगा।

—ह० ज०। ह० से०, २६।६।१९३७]

१६२. ईश्वर मे विश्वास

[इस्लामिया कालेज के एक प्रोफेसर ने गाधी जी से भेंट करके उनकी ईश्वर-विषयक आस्था के सम्बन्ध मे कुछ प्रश्न किये। उनकी गाधी जी के साथ हुई वार्ता के आवश्यक अश यहा सकलित किये जा रहे है।

प्रोफेसर का पहिला प्रश्न था कि गाधी जी की ईश्वर-विषयक श्रद्धा का आधार क्या है, उनका इस विषय मे क्या अनुभव है ?—सम्पा०]

यह ऐसा विषय नही है जिस पर बहस की जा सके। पर मैं आपसे इतना कह सकता हू कि जितना मुझे इस बात का विश्वास है कि आप और हम इस कमरे मे बैठे हुए है इससे कही ज्यादा मुझे ईश्वर मे विश्वास है। मै यह भी विश्वासपूर्वक कह सकता हू कि मैं हवा और पानी के बिना भले ही जीवित रह जाऊ, पर ईश्वर के बिना जीवित नही रह सकता। आप मेरी आखे फोड दे, पर इससे मै मर नही सकता। आप मेरी नाक काट ले, पर इससे भी म मरूगा नही। लेकिन आप ईश्वर पर मे मेरा विश्वास उठा दें और मै उसी क्षण मर जाऊँगा। आप इसे भले ही अन्ध-विश्वास कहे, पर मैं स्वीकार करता हू कि यह एक ऐसा वहम है, जिसे मै बडे प्रेम से छाती से चिपटाये हुए हू, जिस तरह बचपन मे मुझे जब भय मालूम होता था, तब मैं राम-नाम की शरण ले लिया करता था। मुझे यह एक बूढी दाई ने सिखाया था।

प्रोफेसर—पर क्या आपके खयाल मे ऐसा वहम आपके लिए जरूरी है ?

गाधी जी—हा, मुझे भी जीवित रखने के लिए यह जरूरी है।

प्रोफेसर—यह ठीक है। क्या मैं अब आपसे यह पूछू कि आपके पास ऐसी कोई अलौकिक दृष्टि है, जैसी पैगम्बरों की होती है ?

गाधी जी—मै नही जानता कि ऐसी दृष्टि से आपका क्या आशय है और आप पैगम्बर किसे कहेगे। लेकिन मै आपको अपने जीवन का एक अनुभव सुना दू।

जब मैंने जेल मे अपने इक्कीस दिन के उपवास की घोषणा की तब उसके बारे में मैंने कोई दलीलें पेश नही की थी। मैं जब सोने गया तब मुझे विचार भी नही

था कि मैं कल सबेरे इक्कीस दिन के उपवास की घोषणा करने जा रहा हू। पर आधी रात को एक आवाज ने मुझे जगा दिया और कहा, उपवास करो। 'कितने दिन का' मैंने पूछा। उत्तर मिला—'इक्कीस दिन का।'

मैं आपसे कहता हू कि उपवास के लिए मेरा मन तैयार नही था। मेरा उधर कोई झुकाव भी नही था, पर यह चीज़ मेरे सामने बहुत स्पष्ट रूप मे आई। आप से एक बात और कहूगा। मैंने अपने जीवन मे जो भी आश्चर्यजनक काम किये हैं, उनको सहज ज्ञान से मैं कहूगा कि ईश्वरादेश से प्रेरित होकर किया है।
—[ह० ज०। ह० से०, १४।५।१९३८]

१६३. मौन

सम्पूर्ण ज्ञान मौन से ज्यादा प्रकट होता है, क्योकि भाषा कभी पूर्ण विचार को प्रकट नही कर सकती। अज्ञान विचार की निरकुशता का सूचक है। . जहा तक मुझे कुछ भी समझाने की आवश्यकता रहती है वहा तक मेरे मे अपूर्णता भरी है अथवा विकार भी है।
—सेगांव, ११।६।१९३८। 'बापू की छाया मे' बलवन्त सिंह, संस्करण १९५७, न० जी० प्र० मं०]

१६४. श्रद्धा और बुद्धि

जिस चीज का वस्तुत आत्मा से सम्बन्ध है उसको बुद्धि-द्वारा सिखाना असम्भव है। यह तो ठीक वैसा ही हुआ जैसे कि बुद्धि-द्वारा ईश्वर मे श्रद्धा रखना सिखाया जाय। ऐसा नही हो सकता क्योकि यह वस्तुत हृदय का विषय है। श्रद्धा केवल हृदय से आ सकती है, बुद्धि से नही। बुद्धि तो श्रद्धा के विषय मे बाधक ही हो सकती है।
—ह० ज०। ह० से०, १८।६।१९३८]

१६५. ईश्वरीय जीवन

. . हमारे धर्मग्रन्थो मे लिखा है कि सत्य के सिवा कुछ नही है। इसी का अर्थ ईश्वरीय जीवन है।
—ह० ज०। ह० से०, २९।९।१९३८]

१६६ प्रार्थना-रहस्य

[गांधी जी की एबटाबाद-यात्रा के दौरान एक प्रसिद्ध बौद्ध डा० फाब्री उनसे मिलने आये। वे हंगरी के मूल निवासी और प्रसिद्ध पुरातत्त्वविद् थे। गांधी जी पर वे पूर्ण आस्था और श्रद्धा रखते थे। डा० फाब्री ने गांधी जी से पहिला प्रश्न यह किया कि वे किस प्रकार प्रार्थना करते हैं। क्या प्रार्थना-द्वारा ईश्वरीय अभिप्राय बदला जा सकता है, जाना जा सकता है? इस प्रश्न का उत्तर और तत्सम्बन्धी अन्य वार्तालाप यहां संकलित किया जा रहा है।—सम्पा०]

गांधी जी—प्रार्थना के समय मैं क्या किया करता हूँ, इसे पूरी तरह से समझाना कठिन है। पर आपकी इस शंका का जवाब देना कठिन नहीं है कि ईश्वरीय संकेत बदला जा सकता है या नहीं। चराचर में ईश्वर का वास है। प्रार्थना का अर्थ है अपने अन्दर रहनेवाले ईश्वरीय तत्व को जागरित करने का मेरा प्रयत्न। मुझमें बौद्धिक समझ तो है, पर जीवित स्पर्श नहीं। इसलिए जब मैं भारत के लिए स्वराज्य अथवा स्वतन्त्रता की प्रार्थना करता हूँ अथवा ऐसे स्वराज्य के लिए आवश्यक सामर्थ्य माँगता हूं या उसकी प्राप्ति के लिए सबसे बड़ा योग देने की अभिलाषा रखता हूँ, तब उसका अर्थ यह हुआ कि इस प्रकार की इच्छा के रूप में वैसा सामर्थ्य मेरे अन्दर संचित होता है।

डा० फाब्री—तब तो उसे आप प्रार्थना नहीं कह सकते। प्रार्थना का अर्थ तो भीख माँगना या अधिकार माँगना है।

गांधी जी—भले ही हो, पर मैं तो खुद अपने से ही, उच्चात्मा से अथवा जिसके साथ अभी मेरा सम्पूर्ण तादात्म्य नहीं हुआ उस सच्ची आत्मा से ही भीख माँगता हूं। इसीलिए आप यदि इस वस्तु का सचराचर-व्यापी ईश्वरीय तत्व में अपने को लीन कर देने के अविरत प्रयास के रूप में वर्णन करें, तो इसमें ऐसी गलती ही क्या है?

ध्यान या पुकार

डा० फाब्री—और ऐसा करने के लिए आप पुराना ढंग ग्रहण करते हैं?

गांधी जी—मैंने तो आपके सामने एक बुद्धिग्राह्य कल्पना रख दी, किन्तु यदि आप यह कहें कि मैं किसी बाह्य शक्ति की प्रार्थना करता हूँ, तो इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं। मैं अनन्त का ही एक अंश हूं, और फिर भी इतना अल्प अंश हूँ कि ऐसा भास होता है कि उससे पृथक् हूँ। आपको बौद्धिक अर्थ समझाते हुए भी ईश्वरीय तत्व के साथ तादात्म्य के बिना मुझे अपनी अल्पता का इतना अधिक

अनुभव होता है कि मानो मैं कुछ भी नही हूँ। जिस क्षण मैं यह कहता हूँ कि मैं यह करता हूँ या वह करता हूँ, उसी क्षण अपनी क्षुद्रता का अनुभव करने लगता हूँ और मुझे ऐसा लगने लगता है कि कोई बहुत ऊची शक्ति सहारा दे रही है।

डा० फाब्री—तालसताय ने भी यही कहा है। प्रार्थना का अर्थ असल मे देखा जाय तो पूर्ण ध्यान और उच्च आत्मा में विगलित हो जाना है, यद्यपि प्रसंगोपात्त मनुष्य इस प्रकार पुकार करने की भूल कर बैठता है, जिस तरह बालक पिता को पुकारता है।

गांधी जी—माफ कीजिए, मैं तो उसे भूल नही कहूँगा। उचित तो यह है कि मैं कहूँ, हाँ, मैं प्रभु-प्रार्थना करता हूँ। जो कही ऊचे आकाश मे या बहुत दूर रहता है ऐसा कोई प्रभु है, उसके लिए मेरी अविरत आतुरता या रटन भी बढती है, और विचार-स्थिति मे मैं उसकी उपस्थिति का अनुभव करता हूँ। और यह तो आप जानते ही हैं कि विचार का वेग प्रकाश से भी बाज़ी मार ले जाता है। इसलिए आप बुद्धि की भाषा मे यह कह सकते हैं कि मेरे और उसके बीच का अन्तर इतना अधिक अमाप है कि वह निकल जाता है; वह अत्यन्त दूर और फिर भी बिल्कुल निकट है।

डा० फाब्री—बात तो मान्यता की है, पर मेरे जैसे कुछ कठिन शोध के अभ्यस्त होते हैं। जिन बुद्ध ने हमे उपदेश दिया है उनसे उच्चतर या उनसे बहुत बडा कोई जगद्गुरु मैं नही मानता। कारण कि बुद्ध ने ससार के दूसरे महान् जगद्गुरुओ की तरह ही ससार से कहा था कि, मैं जो कहता हूँ उसे अन्धश्रद्धा से न मान लेना, किसी सिद्धान्त या किसी ग्रन्थ को अटल न समझना। मैं किसी ग्रन्थ को अटल नही मानता, कारण कि सभी ग्रन्थ मनुष्यकृत हैं, फिर भले ही वे चाहे जितनी भव्य प्रेरणा से लिखे गये हो। इसीलिए ईश्वर-सम्बन्धी कल्पना को, महान् शुभ्र सिंहासन पर किसी महाराजा की भाँति बैठे हुए और आपकी प्रार्थना को सुनते हुए ईश्वर को मैं नही मान सकता। मुझे प्रसन्नता होती है कि आपकी प्रार्थना इससे भिन्न भूमिका पर है।

गांधी जी—आपको मैं याद दिला दूं कि यह कहना भी अशत ही सत्य है कि वह भिन्न प्रकार की है। मैं आपसे कह चुका हूँ कि आपको मैंने जो बौद्धिक भूमिका समझाई है, वह मुझमे स्थिर नही होती। स्थिर तो एक अदृश्य शक्ति मे उस श्रद्धा की तीव्रता ही होती है, जिसके द्वारा मैं खो जाता हूँ और इसीलिए यह कहने की अपेक्षा कि मैंने कुछ किया, यह कहना कि ईश्वर ने किया बहुत अधिक सत्य है। मेरे जीवन मे ऐसी बहुत-सी चीजें हुई हैं, जिनकी मुझे तीव्र आतुरता थी, किन्तु जिन्हे मैं खुद अकेला कभी प्राप्त नही कर सकता था। और मैंने अपने साथियो

को हमेशा यह बात सुनाई है कि यह सिद्धि मेरी प्रार्थना मे फलित हुई। साथियो से मैने यह कभी नही कहा कि मेरे अन्तर्यामी ईश्वरीय तत्व मे मेरे व्यक्तित्व को लय कर देने के मेरे बौद्धिक प्रयास के जवाब म वैसा हुआ। सीधी-से-सीधी सच्ची बात मेरे इतने ही कथन मे आ जाती ह कि प्रभु ने मेरा बेडा पार लगाया।

मात्र कर्म शक्तिहीन

डा० फाब्री—पर यह तो आपने अपने कर्म-बल से प्राप्त किया। परमेश्वर न्यायरूप है, दयारूप नहीं। आप भले है, इसलिए आपके साथ सब भला ही होता है।

गांधी जी—नही, नही, मै ऐसा भला नही। कर्म के ऐसे तत्वार्थ मे फँस जाने से तो मेरा कई बार खात्मा हो जाय। मेरा कर्म मुझे नही बचा सकता। कर्म के अटल सिद्धान्त को मै मानता हूँ। मैं बहुत-सी वस्तुओ के लिए प्रयत्न करता हूँ। अधिकाधिक शुभ कर्मों का सचय करने के कठिन प्रयास मे मेरे जीवन का प्रत्येक क्षण बीतता है। अत यह कहना गलत है कि मेरे सचित कर्म अच्छे ह, इसलिए आज मेरा सब अच्छा ही होता है। सचित तो देखते-देखते खत्म हो जायेंगे। अत अपनी प्रार्थना के बल पर भावी शुभ कर्मों की रचना करनी है। पर मैं आपसे कहता हूँ कि मात्र कर्म सामर्थ्य-रहित हे। मै कहता हूँ कि मैं यह दिया-सलाई जलाता हूँ। और फिर भी बाहर के सहयोग के बगैर मै उसे जला नही सकता।

मैं दियासलाई को घिसता हूँ, घिसने से पहले हाथ अकड जाता है, अथवा मेरे पास एक ही तीली है, और हवा उसे बुझा देती है, यह अकस्मात् है, ईश्वर है या उच्च शक्ति ? मैं इस विषय मे उसी भाषा का प्रयोग करना अधिक पसन्द करता हूँ, जिसका कि मेरे बाप-दादे प्रयोग करते आये है या बालक करते है। मैं बालक से बढकर नही हू। हम लोग विद्वत्तापूर्ण बाते छाँटते है, बडे-बडे ग्रन्थो की चर्चा करते है पर जब वक्त आता है, और कोई विपत्ति सामने आ जाती है, तब हम बच्चो की तरह मानने लग जाते हैं, और हमारी प्रज्ञा हमे कोई सान्त्वना नही दे सकती।

बुद्ध प्रार्थना नही करते थे

डा० फाब्री—जिन्हे ईश्वर-विषयक श्रद्धा भारी सान्त्वना देती है और चरित्र-गठन मे जो बहुत सहायक सिद्ध होते है ऐसे बहुत ऊची कोटि के कुछ सत्पुरुषो को

मैंने देखा है। पर ऐसे भी कुछ महान सत्पुरुष होते हैं, जो उस श्रद्धा के बिना भी काम चला सकते हैं। बौद्ध विचारणा से यह मैंने सीखा है।

गांधी जी—किन्तु बौद्ध विचारणा क्या एक अखड प्रार्थना नही है?

डा० फाब्री—बुद्ध ने तो सबको अपने आप ही मोक्ष का मार्ग खोज निकालने के लिए कहा है। बुद्ध कभी प्रार्थना नहीं करते थे; वह तो ध्यान धारण करते थे।

गाधी जी—आप जिस शब्द का प्रयोग करना हो करें, अर्थ एक ही है। बुद्ध की प्रतिमाओ को ही देखिए।

डा० फाब्री—इन प्रतिमाओ का बनना तो बुद्ध के निर्वाण से ४४० वर्ष बाद शुरू हुआ था।

गांधी जी—ठीक है। आपने शोध-द्वारा बुद्ध का जो भी इतिहास निश्चित किया हो उसे ले लें, तब भी मैं यह सिद्ध कर दूँगा कि बुद्ध प्रार्थना करते थे। निरी बौद्धिक कल्पना मुझे सन्तोष नही दे सकती। आपके विचार का वर्णन करने के लिए मैंने तो आपको एक सम्पूर्ण व्याख्या दे दी। वर्णन करने का प्रयास ही मर्यादा रूप है। वह पृथक्करण को थका देता है और मात्र नास्तिकता ही शेष रहती है।
—ह० ज०। ह० से० १९।८।१९३९]

- चराचर मे ईश्वर का वास है।
- प्रार्थना का अर्थ है—अपने अन्दर रहनेवाले ईश्वरीय तत्व को जाग्रत करने का मेरा प्रयास।

१६७. ब्रह्मचर्य : जीवन की नींव

एक साथी ने मेरे एक पुराने लेख मे से यह बताया था कि मुझे अपने ब्रह्मचर्य के विषय मे कुछ लिखना चाहिए। वह वाक्य तो मेरे सामने नही है, पर उनसे मैंने यह कहा था कि मैं कभी इस विषय पर कुछ लिखने का प्रयत्न करूँगा।

ब्रह्मचर्य की जो व्याख्या मैंने की है, वह अब भी कायम है। अर्थात् जो मनुष्य मन से भी विकारी होता है, समझना चाहिए कि, उसका ब्रह्मचर्य स्खलित हो गया है। जो विचार मे निर्विकार नही, वह पूर्ण ब्रह्मचारी कभी नही माना जा सकता। चूँकि मैं अपनी इस व्याख्या तक नही पहुँच सका, इसलिए अपने को मैं आदर्श ब्रह्मचारी नही मानता। पर अपने आदर्श से दूर होते हुए भी, मैं यह मानता हूँ कि जब मैंने इस व्रत का आरम्भ किया तब मैं जहाँ पर था, उससे आगे बढ गया हूँ। विकार की निर्विकारता तबतक कभी नही आती जबतक 'पर' का दर्शन नही होता। जब विचार के ऊपर पूरा नियन्त्रण हो जाता है, तब पुरुष स्त्री को

और स्त्री पुरुष को अपने मे लय कर लेती है। इस प्रकार के ब्रह्मचारी के अस्तित्व मे मेरा विश्वास है, पर ऐसा कोई ब्रह्मचारी मेरे देखने मे नही आया। ऐसा ब्रह्मचारी बनने का मेरा महान प्रयास अवश्य जारी है। जबतक यह ब्रह्मचर्य प्राप्त नही हो जाता, मनुष्य उतनी अहिंसा तक, जितनी कि उसके लिए शक्य है, पहुच नही सकता।

ब्रह्मचर्य के लिए आवश्यक माने जाने वाले अवरोध को मै ने हमेशा के लिए आवश्यक नही माना है। जिसे किसी बाह्य रक्षा की जरूरत है वह पूर्ण ब्रह्मचारी नही। इसके विपरीत, जो बाड को तोडने के दाग मे प्रलोभना की खोज मे रहता है, वह ब्रह्मचारी नही, किन्तु मिथ्याचारी है।

ऐसे निर्भय ब्रह्मचर्य का पालन कैसे हो? मेरे पास इसका कोई अचूक उपाय नही, क्योंकि मै पूर्ण दशा को नही पहुचा हू। पर मैंने अपने लिए जिस वस्तु को आवश्यक माना है वह यह है।

विचारो को खाली न रहने देने के लिए निरन्तर उन्हे शुभ चिन्तन मे लगाये रहना चाहिए। रामनाम का इकतारा तो चौबीसों घण्टे, सोते हुए भी, श्वास की तरह स्वाभाविक रीति से, चलता रहना चाहिए। वाचन हो तो सदा शुभ, और विचार किया जाय, तो अपने कार्य का ही। कार्य पारमार्थिक होना चाहिए। विवाहितो को एक दूसरे के साथ एकान्त-सेवन नही करना चाहिए, एक कोठरी मे एक चारपाई पर नही सोना चाहिए। यदि एक दूसरे को देखने से विकार पैदा होता हो, तो अलग-अलग रहना चाहिए। यदि साथ-साथ बाते करने मे विकार पैदा होता हो, तो बाते नही करनी चाहिए। स्त्री मात्र को देखकर जिसके मन मे विकार पैदा होता हो, वह ब्रह्मचर्य-पालन का विचार छोडकर अपनी स्त्री के साथ मर्यादापूर्वक व्यवहार रखें, यदि विवाहित न हो, तो उसे विवाह का विचार करना चाहिए। सामर्थ्य के बाहर जाने का आग्रह किसी को नही रखना चाहिए। सामर्थ्य से बाहर प्रयत्न करके गिरनेवालो के अनेक उदाहरण मेरी नजर के सामने आते रहते है।

जो मनुष्य कान से बीभत्स या अश्लील बाते सुनने मे रस लेते है, आँख से स्त्री की तरफ देखने मे रस लेते है, जो अश्लील चीजे पढते है, अश्लील बाते करने मे रस लेते है, वे सब ब्रह्मचर्य का भग करते है। अनेक विद्यार्थी और शिक्षक ब्रह्मचर्य-पालन मे हताश हो जाते है, इसका कारण यह है कि वे श्रवण, दर्शन, वाचन, भाषण आदि की मर्यादा नही जानते, और मुझसे पूछते है, हम किस तरह ब्रह्मचर्य का पालन करे? वे तनिक भी प्रयत्न नही करते। जो पुरुष स्त्री के चाहे जिस अग का सविकार स्पर्श करता है उसने ब्रह्मचर्य का भग किया है, ऐसा समझना

चाहिए। जो ऊपरी मर्यादा का ठीक-ठीक पालन करता है उसके लिए ब्रह्मचर्य सुलभ हो जाता है।

आलसी मनुष्य कभी ब्रह्मचर्य का पालन नही कर सकता। वीर्यसग्रह करने-वाले मे एक अमोघ शक्ति पैदा होती है। उसे अपने शरीर और मन को निरन्तर कार्यरत रखना ही चाहिए। अत हर एक साधक को ऐसा सेवा-कार्य खोज लेना चाहिए कि जिससे उसे विषय-सेवन करने के लिए रचमात्र भी समय न मिले।

साधक को अपने आहार पर पूरा नियन्त्रण रखना चाहिए। वह जो कुछ खाय वह केवल औषधिरूप से शरीर-रक्षा के लिए, स्वाद के लिए कदापि नही। इसलिए मादक पदार्थ, मसाले वगैरह उसे खाने ही नही चाहिए। ब्रह्मचारी मिता-हारी नही, किन्तु अल्पाहारी होना चाहिए। सब अपनी मर्यादा बाँध लें।

उपवासादि के लिए ब्रह्मचर्य-पालन मे अवश्य स्थान है। पर आवश्यकता से अधिक महत्व देकर जो उपवास करता है और उससे अपने को कृतकृत्य हुआ मानता है, वह भारी गलती करता है। निराहारी के विषय उस बीच मे क्षीण भले ही हो जायँ, पर उसका रस नष्ट नही होता। शरीर को नीरोगी रखने मे उपवास बहुत सहायक है। अल्पाहारी भी भूल कर सकता है इसलिए प्रसग आने पर उपवास करने मे लाभ ही है।

क्षणिक रस के लिए मैं क्यो तेजहीन होऊ? जिस वीर्य मे प्रजोत्पत्ति की शक्ति भरी हुई है, उसका पतन क्यो होने दूं, और इस तरह ईश्वर-प्रदत्त पुरस्कार का दुरुपयोग करके मैं ईश्वर का चोर क्यो बनूं? जिस वीर्य का सग्रह कर मै वीर्य-वान् बन सकता हूँ, उसका पतन करके वीर्यहीन क्यो बनुं? इम विचार का मनन यदि साधक नित्य करे, और रोज़ ईश्वर-कृपा की याचना करे, तो सम्भवत वह इस जन्म में ही वीर्य पर नियन्त्रण प्राप्त कर ब्रह्मचारी बन सकता है। इसी आशा को लेकर मैं जी रहा हूँ।

—ह० व०। ह० से० २८।१०।१९३९]

- जिसे किसी बाह्य रक्षा की ज़रूरत है, वह पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं।
- सामर्थ्य से बाहर जाने का आग्रह किसी को नहीं रखना चाहिए।
- आलसी मनुष्य कभी ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकता।
- शरीर को निरोगी रखने में उपवास बहुत सहायक है।

१६८. प्रार्थना

भोजन न मिले तो मनुष्य की इतनी हानि नहीं होती बल्कि भोजन-त्याग से कुछ लाभ ही होता है क्योंकि हम भोजन मे अतिशयता कर देते हैं। लेकिन प्रार्थना

तो आत्मा की खूराक है। उसके बिना आत्मा का हनन होता है। प्रार्थना जितनी की जाय उतना ही अच्छा है। प्रार्थना मे अतिशयता जैसी कोई चीज़ नही है। मैने तो ऐसा एक भी आदमी नही देखा, जिसे प्रार्थना की अतिशयता से हानि हुई हो। प्रार्थना के लिए हम जितना समय दे सके उतना ही अच्छा है—यहाँ तक कि अन्त मे प्रार्थनामय बन जाय।

—दिल्ली, २।११।१९३९। प्रात. ८ बजे। ह० ज०। ह० से०, ४।११।१९३९]

१६९. धर्म का सार्वभौम रूप

धर्म हमारे काम मे समाया हुआ होना चाहिए। यहा धर्म का अर्थ सम्प्रदाय-वाद नही है। इसका मतलब विश्व के व्यवस्थित नैतिक शासन मे विश्वास है। यह अदृश्य है, लेकिन कम वास्तविक नही है। यह धर्म हिन्दुत्व, इस्लाम और ईसाइयत वगैरह से परे है। यह उसका स्थान नही लेता। यह उन्हे एकरस बनाता है और वास्तविकता प्रदान करता है।

—ह० ज०, १०।२।१९४०]

१७०. ईश्वरीय दान

हमे ईश्वर ने जो रोशनी दी है, हम उसी के अनुसार चल सकते है। सम्पूर्ण सत्य केवल ईश्वर को मालूम है।

—ह० ज०। ह० से० ५।१०।१९४०]

१७१. धर्म-सार

'तेन त्यक्तेन भुंजीथा'—इस मन्त्र के अर्थ को हर एक पाठक समझ ले और कण्ठाग्र कर ले। कोई हर्ज नही, अगर यह वेदवाक्य गले से नीचे भी न उतरे। गले मे अटका हुआ यह जुए की तरह दम घोटेगा। नीचे उतर कर हृदय तक पहुच गया तो रटने वाला तर जायगा। जीने का लोभ छोड़कर जीवन का उपभोग करना हमारा सहज धर्म बनना चाहिए।

—सेवाग्राम, २३।२।१९४२। ह० व०। ह० से० १।३।१९४२]

१७२. ईश-कृपा

[श्रीमती जानकी बहिन बजाज को लिखे पत्र से]

ईश्वर की तो हमेशा कृपा ही होती है। हम उस कृपा को न पहिचान सके, यह हमारी मूर्खता है। परन्तु उसकी इच्छा के तो हम अपनी इच्छा या अनिच्छा से अधीन हैं ही।

—पंचगनी, ३१।७।१९४४। 'बापू के पत्र : बजाज परिवार के नाम', पृ० २०५, अ० भा० स० से० सं०]

१७३. विकारों का उपचार

विकारी विचार से बचने का एक अमोघ उपाय रामनाम है। नाम कण्ठ से ही नही, किन्तु हृदय से निकलना चाहिए।

—सेवाग्राम, २८।१२।१९४४]

१७४. राम ही वैद्य

व्याधि अनेक है, वैद्य अनेक है, उपचार भी अनेक हैं। अगर सारी व्याधि को एक ही माने और उसका मिटानेवाला वैद्य एक राम ही है ऐसा समझे, तो हम बहुत-सी झझटो से बच जायँ।

—सेवाग्राम, २९।१२।१९४४]

१७५. अविनाशी राम

आश्चर्य है कि वैद्य मरते है, डाक्टर मरते हैं, फिर भी उनके पीछे हम भटकते हैं। लेकिन जो राम मरता नही है, हमेशा जिन्दा रहता है और अचूक वैद्य है, उसे हम भूल जाते हैं।

—सेवाग्राम, ३०।१२।१९४४]

१७६. ईश्वर

ईश्वर ऊपर नहीं, नीचे नही, हृदयस्थ है। वास्तव मे तो वह हर जगह है। शास्त्र मे जो लिखा है कि कुछ चीजें खाली हो सकती हैं तो वह हवा से खाली होने

की बात हो सकती है। हवा में खाली करो तो भी कुछ तो रह ही जाता है, भौतिक शास्त्रवालों ने तो यह देख लिया है कि हवा में भी सूक्ष्म कोई चीज है। आध्यात्मिक शास्त्रवालों ने देख लिया है कि ईश्वर सब जगह है। हमारी सब धार्मिक क्रियाओं का वह ईश्वर साक्षी है।

— २२।२।१९४५। 'बापू की छाया में', बलवन्त सिंह, पृ० २९८, संस्करण १९५७, न० जी० प्र० म०]

१७७. श्रद्धालु कभी अकेला नहीं है

ईश्वर में श्रद्धा रखने वाला आदमी स्वयं को कभी अकेला अनुभव न करेगा क्योंकि ईश्वर हमेशा उसका साथी है।

— पूना, २३।२।१९४६। ह० से० ३।३।१९४६]

१७८. नामौषधि

मैं जितना विचार करता हूं, उतना ही ज्यादा यह महसूस करता हूँ कि ज्ञान के साथ हृदय में लिया हुआ रामनाम सारी बीमारियों की रामबाण दवा है।

— उरूली, २२।३।१९४६। 'रामनाम' संकलन, पृष्ठ ६७, न० जी० प्र० म०]

१७९. विकार-चिकित्सा

आसक्ति, घृणा वगैरह भी रोग हैं और वे शारीरिक रोगों से ज्यादा बुरे हैं। रामनाम के सिवा उनका कोई इलाज नहीं है।

— उरूली, २३।३।१९४६। 'रामनाम' संकलन, पृष्ठ ६७, न०जी० प्र० म०]

१८०. ईश्वर

जीवन-मरण का स्वामी तो ईश्वर ही है।

— उरूली कांचन, २५।३।१९४६। बापू के पत्र सरदार वल्लभ भाई के नाम, पृ० २८५, न० जी० प्र० म०]

१८१. अवर्णनीय आनन्द

ईश्वर की शरण मे आने से किसी को जो आनन्द और सुख मिलता है, उसका कौन वर्णन कर सकता है?

— उरूली, २५।३।१९४६। 'रामनाम' 'संकलन'; पृष्ठ ६८; न० जी० प्र० मं०]

१८२. ईश्वरेच्छा

ईश्वर की इच्छा अचानक बिजली की तरह कौंध जाती है और वह मनुष्यो को चमत्कार-सी मालूम पडती है। हम ईश्वर को नही जानते। हम उसे उसके नियम-चक्र द्वारा ही पहिचानते हैं। ईश्वर और उसके नियम, दोनो एक हैं। उसके नियम के वाहर कोई चीज़ नही है। भूकम्प और बडे-बडे तूफान भी उसकी इच्छा-बिना नही आते। घास का एक तिनका तक उसकी इच्छा से ही उग पाता है। शैतान भी यहाँ उसकी इच्छा से ही रहता है और काम करता है। शैतान की अपनी कोई इच्छा या अस्तित्व नही होता।

— दिल्ली जाते हुए, रेल में, २१।३।१९४६। ह० ज०। ह० से० ७।४।१९४६]

१८३. रोगनाश का उपाय ईश्वर-स्तुति

ईश्वर की स्तुति और सदाचार का प्रचार हर तरह की बीमारी को रोकने का अच्छे-से-अच्छा और सस्ते-से-सस्ता इलाज है।

— शिमला, ९।५।१९४६। ह० व०। ह० से० १९।५।१९४६]

१८४. प्रभु पर आस्था

भगवान पर भरोसा रखने से बहुत-सी कठिनाइयाँ आसान बनाई जा सकती है। जब से मैं समझदार या सयाना हुआ हूँ, तभी से मैंने यह अनुभव किया है कि जो भगवान की उपासना करते हैं, उनके साथ वह हमेशा रहता है। वास्तव में वह सर्वत्र है। लेकिन चूंकि वह निराकार है और आँखो से दीख नही पडता, इसलिए आदमी हमेशा उसकी उपस्थिति का अनुभव नही कर पाता। लेकिन अगर आपके पास भगवान की बात सुननेवाले कान है तो वह आपसे आपकी ही भाषा मे

बात करेगा, फिर वह भाषा चाहे कोई भी क्या न हो। ईश्वर सर्वशक्तिमान है। आदमी उसकी इच्छा पर जीता है।
—शिमला के प्रार्थना-प्रवचनों पर लिखे गये विवरण से। दिल्ली, १५।५।-१९४६। ह० ज०। ह० से०, १०।५।१९४६]

१८५. त्रिविध ताप-हर

तीनों तरह के रोगों के लिए रामनाम ही यकीनी इलाज है।
—नई दिल्ली, २४।५।१९४६। 'रामनाम' सकलन, पृष्ठ ६८, न० जी० प्र० म०]

१८६. कल्पतरु नाम

जो रामनाम का आसरा लेता है, उसकी सारी इच्छाएँ पूरी होती हैं।
—नई दिल्ली, २५।५।१९४६। 'रामनाम' सकलन, पृष्ठ ६८; न ०जी० प्र० म०]

१८७. चित्त-शुद्धि का साधन

राम-नाम के बिना चित्त-शुद्धि नही हो सकती।
—नई दिल्ली, २१।५।१९४६। ह० से० २६।५।१९४६]

१८८. नामामृत

अगर कोई रामनाम का अमृत पीना चाहता है, तो यह जरूरी है कि वह काम, क्रोध वगैरह को अपने पास से भगा दे।
—नई दिल्ली, २०।६।१९४६। 'रामनाम' सकलन, पृष्ठ ६८, न० जी० प्र० म०]

१८९. कष्ट में भी नाम-स्मरण

जब सब कुछ अच्छा होता है, तब तो सब कोई ईश्वर का नाम लेते ही है, लेकिन सच्चा भक्त तो वही है, जो सब कुछ बिगड जाने पर भी ईश्वर को याद करता है।

—बम्बई, ६।७।१९४६। 'रामनाम' संकलन; पृष्ठ ६८; न० जी० प्र० मं०]

१९०. नाम-रसायन

रामनाम का रसायन आत्मा को आनन्द देता है और शरीर के रोग मिटाता है।

—पूना, ९।७।१९४६। 'रामनाम' संकलन; पृष्ठ ६८; न० जी० प्र० मं०]

१९१. राम-नाम के बारे में भ्रम

एक दोस्त लिखते हैं—

"आपने राम-नाम से मलेरिया का इलाज सुझाया है। मेरी कठिनाई यह है कि शारीरिक बीमारियो के लिए आत्मिक शक्ति पर भरोसा करना मेरी समझ से बाहर है। मै दृढ़ रूप से यह भी नहीं जानता कि मुझे अच्छा होने का अधिकार भी है या नहीं। और क्या ऐसे समय जबकि समस्त देशवासी इतने दुःख मे पड़े हैं, मेरी अपनी मुक्ति के लिए प्रार्थना करना ठीक होगा? मैं जिस दिन राम-नाम समझ जाऊँगा, उस दिन मै उनकी मुक्ति के लिए प्रार्थना करूँगा, नहीं तो मैं अपने-आपको आज से ज्यादा स्वार्थी महसूस करूँगा।"

मैं मानता हूँ कि यह मित्र सच्चे सत्य के शोधक है। उनकी इस कठिनाई की खुली चर्चा मैंने इसलिए की है कि उन-जैसे बहुतो की कठिनाइयाँ इसी तरह की हैं।

दूसरी शक्तियो की तरह आत्मिक शक्ति भी मनुष्य की सेवा के लिए है। सदियो से थोडी-बहुत सफलता के साथ शारीरिक रोगो को ठीक करने के लिए उसका उपयोग होता रहा है। इस बात को छोड भी दें, तो भी अगर शारीरिक व्याधियो के इलाज के लिए सफलता के साथ उसका इस्तेमाल हो सकता हो, तो उसका उपयोग न करना सख्त गलती है। क्योंकि आदमी पदार्थ भी है और आत्मा भी, और इन दोनो का एक-दूसरे पर असर होता है। अगर आप मलेरिया

से बचने के लिए कुनैन लेते हैं, और इस बात का विचार भी नहीं करते कि करोडों को कुनैन नहीं मिलती, तो आप उस इलाज के इस्तेमाल में क्या इन्कार करते हैं, जो आपके अन्दर है? क्या सिर्फ इसलिए कि करोडों अपनी मूर्खता के कारण उसका इस्तेमाल नहीं करते? अगर करोडों अनजाने, या हो सकता है, जान-बूझकर भी, गन्दे रहें, तो क्या आप अपनी स्वच्छता और स्वास्थ्य का ध्यान छोड देंगे? उदारता की गलत कल्पना के कारण अगर आप साफ नहीं रहेंगे, तो गन्दा और बीमार रहकर आप उन्हीं करोडों की सेवा का फर्ज भी अपने ऊपर नहीं ले सकेंगे, और यह बात तो पक्की है कि आत्मा का रोगी या गन्दा होना (उसे अच्छी और साफ रखने में इन्कार करना) शरीर का बीमार और गन्दा रखने से भी बुरा है।

मुक्ति का अर्थ यही है कि आदमी हर तरह से अच्छा रहे। फिर आप अच्छे क्यों न रहें? अगर अच्छे रहेंगे, तो दूसरों को अच्छा रहने का रास्ता दिखा सकेंगे, और इससे भी बढकर अच्छा होने के कारण आप दूसरों की सेवा कर सकेंगे। लेकिन अगर आप अच्छे होने के लिए पेनिसिलिन लेते हैं, हालाँकि आप जानते हैं कि दूसरों को वह नहीं मिल सकती, तो जरूर आप सरासर स्वार्थी बनते हैं।

मुझे पत्र लिखनेवाले इन दोस्त के तर्क में जो गडबडी है, वह स्पष्ट है।

हाँ, यह ज़रूर है कि कुनैन की गोली या गोलियाँ खा लेना राम-नाम के उपयोग के ज्ञान को पाने से अधिक सरल है। कुनैन की गोलियाँ खरीदने के मूल्य से इसमें कहीं अधिक श्रम पडता है। लेकिन यह श्रम उन करोडों के लिए उठाना चाहिए, जिनके नाम पर और जिनके लिए लेखक राम-नाम को अपने हल से बाहर रखना चाहते हैं।

—सेवाग्राम, १७।८।१९४६। ह० ज०। ह० से० १।९।१९४६]

- **आत्मा का रोगी या गन्दा होना शरीर को बीमार और गन्दा रखने से भी बुरा है।**
- **मुक्ति का अर्थ यही है कि आदमी हर तरह से अच्छा रहे।**

१९२. ईश्वरनिर्भरता और सुरक्षा

समस्त मानवीय शक्तियाँ नाशमान हैं। हमारी सच्ची सुरक्षा तभी हो सकती है, जब हम भगवान पर पूरा भरोसा रखें।

—श्रीरामपुर, ३।१२।१९४६। ह० ज०। ह० से०, १२।१।१९४७]

१९३. ईश्वर

ईश्वर सब कुछ है, हम कुछ नही।

—बांकीपुर मैदान (बिहार) २८।४।१९४७। ह० से०, ११।५।१९४७]

१९४. सच्ची प्रार्थना

सच्ची प्रार्थना हृदय से पैदा होती है। वस्तुत वह मुह से बोले हुए शब्दो पर निर्भर नही रहती।

—दिल्ली, प्रार्थना-सभा ३।५।१९४७। ह० ज०। ह० से० १८।५।१९४७]

१९५. भगवन्नाम-महौषधि

सारी बीमारियो का एकमात्र इलाज सच्चे हृदय से भगवान का नाम जपना है।

—ह० ज०। ह० से०, २२।६।१९४७]

१९६. भगवदेच्छा

एक भाग्यवादी के नाते मैं मानता हू कि भगवान की इच्छा बिना एक तिनका भी नही डोलता।

—नई दिल्ली, २२।७।१९४७। ह० ज०। ह० से०, १०।८।१९४७]

१९७. राम ही चिकित्सक है

आज मेरा एकमात्र वैद्य मेरा राम है। . राम सारी शारीरिक, मानसिक और नैतिक बुराइयो को दूर करनेवाला है।

—बिड़ला भवन, नई दिल्ली, २७।९।१९४७]

१९८. ईश्वर-श्रद्धा

विषय-वासना के नाश हो जाने पर ही ईश्वर मे निहित श्रद्धा जागती है। दोनों चीजें साथ-साथ नही रह सकतीं।

—नई दिल्ली, १२।१०।१९४७। ह० ब०। ह० से०, १९।१०।१९४७]

१९९. राम-नाम-महौषधि

राम-नाम सारी बीमारियों का सबसे बड़ा इलाज है, इसलिए वह सारे इलाजों में श्रेष्ठ है।

—बिड़ला भवन, नई दिल्ली, २७।१०।१९४७। ह० ज०। ह० से० २६।-१०।१९४७]

२००. उपवास

जब मानवी बुद्धि काम नहीं करती तो अहिंसा का पुजारी उपवास करता है। उपवास से मन प्रार्थना की ओर तेजी से झुकता है। यानी उपवास एक आत्मिक वस्तु है और उसका रुख ईश्वर की ओर होता है।

—नई दिल्ली, १४।१२।१९४७। ह० से०, २१।१२।१९४७]

२०१. प्रार्थना जीवन का पोषण

प्रार्थना ही आत्मा का आहार है। हमें भगवान के पास से जो भोजन मिल सकता है वह दूसरी जगह नहीं मिल सकता।

—बिड़ला भवन, नई दिल्ली, १।१।१९४८। ह० से०, ११।१।१९४८]

२०२. धर्मों की बाह्य संज्ञा

जबतक अलग-अलग धर्म मौजूद हैं, तबतक प्रत्येक धर्म को किसी विशेष बाह्य चिह्न की आवश्यकता हो सकती है। लेकिन जब बाह्य संज्ञा केवल आडम्बर बन जाती है अथवा अपने धर्म को दूसरे धर्म से अलग बताने के काम आती है, तब वह त्याज्य हो जाती है।

—आत्मकथा, संस्करण १९५७]

२०३. आत्मा की शक्ति

मनुष्य को आत्मा की, अपनी शक्ति का पता नहीं है, इसीलिए वह मानता है कि इन्द्रियां वश में नहीं रहती या बुद्धि काम नहीं करती। आत्मा की शक्ति का विश्वास होते ही बाकी सब आसान हो जाता है।

—मंगल प्रभात। गीता-बोध, पृ० २१, स० सा० मं०, संस्करण १९५४]

२०४. संन्यासी

जो मनुष्य किसी वस्तु या मनुष्य का न द्वेष करता है, न कोई इच्छा रखता है, और सुख-दुःख, सर्दी- गर्मी इत्यादि द्वन्द्वो से परे रहता है, वह सन्यासी ही है, फिर वह कर्म करता हो या न करता हो। ऐसा मनुष्य सहज मे बन्धनमुक्त हो जाता है।
—गीता-बोध, स० सा० मं०, सस्करण १९५४]

२०५. दिव्य जीवन-धर्म

मेरा यह अनुभव है कि विनाश के बीच भी जीवन कायम रहता है। इसलिए विनाश से बढकर कोई कुदरती कानून ज़रूर है। ऐसे कानून के आधार पर ही सुव्यवस्थित समाज का अस्तित्व समझ मे आ सकता है और जीवन सुसह्य हो सकता है। ज्यो-ज्यो मैं इस कानून पर अमल करता हू, त्यो-त्यो मुझे जिन्दगी मे मजा आता है, सृष्टि की रचना मे आनन्द आता है। उससे मुझे जो शान्ति मिलती है, और प्रकृति के गूढ भाव समझने की जो शक्ति प्राप्त होती है, उसका वर्णन करना मेरी शक्ति से परे है।

जगत् का नियमन प्रेम-धर्म करता है। मृत्यु के होते हुए भी जीवन मौजूद ही है। प्रतिक्षण विध्वस चल रहा है, परन्तु फिर भी विश्व तो विद्यमान ही है। सत्य असत्य पर विजय प्राप्त करता है, प्रेम द्वेष को परास्त करता है, ईश्वर शैतान के दाँत खट्टे करता है।
—सर्वोदय वर्ष १ अंक ८, चतुर्थ आवरण पृष्ठ]

२०६. तत्वज्ञान

तत्वज्ञान अनुभवगम्य है और खुद के अनुभव से आनेवाली अवस्था है।
—बापू की छाया मे, बलवन्त सिह। न० जी० प्र० मं०, संस्करण १९५७]

२०७. तप

मानापमान सहन करना तो बडा तप है।
—बापू की छाया मे, बलवन्त सिह। न० जी० प्र० मं०, संस्करण १९५७]

२०८. उपासना की शक्ति

मैं कह सकता हूं कि कई आध्यात्मिक प्रसंगों में, वकालत के प्रसंगों में, संस्थाएं चलाने में, राजनीति में ईश्वर ने मुझे बचाया है। मैंने यह अनुभव किया है कि जब हम सारी आशा छोड़कर बैठ जाते हैं, हमारे दोनों हाथ टिक जाते हैं, तब कहीं-न-कहीं से मदद आ पहुंचती है। स्तुति, उपासना, प्रार्थना वहम नहीं है, बल्कि हमारा खाना-पीना, चलना-बैठना जितना सच है उससे भी अधिक यह वस्तु सच है। यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं कि यही सच है, बाकी सब झूठ है।

ऐसी उपासना, ऐसी प्रार्थना निरा वाणी-विलास नहीं होती। उसका मूल कण्ठ नहीं, हृदय है। इसलिए अगर हम हृदय की निर्मलता को पा लें, उसके तारों को सुसंगठित रखें, तो उनमें से जो सुर निकलते हैं गगनगामी होते हैं। उसके लिए जीभ की जरूरत नहीं होती। वह स्वभाव से ही अद्भुत वस्तु है। मुझे इस विषय में कोई शंका नहीं है कि विकाररूपी मलों की शुद्धि के लिए हार्दिक उपासना एक रामबाण औषधि है। पर इस प्रसादी के लिए हमारे अन्दर पूरी नम्रता होनी चाहिए।

—आत्मकथा, संस्करण १९५७]

२०९. ब्रह्मचर्य-पालन और उसके उपादान

ब्रह्मचर्य के सम्पूर्ण पालन का अर्थ ब्रह्मदर्शन है, यह ज्ञान मुझे शास्त्र के द्वारा नहीं हुआ। यह अर्थ मेरे सामने धीरे-धीरे अनुभव-सिद्ध होता गया। इस बारे में शास्त्र-वाक्य मैंने बाद में पढ़े। ब्रह्मचर्य में शरीर-रक्षण, बुद्धि-रक्षण और आत्मा का रक्षण है, व्रत लेने के बाद मुझे इसका दिन-दिन अधिकाधिक अनुभव होने लगा। कारण, अब ब्रह्मचर्य को घोर तपस्या रूप रहने देने के बदले रसमय बनाना था, उसी के सहारे निभाना था। इसलिए अब उसकी नित नई खूबियों के दर्शन होने लगे।

यद्यपि मैं इस व्रत का इस तरह रस लूट रहा था, पर कोई यह न समझे कि मैं उसकी कठिनाई का अनुभव नहीं करता था। आज छप्पन वर्ष पूरे हो चुके हैं फिर भी कठिनता का अनुभव तो होता ही है। वह असिधाराव्रत है—इसका अनुभव दिन-दिन अधिकाधिक हो रहा है। इस व्रत में सदा जाग्रत रहने की आवश्यकता दिखाई देती है।

ब्रह्मचर्य का पालन करना हो तो स्वादेन्द्रिय पर प्रभुत्व पाना ही चाहिए। मैंने स्वय अनुभव किया है कि अगर स्वाद को जीत लिया जाए, तो ब्रह्मचर्य का पालन बहुत सरल हो जाता है। इसलिए इसके बाद के मेरे आहार-सम्बन्धी प्रयोग सिर्फ अन्नाहार की दृष्टि से नही, बल्कि ब्रह्मचर्य की दृष्टि से होने लगे। मैंने प्रयोग करके अनुभव किया कि आहार थोडा, सादा, बिना मिर्च-मसाले का और प्राकृतिक स्थिति मे होना चाहिए। ब्रह्मचारी का आहार वनपक्व फल है, इसे मैंने अपने विषय मे छ साल तक प्रयोग करके देखा है। जब मैं सूखे और हरे वनपक्व फलो पर रहता था, तब जिस निर्विकार अवस्था का अनुभव मैंने किया, वैसा अनुभव आहार मे परिवर्तन करने के बाद मुझे नही हुआ। फलाहार के दिनो मे ब्रह्मचर्य स्वाभाविक हो गया था। दुग्धाहार के कारण वह कष्टसाध्य बन गया।

ब्रह्मचारी के लिए दूध का आहार विघ्नकारक है, इस विषय मे मुझे शका नही है। इससे किसी को यह अर्थ नही निकालना चाहिए कि ब्रह्मचारी मात्र के लिए दूध का त्याग इष्ट है। ब्रह्मचर्य पर खूराक का असर कितना पडता है, इस विषय मे बहुत प्रयोगो की आवश्यकता है।.

वाह्य उपचारो मे जैसे खूराक की किस्म और परिमाण की मर्यादा की आवश्यकता है, वही वात उपवास की भी समझनी चाहिए। इन्द्रिया ऐसी बलवान है कि उन्हे चारो तरफ से, ऊपर से और नीचे से, दस। दिशाओ से घेरा जाय, तभी वे अकुश मे रहती है। सब जानते है कि आहार के विना वे काम नही कर सकती। इसलिए इन्द्रिय-दमन के निमित्त इच्छापूर्वक किये हुए उपवास से इन्द्रियदमन मे वडी सहायता मिलती है, इस विषय मे मुझे तनिक भी शका नही। कितने लोग उपवास करते हुए भी इसमे असफल होते हैं। उसका कारण यह है कि उपवास ही सब कुछ कर सकेगा—ऐसा मानकर वे केवल स्थूल उपवास करते है और मन से छप्पन भोगो का स्वाद लेते रहते हैं। उपवास के दिनो मे वे उपवास खत्म होने पर क्या खायगे, इसके विचारो का स्वाद लेते रहते हैं और फिर शिकायत करते हैं कि न स्वादेन्द्रिय का सयम सधा, न जननेन्द्रिय का। उपवास की सच्ची उपयोगिता वही होती है जहा मनुष्य का मन भी देह-दमन का साथ देता है। मतलब यह कि मन को विषय-भोग के प्रति विराग होना चाहिए। विषय की जडें मन मे रहती हैं। उपवास आदि साधनो से बहुत मदद मिलती है, फिर भी वह आवश्यकता से कम ही होती है। कहा जा सकता है कि उपवास करते हुए भी मनुष्य विषयासक्त रह सकता है। पर उपवास के बिना विषयासक्ति का समूल नाश सम्भव नहीं है। इसलिए ब्रह्मचर्य पालन मे उपवास अनिवार्य अंग है।

ब्रह्मचर्य का प्रयत्न करनेवाले बहुतेरे असफल होते हैं, क्योंकि वे खाने-पीने देखने-सुनने में अब्रह्मचारी-जैसे रहना चाहते हैं और फिर भी ब्रह्मचर्य पालन की इच्छा रखते हैं। यह प्रयत्न वैसा ही कहा जायगा जैसा गरमी में जाड़े का मजा लेने की कोशिश करना। संयमी के और स्वच्छन्दाचारी के, भोगी के और त्यागी के जीवन में भेद होना अनिवार्य है। समता ऊपर से देखने भर की होती है, भेद स्पष्ट दिखाई देना चाहिए। आँखों से काम दोनों लेते हैं पर ब्रह्मचारी देव-दर्शन करता है, भोगी नाटक-सिनेमा में रमा रहता है। कानों से काम दोनों लेते हैं, पर एक ईश्वर-भजन सुनता है, दूसरे को विलासी गाने सुनने में मजा आता है। जागते दोनों हैं, पर एक जाग्रत अवस्था में हृदय-मन्दिर में विराजनेवाले राम को भजता है, दूसरा नाचरंग की धुन में सोना भूल जाता है। खाते दोनों हैं, पर एक शरीर रूपी तीर्थ-क्षेत्र की रक्षा भर के लिए देह को भाड़ा देता है, दूसरा स्वाद के लिए देह में भांति-भांति की चीजें भर कर उसे दुर्गन्धित कर डालता है। यों, दोनों के आचार-विचार में भेद रहा ही करता है और यह अन्तर दिन-दिन बढ़ता जाता है, घटता नहीं।

ब्रह्मचर्य का अर्थ है, मन-वचन-काया से समस्त इन्द्रियों का संयम। इस संयम के लिए ऊपर बताये गये त्यागों की आवश्यकता है, इसे मैं दिनानुदिन अनुभव करता रहा हूं और आज भी कर रहा हूं। त्याग के क्षेत्र की कोई सीमा नहीं है। ऐसा ब्रह्मचर्य थोड़े प्रयत्न से सिद्ध नहीं होता। करोड़ों लोगों के लिए वह सदा केवल आदर्शरूप रहेगा। क्योंकि प्रयत्नशील ब्रह्मचारी अपनी त्रुटियों का नित्य दर्शन करेगा, अपने अन्दर कोने में छिपकर बैठे हुए विकारों को पहिचान लेगा और उन्हें निकालने का सतत प्रयत्न करेगा। जबतक विचारों पर इतना अंकुश प्राप्त न हो जाय कि इच्छा के बिना एक भी विचार मन में न आये, तबतक ब्रह्मचर्य सम्पूर्ण नहीं कहा जा सकता। विचारमात्र विकार है। उन्हें वश में करने का मतलब है मन को वश में करना और मन को वश में करना तो वायु को वश में करने से भी कठिन है। फिर भी यदि आत्मा है तो यह वस्तु भी साध्य है ही। हमारे मार्ग में कठिनाइयां आकर बाधा डालती हैं, इससे कोई यह न माने कि वह असाध्य है। वह परम अर्थ है। और परम अर्थ के लिए परम प्रयत्न की आवश्यकता हो तो उसमें आश्चर्य ही क्या?

परन्तु ऐसा ब्रह्मचर्य केवल प्रयत्न-साध्य नहीं है, इसे मैंने (दक्षिण-अफ्रीका से) हिन्दुस्तान आने के बाद अनुभव किया। कहा जा सकता है कि तबतक मैं मूर्छा के वश में था। मैंने यह मान लिया था कि फलाहार से विकार समूल नष्ट हो जाते हैं, और मैं अभिमानपूर्वक यह मानता था कि अब मुझे कुछ करना बाकी नहीं है।

पर इस विचार के प्रकरण तक पहुँचने मे अभी देर है। इस बीच इतना कह देना जरूरी है कि ईश्वर-साक्षात्कार के लिए जो लोग मेरी व्याख्याओ के ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहते है, वे यदि अपने प्रयत्न के साथ ही ईश्वर पर श्रद्धा रखने वाले हो, तो उनके लिए निराशा का कोई कारण नही रहेगा।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।[1]
रसवर्जं रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

इसलिए रामनाम और रामकृपा, यही आत्मार्थी का अन्तिम साधन है।
—आत्मकथा, भाग ३, अध्याय ८]

- ब्रह्मचर्य के सम्पूर्ण पालन का अर्थ ब्रह्मदर्शन है।
- ब्रह्मचर्य मे शरीर-रक्षण, बुद्धि-रक्षण और आत्मा का रक्षण है।
- वह (ब्रह्मचर्य) असिधारा-व्रत है।
- ब्रह्मचारी के लिए दूध का आहार विघ्नकारक है।
- विषय की जड़ें मन मे रहती हैं।
- ब्रह्मचर्य-पालन मे उपवास अनिवार्य अग है।
- ब्रह्मचर्य का अर्थ है मन-वचन-काया से समस्त इन्द्रियो का सयम।
- त्याग के क्षेत्र की कोई सीमा नहीं है।
- करोडो लोगो के लिए वह (ब्रह्मचर्य) सदा केवल आदर्शरूप रहेगा।
- विचारमात्र विकार हैं।
- मन को वश मे करना . . .वायु को वश मे करने से कठिन है।
- रामनाम और रामकृपा, यही आत्मार्थी का अन्तिम साधन है।

२१०. ईश्वर-साक्षात्कार

तुम्हारे प्रश्नो के उत्तर निम्नलिखित हैं—

१. ईश्वर सत्य है।

२. इसलिए ईश्वर तक पहुँचने का मार्ग विचार, वाणी और कर्म से सत्य का अनुसरण करना है।

---

१. निराहारी के विषय तो शान्त हो जाते हैं, पर वासना का शमन नहीं होता। ईश्वर-दर्शन से वासना भी शान्त हो जाती है।

३ यदि हृदय से रामनाम लिया जाय तो आत्मसाक्षात्कार तक ले जाता है।

४. आत्मसाक्षात्कार का अर्थ सत्य का साक्षात्कार है।

—अंग्रेजी। वर्धा। श्री वी० सूर्यनारायण राजू को लिखे निजी पत्र से।]

२११. धर्म का तात्पर्य

धर्म से मेरा अभिप्राय औपचारिक धर्म या रूढ़िगत धर्म का नही, परन्तु उस धर्म का है जो सब धर्मों की बुनियाद है, और जो हमे अपने सिरजनहार का साक्षात्कार कराता है।

—एम० के० गांधी, ले० जोजेफ जे० डोक, पृष्ठ, ७, १९०९]

२
आचार-पक्ष
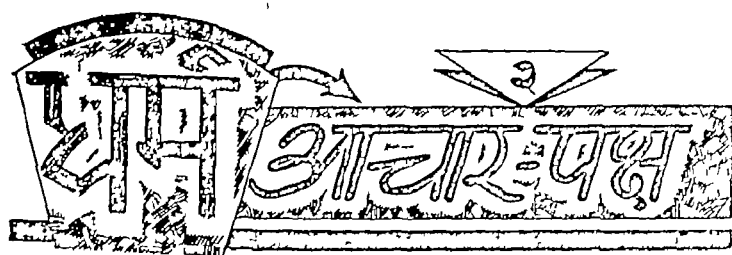
१. धर्म के विषय में भूल

किसी भी धर्म का मनुष्य क्यो न हो, वह अपने धर्म के बाहरी रूप का ही विचार करता है और अपने सच्चे कर्त्तव्य को भुला देता है। धन का अत्यधिक उपभोग करने मे दूसरे लोगो को क्या कष्ट होते है या होगे, इस बात का विचार हम शायद ही करते है। यदि अत्यन्त कोमल और नन्हे प्राणियो को मार कर उनकी खाल के कोमल दस्ताने बनाये जा सके तो ऐसे दस्ताने पहिनने मे युरोप की महिलाओ को तनिक भी हिचक नही होती। श्री राकफेलर ससार के धन-कुबेरो मे प्रथम श्रेणी के गिने जाते है। उन्होने अपना धन इकट्ठा करने मे नीति के अनेक नियमो को भग किया है, यह जगत्-प्रसिद्ध है। चारो ओर इस तरह की हालत देखकर युरोप तथा अमरीका मे बहुतेरे लोग धर्म के विरोधी हो गये है। उनका कहना है कि यदि दुनिया मे धर्म नाम की कोई चीज होती तो यह जो दुराचरण बढ गया है, उसे बढना नही चाहिए था। यह विचार भूल से भरा हुआ है। मनुष्य अपनी हमेशा की आदत के अनुसार अपना दोष न देख कर साधनो को दोष देता है। ठीक इसी तरह मनुष्य अपनी दुष्टता का विचार न करके धर्म को ही बुरा मानकर स्वच्छन्दतापूर्वक जी मे आये वैसा व्यवहार करता है और रहता है।

—गुजराती से। इ० ओ०। ५।१।१९०७]

२. स्वधर्म-पालन

प्रत्येक भारतीय अपने धर्म का पालन सचाई के साथ श्रद्धापूर्वक करे। हम सब मुख्य धर्मों को सच्चा मानते है इसलिए यदि प्रत्येक जाति अपने-अपने धर्म का उचित पालन करे तो ईश्वर मे उसका विश्वास दृढ हो जायगा और उसे सत्य ही प्रिय लगेगा। यदि हम ठीक तरह से अपने धर्म का पालन करे तो एक दूसरे के बीच झगडा न होगा अर्थात् एकता की रक्षा होगी। जो ठीक तरह से धर्म का पालन करना चाहते हैं वे अशिक्षित और अज्ञानी कदापि नही रह सकते। वे आलसी भी न रह सकेंगे।

—गुजराती। इ० ओ०, ४।४।१९०८]

३. देह-रक्षा

देह आत्मा से प्यारी न होनी चाहिए। जो मनुष्य आत्मा को जानता है और देह से आत्मा के अलग होने की बात भी जानता है, वह हिंसात्मक उपायो से देह की रक्षा न करेगा। यह बात बहुत कठिन है, लेकिन जिसके सस्कार बहुत पवित्र है, वह इस बात को सहज ही समझता है और उस पर आचरण करता है। यह मान्यता अत्यन्त भूल-भरी है कि आत्मा देह मे रहकर ही भला-बुरा कर सकती है। इस मान्यता के कारण ससार मे घोर पाप हुए है और अब भी हो रहे है।

—श्री मणिलाल गांधी को लिखे पत्र से। लन्दन, १७।९।१९०९]

४. दान : एक आदर्श

जिस दान को हम अपने हाथो करते है और जिसका उपयोग अपनी आँखो से होता देखते है उसके समान कोई दूसरा दान नही। हमारे देश मे जहाँ-जहा पश्चिम का प्रभाव नही पहुँच पाया है, वहाँ तो ऐसा ही है। गाँवो के लोग गाँव के तरीके से दान करते है, वे घर आये हुए गरीब को अपने भोजन का भी एक अश दे दिया करते है। उन्हे स्वप्न मे भी यह नही सूझता कि वे जिन्हे देख नही सकते उन्हे सहायता देने की इच्छा करे। वे जानते है कि ऐसा करने का विचार करना केवल दभ है और खुदाई का दावा करने के समान है।

—गुजराती। इं० ओ०, ९।१२।१९११]

५. मेरा प्रयत्न

[श्री मणिलाल गाधी को लिखे पत्र से]

मैं अपनी आत्मा को निर्विकार बनाने के प्रयत्नो से दुखी नही हो सकता। व्रतो से मुझे कोई कष्ट नही होता, उनमे मुझे सुख ही होता है।

—डर्बन, गुरुवार, १८।९।१९१३]

६. प्रभु-स्मरण

खेती करते, खाते, खेलते, घूमते, नहाते अथवा अन्य कोई भी (कार्य) करते समय हरि का नाम लेना उचित ही नही, बल्कि कर्तव्य है। जो रामभय होना चाहे,

और उसका प्रयत्न करे, तो उसके लिए अमुक समय की आवश्यकता नही, फिर भी युवको के लिए नियम की जरूरत तो होती ही है, इसलिए जो समय खेती करने का नही है, वह समय खास तौर से प्रार्थना के लिए निर्धारित कर लो। शास्त्रो का कथन है कि सन्ध्यादि सूर्योदय से पहिले करना चाहिए।

—लन्दन, मार्गशीर्ष वदी ८; १०।१२।१९१४। स० गा० वा० खण्ड १२, पृ० ५५१]

७. धर्म-शिक्षा की मर्यादा

धर्म और नीति की जितनी शिक्षा तुम्हारे काम आ सकती है, उतनी ही लेनी चाहिए।

—गुजराती। काठियावाड टाइम्स, १७।२।१९१५। गुजराती, २१।२।१९१५]

८. धर्मात्मा पुरुष

जो पुरुष सदाचारमय साधु जीवन बिताता है, जिसकी वृत्तियाँ सादी है, जो सत्य की मूर्ति है, विनम्र है, सत्य-स्वरूप है, जिसने अहकार का आत्यन्तिक त्याग किया है, वह पुरुष स्वय जाने या न जाने, धर्मात्मा ही है।

—४।२।१९१६ के पूर्व। गुजराती से। महात्मा गाधीनी विचारसृष्टि। स० गा० वा०,—खण्ड १३, पृ० २०५-२०६]

९. धार्मिक वृत्ति

हम सब निर्भयता, सत्यपरायणता, धैर्य, नम्रता, न्यायबुद्धि, सरलता, दृढता आदि गुणो का अपने मे विकास करके देश के हित मे उनका उपयोग कर सकते हैं। यह धार्मिक वृत्ति है। राजनीतिक जीवन को धर्ममय बनाया जाय, इस महावाक्य का यही अर्थ है।

—४।२।१९१६। गुजराती से। महात्मा गाधीनी विचारसृष्टि। स० गा० वा०, खण्ड १३, पृ० २१०]

१०. धर्माचरण में व्रतों का महत्व

आप पूछेंगे धर्म है क्या ? मेरा उत्तर होगा, वह धर्म नही जो ससार के धर्मग्रन्थो को पढने के पश्चात् प्राप्त होता है। वास्तव मे धर्म बुद्धि-ग्राह्य नही, हृदय-ग्राह्य है। यह हमारे बाहर की कोई चीज नही है। इस तत्व को तो हमे अपने अन्तर से उद्भूत और विकसित करना पडेगा। यह सदा हमारे अन्तर मे स्थित है। कुछ को इसकी चेतना होती है, कुछ को नही होती। तथापि वह वहाँ स्थित है। यदि हम कोई काम सही ढग से करना चाहते है और यदि उसे स्थायी बनाना चाहते है तो चाहे बाहरी मदद से, चाहे आन्तरिक विकास से, किसी भी तरह क्यो न हो, हमे धर्म की इस मूल प्रवृत्ति को जागरित करना ही होगा

हमारे धर्मशास्त्रो ने जीवन के कुछ ऐसे सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं जिन्हे स्वय प्रमाणित सत्य मानकर हमे स्वीकार कर ही लेना होगा। शास्त्रो का कहना है कि उन सिद्धान्तो के अनुसार आचरण किये बिना धर्म का स्थूल स्वरूप भी नही समझा जा सकता। पिछले अनेक वर्षो से इन शास्त्रीय अनुशासनो मे अविचल श्रद्धा रखकर और उनके अनुसार आचरण का प्रयत्न करने के बाद मुझे यह जरूरी जान पडा कि जो लोग मेरे इस विचार से सहमत हैं उनका सस्था-स्थापनार्थ सहयोग प्राप्त करे। हमने आश्रम का सदस्य बनने की इच्छा करनेवाले व्यक्ति के लिए जो आचार-नियम बनाये हैं आज मैं उन्हे आपके सामने रखना चाहता हूँ। इन आचार-नियमो मे से पहिले पांच यम कहलाते है।

सत्य का व्रत

सत्य का स्वरूप जैसा हम साधारणतया समझते है वह उससे भिन्न है। हमने तो समझ रखा है कि यथाशक्ति झूठ का सहारा न लेना ही सत्य है। अर्थात् हमारी धारणा का सत्य, वह सत्य नही है जिसका पालन ईमानदारी सर्वोत्तम नीति है, के विचार से किया जाता हो। इस कहावत में तो यह छुपा हुआ है कि यदि किसी परिस्थिति मे ईमानदारी सर्वोत्तम नीति-कौशल न लगे तो हम उससे हट सकते हैं, जब कि सत्य के व्रत का अर्थ तो यह है कि हमें अपना सारा जीवन किसी भी कीमत पर सत्य से ही अनुशासित रखना है।

अहिंसा का व्रत

अहिंसा का शाब्दिक अर्थ होता है न मारना। किन्तु मेरी दृष्टि मे इसका अर्थ बहुत व्यापक है। यदि मैं उसका अर्थ केवल न मारना करता तो यह शब्द

मुझे जिन ऊँचे, अनन्त ऊँचे मनोमय लोकों तक ले जाता है, उन तक मैं कभी न पहुँच पाता। अहिंसा का वास्तव में यह अर्थ है कि आप किसी का मन न दुखायें, जो अपने को आपका शत्रु मानता है उसके बारे में भी कोई अनुदार विचार मन में न रखें। इस बात में जो सावधानी है कृपया उस पर ध्यान दें। मैंने आप जिसे अपना शत्रु समझते है, नही कहा, जो आपको अपना शत्रु समझता है, कहा है। क्योंकि जो व्यक्ति अहिंसा के सिद्धान्त का पालन करता है उसके लिए तो किसी को अपना शत्रु मानने की गुंजाइश ही नही है, वह शत्रु का अस्तित्व नही मानता। किन्तु ऐसे लोग हो सकते है जो उसे अपना शत्रु माने, इसमें तो उसका कोई वश नही है। इसलिए इस बात पर जोर दिया गया है कि ऐसे व्यक्तियों के प्रति भी कोई दुर्भावना न रखी जाय। यदि हम घूँसे का जवाब घूँसे से देते है तो हम अहिंसा के सिद्धान्त से च्युत हो जाते है।

ब्रह्मचर्य-व्रत

जो लोग राष्ट्र की सेवा करना चाहते है या जो धार्मिक जीवन की सच्ची झाकी देखना चाहते है वे विवाहित हो या अविवाहित, उन्हे संयम का जीवन बिताना चाहिए। विवाह केवल एक स्त्री और एक पुरुष को पास-पास लाता है और वे विशिष्ट प्रकार से जन्म-जन्मान्तरो के लिए कभी न बिछुड़नेवाले मित्र बन जाते है, किन्तु मेरे ख्याल से विवाह-सम्बन्धी हमारी धारणा मे वासनाएं हो ही, यह जरूरी नही है।

अस्वाद-व्रत

अपनी पशु-वृत्तियो को सुगमता से वश मे करने की अभिलाषा रखनेवाला व्यक्ति अपनी स्वादेन्द्रिय पर काबू पा ले तो ऐसा कर सकता है मेरी समझ मे यह बहुत ही कठिन व्रत है।

अस्तेय-व्रत

मै कहना चाहता हूँ कि हम (सब) एक अर्थ मे चोर है। जिस चीज की मुझे तत्काल जरूरत नही है अगर मैं उसे लेकर रख लेता हूँ तो किसी को उससे वंचित कर रहा हूँ। मैं यह कहने का साहस करूँगा कि यह प्रकृति का एक मौलिक और निरपवाद नियम है कि हमारी रोजमर्रा की जरूरतो के लिए वह पर्याप्त चीजे पैदा करती रहती है और यदि हम जितना आवश्यक है, अपने लिए केवल उतना ही लिया करे तो संसार मे दारिद्र्य हो ही नही, कोई आदमी यहाँ भूखा न मरे।

अभय-व्रत

एक ही सत्ता, यदि उसके लिए सत्ता शब्द का प्रयोग ठीक हो, ऐसी है जिससे हमे डरना है और वह है ईश्वर। ईश्वर से डरें तो आदमी से डर नही, रहेगा वह चाहे जितना बडा क्यो न हो। आप किसी भी रूप मे सही, सत्य के व्रत का पालन करना चाहते है तो अभय उसकी अनिवार्य परिणति है। इसलिए भगवद्गीता मे अभय को ब्राह्मण का प्रथम अनिवार्य गुण माना गया है। . .

— आश्रम के व्रतों पर दिये गये भाषण से, १६।२।१९१६, अंग्रेजी से। इण्डिया रिव्यू, फरवरी १९१६। स० गां० वा० भाग १३, पृष्ठ २२८, २९, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४]

- **मैं कहना चाहता हूँ कि हम सब एक अर्थ मे चोर हैं।**
- **ईश्वर से डरें तो आदमी से डर नहीं रहेगा।**

११. धर्म अनिवार्य है

[बिहार-छात्र सम्मेलन मे दिये गये भाषण से।]

. . . . . अब मैं धर्म की बात पर आ गया। जहाँ धर्म नही वहाँ विद्या, लक्ष्मी, स्वास्थ्य आदि का भी अभाव होता है। धर्म-रहित स्थिति बिलकुल शुष्क होती है, शून्य होती है। हम धर्म की शिक्षा खो बैठे हैं। हमारी पढाई मे धर्म को जगह नही दी गई। यह तो बिना दूल्हे की बरात-जैसी बात है। धर्म को जाने बिना विद्यार्थी निर्दोष आनन्द नही ले सकते। यह आनन्द लेने के लिए शास्त्रो का पढना, शास्त्रो का चिन्तन करना और विचार के अनुसार कार्य करना जरूरी है। सुबह उठते ही सिगरेट पीने से या निकम्मी बातचीत करने से न अपना भला होता है, और न दूसरो का भला होता है। 'नज़ीर' ने कहा है कि चिडिया भी चू-चू करके सुबह-शाम ईश्वर का नाम लेती है, किन्तु हम तो लम्बी तान कर सोये रहते हैं। किसी भी तरह धर्म की शिक्षा पाना विद्यार्थी का कर्तव्य है। पाठशालाओ मे धर्म की शिक्षा दी जाय या न दी जाय, किन्तु इस समय यहाँ आये हुए विद्यार्थियो से मेरी प्रार्थना है कि वे अपने जीवन मे धर्म का तत्व प्रविष्ट करें। धर्म क्या है? धर्म की शिक्षा किस तरह की हो सकती है? इन बातो का विचार इस जगह नही हो सकता। परन्तु इतनी-सी व्यावहारिक सलाह अनुभव के आधार पर देता हूँ कि तुम रामचरितमानस के और भगवद्गीता के भक्त बनो। तुम्हारे पास मानस-रूपी रत्न पडा है, उसे ग्रहण कर लो। किन्तु इतना याद रखना कि इन दो ग्रन्थो की पढाई धर्म को समझने के लिए

करनी है। इन ग्रन्थो के लिखनेवाले ऋषियो का ध्येय इतिहास लिखना नही था, बल्कि धर्म और नीति की शिक्षा देना था। करोडो आदमी इन ग्रन्थो को पढते है और अपना जीवन पवित्र करते है। वे निर्दोष बुद्धि से इनका अध्ययन करते है और उनसे निर्दोष आनन्द लेकर इस ससार मे विचरते है। उनके मन मे स्वप्न मे भी यह शका नही उठती कि राम थे या नही, उन्होने जिस तरह रावण का वध किया उस तरह हम भी अपने शत्रु का वध कर सकते है या नही। वह तो शत्रु को सम्मुख देखते हुए भी राम की सहायता की याचना करके निभय रहता है। रामायण के प्रणेता तुलसीदास के पास तो शस्त्र के रूप मे एक दया ही थी। तुलसीदास किसी का सहार नही करना चाहते थे। जो उत्पन्न करता है वही नाश कर सकता है। राम ईश्वर, थे, उन्होने रावण को उत्पन्न किया था, उन्हे उसका सहार करने का अधिकार भी था। जब हम ईश्वर का पद प्राप्त करेंगे तब सोच लेगे कि सहार का अधिकार हमे है या नही। इन महान् ग्रन्थो के विषय मे मैंने कुछ शब्द कहने का साहस इसलिए किया है कि एक समय मै स्वय सशयात्मा था। और मुझे अपने जीवन के नष्ट हो जाने का भय था। मै उस अवस्था से निकलकर श्रद्धालु हो सका हू। इन पुस्तको ने मेरे ऊपर जो प्रभाव डाला है, उसका वर्णन करना मुझे उचित लगा। मुसलमान विद्यार्थियो के लिए कुरान शरीफ सब से ऊचा ग्रन्थ है। उन्हे भी मै इस ग्रन्थ का धर्म-भाव से अध्ययन करने की सलाह देता हू। कुरान शरीफ का रहस्य जानना चाहिए। मेरा यह भी विचार है कि हिन्दू-मुसलमानो को एक-दूसरे के धर्म -ग्रन्थो को विनय के साथ पढना और समझना चाहिए।

—भागलपुर, १५।१०।१९१७। गुजराती से। महात्मा गाधीनी, विचारसृष्टि। स० गा० वा० खण्ड १४, पृ० ९-१०]

- जहाँ धर्म नहीं, वहाँ विद्या, लक्ष्मी स्वास्थ्य आदि का भी अभाव होता है।
- धर्म-रहित स्थिति बिल्कुल शुष्क होती है, शून्य होती है।

१२. यम-नियम का पालन

[सुश्री एस्थर फॅरिंग को लिखे पत्र से]

यह कहना कि ससार मे पूर्णता प्राप्त करना सम्भव नही, ईश्वर से इन्कार करना है। हमारे लिए सर्वथा पाप-मुक्त होना सम्भव नही, स्पष्ट है कि यह कथन जीवन की एक अवस्था-विशेष के लिए ही सही है। परन्तु इसका समर्थन पाने के लिए शास्त्रो के

पन्ने पलटने की जरूरत नही। प्रयत्न द्वारा और यम-नियमो के पालन से हम मनुष्यो को हमेशा उन्नत से उन्नततर बनते देखते है।

—मोतीहारी, १३।१।१९१८। अंग्रेजी। 'माई डियर चाइल्ड।' सं० गां० वां०, खण्ड १४, ृ० १३३]

१३. शुद्ध धर्म-वृत्ति

इस कठिन कलिकाल मे शुद्ध धर्म-वृत्ति विरली ही जगह देखने मे आती है। ऋषियो, मुनियो, साधुओ आदि के नाम से जो लोग आज हमे भ्रमण करते हुए दिखाई देते है, उनमे यह वृत्ति शायद ही कभी दीख पडती हो। यह तो सभी देख सकते है कि धर्म के कोष की चाबी उनके पास नही है। धर्म क्या है, इसे भक्त-शिरोमणि कवि नरसी मेहता ने एक ही सुन्दर वाक्य मे बहुत अच्छी तरह प्रकट किया है। वह कहते है —

ज्यां लगी आतमा-तत्व[1] चीन्यो नहीं,
त्यां लगी साधना सर्व जूठी।

यह अपने अनुभव-सागर मे से निकला हुआ उनका एक वचन है। इससे हमारी समझ मे आ जाता है कि महातपस्वी या योग की सारी क्रियाएँ जाननेवाले महायोगी मे भी हमेशा धर्म का वास नही होता। प्रत्येक युग मे मोक्ष की ओर ले जाने वाली कुछ प्रधान प्रवृत्तियाँ दीख पडती है। जब-जब धर्म की शिथिलता दीख पडती है, तब-तब ऐसी ही किसी प्रधान प्रवृत्ति के जरिए धर्म-जागृति होती है। ऐसी प्रवृत्ति हमेशा तत्कालीन वातावरण के अनुरूप हुआ करती है।

— १९।२।१९१८ के पूर्व। गुजराती से। 'गोपालकृष्ण गोखलेना व्याख्यानो; खण्ड १। सं० गा० वां०; खण्ड १४; पृष्ठ १८८]

१४. धर्म-साधना

मेरा यह अटल विश्वास है कि धर्म की भावना का उपाय धर्माचरण करना है, भजन गाना और कीर्तन करना भर नही। हमे आत्मज्ञान अर्थात् आत्मशक्ति का ज्ञान प्राप्त करना है।

—नडियाद मे दिये गये भाषण मे, १२।४।१९१८। गुजराती। खेडा सत्याग्रह। सं० गां० वां०, खण्ड १४, पृ० ३१९]

---

१. जब तक आत्म-तत्त्व को नहीं पहिचाना, सारी साधना झूठी है।

१५. रूढ़िधर्म त्याज्य है

[श्री रणछोडलाल पटवारी को लिखे गये पत्र से]

रूढि-धर्म का तनिक भी आदर नहीं किया जाना चाहिए। शुद्ध धर्म अचल है, रूढि-धर्म समयानुसार बदला जा सकता है।

—सत्याग्रहाश्रम, सोमवार, गणेश चतुर्थी, ९।९।१९१८। स० गा० वा०, खण्ड १५, पृ० ४७]

१६. व्रत

[सुश्री एस्थर फॅरिंग को लिखे गये पत्र से]

किसी बात को करने या न करने का पक्का निश्चय करने का ही नाम व्रत है। मुक्ति-सेना[1] के सदस्यगण आत्मसंयम के सप्ताह में मुरब्बा या अन्य कोई खाद्य पदार्थ एक निश्चित समय तक न खाने का व्रत लेते हैं। लेंट के दिनों में रोमन कैथोलिक ईसाई कुछ परहेज रखते हैं। यह भी व्रत ही है। इन सब बातों में एक से ही परिणामों की अपेक्षा की जाती है, यानी आत्मा की शुद्धि और अभिव्यक्ति। ऐसे संकल्प करके हम शरीर को वश में करते हैं। देह पार्थिव है, जड है, आत्मा चेतनामय है। जड और चेतन के बीच आन्तरिक संघर्ष हो रहा है। जड की चेतन पर विजय हो जाये तो आत्मा का विनाश हुआ समझना चाहिए। यह तो सभी जानते हैं कि जिस हद तक हम शरीर-सुख का भोग करेंगे और आत्मा की उपेक्षा करेंगे, उसी हद तक यह विनाश होगा। शरीर अथवा जड तत्व का भी उपयोग तो है ही। वही आत्मा की अभिव्यक्ति का साधन है। किन्तु यह परिणाम तभी प्राप्त किया जा सकता है, जब शरीर का उपयोग आत्मोन्नति के साधन के रूप में किया जाय। मानव-कुल का बहुत बडा भाग अपने शरीर का यह उपयोग नहीं करता। परिणामस्वरूप शरीर अथवा जड तत्व की आत्मा अथवा चेतन तत्व पर विजय होती दिखाई देती है। लेकिन हम, जो यह जानते हैं कि यह शरीर सदा परिवर्तनशील है और नश्वर है और उसमें रहनेवाली आत्मा ही अविनाशी है, उन्हें तो दृढ संकल्प करके अपने शरीर पर इतना काबू पा लेना चाहिए कि आत्मा की सेवा के लिए वे उसका पूरा उपयोग कर सकें।

---

१ साल्वेशन आर्मी या मुक्ति-सेना की स्थापना १८८० में विलियम बूथ ने की थी। यह संगठन धार्मिक कोटि के सहायता-कार्य करता है।

बाइबिल के नये करार (न्यू टेस्टामेण्ट) मे यह विचार काफी स्पष्ट कर दिया गया है। परन्तु हिन्दू-शास्त्रो मे वह जितनी परिपूर्णता के साथ और विशद रूप मे समझाया गया है, उतना मैंने और कही नही देखा। रामायण और महाभारत के पन्ने-पन्ने पर तुम आत्मसयम का यह नियम लिखा पाओगी। क्या ये दो ग्रन्थ तुमने पढे हैं ? न पढे हो तो जितनी जल्दी हो सके, ध्यानपूर्वक और श्रद्धा से पढ लेने चाहिए। इन दोनो ग्रन्थो मे परियो की कहानियो-जैसी बहुत-सी चीजे भी आती है। परन्तु ये ग्रन्थ साधारण जनता के लिए लिखे गये है, इसलिए इनके रचयिताओ ने जान-बूझकर ऐसी शैली मे लिखना पसन्द किया कि आम जनता के लिए वे रोचक बन जाय। करोडो लोगो को सत्य समझाने का सरल-से-सरल ढग उन्होने अपनाया है, और हजारो वष का अनुभव सिद्ध करता है कि उन्हे इसमे अद्भुत सफलता मिली है। मेरी बात अच्छी तरह समझ मे न आये अथवा शका हो तो मुझे लिखो, मैं दुबारा समझाने की कोशिश करूगा।

—बम्बई, २५।१।१९१९। अंग्रेजी से। स० गा० वां०, खण्ड १५, पृ० ७९,-८०]

- देह पार्थिव है, जड़ है, आत्मा चेतनामय है।
- जड़ की चेतन पर विजय हो जाय तो आत्मा का विनाश समझना चाहिए।
- जिस हद तक हम शरीर-सुख का भोग करेंगे और आत्मा की अपेक्षा करेंगे, उसी हद तक यह विनाश होगा।

१७. उपवास

लोग जब धार्मिक वृत्ति से उपवास करते हैं और अपने दु ख की पुकार ईश्वर के सामने रखते है तब उन्हे उसका उत्तर निश्चय ही मिलता है। कठोर-से-कठोर हृदय पर भी उसका असर होता है। सभी धर्मों मे उपवास को महासयम माना गया है। जो स्वेच्छा से उपवास करते है, वे उसके द्वारा नम्र बनते है और शुद्ध होते हैं। शुद्ध उपवास बडी कारगर प्रार्थना है।

—७।५।१९१९। गुजराती। महादेव भाईनी डायरी, खण्ड ५। स० गां० वां०, खण्ड १५, पृ० २९४]

- शुद्ध उपवास बड़ी कारगर प्रार्थना है।

१८. प्रार्थना आत्मा का भोजन है

[श्री रामदास गांधी को लिखे गये पत्र से]

प्रातःस्मरण करते हो? न करते हो तो फिर याद दिलाता हूँ कि अवश्य करना क्योंकि मेरा विश्वास है कि वह बहुत ही श्रेयस्कर है। उसका मूल्य तुम्हें समझ पड़ने पर मालूम होगा तथा विचारपूर्वक किये गये प्रातःस्मरण और सन्ध्यादि का मूल्य तो दिन-प्रतिदिन लगाया जा सकता है। यह तो अपनी आत्मा को भोजन देना है। जैसे शरीर भोजन के बिना सूख जाता है, वैसे ही आत्मा भी यदि उसे उचित भोजन न मिले तो मुरझा जाती है।

—आश्रम, १।६।१९१९। गुजराती से। महादेव भाईनी डायरी, खण्ड ५। सं० गां० वा०, खण्ड १५, पृ० ३४८]

१९. धर्माचरण और धर्मगुरु

समस्त संसार में धर्म की भावना इतनी गौण हो गई है कि धर्म के नाम पर अधर्म फैल रहा है और मनुष्य स्वयं अपनी अन्तरात्मा को ठग रहा है। कहने में आता है कि हम धर्म का पालन करते हैं, जब कि प्रवृत्ति अधर्म में होती है। अधर्म से रुपया कमाकर उसे धर्म-कार्य में दान करने से यह नहीं कहा जा सकता कि धर्म का पालन हो गया।

हमारा धर्म तो यह है कि हम चाहे भूखों मर जायँ, किन्तु धर्म का त्याग न करें और जबतक हम ऐसा नहीं करते तबतक धर्म हमारे जीवन का आधार नहीं हो सकता।

हमारे धर्मगुरु, जिनका कर्तव्य ज्ञान आदि देना है, अपना कर्तव्य भुला बैठे हैं। यह बात चाहे कितनी ही दुःखद क्यों न हो, फिर भी सत्य है। धर्म-गुरु अपने आचरण से अनुयायियों का मार्ग-दर्शन कर सकते हैं। केवल उपदेश देने से श्रोताओं पर प्रभाव नहीं पड़ता।

—बम्बई, २८।६।१९१९। 'गुजराती' ६।७।१९१९। सं० गां० वा०, खण्ड १५ पृ० ४१३]

२०. उपवास एवं प्रार्थना

यह मेरी धारणा और मेरा अनुभव है कि यदि उपवास और प्रार्थना सच्चे हृदय से धार्मिक भावना के साथ की जाय तो उससे श्रेष्ठ परिणाम प्राप्त किये जा सकते

हैं। उपवास से बढकर शुद्ध करनेवाली कोई वस्तु नही है लेकिन प्रार्थना के बिना उपवास निष्फल है। यह रुग्ण व्यक्ति को स्वस्थ कर सकता है अथवा यह केवल स्वस्थ व्यक्ति के लिए हो सकता है, जो अनावश्यक रूप से रुग्णता अनुभव करता हो। शुद्ध दिखावे के लिए या दूसरो को कष्ट पहुंचाने के लिए किया गया उपवास कभी शान्त न होनेवाला पाप है। अतएव यह केवल तपस्या के रूप मे किसी पर कुछ प्रभाव डालने के लिए किया प्रार्थनापूर्ण उपवास ही है, जिसे धार्मिक उपवास कहा जा सकता है। प्रार्थना का अर्थ प्रभु से सासारिक सुखो की भिक्षा मॉगना या उन वस्तुओ का मॉगना नही है जिससे किसी का स्वार्थसाधन होता है। यह कष्टित आत्मा की करुण पुकार है। यह समग्र ससार को प्रभावित किये बिना रह नही सकती और ईश्वर के दरबार को भी इसे अवश्य सुनना होगा। जब कोई व्यक्ति या राष्ट्र किसी बडी विपत्ति से ग्रस्त होता है तो उस दुख के प्रति सच्ची सजगता प्रार्थना है। इस पवित्र करने वाले ज्ञान की उपस्थिति मे भोजन आदि भौतिक क्रियाए कम महत्वपूर्ण हो जाती है।

—मूल गुजराती। 'नवजीवन', १२।१०।१९१९। अग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गाधी, खण्ड १६, पृ० २३०]

- उपवास से बढ़कर शुद्ध करनेवाली कोई वस्तु नहीं है।
- प्रार्थना के बिना उपवास निष्फल है।
- शुद्ध दिखावे के लिए या दूसरो को कष्ट पहुँचाने के लिए किया गया उपवास कभी शान्त न होने वाला पाप है।
- यह (प्रार्थना) कष्टित आत्मा की करुण पुकार है।

२१. धर्म अपरिवर्तनीय है

[कुमारी एस्थर फेरिंग को लिखे पत्र से]

तुम्हारा धर्म सब चीजो से ऊपर होना चाहिए। यह कोई मशीनी चीज नही, जो इच्छा होने पर बदल दी जाय।

—कलकत्ता जाते हुए मार्ग मे, २।९।१९२०। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गाधी, खण्ड १८, पृ० २२३]

२२. धर्म-शुद्धि

धर्म को उसकी ग्रन्थि मे मुक्त करना निश्चय ही आवश्यक है किन्तु यह भी समान रूप से आवश्यक है कि उन लोगो के नैतिक बहानो का खोखलापन प्रकट

कर दिया जाय जो नैतिक प्राप्तियों के लिए भौतिक सम्पत्ति का त्याग कर देते है। एक गुण्डे को उसके गोहदेपन से विमुख करने की अपेक्षा एक अज्ञानी प्रमादी को उसकी भूल से विमुख करना अधिक सरल है।

—य० इं०, ८।९।१९२०। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गांधी, खण्ड १८, पृ० २३६]

२३. ब्रह्मचर्य-पालन के नियम

१ लड़के और लड़कियों का पालन-पोषण सरल और प्राकृतिक रूप से इस पूर्ण विश्वास के साथ किया जाना चाहिए कि वे अबोध है और रह सकते है।

२ इन सबको गर्म और उत्तेजक भोजन, मसाले तथा मिर्च, चिकने पदार्थ, गरिष्ठ पदार्थ जैसे फ्रिटर (फल और अण्डे या दूध मे मिलाकर बनी टिकिया), मिठाइयों और तली चीजों से बचाना चाहिए।

३ पति-पत्नी को अलग कमरों में रहना चाहिए और एकान्त बचाना चाहिए।

४ शरीर और मन दोनों को सतत और स्वस्थ रूप में सक्रिय रहना चाहिए।

५ जल्दी सोने और जल्दी उठने का नियम सख्ती से पालन करना चाहिए।

६ सभी गन्दा साहित्य बचाना चाहिए। अपवित्र विचारों की काट पवित्र विचार है।

७ थियेटर और सिनेमा को, जो वासना भड़काने की ओर ले जाते है, छोड़ देना चाहिए।

८ स्वप्नदोष से चिन्ता नही होनी चाहिए। एक सशक्त व्यक्ति के लिए हरबार ठंडे जल से स्नान इस मामले में सबसे अच्छी रोक है। यह कहना गलत है कि कभी-कभी सहवास अनैच्छिक स्वप्नदोष से बचाव कर सकता है।

९ सबके ऊपर किसी व्यक्ति को पति-पत्नी के बीच संयम का इतना कठिन नहीं समझना चाहिए कि वह व्यावहारिक रूप से असम्भव हो। इसके विपरीत आत्म-संयम को जीवन का सामान्य और प्राकृतिक व्यवहार समझना चाहिए।

१० प्रतिदिन पवित्रता के लिए हृदय से निकली प्रार्थना व्यक्ति को प्रगतिशील रूप से पवित्र बनाती है।

—य० इं०, १३।१०।१९२०। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गांधी खण्ड १८, पृ० ३४८]

२४. धर्माचरण का मूल तत्व

[स्त्रियो की सभा में दिये गये भाषण से।]

आप सब इस तीर्थ-स्थान मे भक्ति की भावना लेकर आये हैं। आप सम्भवत मानते हैं कि आप डाकोर के दर्शन से पापमुक्त होगे, या यदि आप गोमती मे डुबकी लगायेंगे तो आपके हृदय की अभिलाषाए स्वीकृत होगी। आपमे से कुछ लोग यह सोचते होगे कि इस गाधी की तरह महात्मा के दर्शन से वे पवित्र हो जायंगे। यह सत्य से बहुत परे है। वस्तुत आप अपने हृदय को पवित्र किये बिना केवल गोमती मे स्नान करते हैं तो उसे दूपित करते हैं। .दर्शन तभी लाभप्रद हो सकता है जब हम अपने हृदय को पवित्र करे, उसे सद्‌विचारो से भरे और आत्मज्ञान प्राप्त करे। आप स्वय भी कहेगे मुझ-जैसे सशयात्मा के लिए या एक ईसाई के लिए यह दर्शन क्या लाभ कर सकता है। मैं आपके सामने स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि जबतक हृदय और मन पवित्र नही हैं, रणछोड जी का दर्शन या गोमती मे स्नान कोई लाभ नही कर सकता।

—डाकोर २७।१०।१९२०। गुजराती। न० जी०, ३।११।१९२०। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गाधी, खण्ड १८, पृ० ३९१]

- **जब तक हृदय और मन पवित्र नहीं है, रणछोड जी का दर्शन या गोमती मे स्नान कोई लाभ नहीं कर सकता।**

२५. ईश्वर का नाम-स्मरण

...ईश्वर का नाम सतत रूप से ओठ पर रहना आवश्यक है। किन्तु तोते की तरह राम-नाम रटना आपको मोक्ष नही देगा। यदि आपके हृदय मे राम है तो आप दया का अनुभव करेंगे और हृदय मे दया रहने पर आप ऐसा व्यवहार नही करेंगे जिससे दूसरो को चोट पहुँचे।

—गुजराती। न० जी०, ३।११।१९२०। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गांधी, खण्ड, १८, पृ० ४०२-०३]

२६. धर्म-पालन

हम धर्म के द्वारा अधर्म को पराजित कर सकते हैं। हम स्वय धर्म-सम्मत जीवन व्यतीत कर लोगो को अधर्म के मार्ग पर जाने से रोक सकते हैं।

—न० जी०, १४।११।१९२० और २१।११।१९२०। मूल गुजराती। अंग्रेजी से अनूदित]

२७. अधर्म के विनाश का मार्ग

अधर्म को नष्ट करने का मार्ग धर्म की स्थापना करना है। वह व्यक्ति जो धर्म के प्रति आदर नहीं रखता, किस प्रकार दूसरे के प्रति अपने नमा होने के लिए अंगुली उठा सकता है। चलनी को सूप पर हंसने का क्या अधिकार है? अधर्म केवल धर्म-द्वारा विनष्ट किया जा सकता है।

—मूल गुजराती। न० जी०, २१।११।१९२०। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गांधी, खण्ड १९, पृ० ११]

२८. मोक्ष का मार्ग : पवित्रता

[श्री जमनालाल बजाज को लिखे पत्र से]

ऐसा समझो कि अपवित्र विचार से जो मुक्त हो जाय उसने मोक्ष प्राप्त किया। अपवित्र विचारों का सर्वथा नाश बड़ी तपश्चर्या से होता है। उसका एक ही उपाय है। अपवित्र विचारों के आते ही उनके विरुद्ध तुरन्त पवित्र विचार खड़े कर दे। ईश्वर-प्रसादी से ही यह सम्भव है। यह प्रसादी चौबीसों घण्टे ईश्वर का नाम जपने से तथा वह ईश्वर अन्तर्यामी है, यह जान लेने से ही मिलती है। भले रामनाम जीभ पर ही हो और मन में दूसरे विचार आते रहें। जीभ से रामनाम इतना प्रयत्न-पूर्वक लें कि अन्त में जो जीभ पर हो वही हृदय में भी प्रथम स्थान ले ले। फिर मन चाहे जितना मिथ्या प्रयत्न करे तो भी एक भी इन्द्रिय उसके वश में नहीं होने देनी चाहिए। जो मनुष्य मन जिधर ले जाय उधर इन्द्रियों को भी जाने देता है उसका नाश ही होता है। परन्तु अपनी इन्द्रियों को जो मनुष्य बलात् भी अपने कब्जे में रखता है तो यह आशा है कि वह किसी दिन अपवित्र विचारों पर भी अधिकार कर लेगा। मैं जानता हूं कि आज भी अगर मैं अपने विचारों के अनुसार अपनी इन्द्रियों को खुली छोड़ दूं तो आज ही मेरा नाश हो जाय। अपवित्र विचार आयें तो उससे पीछे न हटें बल्कि अधिक उत्साहित हों। प्रयत्न करने का सम्पूर्ण क्षेत्र हमारे पास है। परिणाम का क्षेत्र ईश्वर ने अपने हाथ में रखा है। इसलिए उसकी चिन्ता मत करो। जब मन में अपवित्र विचार आयें, यह समझो कि तुम जानकीबाई[1] के प्रति बेवफा होते हो। और साधु पति अपनी पत्नी के प्रति बेवफा होता ही नहीं। तुम साधु हो। प्राकृत उपाय जानते ही हो। अल्पाहार ही करें। सिर्फ अपने

---

१ श्री जमनालाल बजाज की पत्नी।

सामने की जमीन पर निगाह रखकर ही चले। आँखे मलिन होने की सम्भावना हो कि उसे फोड डालने जितना क्रोध उनपर करना चाहिए। निरन्तर पवित्र पुस्तको का ही सग रखे। ईश्वर तुम्हारा सब प्रकार रक्षण करे।

—५।१०।१९२२। बापू के पत्र : बजाज परिवार के नाम, पृ० २९-३० अ० भा० स० से० स०]

- **अपवित्र विचारो का सर्वथा नाश बड़ी तपश्चर्या से होता है।**
- **जो मनुष्य मन जिधर जाय उधर इन्द्रियो को भी जाने देता है, उसका नाश ही होता है।**

२९. धर्म और व्यवहार

धर्म और व्यवहार, ये दोनो सदा परस्पर-विरुद्ध वस्तुएँ नही हैं। जब व्यवहार धर्म का विरोधी दीख पडे तो वह त्याज्य है। धर्म की परीक्षा तभी होती है जब वह व्यवहार मे परिणत होता है। धर्म के लिए सामान्य कार्यकुशलता के अलावा कुछ और बातो की जरूरत होती है। विवेक, विचार आदि गुणो के बिना धर्म का पालन असम्भव है। आजकल तो धनार्जन मे व्यस्त सेठ-साहूकार सरलचित्त से, बिना विचारे, अनेक प्रकार के दान करते हैं। और जो सस्थाएँ उन दोनो का शिकार होती है, उनके व्यवस्थापक भी बिना विचार किये उन्हे चलाते है और हम उनका अनुमोदन करते हैं। इस तरह तीनो पक्ष के लोग अज्ञान मे ठगे जाते हैं और समझते है कि वे धर्म करते हैं। सत्य यह है कि इस प्रकार धर्म के नाम पर अनेक बार पूरा अधर्म होता है। यदि तीनो पक्ष, अथवा एक भी पक्ष विवेकपूर्वक धर्म को समझे और उसके अनुसार चले तो प्रत्येक सस्था शुद्ध धर्म से चमक उठे।

—न० जी०। हि० न० जी०, २७।४।१९२४]

- **जब व्यवहार धर्म का विरोधी दीख पडे तो वह त्याज्य है।**

३०. शास्त्रार्थ

शास्त्रार्थ का व्यवसाय वकीलो के पेशे की तरह है। शास्त्रार्थ करनेवाला स्याह को सफेद और सफेद को स्याह करके दिखा सकता है। इसका अनुभव किसे नही होता? बहुत से वेद-वाद-रत प्राणी वेद मे अनेक बातें सिद्ध करते है। और वैसा ही नाम धारण करनेवाले अन्य अनेक लोग वेद से उनके विरुद्ध बातें जोर देकर सिद्ध करते हैं। मैं अपने-जैसे प्राकृत मनुष्यो को एक सरल उपाय बतलाता हूँ, जिसका

३३. संकल्प-शक्ति और चमत्कार

[एक मनोविज्ञान शास्त्री-द्वारा गांधी जी से किये गये प्रश्न और उनके उत्तर।]

प्रश्न—आप स्वतन्त्र संकल्प-शक्ति को मानते है ?

उत्तर—मै मानता हूँ कि मै परिस्थिति के अधीन हूँ, देश और काल के अधीन हूँ। फिर भी परमेश्वर ने मुझे कुछ स्वतन्त्रता दे रखी है और मै उसकी रक्षा कर रहा हूँ। मै समझता हूँ कि धर्म और अधर्म को जानकर उनमे से जो पसन्द हो उसे ग्रहण करने की मुझको स्वतन्त्रता है। मुझको ऐसा कभी प्रतीत नही हुआ कि मुझे स्वतन्त्रता नही है। परन्तु यह निर्णय करना कठिन है कि कोई कार्य करने की स्वतन्त्रता अपना रूप बदलकर कहाँ कर्त्तव्य बन जाती है। अवशता और परवशता की सीमा बहुत ही सूक्ष्म है।

प्रश्न—आप चमत्कारो मे विश्वास रखते हैं ? आग पर चलना तथा ऐसी ही दूसरी जो बातें सुनी जाती हैं, उनके बारे मे आपकी क्या राय है ?

उत्तर—यह सच हो सकता है। पर मैने कभी इस पर गौर नही किया, इसमे कभी दिलचस्पी नही ली। हमारे शास्त्र तो इसका निषेध करते है। जो इसके मोह-जाल मे फँसते है वे मानो जन्म-मरण के फेरे मे फंस चुके है और उनके मुक्ति का मार्ग नही है। शास्त्र-वचन तो यही है। पर मैं यह नही मानता कि ऐसी बाते असम्भव हैं।

प्रश्न—पर क्या जनकल्याण के लिए इसका उपयोग नहीं हो सकता ?

उत्तर—नही, यदि ऐसा होता तो इन चमत्कारियो के द्वारा अब तक कुछ जन-कल्याण हुआ होता। फिर यह कोई ऐसी शक्ति नही जो आसानी से प्राप्त कर ली जाय या जिसकी जरूरत भी हो। यदि ऐसा होता तो वह सत्यानाश कर बैठती। प्रकृति के नियम को उलट देने मे क्या आनन्द है ? यदि किसी के हृदय मे यही तरग उठे कि मैं सहारा के रेगिस्तान मे पानी निकालूँगा और वह निकाल भी ले तो इससे क्या लाभ ? कुदरत का तख्ता उलटने से लाभ ही क्या ?

—न०जी०। हि० न० जी०, १४।१२।१९२४]

- **अवशता और परवशता की सीमा बहुत ही सूक्ष्म है।**
- **प्रकृति के नियम को उलट देने मे क्या आनन्द है ?**

३४. राम-नाम

[श्री घनश्यामदास बिड़ला को लिखे पत्र से।]

इस कलि-काल मे मैं राम-नाम को बड़ी वस्तु समझता हूँ। मेरे अनुभव मे ऐसे मित्र है, जिनको रामनाम से बड़ी शान्ति मिली है। राम-नाम का अर्थ ईश्वर

नाम है, मन्त्र भी वही फल देता है। जिस नाम का अभ्यास हो उसका स्मरण करना चाहिए। विषयासक्त संसार में चित्त-वृत्ति का निरोध कैसे हो, ऐसा प्रश्न होता ही रहता है। निर्विकार बनना शक्य है, इसमें मुझे कोई शक नहीं। प्रत्येक मनुष्य का यह चेष्टा करना अपना कर्तव्य है। निर्विकार होने के साधन हैं। साधनों में राजा राम-नाम है। प्रातःकाल उठते ही राम-नाम लेना और राम से कहना 'मुझे निर्विकार कर'—मनुष्य को अवश्य निर्विकार करता है। किसी को आज, किसी को कल। शर्त यह है कि यह प्रार्थना हार्दिक होनी चाहिए। बात यह है कि प्रतिक्षण हमारे स्मरण में हमारी आँखों के सामने ईश्वर की अमूर्त मूर्ति खड़ी होनी चाहिए। अभ्यास से इस बात का होना सरल है।

—बम्बई, १३।४।१९२५। 'गांधी जी की छत्रछाया में']

३५. राम-नाम की महिमा

हम पापों का प्रायश्चित्त तो तपश्चर्या के द्वारा कर सकते हैं। पाप का प्रक्षालन गायत्री के जप से हो सकता है। पर उसके लिए मैं अवकाश नहीं देखता। इन तमाम महाजजालों से छूटने का रामबाण उपाय तुलसीदास ने राम-नाम बताया है।

राम-नाम के प्रताप से पत्थर तैरने लगे। राम-नाम के बल वानरसेना ने रावण के छक्के छुड़ा दिये, रामनाम के सहारे हनुमान ने पर्वत उठा लिया और राक्षसों के घर अनेक वर्ष रहने पर भी सीता अपना सतीत्व बचा सकी। भरत ने चौदह वर्ष तक प्राण धारण कर रखा, क्योंकि उनके कण्ठ से राम-नाम के सिवा दूसरा कोई शब्द नहीं निकलता था। इसी कारण तुलसीदास ने कहा कि कलिकाल का मल धो डालने के लिए राम-नाम जपो।

इस प्रकार प्राकृत और संस्कृत, दोनों प्रकार के, मनुष्य राम-नाम लेकर पवित्र होते हैं। परन्तु पावन होने के लिए राम-नाम हृदय से लेना चाहिए। जिह्वा और हृदय को एक रस करके राम-नाम लेना चाहिए।

मैं अपना अनुभव सुनाता हूँ। मैं यदि संसार में व्यभिचारी होने से बचा हूँ तो राम-नाम के कारण। मैंने दावे तो बड़े-बड़े किये हैं, किन्तु यदि मेरे पास राम-नाम न होता तो मैं तीन स्त्रियों को बहिन कहने योग्य न रहता। मुझ पर जब-जब विकट प्रसंग आये हैं, मैंने राम-नाम लिया है और बच गया हूँ। रामनाम ने मेरी अनेक संकटों से रक्षा की है। इक्कीस दिन के उपवास में रामनाम ने ही मुझे शान्ति प्रदान की है और जिलाया है। इस प्रकार यदि कोई मुझसे रामनाम

के गीत गाने को कहे तो मैं सारी रात गाता रहूँ। इसलिए यदि आप अपने को दुखी और पतित मानते हो—और हम सब पतित हैं—तो सुबह शाम और सोते समय राम-नाम रटे और पवित्र हो।

—न० जी०। हि० न० जी०, ३०।४।१९२५]

● **राम-नाम ने मेरी अनेक संकटों में रक्षा की है।**

३६. ब्रह्मचर्य के लिए एकान्तवास अनिवार्य नहीं

वह ब्रह्मचर्य, ब्रह्मचर्य नही, वह सयम सयम नही, जिसका पालन जगल मे रहकर ही किया जा सकता हो। कितने ही लोगो के लिए वन-सेवन अभीष्ट है। ऐसा एकान्तवास कम-बेस सबके लिए लाभदायक है। पर वह विचार-वृद्धि के लिए, आत्मबोध के लिए है, अपने को सुरक्षित रखने के लिए कदापि नही। ससार के सामान्य व्यवहारो मे रहते हुए भी जो अलिप्त रहता है, वही सयमी है, सुरक्षित है।

—न० जी०। हि० न० जी०। २८।५।१९२५]

● **संसार के सामान्य व्यवहारो मे रहते हुए भी जो अलिप्त रहता है, वही संयमी है; सुरक्षित है।**

३७. धर्म-परिवर्तन का अर्थ

धर्म-परिवर्तन का अर्थ यह है कि हम अपना जीवन अपने देश के लिए और उससे भी अधिक ईश्वर के लिए और अपनी आत्मा को शुद्ध, पवित्र बनाने के लिए समर्पित कर दें।

—यं० इं०। हि० न० जी०, २०।८।१९२५]

३८. ईश्वर-भजन

"ईश्वर-भजन, प्रार्थना किस तरह और किसको करें, यह समझ मे नहीं आता। आप तो बार-बार यह लिखते हैं, प्रार्थना करो, प्रार्थना करो। आप समझाइए कि वह कैसे हो सकती है?"

एक सज्जन इस प्रकार पूछते हैं। ईश्वर-भजन का अर्थ है उसका गुण-गान। प्रार्थना का अर्थ है अपनी अयोग्यता की, अपनी अशक्ति की स्वीकृति। ईश्वर

के सहस्त्र अर्थात् अनेक नाम हैं अथवा यह कहिए कि वह नाम-हीन है। जो नाम हमको अच्छा मालूम हो हम उसी नाम से ईश्वर को भजें, उसकी प्रार्थना करें। कोई उसे राम के नाम से पहिचानते हैं, तो कोई कृष्ण के नाम से, कोई उसे रहीम कहते हैं, तो कोई गाड। ये सब एक ही चैतन्य का भजन है। परन्तु जिस प्रकार सब तरह का भोजन सबको नहीं रुचता उसी प्रकार सब नाम सबको नहीं रुचते। जिसको जिसका सहवास होता है उसी नाम से वह ईश्वर को पहचानता है और वह अन्तर्यामी, सर्वशक्तिमान होने के कारण हमारे हृदय के भाव को पहिचानकर हमारी योग्यता के अनुसार हमको जवाब देता है।

प्रार्थना या भजन जीभ से नहीं वरन् हृदय से होता है। इसीलिए गूंगे, तुतले और मूढ़ भी प्रार्थना कर सकते हैं। जीभ पर अमृत हो और हृदय में हलाहल हो तो जीभ का अमृत किस काम का? कागज के गुलाब से सुगन्ध कैसे निकल सकती है? इसलिए जो सरल तरीके से ईश्वर को भजना चाहता हो वह अपने हृदय को यथास्थित रखे। हनुमान की जीभ में जो राम था वही उनके हृदय का स्वामी था और इसीलिए उनमें अपरिमित बल था। विश्वास से जहाज चलते हैं, विश्वास से पर्वत उठाये जाते हैं, इसी के द्वारा समुद्र लाँघा जाता है। इसका अर्थ यह कि जिसके हृदय में सर्वशक्तिमान ईश्वर का निवास है वह क्या नहीं कर सकता? वह चाहे कोढ़ी हो या क्षय-रोगी हो। जिसके हृदय में राम बसते हैं उसके सब रोग सर्वथा नष्ट हो जाते हैं।

ऐसा हृदय किस प्रकार हो सकता है? यह सवाल प्रश्नकर्त्ता ने नहीं पूछा है। परन्तु (यह) मेरे जवाब से निकलता है। मुँह से बोलना तो कोई भी सिखा सकता है, पर हृदय की वाणी कौन सिखा सकता है? यह तो भक्तजन ही कर सकते हैं। भक्त किसे कहे? गीता जी में तीन-स्थल पर विशेष रूप से और सब जगह सामान्य रूप से इसका विवेचन किया गया है। परन्तु उसकी संज्ञा या व्याख्या मालूम हो जाने से भक्तजन नहीं मिल जाते। इस जमाने में यह दुर्लभ है। इसीलिए मैंने सेवा-धर्म प्रस्तुत किया है। जो दूसरों की सेवा करता है उसके हृदय में ईश्वर स्वयं अपनी गरज से रहता है। इसीलिए अनुभवप्राप्त नरसी मेहता ने गाया है—

वैष्णव जन तो तेने कहिये जे पीर पराई जाणे रे

और पीड़ित कौन है? अन्त्यज और कंगाल। इन दोनों की सेवा तन, मन, धन से करनी चाहिए। जो मनुष्य कंगाल के सामने बैठकर चर्खा चलाता और उसे चर्खा कातने के लिए बुलाता है, वह ईश्वर की अनन्य सेवा करता है। भगवान ने कहा है—जो मुझे भक्तिपूर्वक पत्र-पुष्प, जल आदि देता है, वह मेरा सेवक है।

भगवान कगाल के घर अधिक रहते हैं, यह तो हम निरन्तर सिद्ध होता हुआ देखते हैं। अतएव कगाल के लिए कातना महा-प्रार्थना है, महायज्ञ है, महा-सेवा है।

...ईश्वर की प्रार्थना किसी भी नाम से की जा सकती है। उसकी सच्ची रीति है हृदय से प्रार्थना करना। हृदय की प्रार्थना सीखने का मार्ग सेवा-धर्म है। इस युग मे जो हिन्दू हृदय के अन्त्यज-सेवा करता है वह शुद्ध प्रार्थना करता है। हिन्दू तथा हिन्दुस्तान के अन्य धर्मावलम्बी जो कगाल के लिए हृदय से चर्खा चलाते हैं, वे भी सेवा-धर्म का पालन करते हैं और हृदय की प्रार्थना करते हैं।

——न० जी०। हि० न० जी०, २४।९।१९२५]

- ईश्वर-भजन का अर्थ है उसका गुणगान।
- प्रार्थना का अर्थ है अपनी अयोग्यता...अशक्ति की स्वीकृति।
- ईश्वर के सहस्र अर्थात् अनेक नाम हैं।
- प्रार्थना या भजन जीभ से नहीं वरन् हृदय से होता है।
- जिसके हृदय मे राम बसते हैं, उसके सब रोग सर्वथा नष्ट हो जाते हैं।
- हृदय की वाणी कौन सिखा सकता है।
- जो दूसरो की सेवा करता है उसके हृदय मे ईश्वर...रहता है।
- कगाल के लिए कातना महाप्रार्थना है, महायज्ञ है, महासेवा है।
- हृदय की प्रार्थना सीखने का मार्ग सेवा-धर्म है।

३९. ईश्वर-भजन

एक पारसी भाई ने ईरान से एक पत्र लिखा है और उसमे अनेक गूढ प्रश्न पूछे है। मैं उसे यहाँ उन्ही की भाषा मे दे रहा हूँ। उन्होने दो-तीन स्थल पर अँग्रेजी शब्दो का भी प्रयोग किया है। मैं यहाँ पर उसका अनुवाद ही दूगा।

"१. ईश्वर पर मेरी सम्पूर्ण श्रद्धा है। मैं मानता हूँ कि ईश्वर ही सारे ससार को चलाता है; सभी बुरे या भले काम जैसे युद्ध, गरीबी, भूकम्प, चींटियो का अपने पैरों तले कुचला जाना इत्यादि सभी बातें ईश्वर की खुशी से होती हैं और हम लोग अल्पबुद्धि होने के कारण ईश्वर के कामो को समझ नहीं सकते।

२. इस कारण मैं इस दुविधा में पड़ा रहता हूँ कि जब सब चीजो को ईश्वर ही बनाता है और वही अपनी खुशी से सब कुछ करता है, तब मुझ-जैसा तुच्छ मानव खुदा की किस तरह सेवा कर सकता है। यदि ग़रीबी और दुःख खुदा की इच्छा से ही मनुष्य पर आ गिरते हैं, तब बड़ी-बड़ी संस्थाए, अस्पताल, सदाव्रत

इत्यादि चला कर हम ईश्वर की सहायता कैसे कर सकेंगे? क्या ईश्वर को मेरे-जैसे आदमियों की सहायता की आवश्यकता है? वह सब कुछ कर सकता है, वह गरीबी दुःख आदि सब एक ही पल में दूर कर सकता है। लेकिन इन्हें वह स्वयं ही रहने देता है।

३ आप मुझे यह बतायें कि मुझको ईश्वर की सेवा किस प्रकार करनी चाहिए? यदि मैं गरीबों को अच्छी सलाह देने जाता हूँ, उनके दुःखों को कम करने का प्रयत्न करता हूँ, तो मुझे यह विचार होता है कि मैं ईश्वर के काम में व्यर्थ हाथ डाल रहा हूँ और मुझे ऐसा कदापि न करना चाहिए।

४ अब हमें इस छोटी-सी ज़िन्दगी में ईश्वर को किस प्रकार भजना चाहिए? इस संसार में जीवित रहने का और हेतु ही क्या हो सकता है? मेरा मन गोरख-धन्धे में फँस गया है और मुझे यह नहीं मालूम कि कौन-सा मार्ग सच्चा हो सकता है?"

ईश्वर की इच्छा बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता तो मनुष्य के लिए क्या करना बाकी रहेगा? यह प्रश्न अनादि है और सदा ही पूछा जायगा। लेकिन उसका जवाब भी तो उसी सवाल के अन्दर है क्योंकि सवाल पूछने की शक्ति भी ईश्वर ने ही दी है। जिस प्रकार हम लोग एक नियम और कानून के वश में रहते हैं, उसी प्रकार ईश्वर भी रहता है। हमारा कानून और हमारा ज्ञान अपूर्ण होता है, इसलिए हम लोग अपने कानूनों का सविनय और अविनय भंग भी कर सकते हैं। लेकिन ईश्वर तो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है, इसलिए वह अपने कानून का कभी भंग नहीं करता। उसके कानून में न कोई बात बढ़ाई जाती है, न घटाई जाती है। उसके कानून और नियम अटल हैं। उसने हमें अनेक प्रकार के विचार करने की और उनमें से कुछ को पसन्द करने की, अच्छा-बुरा समझने की शक्ति दी है और उसी में हमारी स्वतन्त्रता का समावेश होता है। यह स्वतन्त्रता बहुत ही कम है, इतनी कम कि एक ज्ञानी को कहना पड़ा कि जितनी स्वतन्त्रता एक जहाज के तख्ते पर घूमने फिरने की होती है, वह उससे भी कम है। लेकिन कितनी भी कम हो, वह आखिर स्वतन्त्रता तो है ही। कम होने पर भी वह इतनी अवश्य है कि मनुष्य उसके द्वारा मुक्ति प्राप्त कर सकता है। दैव और पुरुषार्थ का युग्म कभी एक दूसरे का साथ नहीं छोड़ता। लेकिन मुक्ति के पथ पर चलनेवालों को दैव कभी बाधा नहीं पहुँचाता। इसलिए हमें अब इस बात का विचार करना चाहिए कि ईश्वर की सेवा किस प्रकार की जाय, उसका भजन कैसे किया जाय?

ईश्वर की सेवा एक ही प्रकार से हो सकती है। गरीबों की सेवा ही ईश्वर-सेवा है। एक चींटी की सेवा की जाय तो वह ईश्वर-सेवा ही होगी। लेकिन चींटियों

के बिलो के पास आटा डालने से उनकी सेवा न होगी। ईश्वर चीटी को कन और हाथी को मन देता है। चीटी को भी जान-बूझकर नही कुचलता है, वही उसकी सेवा करता है और इस तरह जो ज्ञानपूर्वक चीटी को भी दु ख नही पहुँचाता वह अन्य प्राणियो और अपनी ही जाति के मनुष्य प्राणी को कभी दु ख न पहुँचायेगा। प्रत्येक स्थल और समय पर सेवा का प्रकार बदलता रहता है, यद्यपि वृत्ति एक ही बनी रहती है। दुखी मनुष्य की सेवा करने से ईश्वर की ही सेवा होती है, लेकिन उसमे विवेक होना चाहिए। भूखे मनुष्य को भोजन देने से सेवा ही होगी, यही मान बैठने का कोई कारण नही है। जो मनुष्य आलसी है, दूसरे के भरोसे बैठा रहता है और भोजन की आशा रखता है उसे भोजन देना ठीक नही है। उसे काम देना पुण्य-कार्य है और यदि वह काम करने के लिए तैयार नही है, तो उसे भूखा रखने मे ही उसकी सेवा होगी। ईश्वर का नाम जपना, पूजा-पाठ करना आवश्यक है, क्योकि उससे आत्मा की शुद्धि होती है। जो मनुष्य आत्म-शुद्ध है, वह अपना मार्ग स्पष्ट देख सकता है। लेकिन पूजापाठ ही कुछ ईश्वर-सेवा नही है। यह सेवा का साधन है। इसीलिए गुजराती कवि नरसी ने गाया है।

शु थयु स्नान सेवा ने पूजा थकी।
शु थयुं माल ग्रही नाम लीधे॥

इस उत्तर मे तीसरे प्रश्न का भी उत्तर मिल जाता है तीसरा प्रश्न है—जीवन का हेतु क्या है? जीवन का हेतु अपने को पहिचानना है। नरसी की भाषा मे कहे तो—

ज्यां लगी आतमा तत्व चीन्यो नहीं।
त्यां लगी साधना सर्व झूठी[1]॥

और आत्मतत्व—आत्मज्ञान, जीवमात्र के साथ अर्थात् ईश्वर के साथ ऐक्य—तन्मयता सिद्ध करने से ही प्राप्त होता है। जीवमात्र के साथ ऐक्य करने के मानी हैं उनके दु खो को समझकर स्वय दुखी होना और उनके दु ख का निवारण करना।

—न० जी०। हि० न० जी०। २९।१०।१९२५]

- ईश्वर की इच्छा बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता।
- हमारा कानून और हमारा ज्ञान अपूर्ण होता है।

---

१. जब तक आत्मतत्व नहीं पहचाना तबतक सभी साधनाएँ झूठी हैं।

- ईश्वर सर्वज्ञ और शक्तिमान है। उसके कानून और नियम अटल हैं।
- दैव और पुरुषार्थ का युग्म कभी एक दूसरे का साथ नहीं छोड़ता।
- गरीबों की सेवा ही ईश्वर-सेवा है।
- दुःखी मनुष्य की सेवा करने से ईश्वर की ही सेवा होती है।
- जो मनुष्य आत्म-शुद्ध है, वह अपना मार्ग स्पष्ट देख सकता है।
- जीवन का हेतु अपने को पहिचानना है।

४०. बुद्धिवाद बनाम श्रद्धावाद

[‘प्रार्थना में विश्वास नहीं’ शीर्षक लेख में गांधी जी ने एक विद्यार्थी को प्रार्थना की उपादेयता बताई थी। उस विद्यार्थी के अनास्थापूर्ण दृष्टिकोण का समर्थन करते हुए एक भाई ने गांधी जी को लम्बा पत्र लिखा। इसका आशय था कि विद्यार्थी का दृष्टिकोण बुद्धिवादी है, जो तर्क से सन्तुष्ट होकर ही मान्यता देता है और गांधी जी का श्रद्धावादी जो कहता है, पहिले विश्वास करो फिर स्वयं ही सन्तुष्ट हो जाओगे। श्रद्धावाद ने अन्ध धर्म-कट्टरता और साम्प्रदायिक विद्वेष को जन्म दिया है। यदि समस्त आविष्कारक और वैज्ञानिक श्रद्धाभीरु होते तो संसार की प्रगति नहीं हो सकती थी। इन भाई को गांधी जी ने जो उत्तर दिया, उसके आवश्यक अंश यहां दिये जा रहे हैं।—सम्पा०]

पत्र-लेखक को एक शब्द और बन्धन में बाँधे हुए है। यह महाशब्द है बुद्धिवाद। मुझे इसकी पूरी खूराक मिली थी। अनुभव ने मुझे इतना नम्र बना दिया है कि मैं बुद्धि की यथार्थ सीमाओं को समझ सकूं। जिस प्रकार गलत स्थान में रखे जाने से कोई चीज़ गन्दी मानी जाने लगती है, उसी प्रकार अनवसर-प्रयोग करने पर बुद्धि का भी पागलपन कहा जाता है। जिसका जहाँ तक अधिकार है, अगर हम उसका प्रयोग वहीं तक करें तो सब कुछ ठीक रहेगा।

बुद्धिवाद के समर्थक पुरुष प्रशंसनीय होते हैं। किन्तु बुद्धिवाद को तब भयंकर राक्षस कहा जाना चाहिए, जब वह सर्वज्ञता का दावा करने लगे। बुद्धि को सर्वज्ञ मानना, उतनी ही बुरी मूर्तिपूजा है, जितनी ईंट-पत्थर को ईश्वर मानकर पूजना।

प्रार्थना की उपयोगिता को तर्क से निकालकर किसने जाँचा है? अभ्यास के बाद ही इसकी उपयोगिता का पता चलता है। संसार की साक्षी यही है। जिस

समय 'कार्डिनल न्यूमैन' ने गाया था, 'मेरे लिए एक पग ही काफी है'-उन्होंने बुद्धि का त्याग नही कर दिया था, किन्तु प्रार्थना को उससे ऊँचा स्थान दिया था। शकराचार्य तो तार्किको के राजा थे। ससार के साहित्य मे शायद ही कोई ऐसी वस्तु हो, जो शकर के तर्कवाद के आगे बढ सके। किन्तु उन्होने पहिला स्थान प्रार्थना और भक्ति को दिया था।

पत्र-लेखक ने क्षणिक और क्षोभकारी घटनाओ को लेकर सामान्य नियम बनाने मे गलती की है। इस ससार मे सभी वस्तुओ का दुरुपयोग होने लगता है। मनुष्य की सभी वस्तुओ के लिए यह नियम लागू प्रतीत होता है। इतिहास मे अनेक भीषण अत्याचारो के लिए धर्म के झगडे ही उत्तरदायी हैं। यह धर्म का नही, मनुष्य की दुर्दमनीय पशुता का दोष है। . .

मैं ऐसे किसी बुद्धिवादी को नही जानता जिसने एक भी काम केवल विश्वास के वशीभूत होकर न किया हो, बल्कि सभी कामो को तर्क-द्वारा निश्चित करके किया हो। किन्तु हम उन करोडो आदमियो को जानते हैं, जो अपना नियमित जीवन इसी कारण बिता पाते है कि हम सबके बनानेवाले सृष्टिकर्त्ता मे उनका अटल विश्वास है। वह विश्वास ही एक प्रार्थना है। वह लडका, जिसके पत्र के आधार पर मैंने अपना लेख लिखा था, उस बडे मानव-समुदाय मे एक है और उसे तथा उसी के समान दूसरे सत्य-शोधको को अपने पथ पर अडिग रहने के लिए लिखा गया था, पत्र-लेखक-जैसे बुद्धिवादियो की शान्ति लूटने के लिए नही।

मगर वे तो उस झुकाव से ही झगडते है, जो शिक्षक या गुरुजन बालको को बचपन मे देना चाहते है। लेकिन यह कठिनाई (अगर यह कठिनाई है तो) बचपन की उस उम्र के लिए, जब असर डाला जा सकता है, बराबर बनी रहेगी, शुद्ध धर्म-विहीन शिक्षा भी बच्चो के मन की शिक्षा का ही एक तरीका है। पत्र-लेखक यह स्वीकार करने की भलमनसाहत दिखलाते है कि मन और शरीर को शिक्षा दी जा सकती है और रास्ता सुझाया जा सकता है। आत्मा के लिए जो शरीर और मन को बनाती है, उन्हे कोई चिन्ता नही । शायद उसके अस्तित्व मे ही उन्हे कुछ शका है। मगर उनके अविश्वास से उनका कोई काम न निकलेगा। दूसरे लोग जिस प्रकार बच्चो के मन और शरीर पर असर डालना चाहते हैं, वैसे ही आत्मा पर भी प्रभाव डालना जरूरी है। सच्ची धर्म-भावना का उदय होते ही, धार्मिक शिक्षा के दोष गायब हो जायँगे। धार्मिक शिक्षा को छोड देना उसी प्रकार है, जिस प्रकार किसी किसान ने यह न जान कर कि खेत का उपयोग कैसे करना चाहिए, उसमे घास-पात उग जाने दिया हो।...

—यं० इं०। हि० न० जी०, १४।१०।१९२६]

- बुद्धिवाद के समर्थक पुरुष प्रशंसनीय हैं।
- बुद्धि को ही सर्वज्ञ मानना .बुरी मूर्तिपूजा है।
- सच्ची धर्म-भावना के उदय होते ही धार्मिक शिक्षा के दोष गायब हो जायँगे।

४१. धार्मिक भावना

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

धार्मिक भावना होने की सच्ची कसौटी यह है कि मनुष्य ऐसी बहुत-सी चीजो मे से , जो सभी थोडी-बहुत ठीक है, जो सबसे ज्यादा ठीक हो उसे चुन सके। भगवद्गीता के एक श्लोक का यही अर्थ है, जिसमे कहा गया है––पर धर्म कितना ही बडा हो तो भी उसका पालन करने की अपेक्षा स्वधर्म का पालन करते हुए मर जाना ज्यादा अच्छा है, फिर वह कितना ही छोटा क्यो न हो।

––नन्दीपर्वत, २८।५।१९२७। बापू के पत्र मीरा के नाम, न० जी० प्र० म०]

४२. ध्यानावस्था

जो अपने कर्त्तव्य के ध्यान मे रम जाता है, वह दूसरी वस्तुओ मे उदासीन हो जाता है। पत्थर तटस्थ है, परन्तु उसे हम जड मानते हैं। उसके मुकाबले मे हम चेतन है। और इतने पर भी यदि प्राप्त हुए कार्य मे ही रत रहे और दूसरी किसी बात का विचार तक न करे, तो हमारा जीना सफल माना जा सकता है। ऐसी ध्यानावस्था एकाएक नही आती।

— ८।८।१९२७। मौनवार। बापू के पत्र आश्रम की बहिनो को, पृ० ४१ न० जी० प्र० म०]

४३. प्रार्थना में विश्वास नहीं

किसी राष्ट्रीय सस्था के प्रधान के नाम एक विद्यार्थी ने पत्र लिखा है, जिसमे उसने प्रधान से वहाँ की प्रार्थना मे न शामिल होने के लिए क्षमा माँगी है। यह पत्र नीचे दिया जाता है ––

"प्रार्थना पर मेरा विश्वास नहीं है। इसका कारण यह कि मेरी धारणा है कि ईश्वर-जैसी कोई वस्तु नहीं है, जिसकी हमे प्रार्थना करनी चाहिए। मुझे यह

कभी जरूरी नहीं मालूम होता कि मैं अपने लिए एक ईश्वर की कल्पना करूँ। अगर मैं उसके अस्तित्व को मानने की झंझट मे न पड़ूँ और स्वच्छ हृदय से अपना काम करता जाऊँ, तो मेरा क्या बिगड़ता है ?

"सामुदायिक प्रार्थना तो बिल्कुल ही व्यर्थ है। क्या इतने सारे व्यक्ति साधारण से साधारण चीज पर भी मानसिक एकाग्रता के साथ बैठ सकते हैं ? यदि नहीं, तो छोटे-छोटे और अबोध बालको से यह आशा कैसे रखी जाय कि वे अपने चंचल मन को हमारे महान शास्त्रों के जटिल तत्व, उदाहरणार्थ आत्मा, परमात्मा और मानव मात्र की एकता इत्यादि वाक्यो के गूढ़ मर्म पर एकाग्रचित्त हो। इस महान कार्य को निर्धारित समय पर विशेष व्यक्ति के मिलने पर ही करना पड़ता है। क्या उस कल्पित ईश्वर के प्रति प्रेम इस प्रकार की किसी यान्त्रिक क्रिया-द्वारा बालको के हृदय मे पैठ सकता है ? हर प्रकार के स्वभाववाले लोगो से यह आशा रखना कि वह कल्पित ईश्वर के प्रति ही प्रेम रखें, इसके समान नासमझी की बात और क्या हो सकती है ? इसलिए प्रार्थना बलात् न कराई जानी चाहिए। प्रार्थना वे करें जिनको उसमे रुचि हो और प्रार्थना मे रुचि न रखने वाले उसे न करें। दृढ़ विश्वास के बिना कोई काम करना अनीतिमूलक एवं पतनकारी है।"

यह कहना बडा आसान है कि मैं ईश्वर को नही मानता क्योकि ईश्वर के बारे मे चाहे जो कहा जाय, ईश्वर उसे बिना सजा दिये कहने देता है। वह हमारी कृतियो को देखता है। ईश्वर के बनाये हुए किसी भी कानून के खिलाफ काम करने से वह काम करनेवाला दण्ड अवश्य पाता है। लेकिन वह सजा, सजा के लिए नही होती, बल्कि उसे शुद्ध करने और उसे अवश्य ही सुधारने की विशेषता रखनेवाली होती है। ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नही हो सकता और न उसको सिद्ध होने की जरूरत ही है। ईश्वर तो है ही। अगर वह दीख नही पडता तो यह हमारा दुर्भाग्य है। उसे अनुभव करने की शक्ति का अभाव एक रोग है और उसे हम किसी न किसी दिन दूर कर देंगे। चाहे हम उसे चाहे या न चाहे।...

प्रार्थना करना याचना करना नही है। वह तो आत्मा की पुकार है; वह अपनी त्रुटियो को नित्य स्वीकार करना है। हम मे से वडे से वडे को मृत्यु, रोग, वृद्धावस्था, दुर्घटना आदि के सामने अपनी तुच्छता का भान हरदम हुआ करता है। जव हमारे मसूवे क्षणभर मे मिट्टी मे मिल सकते हैं, जव पल भर में, अचानक खुद हमारा अस्तित्व तक मिट सकता है, तव हमारे मंसूवो का मूल्य ही क्या रहा ? लेकिन अगर हम यह कह सकें, कि हम तो ईश्वर के निमित्त तथा उसकी रचना के अनुसार ही काम करते हैं, तो हम अपने को मेरु की भाँति अचल मान सकते है। तव कोई झगड़ा नही रह जाता। उस स्थिति मे नाशमान कुछ भी नही है

तथा दृश्यजगत् ही नाशमान मालूम होगा। तब, केवल तब, मृत्यु और विनाश सब असत् मालूम होते हैं क्योंकि उस स्थिति में मृत्यु या विनाश एक रूपान्तर मात्र है—उसी प्रकार, जिस प्रकार शिल्पी अपने एक चित्र को उससे उत्तम चित्र बनाने के लिए नष्ट कर देता है और जिस प्रकार एक घड़ीसाज एक अच्छी कमानी लगाने के लिए खराब कमानी को फेंक देता है।

सामुदायिक प्रार्थना अत्यन्त बलवती वस्तु है। जो काम हम प्रायः अकेले नहीं करते, उसे हम सबके साथ करते हैं। लड़कों को निश्चय की आवश्यकता नहीं। अगर वे केवल अनुशासन-पालनार्थ ही सच्चे दिल से प्रार्थना में सम्मिलित हों, तो उनको प्रफुल्लता का अनुभव होगा। लेकिन अनेक विद्यार्थी ऐसा अनुभव नहीं करते। वे तो प्रार्थना के समय उल्टे शरारत किया करते हैं। लेकिन इसके बावजूद अप्रकट रूप में होनेवाला फल रुक नहीं सकता। क्या वे लड़के नहीं हैं जो अपने प्रारम्भ काल में प्रार्थना में केवल मजाक करने के लिए सम्मिलित होते थे, लेकिन जो बाद में सामुदायिक प्रार्थना में अटल विश्वास रखने लगे?

यह बात सभी के अनुभव में आई होगी कि जिनके अन्दर दृढ़ विश्वास नहीं होता, वे सामुदायिक प्रार्थना का सहारा लेते हैं। वे सब लोग जो कि गिर्जाघरों, मन्दिरों और मस्जिदों में इकट्ठे होते हैं, न कोरे टीकाधारी हैं, न पाखण्डी। वे धर्मशील लोग हैं। उनके लिए सामुदायिक प्रार्थना नित्य स्नान की भाँति एक आवश्यक नित्यकर्म है। प्रार्थना के स्थान निरे भ्रम नहीं हैं, जिन्हें जल्दी से जल्दी मिटा देना चाहिए। वे आघात सहते रहने पर भी अब तक मौजूद हैं और अनन्त काल तक बने रहेंगे।

—य० इ०। हि० न० जी०, ३०।९।१९२७]

- ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता और न उसके सिद्ध होने की जरूरत ही है।
- प्रार्थना करना याचना करना नहीं है, वह तो हृदय की पुकार है।
- मृत्यु या विनाश एक रूपान्तर मात्र है।
- सामुदायिक प्रार्थना अत्यन्त बलवती वस्तु है।
- प्रार्थना के स्थान निरे भ्रम नहीं हैं।

४४. सत्य की विकृति

एक भाई किसी हाई स्कूल के प्रधानाध्यापक की सहायता से उसके विद्यार्थियों में गीता पढ़ना शुरू कराने की कोशिश कर रहे हैं। हाल में गीता-पाठ का प्रबन्ध

करने के सम्बन्ध मे एक सभा हो रही थी, तभी बीच मे किसी बैंक के कोई मैनेजर यह कहते हुए आ कूदे कि 'लडको को भला ,गीता पढने का क्या अधिकार है ? यह कुछ खिलौना थोडे ही है जो लडको को खेलने के लिए दिया जाय ?' इस घटना के बारे मे इन भाई ने एक लम्बा युक्तिपूर्ण पत्र लिखा है। अपने पक्ष के समर्थन मे उन्होने परमहस रामकृष्ण के कुछ उपयुक्त वचन भी दिये है, जिनमे से मैं चुनकर कुछ नीचे देता हूँ—

"मैं नवयुवको से इतना प्रेम क्यो करता हूँ। इसीलिए न कि वे अपने मन के सोलहो आने मालिक हैं जो कि उनकी उम्र बढने के साथ-साथ हिस्सो मे बँटने लगता है। घर-गृहस्थी वाले का आधा मन तो अपनी स्त्री मे चला जाता है। जब बाल-बच्चे पैदा होते है तो चार आना मन उनमे चला जाता है और बाकी चार आना माँ-बाप, धनदौलत, वगैरह मे बँट जाता है। इसलिए नवयुवक परमात्मा को सहज ही जान सकते है। बडे बूढो के लिए यह बहुत ही मुश्किल है।

"जब सेर भर दूध मे सिर्फ एक छटाँक पानी मिलाया गया हो तो थोडी ही लकडी के खर्च से सहज ही दूध का पानी जलाया जा सकता है, मगर जब तीन पाव पानी हो तब ईधन भी अधिक लगेगा और दूध सहज ही गाढा नही हो सकेगा। नवयुवको के मन मे सासारिक विकार कम होने के कारण, वे सहज ही ईश्वर की ओर झुक सकते हैं। वडे-बूढो के साथ यह बात नही हो सकती क्योकि उनके मन मे सासारिक इच्छाओ का बहुत अधिक विकार मिला हुआ होता है।

"नया वाँस सहज ही झुकाया जा सकता है, मगर पुराने बाँस को मोडने की कोशिश करने पर वह टूट जाता है। नवयुवको के हृदयो को ईश्वर की ओर झुकाना सहज है, मगर बूढो का दिल झुकाने पर भी छूट भागता है।

"मनुष्यो का मन सरसो के बीज जैसा होता है। जिस तरह सरसो के बीज फैल जाते हैं तो उन्हे इकट्ठा करने मे मुश्किल होता है उसी तरह मन जब कई ओर बँट जाता है और सासारिक जजालो मे फँस जाता है तब उसे एकाग्र करना बहुत कठिन होता है। नवयुवको का मन कई ओर बँटा हुआ नही होने के कारण किसी वस्तु पर सहज ही एकाग्र किया जा सकता है, जब कि बूढे आदमी का मन सासारिक बातो मे लगा हुआ होने के कारण, उसके लिए उसे खीचकर परमात्मा मे लगाना बहुत ही कठिन होता है।

मैंने वेदपाठ के सम्बन्ध मे अधिकार की बात सुनी थी, मगर मैं यह बात कभी नही जानता था कि गीता पढने के लिए भी बैंक-मैनेजर की धारणा के अनुसार योग्यता की जरूरत है। अगर मैनेजर साहब उन योग्यताओ को बतलाते तो बडा अच्छा होता। गीता मे स्पष्ट कहा है कि हँसी उडानेवालो को छोडकर

सभी को गीता पढ़ने का अधिकार है। अगर हिन्दू विद्यार्थियों को गीता पढ़ने का अधिकार नहीं है तो उन्हें कोई धार्मिक ग्रन्थ पढ़ने का अधिकार नहीं है। सच पूछिए तो हिन्दूधर्म की मौलिक कल्पना यह है कि विद्यार्थी को ब्रह्मचारी का जीवन बिताना चाहिए और धर्म के ज्ञान और आचरण के साथ-साथ जीवन शुरू करना चाहिए, ताकि वह धर्म के ज्ञान को पचा भी सके और धर्माचरण को अपने जीवन में मिला सके। प्राचीन काल के विद्यार्थी धर्म को जानने से पहिले धर्म का आचरण शुरू कर देते थे। आचरण के बाद उन्हें आवश्यक ज्ञान होता था जिससे वे अपने लिए विहित कर्त्तव्य का कारण समझते थे।

अधिकार तो वहाँ निश्चय ही था। मगर वह अधिकार पाँच यमों या संयमों —अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना) अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य—का था। जो कोई धर्म का अध्ययन करना चाहता था, उसे इन नियमों का पालन करना पड़ता था। धर्म के इन मूल आधारों को सिद्ध करने के लिए धार्मिक ग्रन्थों से प्राप्त ज्ञान की जरूरत नहीं है।

दूसरे कई अर्थभरे शब्दों के समान अधिकार शब्द की भी विकृति हो गई है और कोई पुरुष केवल ब्राह्मण कहे जाने के कारण शास्त्रों का पठन और उनका अर्थ समझाने का अधिकार दिखलाता है, जब कि दूसरा कोई आदमी अगर केवल अपने जन्म के कारण अछूत कहा जाता है तो वह चाहे जैसा पवित्रात्मा क्यों न हो शास्त्र नहीं पढ़ सकता।

लेकिन गीता जिस महाभारत का एक अंश है, उसके लेखक ने इस व्यर्थ के उज्र का जवाब देने के लिए ही वह महाग्रन्थ लिखा था और जाति का विचार न करते हुए उसे सबके लिए, मैं मान लेता हूँ कि जो मेरे बतलाए पाँच यमों का पालन करते हैं उनके लिए, उसे सुलभ बनाया। मैं यह भी जोड़ देता हूँ—"मैं मान लेता हूँ" क्योंकि लिखने के समय मुझे याद नहीं है कि महाभारत पढ़ने के पहिले पाँच यम-नियमों का पालन आवश्यक शर्त थी या नहीं। अनुभव से मालूम होता है कि धार्मिक ग्रन्थों को ठीक-ठीक समझने के लिए हृदय की पवित्रता और श्रद्धालुता की आवश्यकता है।

मुद्रण-युग ने सभी बन्धन तोड़ दिये हैं और हँसी उड़ानेवालों को भी धार्मिक ग्रन्थ पढ़ने की अधिक नहीं तो कम से कम वह स्वतन्त्रता तो है ही जो धार्मिक प्रवृत्ति वालों को है। लेकिन हम तो यहाँ पर लड़कों को धार्मिक शिक्षण और अभ्यास के रूप में गीता पढ़ाने के औचित्य पर विचार कर रहे हैं। और मैं यह सोच नहीं सकता कि कुछ लोग ऐसे होंगे कि जो ऐसी शिक्षा के लिए आवश्यक संयम को लड़कों की अपेक्षा अधिक खुशी से पालेंगे। मगर खेद के साथ यह स्वीकार करना पड़ता है

करने के सम्बन्ध मे एक सभा हो रही थी, तभी बीच मे किसी बैंक के कोई मैनेजर यह कहते हुए आ कूदे कि 'लडको को भला, गीता पढने का क्या अधिकार है? यह कुछ खिलौना थोडे ही है जो लडको को खेलने के लिए दिया जाय?' इस घटना के बारे मे इन भाई ने एक लम्बा युक्तिपूर्ण पत्र लिखा है। अपने पक्ष के समर्थन मे उन्होने परमहस रामकृष्ण के कुछ उपयुक्त वचन भी दिये है, जिनमे से मैं चुनकर कुछ नीचे देता हूँ—

"मैं नवयुवको से इतना प्रेम क्यो करता हूँ। इसीलिए न कि वे अपने मन के सोलहो आने मालिक हैं जो कि उनकी उम्र बढने के साथ-साथ हिस्सो मे बँटने लगता है। घर-गृहस्थी वाले का आधा मन तो अपनी स्त्री मे चला जाता है। जब बाल-बच्चे पैदा होते है तो चार आना मन उनमे चला जाता है और बाकी चार आना माँ-बाप, धनदौलत, वगैरह मे बँट जाता है। इसलिए नवयुवक परमात्मा को सहज ही जान सकते हैं। बडे बूढो के लिए यह बहुत ही मुश्किल है।

"जब सेर भर दूध मे सिर्फ एक छटाँक पानी मिलाया गया हो तो थोडी ही लकडी के खर्च से सहज ही दूध का पानी जलाया जा सकता है, मगर जब तीन पाव पानी हो तब ईंधन भी अधिक लगेगा और दूध सहज ही गाढा नही हो सकेगा। नवयुवको के मन मे सासारिक विकार कम होने के कारण, वे सहज ही ईश्वर की ओर झुक सकते हैं। बडे-बूढो के साथ यह बात नही हो सकती क्योकि उनके मन मे सासारिक इच्छाओ का बहुत अधिक विकार मिला हुआ होता है।

"नया बाँस सहज ही झुकाया जा सकता है, मगर पुराने बाँस को मोडने की कोशिश करने पर वह टूट जाता है। नवयुवको के हृदयो को ईश्वर की ओर झुकाना सहज है, मगर बूढो का दिल झुकाने पर भी छूट भागता है।

"मनुष्यो का मन सरसो के बीज जैसा होता है। जिस तरह सरसो के बीज फैल जाते है तो उन्हे इकट्ठा करने मे मुश्किल होता है उसी तरह मन जब कई ओर बँट जाता है और सासारिक जजालो मे फँस जाता है तब उसे एकाग्र करना बहुत कठिन होता है। नवयुवको का मन कई ओर बँटा हुआ नही होने के कारण किसी वस्तु पर सहज ही एकाग्र किया जा सकता है, जब कि बूढे आदमी का मन सासारिक बातो मे लगा हुआ होने के कारण, उसके लिए उसे खीचकर परमात्मा मे लगाना बहुत ही कठिन होता है।

मैंने वेदपाठ के सम्बन्ध मे अधिकार की बात सुनी थी, मगर मैं यह बात कभी नही जानता था कि गीता पढने के लिए भी बैंक-मैनेजर की धारणा के अनुसार योग्यता की जरूरत है। अगर मैनेजर साहब उन योग्यताओ को बतलाते तो बडा अच्छा होता। गीता मे स्पष्ट कहा है कि हँसी उडानेवालो को छोडकर

सभी को गीता पढ़ने का अधिकार है। अगर हिन्दू विद्यार्थियों को गीता पढ़ने का अधिकार नहीं है तो उन्हें कोई धार्मिक ग्रन्थ पढ़ने का अधिकार नहीं है। सच पूछिए तो हिन्दूधर्म की मौलिक कल्पना यह है कि विद्यार्थी को ब्रह्मचारी का जीवन बिताना चाहिए और धर्म के ज्ञान और आचरण के साथ-साथ जीवन शुरू करना चाहिए, ताकि वह धर्म के ज्ञान को पचा भी सके और धर्माचरण को अपने जीवन में मिला सके। प्राचीन काल के विद्यार्थी धर्म को जानने के पहिले धर्म का आचरण शुरू कर देते थे। आचरण के बाद उन्हें आवश्यक ज्ञान होता था जिससे वे अपने लिए विहित कर्त्तव्य का कारण समझते थे।

अधिकार तो वहाँ निश्चय ही था। मगर यह अधिकार पाँच यमों या संयमों—अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना) अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य—का था। जो कोई धर्म का अध्ययन करना चाहता था, उसे इन नियमों का पालन करना पड़ता था। धर्म के इन मूल आधारों को सिद्ध करने के लिए धार्मिक ग्रन्थों तक दौड़ जाने की जरूरत नहीं है।

दूसरे कई अर्थभरे शब्दों के समान अधिकार शब्द की भी विकृति हो रही है और कोई पुरुष केवल ब्राह्मण कहे जाने के कारण शास्त्रों का पठन और उनका अर्थ समझाने का अधिकार दिखलाता है, जब कि दूसरा कोई आदमी अगर केवल अपने जन्म के कारण अछूत कहा जाता है तो वह चाहे जैसा पवित्रात्मा क्यों न हो शास्त्र नहीं पढ़ सकता।

लेकिन गीता जिस महाभारत का एक अंश है, उसके लेखक ने इस व्यर्थ के उज्र का जवाब देने के लिए ही वह महाग्रन्थ लिखा था और जाति का विचार न करते हुए उसे सबके लिए, मैं मान लेता हूँ कि जो मेरे बतलाए पाँच यमों का पालन करते हैं उनके लिए, उसे सुलभ बनाया। मैं यह भी जोड़ देता हूँ—"मैं मान लेता हूँ" क्योंकि लिखने के समय मुझे याद नहीं है कि महाभारत पढ़ने के पहिले पाँच यम-नियमों का पालन आवश्यक शर्त थी या नहीं। अनुभव से मालूम होता है कि धार्मिक ग्रन्थों को ठीक-ठीक समझने के लिए हृदय की पवित्रता और श्रद्धालुता की आवश्यकता है।

मुद्रण-युग ने सभी बन्धन तोड़ दिये हैं और हँसी उड़ानेवालों को भी धार्मिक ग्रन्थ पढ़ने की अधिक नहीं तो कम से कम वह स्वतन्त्रता तो है ही जो धार्मिक प्रवृत्ति वालों को है। लेकिन हम तो यहाँ पर लड़कों की धार्मिक शिक्षण और अभ्यास के रूप में गीता पढ़ाने के औचित्य पर विचार कर रहे हैं। और मैं यह सोच नहीं सकता कि कुछ लोग ऐसे होंगे कि जो ऐसी शिक्षा के लिए आवश्यक संयम को लड़कों की अपेक्षा अधिक खुशी से पालेंगे। मगर खेद के साथ यह स्वीकार करना पड़ता है

कि न तो अधिकाश विद्यार्थी ही और न उनके शिक्षक ही पाँच यमो के अधिकार का विचार करते है।

—यं० इं०। हि० न० जी० ८।१२।१९२७]

- **हँसी उड़ानेवालो को छोड़कर सभी को गीता पढ़ने का अधिकार है।**
- **विद्यार्थी को ब्रह्मचारी का जीवन बिताना चाहिए।**
- **अधिकार शब्द की......विकृति हो रही है।**
- **धार्मिक ग्रन्थों को समझने के लिए हृदय की पवित्रता और श्रद्धालुता की आवश्यकता होती है।**

४५. प्रार्थना का उपयोग

हम प्रार्थना मे आते है तो कुछ गीत सुनने के लिए नही, कुछ यह देखने के लिए नही कि फलाँ ने खूब अच्छा गाया, और फला ने नही मगर इसलिए कि प्रार्थना मे जो कुछ सुना हो, उसमे का कुछ अश हृदय मे बचा रखे और सारे दिन उसकी शिक्षा को अपने जीवन से मिलाया करें। अगर यह न हुआ तो प्रार्थना मे आना, न आना, दोनो ही बराबर है।

—न० जी०। हि० न० जी० १९।१।१९२८]

४६. धर्मों में भ्रातृभाव

धर्मों के भ्रातृमण्डल का उद्देश्य यह होना चाहिए कि वह एक हिन्दू को अधिक अच्छा हिन्दू, एक मुसलमान को अधिक अच्छा मुसलमान और एक ईसाई को अधिक अच्छा ईसाई बनने मे मदद करे। कृपापूर्ण सहिष्णुता का रवैया अन्तर्राष्ट्रीय भ्रातृभावना के विपरीत है। अगर मेरे मन मे यह हो कि मेरा धर्म तो थोडा-बहुत सच्चा है और दूसरो के धर्म थोडे या बहुत झूठे है, तो मुझे उनके प्रति थोडा-सा भ्रातृभाव चाहे हो, लेकिन वह उस भ्रातृभाव से बिल्कुल भिन्न प्रकार का होता है जिसकी हमे अन्तर्राष्ट्रीय भ्रातृमण्डल से जरूरत है। दूसरो के लिए हमारी प्रार्थना यह नही होनी चाहिए, कि हे ईश्वर, उन्हे वही प्रकाश दे जो तू ने मुझे दिया है, परन्तु यह होनी चाहिए कि उन्हे वह सारा प्रकाश और सत्य दे जिसकी उन्हे अपने सर्वोच्च विकास के लिए आवश्यकता है। प्रार्थना इतनी ही कीजिए कि आपके मित्र अधिक अच्छे मनुष्य बन जाय, चाहे उनके धर्म का स्वरूप कुछ भी हो।

फिर भी आपके जाने विना ही आपका अनुभव उनके अनुभव का एक अग वन सकता है।

—सावरमती (फेडरेशन आफ इण्टर नेशनल फेलोशिप्स की पहिली वार्षिक वैठक की रिपोर्ट) १९२८]

४७. सर्व धर्म-समभाव

हमारे व्रतो मे जो व्रत सहिष्णुता के नाम से पहिचाना जाता था, उसे यह नाम दिया गया है। सहिष्णुता शब्द अग्रेजी शब्द 'टालरेशन' का अनुवाद है। वह मुझे पसन्द नही था, लेकिन दूसरा नाम सूझता नही था। काका साहव को भी वह पसन्द नही था। उन्होने सर्व-धर्म-समादर शब्द सुझाया। मुझे वह भी पसन्द नही आया। दूसरे धर्मों को सहन करने मे उनकी (धर्मो की) कमी मान ली जाती है। आदर मे कृपा का भाव आता है। अहिंसा हमे दूसरे धर्मों के लिए समभाव —बराबरी का भाव सिखाती है। आदर और सहिष्णुता अहिंसा की नजर से काफी नही है। दूसरे धर्मों के लिए समभाव रखने के मूल मे अपने धर्म की अपूर्णता का स्वीकार आ ही जाता है। अगर हम अपूर्ण है तो हमारी कल्पना का धर्म भी अपूर्ण है। स्वतन्त्र धर्म सम्पूर्ण है। उसे हमने देखा नही है, जैसे ईश्वर को देखा नही है। हमारा माना हुआ धर्म अपूर्ण है और उसमे हमेशा हेरफेर हुआ करते है, होते रहेगे। ऐसा हो तभी हम ऊपर और ऊपर उठ सकते है, सत्य की ओर, ईश्वर की ओर रोज-व-रोज आगे वढ सकते हैं। अगर हम आदमी के माने हुए सब धर्मों को अपूर्ण माने, तो फिर किसी को ऊचा या नीचा मानने की वात नही रहती। सब धर्म सच्चे है, लेकिन सब अपूर्ण है, इसलिए उनमे दोष हो सकते हैं। समभाव होने पर भी हम उनमे (सब धर्मों मे) दोष देख सकते है। अपने धर्म मे भी दोष देखे। उन दोषो के कारण उसको (अपने धर्म को) छोड न दे, लेकिन दोषो को मिटाये। अगर इस तरह समभाव रखें तो दूसरे धर्मों मे से जो कुछ लेने योग्य हो उसे अपने धर्म मे जगह देने मे हमे हिचकिचाहट नही होगी। इतना ही नही वल्कि ऐसा करना हमारा धर्म हो जायगा।

सब धर्म ईश्वर के दिये हुए है, लेकिन वे मनुष्य की कल्पना के हैं। और मनुष्य उनका प्रचार करता है, इसलिए वे अपूर्ण हैं। ईश्वर का दिया हुआ धर्म पहुच के परे—अगम्य है। इसान उसे (अपनी) भाषा मे रखता है, उसका अर्थ भी इसान करता है। किसका अर्थ सच्चा है? सब अपनी-अपनी दृष्टि से, जबतक उस दृष्टि के अनुसार वरतते है तबतक सच्चे हैं। लेकिन सबका गलत होना भी

असम्भव नही। इसलिए हम सब धर्मो के प्रति समभाव रखें। इससे अपने धर्म के लिए उदासीनता नही आती, लेकिन अपने धर्म के लिए हमारा जो प्रेम है वह अन्धा न होकर ज्ञानवाला होता है, और इसलिए वह ज्यादा सात्विक, निर्मल बनता है। सब धर्मों की ओर समभाव हो तभी हमारे दिव्यचक्षु खुले। धर्मान्धता और दिव्य-दर्शन मे उत्तर-दक्षिण का अन्तर है। धर्म का ज्ञान होने पर अडचनें दूर होती हैं और समभाव पैदा होता है। यह समभाव मन मे बढाकर हम अपने धर्म को ज्यादा पहिचानेंगे।

यहाँ धर्म-अधर्म का भेद नही मिटता। यहाँ तो जिन धर्मो पर मुहर लगी हुई हम जानते हैं उनकी बात है। इन सब धर्मो मे मूल सिद्धान्त तो एक ही हैं। उन सब मे सन्त स्त्री-पुरुष हो गये हैं, आज भी मौजूद हैं। इसलिए धर्मों के लिए समभाव मे और धर्मियो—मनुष्यो के लिए समभाव मे कुछ फर्क है। तमाम मनुष्यो के लिए, दुष्ट और श्रेष्ठ के लिए, धर्मी और अधर्मी के लिए समभाव की जरूरत है, लेकिन अधर्म के लिए कभी नही।

तब सवाल यह उठता है कि बहुत-से धर्म किसलिए? धर्म बहुत से है यह हम जानते हैं। आत्मा एक है, लेकिन मनुष्य देह अनगिनत हैं। देहो का अनगिनत-पन टाले नही टलता। फिर भी आत्मा की एकता को हम पहिचान सकते है। धर्म का मूल एक है, जैसे पेड का, लेकिन उसके पत्ते अनगिनत है।

—२३।९।१९३०। मगल प्रभात, न० जी० प्र० म०, संस्करण १९५८]

- अगर हम अपूर्ण हैं तो हमारी कल्पना का धर्म भी अपूर्ण है।
- सब धर्म सच्चे हैं, लेकिन सब अपूर्ण हैं।
- ईश्वर का दिया हुआ धर्म. ...अगम्य है।
- धर्मान्धता और दिव्य दर्शन मे उत्तर-दक्षिण का अन्तर है।
- धर्म का ज्ञान होने पर......समभाव पैदा होता है।
- सब धर्मो मे मूल सिद्धान्त तो एक ही है।

४८. धर्म-समभाव का विकास

अपने सन्तोष के लिए जब मैं भिन्न-भिन्न धर्मों की पुस्तकें देख रहा था, तब ख्रिस्ती (ईसाई) धर्म, इस्लाम, जरथुस्त्री (पारसी), यहूदी और हिन्दू इतने धर्मों की पुस्तको की मैंने अपने सन्तोष के लिए जानकारी की। यह करते हुए इन सब धर्मों की ओर मेरे मन मे समभाव था, ऐसा कह सकता हूँ। उस समय मुझे यह ज्ञान था, ऐसा मैं नही कहता। समभाव शब्द की भी पूरी जानकारी उस समय नही

होगी। लेकिन उस समय के मेरे (अपने) स्मरण ताजे करता हूँ, तो मुझे उन-उन धर्मों की टीका-टिप्पणी करने की इच्छा भी कभी हुई हो, ऐसा याद नहीं आता। बल्कि उन पुस्तकों को धर्म की पुस्तकें समझकर मैं आदर से पढ़ता था और सबमें मूल नीति के उसूल (सिद्धान्त) एक सरीखे देखता था। कुछ बातें मेरी समझ में नहीं आती थीं। वैसा ही हिन्दू धर्म-पुस्तकों में था। ऐसी तो कितनी ही बातें हैं, जो आज भी मेरी समझ में नहीं आतीं। लेकिन अनुभव से मैं देखता हूँ जिसे हम समझ न सकें वह गलत ही है, ऐसा मानने की जल्दबाजी करना भूल है। जो कुछ पहिले समझ में नहीं आता था, वह आज दीये-जैसा साफ मालूम होता है। समभाव बढ़ाने से बहुत-सी गुत्थियाँ अपने-आप सुलझ जाती हैं और जहाँ हम दोष ही दिखाई दे, वहाँ उसे दिखाने में भी जो नम्रता और विनय हममें होता है उसके कारण किसी को दुःख नहीं होता।

एक उलझन शायद रहती है। मैंने कहा है कि धर्म-अधर्म का फर्क रहता है और अधर्म के लिए समभाव रखने का यहाँ उद्देश्य नहीं है। अगर ऐसा ही हो तो क्या धर्म-अधर्म का निर्णय करने में ही समभाव की साँकल टूट नहीं जाती? ऐसा सवाल उठेगा और ऐसा (धर्म-अधर्म का) निर्णय करनेवाला गलती करे, यह भी सम्भव है। लेकिन अगर हममें सच्ची अहिंसा हो तो हम वैर-भाव से बच जाते हैं। क्योंकि अधर्म को देखते हुए भी अधर्म आचरनेवाले बरतनेवाले के लिए तो हमारे मन में प्रेम-भाव ही होगा। और इसलिए या तो वह हमारी दृष्टि अपनायेगा या हमारी गलती हमें दिखायेगा, या दोनों एक-दूसरे के मतभेद को बर्दाश्त करेंगे। आखिर, सामनेवाला अगर अहिंसक नहीं होगा तो वह सख्ती करेगा, लेकिन अगर हम अहिंसा के सच्चे पुजारी होंगे तो हमारी नरमी उस सख्ती को दूर करेगी ही, इसमें शक नहीं। दूसरों की गलती के खातिर भी हमें उन्हें दुःख नहीं देना है, खुद ही दुःख उठाना है। यह सुनहला नियम जो पालता है वह सब संकटों से उबर जाता है।

—३०।९।१९३०। मंगल प्रभात, न० जी० प्र० मं०, संस्करण १९५८]

● दूसरों की गलती के खातिर भी हमें उन्हें दुःख नहीं देना है, खुद ही दुःख उठाना है।

४९. सेवक का धर्म

यज्ञ करनेवाले अनेक सेवक मानते हैं कि हम निष्काम भाव से सेवा करते हैं, अतः लोगों से आवश्यकता भर को और अनावश्यक भी, लेने का परवाना हमें मिल

असम्भव नही। इसलिए हम सब धर्मों के प्रति समभाव रखे। इससे अपने धर्म के लिए उदासीनता नही आती, लेकिन अपने धर्म के लिए हमारा जो प्रेम है वह अन्धा न होकर ज्ञानवाला होता है, और इसलिए वह ज्यादा सात्विक, निर्मल बनता है। सब धर्मों की ओर समभाव हो तभी हमारे दिव्यचक्षु खुले। धर्मान्धता और दिव्य-दर्शन मे उत्तर-दक्षिण का अन्तर है। धर्म का ज्ञान होने पर अडचनें दूर होती है और समभाव पैदा होता है। यह समभाव मन मे बढाकर हम अपने धर्म को ज्यादा पहिचानेंगे।

यहाँ धर्म-अधर्म का भेद नही मिटता। यहाँ तो जिन धर्मों पर मुहर लगी हुई हम जानते है उनकी बात है। इन सब धर्मो मे मूल सिद्धान्त तो एक ही हैं। उन सब मे सन्त स्त्री-पुरुष हो गये हैं, आज भी मौजूद हैं। इसलिए धर्मों के लिए समभाव मे और धर्मियो—मनुष्यो के लिए समभाव मे कुछ फर्क है। तमाम मनुष्यो के लिए, दुष्ट और श्रेष्ठ के लिए, धर्मी और अधर्मी के लिए समभाव की जरूरत है, लेकिन अधर्म के लिए कभी नही।

तव सवाल यह उठता है कि बहुत-से धर्म किसलिए ? धर्म बहुत से हैं यह हम जानते है। आत्मा एक है, लेकिन मनुष्य देह अनगिनत है। देहो का अनगिनतपन टाले नही टलता। फिर भी आत्मा की एकता को हम पहिचान सकते हैं। धर्म का मूल एक है, जैसे पेड का, लेकिन उसके पत्ते अनगिनत है।

— २३।९।१९३०। मगल प्रभात, न० जी० प्र० मं०, संस्करण १९५८]

- **अगर हम अपूर्ण हैं तो हमारी कल्पना का धर्म भी अपूर्ण है।**
- **सब धर्म सच्चे हैं, लेकिन सब अपूर्ण हैं।**
- **ईश्वर का दिया हुआ धर्म.....अगम्य हैं।**
- **धर्मान्धता और दिव्य दर्शन मे उत्तर-दक्षिण का अन्तर है।**
- **धर्म का ज्ञान होने पर......समभाव पैदा होता है।**
- **सब धर्मों मे मूल सिद्धान्त तो एक ही है।**

४८. धर्म-समभाव का विकास

अपने सन्तोष के लिए जब मैं भिन्न-भिन्न धर्मो की पुस्तकें देख रहा था, तब ख्रिस्ती (ईसाई) धर्म, इस्लाम, जरथुस्त्री (पारसी), यहूदी और हिन्दू इतने धर्मों की पुस्तको की मैंने अपने सन्तोष के लिए जानकारी की। यह करते हुए इन सब धर्मो की ओर मेरे मन मे समभाव था, ऐसा कह सकता हूँ। उस समय मुझे यह ज्ञान था, ऐसा मैं नहीं कहता। समभाव शब्द की भी पूरी जानकारी उस समय नहीं

होगी। लेकिन उस समय के मेरे (अपने) स्मरण ताजे करता हूँ, तो मुझे उन-उन धर्मों की टीका-टिप्पणी करने की इच्छा भी कभी हुई हो, ऐसा याद नहीं आता। बल्कि उन पुस्तकों को धर्म की पुस्तकें समझकर मैं आदर से पढ़ता था और सबमें मूल नीति के उसूल (सिद्धान्त) एक सरीखे पाता था। कुछ बातें मेरी समझ में नहीं आती थीं। वैसा ही हिन्दू धर्म-पुस्तकों में था। ऐसी तो कितनी ही बातें हैं, जो आज भी मेरी समझ में नहीं आतीं। लेकिन अनुभव से मैं देखता हूँ कि जिसे हम समझ न सके वह गलत ही है, ऐसा मानने की जल्दबाजी करना भूल है। जो कुछ पहिले समझ में नहीं आता था, वह आज दीये-जैसा साफ मालूम होता है। समभाव बढ़ाने से बहुत-सी गुत्थियाँ अपने-आप सुलझ जाती हैं और जहाँ हम दोष ही दिखाई दे, वहाँ उसे दिखाने में भी जो नम्रता और विनय हममें होता है उसके कारण किसी को दुःख नहीं होता।

एक उलझन शायद रहती है। मैं ने कहा है कि धर्म अधर्म का फर्क रहता है और अधर्म के लिए समभाव रखने का यहाँ उद्देश्य नहीं है। अगर ऐसा ही हो तो क्या धर्म-अधर्म का निर्णय करने में ही समभाव की साँकल टूट नहीं जाती? ऐसा सवाल उठेगा और ऐसा (धर्म-अधर्म का) निर्णय करनेवाला गलती करे, यह भी सम्भव है। लेकिन अगर हममें सच्ची अहिंसा हो तो हम वैर-भाव से बच जाते हैं। क्योंकि अधर्म को देखते हुए भी अधर्म आचरनेवाले बरतनेवाले के लिए तो हमारे मन में प्रेम-भाव ही होगा। और इसलिए या तो वह हमारी दृष्टि अपनायेगा या हमारी गलती हमें दिखायेगा, या दोनों एक-दूसरे के मतभेद को बरदाश्त करेंगे। आखिर, सामनेवाला अगर अहिंसक नहीं होगा तो वह सख्ती करेगा, लेकिन अगर हम अहिंसा के सच्चे पुजारी होंगे तो हमारी नरमी उस सख्ती को दूर करेगी ही, इसमें शक नहीं। दूसरे की गलती के खातिर भी हमें उन्हें दुःख नहीं देना है, खुद ही दुःख उठाना है। यह सुनहला नियम जो पालता है वह सब संकटों से उबर जाता है।

— ३०।९।१९३०। मंगल प्रभात, न० जी० प्र० म०, संस्करण १९५८]

- दूसरों की गलती के खातिर भी हमें उन्हें दुःख नहीं देना है, खुद ही दुःख उठाना है।

४९. सेवक का धर्म

यज्ञ करनेवाले अनेक सेवक मानते हैं कि हम निष्काम भाव से सेवा करते हैं, अतः लोगों से आवश्यकता भर को और अनावश्यक भी, लेने का परवाना हमें मिल

गया है। जहाँ किसी सेवक के मन मे यह विचार आया कि उसकी सेवकाई गई कि बस सरदारी आई। सेवा मे अपनी सुविधा के विचार की गुजाइश नही होती। सेवक की सुविधा स्वामी —ईश्वर देखे, देनी होगी तो वह देगा। यह खयाल रखते हुए सेवक को चाहिए कि जो कुछ आ जाय, सबको न अपना बैठे, आवश्यकता भर को ही ले, बाकी का त्याग करे, अपनी सुविधा की रक्षा न होने पर भी शान्त रहे; रोष न करे, मन मे भी खिन्नता न लाये। याज्ञिक का बदला, सेवक की मजदूरी, यज्ञ—सेवा, ही है। उसी मे उसका सन्तोष है।

—मंगलप्रभात, २८।१०।१९३०। गीता-बोध, पृ० ३२, स० सा० मं०, संस्करण १९५४]

५०. यज्ञार्थ कर्म

यज्ञ-कार्य के सिवा सारे कर्म लोगो को बन्धन मे रखते है। यज्ञ के मानी है, अपने लिए नही, बल्कि दूसरे के लिए, परोपकार के लिए, किया हुआ श्रम अर्थात् सक्षेप मे सेवा। . .

—सोमप्रभात, २४।११।१९३०। गीता-बोध, पृ० १६, स० सा० मं०, सस्करण १९५४]

५१. ईश्वरवत् निष्कामता

जगत् मे जितनी प्रवृत्तियाँ है, सब ईश्वरीय नियमो के अधीन होती है, फिर भी ईश्वर उनसे अलिप्त रहता है, इसलिए वह उनका कर्त्ता है और अकर्त्ता भी। यो अलिप्त रहकर, अछूते रहकर, फलेच्छा से रहित होकर जैसे ईश्वर चलता है वैसे मनुष्य भी निष्काम रहकर चले तो अवश्य मोक्ष पा जाय। ऐसा मनुष्य कर्म मे अकर्म देखता है और ऐसे मनुष्य को न करने योग्य कर्म का भी तुरन्त पता चल जाता है।

—सोमप्रभात, १[illegible] गीता-बो[illegible] २३, स० सा० मं०, संस्करण १९५४]

वि[illegible]

प्राणायामादि भी शुद्धि के लिए आरम्भ किये जानेवाले यज्ञ है। यदि सब लोग बिना समझे-बूझे यज्ञ के नाम पर अनेक प्रवृत्तिया करने लग जाये तो अज्ञान के निमित्त होने के कारण, भले के बदले बुरा नतीजा भी हो सकता है। इसलिए हरएक काम ज्ञानपूर्वक करने की पूरी आवश्यकता है।

—सोमप्रभात, १।१२।१९३०। गीता-बोध, स० सा० म०, दसवा सस्करण १९५४]

५३. ईश्वर

ईश्वर महान है और हम रज-मात्र है। किन्तु अपने अभिमान मे जब हम अपनी जिह्वा से कहते है कि ईश्वर महान है, तब हमारे कार्य इस कथन को झूठा सिद्ध करते है। वे बतलाते है कि हम ईश्वर और अपनी महती भवितव्यता के सम्बन्ध मे कुछ नही सोचते।

—य० इ०। हि० न० जी०, १३।८।१९३१]

५४. प्रार्थना : एक अनुभूति

[**गोलमेज परिषद् मे भाग लेने के लिए लन्दन जाते समय राजपूताना जहाज पर एक सान्ध्य प्रार्थना-सभा मे किया गया प्रवचन।—सम्पा०**]

प्रार्थना मेरे जीवन की रक्षिका रही है। इसके बिना मै बहुत पहिले ही पागल हो गया होता। मेरी आत्म-कथा से आपको मालूम होगा कि अपने जीवन मे मुझे सार्वजनिक और निजी सब तरह के पर्याप्त कटु-से-कटु अनुभव हुए है। उन्होने मुझे क्षणिक निराशा मे डाल दिया था, लेकिन अन्त मे मै उनमे अपने आपको बचा सका, और इसका कारण था प्रार्थना। अब मैं आपको बता देना चाहता हू, कि जिस अर्थ मे सत्य मेरे जीवन का एक भाग रहा है, उस तरह प्रार्थना नही रही है। इसका आरम्भ सर्वथा आवश्यकता के कारण हुआ, क्योकि जब कभी मैने अपने को कठिनाई मे पाया, कदाचित् इसके बिना मैं सुखी न हो सका। और जितना अधिक मेरा ईश्वर मे विश्वास बढा, उतनी ही अधिक प्रार्थना के प्रति मेरी लगन बढने लगी। इसके बिना जीवन सुस्त और नीरस मालूम होने लगा। दक्षिण अफ्रीका मे मै ईसाइयो की प्रार्थना मे सम्मिलित हुआ था, लेकिन वह मुझे आकर्षित करने मे असफल हुई। मै प्रार्थना मे उनका साथ न दे सका। उन्होने ईश्वर की प्रार्थना की, किन्तु मै ऐसा न कर सका, मैं बुरी तरह असफल हुआ। मैंने ईश्वर और प्रार्थना

गया है। जहाँ किसी सेवक के मन मे यह विचार आया कि उसकी सेवकाई गई कि वस सरदारी आई। सेवा मे अपनी सुविधा के विचार की गुजाइश नही होती। सेवक की सुविधा स्वामी —ईश्वर देखे, देनी होगी तो वह देगा। यह खयाल रखते हुए सेवक को चाहिए कि जो कुछ आ जाय, सबको न अपना बैठे, आवश्यकता भर को ही ले, बाकी का त्याग करे; अपनी सुविधा की रक्षा न होने पर भी शान्त रहे; रोप न करे, मन मे भी खिन्नता न लाये। याज्ञिक का बदला, सेवक की मजदूरी, यज्ञ—सेवा, ही है। उसी मे उसका सन्तोप है।

— मंगलप्रभात, २८।१०।१९३०। गीता-बोध, पृ० ३२, स० सा० मं०, संस्करण १९५४]

५०. यज्ञार्थ कर्म

यज्ञ-कार्य के सिवा सारे कर्म लोगो को बन्धन मे रखते है। यज्ञ के मानी हैं, अपने लिए नही, बल्कि दूसरे के लिए, परोपकार के लिए, किया हुआ श्रम अर्थात् सक्षेप मे सेवा।. . .

— सोमप्रभात, २४।११।१९३०। गीता-बोध, पृ० १६, स० सा० मं०, संस्करण १९५४]

५१. ईश्वरवत् निष्कामता

जगत् मे जितनी प्रवृत्तियाँ है, सब ईश्वरीय नियमो के अधीन होती है, फिर भी ईश्वर उनसे अलिप्त रहता है, इसलिए वह उनका कर्त्ता है और अकर्त्ता भी। यो अलिप्त रहकर, अछूते रहकर, फलेच्छा से रहित होकर जैसे ईश्वर चलता है वैसे मनुष्य भी निष्काम रहकर चले तो अवश्य मोक्ष पा जाय। ऐसा मनुष्य कर्म मे अकर्म देखता है और ऐसे मनुष्य को न करने योग्य कर्म का भी तुरन्त पता चल जाता है।

— सोमप्रभात, १।१२।१९३०। गीता-बोध, पृ० २३, स० सा० म०, सस्करण १९५४]

५२. विविध यज्ञ

यज्ञ तो अनेक प्रकार के कहे गये है। उन सबके मूल मे शुद्धि और सेवा होती है। इन्द्रिय-दमन एक प्रकार का यज्ञ है, किसी को दान देना दूसरी प्रकार का।

प्राणायामादि भी शुद्धि के लिए आरम्भ किये जानेवाले यज्ञ है। यदि सब लोग बिना समझे-बूझे यज्ञ के नाम पर अनेक प्रवृत्तियाँ करने लग जायें तो अज्ञान के निमित्त होने के कारण, भले के बदले बुरा नतीजा भी हो सकता है। इसलिए हरएक काम ज्ञानपूर्वक करने की पूरी आवश्यकता है।

—सोमप्रभात, १।१२।१९३०। गीता-बोध, स० सा० म०, दसवा सस्करण १९५४]

५३. ईश्वर

ईश्वर महान है और हम रज-मात्र है। किन्तु अपने अभिमान मे जब हम अपनी जिह्वा से कहते है कि ईश्वर महान है, तब हमारे कार्य इस कथन को झूठा सिद्ध करते है। वे बतलाते है कि हम ईश्वर और अपनी महत्ती सविनयता के सम्बन्ध मे कुछ नही सोचते।

—य० इ०। हि० न० जी०, १३।८।१९३१]

५४. प्रार्थना : एक अनुभूति

[गोलमेज परिषद् मे भाग लेने के लिए लन्दन जाते समय राजपूताना जहाज पर एक सान्ध्य प्रार्थना-सभा मे किया गया प्रवचन।—सम्पा०]

प्रार्थना मेरे जीवन की रक्षिका रही है। इसके बिना मै बहुत पहिले ही पागल हो गया होता। मेरी आत्म-कथा मे आपको मालूम होगा कि अपने जीवन मे मुझे सार्वजनिक और निजी सब तरह के पर्याप्त कटु-से-कटु अनुभव हुए है। उन्होने मुझे क्षणिक निराशा मे डाल दिया था, लेकिन अन्त मे मै उनसे अपने आपको बचा सका, और इसका कारण था प्रार्थना। अब मैं आपको बता देना चाहता हूँ, कि अर्थ मे सत्य मेरे जीवन का एक भाग रहा है, उस तरह प्रार्थना नही आरम्भ सर्वथा आवश्यकता के कारण हुआ, क्योंकि जब कभी कठिनाई मे पाया, कदाचित् इसके बिना मैं सुखी न हो सका। और मेरा ईश्वर मे विश्वास बढा, उतनी ही अधिक प्रार्थना के प्रति मे लगी। इसके बिना जीवन सुस्त और नीरस मालूम होने लगा। द मे मैं ईसाइयो की प्रार्थना मे सम्मिलित हुआ था, लेकिन वह मुझे आक असफल हुई। मैं प्रार्थना मे उनका साथ न दे सका। उन्होने ईश्व की, किन्तु मैं ऐसा न कर सका, मैं बुरी तरह असफल हुआ। मैंने ईश्वर

गया है। जहाँ किसी सेवक के मन मे यह विचार आया कि उसकी सेवकाई गई कि बस सरदारी आई। सेवा मे अपनी सुविधा के विचार की गुजाइश नही होती। सेवक की सुविधा स्वामी —ईश्वर देखे, देनी होगी तो वह देगा। यह ख़याल रखते हुए सेवक को चाहिए कि जो कुछ आ जाय, सबको न अपना बैठे, आवश्यकता भर को ही ले, बाकी का त्याग करे, अपनी सुविधा की रक्षा न होने पर भी शान्त रहे; रोष न करे, मन मे भी खिन्नता न लाये। याज्ञिक का बदला, सेवक की मजदूरी, यज्ञ—सेवा, ही है। उसी मे उसका सन्तोष है।

—मंगल प्रभात, २८।१०।१९३०। गीता-बोध, पृ० ३२, स० सा० मं०, संस्करण १९५४]

५०. यज्ञार्थ कर्म

यज्ञ-कार्य के सिवा सारे कर्म लोगो को बन्धन मे रखते है। यज्ञ के मानी है, अपने लिए नही, बल्कि दूसरे के लिए, परोपकार के लिए, किया हुआ श्रम अर्थात् सक्षेप मे सेवा।

—सोमप्रभात, २४।११।१९३०। गीता-बोध, पृ० १६, स० सा० मं०, संस्करण १९५४]

५१. ईश्वरवत् निष्कामता

जगत् मे जितनी प्रवृत्तियाँ है, सब ईश्वरीय नियमो के अधीन होती है, फिर भी ईश्वर उनसे अलिप्त रहता है, इसलिए वह उनका कर्त्ता है और अकर्त्ता भी। यो अलिप्त रहकर, अछूते रहकर, फलेच्छा से रहित होकर जैसे ईश्वर चलता है वैसे मनुष्य भी निष्काम रहकर चले तो अवश्य मोक्ष पा जाय। ऐसा मनुष्य कर्म मे अकर्म देखता है और ऐसे मनुष्य को न करने योग्य कर्म का भी तुरन्त पता चल जाता है।

—सोमप्रभात, १।१२।१९३०। गीता-बोध, पृ० २३, स० सा० मं०, सस्करण १९५४]

५२. विविध यज्ञ

यज्ञ तो अनेक प्रकार के कहे गये है। उन सबके मूल मे शुद्धि और सेवा होती है। इन्द्रिय-दमन एक प्रकार का यज्ञ है; किसी को दान देना दूसरी प्रकार का।

प्राणायामादि भी शुद्धि के लिए आरम्भ किये जानेवाले यज्ञ है। यदि सब लोग बिना समझे-बूझे यज्ञ के नाम पर अनेक प्रवृत्तियां करने लग जायें तो अज्ञान के निमित्त होने के कारण, भले के बदले बुरा नतीजा भी हो सकता है। इसलिए हरएक काम ज्ञानपूर्वक करने की पूरी आवश्यकता है।

—सोमप्रभात, १।१२।१९३०। गीता-बोध, स० सा० म०, दसवां सस्करण १९५४]

५३. ईश्वर

ईश्वर महान है और हम रज-मात्र है। किन्तु अपने अभिमान मे जब हम अपनी जिह्वा से कहते है कि ईश्वर महान है, तब हमारे कार्य इस कथन को झूठा सिद्ध करते है। वे बतलाते है कि हम ईश्वर और अपनी महती अकिंचनता के सम्बन्ध मे कुछ नही सोचते।

—य० इ०। हि० न० जी०, १३।८।१९३१]

५४. प्रार्थना : एक अनुभूति

[गोलमेज परिषद् मे भाग लेने के लिए लन्दन जाते समय राजपूताना जहाज पर एक सान्ध्य प्रार्थना-सभा मे किया गया प्रवचन।—सम्पा०]

प्रार्थना मेरे जीवन की रक्षिका रही है। इसके बिना मैं बहुत पहिले ही पागल हो गया होता। मेरी आत्म-कथा मे आपको मालूम होगा कि अपने जीवन मे मुझे सार्वजनिक और निजी सब तरह के पर्याप्त कटु-से-कटु अनुभव हुए है। उन्होंने मुझे क्षणिक निराशा मे डाल दिया था, लेकिन अन्त मे मैं उनसे अपने आपको बचा सका, और इसका कारण था प्रार्थना। अब मैं आपको बता देना चाहता हू, कि जिस अर्थ मे सत्य मेरे जीवन का एक भाग रहा है, उस तरह प्रार्थना नही रही है। इसका आरम्भ सर्वथा आवश्यकता के कारण हुआ, क्योकि जब कभी मैंने अपने को कठिनाई मे पाया, कदाचित् इसके बिना मैं सुखी न हो सका। और जितना अधिक मेरा ईश्वर मे विश्वास बढा, उतनी ही अधिक प्रार्थना के प्रति मेरी लगन बढने लगी। इसके बिना जीवन सुस्त और नीरस मालूम होने लगा। दक्षिण अफ्रीका मे मैं ईसाइयो की प्रार्थना मे सम्मिलित हुआ था, लेकिन वह मुझे आकर्षित करने मे असफल हुई। मैं प्रार्थना मे उनका साथ न दे सका। उन्होंने ईश्वर की प्रार्थना की, किन्तु मैं ऐसा न कर सका, मैं बुरी तरह असफल हुआ। मैंने ईश्वर और प्रार्थना

मे अविश्वास करना शुरू कर दिया और आगे चलकर जीवन की एक विशेष अवस्था के सिवा, मैंने जीवन मे किसी बात को असम्भव नही समझा। लेकिन उस अवस्था मे मैंने अनुभव किया कि जिस तरह शरीर के लिए भोजन अनिवार्य है, उसी तरह आत्मा के लिए प्रार्थना अनिवार्य है। वस्तुत भोजन शरीर के लिए इतना आवश्यक नही है, जितनी आत्मा के लिए प्रार्थना, क्योकि शरीर को स्वस्थ रखने के लिए भूखे रहने या उपवास करने की अक्सर आवश्यकता हो जाती है, किन्तु प्रार्थना का उपवास-जैसी कोई वस्तु नही है। सम्भवत आप प्रार्थना का अतिरेक नही पा सकते। ससार के सबसे बडे शिक्षको मे तीन महान शिक्षक बुद्ध, ईसा और मुहम्मद अपना यह अकाट्य अनुभव छोड गये हैं कि उन्हे प्रार्थना के द्वारा प्रकाश मिला और उसके बिना जीवित रह सकना सम्भव नही। पास का उदाहरण लीजिए। करोडो हिन्दू, मुसलमान और ईसाई अपने जीवन का समाधान केवल प्रार्थना मे पाते हैं। या तो आप उन्हे झूठा कहेगे या आत्मवचक। तब मैं कहूँगा, कि यदि यह असत्यता है, जिसने मुझे जीवन का वह मुख्य आधार दिया है, जिसके बिना मैं एक क्षण को भी जीवित नही रह सकता था, तो मुझ सत्य-सशोधक के लिए इसी मे मोहकता है। राजनीतिक क्षितिज मे निराशा के स्पष्ट दर्शन होने पर भी मैंने कभी अपनी शान्ति नही खोई। वस्तुत मुझे ऐसे आदमी मिले है, जो मेरी शान्ति से ईर्ष्या करते है। मैं आपको बता देना चाहता हूँ कि मुझे यह शान्ति प्रार्थना से ही मिलती है। मैं कोई विद्वान व्यक्ति नही हूँ, किन्तु नम्रतापूर्वक कहना चाहता हूँ कि मैं प्रार्थना का प्राणी हूँ। मै प्रार्थना के रूप के सम्बन्ध मे उदासीन हूँ। इस सम्बन्ध मे प्रत्येक अपने लिए नियम निश्चित करने मे स्वतन्त्र है। किन्तु कुछ सु-चिह्नित मार्ग है, और प्राचीन शिक्षको-द्वारा अनुभूत मार्ग पर चलना अच्छा है। मैं अपना व्यावहारिक अनुभव बता चुका हू। प्रत्येक को प्रयत्न करना और यह अनुभव करना चाहिए कि दैनिक प्रार्थना के रूप मे वह अपने जीवन मे किसी ऐसी चीज की वृद्धि कर रहा है, जिसकी समता किसी से नही की जा सकती।

—यं० इं०। हि० न० जी०, २४।९।१९३१]

- प्रार्थना मेरे जीवन की रक्षिका रही है।
- जिस तरह शरीर के लिए भोजन अनिवार्य है उसी तरह आत्मा के लिए प्रार्थना अनिवार्य है।
- प्रार्थना का उपवास-जैसी कोई वस्तु नहीं है।
- आप प्रार्थना का अतिरेक नहीं पा सकते।
- मुझे......शान्ति प्रार्थना मे ही मिली है।
- मैं प्रार्थना का प्राणी हूँ।

५५. नास्तिकता और प्रार्थना

[गोलमेज परिषद् मे भाग लेने के लिए लन्दन जाते हुए राजपूताना जहाज पर गाधी जी से किये गये एक युवक के प्रश्न और उनका उत्तर।—सम्पा०]

प्रश्न—लेकिन गाधी जी, आप तो ईश्वर के विषय मे मूल से ही आस्तिकता अर्थात् विश्वास से आरम्भ करते हैं, जब कि हम नास्तिकता अर्थात् अविश्वास से आरम्भ करते हैं। ऐसी दशा मे हम प्रार्थना किस प्रकार कर सकते है?

उत्तर—ईश्वर के सम्बन्ध मे आपके अन्दर विश्वास पैदा करना मेरी शक्ति के बाहर की बात है। कई बाते स्वयसिद्ध होती है। और कई ऐसी होती है जो सिद्ध नही हो सकती। ईश्वर का अस्तित्व गणित के स्वयसिद्ध सत्यो की तरह है। यह सम्भव है कि वह हमारे हृदय-द्वारा ग्रहण न हो सके। मै बुद्धिग्राह्यता की बात ही न करूँगा। बौद्धिक प्रयत्न तो थोडे-बहुत अशो मे निष्फल ही है। बुद्धिगम्य युक्तियो अथवा दलीलो से ईश्वर के विषय मे श्रद्धा उत्पन्न नही हो सकती क्योकि यह वस्तु बुद्धि की ग्रहण-शक्ति से परे है। युक्तियाँ इसके सामने काम नही करती। ऐसी बहुत-सी घटनाएँ है, जिनसे ईश्वर के अस्तित्व की दलीले दी जा सकती है। लेकिन मै ऐसी बुद्धिगम्य दलीलो मे उतर कर आपकी बुद्धि का अपमान नही करना चाहता। मै तो आपको यही सलाह दूगा कि ऐसे बौद्धिक तर्को को एक तरफ रख दीजिए और ईश्वर के सम्बन्ध मे सीधी-सादी बालोचित श्रद्धा रखिए। यदि मेरा अस्तित्व है, मै हूँ तो ईश्वर का भी अस्तित्व है, ईश्वर भी है। वह करोडो लोगो की तरह मेरे जीवन की एक आवश्यकता है। वे करोडो लोग चाहे ईश्वर के सम्बन्ध मे व्याख्यान न दे सके, किन्तु उनके जीवन से आप जान सकते है कि ईश्वर के प्रति विश्वास उनके जीवन का अग है। आपका यह विश्वास दब गया है। मै आपसे केवल उसे सजीव करने को कहता हूँ। इसके लिए हमने जो बुद्धि को चौंधिया देनेवाला और चचल बना देनेवाला बहुत-सा साहित्य पढा है, उसे हमे भुला देना होगा। ऐसी श्रद्धा से आरम्भ कीजिए कि हम इस ससार मे अणु से भी छोटे है। इसमे नम्रता का भी आभास है और हम कुछ भी नही जानते, यह स्वीकृति भी है। हम अणु से भी छोटे है, मै यह इसलिए कहता हूँ कि अणु तो प्रकृति के नियमो की अधीनता मे रहकर उनका पालन करता है, जब कि हम अपनी अज्ञानता के मद मे प्रकृति के नियमो का अस्वीकार करते है, उन्हे भग करते है। लेकिन जिनके अन्दर श्रद्धा नही है उन्हे समझाने योग्य तर्क मेरे पास नही है।

एक बार ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार कर लिये जाने पर प्रार्थना की आवश्यकता स्वीकार किये बिना कोई गति नही। हमे इतना बडा दावा नही करना चाहिए

कि हमारा समस्त जीवन ही प्रार्थनामय है, इसलिए किसी विशिष्ट समय प्रार्थना के लिए बैठने की कोई खास जरूरत नही। जिन व्यक्तियो का सारा समय अनन्त के साथ एकाग्रता करने मे बीता है, उन्होने भी ऐसा दावा नही किया। उनका जीवन सतत प्रार्थनामय होने पर भी हमे कहना चाहिए कि वे हमारे लिए निश्चित समय पर प्रार्थना करते और प्रतिदिन ईश्वर के प्रति अपनी निष्ठा की प्रतिज्ञा दुहराते थे। अवश्य ही ईश्वर को ऐसी किसी प्रतिज्ञा की आवश्यकता नही, लेकिन हमे तो नित्य इस प्रतिज्ञा को दोहराना चाहिए। और मैं आपको विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि उस दशा मे हम अपने जीवन के सब प्रकार के दु खो से मुक्त हो जायँगे।

—यं० इं०। हिं० न० जी०, १।१०।१९३१]

- **कई बातें स्वयंसिद्ध होती हैं और......कई.....सिद्ध नहीं हो सकतीं।**
- **ईश्वर का अस्तित्व गणित के स्वयसिद्ध सत्यों की तरह है।**
- **यदि मेरा अस्तित्व है, मैं हूँ तो ईश्वर का भी अस्तित्व है, ईश्वर भी है।**
- **हम इस ससार मे अणु से भी छोटे है।**
- **जिनके अन्दर श्रद्धा नहीं है उन्हें समझाने योग्य तर्क मेरे पास नहीं है।**

५६. ब्रह्मचर्य-पालन के उपाय

[ब्रह्मचर्य-पालनेच्छुक एक लड़की को लिखे पत्र से]

ब्रह्मचर्य-पालन मे सबसे बडी चीज भ्रातृ-भावना का साक्षात्कार करना है। हम सब एक पिता के लडके-लडकियाँ है। उनमे विवाह कैसे ? खाना केवल औषध-रूप, स्वाद के लिए नही। मन को और शरीर को सेवा कार्य मे रोके रखना। सत्यनारायण का मनन करना। बाल काटने का धर्म स्पष्ट हो जाय, तो लोक-लज्जा छोडकर कटवाना। ईश्वर-भक्ति के लिए नित्य सेवा मे लीन रहना।

मनोविकार हमारे सच्चे शत्रु हैं, यह समझकर नित्य युद्ध करना। इसी युद्ध का महाभारत मे वर्णन है।

—२१।३।१९३२। म० भा० डा० भाग १, पृ० २७]

५७. ब्रह्मचर्य-साधन के उपाय

[एक बगाली साधक को लिखे गये पत्र मे]

.. ब्रह्मचर्य मन की स्थिति है। अलबत्ता सब तरह के निग्रह मे उसे मदद जरूर मिलती है। आवश्यक मन स्थिति प्राप्त करने मे आहार कम से कम सहायक

होता है, मगर गलत आहार से प्रगति रुकती तो है ही। इस आधार पर मैं यह कहना चाहता हूँ कि योग्य आहार परिमित मात्रा मे लिया जाय। लेकिन यह एक ही साधन ब्रह्मचर्य-पालन मे मदद देने के लिए काफी नही है। हाँ, (यह) बहुत से जरूरी साधनो मे से एक माना जा सकता है। जीभ का चटोरापन कमजोर मन स्थिति का लक्षण है। और यह चीज ब्रह्मचर्य के लिए बाधक है। ब्रह्मचर्य-पालन के लिए रामबाण उपाय तो इस बात का अनुभव होना है कि यह जीव परमात्मा का ही अश है और हमारे हृदय मे परमात्मा का वास है। हम यह चीज समझने लग जाय तो उससे मन की शुद्धि और दृढता प्राप्त होती है। तुम्हे ऐसी पुस्तके पढनी चाहिए, जो इस मुख्य चीज के समझने मे सहायक हो। तुम्हे ऐसी सगति मे रहना चाहिए, जिसमे तुम्हे सदा ईश्वर के हाजिर-नाजिर होने का ख्याल रहे।

— २५।४।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ ११६-११७]

- ब्रह्मचर्य मन की स्थिति है।
- जीभ का चटोरापन कमजोर मन स्थिति का लक्षण है।
- यह जीव परमात्मा का ही अश है और हमारे हृदय मे परमात्मा का वास है।

५८. सिद्धिया

[यरवदा जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट से वार्ता के दौरान व्यक्त विचार।—सम्पा०]

सुपरिण्टेण्डेण्ट—मगर . सिद्धि हो भी सकती है या नहीं? और हो भी तो उसका उपयोग क्या?

गाधीजी—उपयोग यही कि यह अन्तिम दशा को पहुँचने से पहिले की एक अवस्था है। मनुष्य को इसका पता तक न चलना चाहिए। यह सिद्धि उपयोग करने की चीज ही नही है। इसका अन्यथा उपयोग होता हो तो दूसरी बात है।

सुपरिण्टेण्डेण्ट—ऐसा हो सकता है कि मनुष्य इसके बारे मे अनजान रहे?

गाधी जी—हाँ, मैं अनजान था।

सुपरिण्टेण्डेण्ट—आप मे ऐसी कोई शक्ति है?

गाधीजी—हा, ऐसा कोई चमत्कार करने की तो नही, मगर दूसरी है। मुझे क्या पता था या है कि अमुक जगह मै अमुक शब्द बोलूगा, मगर ईश्वर मुझे वह दे देता है। यह एक शक्ति है। मगर इसका उपयोग क्या? यह अपने आप भले ही प्रकट हो।

— ८।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १४२]

५९. ईश्वर

[सुश्री भारती को लिखे पत्र से]

अगर ईश्वर है—भले हम उसे सत्य के रूप मे ही जाने—तो उसकी आराधना करना हमारा धर्म हो जाता है। हम जिसकी आराधना करते है वैसे ही वन जाते है। प्रार्थना का अर्थ इससे ज्यादा नही है। मगर इस अर्थ मे सव कुछ समझ मे आ जाता है न ? सत्य हमारे हृदय मे वसता है। मगर हमे उसका भान या पूरा भान नही है। वह हार्दिक प्रार्थना के जरिए होता है।

— १२।६।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० २११]

६०. अपरिग्रह-व्रत

[श्री छगनलाल जोशी को लिखे पत्र से]

मै यह सत्य रोज अनुभव कर रहा हूँ कि कुदरत जीवमात्र की हर क्षण की जरूरत की चीज हर क्षण पैदा करती है और तनिक भी ज्यादा नही पैदा करती। और यह भी देख रहा हूँ कि हम इस महान कानून को इच्छा या अनिच्छा से जान या अनजान मे हर घडी तोडते हैं। और यह तो हम सब देख सकते है कि इस कानून-भग से एक तरफ तो बहुत-से मनुष्य भोग का कष्ट उठा रहे है और दूसरी तरफ बेशुमार मनुष्य भूख से पीडित है। इस विपत्ति से बचने का हमारा प्रयत्न है। हा, कुदरत के इस कानून का पालन इस वक्त तो हर्गिज नही हो सकता। लेकिन इससे हमारे लिए घबराने का कोई कारण नही है।

— १७।६।१९३२। म० भा.० डा०, भाग १, पृ० २२०]

६१. प्रार्थना

प्रार्थना आश्रम का एक वुनियादी हिस्सा है। इसलिए इस चीज को हमे ठीक तौर से समझ लेना चाहिए। यह मन लगाकर न हो तो सव मिथ्या समझिए। भोजन करते समय आमतौर से हम किसी को सोता हुआ नही देखते । प्रार्थना भोजन से करोडगुना अधिक उपयोगी वस्तु है। इस वक्त कोई सोये तो यह अति दयाजनक स्थिति मानी जायगी। प्रार्थना छूट जाय तो मनुष्य को भारी दु ख होना चाहिए। खाना छूटे, पर प्रार्थना न छूटे। खाना छोडना कितनी ही वार शरीर के लिए लाभदायक होता है। प्रार्थना का छूट जाना कभी लाभदायक हो ही नही सकता।

पर जो आदमी प्रार्थना में सोता है, आलस्य करता है, बातें करता है, ध्यान न रखता है, विचार को जहां-तहां भटकने देता है उसने प्रार्थना छोड़ दी—यही कहा जायगा। उसने जो केवल शरीर से हाजिरी दी, उसकी गिनती दंभ में होगी। अर्थात् उसने दुहरा दोष किया—प्रार्थना छोड़ी और समाज को ठगा। ठगना यानी असत्य आचरण करना अर्थात् सत्यव्रत का भंग।

पर हमारे न चाहने पर भी नींद आये, आलस्य लगे तो क्या करना होगा? ऐसी बात होनी ही नहीं। अगर हम खाट से उठकर सीधे प्रार्थना में जायं तब तो वहां ऊंघेंगे ही। प्रार्थना में जाने के पहिले जागरित हो जाने, दातुन करने और ताजा रहने का निश्चय करना चाहिए। प्रार्थना में एक-दूसरे से सटकर न बैठना चाहिए, सोटे की तरह सीधा बैठना चाहिए, धीमे-धीमे सांस लेना चाहिए और उच्चारण आता हो तो ऊंची आवाज में, नहीं तो मन-ही-मन जो श्लोक या भजन पढ़ा-गाया जा रहा हो उसे बोलना चाहिए। यह भी न आये तो रामनाम ले। इतने पर भी शरीर काबू में न रहे तो खड़ा हो जाय। छोटा हो या बड़ा उसमें किसी को लजाना न चाहिए। शर्म मिटाने के लिए, बड़ों को चाहिए कि खुद ऊंघते न हों तो भी, जब-तब खड़े हो जाया करें।

प्रार्थना में जो-कुछ कहा जाय उसे तुरन्त सबको समझ लेना चाहिए। संस्कृत आती हो तो भी अर्थ तो जान ही लेना और उसका मनन करना चाहिए।
—यरवदा मन्दिर १९।६।१९३२। आश्रमवासियों से, पृ० ४५, ४६, ८७]

६२. प्रार्थना में भार नहीं

अकेले प्रार्थना तो सोते, नहाते, खाते—कोई भी क्रिया करते हुए हो सकती है। इसलिए उसका बोझ तो होगा ही नहीं, उल्टे उससे मन हल्का हो जाता है, होना चाहिए। ऐसा अनुभव न हो तो उस प्रार्थना को कृत्रिम समझना चाहिए।
—यरवदा मन्दिर, २।७।१९३२। बापू के पत्र मणि बहन पटेल के नाम, पृ० ८७, न० जी० प्र० म०]

६३. बुद्धि-योग

[एक पत्रांश]

भगवान ने यह कहा है कि जो उसे प्रेम से भजते हैं, उन्हें वह ऐसे वक्त पर बुद्धि दे देता है। यहां भगवान की जगह सत्य शब्द का उपयोग करके देखो तो अर्थ बिल्कुल स्पष्ट हो जायगा।
—३।७।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० २६५]

६४. आश्रम-प्रार्थना का पहिला श्लोक

[श्री भाऊ—आचार्य विनोबा भावे के भाई ने आश्रम-प्रार्थना के प्रातःस्मरामि[1] वाले पहिले श्लोक के सम्बन्ध मे पूछा था, यह क्या दभ नहीं है। हमारा दिन भर का काम-काज तो यह समझ कर होता है कि हम शरीर हैं। गांधी जी ने इस शंका का निम्नलिखित समाधान किया।—सम्पा०]

हमारी प्रार्थना का पहिला श्लोक[1] मुझे भी खटकता था। मगर गहरे जाने पर देखा कि समझ के साथ इस श्लोक का रहना ठीक है। हमारी बुद्धि जरूर कहती है कि हम यह मिट्टी का पुतला शरीर नही हैं, बल्कि इसमे रहनेवाले साक्षी है। श्लोको मे इसी साक्षी का वर्णन है। और फिर उपासक प्रतिज्ञा करता है कि—'मैं वही साक्षी ब्रह्म हू।' ऐसी प्रतिज्ञा वे मनुष्य ही कर सकते हैं, जो वैसा बनने की रोज कोशिश करते हो और मिट्टी के पिण्ड का सम्बन्ध कम करते जाते हो। मूर्च्छा, भय और रागद्वेष हो, उसके बजाय वे हर वक्त ब्रह्म के गुणो को याद करके रागद्वेष से छूटने की कोशिश करते हैं। ऐसा करते-करते मनुष्य जिसका ध्यान करता है, अन्त मे वसा ही बन जाता है। इसलिए नम्रता किन्तु दृढता के साथ हम रोज भले ही इस श्लोक को याद करे और हर काम मे उस प्रतिज्ञा को साक्षी तौर पर समझे।

—१०।७।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० २७९]

६५. प्रार्थना में समय का व्यय दुरुपयोग नहीं

[प्रार्थना में लगनेवाले समय के सम्बन्ध मे एक पत्रांश]

इससे द्वेष या अरुचि नही होनी चाहिए। इस्लाम मे पाच वक्त की नमाज है। हर नमाज ज्यादा नही तो पन्द्रह मिनट तो लेती है। पढने को एक ही चीज है। ईसाई प्रार्थना मे हमेशा ही एक बात रहती है। उसमे भी हर समय पन्द्रह मिनट लगते ही हैं। रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय मे और अंग्रेजो के प्रचलित गिरजे मे आध घण्टे से कम नही लगता। और वह सुबह, शाम, और दोपहर को होती है। भक्त

---

१. प्रातःस्मरामि हृदि संस्फुरदात्मतत्वम्।
सच्चित सुख परमहस गति तुरीयम्।
यत्स्वप्न जागर सुषुप्तिमवैति नित्यम्।
तद्ब्रह्म निष्कलमहं न च भूतसंघः।

को यह मुश्किल नही मालूम होता। अन्त मे अपना क्रम[1] बदलने का हम किसी को हक नही रहा क्योंकि हम सब अधूरे है और क्रम पर हमने बहुत चर्चा कर ली है। हमे उसमे दिलचस्पी पैदा करनी ही चाहिए। उसमे ईश्वर के दर्शन करने है, उसी मे हमे दैनिक पाथेय जुटाना है। फेरबदल का विचार छोडकर जो कुछ है उसी को शोभायमान बनाकर हम उसमे प्राण उडेल दे। जितना विचार करता हू मुझे तो यही लगता है।

—१०।७।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० २७६]

६६. धर्म का उपाय

[श्री कन्हैयालाल को लिखे पत्र से]

धर्म का सच्चा उपाय हर तरह से यम-नियमो का पालन है।

—१०।७।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० २७९]

६७. प्रार्थना की आवश्यकता

[एक पत्राश]

इसमे शक नही कि यह सचराचर जगत् एक कानून से चलता है। अगर आप कानून बनानेवाले के बिना कानून की कल्पना कर सकते हो, तो मै कहता हू कि यह कानून ही कानून बनानेवाला यानी ईश्वर है। हम जब उस कानून की प्रार्थना करते है, तब उसको जानने और उसका पालन करने की उत्कण्ठा दिखाते है। हम जिसकी लालसा रखते है, वही बन जाते है इसलिए प्रार्थना की जरूरत है। हमारा वर्तमान जीवन पिछले जीवन से नियत होता है। इसी कार्य-कारण के नियम से हमारा भविष्य का जीवन हमारे वर्तमान कामो से बनेगा। हमारे सामने दो या उससे ज्यादा कामो के बीच चुनाव करने का सवाल हो तो हमे यह चुनाव करना ही पडेगा।

—१४।७।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० २८६]

o हम जिसकी लालसा रखते हैं, वही बन जाते हैं।

६८. प्रार्थना : कुछ विचार

[एक पत्राश]

किसी मनुष्य या वस्तु को लक्ष्य मे रखकर प्रार्थना हो सकती है। उसका फल भी मिलता है। मगर वैसे उद्देश्य-रहित प्रार्थना आत्मा और जगत् के लिए

---

१ प्रार्थना-क्रम

ज्यादा कल्याणकारी हो सकती है। प्रार्थना का असर अपने पर होता है यानी उससे अन्तरात्मा ज्यादा जागरित होती है, और और ज्यो-ज्यो जागृति ज्यादा होती है, त्यो-त्यो उसका असर ज्यादा फैलता है। प्रार्थना हृदय का विषय है। मुँह से बोलने वगैरह की क्रियाए हृदय को जागरित करने के लिए है। व्यापक शक्ति जो बाहर है वही अन्दर है और उतनी ही व्यापक है। उसके लिए शरीर बाधक नही है। बाधा हम पैदा करते हैं। प्रार्थना से बाधा मिटती है। प्रार्थना से इच्छित फल मिला या नही, इसका हमे पता नही चलता। प्रार्थना निष्फल तो हर्गिज नही जाती, लेकिन हमे यह पता नही लगता कि कौन-सा फल देती है। और हमारा सोचा हुआ फल निकल आये तो वह अच्छा ही है—ऐसा भी नही मानना चाहिए। यहा भी गीता बोध पर अमल करना है। प्रार्थना की हो तो भी अनासक्त रहा जा सकता है। किसी की मुक्ति हमे इष्ट लगे तो उसके लिए हमे प्रार्थना करनी चाहिए, लेकिन वह मिले या न मिले इस बारे मे हमे निश्चिन्त रहना चाहिए। उल्टा नतीजा निकले तो यह मानने का कारण नही कि वह प्रार्थना निष्फल हो गई।. .

— १७।७।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० २९३]

- **उद्देश्य-रहित प्रार्थना आत्मा और जगत् के लिए ज्यादा कल्याणकारी हो सकती है।**
- **प्रार्थना हृदय का विषय है।**
- **व्यापक शक्ति जो बाहर है वही अन्दर है और उतनी ही व्यापक है।**
- **प्रार्थना से बाधा मिटती है।**
- **प्रार्थना निष्फल तो हर्गिज नहीं जाती।**

६९. व्यक्तिगत प्रार्थना

व्यक्तिगत प्रार्थना के विषय मे मैं कुछ लिख तो चुका हू, पर उसके महत्व के विषय मे फिर कुछ लिखने की आवश्यकता जान पडती है। मुझे जान पडता है कि सामाजिक प्रार्थना मे जो रस पैदा नही होता उसका एक कारण व्यक्तिगत प्रार्थना की आवश्यकता का अज्ञान है। सामाजिक प्रार्थना की व्यवस्था व्यक्तिगत प्रार्थना से ही हुई है। व्यक्ति को प्रार्थना की भूख न हो तो समाज को कहा से हो सकती है? सामाजिक प्रार्थना का उपयोग भी व्यक्ति के लाभ के लिए है। व्यक्ति के आत्म-दर्शन मे—आत्मशुद्धि मे—सामाजिक प्रार्थना सहायक सिद्ध होती है, इसलिए व्यक्तिगत प्रार्थना का मूल्य सबको समझ लेना चाहिए। बच्चा ज्योंही

समझने लगे, माता को चाहिए कि तुरन्त उसे प्रार्थना सिखा दे। सब धर्मों मे यह सामान्य वस्तु है।

इस प्रार्थना के दो समय तो पक्के है सवेरे उठते ही अन्तर्यामी का स्मरण करना और रात मे आँख मूँदते समय उसकी याद रखना। इस बीच जागरित स्त्री-पुरुष प्रत्येक क्रिया के सम्पादन मे अन्तर्यामी को याद करेगे और साक्षी रखेगे। ऐसा करने वाले से बुरा काम तो होगा ही नही और अन्त मे उसकी ऐसी आदत पड जायगी कि (वह) हर विचार का ईश्वर को साक्षी रखेगा और स्वामी बनायगा। यह शून्यवत् हो जाने की स्थिति है। इस प्रकार जिसके सामने हर समय ईश्वर रहता है उसके हृदय मे निरन्तर राम बसते है।

ऐसी प्रार्थना के लिए खास मन्त्र या भजन की जरूरत नही होती। यद्यपि प्रत्येक क्रिया के आरम्भ और अन्त के लिए मन्त्र देखने मे आते है, पर उनकी आवश्यकता नही है। चाहे जिस नाम से, चाहे जिस रीति से, चाहे जिस स्थिति मे भगवान को याद करना है। ऐसा करने की आदत बहुत थोडो को ही होती है। बहुतो को हो तो दुनिया मे पाप घट जाय, मलिनता घट जाय और आपस का व्यवहार शुद्ध हो जाय। इस शुभ स्थिति को पहुँचने के लिए हर आदमी को जो दो वक्त मैंने बताये वे तो रखने ही चाहिए, दूसरे वक्त भी खुद बाँध ले और नित्य उसमे वृद्धि करता जाय, जिससे अन्त मे हर साँस मे राम-नाम निकले।

इस व्यक्तिगत प्रार्थना मे वक्त बिल्कुल नही लगता। उसमे वक्त की जरूरत नही, सचेत रहने की जरूरत है। जैसे आँख मूँदने मे समय लगता नही जान पडता वैसे ही व्यक्तिगत प्रार्थना मे भी वह लगता नही मालूम होता। जैसे पलके अपना काम करती है, यह हम जानते है, वैसे ही प्रार्थना हृदय मे चलनी चाहिए। ऐसी प्रार्थना करनेवाले को याद रखना चाहिए कि जिसका हृदय मलिन हो वह मलिनता को बनाये रखकर प्रार्थना नही कर सकता। अर्थात् प्रार्थना के समय उसको मलिनता का त्याग करना ही चाहिए। वह कोई गन्दा काम कर रहा हो और कोई उसे देख ले तो जैसे वह शर्मायेगा वैसे ही ईश्वर के सामने भी गन्दा, बुरा काम करते हुए उसे शर्माना चाहिए। पर ईश्वर तो सदा हमारे हर काम को देखता है, हर विचार को जानता है। इसलिए ऐसा एक भी क्षण नही है जब उससे छिपाकर कोई काम या विचार किया जा सके। इस तरह जो हृदयपूर्वक प्रार्थना करेगा, वह अन्त मे ईश्वरमय ही होगा, अर्थात् निष्पाप होगा।

—यरवदा मन्दिर, १७।७।१९३२। आश्रमवासियो से, पृ० ५३, ५४, ५५]

- सामाजिक प्रार्थना की व्यवस्था व्यक्तिगत प्रार्थना से ही हुई है।

- जागरित स्त्री-पुरुष प्रत्येक क्रिया के सम्पादन मे अन्तर्यामी को याद करेंगे और साक्षी रखेंगे।
- जिसके सामने हर समय ईश्वर रहता है उसके हृदय मे निरन्तर राम बसते हैं।
- जो हृदयपूर्वक प्रार्थना करेगा, वह अन्त मे ईश्वरमय....होगा .....निष्पाप होगा।

७०. प्रार्थना और ब्रह्मचर्य

[एक भाई ने गांधी जी से पूछा था कि वे प्रार्थना के साथ ब्रह्मचर्य पर जोर क्यों नहीं देते। इन्हे उत्तर देते हुए गांधी जी ने निम्नलिखित विचार व्यक्त किये। —सम्पा०]

प्रार्थना और ब्रह्मचर्य एक ही तरह की चीजे नही है। ब्रह्मचर्य पाँच महाव्रतो मे से एक है। प्रार्थना उसे पाने का एक साधन है। ब्रह्मचर्य की जरूरत के बारे मे मैंने बहुत कहा है, बहुत समझाया है। मगर यह विचार करने पर कि उसे किस तरह साधा जाय, जवाब मे एक प्रार्थना ही बडा साधन मिला है। जो प्रार्थना का मूल्य जान सकता है और मूल्य जानने के बाद प्रार्थना मे तल्लीन हो सकता है उसके लिए ब्रह्मचर्य आसान हो जाता है।

— १५।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ३५९]

- ब्रह्मचर्य पाँच महाव्रतो मे से एक है। प्रार्थना उसे पाने का एक साधन है।

७१. प्रार्थना

[श्री बबल भाई को लिखे पत्र से]

प्रार्थना मे बैठकर भी जो भजनादि मे भाग नही लेता वह असत्य आचरण करता है।

— ११।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १५]

७२. उपवास : ईश्वरीय आदेश

[श्री पोलक को लिखे पत्र से]

अपने प्रेमपात्र को उल्टे रास्ते जाने से रोकने के लिए प्रेमी उपवास करे, तो उसमे बलात्कार नहीं। वह तो दुखी हृदय की ईश्वर तक पहुँचनेवाली आह है।

तुम्हारी भाषा मे आकाश का सगीत ऐसी ही आहो का होता है। मेरा उपवास नीद मे पडे हुए प्रेम के लिए चाबुक-जैसा था।

तुमने पूछा कि तब आपने दस वर्ष पहिले उपवास क्यो नही किया? इसका जवाब इतना ही है कि ईश्वर ने उस समय मुझे आदेश नही दिया।

— १८।९।१९३२। म० भा० डा,० भाग २, पृ० १२७]

७३. प्रार्थना और राम-नाम

[श्री वसन्तलाल मुरारका को लिखे पत्र से]

प्रार्थना मे मन की स्थिरता अभ्यास से ही आ सकती है। प्रार्थना करते समय ऐसा चिन्तन करना कि जैसे शरीर के लिए अन्न आवश्यक है, उससे भी अधिक प्रार्थना आत्मा के लिए आवश्यक है। ऐसा चिन्तन करके प्रार्थना मे बैठने से थोडे ही दिनो मे आनन्द आ जायगा। राम-नाम का विस्मरण ही सबसे बडा दुःख है, ऐसा विश्वास रखने से नाम-स्मरण स्थायी हो जायगा। असत्य सबसे बडा पातक है, ऐसा विश्वास रखने से असत्य से कुछ क्षणिक लाभ मिल जाय तो उसका त्याग करने से सत्य सहज ही प्रिय हो जायगा।

— २६।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १४९]

● राम-नाम का विस्मरण ही सबसे बडा दुःख है।

७४. अभिमान

[सुश्री मदालसा को लिखे पत्र से]

यह तुम जानती हो कि क्रोध बुरा है, अतः धीरे-धीरे वह निकल ही जायगा। इसी प्रकार अभिमान का समझो। चलते-फिरते रोना आ जाता है। यह कमजोरी का कारण है। तुम अगर खेल-कूद मे लग जाओ तो रोना बन्द हो जायगा। जरा रोने-जैसा मालूम हो कि ऊचे स्वर मे गीता-पाठ करने लग जाओ तो रोना सूझेगा ही नही। यह करके देखना।

— यरवदा मन्दिर, २२।११।१९३२। बापू के पत्र बजाज परिवार के नाम, पृ० २३६, अ० भा० सा० से० स०]

७५. प्रार्थना में श्रद्धा

मेरी सलाह है कि तू प्रार्थना की सारी विधि पर श्रद्धा रख। हो सके तो अर्थ पर ध्यान रख। वैसा न कर सके तो—वे शब्द सस्कारी है, उन्हे सुनने मे भी लाभ

है, ऐसी श्रद्धा रखकर विनयपूर्वक सुन। इसका अर्थ यह मत समझना कि मैं तुझे सात दिन के पारायण की तरफ ले जाना चाहता हू। इस प्रार्थना के पीछे कुछ लोगो की अनन्य श्रद्धा से की हुई पन्द्रह वर्ष की तपश्चर्या है, उसमे कुछ तो (सार) है ही, यह बात तेरे गले उतारने के लिए यह लिखा है।

—यरवदा मन्दिर, २४।११।१९३२। बापू के पत्र : कुमारी प्रेमा बहिन कंटक के नाम, पृ० ३३, न० जी० प्र० सं०]

७६. आध्यात्मिक उपवास

उपवास एक खास तरह का उपाय है। जबतक अन्दर से साफ तौर पर आवाज न आये, तबतक किसी को उपवास न करना चाहिए। इसलिए अनुकरण करके तो उपवास हो ही नही सकता।

—६।१२।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २५९]

७७. उपवास : आध्यात्मिक प्रयोग

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

उपवास मेरे जीवन की एक मामूली बात हो गई है। कुछ रोग इस तरह के इलाज से ही मिटते है। उनके लिए समय-समय पर आध्यात्मिक औषधि की जरूरत पडती है। सब मे यह शक्ति एकदम नही आ जाती। मुझमे वह आ गई हो, तो बहुत लम्बी तालीम के परिणाम-स्वरूप ही आई है।

—८।१२।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २६४]

७८. उपवास : ईश्वरीय आदेश

[श्री प्रज्ञानेश्वर यति को लिखे पत्र से]

मैं अपने आप कोई उपवास नही करता, अन्तर्यामी की आवाज के अनुसार ही करता हूं। यह आवाज हमेशा ईश्वर की होती है या फिर शैतान की, यह कहना आसान नही है। इतने पर भी यह कहा जा सकता है कि इसका अन्तर्यामी की आवाज होने का अपना दावा मैंने सच्चा साबित किया है।

—१०।१२।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २६८]

७९. धर्म-जागृति-हेतु तपस्या

[अकोला-निवासी श्री नाना भाई को लिखे पत्र से]

उपवास की सारी कल्पना आध्यात्मिक है। इसके बिना हमारी जड़ता दूर नही हो सकती। हमेशा जब-जब धर्म मे जड़ता आई है, तब-तब तीव्र भावना-वाले लोगो ने प्रचण्ड तपस्या की है। उसके बिना धर्म-जागृति हो ही नही सकती। अगर कोई गायब होकर, जगल मे बैठकर अनशन व्रत ले, तो उसके विरुद्ध कोई बात कहने की नही रहती। कोई मोह के वश होकर ऐसा कदम उठाये, तो उसकी गिनती मूर्खता में होगी, यह दूसरी बात है। परन्तु कोई ज्ञानपूर्वक ऐसा करे तो वह कदम निरपवाद कहलायेगा।

— ११।१२।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २७०]

८०. आध्यात्मिक प्रयत्न से कमाया अधिकार

[सुश्री उर्मिला देवी को लिखे पत्र से]

मेरे उपवास मे तुम्हे घबराना नही चाहिए। यह यम-नियम का एक अग है। यह बड़े आध्यात्मिक प्रयत्न से कमाया हुआ अधिकार है।

— १२।१२।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २७१]

८१. ईश्वरीय प्रेरणा से उपवास

मेरे उपवास मे किसी तरह की जबरदस्ती हो तो मुझे कहना चाहिए कि ईश्वर उसे चाहता है। ईश्वर की इच्छा न हो, ऐसा एक भी शब्द मैं बोलना नही चाहता। मैं यह भी नही चाहता कि कोई मेरी सुने। किन्तु जब करोड़ो लोग सुनते है तो आपको जानना चाहिए कि यह केवल आधिभौतिक वस्तु नही है। ऐसे करोड़ो मनुष्यो पर , जिन्होने मुझे देखा भी न हो या सुना भी न हो, मेरे कृत्य या वचन का असर पडे, तो मुझे कहना चाहिए कि ईश्वर मेरे द्वारा काम कर रहा है। चम्पा-रन मे मैं पहिले कभी गया नही था। वहा लाखो आदमियो ने मुझे घेर लिया। किसलिए ? वे लोग मुझे जानते तो नही थे। मै तो सारी जिन्दगी दक्षिण अफ्रीका रहा था और वहा मैने तमिल लोगो मे काम किया था। फिर बिहारी किसलिए मेरे पीछे हो लिये ? जो वस्तु हम समझ नही सकते या जिस वस्तु का हम स्पष्टी-करण नही कर सकते, उसका वर्णन करने के लिए गूढ शब्द बनाया गया है। यह

अनिवार्य है। आध्यात्मिक हेतु से जो उपवास किया जाय और जिसमे सारी प्रवृत्ति केवल आध्यात्मिक ही हो, उसका जादू का-सा असर होता है। यह कहा जाता है कि वह गूढ रीति से काम करता है। तुच्छ हेतु से जो उपवास किया जाता है, उससे किसी का भी भला नही होता। उसका उपवास करनेवाले के शरीर को कष्ट होने के सिवा और कोई असर नही होता।

—५।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० १७]

- **जब करोड़ो लोग (मेरी बात) सुनते हैं, तो आपको जानना चाहिए कि यह केवल अधिभौतिक वस्तु नहीं है।**
- **आध्यात्मिक हेतु से जो उपवास किया जाय और जिसमे सारी प्रवृत्ति केवल आध्यात्मिक ही हो, उसका जादू का-सा असर होता है।**
- **तुच्छ हेतु से जो उपवास किया जाता है, उससे किसी का भी भला नहीं होता।**

८२. हमारा धर्म

[सुश्री वत्सला को लिखे पत्र से]

जिसको दु ख है उसके दु ख मिटाने की यथाशक्ति चेष्टा करके और सत्यादि यमो का भलीभाँति पालन करके जीवमात्र की सेवा होती है। जो असत्य, हिंसा, परिग्रह, स्तेय, अब्रह्मचर्य करते है, वे प्राणिमात्र को दु ख देते हैं, सत्यादि का पालन करके दु ख मिटाते है अर्थात् सेवा करते हैं।

— १६।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० ५६]

८३. उपवास, अल्पाहार और प्रार्थना

बिना उपवास के प्रार्थना सम्भव नही,—यह कथन पूर्णतया सत्य है। यहा उपवास को व्यापक अर्थ मे लेना चाहिए। शरीर के उपवास के साथ-साथ सभी इन्द्रियो का उपवास होना आवश्यक है। और गीता मे वर्णित अल्पाहार भी शरीर का उपवास है। गीता भोजन-निग्रह का आदेश नही देती, बल्कि अल्पाहार के लिए कहती है। अल्पाहार सदा चलनेवाला उपवास है। अल्पता का अर्थ है कि केवल उतना ही भोजन किया जाय, जितना शरीर को उस सेवा के लिए बनाये रखने को पर्याप्त हो, जिसे करने के लिए उसका निर्माण हुआ है। इसकी कसौटी पुन इस कथन से मिलती है कि जिस प्रकार स्वाद के लिए नही, बल्कि शरीर-आरोग्यता के लिए नपी-तुली मात्रा मे और निश्चित समय पर औषधि का सेवन किया जाता है, उसी प्रकार आहार भी किया जाय। नपी-तुली मात्रा मे अल्पता

का भाव शायद अधिक अच्छी तरह से आ जाता है। आर्नल्ड[1] का रूपान्तर मुझे स्मरण नहीं है। पूरा भोजन लेना ईश्वर और मानव के प्रति पाप है। मानव के प्रति इसलिए कि पूरा भोजन करके हम पड़ोसियों को उनके भाग से वंचित करते हैं। भगवान की अर्थ-व्यवस्था में केवल औषधीय मात्रा में प्रतिदिन सबको भोजन लेने की गुंजाइश है। हम सब-के-सब पूरा भोजन लेनेवाली जाति के लोग हैं। अन्तःप्रवृत्ति से यह जान लेना कि औषधीय मात्रा क्या है, भगीरथ काम है, क्योंकि हमें मां-बाप का शिक्षण ऐसा मिलता है कि हम पेटू बन जाते हैं। जब हम अस्वस्थ हो जाते हैं तब हमें पता चलता है कि भोजन का उपयोग स्वाद के लिए नहीं, बल्कि अपने दास के रूप में अपने शरीर को बनाये रखने के लिए होना चाहिए। उस क्षण से आनन्द के लिए भोजन करने के पैतृक और स्व-अर्जित स्वभाव के विरुद्ध युद्ध शुरू हो जाता है। इसलिए कभी-कभी पूर्ण उपवास और सदैव आंशिक उपवास करने की आवश्यकता होती है। आंशिक उपवास का अर्थ अल्पाहार अथवा गीता के अनुसार नपा-तुला भोजन लेना है। इस प्रकार उपवास के बिना प्रार्थना सम्भव नहीं—यह कथन वैज्ञानिक है और इसकी सत्यता की परीक्षा प्रयोग और अनुभव-द्वारा की जा सकती है।

—२६।१।१९३३। 'बापूज़ लेटर्स टू मीरा']

- बिना उपवास के प्रार्थना सम्भव नहीं।
- शरीर के उपवास के साथ-साथ सभी इन्द्रियों का उपवास होना आवश्यक है।
- गीता में वर्णित अल्पाहार भी शरीर का उपवास है।
- अल्पाहार सदा चलनेवाला उपवास है।
- पूरा भोजन लेना ईश्वर और मानव के प्रति पाप है।
- भोजन का उपयोग स्वाद के लिए नहीं, बल्कि अपने दास के रूप में अपने शरीर को बनाये रखने के लिए होना चाहिए।
- कभी-कभी पूर्ण उपवास और सदैव आंशिक उपवास करने की आवश्यकता होती है।

८४. धर्म का नाश नहीं

मैं इतनी प्रतिज्ञा अवश्य करूँगा कि हिन्दू धर्म अथवा किसी धर्म का नाश किसी के आक्रमण से कभी नहीं हो सकता। यह स्वयंसिद्ध नियम है। किसी बाह्य

---

१ एडविन आर्नाल्ड, अंग्रेज कवि, द्वारा किया गया गीता का पद्यानुवाद।

शक्ति से जिसका नाश हो सकता है वह धर्म नही, भले ही वह सामाजिक व्यवहार हो। धर्म का नाश उसके अन्दर कोई गन्दगी पैदा होने से ही हो सकता है।

जिसका पालन स्वेच्छा से किया जाय वही धर्म हो सकता है।

—ह० से०, १७।३।१९३३]

● **किसी बाह्य शक्ति से जिसका नाश हो सकता है, वह धर्म नहीं।**

८५. आत्मशुद्धि-हेतु मन्दिर

मन्दिर जाना आत्मा की शुद्धि के लिए है। पूजा करनेवाला उपासक अपने भीतर उत्तम वृत्तियो का विकास करता है। किसी सजीव व्यक्ति को प्रणाम किया जाय और वह प्रणाम नि स्वार्थ हो, तो प्रणाम करनेवाला जिसे प्रणाम किया गया है उसके उत्तम गुणो को खीच सकता है और ग्रहण कर सकता है। सभी सजीव व्यक्ति हमारी ही तरह भूल करनेवाले हो सकते है। परन्तु मन्दिर मे हम ऐसे चेतन ईश्वर की पूजा करते है, जिसकी पूर्णता हमारी कल्पना से परे है। सजीव व्यक्तियो को लिखे गये पत्रो का उत्तर मिलने पर भी अक्सर वे अन्त मे हृदय-विदारक सिद्ध होते है और यह भी निश्चय नही कि उनका उत्तर हमेशा मिलेगा ही। ईश्वर के नाम लिखे गये पत्रो मे, जो भक्त की कल्पना के अनुसार मन्दिरो मे रहता है, न दावात-कलम की जरूरत होती है, न कागज की। वाणी की भी आवश्यकता नही। मूक पूजा ही पत्र बन जाती है और उसका उत्तर मिले बिना नही रहता। सारी क्रिया श्रद्धा के प्रत्यक्ष आचरण का एक सुन्दर रूप है। इसमे कोई प्रयत्न व्यर्थ नही जाता, दिल के टूटने का कोई सवाल नही रहता और गलतफहमी होने का भी कोई खतरा नही होता। मन्दिर, मस्जिद या गिरजे मे पूजा करने के पीछे जो सरल तत्वज्ञान है, उसे पत्रलेखक को समझने की कोशिश करनी चाहिए। अगर वह यह समझ लेगा कि मै ईश्वर के इन भिन्न-भिन्न निवास स्थानो मे कोई भेद नही करता, तो मेरी बात उसकी समझ मे ज्यादा अच्छी तरह आ जायगी। ये स्थान तो मनुष्य के हृदय की श्रद्धा ने खडे किये है। ये किसी-न-किसी तरह अदृश्य शक्ति तक पहुँचने की मानव की लालसा के परिणाम है।

—ह० ज०, १८।३।१९३३]

● ईश्वर के नाम लिखे गये पत्रों में......न दवात-कलम की जरूरत होती है, न कागज की। वाणी की भी आवश्यकता नहीं। मूक पूजा ही पत्र बन जाती है।

मेरे लिए ईश्वरीय प्रेरणा, अन्तर्नाद, अन्त प्रेरणा, सत्य का सन्देश आदि एक ही अर्थ के सूचक शब्द हैं। मुझे किसी आकृति के दर्शन नही हुए, ईश्वर का साक्षात्कार नही हुआ। मैं नही मानता, कि मुझे किसी आकृति के दर्शन होगे। ईश्वर निराकार है, इसीलिए उसका दर्शन आकृतिरूप मे नही हो सकता।

जिसे ईश्वर का साक्षात्कार हो जाता है, वह सर्वथा निष्कलक हो जाता है। वह कामना-रहित हो जाता है। उसके विचार मे दोष, अपूर्णता या कलुप नही रहता। उसका कार्यमात्र सम्पूर्ण होता है, कारण कि वह स्वय कुछ नही करता, उसके अन्तर मे रहनेवाला अन्तर्यामी ही सब कुछ करता है। वह तो उसी मे लीन हो जाता है। करोडो मे किसी एक को ऐसा साक्षात्कार होता है। ऐसा साक्षात्कार हो सकता है, इस बारे मे मुझे रचमात्र भी शका नही है। ऐसा साक्षात्कार करने की मेरी अभिलाषा है, पर अभी तक वह हुआ नही है। मैं जानता हू, कि अभी मै उससे बहुत दूर हू। मुझे जो प्रेरणा हुई, वह एक अद्‌भुत वस्तु थी, और ऐसी प्रेरणा समय-समय पर या किसी समय बहुतो को होती है। ऐसी प्रेरणा के लिए विशेष साधना की आवश्यकता होती है। जब साधारण-से-साधारण कार्य करने की शक्ति प्राप्त करने के लिए कुछ प्रयत्न और साधना की आवश्यकता होती है, तब ईश्वरीय प्रेरणा होने की योग्यता प्राप्त करने के लिए भी प्रयत्न और साधना की जरूरत हो, तो इसमे आश्चर्य ही क्या ? मुझे यह प्रेरणा हुई थी। जिस रात को यह प्रेरणा हुई, उस रात को हृदय मे खूब हलचल मची हुई थी, चित्त व्याकुल था, मार्ग नही सूझता था। मैं उत्तरदायित्व के भार से दबा जाता था। इसी समय सहसा आवाज आई। बहुत दूर से आती हुई भी निकट ही मालूम पडती थी। यह अनुभव असाधारण था। मानो कोई मनुष्य ही कुछ कह रहा हो, ऐसी आवाज थी। इस समय मेरी स्वप्नावस्था नही थी। मै जागरित था। रात की पहली नीद लेने के बाद मैं एक क्षण मे उठ बैठा। मैं नही समझ सका, कि कैसे उठ गया। अन्तर्नाद सुनने के बाद हृदय की वेदना शान्त हो गई। मैंने निश्चय कर लिया। अनशन की तारीख और घडी भी निश्चित कर ली, मेरा भार एकदम हल्का हो गया। हृदय उल्लसित हो उठा। यह समय ११ और १२ के बीच का था। मन मे स्फूर्ति आ गई। मैं शय्या से उठ कर कमरे मे गया, बत्ती जलाई और मुझे जो लिखना था वह लिखने बैठ गया। पाठको ने मेरा वह लेख तो देख ही लिया होगा।

मुझे जो ईश्वरीय प्रेरणा हुई थी, वह मेरे गरम दिमाग से निकली हुई तरग नही थी, यह सिद्ध करने के लिए मुझसे कहा गया है। उपर्युक्त वर्णन पर जो विश्वास न कर सके, उसके लिए मेरे पास कोई अन्य प्रमाण नही है। वह कह

सकता है, कि यह वर्णन केवल आत्म-प्रवचना है। यही बात दूसरो के बारे मे भी हुई है। मेरे लिए आत्म-प्रवचना का होना असम्भव है, यह तो मैं नही कह सकता, कहू भी तो सिद्ध नही कर सकता। पर इतना कह सकता हू, कि अगर सारा जगत् ही मेरा कहना न माने और विरुद्ध बात कहे, तो भी मुझे अन्तर्नाद हुआ और ईश्वरीय प्रेरणा हुई, इस बात पर मैं अन्त तक डटा रहूगा।

पर कितने तो ईश्वर के अस्तित्व ही को नही मानते। वे तो यहा तक कहते है, कि ईश्वर-जैसी कोई कोई वस्तु है ही नही। वह केवल मनुष्य की कल्पना की एक कृति है। जहा ऐसे विचार बस रहे हो, वहा किसी का कुछ बस नही चलता, क्योकि उनमे मन तो कल्पना के घोडे-रूप हो जाता है। ऐसे लोग मेरे कथन को भले ही कल्पना का एक नवीन घोडा समझे फिर भी उन्हे समझ लेना चाहिए, कि जहा तक इस कल्पना का मेरे ऊपर अधिकार है, वहा तक मै उसके वश मे रह कर ही चल सकता हू। सत्य-से-सत्य वस्तु भी सापेक्ष, अर्थात् दूसरे के प्रमाण से ही सत्य होती है। सम्पूर्ण और शुद्ध सत्य तो केवल ईश्वर के विषय म ही हो सकता है। जो आवाज मैने सुनी, वह मुझे अपने अस्तित्व से अधिक सत्य मालूम होती है। इसके अधीन होकर मैने कुछ खोया नही, बल्कि प्राप्त ही अधिक किया है। जिन दूसरे लोगो ने इस अन्तर्नाद के सुनने का दावा किया है, उन्हे भी यही अनुभव हुआ है।

कोई मुझसे पूछे, कि अनशन के औचित्य के बारे मे मुझे कोई शका है या नही, तो मै कह सकता हू कि मुझे कोई शका नही। इतना ही नही बल्कि इस अनुभव के अत्यन्त मधुर स्मरण मेरे पास हैं। यद्यपि शरीर को बहुत कष्ट था, पर उस समय की अनिर्वचनीय शान्ति से मुझे शरीर के कष्ट का पूरा-पूरा बदला मिल गया। शान्ति तो मुझ अपने प्रत्येक उपवास मे प्राप्त हुई है, पर इस अन्तिम उपवास की शान्ति कुछ और ही थी। शायद इसका कारण यह था कि इस समय मेरी दृष्टि अनशन के किसी भी परिणाम पर नही थी। पहिले अनशनो मे कुछ-न-कुछ स्पष्ट दिखाई पड सकनेवाले परिणामो के ऊपर मेरे मन मे आशा रहती थी, पर इस बार ऐसा कुछ नही था। इतनी श्रद्धा अवश्य थी, कि उपवास के फलस्वरूप आत्म-शुद्धि और थोडी बहुत अन्य साथियो की शुद्धि तो होगी ही। मेरे सहयोगी इतना तो समझ ही जायगे, कि अन्तर की शुद्धि के बिना सच्ची हरिजन-सेवा असम्भव है। पर इस परिणाम को नापने के लिए मेरे पास कोई माप-दण्ड नही है। अत कहा जा सकता है, कि परिणाम के ऊपर बाह्य दृष्टि रखने के बजाय मैं इन इक्कीस दिनो मे मुख्यत अन्तर्मुख होकर ही रहा।

इस अनशन के स्वरूप पर कुछ विस्तृत विचार करना उचित होगा। क्या यह केवल-मात्र देह-दमन था? मेरा दृढ विश्वास है, कि केवल देह-दमन के लिए किये गये अनशन से, वैज्ञानिक दृष्टि से, शरीर को तो कुछ लाभ पहुँचता है। पर इसके अतिरिक्त और कुछ असर नही होता। मै जानता हू, कि मेरा उपवास देह-दमन के लिए तनिक भी नही था। देह-दमन के लिए मेरी तैयारी भी नही थी। जिस समय मैने प्रतिज्ञा की थी, उस समय अनशन कल्पना के बाहर था। इस बीच मे मित्रो को लिखे गये पत्रो से स्पष्ट है, कि केवल तात्कालिक अनशन मेरी दृष्टि के बाहर था। मेरे लिए यह अनशन, हृदय मे से निकली हुई ईश्वर के प्रति याचना अथवा प्रार्थना के समान था। मुझे जितना प्रार्थना का अनुभव होता जाता है, उतना ही मुझे यह स्पष्ट प्रकट होता जाता है, कि न्यूनाधिक अनशन के बिना शुद्ध प्रार्थना असम्भव है। इस स्थान पर अनशन का विस्तृत अर्थ करना ठीक होगा। अनशन मे, थोडे-बहुत अश मे, अपनी समस्त इन्द्रियो को पोषण करने वाली क्रिया बन्द करनी पडती है। प्रार्थना अन्तस्तल की वस्तु है। प्रार्थना करते समय मनुष्य न तो आँख से कोई चीज देखता है, न कान से कोई दूसरा शब्द सुनता है, और न अन्य इन्द्रियो से ही कुछ काम लेता है। विचार-सहित वह केवल प्रार्थना मे ही लीन रहता है। तो फिर ऐसी दशा मे खाने की क्रिया मन्द पड जाय अथवा बिल्कुल बन्द हो जाय, इसमे विचित्रता ही क्या है? अत जो मनुष्य प्रार्थना मे ही लीन है, उसे और किसी क्रिया की बात सूझ ही नही सकती। ऐसा भी समय आ सकता है, जब मनुष्य केवल प्रार्थनामय हो जाय। इसका अर्थ साक्षात्कार है। इस समय वह खाता, पीता और चाहे जो काम करता हुआ प्रार्थना ही करता है, कारण कि उसकी प्रवृत्तिमात्र ही एक महायज्ञ के समान हो जाती है। वह स्वय शून्यवत् होकर विचरण करता है। इस अवस्था को सन्तो ने सहज समाधि कहा है। असख्य मनुष्य अनशनमय प्रार्थना करते है, उनमे से कोई कोई बिरला ही सहज समाधि प्राप्त कर सकता है। अत मुझ-जैसे सामान्य मनुष्य की प्रार्थना का आरम्भ सब इन्द्रियो के दमन से ही हो सकता है। इस रीति से अनशन का विचार करते हुए, आध्यात्मिक दृष्टि से किया अनशन हृदय का नाद होता है। इसमे आत्मा की, परमात्मा मे लीन हो जाने की तीक्ष्ण वृत्ति रहती है। मेरा अनशन कितने अश में प्रकार का था, यह मैं नही जानता। मैं तो इतना ही जानता हू कि अनशन इस दृष्टि से ही किया गया था। ईश्वरीय प्रेरणा की मेरी भूख बहुत वर्षो की है। इस भूख की तृप्ति अभी नही हुई है। मेरा छोटे-से-छोटा कार्य भी ईश्वर-प्रेरित होता है, और इसी के लिए मैं सारा पुरुषार्थ करता हू, इतना ही मैं कह सकता हू। फल-प्राप्ति की परवाह न करने

पर भी इस अनशन के कितने ही परिणाम मुझे दिखाई पड़े है। इस अनशन से प्रेरित होकर कितने ही साथियों ने आत्म-शुद्धि की है।

इसीलिए प्रतिदिन मेरा यह निश्चय दृढ होता जाता है, कि अनशनकारियों की एक शृंखला निर्मित की जाय। उसमें सुयोग्य स्त्री-पुरुष अपना-अपना योग दें और वे सब इस शृंखला की कड़ियां बन जाय। यह शृंखला कैसे निर्मित होगी, इसमें कड़ियों का रूप कौन लेगा, यह सब मैं अभी स्पष्ट रूप से नहीं जानता।
—ह० ब०। ह० से० १४।७।१९३३]

- न्यूनाधिक अनशन के बिना शुद्ध प्रार्थना असभव है।
- प्रार्थना अन्तस्तल की वस्तु है।
- ऐसा भी समय आ सकता है जब मनुष्य केवल प्रार्थनामय हो जाय।

८९. धर्म-अर्थ का समन्वय

धर्म और अर्थ के बीच मेल न मानना घोर अज्ञान की बात है। जो मनुष्य अर्थ को धर्म पर निर्भर रखता है, उसे अर्थ-लाभ होता है और धर्म-लाभ तो है ही।
—अमरावती, १६।११।१९३३। ह० से०, १।१२।१९३३]

९०. धर्म के लिए तप

धर्म ने ही हमें सिखाया है कि धर्म-पालन और धर्म-जागरण के कार्य में तपश्चर्या से ही सफलता मिल सकती है।
—ह० से०, ९।१२।१९३३]

९१. धर्म की प्रक्रिया

धार्मिक कार्य में सभ्यता छोडी कि धर्म गया। धर्म के साथ असभ्यता या अविवेक मेल नही खा सकता। धर्म के साथ तो विनय, विवेक, सभ्यता, दया आदि सद्गुण ही शोभा देते है।
—रायपुर। ह० से०, २२।१२।१९३३]

९२. धर्म का पालन

शास्त्र कहते है कि धर्म का पालन असि-धारा पर चलने के समान है।
—ह० से०, १२।१।१९३४]

९३. धर्ममय जीवन

मेरा सारा जीवन धार्मिक भावना से ओत-प्रोत रहा है। मै विना धर्म के एक पल भी जीवित नही रह सकता था। मेरे वहुत-से राजनीतिक मित्रो को मेरी ओर से निराशा हो गई है, क्योकि उनका कहना है कि मेरी राजनीति मे भी धर्म की बू आ जाती है। उनका कथन सही है। हा, मेरी राजनीति और मेरी समस्त प्रवृत्तिया धर्म से ही निकली हैं। मैं तो यह भी कहूगा कि धार्मिक मनुष्य का प्रत्येक कार्य धर्म का ही परिणाम होना चाहिए क्योकि धर्म का अर्थ है ईश्वरीय बन्धन। इसका अर्थ यह कि मनुष्य की प्रत्येक साँस पर ईश्वर का ही शासन चल रहा है। अगर आप इस सत्य का साक्षात्कार कर ले तो आप देखेंगे कि ईश्वर ही आपके प्रत्येक कार्य का नियामक और सचालक है।
—पन्नासपेट। ह० से० ९।३।१९३४]

९४. धर्म का नाश नहीं होता

धर्म का विनाश किस प्रकार सम्भव है, यह प्रश्न पूछा जा सकता है। वास्तव मे धर्म का नाश नही हो सकता। परन्तु यदि अधर्म धर्म का स्वाग वना ले, तो ऐसा नकली धर्म निश्चय ही नष्ट हो जायगा।
—कारवार २८।२।१९३४। ह० से० १६।३।१९३४]

९५. उपवास एक आध्यात्मिक क्रिया

मेरी दृष्टि से उपवास का आध्यात्मिक मूल्य इतना अधिक रहा है कि मै उसे आँक नही सकता। मैं नही जानता क्यो, पर इसमे कोई सन्देह नही कि जब मनुष्य पर सकट आता है, तो वह उसी तरह सर्वतोभावेन भगवान से चिपट जाता है, जिस तरह अवोध बालक कष्ट मे अपनी माँ से चिपट जाता है।
—ह० ज०। ह० से०, २४।८।१९३४]

९६. रामनाम राम-बाण है

राम-नाम राम-बाण है, यह अटल विश्वास तू रखती है। सर्वत्र अन्धकार दिखाई देता हो तो राम-नाम का रटन करती ही रहना। इससे भला ही होगा।

—बिडला मिल्स, दिल्ली, २१।१२।१९३८। बापू के पत्र कुमारी प्रेमा बहिन कटक के नाम, पृ० २३२, न० जी० प्र० म०]

९७. धर्मोपदेश

धर्म-सन्देश को जीवन मे उतारना ही उपदेश का आदि, मध्य और अन्त मे सबसे प्रभावशाली तरीका है। मै तो उन्हे प्यार करता हू, जो कभी उपदेश नही करते, किन्तु अपने अन्तर्बोध के अनुसार वैसा आचरण करते है। वे कुछ कहते नही, फिर भी उनका मूक आचरण उनके धर्मोपदेश का अत्यन्त प्रभावशाली प्रमाण देता है। मै यह नही बता सकता कि किस चीज का उपदेश किया जाय, पर मै यह कह सकता हूँ कि सेवा और अत्यन्त सादगी का जीवन ही सर्वोत्तम धर्मोपदेश है। जहा भी कोई उपदेश के द्वारा धर्म-सन्देश ग्रहण करने की बात कही जाती है, वहा मेरी हमेशा यह शिकायत रहती है कि वहाँ कोई-न-कोई मतलब की बात होगी।

सारे धर्मोपदेश को हमारा एक लोभपूर्ण हेतु नष्ट कर देता है। वह एक बूंद जहर के समान है, जो सारे भोजन को खराब कर देता है। इसलिए मुझे तो बिना उपदेश के अपना काम चला लेना चाहिए। गुलाब के फूल को उपदेश करने की जरूरत नही पडती। वह तो केवल अपनी सुगन्ध फैला देता है। वह सुगन्ध ही उसका पवित्र प्रवचन है। अगर मनुष्य-जैसी समझ गुलाब के फूल मे होती और वह बहुत-से उपदेशको को रख सकता तो जितने फूलो को उसकी सुगन्ध बिकवा देती है, उससे अधिक फूलो को उसके वे तमाम उपदेशक कभी न बिकवा सकते। फिर, धार्मिक तथा आध्यात्मिक जीवन की सुगन्ध तो गुलाब की सुगन्ध से कही ज्यादा मीठी और सूक्ष्म है।

—ह० ज०। ह० से०, ५।४।१९३५]

- सेवा और अत्यन्त सादगी का जीवन ही सर्वोत्तम धर्मोपदेश है।
- सारे धर्मोपदेश को हमारा एक लोभपूर्ण हेतु नष्ट कर देता है।
- गुलाब के फूल को उपदेश की जरूरत नहीं पडती। वह तो केवल अपनी सुगन्ध फैला देता है। वह सुगन्ध ही उसका पवित्र प्रवचन है।

९८. मौन

[चार सप्ताह के मौन व्रत की समाप्ति पर किये गये प्रवचन का अंश।]

मौन से मुझे .अनेक लाभ हुए है। चूकि मेरी दृष्टि मे सदा केवल आध्यात्मिक लक्ष्य रहता है, इसलिए मेरे इस मौनव्रत से मुझे स्पष्ट ही आध्यात्मिक लाभ हुआ। जो (व्यक्ति) अपने जीवन मे निरन्तर अनवरत रीति से सत्य की शोध कर रहा हो उसके लिए मौन बहुत आवश्यक है। किन्तु वह मौन मेरे इस मौन से कही अधिक महान वस्तु है। उसमे तो बातचीत का साधन—लिखना भी, बन्द कर देना चाहिए। यदि अन्तर मे सत्य होगा तो वह वाणी के बिना, लेखनी के बिना, प्रत्येक कार्य-द्वारा बोलेगा। .

इस मौन मे मुझे एक गुण और दर्पण के समान दिखाई दिया। क्रोध जैसे सबको आता है, वैसे ही मुझे भी आ जाता है। पर मैं उसे सफलतापूर्वक दबा सकता हू। मुझे यह मालूम हुआ कि क्रोध को दबाने मे मौन से जितनी सहायता मिलती है उतनी शायद किसी अन्य साधन से नही मिलती। मनुष्य मौन रहेगा, तो क्रोध कैसे प्रकट करेगा। नेत्रो के द्वारा तो प्रकट नही करेगा। और जब उसने अहिंसा का व्रत ले लिया है, तब शारीरिक हिंसा के द्वारा वह क्रोध को उत्तेजन नही दे सकता। वह लिखकर भी क्रोध नही प्रकट कर सकता, क्योकि लिखने की क्रिया आरम्भ करने मे ही क्रोध का शमन हो जाता है।...

—ह० ज०। ह० से०, ३।५।१९३५]

- **जो......सत्य की शोध कर रहा हो उसके लिए मौन बहुत आवश्यक है।**

९९. निर्बल के बल राम

[बम्बई की प्रार्थना-सभा मे किये गये प्रवचन का अंश।]

आप लोगो को आश्चर्य होगा कि जब बहुतेरे मनुष्यो के लिए ईश्वर का अस्तित्व भी सन्देह का विषय हो रहा है, तब मैंने बम्बई में प्रार्थना-सभा करने के लिए क्यो स्वीकृति दे दी? ऐसे लोग भी हैं, जिनका कहना है, अगर ईश्वर का वास हर एक के हृदय मे है, तो फिर कौन, किसकी प्रार्थना करे और कौन किसका नामस्मरण? मैं यहा इन विचित्र दिमागी पहेलियो को सुलझाने नही आया हू। मैं तो इतना ही कह सकता हू कि मेरे बचपन से ही यह प्रार्थना मुझे धैर्य और बल प्रदान करती आ रही है।

प्रभु का यह वाना है कि जो भी अपने को निर्बल और असहाय समझकर उसकी शरण जाता है, उसकी समस्त निर्बलता को वह हर लेता ह। भक्त सूरदास ने यही तो गाया है—'सुने री मैंने निर्बल के बल राम।' यह बल अस्त्र-शस्त्र या किसी अन्य साधन से प्राप्त नही होता। यह बल तो उस अशरण-शरण राम के नामस्मरण मे सर्वतोभावेन तन्मय हो जाने से ही प्राप्त हो सकता है। रामनाम तो केवल भगवान का एक प्रतीक है। उसे आप गाड, अल्लाह या जिस नाम से पुकारना चाहे, पुकार सकते है। उसी क्षण आपके अन्दर शक्ति आ जायगी, आपकी सारी निराशा दूर हो जायगी, जब आप सर्वाश्रय छोडकर एक ईश्वर का ही आश्रय पकड लेगे। सूरदास के भजन मे जो यह आया है—'जबलगि गज बल अपनो बरत्यो नेक सर्यो नहिं काम, निर्बल ह्वै बलराम पुकार्यौ आये आवे नाम'—इस पर आप मनन कीजिए। आपको यह तो मालूम ही होगा कि जब गजेन्द्र को ग्राह ने ग्रस लिया, तब उसने पैर छुडाने का बहुत यत्न किया, पर सब बेकार गया। केवल गजेन्द्र की सूड मात्र जल के ऊपर निकली हुई थी। उसने अन्त मे अपने को सर्वथा निर्बल, निस्सहाय पाकर ज्यो ही हरि का नामस्मरण किया, त्योही भगवान ने उसका फन्दा काट दिया। गजेन्द्रमोक्ष तो एक रूपक मात्र है। पर इसके अन्दर एक महान सत्य छिपा हुआ है। मैंने अपने जीवन मे बार-बार उस सत्य का अनुभव किया है। घोर से घोर निराशा के समय, जब इस दुनिया मे न तो हमारा कोई सहायक दीखता है न सहारा, तब भगवान का अमोघ नाम ही हमे बल और स्फूर्ति प्रदान करता है और हमारे समस्त संशय तथा निराशा को एक क्षण मे दूर कर देता है। सम्भव है कि आज निराशा की काली घटाए घिरी दीखती हो, पर उन्हे छिन्न-भिन्न करने के लिए हमारे अन्तस्तल से निकली हुई प्रार्थना ही काफी है। इस प्रार्थना के बल पर मैंने अपने जीवन मे निराशा-जैसी वस्तु को कभी नही जाना हम आज भगवान से यह प्रार्थना करे कि वह हमारे हृदय मे क्षुद्रता, नीचता और वंचकता को दूर कर दे। वह हमारी इस प्रार्थना को निश्चय ही सुनेगा। मै जानता हू कि अनेक को इस प्रार्थना-द्वारा निश्चय ही बल मिलता है।
—ह० ज०। ह० से०, ७।६।१९३५]

- प्रार्थना मुझे धैर्य और बल-प्रदान करती आ रही है।
- रामनाम तो केवल भगवान का एक प्रतीक है।

१००. प्रार्थना या सेवा ?

[क्वेटा से आये एक भूकम्प-पीडित ने गाधी जी से मिल कर उन्हें विनाशकारी दुर्घटना का विवरण दिया। वह गाधी जी के इस विचार से सहमत थे कि भूकम्प

ईश्वर का कोप नहीं, आशीर्वाद ही है। किन्तु उनकी समझ मे नहीं आता था कि यह अवसर सेवा का है या प्रार्थना का ? उनकी वार्ता का आवश्यक अश यहाँ दिया जाता है। —सम्पा०]

प्रश्न—प्रार्थना क्यों और सेवा क्यो नहीं ?

गाधी जी—अवश्य अगर सेवा का द्वार हमारे लिए खुला होता तो। मगर ऐसे लाखो मनुष्य हैं जो भूकम्प से वचे मनुष्यो की सेवा करने मे विल्कुल असमर्थ हैं। इसलिए इस दैवी प्रकोप की वात करने के वजाय उन्हे अपना अन्तर्मन्थन और आत्म-शुद्धि करनी चाहिए। प्रार्थना आत्मशुद्धि के लिए एक आमन्त्रण है।

प्रश्न—किन्तु सेवा-रहित कोरी प्रार्थना क्या निरर्थक नहीं है ?

गाधी जी—मैं यहा प्रार्थना के वाहरी प्रदर्शन की वात नही कर रहा हूँ। मैं तो आत्म-निरीक्षण और आत्म-शुद्धि की वात कर रहा हू। हम सवको इस प्रार्थना की जरूरत है। अगर हम जागरित अवस्था का अपना सारा समय सेवा-कार्य मे लगाते तो मुझे कुछ कहना नही था। पर बात ऐसी नही है। और जव हमारा सारा समय सेवा-कार्य मे नही लग रहा है, तब हम आत्म-शुद्धि के लिए भगवान का नाम ले, तो वह व्यर्थ नही जायगा।

—ह० ज०। ह० से०, २८।६।१९३५]

● प्रार्थना आत्मशुद्धि के लिए एक आमन्त्रण है।

१०१. ईश्वर-सेवा

[प्रश्नोत्तर]

प्रश्न—जब हम ईश्वर को जानते ही नहीं तो उसकी सेवा कैसे करें ?

उत्तर—हम ईश्वर को भले ही न जाने, पर उसकी रची हुई सृष्टि को तो जानते हैं। सृष्टि की सेवा उस सृजनकर्ता की सेवा है।

—ह० ज०। ह० से०, २२।८।१९६३]

१०२. मेरी आध्यात्मिक प्रेरणा का स्रोत

[श्री वेसिल मेथ्यूज गाधी जी से मिलने के लिए सेगाव आये थे। उन्होने गाधी जी से आध्यात्म-सम्वन्धी कुछ प्रश्न किये थे जिनके उत्तर अत्यन्त उपयोगी एवं मार्ग-दर्शक हैं। यह वार्ता संकलित की जा रही है। श्री मेथ्यूज का प्रश्न था कि गाधी जी कोई आध्यात्मिक क्रियाए करते हैं या नहीं और उन्हें कौन-सी पुस्तक

पढ़ने में सहायता मिलती है। इसके उत्तर में गांधी जी ने जो कुछ कहा, यहां दिया जाता है।—सम्पा०]

मैं योग की क्रियाएं तो जानता नहीं। मैं जो क्रिया करता हूं उसे मैंने बचपन में अपनी दाई से सीखा था। मुझे भूत का डर लगता था। इस पर वह मुझसे कहती, भूत-जैसी कोई चीज़ है ही नहीं, फिर भी अगर तुझे डर लगे तो राम नाम ले लिया कर। मैंने बचपन में जो सीखा, उसने मेरे मानसिक आकाश में विशाल रूप धारण कर लिया है। इस सूर्य ने घोर-से-घोर अन्धकार के समय मुझे प्रकाश दिया है। यही आश्वासन ईसाई को ईसा का नाम लेने से और मुसलमान को अल्लाह के नाम से मिलता है। इन सब का अर्थ तो एक ही है और समान परिस्थितियों में इनका एक-सा परिणाम होता है। यह नाम-स्मरण केवल तोते की तरह नहीं होना चाहिए। यह नाम-ध्वनि अन्तस्तल से उठनी चाहिए। धार्मिक वाचन में तो हम भगवद्गीता का नित्य पाठ करते हैं और अब हम यहां तक पहुंच गये हैं कि रोज प्रातःकाल निश्चित किये हुए कुछ अध्यायों का पाठ करके सप्ताह में समस्त गीता पूरी कर देते हैं। इस पाठ के बाद भारत के अनेक सन्त-महात्माओं के भजन गाये जाते हैं। और उनमें हमने ईसाई भजन भी रखे हैं। आजकल खान साहब यहीं हैं इसलिए कुरान का पाठ भी होता है। हम मानते हैं कि सभी धर्म समान हैं। मुझे सबसे अधिक आश्वासन तुलसीकृत रामायण के पाठ से मिलता है। बाइबिल के न्यू टेस्टामेण्ट और कुरान से भी मुझे आश्वासन मिलता है। मैं इन्हें आलोचक की दृष्टि से नहीं पढ़ता। मेरे मन में इनका महत्व भगवद्गीता के समान ही है, यद्यपि न्यू टेस्टामेण्ट के सभी अंश—उदाहरणार्थ पाल के पत्रों का सारा प्रकरण—मुझे पसन्द नहीं। इसी तरह तुलसीदास की रामायण की सारी चौपाइयां मेरे गले नहीं उतरतीं। गीता एक शुद्ध निरलंकृत धार्मिक संवाद है। यह जीवात्मा की परमात्मा के प्रति प्रगति का वर्णन मात्र है। इसलिए इसमें से चुनाव का प्रश्न ही नहीं उठता।

श्री मैथ्यूज़—आप तो सचमुच प्रोटेस्टेण्ट हैं।

गांधी जी—मैं क्या हूं और क्या नहीं, इसका मुझे पता नहीं। श्री हाज मुझे प्रेस्बाइटेरियन कहेंगे।

प्रश्न—आप धर्म का प्रमाण क्या मानते हैं?

उत्तर—(छाती की तरफ उंगली का संकेत करके) यहां। मैं प्रत्येक धर्म-शास्त्र के विषय में, गीता के विषय में भी, अपनी बुद्धि का प्रयोग करता हूं, शास्त्र-वचन को अपनी बुद्धि का स्थान नहीं लेने देता। मैं मानता हूं कि संसार के सभी धर्मग्रन्थ ईश्वर-प्रेरित हैं, पर दो-दो छलनियों में छनकर आने के कारण वे पूर्ण

शुद्ध नही होते। पहिले तो वे किसी मानव ऋषि या पैगम्बर द्वारा आते हैं, फिर भाष्यकार उनकी टीकाए करते हैं। उनमे से कुछ भी ईश्वर के पास से सीधे नही आता। एक ही वचन को मैथ्यू एक रूप मे देता है और जान दूसरे रूप मे। मैं धर्म-ग्रन्थो को ईश्वर-प्रणीत अवश्य मानता हू, फिर भी अपनी बुद्धि का उपयोग किये बिना नही रह सकता। मेरी स्थिति के सम्बन्ध मे आपको कोई गलतफहमी न हो जाय। मैं श्रद्धा को भी मानता हू। मेरा विश्वास है कि कुछ चीजे बुद्धि से परे हैं। उनमे बुद्धि नही चल सकती। ईश्वर का अस्तित्व इनमे से एक है। कोई कितने ही तर्क दे मेरी यह (ईश्वर-विषयक) श्रद्धा विचलित नही हो सकती। अत्यन्त प्रखर बुद्धि वाला मनुष्य तर्क से मुझे पराजित कर दे तो भी मैं कहता जाऊगा, फिर भी ईश्वर तो है ही।

—ह० ज०। ह० से०, १२।१२।१९३६]

- **नाम-ध्वनि अन्तस्तल से उठनी चाहिए।**
- **गीता एक शुद्ध निरलंकृत धार्मिक सवाद है।**
- **यह (गीता) जीवात्मा की परमात्मा के प्रति प्रगति का वर्णन मात्र है।**
- **संसार के सभी धर्म-ग्रन्थ ईश्वर-प्रेरित हैं।**
- **कुछ चीजें बुद्धि से परे हैं. . . . . .ईश्वर का अस्तित्व इनमे से एक है।**

१०३. हमारा धर्म

दूसरे मनुष्य हमारे साथ चाहे जैसा वर्ताव करें, तब भी हमे अपने धर्म का त्याग करना उचित नही। धर्म का उद्गम-स्थान हृदय मे विराजमान ईश्वर है और अगर हम अपने ईश्वर के प्रति निष्ठा रखना चाहते है, तो उसके दिये हुए धर्म का त्याग कभी न करें। यदि हम हर एक काम में ईश्वर को मार्ग-दर्शक, स्वामी और शासक मानकर चलें तो सारे ससार के विरोध की चिन्ता किये बिना हम अपने धर्म मे स्थित रह सकते हैं।

—ह० ज०। ह० से०, २०।३।१९३७]

१०४. उपवास का आध्यात्मिक आयाम

उपवास आदिकाल से चला आ रहा है। यह आत्मशुद्धि अथवा किसी उच्च या नीच हेतु की सिद्धि के लिए किया जाता है। बुद्ध, ईसा तथा पैगम्बर मुहम्मद

ने ईश्वर-साक्षात्कार के लिए उपवास किये थे। रामचन्द्र जी ने अपनी वानर-सेना के लिए मार्ग देने के हेतु सागर के सामने उपवास किया था। मैंने अपने उपवासों में ऊपर बताये महान उदाहरणों का अपेक्षाकृत हल्के उद्देश्य में भी, अनुसरण मात्र किया है।

— ह० ज० । ह० से०, २५।३।१९३९]

१०५. ईश्वर में श्रद्धा

यद्यपि सबको इसका ज्ञान नहीं, फिर भी ईश्वर में श्रद्धा सभी को है। कारण, सभी को अपने में विश्वास है और वही अनन्तगुना होने पर ईश्वर बन जाता है। जगत् में दिखाई देने वाला सारा जीवन ईश्वर है। हम ईश्वर न हों तो भी ईश्वर के तो हैं ही, जैसे पानी की छोटी-सी बूंद महासागर की होती है। कल्पना कीजिए कि वह समुद्र से अलग करके लाखों मील दूर फेंक दी जाती है। तब वह अपने स्थान से विच्छिन्न होकर निःसहाय बन जाती है और महासागर की शक्ति और भव्यता का अनुभव नहीं कर सकती। परन्तु यदि कोई उसे यह बता दे कि वह महासागर का ही अंग है, तो उसकी श्रद्धा पुनर्जीवित हो जायगी, वह खुशी के मारे नाचने लगेगी और महासागर की सारी शक्ति और भव्यता उसमें प्रतिबिम्बित होने लगेगी।

— ह० ज०, ३।६।१९३९]

१०६. ईश्वराधीन

मेरी तबीयत की फिक्र करती है, यह बताता है कि न तू ईश्वर को जानती है, न मुझको। ईश्वर को जाने तो समझेगी कि तू, मैं और दूसरे सब उसी के मातहत हैं।

— सेवाग्राम, १०।१।१९४५। बापू के पत्र बीबी अमतुस्सलाम के नाम, पृ० २२२, न० जी० प्र० म०]

१०७. प्रार्थना में हम कहाँ हैं ?

अगर प्रार्थना के समय मन घूमता रहे, ईश्वर में न रहे, तो प्रार्थना में हाजिरी मात्र भले ही हो, हम वहाँ नहीं हैं। हमारे शरीर और मन में द्वन्द्व चलता रहता है। आखिर मन जीत जाता है।

— २२।२।१९४५। 'बापू की छाया में', बलवन्तसिंह, पृ० ३००, संस्करण १९५७, न० जी० प्र० म०]

१०८. रामनाम और प्राकृतिक चिकित्सा

दूसरी सब चीजो की तरह मेरी प्राकृतिक चिकित्सा की कल्पना ने भी धीरे-धीरे विकास किया है। वर्षों से मेरा यह विश्वास रहा है कि जो मनुष्य अपने मे ईश्वर का अस्तित्व अनुभव करता है, और इस तरह विकाररहित स्थिति प्राप्त कर चुकता है, वह लम्बे जीवन के रास्ते मे आनेवाली सारी कठिनाइयो को जीत सकता है। मैंने जो देखा और धर्मशास्त्रो मे पढा है, उसके आधार पर मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि जब मनुष्य मे उस अदृश्य शक्ति के प्रति पूर्ण जीवित श्रद्धा पैदा हो जाती है, तब उसके शरीर मे भीतरी परिवर्तन होता है। लेकिन यह सिर्फ इच्छा करने मात्र से नही हो जाता। इसके लिए हमेशा सावधान रहने और अभ्यास करने की जरूरत रहती है। दोनो के होते हुए भी ईश्वर-कृपा न हो, तो मानव-प्रयत्न व्यर्थ जाता है।

—प्रेस रिपोर्ट, १२।६।१९४५, 'रामनाम' संकलन; पृ०२४; न० जी० प्र० म०]

१०९. नामाधार

अगर लाख प्रयत्न करने पर भी मनुष्य का मन अपवित्र रहे, तो रामनाम ही उसका एकमात्र आधार होना चाहिए।

—मद्रास के नजदीक पहुँचते हुए, २१।१।१९४६। 'रामनाम' संकलन; पृष्ठ ६७; न० जी० प्र० म०।]

११०. कुछ आध्यात्मिक प्रश्न

[गाधी जी से पूछे गये कुछ आध्यात्मिक प्रश्न और उनके उत्तर]

प्रश्न—दूसरे से बातचीत करते समय, मस्तिष्क-द्वारा कठिन कार्य करते समय अथवा अचानक घबडाहट आदि के समय भी क्या हृदय मे रामनाम का जप हो सकता है? अगर ऐसी दशा मे भी लोग नाम जप करते है, तो किस प्रकार?

उत्तर—अनुभव कहता है कि मनुष्य किसी भी हालत मे हो, चाहे सो ही रहा हो, अगर आदत पड गई है और नाम हृदयस्थ हो गया है, तो जबतक हृदय चलता है तबतक राम-नाम हृदय मे चलता ही रहना चाहिए। अन्यथा यह कहा

जायगा कि मनुष्य जो रामनाम लेता है, वह उसके कण्ठ से ही निकलता है, अथवा कभी-कभी हृदय तक पहुँचता है, लेकिन हृदय पर नाम का साम्राज्य स्थापित नहीं हुआ है। जब नाम ने हृदय का स्वामित्व पाया है तब जप कैसा किया जाय, यह सवाल नहीं पूछा जाना चाहिए। क्योंकि यदि नाम हृदय में स्थान लेता है तो उच्चारण की आवश्यकता नहीं है। यह कहना ठीक होगा कि इस तरह राम-नाम जिनको हृदयस्थ हुआ है, ऐसे लोग कम होंगे। राम-नाम में जो शक्ति मानी गई है, उसके बारे में मुझे कोई शक नहीं है। हर आदमी इच्छा मात्र से ही राम-नाम को अपने हृदय में अंकित नहीं कर सकेगा। उसमें अथक परिश्रम और धैर्य की आवश्यकता है। पारसमणि को पाने के लिए धैर्य क्यों न हो? (राम) नाम तो उससे भी अधिक है।

प्रश्न—क्या दिमाग की किसी कमजोरी के कारण मन को सन्देह दीख पड़ते हैं, अथवा क्या निश्चल दशा में पहुँचने से पहिले मन के लिए इन दशाओं से गुजरना आवश्यक है? जागरित दशा में भी शान्त मन में स्वप्न के-से खेल क्यों होते हैं? अर्थात् जिन घटनाओं का प्रत्यक्ष जीवन की स्मृति के साथ कभी सम्बन्ध नहीं रहा, उनका दिमाग में आना अथवा हृदय में उच्चारण क्यों होने लगता है?

उत्तर—निश्चल दशा में पहुँचने के पहिले, जिसका वर्णन प्रश्नकर्त्ता ने किया है, लगभग सबके लिए ऐसा होना आवश्यक है। लगभग कहने का मतलब है कि पूर्वजन्म में जिन्होंने साधना की है, लेकिन जो सिद्धार्थ नहीं हुए, उनको इस जन्म में यातना से नहीं गुज़रना पड़ेगा। शान्त मन में स्वप्न के-से खेल होते हैं। इसका अर्थ इतना ही है कि मन बाहर से शान्त दीखता है, परन्तु वास्तव में वह शान्त नहीं है। प्रत्यक्ष जीवन में जिसका सम्बन्ध नहीं दीखता, मन में उसका सञ्चरण होता है, इसका अर्थ मेरी दृष्टि में यह है कि स्मृति के अतिरिक्त भी बहुत-सी चीजें हैं, जिनका सम्बन्ध रहता ही है।

प्रश्न—सेवाकार्य के कठिन अवसरों पर भगवद्भक्ति के नित्य नियम नहीं निभ पाते, तो क्या इससे कोई हर्ज होता है? दोनों में किस को प्रधानता दी जाय, सेवाकार्य को अथवा माला-जप को?

उत्तर—कठिन सेवाकार्य हो या उससे भी कठिन अवसर हो, तो भी भगवद्-भक्ति यानी राम-नाम बन्द हो ही नहीं सकता। उसका बाह्य रूप प्रसंगवशात् बदलना होगा। माला छूटने से राम-नाम, जो हृदय में अंकित हो चुका है, थोड़े ही छूट सकता है।

—सेवाग्राम, ९।२।१९४६। ह० से० १७।२।१९४६]

● माला छूटने से राम नाम थोड़े ही छूट सकता है।

१११. इलाजों का इलाज

आध्यात्मिक रोगो (आधियो) को मिटाने के लिए राम-नाम के जप का इलाज बहुत पुराने ज़माने से हमारे यहाँ प्रचलित रहा है। लेकिन चूँकि वडी चीज मे छोटी चीज भी समा जाती है, इसलिए मेरा यह दावा है कि हमारे शरीर की बीमारियो को दूर करने के लिए भी राम-नाम का जप सब इलाजो का इलाज है। प्राकृतिक उपचारक अपने बीमार से यह नही कहेगा कि तुम मुझे वुलाओ, तो मैं तुम्हारी सारी बीमारी दूर कर दूँ। वह तो बीमार को सिर्फ यह वतायेगा कि प्राणीमात्र मे रहनेवाला और सब बीमारियो को मिटानेवाला तत्व कौन सा है, किस तरह उस तत्व को जागरित किया जा सकता है, और कैसे उसको अपने जीवन की प्रेरकशक्ति बनाकर उसकी मदद से अपनी बीमारियो को दूर किया जा सकता है। अगर हिन्दुस्तान इस तत्व की शक्ति को समझ जाय तो हम आजाद तो हो ही जायँ, लेकिन उसके अलावा आज हमारा जो देश बीमारियो और कमज़ोर तबीयतवालो का घर बन बैठा है, वह तन्दुरुस्त और ताकतवर शरीरवाले लोगो का देश बन जाय।

रामनाम का उपयोग और उसकी मर्यादा

राम-नाम की शक्ति की अपनी कुछ मर्यादा है और उसके कारगर होने के लिए कुछ शर्तों का पूरा होना जरूरी है। रामनाम कोई यन्त्र-मन्त्र या जादू-टोना नही। जो लोग खा-खाकर खूब मोटे हो गये हैं, और जो अपने मुटापे की और उसके साथ बढनेवाली बादी की आफत से बच जाने के बाद, फिर तरह-तरह के पकवानो का मजा चखने के लिए इलाज की तलाश मे रहते हैं, उनके लिए रामनाम किसी काम का नही। रामनाम का उपयोग तो अच्छे काम के लिए होता है। बुरे कामो के लिए हो सकता होता, तो चोर और डाकू सबसे वडे भक्त वन जाते। रामनाम उनके लिए है, जो दिल के साफ हैं और जो दिल की सफाई करके हमेशा साफ-साफ रहना चाहते है। भोग-विलास की शक्ति या सुविधा पाने के लिए रामनाम कभी साधन नही वन सकता। वादी (मोटापे) का इलाज प्रार्थना नही, उपवास है। उपवास का काम पूरा होने पर ही प्रार्थना का काम शुरू होता है, यद्यपि यह सच है कि प्रार्थना से उपवास का काम आसान और हलका वन जाता है। इसी तरह एक तरफ से आप अपने शरीर मे दवा की वोतले उडेला करें और दूसरी तरफ मुँह से रामनाम लिया करें, तो वह एक वे-मतलव प्रहसन ही होगा। जो डाक्टर वीमार की वुराइयो को वनाये रखने मे या उन्हे सहेजने मे अपनी

होशियारी का उपयोग करता है, वह खुद गिरता है और अपने बीमार को भी नीचे गिराता है। अपने शरीर को अपने सिरजनहार की पूजा के लिए मिला हुआ एक साधन समझने के बदले उसी की पूजा करने और उसको किसी भी तरह बनाये रखने के लिए पानी की तरह पैसा बहाने से बढकर बुरी गत ओर क्या हो सकती है? इसके खिलाफ रामनाम मर्ज को मिटाने के साथ ही साथ आदमी को भी शुद्ध बनाता है और इस तरह उसको ऊंचा उठाता है। यही रामनाम का उपयोग है और यही उसकी मर्यादा है।
—ह० ज०। ह० से०, ७।४।१९४६]

११२. मानव और ईश्वर

मनुष्य न ईश्वर है न पशु। वह तो ईश्वर का बन्दा है। पश्चात्ताप और आत्मशुद्धि की सहायता से वह अपने किये हुए पापो और गलतियो को धो सकता है।
—नई दिल्ली, १५।४।१९४६। ह० से०, २१।४।१९४६]

११३. प्रार्थना पागलपन दूर करने का साधन

हमे भगवान से प्रार्थना करनी चाहिए कि वह हमारे हृदय की घृणा और क्रोध पर नियन्त्रण पाने मे हमारी सहायता करे। क्रोध, घृणा और दूसरी बुराइयो को जीत सकने मे प्रार्थना की सफलता है।

प्रार्थना करनेवाला कभी नही डरता। अगर आपकी प्रार्थना भय, घबराहट और जनसाधारण का पागलपन दूर नही कर सकती तो उसे वार-वार दोहराना व्यर्थ है।
—नई दिल्ली, १।५।१९४६। ह० ज०। ह० से०, ५।५।१९४६]

११४. प्रार्थना और ईश्वरीय विधान

आपके अन्दर प्रार्थना की भावना चौवीसो घण्टे मौजूद रहनी चाहिए, शर्त यह है कि प्रार्थना हृदय से निकली हो और सिर्फ जबानी या ओठो से निकलनेवाली न हो। आपके हृदय मे प्रार्थना की सच्ची शान्ति तभी आ सकेगी जब आप उसमे भगवान को भी अपने साथ रखेगे। उस हालत मे आप अन्दर-बाहर एक-से रह

सकेंगे। आपके अन्दर सच्चाई और ईमानदारी आ जायगी। आप अपने मन मे किसी के लिए शत्रुता न रखेंगे। आप सत्य से प्रेम करेंगे और अगर आप व्यापारी है तो किसी को ठगने से परहेज करेंगे।

मै चाहूगा कि आप यहाँ, इन प्रार्थना-सभाओ मे अधिक से अधिक सख्या मे आये, लेकिन शर्त यही है कि सही भावना लेर आये, जो कुछ वहाँ होता है, उसे ध्यान से सुनने और गुनने का विचार लेकर आये, ताकि आप यहाँ की पूजा से जो कुछ अच्छा ले जा सके उसके अनुसार अपना जीवन बनाये। हृदय से राम-नाम निकलने मे समय लग सकता है। वीज को धरती मे वोने के बाद उसकी पूरी सार-सम्हाल करनी पडती है, तभी वह ऋतु आने पर फलता है। यदि हृदय मे भगवान को सदा अपने साथ रखने की इच्छा है, तो प्रगति की चाल चाहे जितनी धीमी हो, वह होकर रहेगी। आदमी को रातोरात बुरे से भला नही बनाया जा सकता। भगवान कभी जादू से काम नही लेता। वह भी कानून से बँधा है। लेकिन उसका कानून सरकार के कानून से अलग है। सरकारी कानून मे भूल हो सकती है,, लेकिन भगवान कभी भूल नही करता। यदि वह अपने कानून की सीमा लाँघजाय तो ससार ही खत्म हो जाय। वह कभी नही बदलता, वह परिवर्तन से परे है। उसकी कोई जोड नही। वह जिस रूप मे कल था, उसी मे आज भी रहेगा और भविष्य मे भी सदा के लिए उसका वही रूप होगा। उसका कानून आपके हृदय-पटल पर लिखा है। आप उसी स्थिति मे बदले हुए स्त्री-पुरुष बन सकते है, जब आपके अन्दर अपने को सुधारने की अभिलाषा उत्पन्न हो और आप उसके लिए लगातार प्रयत्न करने को तैयार हो।

—दिल्ली, १५।५।१९४६। ह० ज०। ह० से०, १९।५।१९४६]

- **भगवान कभी जादू से काम नहीं लेता। वह भी कानून से बँधा है।**
- **भगवान कभी भूल नहीं करता।**
- **वह (भगवान) कभी नहीं बदलता, वह परिवर्तन से परे है।**

११५. ईश्वरानुभूति

अगर मनुष्य चौवीसो घण्टे ईश्वर की उपस्थिति अनुभव कर सके तो उसके लिए प्रार्थना के अलग समय की जरूरत नही, लेकिन अधिकतर लोगो के लिए यह असम्भव होना है। वे दैनिक, स्वार्थभरी सासारिकता मे ही व्यस्त रहते है। ऐसे लोग अगर प्रतिदिन [illegible] के लिए भी अपने मन को सामारिक वस्तुओ मे पूरी तर [illegible] लाभ हो। वे मौन-ममागम से सामारिक

सकेंगे। आपके अन्दर सच्चाई और ईमानदारी आ जायगी। आप अपने मन मे किसी के लिए शत्रुता न रखेंगे। आप सत्य से प्रेम करेंगे और अगर आप व्यापारी है तो किसी को ठगने से परहेज करेंगे।

मैं चाहूगा कि आप यहाँ, इन प्रार्थना-सभाओ मे अधिक से अधिक सख्या मे आये, लेकिन शर्त यही है कि सही भावना लेर आये, जो कुछ वहाँ होता है, उसे ध्यान से सुनने और गुनने का विचार लेकर आये, ताकि आप यहाँ की पूजा से जो कुछ अच्छा ले जा सके उसके अनुसार अपना जीवन बनाये। हृदय से राम-नाम निकलने मे समय लग सकता है। बीज को धरती मे बोने के बाद उसकी पूरी सार-सम्हाल करनी पडती है, तभी वह ऋतु आने पर फलता है। यदि हृदय मे भगवान को सदा अपने साथ रखने की इच्छा है, तो प्रगति की चाल चाहे जितनी धीमी हो, वह होकर रहेगी। आदमी को रातोरात बुरे से भला नही बनाया जा सकता। भगवान कभी जादू से काम नही लेता। वह भी कानून से बँधा है। लेकिन उसका कानून सरकार के कानून से अलग है। सरकारी कानून मे भूल हो सकती है,, लेकिन भगवान कभी भूल नही करता। यदि वह अपने कानून की सीमा लाँघ जाय तो ससार ही खत्म हो जाय। वह कभी नही बदलता, वह परिवर्तन से परे है। उसकी कोई जोड नही। वह जिस रूप मे कल था, उसी मे आज भी रहेगा और भविष्य मे भी सदा के लिए उसका वही रूप होगा। उसका कानून आपके हृदय-पटल पर लिखा है। आप उसी स्थिति मे बदले हुए स्त्री-पुरुष बन सकते हैं, जब आपके अन्दर अपने को सुधारने की अभिलाषा उत्पन्न हो और आप उसके लिए लगातार प्रयत्न करने को तैयार हो।

—दिल्ली, १५।५।१९४६। ह० ज०। ह० से०, १९।५।१९४६]

- **भगवान कभी जादू से काम नहीं लेता। वह भी कानून से बँधा है।**
- **भगवान कभी भूल नहीं करता।**
- **वह (भगवान) कभी नहीं बदलता; वह परिवर्तन से परे है।**

११५. ईश्वरानुभूति

अगर मनुष्य चौबीसो घण्टे ईश्वर की उपस्थिति अनुभव कर सके तो उसके लिए प्रार्थना के अलग समय की ज़रूरत नही, लेकिन अधिकतर लोगो के लिए यह असम्भव होता है। वे दैनिक, स्वार्थभरी सासारिकता मे ही व्यस्त रहते हैं। ऐसे लोग अगर प्रतिदिन कुछ मिनट के लिए भी अपने मन को सासारिक वस्तुओ से पूरी तरह अलग रख सके तो उन्हे बेहद लाभ हो। वे मौन-समागम से सासारिक

झगड़ा-झंझटों के बीच अखण्ड शान्ति का अनुभव करेंगे, क्रोध को दबा सकेंगे और सहनशील बनेंगे। जब मन पूरी तरह ईश्वर की भावना से भर जाता है, तो आदमी न किसी का बुरा सोचता है, न किसी से घृणा करता है और (इसके) बदले शत्रु भी शत्रुता भूल कर मित्र बन जाता है। मैं इस बात का दावा नहीं करता कि मैं हमेशा शत्रुओं का मित्र बनाने में सफल रहा हूं, लेकिन कई मामलों में मैंने अनुभव किया है कि जब मन ईश्वरीय शान्ति से पूर्ण होता है, तो सारी नफरत गायब हो जाती है। पैगम्बरों की जो परम्परा सनातन काल से बराबर चली आ रही है वह इस बात का प्रमाण है। मैं दावा नहीं करता कि मुझ में यह गुण है। मैं जानता हूं कि यह केवल ईश्वर-कृपा से मिलता है।

—नई दिल्ली, १७।४।१९४६। ह० ज०। ह० से०, २।६।१९४६]

११६. राम-नाम

राम-नाम तो श्रम का शत्रु है। जो बुराई करने से नहीं झिझकते, वे राम-नाम का नाजायज फायदा उठायेंगे। राम-नाम सिर्फ कल्पना की वस्तु नहीं। उसे तो हृदय से निकलना चाहिए। परमात्मा में ज्ञान-सहित विश्वास हो और उसके साथ-साथ प्रकृति के नियमों का पालन किया जाय, तभी किसी अन्य की सहायता बिना रोगी बिलकुल अच्छा हो सकता है। यदि कोई अपने अन्दर परमात्मा को पहिचान ले, तो एक भी गन्दा या व्यर्थ विचार मन में नहीं आ सकता।

मुझे राम-नाम के सिवा पवित्रता पाने का कोई और तरीका मालूम नहीं। संसार में हर जगह प्राचीन ऋषि भी इसी रास्ते पर चले हैं। वे खुदा के बन्दे थे, कोई वहमी या ढोंगी आदमी नहीं। मैं यह नहीं कहता कि राम-नाम मेरी ही शोध है। जहाँ तक मैं जानता हूँ, राम-नाम ईसाई धर्म से भी पुराना है।

—मसूरी, ३०।५।१९४६। ह० ज०। ह० से०, ९।६।१९४६]

११७. राम-नाम की महिमा

राम-नाम सिर्फ थोड़े-से विशिष्ट व्यक्तियों के लिए नहीं है। वह सबके लिए है। जो उसका नाम लेता है, वह अपने लिए एक बड़ा खजाना जमा करता है। यह ऐसा खजाना है जो कभी नहीं चुकता। इसमें से जितना निकालें उतना ही बढ़ता जाता है। इसका अन्त नहीं है। जैसा कि उपनिषद् कहता है, पूर्ण में से पूर्ण निकालें तो पूर्ण ही शेष रह जाता है। वैसे ही राम-नाम समस्त रोगों

का शर्तिया इलाज है, फिर चाहे वे शारीरिक, मानसिक या आध्यात्मिक हो। राम-नाम ईश्वर के कई नामो मे से एक है। सच बात यह है कि दुनिया में जितने इसान हैं, उतने ही ईश्वर के नाम हैं। आप राम के स्थान पर कृष्ण कहे या ईश्वर के अगणित नामो मे से कोई और नाम ले, इससे कोई फर्क न पडेगा।

[बाल्यावस्था मे राम-नाम मन्त्र-प्राप्ति का प्रसग बतलाते हुए गांधी जी ने कहा।]

मुझे अँधेरे मे भूत-प्रेत का डर लगता था। मेरी आया ने मुझसे कहा था, अगर तुम राम-नाम लोगे तो तमाम भूत-प्रेत भाग जायगे। मैं तो बच्चा ही था लेकिन आया की बात पर मेरी श्रद्धा थी। मैंने उसकी सलाह पर पूरा-पूरा अमल किया। इससे मेरा डर भाग गया। यदि एक बच्चे का यह अनुभव है, तो सोचिए कि वयस्क आदमियो-द्वारा बुद्धि और श्रद्धा के साथ राम-नाम लेने से उन्हे कितना लाभ हो सकता है।

लेकिन शर्त यह है कि राम-नाम दिल से निकले। क्या आपके मन मे बुरे विचार आते है, क्या काम और लोभ आपको सताते हैं? अगर ऐसा है तो राम-नाम जैसा कोई जादू नही। मान लीजिए आपके मन मे यह लालच पैदा होता है कि बिना मेहनत किये, बेईमानी से आप लाखो कमा लें। लेकिन अगर आपको राम-नाम पर श्रद्धा है तो आप सोचेंगे कि आप अपने बीबी-बच्चो के लिए ऐसा धन क्यो इकट्ठा करे, जिसे वे शायद उडा दें? अच्छे चाल-चलन, अच्छी शिक्षा और प्रशिक्षण के रूप मे उनके लिए ऐसी विरासत क्यो न छोड जायँ, जिससे वे ईमानदारी और मेहनत के साथ अपनी रोटी कमा सकें? आप यह सब सोचते तो है, लेकिन कर नही पाते। मगर राम-नाम का जप निरन्तर चलता रहे तो वह एक दिन आपके कण्ठ से हृदय तक उतर आयगा और वह रामबाण सिद्ध होगा, वह आपके समस्त भ्रम मिटा देगा, झूठे मोह और अज्ञान को छुडा देगा। तब आप समझ जायँगे कि आप कितने पागल थे, जो अपने बाल-बच्चो के लिए करोडो की इच्छा करते थे, बजाय इसके कि आप उन्हे राम-नाम का वह खजाना देते, जिसका मूल्य कोई नही लगा सकता, जो हमे भटकने नही देता और जो मुक्तिदाता है। आप खुशी से फूले नही समायगे, अपने बाल-बच्चो और पत्नी से कहेगे, मैं करोडो कमाने गया था मगर वह कमाना तो भूल गया, दूसरे करोड लाया हूँ। आपकी पत्नी पूछेगी, कहाँ है वह हीरा, तनिक देखूं तो। जवाब मे आपकी आँखें हँसेगी, चेहरा हँसेगा। आप धीरे-से जवाब देंगे, जो करोडो का पति है, उसे हृदय मे रख-कर आया हूँ। तुम भी चैन से रहोगी, मैं भी चैन से रहूँगा।

—नई दिल्ली, १०।६।१९४६। ह० ज०। ह० से०, १६।६।१९४६]

- यह (रामनाम) ऐसा खजाना है जो कभी नहीं चुकता।
- राम-नाम समस्त रोगों का शर्तिया इलाज है।

११८. ईश्वर का ध्यान कैसे किया जाय ?

एक भाई लिखते है —

"आप कहते हैं कि नियम यह होना चाहिए कि प्रार्थना के समय प्रत्येक आदमी आँखें बन्द करके बैठे और ईश्वर के सिवा दूसरी किसी चीज़ का विचार न करे। लेकिन सवाल यह पैदा होता है कि हम किस तरह और किस रूप मे ईश्वर का ध्यान करें ?"

ध्यान करने का सच्चा रास्ता यह है कि हम अपनी भक्ति के विषय को छोड़कर बाकी सब ओर से मन की आँखों और कानों को खीच ले। इसलिए प्रार्थना के समय आँखें बन्द कर लेने से हमें इस तरह के ध्यान मे सहायता मिलेगी। प्राकृतिक रूप से ईश्वर के बारे मे मनुष्य के विचार की कोई सीमा होती है ? इसलिए हरएक आदमी को ईश्वर का उसी रूप मे ध्यान करना चाहिए, जो उसे सबसे ज्यादा रुचे, बशर्ते कि वह विचार पवित्र और ऊँचा उठानेवाला हो।

—सेवाग्राम, १०।८।१९४६। ह० ज०। ह० से०, १८।८।१९४६]

११९. शुद्धि और शून्यता

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

हम अक्सर शुद्धि शब्द का निश्चित अर्थ मे उपयोग नही करते और तरह-तरह की नैतिक भूलो का क्षम्य मान लेते है। यह भी चिन्ता न करो कि यहा मेरा क्या हाल है या मैं क्या कर रहा हू। अगर मैं अपने अहं को पूरी तरह निकाल दू, तो ईश्वर मुझमे आ बसेगा, फिर मैं जानता हू कि सब बातें सच्ची होगी। लेकिन यह एक गम्भीर प्रश्न है कि मैं शून्यवत् कब बनूगा। मैं और ० (शून्य) को पास-पास रखकर सोचोगी, तो तुम्हे दो चिह्नों मे जीवन की सारी समस्या समाई हुई मालूम होगी। इस क्रिया मे तुमने मेरी बहुत मदद की है, क्योकि दूर रहकर भी तुम अपने कार्यक्षेत्र मे अपना कर्तव्य पूरी तरह अदा करती हुई दिखाई देती हो।

—चण्डीपुर, ४।१।१९४७। बापू के पत्र : मीरा के नाम, पृ० ३०८, न० जी० प्र० स०]

१२०. ईश्वरीय शक्ति ही श्रेष्ठ है

अक्सर देखा गया है कि बलवान की शक्ति भगवान की सहायता के विना व्यर्थ हो जाती है। आप बाह्य साधनो का आसरा तकने के बजाय आन्तरिक शक्ति पर भरोसा रखे। जो लोग सच्चे हृदय से ईश्वर से यह शक्ति माँगते हैं, उन्हे वह जरूर मिलती है।

—श्रीरामपुर, २।१२।१९४६। ह० ज०। ह० से०, १२।१।१९४७]

१२१. मौन प्रार्थना

भगवान का स्मरण करने और हृदय को पवित्र करने के लिए प्रार्थना की जाती है, इसलिए हम मौन रहकर भी प्रार्थना कर सकते हैं।

—दिल्ली, प्रार्थना-सभा, ३।४।१९४७। ह० से०, २०।४।१९४७]

१२२. सभी धर्म समान हैं

एक धर्म को दूसरे धर्म से श्रेष्ठ समझना बेवकूफी है। हमे सब धर्मों को समान मानना चाहिए।

—दिल्ली, प्रार्थना-सभा, ५।४।१९४७। ह० से० २०।४।१९४७]

१२३. धर्म की शिक्षा

धर्म सिखाता है कि हम सव की सेवा करे, सबके दोस्त बने और किसी के दुश्मन न वनें। मैंने अपनी माता की गोद मे यही सीखा है। मुझे आप हिन्दू कहे या न कहे, मैं तो इकवाल[1] के शब्दो मैं यही कहूगा—

मजहब नहीं सिखाता आपस मे वैर रखना।

दोस्तो से तो सभी दोस्ती करते है, लेकिन जो अपने को दुश्मन मानते हैं, उनसे भी दोस्ती करने मे धर्म है, वाकी तो मव व्यापार है।

—वाकीपुर मैदान (विहार) प्रार्थना-सभा २८।४।१९४७। मौन दिवस पर पढ़े गये भाषण से। 'बिहार समाचार'। ह० से० ११।५।१९४७]

---

१. अल्लामा इक़बाल, उर्दू के सुप्रसिद्ध शायर। इनकी नज्म सारे जहा से से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा देश के कोने-कोने मे आज भी गाई जाती है। उपर्युक्त पद्यांश उसी नज्म से लिया गया है।

१२४. धर्म की खाद

जबतक किसी मजहब के माननेवाले उसके लिए कष्ट न उठाये तबतक वह जिन्दा नही रह सकता। किसी श्रद्धा की शक्ति तभी बढती है, जब लोग उसके लिए अपनी जान देने को तैयार रहे। ..हिन्दू धर्म इसी बुनियाद पर खडा है और ससार के अन्य धर्मो के मूल मे भी यही बात है।

—दिल्ली, प्रार्थना-सभा, २।५।१९४७। ह० ज०। ह० से० १८।५।१९४७]

१२५. ब्रह्मचर्य और एकादश व्रत

जो विषय हम सबके मन पर अधिकार जमाये हुए है, उसकी चर्चा तो मैं रोज शाम की प्रार्थना के बाद करता ही हू। यहा जो लिख रहा हू वह तो सात दिन बाद प्रकाशित होगा। जो चीज आज हमारे जीवन मे पहिली जगह ले रही है, उसके लिए इतना अर्सा लम्बा गिना जायगा। इसलिए हरिजन के लिए जीवन के शाश्वत भागो पर बहस करना ठीक लगता है। उनमे एक ब्रह्मचर्य है। दुनिया मामूली चीजो की तरफ दौडती है। शाश्वत वस्तुओ के लिए उसके पास समय नही रहता। तो भी हम विचार करे तो देखेंगे कि ससार शाश्वत वस्तुओ पर ही चलता है।

ब्रह्मचर्य किसे कहते है? जो हमे ब्रह्म की ओर ले जाय, वह ब्रह्मचर्य है। इसमे जननेन्द्रिय का सयम आ जाता है। वह सयम मन, वाणी और कर्म से होना चाहिए। अगर कोई मन से भोग करे और वाणी तथा स्थूल कर्म पर नियन्त्रण रखे तो यह ब्रह्मचर्य मे नही माना जायगा। 'मन चगा तो कठौती मे गगा'। मन पर पूरा नियन्त्रण हो जाय, तो वाणी और कर्म का सयम बहुत आसान हो जाता है। मेरी कल्पना का ब्रह्मचारी प्रकृत्या स्वस्थ होगा, उसका सिर तक नही दुखेगा, वह प्राकृतिक रूप से दीर्घजीवी होगा, उसकी बुद्धि तेज होगी, वह आलसी नही होगा। शारीरिक या दिमागी काम करने मे थकेगा नही और उसकी बाहरी सुघडता सिर्फ दिखावा न होकर भीतर का प्रतिबिम्ब होगी। ऐसे ब्रह्मचारी मे स्थितप्रज्ञ के सब लक्षण देखने मे आयेंगे।

ऐसा ब्रह्मचारी हमे कही दिखाई न पडे, तो इससे घबडाने की कोई बात नही।

जो स्थिरवीर्य है, जो उर्ध्वरेता है, उसमे ऊपर के लक्षण देखने मे आये तो कौन बडी बात है? मनुष्य के जिस वीर्य मे अपने-जैसा जीव पैदा करने की शक्ति

है, उस वीर्य को ऊपर ले जाना ऐसी-वैसी बात नही हो सकती। जिस वीर्य की एक बूंद मे इतनी शक्ति है, उसकी हज़ारो बूंदो की शक्ति का माप कौन लगा सकता है?

यहा एक आवश्यक बात पर विचार कर लेना चाहिए। पतजलि भगवान् के पॉच महाव्रतो मे से किसी एक को लेकर उसकी साधना नही की जा सकती। यह हो सकता है तो सिर्फ सत्य के बारे मे ही, क्योकि दूसरे चार तो सत्य मे छिपे हुए हैं। और इस युग के लिए तो पाँच की नही, ग्यारह व्रतो की जरूरत है। विनोबा ने उन्हे मराठी मे सूत्ररूप मे रख दिया है——

अहिंसा सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य असंग्रह,
शरीरश्रम अस्वाद, सर्वत्र भयवर्जन।
सर्वधर्मी-समानत्व, स्वदेशी स्पर्शभावना,
हीं एकादश सेवावीं नम्रत्वें व्रतनिश्चयें॥१॥

ये सब व्रत सत्य के पालन मे से निकाले जा सकते है। मगर जीवन इतना सरल नही। एक सिद्धान्त मे-से अनेक उप-सिद्धान्त निकाले जा सकते हैं। तो भी एक सबसे बड़े सिद्धान्त को समझने के लिए अनेक उप-सिद्धान्त जानने पडते हैं।

यह भी समझना चाहिए कि सब व्रत समान है। एक टूटा कि सब टूटे। हमे आदत पड गई है कि सत्य और अहिंसा के व्रतभग को हम क्षमा कर सकते हैं। इन व्रतो को तोडने वाले की तरफ हम उगली नही उठाते। अस्तेय और अपरिग्रह क्या है, इसे तो हम समझते ही नही। मगर माना हुआ ब्रह्मचर्य का व्रत टूटा, तो तोडनेवाले का बुरा हाल होता है। जिस समाज मे ऐसा होता है, उसमे कोई बडा दोष होना चाहिए। ब्रह्मचर्य का सकुचित अर्थ लेने से वह निस्तेज बनता है। उसका शुद्ध पालन नही होता। सच्ची कीमत नही आँकी जाती और दभ बढता है। कम-से-कम इस व्रत का पूरा स्थूल पालन भी अशक्य नही यद्यपि बहुत कठिन तो होता है। इसलिए सब व्रतो को एक साथ लेना चाहिए। ऐसा हो तभी, ब्रह्मचर्य की व्यवस्था सिद्ध की जा सकती है। आज की भाषा मे वही सच्चा ब्रह्म-चारी है, जो एकादश व्रत का पालन मन से, वाणी से और कर्म से करता है।

—नई दिल्ली, २।६।१९४७। गुजराती से। ह० से० ८।६।१९४७]

- **संसार शाश्वत वस्तुओ पर चलता है।**
- **जो हमे ब्रह्म की ओर ले जाय, वह ब्रह्मचर्य है।**
- **ब्रह्मचर्य का सकुचित अर्थ लेने से वह निस्तेज बनता है।**

१२६. ब्रह्मचर्य की रक्षा

मैंने पिछले सप्ताह जिस ब्रह्मचर्य की चर्चा की थी, उसके लिए कैसी रक्षा होनी चाहिए ? जवाब तो सीधा है। जिसे रक्षा की जरूरत हो,वह ब्रह्मचर्य नहीं है। मगर यह कहना आसान है, उसे समझना और उस पर अमल करना मुश्किल है

इतना तो साफ है कि यह बात पूर्ण ब्रह्मचारी के लिए ही सच्ची है। लेकिन जो ब्रह्मचारी बनने की कोशिश कर रहा है, उसके लिए तो अनेक बन्धनो की जरूरत है। आम के छोटे पेड को सुरक्षित रखने के लिए उसके चारो तरफ बाड लगानी पडती है। छोटा बच्चा पहिले माँ की गोद मे सोता है, फिर पालने मे और फिर चालन-गाडी लेकर चलता है। जब बडा होकर खुद चलने-फिरने लगता है, तब सब सहारा छोड देता है। न छोडे तो उसे नुकसान होता है। ब्रह्मचर्य पर भी यही चीज लागू होती है।

ब्रह्मचर्य एकादश व्रतो मे एक है, यह मैं पिछले सप्ताह कह चुका हू। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि ब्रह्मचर्य की मर्यादा या बाड एकादश व्रतो का पालन है। मगर एकादश व्रतो को कोई बाड न माने। बाड तो किसी विशेष स्थिति के लिए ही होती है। हालत बदली और बाड टूटी। मगर एकादश व्रत का पालन ब्रह्मचर्य का आवश्यक भाग है। उसके बिना ब्रह्मचर्य का पालन नही हो सकता।

ब्रह्मचर्य मन की स्थिति है। बाहरी आचार या व्यवहार उसकी पहिचान, उसकी निशानी है। जिस पुरुष के मन मे तनिक भी विषयवासना नही रही, वह कभी विकार के वश नही होगा। वह किसी स्त्री को चाहे जिस स्थिति मे देखे, चाहे जिस रूप-रग मे देखे, तो भी उसके मन मे विकार पैदा नही होगा। यही स्त्री के बारे मे भी समझना चाहिए। मगर जिसके मन मे विकार उठा करते है, उसे तो सगी बहिन या बेटी को भी नही देखना चाहिए। मैंने अपने कुछ मित्रो को यह नियम पालने की सलाह दी थी। और, जिन्होने इसका पालन किया है, उन्हे फायदा हुआ है। अपने बारे मे मेरा यह अनुभव है कि जिन चीजो को देखकर दक्षिण-अफ्रीका मे मेरे मन मे कभी विकार पैदा नही हुआ था, उन्ही मे दक्षिण-अफ्रीका मे वापस आने पर मेरे मन मे विकार पैदा हुआ। और, उसे शान्त करने मे मुझे बहुत परिश्रम करना पडा।

यह बात सिर्फ जननेन्द्रिय के बारे मे ही सच थी ऐसा नही, इसान को शोभा न देनेवाले डर के बारे मे भी यही बात सच हुई और मै शरमिन्दा हुआ। बचपन मे मैं स्वभाव से डरपोक था। दीपक के बिना मैं आराम से सो नही सकता था। कमरे मे अकेले सोना अपनी बहादुरी की निशानी समझता था। मुझे पता नही

कि आज अगर मैं रास्ता भूल जाऊ और काली रात में घने जगल मे भटकता होऊ, तो मेरी क्या हालत हो ? मेरा राम मेरे पास है, यह ख्याल भी उस वक्त भूल जाऊ तो ? अगर बचपन का डर मेरे मन मे से बिल्कुल निकल न गया हो, तो मैं मानता हू कि निर्जन वन मे निडर रहना जननेन्द्रिय के सयम से भी अधिक कठिन है। जिसकी यह हालत हो वह मेरी व्याख्या का ब्रह्मचारी नही गिना जायगा।

ब्रह्मचर्य की जो मर्यादा हम लोगो मे मानी जाती है, उसके अनुसार ब्रह्मचारी को स्त्रियो, पशुओ और नपुसको के बीच नही रहना चाहिए। ब्रह्मचारी अकेली स्त्री या स्त्रियो के समूह को उपदेश न करे, स्त्रियो के साथ एक आसन पर न बैठे, स्त्रियो के शरीर का कोई अग न देखे, दूध, दही, घी वगैरह चिकनी चीजे न खाय, स्नान-लेपन न करे। यह सब मैंने दक्षिण अफ्रीका मे पढा था। वहा जननेन्द्रिय का सयम करनेवाले पश्चिम के स्त्री-पुरुषो के बीच मे रहता था। मैं उन्हे इन सब मर्यादाओ को तोडते देखता था। मैं खुद भी उनका पालन नही करता था, यहा आकर भी नही कर सका। दूध, दही वगैरह मैं हठपूर्वक छोडता था। उसका कारण दूसरा था। इसमे मैं हारा। अभी भी अगर मुझे ऐसी कोई वनस्पति मिल जाय जो दूध-घी की ज़रूरत पूरी कर सके, तो मैं फौरन दूध वगैरह प्राणिज चीजे छोड दू। और मेरी खुशी का पार न रहे। मगर यह तो दूसरी बात हुई।

ब्रह्मचारी कभी निर्वीर्य नही होता। वह रोज वीर्य पैदा करता है और उसे इकट्ठा करके रोज-रोज़ वढाता जाता है। उसे कभी बुढापा नही आता। उसकी बुद्धि कभी कुण्ठित नही होती।

मुझे लगता है कि जो ब्रह्मचारी बनने की सच्ची कोशिश कर रहा है, उसे भी ऊपर वताई हुई वाडो (मर्यादाओ) की ज़रूरत नही है। ब्रह्मचर्य बलात् यानी मन से विरुद्ध जाकर पालने की चीज़ नही। वह वलात् नही पाला जा सकता। यहा तो मन को वश मे करने की वात है। जो जरूरत पड़ने पर भी स्त्री को छूने से भागता है, वह ब्रह्मचारी वनने की कोशिश ही नही करता।

इस लेख का मतलव यह नही कि लोग मनमानी करें। इसमे तो सच्चा सयम पालने की वात वताई गई है। दभ या ढोग के लिए यहा कोई वात नही हो सकती।

जो छुपे तौर मे विषय-सेवन के लिए इस लेख का प्रयोग करेगा, वह दभी और पापी ही गिना जायगा।

ब्रह्मचारी को नकली अवरोधो मे भागना चाहिए। उसे अपने लिए अपना अवरोध वना देना है। जब उसकी ज़रूरत न रहे, तब उसे तोड देना चाहिए। इस लेख का उद्देश्य यह है कि हम सच्चे ब्रह्मचर्य को पहिचानें। उसकी कीमत

जान ले और ऐसे कीमती ब्रह्मचर्य का पालन करे। इसमें देश-सेवा का सच्चा ज्ञान निहित है। इससे देश सेवा करने की शक्ति भी बढ़ती है।

—नई दिल्ली ८।६।१९४७। ह० व०। ह० से०, १५।६।१९४७]

- ब्रह्मचर्य एकादश व्रतो मे से एक है।
- एकादश व्रत का पालन ब्रह्मचर्य का आवश्यक भाग है।
- ब्रह्मचर्य मन की स्थिति है।
- ब्रह्मचारी को नकली अवरोधो से भागना चाहिए।

१२७. प्रार्थना व्यर्थ नही जाती

इसान के ढग से भगवान का ढग अलग होता है। इसलिए कोई उसे समझ नही सकता। प्रार्थना के लिए श्रद्धा होना जरूरी है। कोई प्रार्थना व्यर्थ नही जाती। प्रार्थना भी दूसरे कामो की तरह एक काम है। हम देख सके या न देख सके, उसका फल तो मिलता ही है। और तथाकथित कर्म-फल की अपेक्षा हृदय से की जानेवाली प्रार्थना का फल बहुत अधिक शक्ति रखता है।

—नई दिल्ली, २२।६।१९४७। ह० ज०। ह० से०, २९।६।१९४७]

१२८. शास्त्र और आत्म-जागरण

तोते की तरह शास्त्रो को रट लेने से कोई लाभ नही होता। मनुष्य शास्त्रो के अनुसार अपना जीवन तभी बिता सकता है, जब वह उनमे पढी हुई बात को पचा ले। तभी उसकी अन्तरात्मा सच्चे अर्थों मे जागरित होगी।

—नई दिल्ली, २२।६।१९४७। ह० ज०। ह० से०। २९।६।१९४७]

१२९. ईश्वर का वशवर्ती

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

मैं तो ईश्वर के हाथ मे हू। मैं न यह चाहूगा, न वह। मेरे लिए तो आज की भलाई काफी है। बुराई का विचार मुझे नही करना चाहिए। कौन जानता है कि वास्तव मे क्या भला है और क्या बुरा है। इसलिए हमे भलाई के सिवा कुछ सोचना ही नही चाहिए।

—नई दिल्ली, २९-३०।६।१९४७। बापू के पत्र मीरा के नाम, पृ० ३११, न० जी० प्र० म०]

१३०. प्रार्थना के लिए वातावरण

प्रार्थना के लिए पवित्र वातावरण की आवश्यकता है।

— बिड़ला भवन, नई दिल्ली, २१।९।१९४७। ह० ज०। ह० से० ५।१०।१९४७]

१३१. धर्म-रक्षा

हमारे धर्म की रक्षा करना हमारे ही हाथ है। प्रत्येक बच्चे को यह शिक्षा मिलनी चाहिए कि वह अपने धर्म के लिए अपनी जान दे सके। आप लोग प्रह्लाद की कहानी जानते हैं। वह बारह वर्ष की अवस्था मे अपनी श्रद्धा के लिए अपने पिता के विरुद्ध हो गया था। ऐसी वीरता के उदाहरण हर धर्म मे मिलते है। मैंने अपने बच्चो को यही शिक्षा दी है। मैं अपने बच्चो के धर्म का रक्षक नही हू।

— बिड़ला भवन, नई दिल्ली, ३०।९।१९४७। ह० ज०। ह० से०, १२।११।१९४७]

१३२. असंगत नहीं

'हरिजन' के एक ग्राहक ने मेरे सामने नीचे लिखी बात रखी है। मैंने उसका निम्नलिखित उत्तर भेजा है।

प्रश्न—एक बार आपने स्वीकार किया है कि आपने ईश्वर को प्रत्यक्ष नहीं देखा है। आपने 'सत्य के मेरे अनुभव' नामक अपनी पुस्तक की भूमिका मे कहा है कि आपने सत्य के रूप मे भगवान को बहुत दूर से जीता-जागता देखा है। ये दोनों बातें बेमेल मालूम होती हैं। मैं इन दोनो को ठीक-ठीक समझ सकूं, इसलिए विस्तार से समझाने की कृपा कीजिए।

उत्तर—ईश्वर को आँखो से प्रत्यक्ष देखने और उसे बडी दूर से सत्य के रूप मे जीता-जागता देखने मे बहुत बडा अन्तर है। मेरी राय मे उपर्युक्त दोनो बातें एक-दूसरे की विरोधी नही है, बल्कि उनमे से प्रत्येक दूसरी को समझाती है। हम हिमालय को बहुत दूर से देखते है और जब हम उसकी चोटी पर होते हैं, तो उसे प्रत्यक्ष देखते हैं। लाखो आदमी हिमालय को सैकडो मील दूर से देख सकते हैं बशर्ते वह दिखाई देनेवाली दूरी के अन्दर हो। लेकिन वर्षों के कष्ट के बाद उसकी चोटी पर पहुँचकर थोडे ही लोग उसे प्रत्यक्ष देखते है। इसे ह०ज० के कालमो मे विस्तार से समझाने की जरूरत नहीं मालूम होती।

— नई दिल्ली, १३।११।१९४७। ह० ज०। ह० से० २३।११।१९४७]

१३३. प्रार्थना

प्रार्थना तो जीवन का नियम होना चाहिए। सुबह-शाम दोनों समय प्रार्थना करनी चाहिए। हम सोने के समय भी ईश्वर का स्मरण करें और कभी अपने स्वार्थ का विचार न करें।

— समलखा गांव (नई दिल्ली के पास) २७।१२।१९४७। ह० से०, ४।१।१९४८]

१३४. अनासक्त आचरण और स्वधर्म

जो अनासक्तिपूर्वक कर्म का आचरण करता है वह ईश्वर-साक्षात्कार करता है। आज यह किया कल दूसरा काम हाथ में लिया, परसों तीसरा, यों भटकता न फिरे, बल्कि अपने हिस्से में जो सेवा आ जाय उसे ईश्वरप्रीत्यर्थ करने को तैयार रहे। तब यह भावना उत्पन्न होगी कि जो हम करते हैं वह ईश्वर ही कराता है। यह ज्ञान उत्पन्न होगा और अहंभाव चला जायगा। इसे स्वधर्म कहते हैं। स्वधर्म से चिपका रहना चाहिए, क्योंकि अपने लिए तो वही अच्छा है। देखने में परधर्म अच्छा दिखाई दे तो भी उसे भयानक समझना चाहिए। स्वधर्म पर चलते हुए मृत्यु होने में मोक्ष है।

— मंगल प्रभात। गीताबोध, पृष्ठ १७, १९, २०, स० सा० मं०, संस्करण १९५४]

- स्वधर्म पर चलते हुए मृत्यु होने में मोक्ष है।

१३५. मैं पारस पत्थर नहीं हूँ

ब्रह्मचर्य के बारे में मैंने अपना विचार स्पष्ट किया है। जिसका मन में पतन हुआ उसका पतन हो चुका। यह बात ठीक है कि आश्रम के सब लड़के भाग गये लेकिन उसमें मैं असफल हुआ हूं, ऐसा भी नहीं है। जो दो-चार सम्हले हुए हैं उनसे मुझे वस्तु की सिद्धि का भरोसा हो गया है। मैं खुद अपूर्ण हूं तो दूसरों को पूर्ण मार्ग कैसे बता सकता हूँ? मैं कुछ पारस पत्थर तो नहीं हूं जो दूसरों को स्पर्श करते ही ब्रह्मचारी बना दूं। मेरा तो नम्र प्रयत्न है। जो लोग काल्पनिक गांधी को मानते हैं उनको भी लाभ होता है। मेरे पास तो दूर-दूर से खत आते हैं कि आपके लेखों से हमको बहुत लाभ हुआ है। जो लोग मेरे नजदीक आ जाते

है उनको मालूम हो जाता है कि मैं तो एक हाड-मास का पुतला हू। मैंने कभी गुरु बनने का दावा तो किया ही नही है। मैं तो अल्पज्ञ हू। सर्वज्ञ तो ईश्वर ही है।
— बापू को छाया मे, बलवन्त सिंह, सस्करण १९५७, न० जी० प्र० मं०]

१३६. बाहरी पूजा बनाम अन्तर की पूजा

जो काम मिल जाय उसी को कर्त्तव्यप्राप्त समझ कर करना चाहिए। इसी को भगवान ने गीता मे योग कर्मसु कौशलम् कहा है। किसी काम की प्राप्ति की लालसा भी न हो। कार्य तो बाहर की चीज़ है और ईश्वर अन्तर की चीज़ है। बाहरी पूजा तो भक्त भी कर सकता है और दभी भी। परन्तु अन्तर की पूजा तो भक्त ही कर सकता है। बस, अगर हम अन्तर के पुजारी बन जाय तो हमारा काम निबट जाता है।
— बापू की छाया मे, बलवन्त सिंह, सस्करण १९५७, न० जी० प्र० मं०]

१३७. निष्काम कर्म

[श्री सत्यदेव शास्त्री से वार्ता के मध्य व्यक्त विचार]

कर्त्तव्यप्राप्त कर्म अपने को निमित्त मात्र समझ कर करना चाहिए। जगत् मे अनेक शक्तिया अपना काम कर रही है। हम तो उन शक्तियो मे से क्षुद्र से क्षुद्र शक्ति रखते है। यह अहभाव रखना तो मूर्खता है कि मैं करता हू।
— बापू की छाया मे, बलवन्त सिंह, तृ० सस्करण १९५७, न० जी० प्र० मं०]

धर्म

१. हिन्दू-धर्म

[जोहानिसबर्ग थियोसाफिकल सोसायटी के तत्वावधान में आयोजित चार सभाओं में गांधी जी ने हिन्दू-धर्म पर व्याख्यान दिये थे। मेजर पी० काक के सभापतित्व में हुई पहिली सभा में दिये गये गांधी जी के भाषण के अंश यहां प्रस्तुत हैं।—सम्पा०]

हिन्दू-धर्म की विशेषता

हिन्दू जिस धर्म को मानते हैं, आत्मत्याग उसकी अत्यन्त उल्लेखनीय विशेषताओं में से एक है और यह बात स्वयं उस धर्म के नाम से ही जाहिर है। संसार में फैले हुए अन्य बड़े धर्मों की तरह उसका नामकरण किसी गुरु या पैगम्बर के नाम पर नहीं हुआ, यद्यपि उसके अन्तर्गत अनेक महान विभूतियां हुईं।

हिन्दू शास्त्र

हिन्दुओं का अपना दावा यह है कि उनके शास्त्रों की निर्माण-तिथि पुरातन काल के कुहरे में आच्छन्न है, क्योंकि ये शास्त्र अपौरुषेय हैं। उनके विरुद्ध कुछ यूरोपीयों की मान्यता है कि ये शास्त्र ३,००० या ८,००० वर्षों से अधिक पुराने नहीं हैं। तथापि संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान श्री तिलक ने उन ग्रन्थों में आये हुए ज्योतिष के कतिपय तत्वों के आधार पर उन्हें कम-से-कम दस हजार वर्ष पुराना गिना है, भले ही वे केवल ईसा के कोई तीन सौ वर्ष पूर्व लिपिबद्ध किये गये हों। वेदों के—जो इन शास्त्रों की संज्ञा है—विभिन्न सूक्त हैं। प्रत्येक का विशिष्ट काल है और वे एक-दूसरे से बिल्कुल स्वतन्त्र हैं। उनमें एक विशेषता यह है कि उनके एक भी प्रणेता का नाम भावी पीढ़ियों को ज्ञात नहीं हुआ। वेदों ने पश्चिम के कई प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियों के विचारों को प्रेरणा दी है जिनमें आर्थर शापेनहार और प्रोफेसर मैक्समूलर के नाम लिये जा सकते हैं।

हिन्दू-धर्मावलम्बियों की संख्या बीस करोड़[1] से ऊपर होगी। धर्म उनके प्रत्येक

---

१. इस समय वह लगभग चालीस करोड़ है।—सम्पा०

आचार मे प्रविष्ट है। आध्यात्मिक पक्ष मे हिन्दू-धर्म का प्रधानस्वर है—मोक्ष, अर्थात् सर्वव्यापी परमात्मतत्व मे आत्मा का अन्तिम रूप से विलीन हो जाना। धर्म से सम्बन्धित मुख्य विशेषता है अखिल-देवतावाद, और नीति के स्तर पर सर्वाधिक द्रष्टव्य गुण है आत्मत्याग तथा उससे नि सृत उसकी अनुपमेय सहिष्णुता। सामाजिक व्यवहार मे जाति सर्वोपरि थी और आचार मे पशुओ का बलिदान। जब हिन्दू-धर्म अपेक्षाकृत अधिक कर्मकाण्डी हो गया तब राजपुत्र गौतम बुद्ध ने दीर्घकाल तक तपस्या करके वस्तुओ के आध्यात्मिक मूल्य को जानकर यह उपदेश करना प्रारम्भ किया कि पशुबलि अनाध्यात्मिक है और प्रेम के परम-स्वरूप की अभिव्यक्ति जीवित प्राणियो का नाश करने की दिशा से विमुख होकर, उस सहिष्णुता की भावना को फैलाना है, जो पहिले से उनके धर्म का सिद्धान्त है। हिन्दू-धर्म कभी ईसाई अथवा इस्लाम मत की तरह प्रचारक धर्म नही रहा, किन्तु सम्राट् अशोक के समय मे देश-देशान्तरो मे बौद्ध भिक्षु इन नये मत का प्रचार करने के लिए भेजे गये। हिन्दू-धर्म पर बौद्ध मत का कुछ वैसा ही सुधारक प्रभाव पडा जैसा कैथोलिक मत पर प्रोटेस्टेट मत का हुआ था। किन्तु इस सुधार की आन्तरिक भावना बहुत अलग थी। किसी हिन्दू के मन मे बौद्धो के प्रति दुर्भावना नही थी। यह एक ऐसी बात है जो प्रोटेस्टेंटो और कैथोलिको के बारे मे नही कही जा सकती। कई बार कहा जाता है कि बाद मे भारत मे बौद्ध मत का ह्रास हो गया। किन्तु वास्तव मे ऐसा नही है। बौद्ध भिक्षुओ ने अत्यधिक लगन से अपने मत का प्रचार किया और तब हिन्दू पुरोहितो मे ईर्ष्या जागी। उन्होने बौद्धो को देश के सीमान्त भागो —तिब्बत, चीन, जपान, ब्रह्मदेश और लका मे खदेड दिया। किन्तु बौद्ध भावना भारत मे रह गई और उसने हिन्दुओ-द्वारा मान्य, प्रत्येक सिद्धान्त को बल दिया।

जैनो का दावा है कि जैन मत बौद्धमत से एकदम स्वतन्त्र है, वह उससे निकला हुआ नही है। यह मानते हुए कि उसके पवित्र शास्त्र मानवकृतित्व के परिणाम हैं, वे अन्य मतवादियो की तरह यह दावा नही करते कि उनका धर्म अपौरुषेय है। शायद सारे धर्मो मे जैनमत सबसे अधिक तर्कसगत है। और उसकी सर्वाधिक ध्यान देने योग्य विशेषता जीवमात्र के प्रति उसका हार्दिक सद्भाव है।

—जोहानिसबर्ग। ४।३।१९०५। अंग्रेजी से। १०।३।१९०५। स० गां० वां० भाग ४ पृष्ठ ३९५-९६]

२. मै सनातनी हूँ

मैं बिल्कुल सनातनी हूँ। मेरी दृष्टि मे हिन्दू-धर्म मे सब कुछ आ जाता है। इसकी आदर्श छाया मे सभी तरह के विभिन्न विचारो को आश्रय मिल जाता

है और मुझे इसमे कोई सन्देह नही है कि आर्य समाज और सिख तथा ब्रह्म समाज भले ही स्वय को हिन्दुओ से अलग वर्ग मे रखना चाहे किन्तु वे सब बहुत जल्दी हिन्दू-धर्म मे लीन हो जायँगे। और उन्हे अपनी परिपूर्णता भी इसी मे मिलेगी। मानव की अन्य सभी संस्थाओ की तरह हिन्दू धर्म मे भी दोष और कमियाँ है। (इस-लिए) प्रत्येक कार्यकर्त्ता के लिए उनके सुधारार्थ भरपूर जुटने की गुजाइश यहा है, किन्तु उससे टूटकर अलग हो जाने का कोई कारण नही है।

—गुरुकुल-वार्षिक उत्सव मे दिये गये भाषण से, २०।३।१९१६। अंग्रेजी से। स्पीचेज़ ऐंड राइटिंग्स आफ महात्मा गाधी। स० गा० वा०, खण्ड १३, पृष्ठ २६३]

३. वर्णाश्रम

वर्णाश्रम धर्म प्रकृति का अनिवार्य नियम है। भारतवर्ष ज्ञानपूर्वक इस धर्म का पालन कर उससे ठीक-ठीक लाभ उठाता है। भारतवर्ष मे इस्लामी और अंग्रेज भाई भी थोडा बहुत इस धर्म का पालन करते है। भारतवर्ष के बाहर भी अनजाने इस धर्म का पालन होता है। जबतक वर्णाश्रम-धर्म रहेगा तबतक भारतवर्ष मे हरएक आदमी शस्त्रधारी नही हो सकता। भारतवर्ष मे ब्राह्मणधर्म—आत्म-शक्ति—को सर्वोच्च पद दिया गया है। शस्त्रधारी भी ब्राह्मण को प्रणाम करता है।

—२।९।१९१७ के लगभग, स० गा० वा० भाग १३, पृ० ५३१]

४. मेरा धर्मानुभव

धर्म-सम्बन्धी बातो मे मैं अपने को बालक नही, किन्तु खासा ३५ वर्षो का अनुभवी मानता हूँ। क्योकि इतने वर्ष मैंने धर्म के विषय का विचार और मनन किया है। विशेषकर मुझे जहाँ-जहाँ सत्य दीख पडा, वहाँ-वहाँ मैंने उसे काय मे परिणत किया। मेरी धारणा है कि मात्र शास्त्राभ्यास से ही धर्म का स्वरूप हस्त-गत नही होता। हम सदा ही देखते है कि शास्त्र पढे बिना और नियमों के पालन बिना मनुष्य मनमाने मार्ग से चलने लगता है। मैं ऐसे मनुष्य से शास्त्र का अर्थ न पूछूँगा, जिसने लोगो द्वारा पण्डित कहे जाने के लिए शास्त्र पढे है इसीलिए मैक्समूलर-जैसे महान विद्वानो ने गहन अध्ययन के अनन्तर जो पुस्तके लिखी है उनसे भी मै अपने आचरण-सम्बन्धी नियम बनाने मे सहायता न लूगा।

आजकल अपने को शास्त्रो के ज्ञाता कहलानेवाले बहुतेरे लोग अज्ञानी और दभी ही पाये जाते हैं। मै धर्मगुरु की खोज मे हूँ। गुरु की आवश्यकता है, यह मैं मानता हूँ। परन्तु जबतक मुझे कोई योग्य गुरु न दीख पडे, तबतक मैं अपने को ही अपना गुरु मानता हूँ। यह मार्ग विकट अवश्य है परन्तु वर्तमान विषम-काल मे यह उचित जान पडता है। हिन्दू-धर्म इतना महान और व्यापक है कि आज तक कोई उसकी व्याख्या करने मे कृतकार्य नही हो सका। मेरा जन्म वैष्णव सम्प्रदाय मे हुआ है और इसके सिद्ध सिद्धान्त मुझे बडे ही प्रिय है।

—गोधरा, ५।११।१९१७ के बाद। बापू और हरिजन। सं० गां० वां०, खण्ड १४, पृ० ७३-७४]

- **शास्त्राभ्यास से ही धर्म का स्वरूप हस्तगत नहीं होता।**
- **जबतक कोई योग्य गुरु न दीख पडे, मैं अपने को ही अपना गुरु मानता हूँ।**
- **हिन्दूधर्म इतना महान और व्यापक है कि आज तक कोई उसकी व्याख्या करने में कृतकार्य नहीं हो सका।**

५. हिन्दू-धर्म की परिभाषाएँ

हिन्दू-धर्म सही अर्थ मे दो परिभाषाओ-द्वारा व्यक्त किया गया है—अहिंसा परम[1] धर्म है और सत्य से बढकर अन्य बल नही[2]।

—अमृत बाजार पत्रिका, २।१।१९१८। सं० गा० वां० खण्ड १४, पृ० ११९]

६. श्रीकृष्ण और हिन्दू-धर्म

[श्री जमनादास गांधी को लिखे गये पत्र से]

श्रीकृष्ण को हम मनुष्य न मानकर यदि एक महान तत्व (शक्ति?) मानें तो सब शकाएँ नष्ट हो जाती हैं। श्रीकृष्ण काल्पनिक व्यक्ति हैं परन्तु हिन्दुओ के हृदय मे वह इतनी दृढतापूर्वक विराजमान है कि वह हम जितने साकार हैं,

---

१. अहिंसा परमोधर्म।

२. सत्यान्नास्ति परं बलम्।

उससे कही अधिक साकार है। इसमे सन्देह नही कि जबतक हिन्दू-धर्म जीवित है, तबतक श्रीकृष्ण तो रहेंगे ही।

—मोतीहारी, पोष सुदी ५, १७।१।१९१८। स० गा० वा०, खण्ड १४, पृ० १४५]

० जबतक हिन्दू धर्म जीवित है, तब तक श्री कृष्ण तो रहेंगे ही।

७. हिन्दू-धर्म का प्रभाव

यदि हिन्दू अपने धर्म को समझकर उसका पालन करने लगे तो विश्व पर उनका प्रभाव अवश्य ही पडेगा।

—शान्ति-निकेतन, १७।९।१९२०। गुजराती। न० जी०, २६।९।१९२०। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गाधी, खण्ड १८, पृ० २६६]

८. मेरा हिन्दू-धर्म

वैयक्तिक रूप से मेरे लिए केवल एक धर्म है, और वह हिन्दू-धर्म है। मै अपने को हिन्दू कहलाने मे गर्व का अनुभव करता हूँ। किन्तु मै रूढिग्रस्त, कर्म-काण्ड-आबद्ध हिन्दू नही हूँ। जहाँ तक मै हिन्दू-धर्म को समझ पाया हूँ, यह एक ठोस धर्म है। इसमे सहिष्णुता है और यह अन्य धर्मो के प्रति आदर रखता है। इसलिए आप मुझको इस्लाम की रक्षा मे उसी शक्ति से लगा हुआ देखते है, जिससे मै अपने धर्म की रक्षा करता। इस्लाम की रक्षा मेरे लिए अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है क्योकि मैं अनुभव करता हूँ कि इसके द्वारा मैं अपने धर्म की रक्षा हेतु योग्यता प्राप्त करता हूँ।

—शान्ति निकेतन, १७।९।१९२०। गुजराती। न० जी०, २६।९।१९२०। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गाधी, खण्ड १८, पृ० २६४]

● मैं अपने को हिन्दू कहलाने मे गर्व का अनुभव करता हूँ। किन्तु मै रूढिग्रस्त कर्मकाण्ड-आबद्ध हिन्दू नहीं हूँ।

९. सनातनी हिन्दू कौन है ?

अक्सर यह पूछा जाता है कि मै अपने को कट्टर सनातनी हिन्दू क्यो कहता हूँ और अपने को वैष्णव क्यो मानता हूँ। मेरा ख्याल है कि मुझे इन सवालो का जवाब देना चाहिए।

इस जवाब मे सनातनी हिन्दू की परिभाषा समाहित होगी और इसमे वैष्णव का विस्तृत वर्णन शामिल होगा।

मेरे विश्वास के अनुसार-हिन्दू वह है जो भारत मे हिन्दू-परिवार मे जन्मा है, वेदो, उपनिषदो और पुराणो को पवित्र पुस्तक के रूप मे स्वीकार करता है, जिसे सत्य-अहिंसा आदि पाँच यमो पर विश्वास है और जो अपनी श्रेष्ठतम क्षमता से उनका अभ्यास करता है, जो आत्मन् (आत्मा) और परमात्मन् (परमात्मा) के अस्तित्व मे विश्वास रखता है और इससे भी आगे यह विश्वास करता है कि आत्मा का कभी जन्म और मरण नही होता, प्रत्युत शरीर मे अवतरित हो वह एक शरीर से दूसरे शरीर मे जाती है और वह मोक्ष प्राप्त करने मे समर्थ है, जो विश्वास करता है कि मानव-प्रयत्नो का उच्चतम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना है और जो वर्णाश्रम तथा गोरक्षा मे विश्वास रखता है। जो भी व्यक्ति इन बातो मे विश्वास करने के साथ-साथ वैष्णव सम्प्रदानुयायी परिवार मे उत्पन्न हुआ है और जिसने वैष्णव-मार्ग छोड नही दिया है, जो नरसी मेहता के भजन वैष्णवजन मे वर्णित गुणो को कुछ मात्रा मे धारण करता है और इन गुणो को पूर्णता तक बढाने के लिए प्रयत्न करता है, वह वैष्णव है। मेरा दृढ विश्वास है कि मेरे अन्दर बडे पैमाने पर मेरे द्वारा वर्णित चारित्रिक विशेषताए हैं और मैं उन्हे दृढ करने के लिए यत्न कर रहा हूँ। अतएव मैं अपने को सम्पूर्ण दृढता, किन्तु नम्रता के साथ कट्टर सनातनी हिन्दू और वैष्णव कहने मे नही हिचकता। मै मानता हूँ कि हिन्दू-धर्म का अत्यन्त महत्वपूर्ण बाह्य रूप गोरक्षा है। मै हिन्दू-जगत् को क्लीव समझता हूँ क्योकि वर्तमान समय मे एक भी हिन्दू यह सरक्षण देने मे समर्थ नही है। इन क्लीव लोगो मे मैं अपने को सबसे कम क्लीव मानता हूँ। मैं नही मानता कि और कोई व्यक्ति ऐसा हो सकता है जिसने गोरक्षा के लिए इतने तरीके से श्रम किया हो, जितना मैंने किया है और आज भी कर रहा हूँ, या जो गाय और उसकी सन्तान के विषय मे उतना अनुभव करता हो जितना मै करता हुँ। जबतक भारत के हिन्दू गाय के प्रति दया नही दिखाते, जबतक वे स्वय अनेक तरह से पशु को यातना देते है, जबतक वे मुसलमानो का आदर जीतने मे सफल नही होते, और उन्हे सम्मान-वश गोहत्या बन्द करने पर राजी नही कर लेते, जबतक वे अग्रेजो-द्वारा की गई गोहत्या को सहन करते हैं और ब्रिटिश झण्डे को सलाम करते है, मै मानूंगा कि हिन्दू-धर्म मे ब्राह्मण और क्षत्रिय भावना गायब हो गई है। अतएव, यद्यपि मैं जन्म से वैश्य हूँ मैं इन दोनो के कर्त्तव्य मे सक्रिय रहूँगा।

मै मानता हूँ कि हिन्दू-धर्म का सार-तत्व सत्य और अहिंसा है। अपने परिचितो मे मैंने ऐसा एक भी व्यक्ति नही देखा जो सत्य का उतनी सूक्ष्मता से आदर

करता हो, जितना मै अपने बचपन मे करता आ रहा हूँ। अहिंसा की सक्रिय अभिव्यक्ति प्रेम—दुर्भावना का अभाव है। मै दृढतापूर्वक मानता हूँ कि मुझमे प्रेम का उफान आ रहा है। मैने स्वप्न मे भी किसी के प्रति दुर्भावना का अनुभव नही किया। मैं डायर के विरुद्ध भी उसके दुष्कृत्यो के बावजूद ऐसी भावना नही रखता। मैने जहाँ भी दयनीय दशा और अन्याय देखा है, मेरी आत्मा को कष्ट हुआ है।

हिन्दू-धर्म का केन्द्रीय सिद्धान्त मोक्ष है। मै सदैव इसके लिए प्रयत्नशील हूँ। मेरी समस्त प्रवृत्तियाँ मोक्ष के लिए है। मुझे आत्मा के अस्तित्व और उसकी अनश्वरता पर उतना ही विश्वास है, जितना कि मै शरीर के अस्तित्व और उसकी क्षणजीविता के विषय मे आश्वस्त हूँ।

इन्ही कारणो से मै प्रसन्नतापूर्वक अपने को कट्टर सनातनी हिन्दू घोषित करता हूँ।

यदि कोई मुझसे पूछे कि क्या मैने शास्त्रो का गहन अध्ययन किया है, तो मैं कहूँगा कि किया भी है और नही भी। मैने उनको एक विद्यार्थी के दृष्टिकोण से नही पढा है। मेरा सस्कृत का ज्ञान नही के बराबर है, आधुनिक भारतीय भाषाओ मे प्राप्त (शास्त्रग्रन्थो के) अनुवाद को भी मैने बहुत थोडा पढा है। मै एक भी वेद को पूरा पढने का दावा नही कर सकता। इसके बावजूद मैने उनका सच्चा अर्थ समझा है। मै जानता हूँ कि कोई व्यक्ति वेद पढे बिना भी मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

मैने शास्त्रो को समझने और पढने की सही विधि खोज ली है। यदि शास्त्र का कोई निर्देश सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्य का विरोधी है तो वह अप्रामाणिक है फिर वह चाहे किसी भी शास्त्र मे क्यो न हो। शास्त्र तर्क से परे नही है। हम किसी भी शास्त्र को जो तर्क के अनुरूप न हो, अस्वीकार कर सकते है। मैंने केवल उपनिषदो को पढा है। मैने उनमे कुछ ऐसी बाते पढी है, जिन्हे मेरा विवेक स्वीकार नही करता। अतएव मै उन्हे किसी प्रमाण के रूप मे स्वीकार नही करता। अनेक कवियो ने अपनी कविताओ मे हमे बताया है कि जो व्यक्ति शास्त्रो के शब्द से चिपका रहता है, वह विद्या-दभी है। शकराचार्य[1] जैसे शिक्षको ने एक वाक्य मे शास्त्रो का साराश दे दिया है और उसका मूल तत्व यह है कि मनुष्य को ईश्वर के प्रति भक्ति रखनी चाहिए, ज्ञान और उसके द्वारा मोक्ष प्राप्त करना चाहिए। अखा भगत ने कहा है —

---

१ अद्वैत वेदान्त के पोषक, उपनिषद, ब्रह्मसूत्र और भगवतगीता पर भाष्य लिखनेवाले, जगद्गुरु आदय शकराचार्य ७८० ई०—८१२।

जिस तरह चाहे रहे,
ईश्वर को जैसे भी हो, किसी तरह प्राप्त करे।

जो शास्त्र मुझे शराब पीना, मास खाना, और बुरे तरीके सिखाता है, उसे शास्त्र नही कहा जा सकता।

स्मृतियो के नाम से धर्म के ठीक विरुद्ध अनेक बाते चलती हैं। स्मृतियो और उसी तरह के ग्रन्थो के शब्दो को पालन करने का प्रयत्न करके हम अपने को नरक के योग्य बना रहे हैं। उनसे भ्रमित होकर, जो व्यक्ति अपने को हिन्दू कहते हैं, वे अपने लिए स्वच्छन्दता प्राप्त करते है, वे छोटी लडकियो पर बलात्कार करने को तैयार होते हैं या दूसरो को इसके लिए तैयार करते है।

अब हमारे समक्ष महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि समस्त शास्त्रो मे हम किसे क्षेपक समझें, किसे स्वीकार और अस्वीकार करने योग्य माने। जैसा कि मैने ऊपर कहा है, यदि ब्राह्मण-भावना का पूर्णतया लोप न हो गया होता तो हमने किसी ऐसे ब्राह्मण की राय ली होती जिसने यम-नियम के अनुशासन-पालन द्वारा स्वय को पवित्र किया होता और पर्याप्त मात्रा मे ज्ञान प्राप्त किया होता। ऐसे ब्राह्मण के अभाव मे आज भक्ति का मार्ग प्रमुख स्थान रखता है। जब हम वर्तमान सरकार से जिसमे दम्भ, बहाना, अभिमान, सासारिकता और ऐसे ही पातक अनेक रूपो मे प्रकट होते हैं, असहयोग करके आत्म-शुद्धि कर लेंगे, तब सम्भवत हम एक सुसस्कृत व्यक्ति पायेंगे जो हमे शास्त्रो का मूल तत्व दे सके। तबतक के लिए हम सामान्य जन सारभूत बातो से सरल आस्थापूर्वक चिपके रहे और ईश्वर के प्रति भक्ति का जीवन बिताये। मैं दूसरा कोई मार्ग नही देखता।

गुरु के बिना ज्ञान नही हो सकता, यह एक स्वर्णसूत्र है। किन्तु गुरु की प्राप्ति बहुत कठिन है और यह उचित नही होगा कि अच्छे गुरु के अभाव मे किसी को भी अपना गुरु मान ले और इस तरह हम जीवन-समुद्र की यात्रा के ठीक बीच मे अपने को डुबा दे। गुरु वह है जो हमे पार तक तैर जाने मे सहायता दे। वह व्यक्ति जो स्वय तैरना नही जानता दूसरो को कैसे बचा सकता है? यदि इस प्रकार के तैराको का आधुनिक युग मे अस्तित्व है भी तो वे सामान्य रूप से दीख नही पडते।

अब हम वर्णाश्रम की जाँच करे। मेरा सदैव से विश्वास रहा है कि चार से अधिक वर्ण[1] नही हैं। मेरा विश्वास है कि जाति जन्मना प्राप्त होती है। जो व्यक्ति ब्राह्मण परिवार मे जन्म लेता है, वह ब्राह्मण के रूप मे मरता है। यदि

---

१. जातियां।

वह अपने चारित्रिक गुणों के द्वारा अब्राह्मण हो जाता है तो उसका ब्राह्मण शरीर ऐसा रहना बन्द नहीं करता। एक ब्राह्मण जो ब्राह्मण-धर्म का पालन नहीं करता अपने गुणों के अनुसार शूद्र अथवा पशु के रूप में भी जन्म ले सकता है। मेरे समान एक वैश्य जो कि ब्राह्मण और क्षत्रिय का धर्म पालन करता है, यदि उसे पुनर्जन्म लेना पड़े, तो वह दूसरे जन्म में ब्राह्मण या क्षत्रिय हो सकता है। जहाँ-तक इस जीवन का सम्बन्ध है वह केवल वैश्य रहेगा और यह ठीक भी है। समय-समय पर अन्य धर्मानुयायी हिन्दू-धर्म द्वारा उसमें मिला लिये गये हैं किन्तु उनके जीवन-काल में उन्हें हिन्दू नहीं माना गया। हिन्दू-संसार समुद्र की तरह है। इसके हृदय में जो भी मल पहुँच जाता है, स्वच्छ होकर बैठ जाता है। ऐसा बार-बार हुआ है। इटली, ग्रीस और अन्य स्थानों के लोग आये और हिन्दू-धर्म द्वारा समाहित कर लिये गये, किन्तु वे किसी के द्वारा हिन्दू-धर्म में परिवर्तित नहीं किये गये। केवल युगों के दौरान संख्याएं बढ़ीं और घटीं। ईसाई धर्म या इस्लाम के विपरीत हिन्दू-धर्म अन्य मतावलम्बियों को अपना मत स्वीकार करने के लिए आमन्त्रित नहीं करता। यह प्रत्येक से उसका अपना धर्म पालन करने को कहता है। उदाहरण के लिए भगिनी निवेदिता[1] ने हिन्दू-धर्म स्वीकार किया, पर हम उन्हें हिन्दू के रूप में नहीं सोचते, न हम उनका किसी भी रूप में बहिष्कार या अवज्ञा ही करते हैं। किसी व्यक्ति के हिन्दू-धर्म स्वीकार करने का प्रश्न नहीं है। हिन्दू धर्म का आचरण सभी लोग कर सकते हैं।

वर्णाश्रम एक कानून है। व्यावहारिक प्रश्न जाति-प्रथा है। जातियाँ (संख्या में) घटती-बढ़ती रहती हैं। वे अस्तित्व प्राप्त करती हैं और गायब हो जाती हैं। कोई व्यक्ति स्वयं ही हिन्दू-धर्म छोड़ सकता है यद्यपि वह (दूसरों द्वारा) जाति-बहिष्कृत किया जा सकता है। जाति-बहिष्कार दण्ड की एक विधि है और इसे प्रत्येक समुदाय के लिए प्राप्य होना चाहिए।

यह निश्चित रूप से आवश्यक है कि बहुसंख्यक जातियों की संख्या कम हो जाय और यह विभिन्न जाति की परिषदों द्वारा हिन्दू-धर्म का नुकसान पहुँचाये बिना किया जा सकता है। यदि बनियों के अनेक विभाग (उपजातियाँ) आपस में विलय कर लें और उनके सदस्य आपस में विवाह करने लगें, तो इससे हिन्दू-धर्म को किसी प्रकार क्षति नहीं पहुँचेगी।

अन्न, जल और विवाह के सम्बन्ध में लोग जिन नियमों का पालन करते हैं, वे हिन्दू-धर्म के आवश्यक अंग नहीं हैं। चूंकि हिन्दू धर्म में आत्म-नियन्त्रण को

---

१ स्वामी विवेकानन्द की शिष्या मार्गरेट ई० नोबेल।

विशेष महत्व दिया गया है, इसलिए इन बातो की छोटी-से-छोटी वारीकियो पर पर भी नियन्त्रण लगाये गये हैं। मैं नही सोचता कि वे निन्दा-योग्य हैं, किन्तु इनके साथ ही जो आदमी इनका पालन नही करता उसके लिए मै यह नही कहूँगा कि उसने धर्म का नियम-भग किया है। किसी जगह और सब जगह अन्न, जल स्वीकार न करने या विवाह न करने को सभ्य आचरण मानता हूँ। इससे स्वास्थ्य और पवित्रता की रक्षा होती है किन्तु मेरा विश्वास है कि किसी के यहाँ तिरस्कार-पूर्वक अन्न, जल न स्वीकार करना हिन्दू-धर्म के विरुद्ध है। यह मेरे अनुभव पर आधारित दृष्टिकोण है कि दूसरे वर्ण या अन्य धर्मावलम्बी के साथ भोजन या विवाह का निषेध उस सस्कृति के लिए आवश्यक रोक है जिसे हिन्दू-धर्म ने प्रस्तुत किया है।

तब मै मुसलमानो के यहाँ भी भोजन क्यो कर लेता हूँ ? मैं इसलिए ऐसा करता हूँ कि उनके साथ खाने पर भी मैं अत्यन्त आत्म-नियन्त्रण का पालन करने मे समर्थ हूँ। पकाई हुई वस्तुओ मे मैं ब्रेड तक ले लेता हूँ क्योकि ब्रेड सेकने का तरीका पूर्णतया स्वच्छ है और जिस तरह भुना हुआ अन्न सदैव खाया जा सकता है, वह चाहे जहाँ भूना गया हो उसी प्रकार ब्रेड (रोटी नही) ली जा सकती है वह फिर चाहे जहाँ सेकी गई हो, लेकिन मेरे साथी कार्यकर्त्ता इस नियन्त्रण को भी नही मानते और जो अन्य तरह से स्वीकार्य हो ऐसी कोई भी चीज मुसलमान के यहाँ अथवा अपने से भिन्न जातिवालो के यहाँ खा लेते हैं बशर्ते वह चीज़ सफाई से बनाई गई हो। ऐसा करने मे वे जाति-बहिष्कृत होने का ख़तरा उठाते है किन्तु उनका हिन्दू होना खत्म नही हो जाता। आश्रम इस प्रकार के धर्म का पालन करता है, जो सन्यासियो के योग्य है। वहाँ एक नई जाति या नई आचरण-सहिता बनाई जा रही है जो वर्तमान युग के अनुरूप और हिन्दू-धर्म-सम्मत है। मैं इस प्रयास को एक प्रयोग के रूप मे देखता हूँ। यदि यह सफल हुआ तो इसे स्वीकार योग्य माना जायगा। यदि यह असफल रहा तो इससे किसी का नुकसान नही होगा। यहाँ तक कि जो प्रयोग मे लगे है, उनका भी कोई नुकसान न होगा, क्योकि प्रयोग का आधार आत्म-नियन्त्रण है। इसका उद्देश्य सेवा-कार्य को सरलतापूर्वक चलाने में क्षमता प्राप्त करना और यह देखना है कि आज के विपरीत, जब कि धर्म खाने-पीने के नियमो मे बँध गया है, इन मामलो मे रूढियो को उनके उचित और गौण स्थान पर रखा जाय।

—*गुजराती। न० जी०, ६।२।१९२१। अग्रेजी से अनूदित।* कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गाधी, खण्ड १९, पृ० ३२७-३१।]

- हिन्दू-धर्म का अत्यन्त महत्वपूर्ण वाह्य रूप गोरक्षा है।
- हिन्दू धर्म का सार-तत्व सत्य और अहिंसा है।

- हिन्दू-धर्म का केन्द्रीय सिद्धान्त मोक्ष है।
- जो व्यक्ति शास्त्रो के शब्द से चिपका रहता हे वह विद्यादभी है।
- शास्त्र तर्क से परे नहीं है।
- वर्णाश्रम एक कानून है।

१०. धर्मशास्त्र का रहस्य

अब मे आपके सामने धर्म की बात क्या करूँ ? मै तो यह समझता हू कि हमारे धर्म मे जो कुछ लिखा गया है, याज्ञवल्क्य आदि ऋषियो के जो थोडे से वचन यत्र-तत्र मिलते है, वे सब अमर और स्थायी नही है। वह समय दूसरा था, आज का समय दूसरा है। हम द्रौपदी को एक अलौकिक स्त्री मानते है, सुबह उठकर उसका नाम लेते है, पाँचो पाण्डवो को पूज्य मानते है। पर इस कारण क्या हम आज द्रौपदी की तरह पाँच पति करनेवाली स्त्री को सती मानेंगे ? हम उनकी पूजा उनके अच्छे कामो के लिए करते है। हमे गुणग्राहक होना चाहिए। उनके अनेक गुण अलौकिक थे। इसलिए हमने उनकी स्मृति को कायम रखा है। यह तो महाभारत की बात हुई। मेरे निकट रामायण से बढकर कोई प्रिय पुस्तक नही है। फिर भी, क्या तुलसीदास ने धर्मशास्त्र की जो अनेक बाते लिखी है, वे सब प्रामाण्य हे ? मनुस्मृति तो बडा प्रमाण-ग्रन्थ है। पर उसमे मासाहार की स्पष्ट आज्ञा है। क्या इसलिए आप मास खायगे ? आप ऐसी बाते सुनकर चौंकते है। कोई मास खाता होगा तो लुक-छिपकर खाता होगा। यह दूसरी बात है। लेकिन मनुस्मृति मे लुक-छिपकर नही सरे आम मास खाने की आज्ञा दी गई है। फिर भी हम इसे त्याज्य मानते है। कलियुग मे जिस बात की मनाही की गई है, सत्ययुग मे उसकी आज्ञा दी गई है। सुवर्ण युग मे अभक्ष्य भक्ष्य हो सकता है, पर इस कलियुग मे नही। यह बात बेतुकी नही मालूम होती है ? धर्म को किस दृष्टि से देखना चाहिए, यही मुख्य प्रश्न है। इसमे दो बाते है। एक तो यह कि धर्म की चर्चा बुद्धि-द्वारा नही, हृदय के द्वारा करे। और दूसरी यह कि धर्म के नाम पर अधर्म न फैलाये। आप समझ ले कि गीता जी का अनर्थ हो सकता है। दुर्योधन पर भीम ने गदा-प्रहार किया, इसलिए यदि कोई यह कहने लगे कि भाइयो के पुत्र एक दूसरे को शत्रु मानकर मार सकते है, तो मै कहूँगा कि वह गीता पढना नही जानता। यह तो केवल हृदय का विषय है। मेरा धर्म बुद्धि पर आश्रित नही है। मै आपसे अनुरोध करता हू कि अपनी बुद्धि को टटोलिए और उस पर प्रकाश डालिए।

—न० जी०। हि० न० जी०, ३०।३।१९२४]

- मेरे निकट रामायण से बढ़कर कोई प्रिय पुस्तक नहीं है।
- धर्म की चर्चा बुद्धि-द्वारा नहीं, हृदय के द्वारा करें।
- धर्म के नाम पर अधर्म न फैलायें।
- मेरा धर्म बुद्धि पर आधारित नहीं।

११. हिन्दू धर्म को चुनौती

यह युधिष्ठिर की भूमि है, यह रामचन्द्र की भूमि है। ऋषि-मुनियों ने हम से कह रखा है कि यह भोगभूमि नही, कर्मभूमि है। मैं इस भूमि के निवासियो से कहता हूँ कि हिन्दू-धर्म आज तराजू पर चढा हुआ है और ससार के तमाम धर्मों के साथ उसकी तुलना हो रही है। यदि हिन्दू धर्म मे उन बातो का समावेश होगा जो बुद्धि के बाहर होगी, दया-धर्म के बाहर होगी तो उसका नाश निश्चित समझिए। मुझे दया-धर्म का भान है और इसी कारण मैं देख रहा हूँ कि हिन्दू धर्म के नाम पर कितना पाखण्ड, कितना अज्ञान फैल रहा है। इस पाखण्ड और अज्ञान के खिलाफ यदि जरूरत पडे तो मै अकेला लडूगा, अकेले रहकर तपश्चर्या करूंगा और उसका नाम जपते हुए मरूँगा।

—हि० न० जी०, १५।१।१९२५]

- यह भोगभूमि नहीं, कर्मभूमि है।

१२. हिन्दू धर्म का नवनीत

सनातनी भाई शायद यह मानते हैं कि मैं हिन्दू धर्म के हृदय पर आघात करना चाहता हूं। स्वय मैं अपने को सनातनी गिनता हूँ। मैं जानता हूँ कि मेरा दावा वहुत थोडे भाई-बहिन स्वीकार करते होगे। किन्तु मेरा यह दावा है और रहेगा। मैं तो कई वार कह चुका हूँ कि आज नही तो मेरी मृत्यु के वाद समाज मेरी वात को अवश्य स्वीकार करेगा कि गाधी सनातनी हिन्दू था। सनातनी के मानी हैं प्राचीन। मेरे भाव प्राचीन हैं—अर्थात् ये भाव मुझे प्राचीन-से-प्राचीन ग्रन्थो मे दिखाई देते हैं और मैं इन्हे जीवन-रूप वनाने की कोशिश कर रहा हूँ। इसी कारण मैं मानता हूँ कि मेरा सनातनी होने का दावा विल्कुल ठीक है। मैं शास्त्रो की कथा गटकर कहनेवालो को सनातनी नही कहता। सनातनी वही है जिसकी रग-रग

मे हिन्दू धर्म व्याप्त हो। इस हिन्दू धर्म को शकर¹ भगवान ने एक ही वाक्य में कह दिया है—'ब्रह्मसत्य जगन्मिथ्या"। दूसरे ऋषियो ने कहा—"सत्य से बढकर दूसरा धर्म नहीं।" और तीसरे ने कहा है, "हिन्दू धर्म का अर्थ है अहिंसा"। इन तीन मे से आप चाहे जिस सूत्र को ले लीजिए, उसमे आपको हिन्दू धर्म का रहस्य मिल जायगा। ये तीन सूत्र क्या है, मानो हिन्दू-धर्मशास्त्र को दुहकर निकाला गया नवनीत है।

—हि० न० जी०, १९।२।१९२५]

१३. ब्राह्मण, कुछ आदर्श परिकल्पनाएँ, स्थापनाएँ

ब्राह्मण शब्द तो नम्रता, स्वय को भूल जाना, त्याग, पवित्रता, साहस, क्षमा और सत्य-ज्ञान का पर्यायवाची होना चाहिए। बहुत-सी बातो मे ब्राह्मणो ने अपनी महत्ता का कभी दावा नही किया था, परन्तु असन्दिग्ध रूप से उनकी सेवा के कारण उसका सेहरा उन्ही के सिर बँधा था। ब्राह्मण लोग आज जिसका दावा नही कर सकते उसी को प्राप्त करने के लिए बडा प्रयत्न कर रहे है और इससे हिन्दुस्तान के कुछ हिस्सो मे अब्राह्मणो को उनके प्रति ईर्ष्या हुई है

ब्राह्मण तो हिन्दू धर्म और मनुष्य-समाज का उत्तम पुष्पाग है। मैं ऐसा एक भी काम न करूँगा, जिससे उसे मुरझाना पडे। मैं जानता हूँ कि वह अपनी रक्षा करने मे समर्थ है, उसने अब तक बहुत-से तूफान देख लिये है। मैं नही चाहता कि ब्राह्मणो के सर्वनाश पर अब्राह्मण लोग उन्नति करे। ब्राह्मण जन्म से होते है किन्तु ब्राह्मणत्व जन्म से नही होता। यह तो ऐसा गुण है, जिसको एक छोटे-से-छोटे आदमी भी विकास करके प्राप्त कर सकता है।

—य० इ०। हि० न० जी०, १९।३।१९२५]

● **ब्राह्मण जन्म से होते हैं किन्तु ब्राह्मणत्व जन्म से नहीं होता।**

१४. मूर्ति-पूजक और मूर्ति-भंजक

मैंने अपने एक भाषण मे प्रसगवश कहा था कि मै मूर्ति-पूजक हूँ पर मैं मूर्ति-भजक भी हूँ। यदि मेरा वह भाषण पूरा छापा गया होता तो उसका अर्थ अच्छी तरह समझ मे आने योग्य था। मैंने भाषण की रिपोर्ट नही देखी है। एक सज्जन उसको उद्धृत कर लिखते है —

---

१ जगद्गुरु आद्य शकराचार्य।

"मेरे-जैसे लोग, जिनकी श्रद्धा मूर्ति-पूजा से उठ गई है, किन्तु फिर भी कितनी बार मूर्ति-पूजा के रूप को (जैसे मृत पिता के चित्र या मृत मित्र के पत्र को) आदर की दृष्टि से देखते हैं, उन्हे आप यदि इन शब्दो का अर्थ समझाकर मार्ग-सूचक बनेंगे तो बड़ा उपकार होगा।"

यहाँ मूर्ति शब्द के अर्थ अलग-अलग है। मूर्ति का अर्थ यदि बुत लिया जाय तो मैं मूर्ति-भजक हूँ। उसका अर्थ यदि ध्यान करने, मान करने या स्मृति कराने का साधन किया जाय तो मैं मूर्तिपूजक हूँ। मूर्ति का अर्थ केवल आकृति नही। जो एक पुस्तक की भी पूजा आँखे मूँदकर करते है वे मूर्ति-पूजक अथवा बुतपरस्त है। बुद्धि का प्रयोग किये बिना, सारासार-विवेक बिना, अर्थ की छानबीन किये बिना, वेद मे जो कुछ लिखा है, सब को मानना मूर्तिपूजा इसलिए बुतपरस्ती है। जिस मूर्ति को देखकर तुलसीदास पुलकित-गात्र होते, ईश्वरमय, राममय बनते, उसका पूजन करने से वे शुद्ध मूर्ति-पूजक थे और इसलिए वन्दनीय तथा अनुकरणीय थे।

जितने वहम है, अन्ध विश्वास है, वे सब बुतपरस्ती अथवा नित्य मूर्ति-पूजा हैं। जो हर प्रकार के रिवाज को धर्म मानते है, वे निन्द्य मूर्ति-पूजक है। अतएव मैं मूर्ति-भजक हूँ। मै शास्त्र के प्रमाण देकर असत्य को सत्य, कठोरता को दया, वैरभाव को प्रेम बनाकर नही दिखा सकता, इसलिए और इस तरह मैं मूर्ति-भजक हूँ। द्विअर्थी या क्षेपक श्लोक बताकर अथवा धमकी देकर कोई व्यक्ति मुझे अन्त्यजो का तिरस्कार, त्याग या उसकी अस्पृश्यता नही सिखा सकता, इसलिए मै अपने को मूर्ति-भजक मानता हूँ। मैं माँ, बाप की अनीति को भी अनीति के रूप मे देख सकता हूँ और इस देश पर अथाह प्रेम रखते हुए इसके दोप भी खोलकर बता सकता हूँ, इसलिए मूर्ति-भजक हूँ।

मेरे हृदय मे वेदादि के प्रति पूर्ण और स्वाभाविक रूप से आदरभाव है। मे पापाण मे भी परमेश्वर को देख सकता हूँ। साधु पुरुषो की प्रतिमाओ के प्रति मेरा मस्तक स्वय झुकता है, इसलिए मैं स्वय को मूर्ति-पूजक मानता हूँ।

इसका अर्थ यह कि गुण-दोष बाह्य कार्य की अपेक्षा आन्तरिक भाव मे विशेप रूप से होता है। किसी भी कार्य की परीक्षा कर्त्ता के भाव से होती हे। उसी माता का सविकार स्पर्श पुत्र को नरकवास प्राप्त कराता हे, उसी का निर्विकार स्पर्श पुत्र को स्वर्ग पहुँचाता है। द्वेप-भाव से चलाई छुरी प्राण लेती हे, प्रेम-भाव से लगाई छुरी (शल्य क्रिया) प्राण लाती है। बिल्ली के वही दाँत चूहे के लिए घातक होते है, पर अपने बच्चो के रक्षक होते हैं।

दोप मूर्ति मे नहीं, ज्ञान-रहित पूजा मे है।

—न० जी०। हि० न० जी०, ७।५।१९२५]

- मूर्ति का अर्थ केवल आकृति नहीं।
- दोष मूर्ति मे नहीं, ज्ञानरहित पूजा मे है।

१५. हिन्दू धर्म में शैतान की कल्पना

मेरी राय मे हिन्दू धर्म की विशेषता उसकी सर्वव्यापकता और सग्राहकता है। महाभारत के कर्त्ता ने अपनी महान सृष्टि के सम्बन्ध मे जो कुछ कहा है वह हिन्दू धर्म पर भी उतना ही घटता है। दूसरे धर्मो मे जो काम की बाते मिलती है वे सर्वदा हिन्दू धर्म मे पाई जाती है और जो कुछ उसमे नही है उसे सारहीन या अनावश्यक समझना चाहिए।

यह अवश्य मानता हूँ कि हिन्दू धर्म मे शैतान के लिए जगह है। बाइबिल मे यह विचार न तो नया है, न मौलिक है। बाइबिल मे भी शैतान कोई व्यक्ति नही है। बाइबिल मे वह व्यक्ति उसी कोटि तक है जिस कोटि तक रावण या सारी असुर-सन्तति हिन्दू-धर्म मे है। मै दस सिर और बीस हाथ वाले ऐतिहासिक रावण को उतने से ही अधिक नही मानता, जितना कि ऐतिहासिक शैतान को मानता हूं। और जिस तरह शैतान और उसके साथी पतित फरिश्ते है, उसी तरह रावण और उसके साथी भी पतित फरिश्ते या चाहे तो देव कहिए, है। यदि दुर्विकारो और उच्च भावो को व्यक्तियो का जामा पहिनाना कोई अपराध है तो शायद हिन्दू धर्म इसके लिए सबसे ज्यादा जिम्मेवार है। क्या छ विकारो[1] को हिन्दू धर्म मे व्यक्ति का रूप नही दिया गया है? धृतराष्ट्र और उसके सौ पुत्र कौन है, क्या है? कालान्त तक कल्पना-शक्ति अर्थात् काव्य मनुष्य के विकास मे अपना उपयोगी और आवश्यक काम जरूर करेगा। हम विकारो का वर्णन इसी प्रकार करते रहेगे मानो वे कोई व्यक्ति हो। क्या वे हमे दुष्ट मनुष्यो की तरह नही सताते? अक्षरार्थ करने मे मृत्यु है और आशय ग्रहण करने मे जीवन-लाभ है।

—य० इ०। हि० न० जी०, १७।९।१९२५]

- हिन्दू धर्म की विशेषता उसकी सर्वव्यापकता और सर्वसग्राहकता है।
- कालान्त तक कल्पना-शक्ति अर्थात् काव्य मनुष्य के विकास मे अपना उपयोगी और आवश्यक काम जरूर करेगा।
- अक्षरार्थ करने मे मृत्यु है और आशय ग्रहण करने मे जीवन-लाभ है।

---

१ काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर।

१६. ब्राह्मण

ब्राह्मण वह है जो अपने धर्म और देश के लिए खुद को स्वाहा कर दे और उनकी सेवा के लिए अपने जीवन मे दरिद्रता-धर्म को सानन्द अगीकार करे।
—य० इं०। हि० न० जी०, १७।९।१९२५]

१७. हिन्दू धर्म : एक दृष्टि

हिन्दू-धर्म जीवित धर्म है। उसमे भर्ती खोट और आती ही रहती है। वह ससार के नियमो का ही अनुसरण करता है। मूल से तो वह एक ही है, लेकिन वृक्ष से वह विविध प्रकार का है। उस पर ऋतुओ का असर होता है। उसका बसन्त होता है और पतझड भी। उसकी शरद् ऋतु होती है और ग्रीष्म ऋतु भी। वह वर्षा से भी वचित नही रहता। उसके लिए शास्त्र है और नही भी। उसका आधार एक ही पुस्तक पर नही है। गीता सर्वमान्य है, लेकिन वह केवल मार्गदर्शक है। रूढियो पर उसका बहुत कम असर होता है। हिन्दू धर्म गगा का प्रवाह है। वह मूल मे शुद्ध है। मार्ग मे उस पर मैल चढता है। इसके बावजूद जिस प्रकार गगा की प्रवृत्ति अन्त मे पोषक है, उसी प्रकार हिन्दू धर्म भी है। वह प्रत्येक प्रान्त मे प्रान्तीय स्वरूप ग्रहण करता है, फिर भी उसमे एकता होती है, रूढि धर्म नही है। रूढि मे परिवर्तन होगा लेकिन धर्म-सूत्र यथावत् बने रहेगे।

हिन्दू धर्मावलम्वी की तपश्चर्या पर ही हिन्दू धर्म की शुद्धता आधारित है। जब हिन्दू धर्म पर सकट आता है, हिन्दू धर्मावलम्वी तपश्चर्या करता है, बुराई के कारण खोजता है और उसका उपाय करता है। शास्त्रो मे वृद्धि होती रहती है। वेद, उपनिषद्, स्मृति, इतिहास आदि एक साथ एक ही समय मे उत्पन्न नही हुए हैं। प्रसग आने पर ही उन ग्रन्थो की रचना हुई है इसलिए उनमे विरोधाभास भी होता है। वे ग्रन्थ शाश्वत सत्य नही बतलाते। वे अपने-अपने समय मे शाश्वत सत्य का किस प्रकार अमल किया गया था, यही बतलाते है। उस समय जिस प्रकार व्यवहार किया गया था वैसा ही अन्य समय मे भी करे तो निराशा के कूप मे पडना होगा। एक समय हमारे यहाँ पशुयज्ञ होता था, इसीलिए क्या आज भी करेगे? एक समय हम लोग मासाहार करते थे, इसलिए क्या आज भी करेंगे? एक समय चोर के हाथ-पैर काट डाले जाते थे, क्या आज भी उनके हाथ-पैर काटेंगे? एक समय हमारे यहाँ एक स्त्री अनेक पति करती थी, क्या आज भी करेगी? एक समय हम लोग बालकन्या का दान करते थे, तो क्या आज भी वही करेगे? एक

समय हम लोगों ने प्रजा के कुछ मनुष्यों को तिरस्कृत माना था, इसलिए क्या आज भी उन्हें तिरस्कृत ही मानेंगे ?

हिन्दू धर्म जड़ बनने से साफ इन्कार करता है। ज्ञान अनन्त है। सत्य की मर्यादा की खोज किसी ने नहीं पाई। आत्मा की नई-नई खोज होती रहती है और होती रहेगी। हम लोग अनुभव के पाठ पढ़ते हुए अनेक प्रकार के परिवर्तन करते रहेंगे। वेद सत्य है, अनादि है, लेकिन उस सब को मैं कौन जान सका है? आज वेद के नाम से जो पहिचाना जाता है, वह तो उसका करोड़वाँ भाग भी नहीं है। जो हम लोगों के पास है, उसका अर्थ भी सम्पूर्णतया कौन जानता है ?

इतना बड़ा जंजाल होने के कारण ही ऋषियों ने हमें एक बहुत बड़ी बात सिखाई है—'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' ब्रह्माण्ड का पृथक्करण असम्भव है, अपना पृथक्करण कर देखना शक्य है। स्वयं को पहिचानते ही संसार पहिचान में आ जाता है। लेकिन अपने को पहिचानने के लिए प्रयत्न करना आवश्यक है। प्रयत्न भी निर्मल होना चाहिए। निर्मल हृदय के बिना प्रयत्न का निर्मल होना असम्भव है। यम-नियमादि के पालन बिना हृदय की निर्मलता भी सम्भव नहीं। ईश-कृपा बिना यमादि का पालन कठिन है। ईश्वर की कृपा बिना श्रद्धा और भक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। इसीलिए तुलसीदास जी ने रामनाम की महिमा गाई है और भागवत-कार ने द्वादश मन्त्र सिखाया है। जो समाहित हृदय से यह जप कर सकता है, वही सनातनी हिन्दू है, बाकी सब तो अखा[1] की भाषा में अँधेरा कुआँ है।

खाद्याखाद्य में हिन्दू धर्म की परिसीमा नहीं हो जाती। उससे करोड़ गुनी आवश्यक वस्तु अन्तराचरण है, सत्य-अहिंसादि का सूक्ष्म पालन है। गोमांस का त्याग करनेवाले दंभी ऋषि की अपेक्षा गोमांस खानेवाला दयामय, सत्यमय ईश्वरभीरु मनुष्य हजार गुना अधिक अच्छा हिन्दू है। और जो सत्यवादी, सत्या-चरणी गोमांसादि के आहार में हिंसा देख सका है और जिसने उसका त्याग किया है, जिसको जीवमात्र के प्रति दया है उसे कोटिशः नमस्कार है। उसने ईश्वर को देखा है, पहिचाना है, वह परमभक्त है, जगद्गुरु है।

आज हिन्दू धर्म की और अन्य धर्मों की परीक्षा हो रही है। सनातन सत्य एक ही है, ईश्वर एक ही है। सनातनी माने जाने वाले बहुत-से लोग भटक रहे हैं। उनमें कौन जानता है, किसे स्वीकार किया जायगा। रामनाम लेनेवाले अनेक लोग रह जायँगे और चुपचाप राम का काम करनेवाले विरल लोग विजयमाला पहिन लेंगे।

—न० जी०। हि० न० जी०, ११।२।१९२६]

---

१ अखा भगत।

- हिन्दू धर्म जीवित धर्म है।
- गीता सर्वमान्य है. . .।
- हिन्दू धर्म गंगा का प्रवाह है।
- रूढ़ि धर्म नहीं है।
- शास्त्रों मे वृद्धि होती रहती है।
- हिन्दू धर्म जड़ बनने से साफ इन्कार करता है।
- ज्ञान अनन्त है।
- वेद सत्य है, अनादि है।
- ब्रह्माण्ड का पृथक्करण असम्भव है।
- स्वयं को पहिचानते ही संसार पहिचान में आ जाता है।
- निर्मल हृदय के बिना संसार का निर्मल होना असम्भव है।
- ईश-कृपा बिना यमादि का पालन कठिन है।
- ईश्वर की कृपा बिना श्रद्धा और भक्ति प्राप्त नहीं हो सकती।
- खाद्याखाद्य में हिन्दू धर्म की परिसीमा नहीं हो जाती।
- सनातन सत्य एक ही है, ईश्वर एक ही है।

१८. धर्म और रिवाज

वर्णाश्रम, यह धर्म है। वर्तमान असख्य जाति-भेद का होना कोई धर्म नही है। यह एक रिवाज है। ..
——न० जी०। हि० न० जी०, २२।४।१९२६]

१९. प्रार्थना किसे कहते हैं ?

डाक्टरी डिग्री प्राप्त किये हुए एक महाशय प्रश्न करते हैं:—

"प्रार्थना का सबसे उत्तम प्रकार क्या हो सकता है; उसमे कितना समय लगाया जाना चाहिए ? मेरी राय मे तो न्याय करना ही उत्तम प्रकार की प्रार्थना है और जो मनुष्य सबसे के साथ न्याय करने के लिए सच्चे दिल से तैयार होता है उसे दूसरी प्रार्थना करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। कुछ लोग तो सन्ध्या करने मे बहुत-सा समय लगा देते हैं परन्तु पचानवे प्रतिशत मनुष्य तो उस समय जो कुछ बोलते हैं उसका अर्थ भी नहीं समझते। मेरी राय मे तो अपनी मातृ-भाषा मे ही प्रार्थना करनी चाहिए। आत्मा पर उसी का उत्तम प्रभाव पड़ सकता

है। मै तो यह भी कहता हूँ कि सच्ची प्रार्थना यदि एक मिनट के लिए की गई हो तो वह भी काफी होगी। ईश्वर को पाप न करने का अभिवचन देना ही काफी है।"

प्रार्थना का अर्थ है—धर्मभावना और आदरपूर्वक ईश्वर से कुछ मांगना। परन्तु किसी भक्तिभावयुक्त कार्य को व्यक्त करने के लिए भी इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। लेखक के मन मे जो बात है उसके लिए भक्ति शब्द का प्रयोग करना ही अधिक अच्छा है, परन्तु उसकी व्याख्या का विचार छोड कर हम इसी पर विचार करे कि करोडो हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी और दूसरे लोग रोजाना अपने स्रष्टा की भक्ति करने के लिए निश्चित किये हुए समय मे क्या करते है? मुझे तो यह मालूम होता है कि हर एक स्रष्टा के साथ एक होने की, हृदय की उत्कृष्ट इच्छा को प्रकट करता है और उसके आशीर्वाद के लिए याचना करता है। इसमे मन की वृत्ति और भावो का ही महत्व होता है, शब्दो का नही और अक्सर पुराने जमाने से जो शब्द-रचना चली आती है उसका भी असर होता है, जो मातृभाषा मे उसका अनुवाद करने पर सर्वथा नष्ट हो जाती है। गुजराती मे गायत्री का अनुवाद कर उसका पाठ करने पर उसका वह असर न होगा जो कि संस्कृत गायत्री मे होता है। राम शब्द के उच्चारण से लाखो-करोडो हिन्दुओ पर फौरन असर होगा और 'गाड' शब्द का अर्थ समझने पर भी उसका उन पर कोई असर न होगा। चिरकाल के प्रयोग से और उनके उपयोग के साथ संयोजित पवित्रता से शब्दो को शक्ति प्राप्त होती है। इसलिए सबसे अधिक प्रचलित मन्त्र और श्लोको की भाषा संस्कृत रखने के लिए बहुत से तर्क दिये जा सकते है। परन्तु उनका अर्थ अच्छी तरह समझ लेना चाहिए, यह बात तो बिना कहे ही मान ली जानी चाहिए। ऐसी भक्तियुक्त क्रियाएँ किस समय करनी चाहिएँ, इसका कोई निश्चित नियम नही हो सकता। इसका आधार अलग-अलग व्यक्तियो के स्वभाव पर ही होता है। मनुष्य के जीवन मे ये क्षण बडे ही कीमती होते है। क्रियाएँ हमे नम्र और शान्त बनाने के लिए होती है और इससे हम इस बात का अनुभव कर सकते है कि उसकी इच्छा के बिना कुछ भी नही हो सकता। हम तो उस प्रजापति के हाथ मे मिट्टी के पिण्ड है। वे क्षण ऐसे है जिनमे मनुष्य अपने भूतकाल का निरीक्षण करता है, अपनी दुर्बलता को स्वीकार करता है और क्षमायाचना करते हुए अच्छा बनने की, अच्छा कार्य करने की शक्ति के लिए प्रार्थना करता है। कुछ लोगो को इसके लिए एक मिनट भी पर्याप्त होता है। तो कुछ लोगो को २४ घण्टे भी काफी नही हो सकते। उन लोगो के लिए जो ईश्वर के अस्तित्व को अपने मे अनुभव करते है केवल मेहनत या मजदूरी करना भी प्रार्थना हो सकती

है। उनका जीवन ही सतत प्रार्थना और भक्ति के कार्यो से बना होता है। परन्तु वे लोग जो केवल पापकर्म ही करते हैं, प्रार्थना मे जितना भी समय लगायेंगे उतना ही कम होगा। यदि उनमे धैर्य और श्रद्धा होगी और पवित्र बनने की इच्छा होगी तो वे तबतक प्रार्थना करेंगे जबतक उन्हे अपने मे ईश्वर की पवित्र उपस्थिति का निर्णयात्मक अनुभव न होगा। हम साधारण वर्ग के मनुष्यो के लिए तो इन दो सिरे के मार्गों के मध्य का एक और मार्ग भी होना चाहिए। हम ऐसे उन्नत नही हो गये है कि यह कह सके कि हमारे सब कर्म ईश्वरार्पण ही है और शायद इतने गिरे हुए भी नही है कि केवल स्वार्थपूर्ण जीवन ही बिताते हो। इसलिए सभी धर्मो ने सामान्य भक्तिभाव प्रदर्शित करने के लिए अलग समय नियत किया है। दुर्भाग्य से इन दिनो ये प्रार्थनाएँ जहाँ दाभिक नही होती, वहाँ यान्त्रिक और औपचारिक हो गई हैं। इसलिए आवश्यक है कि इन प्रार्थनाओ के समय वृत्ति भी शुद्ध और सच्ची हो।

निश्चयात्मक वैयक्तिक प्रार्थना, जो ईश्वर से कुछ माँगने के लिए की गई हो, तो अपनी ही भाषा मे होनी चाहिए। इस प्रार्थना से बढकर कोई बात नही हो सकती कि ईश्वर हमे हर एक जीव के प्रति न्यायपूर्वक व्यवहार रखने की शक्ति दे।

—यं० इं०। हि० न० जी०, १०।६।१९२६]

२०. हिन्दू और हिन्दुत्व

एक पत्र-प्रेषक , जो 'यग इण्डिया' के श्रमशील तथा धैर्यवान पाठक हैं, लिखते हैं—

"एक सहायक एक्जीक्यूटिव इजीनियर के प्रश्नो का उत्तर देते हुए आपने १४ अक्तूबर के य० इ० मे लिखा है—हिन्दू वह है जो **ईश्वर मे विश्वास करता है, आत्मा की अविनश्वरता, पुनर्जन्म, कर्म-सिद्धान्त और मोक्ष मे विश्वास करता है और अपने दैनिक जीवन मे सत्य और अहिंसा का अभ्यास करने का प्रयत्न करता है और इसलिए अत्यन्त व्यापक अर्थ मे गोरक्षा करता है और वर्णाश्रम धर्म को समझता है; उस पर चलने का प्रयत्न करता है** इत्यादि।

इसे पढकर मेरी इच्छा होती है कि आपके समक्ष आपका ही एक पुराना लेख (दो वर्ष पूर्व लिखित) रखूँ। आपने २४ अप्रैल सन् १९२४ के य० इ० के १३६ पृष्ठ पर लिखा था—'यदि मुझसे हिन्दू धर्म की परिभाषा पूछी जाय तो सिर्फ

इतना कहूँगा कि अहिंसात्मक साधनो से सत्य की खोज करना ही उनका अर्थ है। पर कोई ईश्वर में विश्वास न करके भी अपने को हिन्दू कह सकता है। हिन्दुत्व सत्य के लिए घोर परिश्रम का नाम है।

मुझे आश्चर्य होता है कि पत्र-लेखक दोनो बयानो मे अन्तर नही देखते। पहिले सन्दर्भ के अन्दर जो आ जायं वे हिन्दू कहे जा सकते हैं। ईश्वर का अस्तित्व मानने से इन्कार करना हिन्दू धर्म का गुण नही है। करोडो हिन्दू ईश्वर मे विश्वास रखते है इसलिए कोई यह कह बैठे कि हिन्दू वह है जो ईश्वर मे विश्वास रखता हो-इत्यादि। लेकिन कोई व्यक्ति ईश्वर मे विश्वास न रखते हुए भी अपने को हिन्दू कह सकता है। दूसरी स्थिति मे मैने सर्वागपूर्ण परिभाषा दे दी है पहिली मे सामान्य रूप से साधारण दृष्टान्त मात्र दिया है। इसलिए मुझे दोनो स्थितियो मे कोई विरोध प्रतीत नही होता।

—हि० न० जी०, २८।१०।१९२६]

- ईश्वर का अस्तित्व मानने से इन्कार करना हिन्दू धर्म का गुण नहीं है।

२१. हरि-हर की व्याख्या

हरि का अर्थ विष्णु या पालक है हर का अर्थ रुद्र या सहारक है। जब भगवान देखते हैं कि धनिको ने दीनो का पालन करना छोड दिया है तब वे हर का रूप धारण कर ससार का सहार करते हैं। धनिक जब गरीबो का पालन करेंगे तभी हरि और हर का सगम होगा। ..

—न० जी०। हि० न० जी० १।९।१९२७]

२२. यज्ञ का अर्थ

यज्ञ का एक ही अर्थ है—सेवा।

—न० जी०। हि० न० जी०, १५।९।१९२७]

२३. हिन्दू धर्म की देन

[प्रश्नोत्तर]

उत्तर—हम देखते हैं कि आप सब कुछ हिन्दू धर्म के नाम पर कहते हैं। क्या हमे बतलाइएगा कि हिन्दू धर्म ने हमारे भले के लिए क्या किया है? क्या यह बुरे वहमो और आचारो की विरासत नहीं है?

उत्तर—मैं समझता था कि मैं यह स्पष्ट कर चुका हूँ। स्वय वर्णाश्रम धर्म ही ससार को हिन्दू धर्म की अपूर्व देन है। हिन्दू धर्म ने हमे भय से बचा लिया है। अगर हिन्दू धर्म मेरी मदद को नही आता तो मेरे लिए आत्महत्या के सिवा और कोई चारा न होता। मैं हिन्दू इसलिए हूँ कि हिन्दू धर्म ही वह चीज है जो ससार को रहने योग्य बनाती है। हिन्दू धर्म से बौद्ध धर्म पैदा हुआ था। आज हम जिसे देखते हैं,वह शुद्ध हिन्दू धर्म नही है बल्कि वह बहुधा उसका उपहास होता है, अन्यथा मुझे इसकी ओर से वकालत करने की जरूरत नही पडती, जैसे कि, अगर मैं पूर्ण पवित्र होता तो मुझे आपसे बात करने की जरूरत नही होती। परमात्मा अपनी ज़बान से नही बोलता और जो उसके नजदीक पहुँचता है वह उसी के समान बन जाता है। हिन्दू धर्म मुझे सिखलाता है कि मेरी अन्तरात्मा की शक्ति की मर्यादा, मेरा यह शरीर है।

पश्चिम मे जिस प्रकार भौतिक वस्तुओ के सम्बन्ध मे आश्चर्यजनक शोध हुई है, उसी प्रकार हिन्दुओ ने धर्म-सम्बन्धी, आत्मा-सम्बन्धी उससे भी आश्चर्य जनक शोध की है। लेकिन इन महान और सुन्दर शोधो को देखने के लिए हमारे पास आँखे नही हैं। पश्चिमी सभ्यता ने जो भौतिक उन्नति की है, उसी से हमारी आँखें चौंधिया गई हैं। मैं उस उन्नति पर मुग्ध नही हो गया हूँ। सच पूछिए तो यह ऐसा मालूम पडता है मानो परमात्मा ने ही भारतवर्ष को उस रास्ते उन्नति करने से रोका हो, जिससे कि वह भौतिकता की धारा को रोकने का अपना विशेष उद्देश्य पूरा कर सके। आखिर हिन्दू धर्म मे कोई ऐसा तत्व है जो इसे अबतक जिलाये हुए है। इसने बेबिलोन, सीरिया, फारस, और मिश्र का पतन देखा है। अपने चारो ओर दृष्टि डालिए। कहाँ है रोम और कहाँ है यूनान ? क्या आप कही गिबन की इटली या प्राचीन रोम को ही, क्योकि रोम ही इटली था, ढूँढ सकते हैं ? तनिक यूनान जाइए। ससार-प्रसिद्ध ग्रीक-सभ्यता कहाँ है ? फिर भारत लौटिए, पुराने से पुराने लेखो को देखिए और अपने चारो ओर नजर डालिए। तब आपको विवश होकर कहना पडेगा कि हाँ, मैं यहाँ प्राचीन भारत को अब भी जीवित देखता हूँ। बेशक इधर-उधर कूडे के ढेर हैं, लेकिन उनके नीचे लाल-रत्न छिपे हैं। आज तक हिन्दू धर्म जिन्दा क्यो रहा ? इसका कारण यह है कि इसने अपने सामने भौतिक उन्नति के बदले आध्यात्मिक उन्नति का उद्देश्य रखा था। इसकी कई देनो मे यह अपूर्व ही है कि मनुष्यो और गूगे पशुओ मे एक ही आत्मा वास करती है। मेरे लिए तो गो-पूजा एक बहुत बडा विचार है, जिसका विस्तार किया जा सकता है। इनमे आज के जैसे धर्म-प्रचार का न होना भी मेरे लिए एक बहुमूल्य चीज है। इसे उपदेश देने की जरूरत नही है। यह सिखलाता है कि ऐसा जीवन बनाओ।

यह काम मेरा है, आपका है कि हम ऐसा जीवन बितायें और फिर इसका असर युग-युग तक चला जायगा। इसने आदमी भी कैसे पैदा किये ? रामानुज, चैतन्य, रामकृष्ण, जैसे हिन्दू धर्म पर अपनी छाप छोड जाने वाले ! और आधुनिक नामो को तो छोड दीजिए। हिन्दू धर्म की शक्ति किसी प्रकार भी समाप्त नही कही जा सकती। यह मरा हुआ धर्म नही है।

चार आश्रमों[1] की देन तो है ही। यह भी अपूर्व ही भेट है। ससार मे इसके समान कुछ भी नही है। कैथोलिक ईसाइयो मे ब्रह्मचारियो का सघ अवश्य है किन्तु वह कोई सस्था नही है। पर यहाँ, हिन्दुस्तान मे, प्रत्येक बालक को ब्रह्म-चर्याश्रम का पालन करना ही पडता था। क्या ही उदात्त कल्पना है। आज हमारी आँखे मैली हो रही है, विचार गन्दे हो रहे है और शरीर सबसे अधिक गन्दा हो रहा है क्योकि हम हिन्दू धर्म का इन्कार कर रहे है।

इसके अलावा एक और चीज है जिसका जिक्र मैने नही किया है। मैक्समूलर ने चालीस साल पहिले कहा था कि यूरोप को यह खयाल अब आ रहा है कि पुनर्जन्म और भिन्न-भिन्न योनियो मे जन्म कुछ खाम-खयाली नही है बल्कि सत्य घटना है। यह सम्पूर्णतया हिन्दू धर्म की ही देन है।

आज इन्ही के अनुयायी वर्णाश्रम धर्म और हिन्दू धर्म का उल्टा अर्थ लगाते है, उनसे इन्कार करते है। इसकी दवा विनाश नही है, सुधार है। हम अपने अन्दर सच्ची हिन्दू-भावना पैदा करे और तब पूछे कि इस धर्म से आत्मा को पूरा-पूरा सन्तोष होता है या नही।

—य० इ०। हि० न० जी० १।१२।१९२७]

- वर्णाश्रम धर्म ससार को हिन्दू धर्म की अपूर्व देन है।
- हिन्दू धर्म ही वह चीज है, जो ससार को रहने योग्य बनाती है।
- मेरे लिए तो गो-पूजा एक बहुत बडा विचार है।

२४. मोक्षदाता राम

[आश्रम मे रामनवमी के दिन दिये प्रवचन का साराश।—सम्पा०]

हमे जिन राम के गुण गाने है, वे राम वाल्मीकि के राम नही है, तुलसीकृत रामायण के राम भी नही है, यद्यपि तुलसीदास की रामायण मुझे अत्यन्त प्रिय है। मै तुलसीकृत रामायण को अद्वितीय ग्रन्थ मानता हूँ। तथा उसे एक बार

---

१ ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम।

पढना शुरू करके कभी उकताता नही। फिर भी हम आज तुलसीदास या गिरधर दास के राम का स्मरण नही करने जा रहे हैं, तो कालिदास और भवभूति के राम का कहना ही क्या? भवभूति के 'उत्तर राम-चरित' मे बहुत सौन्दर्य है, किन्तु उसमे वे राम नही है, जिनका नाम लेकर हम भवसागर पार कर सके, या जिनका नाम हम दु ख के अवसर पर लिया करे। मैं असह्य वेदना से दु खित आदमी से कहता हूँ—राम नाम लो, नीद न आती हो तो भी मैं कहता हूँ, राम नाम लो। किन्तु ये राम दशरथ के कुँवर या सीता के पति राम नही हैं। ये देहधारी राम नही है। जो हमारे हृदय मे बसते है वे राम देहधारी नही हो सकते। अगूठे के समान छोटा सा तो हमारा हृदय है और उसमे भी समाये हुए राम देहधारी क्यो कर हो सकते हैं? किसी साल चैत्र की नवमी को इनका जन्म नही हुआ होगा। ये तो अजन्मा है। ये पृथिवी को पैदा करनेवाले हैं, ससार के स्वामी है। इसलिए हम जिन राम का स्मरण करना चाहते है और जिनका स्मरण करना चाहिए वे राम हमारी कल्पना के राम है, दूसरे की कल्पना के राम नही।

इतना याद रखे तो हमारे मन मे जो अनेक प्रश्न उठा करते हैं वे न उठे। कितनी बार सवाल होता है कि बालि का वध करनेवाले राम सम्पूर्ण पुरुष क्यो कर होगे? मेरे पास भी ऐसे अनेक प्रश्न आते है। इसलिए मैं मन ही मन हँसता हूँ। किसी ने अगर छल मे या सीधी रीति से किसी को मारा अथवा कोई दस सिर का देहधारी रावण हो तो उसी को मारकर कौन सा भारी काम कर लिया? आज का युग तो ऐसा है कि बीस क्या, असख्य भुजा का रावण पैदा हो, एक बालक तोप के एक ही गोले से उसके असख्य हाथ और माथ उडा देगा। उसे हम अलौकिक बालक नही गिनेंगे। हम उसे बडा राक्षस मानेगे। मै मानता हूँ कि हम राक्षस के बडे भाई के समान शक्ति पैदा करना नही चाहते। उसकी पूजा करने से हमे शान्ति नही मिलेगी। हम पूजा करें तो अन्तर्यामी की जो सबके भीतर है और साथ ही सबसे अलग है और सबका स्वामी है। उन्ही के बारे मे हमने गाया—निर्बल के बल राम। इसमे तो 'द्रुपद-सुता निर्बल भई' की बात आई है। अब द्रौपदी और देहधारी राम का मेल कहाँ बैठेगा? फिर भी कवि ने गाया है कि द्रौपदी की लाज राम ने रखी। इसमे तो वही राम है जो सभी के लिए सामान्य हैं, फिर भी जिन्हे कोई पहिचान नही सकता। हम उसी राम का स्मरण करते हैं। इन अन्तर्यामी राम और कृष्ण मे भेद नही है।

रामनवमी का पर्व इसलिए बनाया गया कि इसके निमित्त हम कुछ सयम का पालन करें, लडके कुछ निर्दोष आनन्द ले और रामायण पढकर कुछ बोध प्राप्त करें। देहधारी मनुष्य परमेश्वर को दूसरे तरीके से तुरन्त नही पहिचान सकता।

उसकी कल्पना अधिक दूर नही दौड सकती और इसलिए वह मानता है कि परमेश्वर ने मनुष्य के रूप मे अवतार लिया था। हिन्दू धर्म मे उदारता का पार नही है। इसलिए वर्णन किया है कि परमेश्वर ने मछली के रूप मे, वाराह के रूप मे, और नरसिंह के रूप मे अवतार लिया था। मनुष्य ने इस प्रकार देहाध्यास मे ईश्वर की कल्पना देहधारी के रूप मे की है और जब-तब उसके अवतार लेने की कल्पना की है। कहा है कि धर्म की ग्लानि हो और अधर्म फैल जाय तो ईश्वर धर्म की रक्षा करने के लिए अवतार लेता है। यह बात भी उसी तरह और उतनी ही हद तक सच्ची है, जितना मैने कहा है। नही तो अजन्मा का अवतार लेना कैसा? यह मानने का कोई कारण नही है कि किसी ऐतिहासिक पुरुष ने ईश्वर के रूप मे या ईश्वर ने किसी ऐतिहासिक पुरुष के रूप मे अवतार लिया था। जितने महापुरुष हो गये है उनके गुण देखकर मनुष्यो ने उन्हे पूर्ण अथवा अंशावतार माना। और यह जानते हुए भी कि वाल्मीकि या तुलसीदास के राम के विभिन्न उपासको ने अपना ईश्वर उन्ही को माना है, उनके भजनो को गाने मे कोई दोष नही है। किन्तु मैने जो बात तुमसे पहिले कही है उसे सदा याद रखो तो तुम्हारे भ्रमजाल मे पडने का कोई कारण न रहे। हमारे सामने अगर कोई शकाएं रखकर हमे चक्कर मे डालना चाहे तो उससे कहो कि हम किसी देहधारी राम की पूजा नही करते। हम तो अपने निरजन, निराकार राम को पूजते है। उसके पास सीधे नही पहुच सकते, इसलिए जिनमे ईश्वर की मूर्तिमन्त कल्पना की है, उन भजनो को गाते है।

देह अभिमान का मूल है। इसके विषय मे जिसका राग शेष है, वह अभिमान से मुक्त नही हो सकता। जबतक मेरे मन मे यह है कि यह देह मेरी है, तबतक मै हिंसा से सर्वथा मुक्त नही हूँ। जिसकी अभिलाषा ईश्वर को देखने की है उसे देह के पार जाना पडेगा, अपनी देह का तिरस्कार करना पडेगा, मौत से भेट करनी पडेगी।

यदि यह दो गुण मिले तो हम तर सकेंगे, ब्रह्मचर्यादि का पालन कर सकेगे

कोई अपराध करे तो क्या उस पर क्रोध करने के बदले प्रेम करना हमे रुचता है? हम ससार को असार कहकर गाते अवश्य है, मगर क्या उसे असार समझते भी हैं?

राम कहते है, मुझसे मिलना हो तो इस ससार मे भाग जा। मगर शरीर तो भगाने से भाग नही जाता। असारता की वृत्ति पैदा करके, चौबीस घण्टे काम करते हुए भी हम राम से मिल सकते है। यही वस्तु गीता जी मे सिखलाई गई है। गीता को मै इसीलिए आध्यात्मिक शब्दकोश मानता हूँ। तुलसीदास ने वही वस्तु हमे सुन्दर काव्य के रूप मे सिखलाई है।

किन्तु कुंजी तो वही है जो मैंने बतलाई है। यानी हमारी अपनी कल्पना के ही राम तारेंगे। मेरा राम मुझे तारेगा, आपको नही और आपका राम आपको तारेगा, मुझे नही। हम सब तुलसीदास के समान सुन्दर काव्य नही रच सकते किन्तु जीवन मे ईश्वर को उतार कर उसे काव्यमय बना सकते हैं।
—न० जी०। हि० न० जी० ५।४।१९२८]

- मै असह्य वेदना से दुःखित आदमी से कहता हूँ—रामनाम लो। नींद न आती हो तो भी मै कहता हूँ रामनाम लो।
- जो हमारे हृदय मे बसते हैं वे राम देहधारी नहीं हो सकते।
- ये (राम)...अजन्मा हैं। ये पृथिवी को पैदा करनेवाले हैं; संसार के स्वामी हैं।
- हिन्दू धर्म मे उदारता का पार नहीं है।
- देह अभिमान का मूल है।
- जिसकी अभिलाषा ईश्वर को देखने की है, उसे देह के पार जाना पडेगा।
- गीता को मै...आध्यात्मिक शब्दकोश मानता हूँ।

२५. प्रभु बड़े या गुरु?

उपर्युक्त शीर्षक देकर एक गृहस्थ ने यह लिख भेजा है —

"कलकत्ते के गोविन्द भवन की दिल दहलाने वाली बात सुनकर सारे मारवाडी समाज मे खलबली मच गई है। अपने को सनातनी कहलानेवाले पुराने विचार के मारवाड़ियों में भी बहुत हाहाकार मच रहा है। 'नवजीवन' मे आपने एक लेख लिखकर यह मत प्रकट किया है कि—

१. बहिनो को मनुष्य का सेवन-पूजन छोड़कर परमेश्वर के पूजन मे ही लक्ष्य रखना चाहिए।

२. किन्तु 'सोलन' के विचारानुसार कोई आदमी चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न माना जाता हो, जबतक वह जीवित है तबतक पार पहुँचा हुआ नहीं कहा जा सकता। इसलिए जीवित मनुष्यों का सेवन-पूजन, स्त्रियो के लिए अयोग्य है।

"आपके लेख का यह भावार्थ मुझे बहुत पसन्द आया है। किन्तु उसके सामने पहाड के समान धार्मिक कठिनाइयाँ खडी हैं। आपने शायद उनका विचार न किया हो। 'नवजीवन' मे इस बात पर थोडी-बहुत चर्चा हो, इस आशय से नीचे के प्रश्नो पर आपका ध्यान आकर्षित करता हूँ।

"हिन्दू धर्म के बहुत-से मतो और पन्थो का ऐसा सिद्धान्त है कि मनुष्य को सीधे अपने-आप ही परमेश्वर नहीं मिल सकता। अतएव आत्मा और परमात्मा की एकता के लिए एक तीसरे आदमी की जरूरत पडती है। इस आत्मा और परमात्मा की एकता कराने का दावा करनेवाले आदमी की पदवी परमात्मा मे भी बडी गिनी जाती है। सारे हिन्दुस्तान मे प्रचलित इस दोहे को तो आपने सुना ही होगा'—

गुरु गोविन्द दोऊ खडे, काको लागू पाँय।
बलिहारी गुरु आपने गोविन्द दियो बताय॥

"फिर दादूदयाल नाम के गुजरात के एक ब्राह्मण का पन्थ पजाब मे चलता है। इस पथ मे दादूदयाल के शिष्य 'सुन्दरदास' कवि का लिखा 'सुन्दर विलास' नाम का ग्रन्थ बहुत प्रचलित है। उसमे लिखा है —

गोविन्द के किये ते जिव जात है रसातल मे,
गुरु जो कृपा करे तो छूटे जमफन्द ते॥

"मतलब यह कि प्रभु के बनाये जीव नरक मे जायँगे किन्तु जिन पर गुरु ने कृपा करके मार्ग दिखलाया होगा, केवल वे ही तरेंगे।

"गोस्वामी श्री तुलसीदास जी महाराज की रामायण से भी एक वचन बार-बार बतलाया जाता है। वह यह रहा—

मोरे मन प्रभु अस विश्वासा।
राम ते अधिक राम कर दासा।

"वल्लभी पन्थ का ऐसा सिद्धान्त है कि जब गुरु ब्रह्म-सम्बन्ध करें तभी उद्धार हो सकता है। इसके बिना चाहे कोई कैसा ही नीतिमान, सद्‌गुणी, या भक्ति-युक्त हो, उसका उद्धार नहीं होता। वल्लभाचार्य को भगवान प्रत्यक्ष मिले और उन्होने कहा—जिन-जिन को शरण मे लेकर तुम मुझे सौंपोगे उनको मै तारूँगा। इसलिए वल्लभी पन्थ के गुरु अपने सेवक और सेविकाओ का ब्रह्म-सम्बन्ध कराते हैं। वल्लभाचार्य ने 'सिद्धान्त-रहस्य' नाम की एक पुस्तक लिखी है। उसके पहले तीन श्लोको का अर्थ यह है —

"साक्षात् भगवान ने मुझसे मिल कर जो कहा है, उसे मै अक्षर-अक्षर सुनाता हूँ। ब्रह्म-सम्बन्ध लेने से देह के तथा जीव के सभी पाप जलकर भस्म हो जाते हैं। लोगो मे और वेद मे जो पाँच महापाप बतलाये हैं, उन्हे बिलकुल न मानना। ब्रह्म सम्बन्ध लिये बिना, किसी तरह सभी दोषो की निवृत्ति नहीं हो सकती।

"इन वल्लभाचार्य को भगवान से भी बड़ा दिखलाने के लिए इन्हे महाप्रभु जी का नाम दिया गया है। यह तो मैंने केवल थोड़े से ही उदाहरण बतलाये हैं। दूसरे अभी बहुत से हैं। किन्तु उन्हे छोड़ कर अब खुद गोविन्द-भवन के बारे में लिखता हूँ। पिछली राम-नवमी पर कलकत्ते के गोविन्द भवन से एक मारवाड़ी भक्त भक्ति का प्रचार करने बम्बई पधारे थे। उनका विज्ञापन गुजराती पत्रो में भी छपा था। कालवादेवी मार्ग पर एक मकान में उनका व्याख्यान था। मै जब देखने गया, तब इस भक्त के सम्मान मे अनेक व्यक्ति ढोल, ताश, झाल, बिगुल, झांझ, नगाड़ा, और पिपुही बजा रहे थे। लगभग तीस-पैंतीस आदमी तो सिर्फ गुलाबजल ही फूलदानियो मे भर कर उन पर छिडक रहे थे और फूल के टोकरे पर टोकरे खाली कर उन पर बरसा रहे थे। कोई पंखा हाँक रहे थे। मैने लोगो से पूछा तो सभी ने यही कहा ये बहुत बड़े भक्त हैं और उन्हें प्रभु का साक्षात्कार हो चुका है। इस बात की पूरी जॉच छोड कर मैं यही पूछना चाहता हूँ कि आपने तो बहिनो को मनुष्य-पूजा छोड कर प्रभु को भजने की शुभ शिक्षा दी लेकिन इन सभी बातो का, जो आपके तर्क का खण्डन करती हैं, क्या हो ? प्रभु के पास पहुँचानेवाले आदमी, प्रभु से भी बहुत बडे बन कर भोले भावुको से अपने पैर पुजवा रहे हैं। उनका महात्म्य पुराने ग्रन्थो मे भी बहुत गाया गया है। इसलिए यह बात उनके पक्ष मे लाभदायी हो गई है। अतएव मैं इस सम्बन्ध मे जो सलाह 'नवजीवन' के द्वारा मॉग रहा हूँ, उससे बहुतो को लाभ होगा और वह सार्वजनिक समाज के लिए हितकर सिद्ध होगा।"

मारवाडी भक्त के बारे मे जो लिखा गया है, उसे मै नही जानता। सिद्धान्त-रहस्य नामक पुस्तक मे से जो तीन श्लोको का अर्थ भेजा गया है, वे श्लोक भी मैंने नही देखे हैं। किन्तु इस लेख मे जो लिखा है, वैसी मान्यता हिन्दू धर्म मे है, इस विषय मे शका नही है। मैं स्वय ही नित्य प्रात काल नीचे लिखा श्लोक गाता हूँ—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वर.।
गुरु. साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः॥

और गुरु के माहात्म्य के बारे मे हिन्दू धर्म की मान्यता के लिए सबल कारणो का होना भी मैं मानता हूँ। इसीलिए मैं गुरु शब्द का शुद्ध अर्थ खोज रहा हूँ। जिस गुरु मे ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर का लय हो, और जो साक्षात् परब्रह्म के समान हो, वह देहधारी, विकारी और रोगी मनुष्य नही होगा। उसमे तो ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर की सारी शक्ति होगी, यानी वह आदमी मुख्य रूप से हमारी कल्पना मे ही होगा। और वह गुरु-इष्टदेव, केवल सत्य की मूर्ति परमात्मा ही होगा।

इसलिए गुरु की खोज परमात्मा की खोज के समान हुई। विचार करते हुए जो-जो वस्तुएँ लेखक ने लिखी हैं, वे सरल हो जाती है। जो गोविन्द को बना सके वह अवश्य ही गुरु होने योग्य है। वह चाहे बाद मे भले ही गोविन्द मे भी बडा गिना जाय। हम गोविन्द के बनाये हुए जीवो को अनन्त दु ख भोगते हुए देखते ह। किन्तु हमे जो इस फन्दे से छुडा सके वह खुशी से गोविन्द से भी बडा पद ले ले। यही आशय 'राम से अधिक राम कर दासा मे' ह। इन सभी महावचनो का अर्थ इतना स्पष्ट है कि अगर हम सरल हृदय से खोजे तो प्रपच मे बिलकुल न पडे, और अनर्थ मे न पडे। प्रत्येक महावचन मे अनिवार्य शर्त्त अवश्य जुडी होती ह। जो हमे प्रेमधर्म सिखलाये, भयमुक्त करे, सादगी सिखलावे, गरीब-से-गरीब के साथ ऐक्य साधने की बुद्धि ही नही बल्कि ऐक्य अनुभव करने का हृदयबल भी दे, वह हमारे लिए अवश्य ईश्वर से बडा है। इसका अर्थ यह नही हुआ कि ईश्वर का ऐसा दास अलग स्वतन्त्र रूप मे ईश्वर से बडा है। हम समुद्र मे गिरे तो डूब जायेगे, मगर इसी समुद्र मे बहनेवाली गगा के मूल से एक लोटा जल प्यास लगने पर लेकर पिये तो उस समय यह गगाजल हमारे लिए समुद्र से भी बडा है। किन्तु यही गगा जल वहाँ से लेने जायँ, जहाँ गगा समुद्र मे मिलती ह तो वह जहर के समान हो जायगा। ऐसा ही गुरु के विषय मे समझना चाहिए। जिनमे दभ है, ईर्ष्या ह, जो सेवा के भूखे है उन्हे गुरु मान बैठना तो अनेक प्रकार के गन्दे जलो के समुद्र मे पडे हुए गगा नदी के जहरीले पानी के समान समझना चाहिए।

अभी तो हम धर्म के नाम पर अधर्म का आचरण करते ह, सत्य के नाम पर पाखण्ड का पोषण करते है और ज्ञानी होने का ढोल करके अनेक प्रकार की पूजा चुराकर स्वय अधोगति को प्राप्त होते है, और साथ मे दूसरो को भी ले डूबते हैं। ऐसी स्थिति मे किसी को गुरु करने के सम्बन्ध मे बिलकुल अस्वीकार करने का ही धर्म प्राप्त होता है। सच्चे गुरु न मिले तो मिट्टी के पुतले को गुरु बनाकर बैठाने मे दुहरा पाप है। किन्तु जबतक सच्चे गुरु न मिले, तबतक 'नेति नेति' कहने मे पुण्य है। इतना ही नही किन्तु उससे किसी दिन सच्चे गुरु के मिलने का भी प्रसग आ सकता है।

मुझे इसके बहुत से कडवे-मीठे अनुभव हुए हैं और अब भी हुआ करते है। चलती धारा का विरोध करने मे बहुत-सी मुसीबते आती रही है। किन्तु उनमे से मैंने एक बात यह सीखी है कि जिस वस्तु मे अनीति है, जिसका खण्डन होना ही चाहिए, हमे उसका विरोध एकाकी होने पर भी करना ही चाहिए। और वह बात यदि सच्ची होगी तो विरोध से जरूर सफल होगी, ऐसा विश्वास सदैव रखना उचित है।

जो भक्त स्तुति का या पूजा का भूखा है, जो मान न मिलने से चिढ जाता है, वह भक्त नही है। भक्त की सच्ची सेवा स्वय भक्त बनने मे है। इसलिए मै आजकल चलनेवाली मनुष्य-पूजा का यथासम्भव विरोध ही करता हूँ और सबको विरोध करने के लिए प्रेरित करता हूँ।

—न० जी०। हि० न० जी० १४।६।१९२८]

- मै गुरु शब्द का अर्थ खोज रहा हूँ।
- गुरु की खोज परमात्मा की खोज के समान हुई।
- जो गोविन्द को बता सके वह अवश्य ही गुरु होने योग्य है।
- प्रत्येक महावचन में अनिवार्य शर्त्त अवश्य जुडी होती है।
- भक्त की सच्ची सेवा स्वयं भक्त बनने मे है।

२६. श्रुति-स्मृतियों का प्रमाण

केवल नाम देने से श्रुति-स्मृतियाँ धर्म-वाक्य नही बन सकती। जो बात सत्यादि अटल सिद्धान्तो के विरुद्ध है, वह धर्म-प्रमाण नही हो सकती। मनुस्मृति आदि जो ग्रन्थ आज हमारे सामने रखे जाते है, वे मूलत जैसे थे वैसे आज प्रतीत नही होते क्योंकि उनमे विरोधी वचन आते हैं। उनमे ऐसे वचन भी पाये जाते है जो सनातन नीति, सिद्धान्त और बुद्धि के विरोधी है। सस्कृत भाषा मे छपे हुए हर एक सस्कृत ग्रन्थ को शास्त्र मानने से पुण्य पाप हो जायगा और पाप पुण्य बन जायगा। इसलिए गीता की भाषा के अनुसार गीता के स्थितप्रज्ञ का वचन ही शास्त्र का बुद्धिग्राह्य अर्थ हो सकता है।

—हि० न० जी०, ११।७।१९२९]

२७. ब्रह्मचर्य की व्याख्या

ब्रह्मचर्य का पालन बहुत मुश्किल, लगभग नामुमकिन माना गया है। उसके कारण ढूँढने पर पता चलता है कि ब्रह्मचर्य का सकुचित अर्थ किया गया है। जनन-इन्द्रिय (लिंग, योनि) के विकारो पर काबू ही ब्रह्मचर्य-पालन है—ऐसा जाना गया है। मुझे लगता है कि यह अधूरी और गलत व्याख्या है। समस्त विषयो पर रोक ही ब्रह्मचर्य है। जो दूसरी इन्द्रियो को जहाँ-तहाँ भटकने देता है और एक ही इन्द्रिय को रोकने की कोशिश करता है, वह निकम्मी कोशिश करता है इसमे क्या शक है? कानो से विकार की बाते सुनें, आँखो से विकार पैदा करने-

वाली चीजे देखे, जीभ मे विकारो को तेज करनेवाली चीजे स्वाद मे खाये, हाथ से विकारो को तेज करनेवाली वस्तुओ को छुए और फिर भी कोई जननेन्द्रिय को रोकने का इरादा रखे तो यह आग मे हाथ डालकर न जलने की कोशिश करने-जैसा होगा। इसलिए जो जनन-इन्द्रिय को रोकने की ठान ले उसको तमाम इन्द्रियो के विकारो को रोकने की ठान ही लेनी चाहिए। ब्रह्मचर्य की सकीर्ण व्याख्या से नुकसान हुआ है, ऐसा मुझे हमेशा लगा है। मेरी तो पक्की राय है और मेरा अनुभव भी है कि अगर हम सब इन्द्रियो को एक साथ वस मे लाने की आदत डाले तो जनन-इन्द्रिय को वस मे लाने की कोशिश तुरन्त सफल होगी। इसमे मुख्य चीज स्वादेन्द्रिय है और इसलिए उसके सयम को हमने स्थान दिया है।

ब्रह्मचर्य का मूल अर्थ सब याद करे, ब्रह्मचर्य यानी ब्रह्म की, सत्य की खोज मे चर्या यानी उसके विषय मे आचार—बरतना। इस मूल अर्थ मे से सब इन्द्रियो का सयम, यह विशेष अर्थ निकलता है। सिर्फ जनन-इन्द्रिय का सयम—ऐसा अधूरा अर्थ तो हम भूल ही जायँ।

—मगल प्रभात, ५।८।१९३०। न० जी० प्र० म० सस्करण १९५८]

२८. अस्वाद-व्रत

ब्रह्मचर्य के साथ बहुत नजदीक का सम्बन्ध रखनेवाला यह व्रत है। मेरा अनुभव है कि अगर मनुष्य इस व्रत मे पार उतर सके, तो ब्रह्मचर्य यानी जनन-इन्द्रिय का सयम बिल्कुल सरल हो जाय। लेकिन साधारण रूप से इसे व्रतो मे अलग स्थान नही दिया जाता। स्वाद को बडे-बडे मुनिवर भी नही जीत सके, इसलिए उस व्रत को अलग स्थान नही मिला।

अस्वाद यानी स्वाद न लेना। स्वाद यानी रस-आनन्द। जैसे, दवा खाते समय वह जायकेदार है या नही इसका खयाल न करते हुए शरीर को उसकी जरूरत है ऐसा समझ कर उसकी मात्रा मे ही हम खाते है, उसी तरह अन्न का (के बारे मे) समझना चाहिए।

—मगल प्रभात। १२।८।१९३०। न० जी० प्र० म०, सस्करण १९५८]

२९. मूर्ति-पूजा

मूर्ति-पूजा के मैं दो अर्थ करता हू, एक मे मनुष्य मूर्ति का ध्यान करते हुए गुणो मे लीन होता है। यह अच्छी पूजा है। दूसरी मे गुणो का विचार

न करके वह मूर्ति को ही मूलवस्तु मानता है। यह बुतपरस्ती नुकसान करती है।

—यरवदा मन्दिर, १८।१०।१९३०। बापू के पत्र : प्रेमा बहिन कंटक के नाम, न० जी० प्र० मं०]

३०. गणेश एवं गुरुस्तुति

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से।]

साप्ताहिक पत्रो को शुरू कर देने से पहिले तुम्हारे लिए श्लोक (इस बार दो होगे) नकल कर देने मे मुझे आनन्द आता है। तो यह लो छठा[1] और सातवाँ[2] श्लोक और साथ ही तत्काल लिखी गई टिप्पणियाँ।

६ "जिनका मुख टेढा है, जिनका शरीर विशाल है, करोडो सूर्य के बराबर जिनकी कान्ति है, ऐसे हे गणेश जी, मेरे सारे शुभ कर्मों मे मुझे निर्विघ्न करो।"

टिप्पणी—यह ओंकाररूप ईश्वर के लिए कहा गया है, इसका टेढा मुख और बडा शरीर देखो। इसकी गूढ महत्ता उपनिषदो मे वर्णन की गई है।

७ गुरु ब्रह्मा है, गुरु विष्णु हैं और गुरु ही महादेव हैं, गुरु साक्षात् परब्रह्म है, ऐसे श्री गुरु को मैं नमस्कार करता हूँ।

टिप्पणी—यहाँ अवश्य ही मतलब आध्यात्मिक गुरु से है। यह कोई यान्त्रिक या कृत्रिम सम्बन्ध नही है। गुरु असल मे यह सब कुछ नही है। परन्तु उस शिष्य के लिए वह सब कुछ है, जो उसमे पूरा सन्तोष अनुभव करता है, जो उसमे सम्पूर्णता का आरोपण करता है, जिसे उस गुरु ने सजीव ईश्वर मे सजीव श्रद्धा प्रदान की है। ऐसा गुरु कम से कम आजकल तो क्वचित् ही मिलता है। इसलिए उत्तम बात यही है कि स्वय ईश्वर को ही अपना गुरु समझा जाय या श्रद्धापूर्वक ऐसे गुरु की प्रतीक्षा की जाय।

—२५।१।१९३१। बापू के पत्र : मीरा के नाम पृ० १२४ न० जी० प्र० म०]

---

१ वक्रतुण्ड महाकाय सूर्यकोटि समप्रभ।
निर्विघ्नं कुरु मे देव सर्वकार्येषु सर्वदा॥१॥

२. गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वर।
गुरु. साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नम.॥१॥

३१. ॐ का रहस्य

वेदो ने ब्रह्म का वर्णन 'ॐ तत्सत्' रूप मे किया है, अत श्रद्धालु को चाहिए कि यज्ञ, दान, तप आदि क्रिया इसका उच्चारण करके करे। ॐ अर्थात एकाक्षरी ब्रह्म, तत अर्थात् वह। सत् अर्थात् सत्य, कल्याण-रूप। मतलब कि ईश्वर एक है, वही है, वही सत्य है, वही कल्याण करनेवाला है।

—यरवदा मन्दिर १४।२।१९३२। गीता-बोध पृ० ७९ स० सा० म० सस्करण १९५४]

३२. सर्व-धर्म-समभाव

[श्री सुन्दरम् नामक एक जेलवासी ईसाई ने गाधी जी से पूछा था—'आपको सत्य के ज्यादा निकट कौन-सा धर्म प्रतीत हुआ?' इस प्रश्न का निम्नलिखित उत्तर गाधी जी ने श्री मोहनलाल भट्ट को लिखे पत्र मे दिया।—सम्पा०]

भाई सुन्दरम जो पूछते है वह सवाल पूछने लायक नही है। मगर जब वह पूछते ही है, तो मुझे कहना चाहिए कि मेरी दृष्टि मे सब बाते देखते हुए सत्य के सबसे ज्यादा निकट हिन्दू-धर्म है। मगर साथ ही यह स्वीकार करने मे मुझे तनिक भी सकोच नही होता कि शायद मै इसमे मोहवश भूल कर रहा हू। मगर यदि यह भूल हो, तो भी क्षम्य है और आवश्यक भी है। क्योकि इतना मोह न हो, तो मनुष्य किसी भी धर्म पर टिक नही सकता, और अगर उसे किसी दूसरे धर्म मे अधिक सत्य दिखाई दे, तो उसमे गये बिना रह नही सकता, न रहना चाहिए। इसे ईश्वर की माया कहो या जिस किसी भी नाम से पुकारना हो पुकारो, मगर दुनिया मे है ऐसा ही। इतने पर भी सब धर्मों के प्रति समभाव रखना चाहिए। यानी ईसाई ईसाई धर्म को सत्य के अधिक निकट माने, मुसलमान इस्लाम को माने, यह मुझे हिन्दू की हैसियत से मान लेना चाहिए और यह भी मान लेना चाहिए कि अपने अपने धर्म मे चुस्त रहने के लिए यह उनके लिए जरूरी है। इस मान्यता के लिए उनके प्रति मुझे द्वेष भी न होना चाहिए। मुझे यह भी न मानना चाहिए कि उनका यह खयाल गलत है। मै आशा रखता हूँ कि भाई सुन्दरम् को और तुम सबको यह बात स्पष्ट हो गई होगी। यह सम्भव है कि सब धर्मों के बारे मे मेरा यह विचार मौलिक है। दूसरो ने भी इस ढग से सोचा हो, तो मुझे मालूम नही। मेरे लिए तो यह मौलिक ही है और मुझे इससे रस के घूट मिले है। इस

विचार के कारण मै हिन्दू-धर्म मे चुस्त रहकर भी दूसरे धर्मों को पूज सकता हूँ और उनमे से जो कुछ अच्छा हो वह नि.सकोच ले सकता हू।...
—३०।१०।१९३२। म० भा० डा० भाग २ पृ० १५६-१५७]

- मेरी दृष्टि मे...सत्य के सबसे ज्यादा निकट हिन्दू-धर्म है।
- सब धर्मों के प्रति समभाव रखना चाहिए।
- मै हिन्दू-धर्म मे चुस्त रह कर भी दूसरे धर्मों को पूज सकता हूँ।

३३. हिन्दू-धर्म का गौरव

मैं अपने को हिन्दू समझने मे गौरव अनुभव करता हू, क्योकि मेरे ख्याल से यह शब्द इतना विशाल है कि वह पृथिवी की चारो दिशाओ के पैगम्बरो के उपदेशो के प्रति सहिष्णुता रखता है; इतना ही नही बल्कि उन्हे आत्मसात् कर सकता है।
—४।११।१९३२। म० भा० डा० भाग २ (परिशिष्ट) पृ० ३८१]

३४. सनातनी

मैं खुद सनातनी होने का दावा करता हू। .मेरे खयाल से सनातन धर्म ऐतिहासिक काल से भी पहिले की पीढियो से विरासत मे आया हुआ और वेद तथा उसके बाद के ग्रन्थो पर रचा हुआ प्राणवान धर्म है। मेरे विचार वेद, ईश्वर और हिन्दूधर्म के समान ही अव्याख्येय हैं। छपे हुए चार ग्रन्थो को ही वेद कहना अर्ध-सत्य है। वे ग्रन्थ तो अज्ञात द्रष्टाओ के प्रवचनो के अवशेष मात्र हैं। बाद के व्यक्तियो ने इस मूल पूँजी मे अपने ज्ञान के अनुसार वृद्धि की है।
—४।११।१९३२। म० भा० डा० भाग २ (परिशिष्ट) पृ० ३८०

३५. हिन्दू-धर्म

[अलीगढ विश्वविद्यालय के प्रोफेसर श्री हबीबुर्रहमान को लिखे गये पत्र से]

हिन्दू धर्म की खसूसियत यह है कि उसमे काफी विचार-स्वातत्र्य है। और उसमे हर एक धर्म के प्रति उदारभाव होने के कारण उसमे जो कुछ अच्छी बाते रहती है, उनको हिन्दूधर्मी मान सकता है। इतना ही नही, परन्तु मानना उसका कर्त्तव्य है। ऐसा होने के कारण हिन्दू धर्म-ग्र थो के अर्थ का दिन-प्रति-दिन विकास होता रहा है। .

हिन्दू धर्म के नाम से प्रचलित ग्रन्थो मे जो कुछ लिखा गया है, वह सबके सब धर्म-वचन है, ऐसा नही है और हिन्दू जनता को अब यह मानना चाहिए, ऐसा भी नही है। वेद-पाठ सुननेवाले शूद्र के कान मे गरम सीसा डालने की बात अगर ऐतिहासिक मानी जाय, तो मै उसे धर्म मानने के लिए हर्गिज तैयार नही हू और ऐसे असख्य हिन्दू है, जो उसे धर्म-वचन नही मानते है। हिन्दू-धर्म के लिए एक कसौटी रखी गई है, जिसको एक बालक भी समझ सकता है। जो बुद्धि-ग्राह्य वस्तु नही है और बुद्धि से विपरीत है, वह कभी धर्म नही हो सकती, और जो सत्य अहिसा के विपरीत है, वह भी धर्म नही हो सकती।
—५।११।१९३२। म० भा० डा० भाग २, १७३-१७४]

- हिन्दू-धर्म मे .काफी विचार-स्वातत्र्य है।
- हिन्दू-धर्मग्रन्थो के अर्थ का दिन प्रतिदिन विकास होता रहा है।
- जो बुद्धि-ग्राह्य वस्तु नहीं है और बुद्धि से विपरीत है, वह कभी धर्म नहीं हो सकती।
- जो (वस्तु) सत्य-अहिसा के विपरीत है वह भी धर्म नहीं हो सकती।

३६. हिन्दू-धर्म की शक्ति

[ए० पी० आई० के प्रतिनिधि श्री शास्त्री से मुलाकात के दौरान मे इस प्रश्न पर व्यक्त उद्‌गार कि हिन्दू-धर्म पर लोग क्यो कायम हैं ?—सम्पा०]

क्योकि उस (हिन्दू-धर्म) मे अधिक-से-अधिक विकास पाने का मौका देने की सभावना है और कठोर-से-कठोर अन्तरात्मा को, गहरे-से-गहरे विचारक को और पवित्र-से-पवित्र मनुष्य को सन्तोष देने की शक्ति है।
—७।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १७८]

३७. श्रुति-प्रमाण

[श्री हरिभाऊ उपाध्याय, बाबासाहब पोतदार और श्री धुन्धीराज शास्त्री बापट के साथ हुई गाधी जी की वार्ता के अश।—सम्पा०]

प्रश्न—वेद ईश्वर की स्फूर्ति है, इसलिए अब जो स्फूर्ति होगी उसकी भी वही कीमत होगी। जो नीति के विरुद्ध होगा उसे मैं बिल्कुल नहीं मानूगा। क्या आपके ये वचन ठीक हैं ?

गाधी जी—हा।

पोतदार—तब तो वैदिक धर्म की सारी जड़ हिल जाती है। हिन्दू धर्म का आधार वेदों पर है, जैसे ईसाई धर्म का बाइबिल पर और इस्लाम का कुरान पर। अगर स्फूर्तिया समय-समय पर बदलती हों, तो प्राचीन वैदिक धर्म सनातन माना ही नहीं जा सकता।

गाधी जी—तो क्या हम ईश्वर की शक्ति की मर्यादा बाँध देंगे ? मै मानता हू कि वेद ईश्वरप्रेरित हैं। मगर मान लीजिए ईश्वर दूसरे वचनो की भी प्रेरणा करे और लोग उन्हे स्वीकार कर ले तव ? यह कहने का कोई अर्थ ही नही कि ईश्वर मे दूसरे वेदो की प्रेरणा करने की शक्ति ही नही। यह तो निरीश्वरवादी वचन हुआ। परन्तु इससे मैं यह भी नही कहना चाहता कि ईश्वर किसी दूसरे ग्रन्थ की प्रेरणा अभी करने वाला है।

पोतदार—मगर वेद ईश्वर-प्रेरित हो तो भविष्य मे उनके विरुद्ध प्रेरणा वाला ग्रन्थ कैसे आयगा ?

गांधी जी—दस हजार वर्ष पहिले जो काला हो वह आज सफेद नही हो सकता ? मूलभूत सिद्धान्त शाश्वत काल तक एक से ही रहते हैं। मगर वेदो मे तो मूलभूत सिद्धान्तो के सिवा और भी बहुत कुछ है। अगर ऐसा नही हो तो गीता के चौथे अध्याय मे जो कहा है कि ईश्वर समय-समय पर अवतार लेता है, उसका क्या अर्थ ?

ईश्वर तो वेदो का और इस मानवकुल का भी सहार कर सकता है। और कोई दूसरी ही जाति और दूसरे ही वेद उत्पन्न कर सकता है। आप तो कहेगे कि ईश्वर खुद अपने साथ असगत है।

प्रश्न—मगर किसी सन्त ने अभी तक वेद के ईश्वरप्रेरित होने के बारे मे शंका नहीं की है।

गाधी जी—मैं भी नही करता। मैं तो इतना ही कहता हू कि वेदो मे ईश्वर की कोई आखिरी प्रेरणा नही है। अन्त मे तो ईश्वर भी हम दोष-पात्र मनुष्यो के द्वारा ही बोलता है न ? और हमारे पास जो वेद ग्रन्थ हैं, वे भी कोई पूर्ण रूप मे नही। बहुत से हिन्दू मानते हैं कि अकेले वेद ही ईश्वर-प्रेरित ग्रन्थ है। मैं कहता हू कि ऐसे और भी ईश्वर-प्रेरित ग्रन्थो की सभावना है। वेद और ज्ञानेश्वरी प्रकट हो गई तो ईश्वर ने कोई हाथ नही धो लिये। हिन्दू धर्म की विशेषता तो यह है कि उसने सभी ईश्वर-प्रेरित ग्रन्थो मे एकवाक्यता और मेल साधने की कोशिश की है। एक ही सिद्धान्त अलग-अलग सयोगो मे अलग-अलग ढग से अमल मे लाये जा सकते हैं।

—१७।१२।१९३२। म० भा० डा० भाग २, पृ० २९४-२९५]

३८. हिन्दू-धर्म के मुख्य अंग

सत्य, अहिंसा पर अनन्य श्रद्धा और गोसेवा हिन्दू-धर्म के मुख्य अंग हैं। जो इन्हें छोड़ता है, वह हिन्दू नहीं रहता। यज्ञोपवीत की आवश्यकता मुझे प्रतीत नहीं हुई है। न पहिनने का आग्रह न किया जाय। जो ब्राह्मणत्व छोड़ता है, वह ब्राह्मण के अधिकार से च्युत हो गया है। ऐसे नाम के ब्राह्मणों को भोजन क्यों? विवाह में जो सामान्य मन्त्र है, वही आवश्यक है। आजकल जो श्राद्ध की प्रथा देखी जाती है, उस पर मेरा विश्वास नहीं है।

—९।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० २९]

३९. मेरी आस्था

कृष्णभक्ति मेरे जीवन का मन्त्र है। सनातन धर्म मेरा प्राण है। जो आज अपने को सनातनी मानते हैं, वे एक दिन मेरी उक्त प्रतिज्ञा के सत्य को स्वीकार करेंगे।

—९।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० ३०]

४०. शास्त्र क्या है?

शास्त्र का अर्थ पूर्वकाल में अनुभवियों-द्वारा कहे हुए वचन नहीं, बल्कि जिसे आज अनुभव-ज्ञान यानी ब्रह्मज्ञान हुआ है, ऐसे देहधारी के वचन। शास्त्र नित्य मूर्तिमन्त होता है। जो केवल पुस्तकों में है, जिसका अमल नहीं होता, वह या तो तत्व ज्ञान नहीं होगा या मूर्खता या पाखण्ड होगा। शास्त्र उसी क्षण अनुभवगम्य होना चाहिए, कहनेवाले के अनुभव की बात होनी चाहिए। इसी अर्थ में वेद नित्य है। अन्य सब वेद नहीं वेदवाद हैं।

—१९।२।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० १५३]

४१. धर्म का रहस्य

धर्म का रहस्य किसी सुख-सुविधा अथवा सामाजिक, आर्थिक स्थिति सुधारने में नहीं है। ऐसे लोगों के उदाहरण मिलते हैं, जो सामाजिक बहिष्कार, आर्थिक विनाश और उससे भी अधिक विकट परिस्थितियों का सामना करते हुए

अपने धर्म मे वैसे ही अटल बने रहे। बडे-से-बडे सकट मे हमारा धर्म ही हमे सत्य पर स्थिर रखता है। इहलोक और परलोक मे सारी आशाओ का सबलतम आधार धर्म ही है। अन्य समस्त अवलम्बो को छोड कर केवल ईश्वर के ही, सत्य के ही प्रति श्रद्धा कायम रखने वाला यह धर्म ही है।

अत्यन्त निकट की, पर साथ ही अत्यन्त अधूरी, जिस वस्तु की तुलना मैं धर्म के साथ कर सकता हू, वह विवाह है। विवाह एक ऐसा बन्धन है, जो किसी काल मे नही टूट सकता। धर्म का सम्बन्ध इससे भी अधिक अविभाज्य है। पति पत्नी के प्रति और पत्नी पति के प्रति श्रद्धा रखती है, तो इसका कारण यह नही है कि अपनी पत्नी अथवा अपना पति तमाम स्त्रियो से अथवा तमाम पुरुषो से श्रेष्ठ जँचता है। इस श्रद्धा के मूल मे जरूर कोई कल्पनातीत और अटूट आन्तरिक आकर्षण होता है। इसी प्रकार मनुष्य की अपने धर्म मे ऐसी श्रद्धा होती है, जो किसी तरह दूर नही की जा सकती। ऐसी निष्ठा मे मनुष्य को पूर्ण सन्तोष मिलता है। और जिस प्रकार किसी पति को अपनी पत्नी के प्रति श्रद्धा स्थायी रखने के लिए अन्य स्त्रियो को निम्न या हीन मानने की आवश्यकता नही होती, वैसे ही अपने धर्म पर अटल रहनेवाले लोगो के लिए अन्य धर्मो को अपने धर्म की अपेक्षा हीन मानने की जरूरत नही है।

इसी उपमा को और विस्तृत करते हुए कहा जा सकता है कि अपनी पत्नी के प्रति निष्ठा जताने के लिए जैसे उसके दोषो से अनजान रहने की आवश्यकता नही है, वैसे ही अपने धर्म के प्रति श्रद्धा दिखाने के लिए उसकी त्रुटियो से अनभिज्ञ रहने की आवश्यकता नही है। इतना ही नही, यदि अन्धविश्वास के साथ अपने धर्म पर अटल न रहना हो और सच्ची आस्था रखनी हो तो अपने धर्म मे व्याप्त दोषो का सम्पूर्ण ज्ञान होना चाहिए और उनको दूर करने के लिए सच्चे साधनो को ग्रहण करने की उतनी ही उत्कट इच्छा होनी चाहिए।

धर्म के विषय मे मेरा ऐसा विश्वास होने के कारण, हिन्दू धर्म की किसी खास विशेषता की जाच करने की आवश्यकता नही रह जाती। पाठक विश्वास रखे कि मैं जो अब तक हिन्दू बना हुआ हू, वह मैंने इस धर्म की अनेक सुन्दरताओ को जाने बिना ऐसा नही किया। सुन्दरताए मेरे ही धर्म मे है, अन्य धर्मों मे नही हैं, ऐसा मैं नही देखता। अत मैं अन्य धर्मों का अवलोकन आलोचक की दृष्टि नही बल्कि जिज्ञासु भक्त की दृष्टि से करता हू। मैं अन्य धर्मों मे अपने धर्म जैसी सुन्दरताए देखने और अपने धर्म मे जो सुन्दरता न हो, दूसरे धर्म मे हो, तो उसे अपने शामिल करने की आशा से ही दूसरे धर्मो का अवलोकन करता हू।

—ह० ज०। ह० से०, १८।८।१९३३]

- धर्म का रहस्य किसी सुख-सुविधा अथवा सामाजिक, आर्थिक स्थिति सुधारने मे नहीं है।
- बडे-से-बडे सकट मे हमारा धर्म ही हमे सत्य पर स्थिर करता है।
- इहलोक और परलोक मे सारी आशाओ का सवलतम आधार धर्म ही है।
- विवाह एक ऐसा बन्धन है जो किसी काल मे नहीं टूट सकता।
- धर्म के प्रति श्रद्धा दिखाने के लिए उसकी त्रुटियो से अनभिज्ञ रहने की आवश्यकता नहीं।
- अपने धर्म मे व्याप्त दोषो का सम्पूर्ण ज्ञान होना चाहिए।

४२. शुद्धि के लिए उपवास

हिन्दू धर्म मे उपवास एक अत्यन्त साधारण चीज है। अन्य धर्मों मे भी शुद्धि के लिए उपवास का मार्ग बताया गया है।
—ह० से०, ३।११।१९३३]

४३. ऋग्वेद का सन्देश

इतिहासकारो ने यह प्रमाणित कर दिया है कि, ससार मे जहा तक पता लगाया गया है, ऋग्वेद के मन्त्र ही सबसे प्राचीन है। उन मन्त्रो मे यही उपदेश दिया गया है कि ईश्वर एक है, अद्वितीय है और सर्वात्म है। जीवात्मा उसी ईश्वर से उद्भूत हुई है और उसी मे स्थित है।
—कराइकल, मद्रास, २०।२।१९३४। ह० से०, २।३।१९३४]

४४. सनातन धर्म-सिद्धान्त

उदारता एव सहिष्णुता का भाव ही सदा से सनातन धर्म का सिद्धान्त रहा है।
—ह० से० ५।५।१९३४]

४५. हिन्दू-धर्म

हिन्दू धर्म मे सत्य का स्थान सबसे ऊचा है।...कोई भी शास्त्री वेद, पुराण, इतिहास मे कही भी धर्म-सिद्धान्त के विपरीत कोई बात नहीं बता सकता।

. हमारे धर्म मे कई बातें ऐसी बताई गई हैं, जो और कही नही हैं। हमारे यहा जो वर्णाश्रम धर्म है, वह यदि लुप्त हो जाय तो हिन्दू धर्म का ही लोप हो जायगा। —हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी, १।८।१९३४। ह० से०, १०।८।१९३४]

४६. हिन्दू धर्म की मुख्य विशेषताएं

[तुलनात्मक धर्मशास्त्र की प्राध्यापिका एक अमरीकी महिला गांधी जी से मिलने आई थी। उन्होने गांधी जी से प्रश्न किया—

'आप मुझे संक्षेप में हिन्दू धर्म की सच्ची महत्ता बतायें।'

इसके उत्तर में गांधी जी ने जो उद्‌गार व्यक्त किये वे यहां संकलित किये जा रहे हैं।—सम्पा०]

हिन्दू धर्म की सच्ची महत्ता यह है कि वह मानता है कि जीवमात्र (केवल मनुष्य नही, सचेतन प्राणीमात्र) एक हैं, इनमे एक सर्वव्यापी मूल से उत्पन्न होने वाले जीवमात्र का समावेश हो जाता है—फिर उस मूल को अल्लाह कहे, गाड कहे या परमात्मा कहे। हिन्दू धर्म मे 'विष्णु-सहस्र-नाम' नामक एक छोटा-सा स्तोत्र है। इसका अर्थ ईश्वर के सहस्रनाम इतना ही है। इसका अर्थ यह नही कि ईश्वर के नाम केवल इतने है, किन्तु इसका अर्थ यह है कि तुम उसके जितने नाम रख सको उतने उसके नाम हैं। तुम उसे जितने नाम देना चाहते हो, दे दो, केवल जिसका तुम नाम लेते हो वह ईश्वर एकमेवाद्वितीय होना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि वह अनाम भी है।

यह जीवमात्र की एकता हिन्दूधर्म की विशेषता है। हिन्दूधर्म कहता है कि मुक्ति केवल मनुष्यो को ही नही मिल सकती, वह ईश्वर के बनाये हुए सभी प्राणियो को मिल सकती है। सम्भव है कि मानव देह के अतिरिक्त दूसरी देहद्वारा मोक्ष न प्राप्त हो सकता हो, पर इससे मनुष्य सृष्टि का स्वामी नही बन जाता। इससे तो वह ईश्वर की सृष्टि का सेवक बनता है। अब, जब कि हम मानव-बन्धुत्व की बात करते हैं,तब यहा हम अटक जाते हैं और हमे लगता है कि दूसरे सब जीव मनुष्य के उपभोग के लिए बनाये गये हैं। पर हिन्दू धर्म ने इस उपभोग को त्याज्य माना है। जीवमात्र के साथ इस एकता का सम्पादन करने के लिए मनुष्य जितना भी त्याग करे कम है। यह आदर्श इतना विशाल है कि इससे मनुष्य की आवश्यकताओ पर अंकुश रखा जा सकता है। आप देखेंगी कि यह वस्तु आधुनिक सभ्यता से उलटी है। यह सभ्यता कहती है कि अपनी आवश्यकताए बढाओ। जो ऐसा विश्वास रखता है वह मानता है कि आवश्यकताए बढाने से ज्ञान बढता है और हम उस ज्ञान-

द्वारा अनन्त ईश्वर को ज्यादा अच्छी तरह समझ सकते हैं। इसके विपरीत हिन्दू-धर्म भोग-विलास और आवश्यकताएं बढ़ाने को त्याज्य समझता है, क्योंकि यह ईश्वर-प्राप्ति के लिए आवश्यक आत्म-विकास में बाधक रूप हो जाता है।
—ह० से०, ९।१ १९३७]

- वह (ईश्वर) अनाम भी है।
- जीवमात्र की एकता हिन्दू धर्म की विशेषता है।
- मुक्ति केवल मनुष्यों को ही नहीं मिल सकती, वह ईश्वर के बनाये हुए सभी प्राणियों को मिल सकती है।

४७. सोने की कुंजी

[क्विलन (त्रावणकोर) की सभा में दिये गये भाषण से]

हिन्दू धर्म का सार किसमें समाया हुआ है, और जिन अनेक साधु-सन्तों के विषय में हमारे पास ऐतिहासिक उल्लेख हैं उन सन्तों को प्रेरणा देनेवाली कौन सी वस्तु है, इस पर हम थोड़ा विचार कर लें। हिन्दू धर्म के सन्तों को सैकड़ों वर्ष से उत्साह दिलानेवाली हिन्दू-धर्म में ऐसी कौन सी वस्तु है कि वे हिन्दू-धर्म में अस्पृश्यता देखते और फिर भी उस पर निछावर हो जाते? अस्पृश्यता के विरुद्ध जो मैं लड़ रहा हूं इस लड़ाई के बीच कई कार्यकर्ताओं ने मुझसे पूछा है कि हिन्दू-धर्म का सार किसे कहा जा सकता है? उन्होंने कहा कि क्या इस्लाम की तरह कोई सादा कलमा हमारे पास नहीं है? तत्व का चिन्तन करने वाले तथा व्यवहार में लगे रहनेवाले दोनों ही प्रकार के हिन्दुओं को सन्तोष दे सकनेवाली कोई चीज हमारे पास है या नहीं? कुछ ने कहा, और वह सकारण है, कि गायत्री ऐसा मन्त्र है। गायत्री का अर्थ समझने के बाद मैंने उसका हजार बार जप किया है, पर मुझे लगता है कि यह मन्त्र मेरी आध्यात्मिक आकांक्षा को पूर्णतया सन्तोष नहीं दे सका। और आप जानते ही हैं कि मैं वर्षों से भगवद्गीता का भक्त बना हुआ हूं। और मैंने कहा है कि गीता मेरी समस्त कठिनाइयों का निवारण करती है, और शंका व उलझन के सैकड़ों प्रसंगों पर वह मेरी कामधेनु, मेरी मार्गदर्शिका, मेरे जीवन-पथ को प्रकाश देनेवाली और मेरा शब्दकोश बनी है। मुझे ऐसा एक भी प्रसंग याद नहीं आता, जब गीता ने मुझे सहायता न दी हो। पर यह पुस्तक ऐसी नहीं है कि मैं सारी सभा के आगे इसे रख सकूं। प्रार्थना-पूर्वक अध्ययन करने के बाद ही यह कामधेनु हमें अपने थनों में भरा हुआ ज्ञान-रूपी दूध देती है।

पर मैं एक मन्त्र आपको सुनाता हू, जिसमे हि दू-धर्म का पूरा सार आ जाता है, ऐसा मै मानता हू। मुझे लगता है कि आप लोगो मे से वहुत से ईशोपनिपद को जानते होगे। मैंने कई वर्ष पहिले इसे अनुवाद और टीका के साथ पढा था। मैंने इसे यरवदा जेल मे कण्ठ कर लिया था। पर इधर कुछ महीनो से इस पर मैं जिस प्रकार मुग्ध हुआ हू उस प्रकार उस समय नही हुआ था। अव तो मैं इस अन्तिम निर्णय पर पहुँचा हू कि सारे उपनिषद् और दूसरे सव धर्मग्रन्थ अकस्मात् जलकर राख हो जाय और ईशोपनिपद् का केवल पहिला श्लोक ही हिन्दुओ की स्मृति मे बना रह जाय, तो भी हिन्दू-धर्म चिरकाल तक जीवित वना रहेगा।

इस मन्त्र के चार भाग हैं। पहला भाग है 'ईशावास्यमिद सर्वं यत्किच जगत्या जगत्।' इसका अर्थ मैं यह करता हूँ कि इस विशाल जगत् मे हम जो कुछ देखते हैं वह सब ईश्वर-व्याप्त है। फिर दूसरे और तीसरे भाग को साथ लेते हैं —'तेन त्यक्तेन भुजीथा।' मैं इन्हे दो भागो मे बाटता हू और उनका अर्थ इस प्रकार करता हू—'इसे त्यागो और भोगो'। इसका एक अन्य अनुवाद भी है, यद्यपि उसका अर्थ भी यही है—'वह तुम्हे जो दे उसे भोगो।' इसके भी दो भाग तो किये ही जा सकते है। फिर अन्तिम और सबसे महत्वपूर्ण भाग आता है—'मा गृध कस्यस्विद्धनम्।' इसका अर्थ यह है 'किसी के धन या स्वामित्व का लोभ न करो।' प्राचीन उपनिषद् के दूसरे सब मन्त्र इस पहिले मन्त्र की टीका है, या इसका सम्पूर्ण अर्थ देने के प्रयत्नरूप हैं। मैं गीता की दृष्टि से इस मन्त्र को पढता हू या इस मन्त्र की दृष्टि से गीता पढता हू, तो मुझे जान पडता है कि गीता इसके भाष्यरूप मे अवतरित हुई है। मुझे लगता है कि यह मन्त्र समाजवादी तथा साम्य-वादी, तत्वचितक तथा अर्थशास्त्री सबकी आकाक्षा को तृप्त करता है। जो धर्म से हिन्दू नही है उनसे मैं यह कहने का साहस करता हू कि यह मन्त्र उनकी आकाक्षा भी तृप्त करता है। और अगर यह सच है—मैं तो सच मानता हू—तो इस मन्त्र के अर्थ से असगत या विरोधी जो कुछ भी हिन्दू-धर्म मे हो उसे स्वीकार करने की आपको आवश्यकता नही। एक अद्वितीय ईश्वर और भूतमात्र का स्रष्टा और स्वामी अखिल विश्व के अणु-अणु मे व्याप्त है, इससे अधिक सामान्य मनुष्य और क्या सीखना चाहेगा? इस मन्त्र के अन्य तीन भाग पहिले भाग से सीधे फलित होते है। ईश्वर ने जो कुछ रचा है उन सबमे वह व्याप्त है यदि तुम ऐसा मानो तो तुम्हे यह भी मानना चाहिए कि तुम ऐसी किसी वस्तु को भोग नहीं सकते जिसे उसने तुम्हे नही दिया है। और यह देखते हुए कि वह अपने अगणित वालको का स्रष्टा है यह भी अर्थ निकलता है कि तुम किसी के धन का लोभ नहीं कर सकते। तुम उनकी अगणित सन्तति मे से एक हो, ऐसा यदि मानते हो तो तुम्हारा यह धर्म है

कि तुम्हे सर्व वस्तुओ को त्यागकर उसके चरणो को पकड़ना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि सब वस्तुओ का त्याग, केवल शारीरिक या भौतिक त्याग नही, किन्तु तदीयत्व का, द्विजत्व का, नये जन्म का चिह्न है। यह विचारपूर्वक किया हुआ कर्म है, अज्ञानजनित कर्म नही। अतः यह पुनर्जन्म है। और जो देह धारण किये हुए है, उसे खाना-पीना-पहिनना तो चाहिए ही, इसलिए जो कुछ भी चाहिए वह सब ईश्वर से माँग कर ही लेना चाहिए। यह सब उसे उसके त्याग से स्वाभाविक फलस्वरूप मिल जाता है। मानो इतना पर्याप्त नही है, इसलिए इस मन्त्र के अन्त मे यह भव्य विचार रख दिया है 'किसी के भी धन का लोभ न करो।' आप जिस क्षण इन उपदेशो को अमल मे लायेगे उस क्षण जगत के ज्ञानवान नागरिक बन जायेगे और भूतमात्र के साथ मैत्रीपूर्वक रहने लगेगे। यह मन्त्र मनुष्य की इहलोक तथा परलोक की ऊची-से-ऊची आकाक्षाओ को तृप्त करता है। जो मनुष्य ईश्वर को और उसके अद्वितीय निश्चल सम्राट् पद को नही मानता उसकी आकाक्षा इससे तृप्त नही होती।

—ह० ज०। ह० से० ६।२।१९३७]

- गीता मेरी समस्त कठिनाइयो का निवारण करती है।
- यह मन्त्र (ईशोपनिषद का पहिला मन्त्र) समाजवादी तथा साम्यवादी, तत्वचिन्तक तथा अर्थशास्त्री, सबकी, आकाक्षा तृप्त करता है।
- सब वस्तुओ का त्याग   तदीयत्व का, द्विजत्व का, नये जन्म का चिह्न है।
- वह (सब वस्तुओ का त्याग) पुनर्जन्म है।

४८. हिन्दू-धर्म एकेश्वरवादी है

यह कहा जाता है कि हिन्दू अनेक देवी-देवताओ को मानते है और मूर्ति-पूजक है। इसपर मै सबसे पहिले आपत्ति करता हू। हाँ, वे (हिन्दू) यह जरूर कहते है कि अनेक देवी-देवता है, पर वे यह भी तो स्पष्ट रूप से कहते है कि एक अद्वितीय ब्रह्म है, जो सब देवताओ का परमेश्वर है। इसलिए यह कहना ठीक नही कि हिन्दू अनेक ईश्वर मे विश्वास करते है। निस्सन्देह वे अनेक लोक को मानते है। जिस तरह मानव-प्राणियो से बसा हुआ लोक है और दूसरा लोक पशुओ का है, ठीक वैसे ही एक लोक देवता कहलानेवाले उच्च जीवात्माओ का भी है, जो हमारे दृष्टिपथ मे नही आते, फिर भी जिनका अस्तित्व है। यह सारी गड़बड़ देव या देवता के अग्रेजी पर्यायवाची शब्द से पैदा हुई, जिसके लिए   'गाड' (God)

से अच्छा कोई शब्द नही मिला पर गाड तो ईश्वर है, देवादिदेव है। अब आपने समझ लिया होगा कि इस गाड शब्द से विभिन्न दिव्यात्माओ का वर्णन किया जाता है और इसी से यह सारी गडबडी पैदा हुई है। मैं मानता हू कि मैं पूरा हिन्दू हू, पर मैं अनेक ईश्वर मे कभी विश्वास नही करता। मैंने अपने बचपन मे भी कभी अपने हृदय मे इस प्रकार के विश्वास को स्थान नही दिया और न किसी ने मुझे ऐसा करना सिखाया।
—ह० से०, १३।३।१९३७]

४९. मूर्तिपूजा

[एक ईसाई पादरी गाधी जी से मिलने आये थे। उन्होने हिन्दू धर्म के बहु-देववाद और मूर्तिपूजा पर शंका व्यक्त की। गांधी जी ने बहु ववाद के सम्बन्ध मे उन्हे जो समाधान दिया वह 'हिन्दू-धर्म एकेश्वरवादी है' शीर्षक लेख में संकलित किया गया है। मूर्ति-पूजा एवं तद्विषयक अन्य धार्मिक चर्चा का विवरण यहां प्रस्तुत किया जाता है।—सम्पा०]

गाधी जी—अब मूर्तिपूजा के विषय मे। किसी-न-किसी प्रकार की मूर्तिपूजा के बिना मनुष्य का काम नही चलता। मुसलमान मस्जिद को अल्लाह का निवास-स्थान कहते है और उसकी रक्षा करने के लिए जान दे देते है, यह किसलिए? ईसाई गिरजे मे किसलिए जाते हैं, और क्यो बाइबिल की शपथ लेते हैं? मुझे खुद तो इसमे कोई आपत्ति नही दिखाई देती। आदमी मस्जिद और रौजे बनाने के लिए जो हजारो लाखो रुपये देते हैं, यह मूर्तिपूजा नही तो क्या है और जब रोमन कैथोलिक ईसाई पाषाण-निर्मित या कपडे या काच पर चित्रित कुमारी मेरी तथा सन्तो की काल्पनिक प्रतिमाओ के आगे घुटने टेकते है, तब वे मूर्तिपूजा नही तो क्या करते हैं?

पादरी—मैं अपनी माता का चित्र अपने पास रखता हूं, और मातृ-भक्ति-भाव से उस चित्र को चूमता हूं, मगर चित्र की पूजा नहीं करता, इसी तरह सन्तो की भी पूजा नहीं करता। मैं जब ईश्वर को पूजता हूं,तब उसे जगत् का स्रष्टा और किसी भी मनुष्य से बड़ा मानता हूं।

गाधी जी—इसी प्रकार हम पत्थर को नही, किन्तु पत्थर या धातु की प्रतिमा मे—चाहे वह कितनी ही बेढगी हो—ईश्वर को पूजते है।

पादरी—पर गावो के लोग तो पत्थर को ही ईश्वर मानकर पूजते हैं।

गाधी जी—नही, मैं कहता हू कि वे ईश्वर को ही पूजते है, अन्य किसी को नही। आप जव कुमारी मेरी के आगे घुटने टेकते है, और उससे आशीर्वाद मागते हैं, तव क्या करते है? आप उसके द्वारा ईश्वर के साथ सम्वन्ध जोड़ना चाहते है। इसी प्रकार हिन्दू उपासक पत्थर की मूर्ति के द्वारा ईश्वर के साथ सम्वन्ध जोडना चाहते है। मैं यह समझ सकता हूँ कि आप जव कुमारी मेरी से आशीर्वाद मागते है, तव उसका यह अर्थ होता है कि वह ईश्वर के साथ आपका सम्वन्ध जोड दे। मुसलमान मस्जिद मे जाते समय श्रद्धा और भक्ति का क्या अनुभव करते है? क्या यह सारी दुनिया मस्जिद नही है? और हमारे मस्तक पर आकाश का जो भव्य छत्र तना हुआ है, वह क्या है? क्या वह मस्जिद मे कुछ कम है? पर मै मुसलमानो को समझ सकता हू और उनके प्रति सहानुभूति रखता हू। ईश्वर की उपासना करने का उनका यह तरीका है। परमात्मा को प्राप्त करने का हिन्दुओ का तरीका भिन्न है। हमारी साधना का मार्ग अलग है, पर इससे ईश्वर भिन्न-भिन्न नही वन जाता।

पादरी—लेकिन कैथोलिक मानते हैं कि ईश्वर ने उन्हे सच्चा मार्ग बताया है।

गाधीजी—आप यह कैसे कहते है कि ईश्वर की इच्छा वाइविल नाम की एक ही पुस्तक मे प्रकट हुई है, और किसी दूसरी पुस्तक मे नही? आप ईश्वर की शक्ति को मर्यादित किसलिए मानते हैं?

पादरी—ईसा ने चमत्कारो द्वारा यह सिद्ध किया है कि उसने ईश्वर की आवाज सुनी थी।

गाधीजी—मुहम्मद का भी यही दावा है। आप ईसाइयो का प्रमाण मानते हैं तो आपको मुसलमानो और हिन्दुओ का मानना ही चाहिए।

पादरी—पर मुहम्मद ने तो यह कहा था कि मै चमत्कार नहीं कर सकता।

गाधी जी—नही। उन्होने यह वता दिया था कि ईश्वर की हस्ती चमत्कारो द्वारा सिद्ध नही होती। पर वह यह तो कहते थे कि मेरे ऊपर खुदा के पैगाम आते हैं।

—ह० से० २०।३।१९३७]

५०. धर्म : एक आदर्श कल्पना

भावी समाज की नवरचना मे जो धर्म सकुचित रहेगा और वुद्धि की कसौटी पर खरा नही उतरेगा, वह टिक न सकेगा क्योकि उस नवनिर्माण मे प्रत्येक वस्तु को

से अच्छा कोई शब्द नही मिला पर गाड तो ईश्वर है, देवादिदेव है। अव आपने समझ लिया होगा कि इस गाड शब्द से विभिन्न दिव्यात्माओ का वर्णन किया जाता है और इसी से यह सारी गडबडी पैदा हुई है। मैं मानता हू कि मैं पूरा हिन्दू हू, पर मैं अनेक ईश्वर मे कभी विश्वास नही करता। मैने अपने बचपन मे भी कभी अपने हृदय मे इस प्रकार के विश्वास को स्थान नही दिया और न किसी ने मुझे ऐसा करना सिखाया।
—ह० से०, १३।३।१९३७]

४९. मूर्तिपूजा

[एक ईसाई पादरी गांधी जी से मिलने आये थे। उन्होने हिन्दू धर्म के बहु-देववाद और मूर्तिपूजा पर शंका व्यक्त की। गांधी जी ने बहु ववाद के सम्बन्ध में उन्हें जो समाधान दिया वह 'हिन्दू-धर्म एकेश्वरवादी है' शीर्षक लेख मे संकलित किया गया है। मूर्ति-पूजा एवं तद्विषयक अन्य धार्मिक चर्चा का विवरण यहां प्रस्तुत किया जाता है।—सम्पा०]

गाधी जी—अब मूर्तिपूजा के विषय मे। किसी-न-किसी प्रकार की मूर्तिपूजा के बिना मनुष्य का काम नही चलता। मुसलमान मस्जिद को अल्लाह का निवास-स्थान कहते हैं और उसकी रक्षा करने के लिए जान दे देते हैं, यह किसलिए ? ईसाई गिरजे मे किसलिए जाते हैं, और क्यो बाइबिल की शपथ लेते हैं ? मुझे खुद तो इसमे कोई आपत्ति नही दिखाई देती। आदमी मस्जिद और रौज़े बनाने के लिए जो हजारो लाखो रुपये देते हैं, यह मूर्तिपूजा नही तो क्या है और जव रोमन कैथोलिक ईसाई पाषाण-निर्मित या कपडे या काच पर चित्रित कुमारी मेरी तथा सन्तो की काल्पनिक प्रतिमाओ के आगे घुटने टेकते हैं, तब वे मूर्तिपूजा नही तो क्या करते हैं ?

पादरी—मै अपनी माता का चित्र अपने पास रखता हूं, और मातृ-भक्ति-भाव से उस चित्र को चूमता हूं, मगर चित्र की पूजा नहीं करता, इसी तरह सन्तो की भी पूजा नहीं करता। मैं जव ईश्वर को पूजता हू,तव उसे जगत् का स्रष्टा और किसी भी मनुष्य से वड़ा मानता हूं।

गाधी जी—इसी प्रकार हम पत्थर को नही, किन्तु पत्थर या धातु की प्रतिमा मे—चाहे वह कितनी ही वेढगी हो—ईश्वर को पूजते है।

पादरी—पर गांवों के लोग तो पत्थर को ही ईश्वर मानकर पूजते हैं।

गाधी जी—नही, मै कहता हू कि वे ईश्वर को ही पूजते है, अन्य किसी को नही। आप जब कुमारी मेरी के आगे घुटने टेकते है, और उससे आशीर्वाद मागते है, तब क्या करते है? आप उसके द्वारा ईश्वर के साथ सम्बन्ध जोड़ना चाहते है। इसी प्रकार हिन्दू उपासक पत्थर की मूर्ति के द्वारा ईश्वर के साथ सम्बन्ध जोडना चाहते है। मै यह समझ सकता हूँ कि आप जब कुमारी मरी से आशीर्वाद मागते है, तब उसका यह अर्थ होता है कि वह ईश्वर के साथ आपका सम्बन्ध जोड दे। मुसलमान मस्जिद मे जाते समय श्रद्धा और भक्ति का क्या अनुभव करते है? क्या यह सारी दुनिया मस्जिद नही है? और हमारे मस्तक पर आकाश का जो भव्य छत्र तना हुआ है, वह क्या है? क्या वह मस्जिद से कुछ कम है? पर मै मुसलमानो को समझ सकता हू और उनके प्रति सहानुभूति रखता हू। ईश्वर की उपासना करने का उनका यह तरीका है। परमात्मा को प्राप्त करने का हिन्दुओ का तरीका भिन्न है। हमारी भावना का मार्ग अलग है, पर इससे ईश्वर भिन्न-भिन्न नही बन जाता।

पादरी—लेकिन कैथोलिक मानते हैं कि ईश्वर ने उन्हे सच्चा मार्ग बताया है।

गाधीजी—आप यह कैसे कहते है कि ईश्वर की इच्छा बाइबिल नाम की एक ही पुस्तक मे प्रकट हुई है, और किसी दूसरी पुस्तक मे नही? आप ईश्वर की शक्ति को मर्यादित किसलिए मानते है?

पादरी—ईसा ने चमत्कारो द्वारा यह सिद्ध किया है कि उसने ईश्वर की आवाज सुनी थी।

गाधीजी—मुहम्मद का भी यही दावा है। आप ईसाइयो का प्रमाण मानते हैं तो आपको मुसलमानो और हिन्दुओ का मानना ही चाहिए।

पादरी—पर मुहम्मद ने तो यह कहा था कि मै चमत्कार नहीं कर सकता।

गाधी जी—नही। उन्होने यह बता दिया था कि ईश्वर की हस्ती चमत्कारो द्वारा सिद्ध नही होती। पर वह यह तो कहते थे कि मेरे ऊपर खुदा के पैगाम आते हैं।

—ह० से० २०।३।१९३७]

५०. धर्म : एक आदर्श कल्पना

भावी समाज की नवरचना मे जो धर्म सकुचित रहेगा और बुद्धि की कसौटी पर खरा नही उतरेगा, वह टिक न सकेगा क्योकि उस नवनिर्माण मे प्रत्येक वस्तु को

नये ढग से ही आँका जायगा। मनुष्य की कीमत उसके चरित्र के कारण होगी, —धन, पदवी या कुल के कारण नही। मेरी कल्पना का हिन्दूधर्म केवल एक सकुचित सप्रदाय नही, वह एक महान और सतत् विकास का प्रतीक और काल की तरह ही सनातन है। उसमे जरयुस्त्र, मूसा, ईसा, मुहम्मद, नानक और ऐसे अन्य कई धर्म-सस्थापको के उपदेशो का समावेश हो जाता है। उसकी *व्याख्या* इस प्रकार है—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत् ॥१॥

अर्थात् जिस धर्म को राग-द्वेष-विहीन ज्ञानी सन्तो ने अपनाया है और जिसे हमारा हृदय और बुद्धि भी स्वीकार करती है, वही सद्धर्म है।

अगर धर्म ऐसा न हुआ तो वह बच नही सकता।

—सेवाग्राम, २।३।१९४२। ह० से० ८।३।१९४२]

५१. राम-नाम रामबाण

यह देखकर कि मैंने प्राकृतिक चिकित्साओ मे राम-नाम को रोग मिटानेवाला माना है और इस सम्बन्ध मे कुछ लिखा भी है, वैद्यराज श्री गणेशशास्त्री जोशी मुझसे कहते हैं कि इसके सम्बन्ध का और इससे मिलता-जलता साहित्य आयुर्वेद मे ठीक-ठीक पाया जाता है। रोग मिटाने मे प्राकृतिक चिकित्सा का अपना बडा स्थान है और उसमे भी राम नाम विशेष है। यह मानना चाहिए कि जिन दिनो चरक, वाग्भट आदि ने लिखा था, उन दिनो ईश्वर को राम-नाम के रूप मे पहिचानने की रूढि नही पडी थी। यह विष्णु के नाम की महिमा थी। मैंने तो बचपन से रामनाम के द्वारा ही ईश्वर का भजन किया है। लेकिन मैं जानता हूँ कि ईश्वर को 'ॐ' के नाम से भजो या सस्कृत, प्राकृत से लेकर इस देश की या दूसरे देश की किसी भी भाषा मे (उच्चरित) नाम से उसको जपो, परिणाम एक ही होता है। ईश्वर को नाम की जरूरत नही। वह और उसका नियम दोनो एक ही है। इसलिए ईश्वरीय नियमो का पालन ही ईश्वर का जप है। अतएव केवल तात्विक दृष्टि से देखे तो जो ईश्वर की नीति के साथ तदाकार हो गया है, उसे जप की ज़रूरत नही। अथवा जिसके लिए जप या नाम का उच्चारण साँस-उसाँस की तरह स्वाभाविक हो गया है, वह ईश्वरमय बन चुका है, यानी ईश्वर की नीति को वह

सहज ही पहिचान लेता है और सहज भाव से उसका पालन करता है। जो इस तरह व्यवहार करता है, उसके लिए दूसरी दवा की क्या जरूरत ?'

—पूना, १०।३।१९४६, ह० ब०। ह० से० २४।३।१९४६]

- ईश्वर को नाम की जरूरत नहीं।
- वह (ईश्वर) और उसका नियम दोनों एक ही हैं।

५२. राम कौन ?

[प्रश्नोत्तर]

प्रश्न—आप कहा करते हैं कि प्रार्थना में प्रयुक्त राम का आशय दशरथ के पुत्र राम से नहीं। आपका आशय जगन्नियन्ता से होता है। हमने भलीभाँति देखा है कि राम धुन में 'राजाराम सीताराम राजाराम सीताराम' का कीर्तन होता है। और जयकार भी 'सियापति रामचन्द्र की जय' का लगता है। मैं विनम्र भाव से पूछता हूँ कि यह 'सियापति राम' कौन हैं ? यह 'राजाराम' कौन हैं ? क्या यह दशरथ के सुपुत्र राम नहीं हैं ? ऊपर की पंक्तियों से अब तो स्पष्टतया यही लगता है कि प्रार्थना में आराध्य जानकी-पति दशरथ-पुत्र राम ही हैं।

उत्तर—ऐसे प्रश्न का उत्तर मैं दे चुका हूँ, मगर इसमें कुछ नया भी है जो उत्तर की अपेक्षा रखता है। रामधुन में राजाराम, सीताराम रटा जाता है, वह दशरथ-नन्दन राम नहीं तो कौन है ? तुलसीदास जी ने तो इसका उत्तर दिया ही है, तो भी मुझे कहना चाहिए कि मेरी राय कैसे बनी है। राम से राम-नाम बड़ा है। हिन्दू धर्म महासागर है। उसमें अनेक रत्न भरे हैं। जितने गहरे पानी में जाओ, उतने अधिक रत्न मिलते हैं। हिन्दू-धर्म में ईश्वर के अनेक नाम हैं। सैकड़ों लोग राम-कृष्ण को ऐतिहासिक व्यक्ति कहते हैं, और मानते हैं कि जो राम दशरथ के पुत्र माने जाते हैं, वही ईश्वर के रूप में पृथिवी पर आये और यह कि उनकी पूजा से आदमी मुक्ति पाता है। ऐसा ही कृष्ण के लिए है। इतिहास, कल्पना और शुद्ध सत्य आपस में इतने ओतप्रोत हैं कि उन्हें अलग करना लगभग असम्भव है। मैंने अपने लिए सब संज्ञाएँ रखी हैं। और उन सब में मैं निराकार, सर्वज्ञ राम को ही देखता हूँ। मेरे लिए मेरा राम सीतापति दशरथ-नन्दन कहलाते हुए भी सर्व-शक्तिमान ईश्वर ही है, जिसका नाम हृदय में होने से सब दुःखों का नाश हो जाता है।

—२६।५।१९४६ ह० से० २।६।१९४६]

- हिन्दू-धर्म महासागर है। उसमें अनेक रत्न भरे हैं

५३. अमोघ मन्त्र

वह कौन सी जादुई चीज है, जो आपके डर को भगा सकती है। वह राम-नाम का अमोघ मन्त्र है। शायद आप कहेगे कि राम-नाम मे आपको विश्वास नही। आप उसे नही जानते, लेकिन उसके बिना आप एक साँस भी नही ले सकते। आप उसे चाहे ईश्वर कहिए, अल्लाह कहिए, गाड कहिए या अहुर मज्द कहिए। ससार मे जितने मनुष्य हैं, उतने ही उसके असख्य नाम है। विश्व मे उसके जैसा अन्य कोई नही है। वही एक महान है, विभु है। ससार मे उससे बडा कोई नही। वह अनादि, अनन्त, निरजन, निराकार है। मेरा राम ऐसा है। केवल वही मेरा स्वामी और मालिक है।

. राम पवित्र लोगो के हृदय मे हमेशा रहता है। जिस तरह बगाल मे श्री चैतन्य और श्री रामकृष्ण का नाम प्रसिद्ध है उसी प्रकार कश्मीर से कन्याकुमारी तक प्रत्येक हिन्दू घर जिनके नाम से परिचित है, उन भक्त शिरोमणि तुलसीदास ने अपने अमर महाकाव्य रामायण मे हमको राम-नाम का मन्त्र दिया है। अगर आप राम-नाम से डरकर चले तो आपको ससार मे राजा या रक किसी से डरने की जरूरत न रह जाय।

. खतरे का सामना करने के बजाय उससे दूर भागना उस श्रद्धा से इन्कार करना है, जो मनुष्य की मनुष्य पर, ईश्वर पर और स्वय पर रहती है। अपनी श्रद्धा का इस प्रकार दिवाला निकलने से अच्छा यह है कि इसान डूबकर मर जाय।

—लक्शम (पूर्वी बंगाल)। चामुहानी, १०।११।१९४६। ह० ज०। ह० से०, २४।११।१९४६]

५४. हिन्दू-धर्म का आध्यात्मिक सार

मेरी राय मे 'ईशोपनिषद्' के पहिले श्लोक' मे हिन्दू-धर्म की आध्यात्मिकता का सार समाया हुआ है। उस श्लोक का आशय यह है कि दुनिया मे जो कुछ मौजूद है, उसमे भगवान समाया हुआ है और वह सब भगवान मे समाया है। इसलिए कोई व्यक्ति किसी चीज़ पर अधिकार नही जता सकता। उसे अपना शरीर, मस्तिष्क और अपने पास की सभी चीज कण-कण मे व्याप्त उस भगवान को

---

१. **ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मागृधः कस्यस्विद्धनम्॥**

भेट कर देनी चाहिए और उसकी कृपा से जो कुछ मिल जाय, उसी को काम में लाना चाहिए। इसका सार यह है कि हम किसी आदमी से उसका धन न छीनें-भले ही वह धन उसका प्राण, प्रतिष्ठा या धर्म के रूप में ही क्यों न हो। इस सत्य को माननेवाला और इसके अनुसार चलनेवाला बिल्कुल निर्भय बन जाता है और पूरी शान्ति में रहता है।

—श्रीरामपुर, ४।१२।१९४६। ह० ज०। ह० से०। १२।१।१९४७]

५५. रामनाम

[सुश्री मनु बहिन गांधी को दिये गये उपदेश से]

राम ही सच्चा चिकित्सक है। जबतक राम मुझसे सेवा चाहेगा वह मुझे जीवित रखेगा, जब नहीं चाहेगा, तब वह मुझे अपने पास वापस बुला लेगा।

मैं आश्वस्त हूं कि यदि मेरे हृदय की गहराई में रामनाम प्रविष्ट हो गया है तो मैं रोग से नहीं मर सकता। हर एक आदमी को अपनी भूल के लिए कष्ट सहना पड़ता है और इसी कारण मुझे पीड़ा सहनी पड़ी। व्यक्ति की अन्तिम सांस तक उसके ओठों पर रामनाम होना चाहिए। किन्तु इसका उच्चारण तोते की तरह नहीं किया जाना चाहिए। इसे हृदय से निकलना चाहिए जैसा हनुमान के सम्बन्ध में था। जब सीता जी ने उन्हें एक मोतियों की माला भेंट की उन्होंने मोतियों को यह देखने के लिए तोड़ डाला कि उनमें रामनाम लिखा है या नहीं? हमें इस बात की चिन्ता नहीं करनी चाहिए कि यह घटना सचमुच हुई थी या नहीं। हम अपने शरीर को हनुमान जी के समान बलशाली बनाने में समर्थ नहीं हो सकते किन्तु हम अपनी आत्मा को निश्चय ही उनके समान श्रेष्ठ बना सकते हैं। कोई व्यक्ति हनुमान की भक्ति का अनुभव कर सकता है यदि वह उसके लिए उत्सुक हो। यदि वह उतनी ऊंचाई तक नहीं पहुँच सकता, तो यही बहुत है कि उसने निष्ठापूर्ण प्रयत्न किया। क्या गीता माता ने हमें नहीं सिखाया कि प्रत्येक प्रयत्न को और उसका फल भगवान के हाथ छोड़ दो। हमें इस शिक्षा का अनुकरण करने का पूरा प्रयास करना चाहिए। समस्त संसार में केवल एक सर्व-रोग-नाशिनी औषधि है और वह है राम-नाम। किन्तु उसका नाम तभी प्रभावशाली हो सकता है जब उसके सम्बन्ध में (निश्चित) नियमों में दृढ़तापूर्वक चिपके रहा जाय।

—३०।१।१९४७। अंग्रेजी से अनूदित। बापू—माई मदर। पृ० ३१-३२। न० जी० प्र० म० संस्करण फरवरी १९४९]

५६. राम

राम किसी मनुष्य का नही, भगवान का ही नाम है।
—ह० से०, १६।३।१९४७]

५७. मेरा धर्म

[राष्ट्रीय स्वयंसेवक सघ के सदस्यों के समक्ष दिये गये भाषण के अंश]

मै तो दक्षिण अफ्रीका से दावा करता आया हू कि मै सनातनी हिन्दू हू। हिन्दू शब्द का वास्तविक मूल क्या है, यह बहुत कम लोग जानते हैं। हमे यह नाम दूसरो ने दिया और हमने इसे अपना लिया। धर्म के अनेक अभ्यासी कहते है कि हिन्दू-धर्म क्यो कहते हो। इसे आर्य-धर्म या सनातन-धर्म कहो। हिन्दू-धर्म की विशेषता उसकी सहिष्णुता और जिसके सम्पर्क मे आये उसकी अच्छी चीजो को पचा लेने की शक्ति रही है।

. मेरे हिन्दू धर्म मे सब धर्म आ जाते हैं। हिन्दू धर्म मे सब धर्मों का सार मिलता है। अगर हिन्दू-धर्म सबको पचा जाने का काम न करता तो वह इतना ऊचा न उठ सकता।

मेरी रग-रग मे हिन्दू-धर्म समाया हुआ है। मैं धर्म को जिस तरह समझता हू उसी तरह उसकी और हिन्दुस्तान की सेवा पूरी ताकत से कर रहा हू।

[भाषण के अन्त मे गाधी जी द्वारा प्रश्न पूछने के लिए कहे जाने पर जो प्रश्न किया गया, वह उत्तर सहित यहा दिया जा रहा है।—सम्पा०]

प्रश्न—हिन्दू-धर्म में पापी को मारने की अनुमति है या नहीं?

उत्तर—है भी और नही भी। जो खुद पापी है, वह दूसरे पापी को कैसे सजा देगा? अगर सब काजी बन जाय तो न्याय किसको मिलेगा? इसलिए पापी को सजा देना शासन का काम है। आप शासन से कह दें कि यह आदमी पापी है, दगाबाज़ है। इसे सज़ा दीजिए। शासन अहिंसा को नही मानता। वह दगाबाज़ो को गोली से उडा देगा। लेकिन यह कह देना कि सारे मुसलमान दगा-बाज हैं, ठीक नही है। यह हिन्दू-धर्म नही है।
—१३।९।१९४७। ह० से० २८।९।१९४७]

५८. हिन्दू-धर्म

हिन्दू धर्म महासागर की तरह है। महासागर कभी गन्दा नही होता।
—बिडला भवन, नई दिल्ली, १८।९।१९४७। ह० ज०। ह० से०, २८।९। १९४७]

५९. मेरे धर्म की शिक्षा

मेरा हिन्दू धर्म मुझे सिखलाता है कि मैं सब धर्मो का आदर करू।

--बिडला भवन, नई दिल्ली, ७।१०।१९५७। ह० ज०। ह० से०। १९।१०।-१९४७]

६०. हिन्दू-धर्म

यो तो मैने कई दफा अपने को सनातनी हिन्दू कहा है, परन्तु इस मद्रास की मुसाफिरी मे, छुआ-छूत के प्रश्न की चर्चा करते समय, मैने पहिले से भी ज्यादह जोर और दावे के साथ कहा है कि मै सनातनी हिन्दू हू। परन्तु मै देखता हू कि लोग हिन्दू धर्म के नाम पर कितनी ही ऐसी बाते आमतौर पर करते है जिनका कायल मै नही हू। अगर मै सनातनी हिन्दू नही हू तो मै नही चाहता कि सनातनी हिन्दू कहलाऊ। और यह अभिलाषा तो मुझे बिल्कुल ही नही है कि किसी महान धर्म-मत की ओट ले चुपके-चुपके कोई सुधार या बिगाड करू।

अतएव यह मेरे लिए आवश्यक हो गया है कि मै अपने सनातन हिन्दू-धर्म का मतलब एकबारगी साफ-साफ समझा दू। सनातन शब्द का प्रयोग मैने उसके स्वाभाविक अर्थ मे ही किया है।

मै नीचे-लिखे कारणो से अपने को सनातनी हिन्दू कहता हू--

१ मैं वेदो को, उपनिषदो को, पुराणो को और उन सब वस्तुओ को मानता हू जो हिन्दू शास्त्र के नाम से विख्यात है। इसलिए मैं अवतारो और पुनर्जन्म को भी मानता हू।

२ मैं वर्णाश्रम-धर्म को मानता हू—परन्तु अपनी समझ के अनुसार ठीक वैदिक अर्थ मे, आजकल के प्रचलित और अपूर्ण अर्थ मे नही।

३ मैं गो-रक्षा को मानता हू, परन्तु वर्तमान प्रचलित अर्थ मे बहुत ही व्यापक अर्थ मे।

४ मैं मूर्तिपूजा मे अविश्वास नही करता।

पाठक इस बात पर ध्यान रखें कि मैने वेदो अथवा किसी शास्त्र के सम्बन्ध मे अपौरुषेय शब्द का प्रयोग जान-बूझ कर नही किया है। क्योंकि मैं तो सिर्फ वेदो को ही अपौरुषेय नही मानता हू। मै तो बाइबिल, कुरान और जेन्दा-अवस्ता को भी, वेदो की तरह ही, ईश्वरी प्रेरणा का फल मानता हू। हिन्दू धर्म-ग्रन्थो पर जो मेरी श्रद्धा है उसके लिए यह कोई आवश्यक बात नही है कि मैं उनके प्रत्येक

५६. राम

राम किसी मनुष्य का नही, भगवान का ही नाम है।
—ह० से०, १६।३।१९४७]

५७. मेरा धर्म

[राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सदस्यो के समक्ष दिये गये भाषण के अश]

मैं तो दक्षिण अफ्रीका से दावा करता आया हू कि मैं सनातनी हिन्दू हू। हिन्दू शब्द का वास्तविक मूल क्या है, यह बहुत कम लोग जानते हैं। हमे यह नाम दूसरो ने दिया और हमने इसे अपना लिया। धर्म के अनेक अभ्यासी कहते हैं कि हिन्दू-धर्म क्यो कहते हो। इसे आर्य-धर्म या सनातन-धर्म कहो। हिन्दू-धर्म की विशेषता उसकी सहिष्णुता और जिसके सम्पर्क मे आये उसकी अच्छी चीजो को पचा लेने की शक्ति रही है।

. . मेरे हिन्दू धर्म मे सब धर्म आ जाते हैं। हिन्दू धर्म मे सब धर्मो का सार मिलता है। अगर हिन्दू-धर्म सबको पचा जाने का काम न करता तो वह इतना ऊचा न उठ सकता।

. मेरी रग-रग मे हिन्दू-धर्म समाया हुआ है। मैं धर्म को जिस तरह समझता हू उसी तरह उसकी और हिन्दुस्तान की सेवा पूरी ताकत से कर रहा हू।

[भाषण के अन्त में गांधी जी द्वारा प्रश्न पूछने के लिए कहे जाने पर जो प्रश्न किया गया, वह उत्तर सहित यहां दिया जा रहा है।—सम्पा०]

प्रश्न—हिन्दू-धर्म में पापी को मारने की अनुमति है या नहीं ?

उत्तर—है भी और नही भी। जो खुद पापी है, वह दूसरे पापी को कैसे सजा देगा ? अगर सब काजी बन जाय तो न्याय किसको मिलेगा ? इसलिए पापी को सजा देना शासन का काम है। आप शासन से कह दें कि यह आदमी पापी है, दगाबाज़ है। इसे सज़ा दीजिए। शासन अहिंसा को नही मानता। वह दगाबाजो को गोली से उडा देगा। लेकिन यह कह देना कि सारे मुसलमान दगा-बाज हैं, ठीक नही है। यह हिन्दू-धर्म नही है।
—१३।९।१९४७। ह० से० २८।९।१९४७]

५८. हिन्दू-धर्म

हिन्दू धर्म महासागर की तरह है। महासागर कभी गन्दा नही होता।
—बिड़ला भवन, नई दिल्ली, १८।९।१९४७। ह० ज०। ह० से०, २८।९। १९४७]

५९. मेरे धर्म की शिक्षा

मेरा हिन्दू धर्म मुझे सिखलाता है कि मैं सब धर्मों का आदर करूँ।
--बिडला भवन, नई दिल्ली, ७।१०।१९५७। ह० ज०। ह० से०। १९।१०।-
१९४७]

६०. हिन्दू-धर्म

यो तो मैंने कई दफा अपने को सनातनी हिन्दू कहा है, परन्तु इस मद्रास की मुसाफिरी में, छुआ-छूत के प्रश्न की चर्चा करते समय, मैंने पहिले से भी ज्यादह जोर और दावे के साथ कहा है कि मैं सनातनी हिन्दू हूँ। परन्तु मैं देखता हूँ कि लोग हिन्दू धर्म के नाम पर कितनी ही ऐसी बातें आमतौर पर करते हैं जिनका कायल मैं नहीं हूँ। अगर मैं सनातनी हिन्दू नहीं हूँ तो मैं नहीं चाहता कि सनातनी हिन्दू कहलाऊँ। और यह अभिलाषा तो मुझे बिल्कुल ही नहीं है कि किसी महान धर्म-मत की ओट में चुपके-चुपके कोई सुधार या बिगाड़ करूँ।

अतएव यह मेरे लिए आवश्यक हो गया है कि मैं अपने सनातन हिन्दू-धर्म का मतलब एकबारगी साफ-साफ समझा दूँ। सनातन शब्द का प्रयोग मैंने उसके स्वाभाविक अर्थ में ही किया है।

मैं नीचे-लिखे कारणों से अपने को सनातनी हिन्दू कहता हूँ--

१ मैं वेदों को, उपनिषदों को, पुराणों को और उन सब वस्तुओं को मानता हूँ जो हिन्दू शास्त्र के नाम से विख्यात हैं। इसलिए मैं अवतारों और पुनर्जन्म को भी मानता हूँ।

२ मैं वर्णाश्रम-धर्म को मानता हूँ--परन्तु अपनी समझ के अनुसार ठीक वैदिक अर्थ में, आजकल के प्रचलित और अपूर्ण अर्थ में नहीं।

३ मैं गो-रक्षा को मानता हूँ, परन्तु वर्तमान प्रचलित अर्थ से बहुत ही व्यापक अर्थ में।

४ मैं मूर्तिपूजा में अविश्वास नहीं करता।

पाठक इस बात पर ध्यान रखें कि मैंने वेदों अथवा किसी शास्त्र के सम्बन्ध में अपौरुषेय शब्द का प्रयोग जान-बूझ कर नहीं किया है। क्योंकि मैं तो सिर्फ वेदों को ही अपौरुषेय नहीं मानता हूँ। मैं तो बाइबिल, कुरान और जेन्दा-अवस्ता को भी, वेदों की तरह ही, ईश्वरी प्रेरणा का फल मानता हूँ। हिन्दू धर्म-ग्रन्थों पर जो मेरी श्रद्धा है उसके लिए यह कोई आवश्यक बात नहीं है कि मैं उनके प्रत्येक

शब्द और प्रत्येक श्लोक को अपौरुषेय मानूं। और न मैं इस बात का दावा ही रखता हू कि इन अद्भुत ग्रन्थो का विशुद्ध ज्ञान मुझे है। परन्तु हा, मै उन धर्म ग्रन्थो के अत्यन्त आवश्यक उपदेशो की सत्यता के ज्ञान का और उसको अनुभव करने का दावा जरूर करता हू। मैं उस अर्थ को मानने के लिए तैयार नही जो तर्क और नीति के विरुद्ध हो, फिर वह चाहे कितना ही विद्वत्ता-पूर्ण क्यो न हो। और मैं बडे जोर के साथ आजकल के इन शकराचार्यों और शास्त्री पडितो के इस दावे (अगर वे कोई ऐसा दावा पेश करे) के खिलाफ अपनी आवाज उठाता हू कि हिन्दू धर्म-शास्त्रो का वास्तविक अर्थ वही है जो वे बताते हैं। बल्कि, इसके विपरीत, मेरा तो यह विश्वास है कि इन ग्रन्थो का जो ज्ञान इस समय लोगो को है, वह अत्यन्त अव्यवस्थित दशा मे है। मैं हिन्दू-शास्त्र के इस वचन का सोलहो आना कायल हू कि जिसने अहिंसा, सत्य और ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन नही किया और जिसने सम्पत्ति के अधिकार और उपार्जन का त्याग नही कर दिया है वह वस्तुत शास्त्रो का मर्म नही समझ सकता। हा, मैं गुरु की प्रणाली को मानता हू, परन्तु इस वर्तमान युग मे तो लाखो लोगो को बिना गुरु के ही काम चलाना पडेगा, क्योकि पूर्ण शुद्धता और पूर्ण विद्वत्ता का सयोग बहुत ही कम जगह पाया जाता है। परन्तु इससे किसी को यह समझकर निराश होने की जरूरत नही है कि हमारे धर्म का सत्य ज्ञान तो कभी होगा ही नही, क्योकि हिन्दू-धर्म के मूलभूत सिद्धान्त तो, प्रत्येक महान धर्म की तरह त्रिकालबाधित हैं और आसानी से समझ मे आ जाते हैं। प्रत्येक हिन्दू यह मानता है कि ईश्वर है और वह अद्वैत है। वह पुनर्जन्म और मुक्ति को भी मानता है। परन्तु हिन्दू-धर्म मे और दूसरे धर्मों मे अगर कोई भिन्नता-दर्शक बात है तो वह हिन्दू धर्म की गो-रक्षा है। वर्णाश्रम-व्यवस्था भी इतनी भिन्नता-दर्शक नही है।

मेरी राय मे तो वर्णाश्रम-व्यवस्था मनुष्य की प्रकृति के लिए स्वाभाविक है। हिन्दू धर्म ने तो सिर्फ उसे एक शास्त्र के रूप मे परिणत भर कर दिया है। जन्म के साथ उसका सम्बन्ध अवश्य ही है। कोई मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार अपना वर्ण नही बदल सकता। अपने वर्ण के अनुसार न चलना गोत्रत्व के नियम को न मानना है। हा, जो ये हजारो छोटी-छोटी जातिया बन गई हैं, यह तो उस सिद्धान्त का अनावश्यक और मनमाना व्यवहार करना है। सिर्फ चार वर्ण ही सब तरह से काफी हैं।

मैं इस बात को नही मानता कि सहभोज और अन्तर्विवाह मे किसी मनुष्य का जन्म-जात दर्जा अवश्य ही छिन जाता है। ये चार विभाग मनुष्य के व्यवसाय के सूचक हैं। वे सामाजिक व्यवहार की मर्यादा नही बांधते या उसका नियम नही

बनाते। ये चार वर्ण तो कर्त्तव्य का निर्णय करते है, किसी को किसी तरह की विशेषाधिकार नहीं देते। मेरी राय मे तो यह बात हिन्दू-धर्म के सनातन तत्व के विपरीत है कि एक को तो श्रेष्ठता दे दी जाय और दूसरे को कनिष्ठ बनाया जाय। सब लोग ईश्वर की इस सृष्टि की सेवा करने के लिए उत्पन्न हुए है। ब्राह्मण अपने ज्ञान के द्वारा, क्षत्रिय अपने रक्षा-बल के द्वारा, वैश्य अपनी व्यापारिक योग्यता के द्वारा और शूद्र अपने शारीरिक परिश्रम के द्वारा। परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि कोई ब्राह्मण शारीरिक श्रम या अपनी तथा दूसरे की रक्षा के कर्त्तव्य से मुक्त है। ब्राह्मण कुल मे जन्म होने के कारण वह प्रधानत ज्ञानशील है, आनुवंशिक रूप से तथा शिक्षा और अभ्यास के कारण वह दूसरो को ज्ञान देने के लिए सबसे अधिक पात्र है। पर ऐसी कोई बात नही है जो किसी शूद्र को यथेच्छ ज्ञान प्राप्त करने से रोक सके। बात सिर्फ यही है कि वह अपने शरीर के द्वारा उत्कृष्ट सेवा कर सकेगा और उसे दूसरो की सेवा करने के विशेष गुणो से ईर्ष्या करने की जरूरत नही। लेकिन जो ब्राह्मण अपने ज्ञान के अधिकार के बल पर अपने उच्च और श्रेष्ठ होने का दावा करता है उसका पतन हो जाता है और वह वास्तव मे ज्ञानहीन ही है। और यही बात दूसरे लोगो पर भी घटती है जो अपने विशेष गुणो का घमण्ड दिखाते है। वर्णाश्रम का अर्थ है—आत्मसयम और कार्य-शक्ति का सदव्यय तथा रक्षण।

इस प्रकार यद्यपि सहभोज और अन्तर्विवाह से वर्णाश्रम मे बाधा नही होती तथापि हिन्दू-धर्म सहभोज और एक वर्ण के साथ दूसरे वर्ण के अन्तर्विवाह को रोकने का प्रयत्न करता है। हिन्दू-धर्म आत्म-सयम की चरम सीमा तक पहुँच गया है। इस धर्म का मूलाधार तो निस्सन्देह भौतिक बातो की निवृत्ति पर है, और उसका लक्ष्य है आत्म-स्वातन्त्र्य। हिन्दुओ के यहा तो पुत्र के साथ भोजन करना भी उनके कर्त्तव्य का अंग नही है। और अमुक ही जाति की कन्या से विवाह करने का नियम बनाकर हिन्दू लोग असाधारण आत्म-सयम का पालन करते है। हिन्दू-धर्म विवाहित अवस्था को किसी भी दशा मे मुक्ति के लिए आवश्यक नही बताता। जन्म की तरह विवाह भी आत्मा का अध पतन ही है। मुक्ति का अर्थ है —जन्म से, अतएव मृत्यु से भी, छुटकारा पाना। अतएव अन्तर्विवाह का और सह-भोजन का निषेध आत्मा के द्रुत विकास के लिए परम आवश्यक है। परन्तु यह निवृत्ति या विरक्ति वर्ण की कसौटी नही है। ब्राह्मण ने यदि ज्ञान के द्वारा सेवा करने के अपने कर्त्तव्य का त्याग नही किया है तो, वह अपने शूद्र-भाई के साथ भोजन-पान करने पर भी, ब्राह्मण बना रह सकता है। अब तक मैने जो कुछ कहा उससे यह नतीजा निकलता है कि भोजन-पान और विवाह के विषय मे जो सयम

रखा गया है उसका आधार श्रेष्ठता या कनिष्ठता के भाव पर नही है। जो हिन्दू अपने को श्रेष्ठ समझकर किसी दूसरे के साथ भोजन-पान करने से इन्कार करता है वह अपने धर्म का आदर्श बिल्कुल उलटा दिखाता है।

यह दुर्भाग्य की बात है कि आज हिन्दू-धर्म अकेले चूल्हे-चौके मे ही माना जाता है। मैंने एक बार एक मुसलमान भाई के यहा कुछ खाया। यह देखकर एक धर्म-निष्ठ हिन्दू हैरान हो गये। मैंने मुसलमान भाई के दिये प्याले मे दूध उँडेला। उन्हे देखकर बडा दु ख हुआ और जब उन्होने देखा कि मैं मुसलमान की दी हुई डबलरोटी खाने लगा तब तो उनके दु ख की सीमा न रही। अगर हिन्दू धर्म केवल क्या खावें और किसके साथ खावें, इसके परिश्रम-साध्य नियमो के सम्बन्ध मे ही मन्तव्य करने लगे तो उसके प्राणो के सकट मे आ पडने का अन्देशा है। हा, मादक और पेय पदार्थों का तथा हर तरह के खाद्य पदार्थों का , विशेष करके मास का, सेवन न करने से निस्सन्देह आत्मोन्नति मे सहायता मिलती है, परन्तु केवल यही हमारा लक्ष्य किसी तरह नही। बहुत से मनुष्य ऐसे हैं जो मास भोजन करते है और सब लोगो के साथ खाते-पीते हैं, परन्तु ईश्वर से डरते हैं। ऐसे लोग उस मनुष्य की अपेक्षा मुक्ति के अधिक नजदीक है जो धार्मिक दृष्टि से मद्य-मास आदि का सेवन नही करता, परन्तु अपने हरएक कार्य के द्वारा ईश्वर का तिरस्कार करता है।

तथापि हिन्दू-धर्म का मध्यवर्ती प्रधान अग है गो-रक्षा। मेरी दृष्टि मे तो गो-रक्षा मनुष्य-जाति के विकास मे एक अद्‌भुत चमत्कारपूर्ण घटना है। यह मनुष्य-प्राणी को उसकी स्वाभाविक मर्यादा के ऊपर ले जाती है। मुझे तो गाय मानो मनुष्य जाति से नीचे की सम्पूर्ण सृष्टि नजर आती है। गाय के द्वारा मनुष्य प्राणिमात्र के साथ अपने तादात्म्य के अनुभव का अधिकारी होता है। मुझे तो यह स्पष्ट दिखाई देता है कि गाय ही अकेली क्यो देवता मानी गई है। हिन्दुस्तान मे गाय से बढकर मनुष्यो का साथी दूसरा कोई नही। उसने बहुतेरी वस्तुए हमे दी हैं। उसने केवल हमे दूध ही नही दिया है, बल्कि हमारी खेती का भी सारा आधार उसी पर है। गाय तो एक मूर्तिमती करुणामयी कविता है। इस नम्र प्राणी मे करुणा ही करुणा दिखाई देती है। भारत के लाखो मनुष्यो की वह माता है। गो-रक्षा का अर्थ है ईश्वर की सम्पूर्ण मूक-सृष्टि की रक्षा। लेकिन प्राचीन कवियो ने, फिर वे चाहे कोई हो, गाय से ही श्रीगणेश किया। [illegible] ची श्रेणी के प्राणियो को वाक्‌शक्ति नही है। इसलिए उनकी अपील [illegible] बल [illegible] गो-रक्षा ससार को हिन्दू-धर्म का दिया हुआ प्रसाद है [illegible] न्दू बराबर जीवित रहेगा जबतक हिन्दू लोग गो-रक्षा, क

गो-रक्षा करने का मार्ग है—उसके लिए स्वयं मर मिटना। हिन्दू-धर्म और अहिंसा यह आज्ञा नहीं देते कि गो-रक्षा के लिए किसी मनुष्य-प्राणी का वध करो। हिन्दुओं को तो तपस्या, आत्मशुद्धि और स्वार्थत्याग के द्वारा गो-रक्षा करने का आदेश दिया गया है। आजकल की इस गो-रक्षा ने मुसलमानों के साथ एक चिर-स्थायी शत्रुता का रूप धारण कर लिया है, हालांकि गो-रक्षा का अर्थ तो है मुसलमानों को प्रेम से अपने वशीभूत करना। एक मुसलमान मित्र ने कुछ समय पहिले, मुझे एक पुस्तक भेजी थी। उसमें सविस्तार यह बताया गया था कि हम लोग गाय के और उसकी सन्तान के साथ कैसा अमानुष व्यवहार करते हैं। हम किस बेरहमी के साथ खून टपकने तक उसे दुहते हैं—एक बूंद तक दूध उसके थन में नहीं रहने देते। किस तरह हम उसे भूखों मार-मारकर सुखा देते हैं। उसके बछड़ों के साथ कैसा दुर्व्यवहार करते हैं। किस तरह हम उनके हिस्से का दूध उनके पल्ले नहीं पड़ने देते। बैलों के साथ किस निष्ठुरता से पेश आते हैं। किस तरह हम उन्हें बधिया करते हैं। किस तरह हम उन्हें पीटते हैं। और कितना सारा बोझ उन पर लादते हैं। अगर उन्हें बोलने की शक्ति होती तो वे उनके प्रति किये हमारे अपराधों का बयान इस तरह अपने मुंह से करते कि सारी दुनिया दहल उठती। अपने चौपायों के प्रति अपने एक-एक निर्दयता-पूर्ण कार्य के द्वारा मानो हम ईश्वर का और हिन्दूधर्म का त्याग कर रहे हैं। इस अभागे भारतवर्ष में चौपायों की जितनी बुरी दशा है उतनी मैं नहीं जानता कि दुनिया के किसी दूसरे देश में होगी। हम अंग्रेजों को इसके लिए दोषी नहीं बना सकते। अपने इस अपराध के लिए हम दरिद्रता की दुहाई नहीं दे सकते। हमारे चौपायों की दुर्दशा का एक मात्र कारण है हमारी अक्षम्य लापरवाही। हां, हमारे पिंजरापोल हैं। वे हमारे दया-भाव की तृप्ति का साधन भी हैं, परन्तु हैं वे उस दयायुक्त कार्य के बेढंगे प्रदर्शन ही। वे नमूना-रूप दुग्धशाला और महान लाभदायक राष्ट्रीय संस्था होने के बजाय केवल अपाहिज और निर्बल गायों का संग्रह-स्थान भर हैं।

हिन्दुओं की पहिचान न तो उनके तिलक में होगी, न उनके मन्त्रों के शुद्ध घोष में, न उनके तीर्थाटन में और न जाति बन्धन के नियमों के अत्यन्त शिष्टाचार-युक्त पालन में ही होगी। बल्कि उनकी पहिचान तो उनके गो-रक्षा के सामर्थ्य से होगी। हम गो-रक्षा को अपना धर्म मानने का दावा तो बड़ा करते हैं, लेकिन वास्तव में तो हमने गाय को और उसकी सन्तति को अपना गुलाम बना डाला है और खुद भी गुलाम हो गये हैं।

अब यह बात समझ में आ जायगी कि मैं क्यों अपने को सनातनी हिन्दू समझता हूं। गौ के प्रति जो मेरी श्रद्धा है उसमें मैं किसी से हारनेवाला नहीं। मैं खिलाफत

रखा गया है उसका आधार श्रेष्ठता या कनिष्ठता के भाव पर नही है। जो हिन्दू अपने को श्रेष्ठ समझकर किसी दूसरे के साथ भोजन-पान करने से इन्कार करता है वह अपने धर्म का आदर्श बिल्कुल उलटा दिखाता है।

यह दुर्भाग्य की बात है कि आज हिन्दू-धर्म अकेले चूल्हे-चौके मे ही माना जाता है। मैंने एक बार एक मुसलमान भाई के यहा कुछ खाया। यह देखकर एक धर्मनिष्ठ हिन्दू हैरान हो गये। मैंने मुसलमान भाई के दिये प्याले मे दूध उंडेला। उन्हे देखकर बडा दुःख हुआ और जब उन्होने देखा कि मैं मुसलमान की दी हुई डबलरोटी खाने लगा तब तो उनके दुःख की सीमा न रही। अगर हिन्दू धर्म केवल क्या खावें और किसके साथ खावें, इसके परिश्रम-साध्य नियमो के सम्बन्ध मे ही मन्तव्य करने लगे तो उसके प्राणो के सकट मे आ पडने का अन्देशा है। हा, मादक और पेय पदार्थों का तथा हर तरह के खाद्य पदार्थों का, विशेष करके मास का, सेवन न करने से निस्सन्देह आत्मोन्नति मे सहायता मिलती है, परन्तु केवल यही हमारा लक्ष्य किसी तरह नही। बहुत से मनुष्य ऐसे हैं जो मास भोजन करते है और सब लोगो के साथ खाते-पीते हैं, परन्तु ईश्वर से डरते हैं। ऐसे लोग उस मनुष्य की अपेक्षा मुक्ति के अधिक नजदीक है जो धार्मिक दृष्टि से मद्य-मास आदि का सेवन नही करता, परन्तु अपने हरएक कार्य के द्वारा ईश्वर का तिरस्कार करता है।

तथापि हिन्दू-धर्म का मध्यवर्ती प्रधान अग है गो-रक्षा। मेरी दृष्टि मे तो गो-रक्षा मनुष्य-जाति के विकास मे एक अद्भुत चमत्कारपूर्ण घटना है। यह मनुष्य-प्राणी को उसकी स्वाभाविक मर्यादा के ऊपर ले जाती है। मुझे तो गाय मानो मनुष्य जाति से नीचे की सम्पूर्ण सृष्टि नजर आती है। गाय के द्वारा मनुष्य प्राणिमात्र के साथ अपने तादात्म्य के अनुभव का अधिकारी होता है। मुझे तो यह स्पष्ट दिखाई देता है कि गाय ही अकेली क्यो देवता मानी गई है। हिन्दुस्तान मे गाय से बढकर मनुष्यो का साथी दूसरा कोई नही। उसने बहुतेरी वस्तुए हमे दी हैं। उसने केवल हमे दूध ही नही दिया है, बल्कि हमारी खेती का भी सारा आधार उसी पर है। गाय तो एक मूर्तिमती करुणामयी कविता है। इस नम्र प्राणी मे करुणा ही करुणा दिखाई देती है। भारत के लाखो मनुष्यो की वह माता है। गो-रक्षा का अर्थ है ईश्वर की सम्पूर्ण मूक-सृष्टि की रक्षा। लेकिन प्राचीन कवियो ने, फिर वे चाहे कोई हो, गाय से ही श्रीगणेश किया। सृष्टि की नीची श्रेणी के प्राणियो को वाक्शक्ति नही है। इसलिए उनकी अपील मे सबसे अधिक बल है। गो-रक्षा ससार को हिन्दू-धर्म का दिया हुआ प्रसाद है। और तबतक हिन्दू धर्म बराबर जीवित रहेगा जबतक हिन्दू लोग गो-रक्षा करने के लिए मौजूद हैं।

गो-रक्षा करने का मार्ग है—उसके लिए स्वय मर मिटना। हिन्दू-धर्म और अहिंसा यह आज्ञा नही देते कि गो-रक्षा के लिए किसी मनुष्य-प्राणी का वध करो। हिन्दुओ को तो तपस्या, आत्मशुद्धि और स्वार्थत्याग के द्वारा गो-रक्षा करने का आदेश दिया गया है। आजकल की इस गो-रक्षा ने मुसलमानो के साथ एक चिर-स्थायी शत्रुता का रूप धारण कर लिया है, हालाकि गो-रक्षा का अर्थ तो है मुसलमानो को प्रेम से अपने वशीभूत करना। एक मुसलमान मित्र ने कुछ समय पहिले, मुझे एक पुस्तक भेजी थी। उसमे सविस्तार यह बताया गया था कि हम लोग गाय के और उसकी सन्तान के साथ कैसा अमानुष व्यवहार करते है। हम किस बेरहमी के साथ खून टपकने तक उसे दुहते है—एक बूद तक दूध उसके थन मे नही रहने देते। किस तरह हम उसे भूखो मार-मारकर सुखा देते है। उसके बछडो के साथ कैसा दुर्व्यवहार करते हैं। किस तरह हम उसके हिस्से का दूध उसके पल्ले नही पडने देते। बैलो के साथ किस निष्ठुरता से पेश आते हैं। किस तरह हम उन्हे बधिया करते हैं। किस तरह हम उन्हे पीटते हैं। और कितना सारा बोझ उन पर लादते हैं। अगर उन्हे बोलने की शक्ति होती तो वे उनके प्रति किये हमारे अपराधो का बयान इस तरह अपने मुँह से करते कि सारी दुनिया दहल उठती। अपने चौपायो के प्रति अपने एक-एक निर्दयता-पूर्ण कार्य के द्वारा मानो हम ईश्वर का और हिन्दूधर्म का त्याग कर रहे हैं। इस अभागे भारतवर्ष मे चौपायो की जितनी बुरी दशा है उतनी मैं नही जानता कि दुनिया के किसी दूसरे देश मे होगी। हम अंग्रेजो को इसके लिए दोषी नही बता सकते। अपने इस अपराध के लिए हम दरिद्रता की दुहाई नही दे सकते। हमारे चौपायो की दुर्दशा का एक मात्र कारण है हमारी अक्षम्य लापरवाही। हा, हमारे पिंजरापोल हैं। वे हमारे दया-भाव की तृप्ति का साधन भी है, परन्तु है वे उन दयायुक्त कार्यों के बेढगे प्रदर्शन ही। ये नमूना-रूप दुग्धशाला और महान लाभदायक राष्ट्रीय सस्था होने के बजाय केवल अपाहिज और निर्बल गायो का सग्रह-स्थान भर हैं।

हिन्दुओ की पहिचान न तो उनके तिलक से होगी, न उनके मन्त्रो के शुद्ध घोष से, न उनके तीर्थाटन से और न जाति बन्धन के नियमो के अत्यन्त शिष्टाचार-युक्त पालन से ही होगी। बल्कि उनकी पहिचान तो उनके गो-रक्षा के सामर्थ्य से होगी। हम गो-रक्षा को अपना धर्म मानने का दावा तो बडा करते हैं, लेकिन वास्तव मे तो हमने गाय को और उसकी सन्तति को अपना गुलाम बना डाला है और खुद भी गुलाम हो गये हैं।

अब यह बात समझ मे आ जायगी कि मैं क्यो अपने को सनातनी हिन्दू समझता हू। गो के प्रति जो मेरी श्रद्धा है उसमे मैं किसी से हारनेवाला नही। मैंने खिलाफत

के कार्य को जो अपना कार्य बनाया है उसका सबब यही है कि उसकी रक्षा के द्वारा मुझे गाय की पूरी तरह रक्षा होने की सम्भावना दिखाई देती है। मैं मुसलमान भाइयो से यह नही कहता कि मेरी इस सेवा के खातिर वे गाय की रक्षा करें। मैं तो उस सर्वशक्तिमान परमात्मा से ही नित्य यह प्रार्थना करता हू कि जिस कार्य को मैंने न्याय्य समझा है उसके निमित्त की गई मेरी सेवा तेरी इतनी प्रसन्नता का कारण हो कि जिससे तू मुसलमानो के हृदयो को बदल दे, उन्हे अपने हिन्दू भाइयो के प्रति दया-भाव से परिपूर्ण कर दे और उनके द्वारा उस प्राणी की रक्षा करा जिसे हिन्दू लोग अपने प्राणो की तरह प्यारा मानते हैं।

हिन्दू धर्म के प्रति मेरी जो भावना है उसका वर्णन मैं अपनी धर्मपत्नी के प्रति मेरी भावना से बढकर नही कर सकता। वह मेरे हृदय पर जितना अधिकार कर सकती हैं उतना दुनिया की कोई स्त्री नहीं कर सकती। इसका कारण यह नही कि वह निर्दोष है। मैं कह सकता हू कि जितने दोष मैंने उसमे पाये है उससे भी अधिक दोष उसमे होगे। लेकिन उसके हृदय मे एक अटूट बन्धन की भावना है। इसी प्रकार हिन्दू-धर्म के लिए और उसके विषय मे उसके तमाम दोषो और कमियो के होते हुए भी मेरे हृदय मे प्रेम की भावना है। गीता और तुलसीदास की रामायण के सगीत से जो स्फूर्ति और उत्तजना मुझे मिलती है वैसी और किसी से नही मिलती। हिन्दूधर्म मे यही दो ग्रन्थ ऐसे है जिनके विषय मे कहा जा सकता है कि मैंने देखे हैं। जब मैंने देखा था कि अब मेरे अन्त की घडी आ पहुची है, बस एक मात्र गीता ही मेरी शान्ति का—सात्वना का साधन थी। आज तमाम बडे-बडे हिन्दू धर्म-मन्दिरो मे जो पापाचार हो रहा है उसे मैं जानता हूं, लेकिन उनकी इन अवर्णनीय त्रुटियो के होते हुए भी मेरा प्रेम उनपर है। उनके अन्दर मुझे एक ऐसी दिलचस्पी होती है जो और कही नही मिलती। मैं शुरू से अखीर तक सुधारक हूं। लेकिन यह मेरी उत्सुकता मुझसे यह नही कहती कि हिन्दू-धर्म की किसी भी आवश्यक बात को रद कर दो। मैं ऊपर कही कह चुका हू कि मैं मूर्ति-पूजा मे अविश्वास नही रखता। हा, किसी मूर्ति को देखकर मेरे हृदय मे किसी प्रकार के आदर की भावना जाग्रत नही होती। लेकिन मेरा ख्याल है कि मूर्तिपूजा मानवी स्वभाव का एक अग है। हमे स्थूल उपकरण का सहारा लेना पडता है। गिरजा मे चित्त जितना एकाग्र हो जाता है उतना दूसरी जगह क्यो नही होता? क्या यह मूर्ति-पूजा ही का एक भेद नही है? प्रतिमाओ से पूजा-आराधना मे सहायता मिलती है। कोई हिन्दू प्रतिमा को ही स्वय ईश्वर नही मानता। मैं मूर्ति-पूजा को पाप नही समझता।

ऊपर की बातो से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दू-धर्म सकुचित धर्म नहीं है। उसमे ससार के समस्त पैगम्बरों की पूजा के लिए गुजाइश है। यह कोई मिशनरी—

किसी धर्म मत का प्रचार करनेवाला—धर्म नहीं है। हाँ, इसमें कितनी ही भिन्न-भिन्न जातियों का समावेश हुआ है, परन्तु उनकी यह तद्रूपता विकासात्मक और अत्यन्त सूक्ष्म है। हिन्दू धर्म तो हरएक मनुष्य से यह कहता है कि तुम अपने विश्वास या धर्म के अनुसार ईश्वर का भजन-पूजन करो और, इस प्रकार वह दूसरे समस्त धर्मों के साथ मेल-जोल से रहता है।

हिन्दू-धर्म के सम्बन्ध में मेरा यह मत है। और इसीलिए छुआछूत के विषय में मेरा मत अनुकूल नहीं रहा है। मैं इसे सदा से एक अनावश्यक बात मानता आ रहा हूँ। हाँ, यह सच है कि यह प्रथा हमारे यहाँ परम्परा से चली आ रही है। और दूसरी भी ऐसी कितनी ही प्रथाएँ आज तक प्रचलित हैं। बड़ी शरम की बात होगी अगर मैं यह ख्याल करने लगूँ कि लड़कियों का वस्तुतः वेश्या-वृत्ति के लिए समर्पित कर देना हिन्दू-धर्म का एक अंग है। परन्तु मैं तो देखता हूँ कि हिन्दुस्तान के कितने ही भागों के हिन्दुओं में यह बात प्रचलित है। काली को बकरे का बलिदान करना मैं बिल्कुल अधर्म मानता हूँ और इसे मैं हिन्दू धर्म का अंग नहीं मानता। हिन्दू धर्म तो कई युगों के विकास का फल है। हिन्दू धर्म नाम तो हिन्दुस्तान के रहनेवाले लोगों के धर्म का विदेशियों-द्वारा रखा हुआ नाम है। हाँ, इसमें कोई शक नहीं कि किसी जमाने में धर्म के नाम पर जीवों का बलिदान हुआ करता था। पर वह धर्म नहीं है और हिन्दू-धर्म तो और भी नहीं है। और इसी तरह मुझे तो यह भी जान पड़ता है कि जब हमारे पूर्वजों ने गो-रक्षा का एक अटल सिद्धान्त बना दिया तब जिन लोगों ने गोमांस खाना नहीं छोड़ा उनके साथ व्यवहार करना बन्द कर दिया गया। यह झगड़ा खूब ही बढ़ा होगा। जो लोग इस नियम को न मानते थे, न केवल उन्हीं का बहिष्कार किया गया, बल्कि उनके पाप का फल उनकी सन्तान को भी भोगना पड़ा। इस तरह यह क्रम जो कि बहुत करके अच्छे ही हेतु से शुरू हुआ था, जारी रहा और अन्त को प्रथा के रूप में दृढ़ हो गया—यहाँ तक कि हमारे धर्मग्रन्थों में भी ऐसे-ऐसे श्लोकों का प्रवेश हो गया जिनके बल पर यह प्रथा चिरस्थायी हो गई। पर वास्तव में यह योग्य नहीं था और समर्थनीय तो उससे भी कम था। मेरा यह अनुमान चाहे ठीक हो या न हो, अस्पृश्यता तर्क के और दया, करुणा और प्रेम भाव के विरुद्ध तो अवश्य है। जो धर्म गो-पूजा की स्थापना करता है वह भूलकर भी मनुष्य-प्राणी के निर्दयतापूर्ण और अमानुष बहिष्कार को न तो आवश्यक मान सकता है और न उसे जारी ही रख सकता है। और मैं तो अछूत जातियों को अपने से अलग रखने की अपेक्षा अपने शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाने से अधिक सन्तुष्ट रहूँगा। अगर हिन्दू लोग अपने उच्च और उदात्त धर्म को, अस्पृश्यता के कलंक को कायम रखते हुए, निन्दनीय बनायेंगे

तो वे अवश्य ही कभी न तो स्वतन्त्रता के योग्य होगे और न उसे प्राप्त ही कर सकेंगे। और चूकि मैं हिन्दू धर्म को अपने प्राण से भी अधिक प्यार करता हू, यह कलक मेरे लिए एक असह्य भार हो गया है। अपनी जाति के पचमाश मनुष्यो को बराबरी के साथ रहने-धरने का अधिकार देने से इन्कार करके हम ईश्वर से मुँह न मोडे।
—महात्मा गांधी संकलन, गांधी हिन्दी पुस्तक भण्डार, बम्बई, संस्करण पौष १९७८]

धर्म
४
हिन्दू धर्म-
-व्यवहारपक्ष
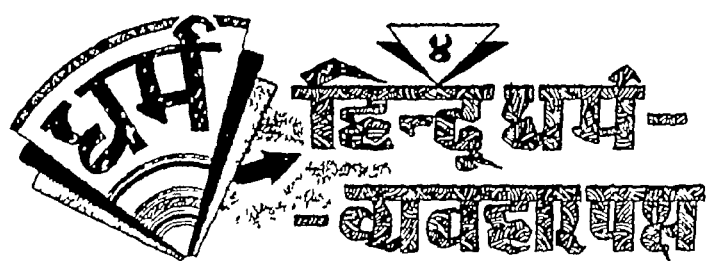
१. हिन्दू-धर्म

[जोहानिसबर्ग थियोसाफिकल लाज के मेसानिक टेम्पल मे आयोजित गाधी जी के भाषण से।—सम्पा०]

बुद्ध के उपदेशो के प्रभाव से जो आन्तरिक सुधार हुए उनके बाद हिन्दू-धर्म मूर्तिपूजा का अत्यधिक अभ्यस्त हो गया। हिन्दू दार्शनिक ईश्वर को सरलता से शुद्धतम आत्मा के रूप मे जानते और पूजते थे तथा अद्वैतवाद के आधार पर उच्चतम कल्पना तक पहुच जाते थे। इसी भाँति अज्ञान जन-साधारण इससे निम्नतम अवस्था मे गिर जाते थे। यदि बाल-बुद्धि ईश्वर का अनुभव निर्गुण आत्मा के रूप मे नही कर पाती तो उसके विविध सगुण रूपो के माध्यम से उसको पूजने मे उसको कोई कठिनाई नही होती। अनेक उसे सूर्य, चन्द्र और तारो के माध्यम से पूजते है और अनेक उसे लकडी-पत्थर के रूप मे भी पूजते है। दर्शन-प्रधान हिन्दू-धर्म को सहिष्णु-भावना के कारण पूजा का यह प्रकार अगीकार करने मे कोई कठिनाई नही हुई। इस प्रकार हिन्दू-जीवन का चक्र आनन्द से चलता रहा। किन्तु तभी अरब के मरुस्थल मे एक ऐसी शक्ति उदित हुई जो विचारो मे क्रान्ति उत्पन्न किये बिना और जीवन पर अपनी स्थायी छाप छोडे बिना रह नही सकती थी। मुहम्मद बचपन से ही अपने आसपास के लोगो को मूर्तिपूजा, विलासपूर्ण असयम और शराबखोरी मे डूबा देखकर मन ही मन क्रोध से सुलगते रहते थे। उन्होने मूसा और ईश्वर की ही तरह अनुभव किया कि उनके पास एक दिव्य सन्देश है। उन्होने ससार को अपना सन्देश देने का निश्चय किया और पहिले अपने कुटुम्बी-जनो की को उसका पात्र चुना। वाशिगटन इर्विंग ने इस्लाम धर्म पर अपने ग्रन्थ मे प्रश्न उठाया है, अपनी पहिली अवस्था मे इस्लाम के पास तलवार चलानेवाले लोग कहा थे? उनके विचारो मे इस्लाम की सफलता का कारण अधिकतर उसकी सादगी और मनुष्य की कमजोरियो की स्वीकृति है। मुहम्मद ने सिखाया कि ईश्वर एक और केवल एक है, और वह उसके पैगम्बर हैं। उन्होने यह भी सिखाया कि आत्मोत्थानकारी प्रभाव के रूप मे प्रार्थना नितान्त आवश्यक है। जो कर सकें ऐसे अपने समस्त अनुयायियो को उन्होने, वर्ष मे भले ही एक बार, इकट्ठा होने के लिए मक्का की यात्रा का विधान किया। और यह मानकर

कि लोग धन-संग्रह करेंगे, उन्होने अपने अनुयायियो से अनुरोध किया कि वे उसका एक निश्चित अश दान-कार्य के लिए धर्म-बुद्धि से अलग सुरक्षित कर दें। बहरहाल इस्लाम की मुख्य ध्वनि उसकी समता की भावना थी। जो उसके दायरे मे आये उसने उन सबको ऐसे भाव से समान व्यवहार प्रदान किया जैसे भाव से ससार के किसी और धर्म ने नही किया था। इसलिए जब ईसा के ९०० वर्ष बाद उसके अनुयायियो ने भारत पर चढाई की, तब हिन्दू धर्म किंकर्त्तव्य-विमूढ हो गया। उसे ऐसा लगा कि इस्लाम को सफलता मिलकर रहेगी। जाति-भेद से त्रस्त जनता पर समता के सिद्धान्त का प्रभाव पडे बिना नही रह सकता था। इस आन्तरिक शक्ति के साथ तलवार की ताकत भी जोड दी गई। वे कट्टर हमलावर, जो समय-समय भारत मे आ घुसते थे, यदि समझा-बुझाकर सम्भव न होता तो तलवार के बलपर धर्म-परिवर्तन करने मे हिचकते नही थे। मूर्तियों पर मूर्तिया तोडते हुए उन्होने लगभग सारा देश रौंद डाला और यद्यपि राजपूती शौर्य हिन्दुत्व की ओर था, किन्तु वह इस्लाम के अचानक हमले से उसकी रक्षा करने मे असमर्थ रहा। प्रारम्भ मे हिन्दू-धर्म की भावना के अनुरूप दोनो धर्मों के समन्वय का प्रयत्न किया गया। वाराणसी मे लगभग १३वी शताब्दी मे कबीर नाम के एक सन्त हुए जिन्होने हिन्दू धर्म के प्रधान सिद्धान्तो को अक्षुण्ण रखकर और थोडा-बहुत इस्लाम से लेकर दोनो धर्मों के एकीकरण की चेष्टा की, किन्तु उनका वह प्रयत्न बहुत सफल नही हुआ। जहा से होकर मुसलमान विजेता भारत मे बडी सख्या मे घुसे और जिसने उनकी पहिली अनी को झेला, उस पजाब ने सिख-धर्म के सस्थापक गुरु नानक को जन्म दिया। उन्होंने अपने धर्म के सिद्धान्त कबीर से लिये और उनमे लडाकू हिन्दू-तत्व को मिलाया। उन्होंने मुस्लिम भावनाओ का आदर करते हुए समझौते के लिए हाथ बढाया, किन्तु यदि वह स्वीकार नही किया गया तो वह इस्लाम के आक्रमण से हिन्दू-धर्म की रक्षा करने के लिए भी, उतने ही तैयार थे। और इस तरह सिख-धर्म इस्लाम का सीधा परिणाम था। यह सर्वविदित है कि सिख कैसा बहादुर होता है और उसने ब्रिटिश सत्ता की क्या सेवा की है। हिन्दू धर्म पर इस्लाम का यह प्रभाव हुआ कि उसने सिख धर्म को जन्म दिया और धर्म के एक प्रधान गुण अर्थात् सहिष्णुता को उसके सच्चे और पूर्ण रूप मे व्यक्त किया। जिन दिनो कोई राजनीतिक प्रभाव काम नही करते होते थे तब बिना कठिनाई के हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे की भावना का आदर करते हुए और बिना किसी विघ्न-बाधा के अपना-अपना धर्म पालते हुए पूर्ण शान्ति और सद्भावना के साथ रहते थे। हिन्दू-धर्म ने ही इस्लाम को अकबर दिया, जिसने अपनी अचूक अन्तर्दृष्टि मे सहिष्णुता की भावना को पहि-

चाना और भारत पर शासन करने मे उसे स्वय अपनाया। इसके सिवा हिन्दू-धर्म ने अपना लचीलापन इस तरह भी जाहिर किया कि भयानक सघर्ष के बाद भी विशिष्ट वर्गो और साधारण जनता का बहुत बडा भाग एकदम अप्रभावित रह गया और हिन्दू-धर्म सघर्ष मे से ऐसा तरोताजा होकर निकला जैस हम शीतल जल मे से स्नान करने के बाद तेजस्वी होकर निकलते है। इसमे सन्देह नही कि पहिला धक्का जोर का लगा था, किन्तु जल्दी ही हिन्दू-धर्म ने दृढता से अपने को फिर स्थापित कर लिया।

—जोहानिसवर्ग, ११।३।१९०५। अग्रेजी से। स्टार, १८।३।१९०५। स० गा० गा० खण्ड ४, पृष्ठ ४०२, ०३, ०४]

२. यज्ञोपवीत और तदनुकूल आचरण

[श्री मणिलाल गाधी को लिखे पत्र से।]

तुमने यज्ञोपवीत ले लिया है। मैं चाहता हूँ कि तुम उसके अनुरूप आचरण करो। ऐसा लगता है कि सूर्योदय के पहिले जागना विधिवत् सन्ध्या करने के लिए लगभग अनिवार्य है। इसलिए नियमित समय पर काम करने का प्रयत्न अवश्य करो। मैंने इस सम्बन्ध मे बहुत विचार किया है। और कुछ पढा भी है। मैं स्वामी जी[1] के प्रचार से सम्मानपूर्वक असहमति प्रकट करता हूँ। मेरे विचार से जिन्होने युगो से यज्ञोपवीत छोड दिया है उसका यज्ञोपवीत ग्रहण करना भूल है। इस समय भी शूद्रो और अन्य वर्णों मे बहुत कृत्रिम भेद है इसलिए यज्ञोपवीत आज सहायक होने की अपेक्षा बाधक अधिक है। मैं इस विचार पर अधिक विस्तृत चर्चा करना पसन्द करता, लेकिन इस समय नही कर रहा हूँ। मैं जानता हूँ कि इन विचारो को ऐसे व्यक्ति के समक्ष प्रकट कर रहा हूँ, जिसने इस विषय के अध्ययन मे सारा जीवन लगा दिया है। फिर भी, मैने सोचा कि मै जो कुछ सोचता रहा हूँ, वह स्वामी जी तक पहुँचा दूँ। मैंने गायत्री-मन्त्र का अध्ययन किया है। मैं उसके शब्दो को पसन्द करता हूँ। मुझे स्वामी जी ने जो पुस्तक दी थी, वह भी मैंने पढी है। इसके अध्ययन से मैंने बहुत लाभ उठाया है। इसने मुझे स्वामी दयानन्द के जीवन के सम्बन्ध मे अधिक जिज्ञासु बना दिया है। मैं देखता हूँ कि उनका गायत्री और वाजसनेय उपनिषद् के कई मन्त्रो का अर्थ सनातनधर्मी विद्वानो

---

१ हिन्दू-धर्म के प्रचार हेतु सन १९०८-९ मे दक्षिण अफ्रीका-भ्रमण करनेवाले स्वामी शकरानन्द।

यदि विभीषण प्रभु रामचन्द्र के पास निःस्वार्थ बुद्धि से गये तो उनका ऐसा करना बिल्कुल ठीक था। अपने सगे भाई के दोष भी प्रभु से कौन छिपाना चाहेगा? और भाई के दोष दूर करने के लिए प्रभु की सहायता माँगना भी ठीक ही है।

तुमने भागवत का जो श्लोक उद्धृत किया है, हमे उसके शब्दार्थ का आग्रह नही करना चाहिए। कृष्ण की लीला तो कृष्ण ही जानते हैं। वे यदि कामना-पूर्वक भी कुछ करते हो तो भी हम स्थूल देहधारी प्राणी वैसा नही कर सकते। उनकी प्रभुता उन्हे (नियमो के बन्धन से) छूट देती है, हम ऐसी छूट नही ले सकते। इसके सिवा यह भी याद रखना चाहिए कि कृष्ण के विषय मे भागवत्-कार ने अपने ज्ञान की सीमा के अनुसार ही तो लिखा है। कृष्ण के वास्तविक स्वरूप को कोई नही जानता।

— जोहानिसबर्ग। श्रावण सुदी ६, ७।८।१९१३। स० वां० वां०, खण्ड १२ पृष्ठ १४८]

- **हमें...लिखे या बोले गये शब्दों से सार की बात ग्रहण करनी है।**
- **...ज्ञान और अज्ञान दोनों साथ-साथ चलते हैं।**
- **हमारा पहिला सूत्र है कि आत्मा को जानें; कृष्ण की लीला तो कृष्ण ही जानते हैं।**
- **कृष्ण के वास्तविक स्वरूप को कोई नहीं जानता।**

८. धर्म का अनुसरण

इस देश का धर्म हिन्दू-धर्म है। हिंसा से अर्थात् पशुओ तक के प्राण लेने से बचना, मेरा विश्वास है कि सही सिद्धान्त और सब धर्मों का मूल सिद्धान्त है। हिन्दू-धर्म के अनुसार बुरा करनेवाले से भी घृणा नही करनी चाहिए। वह कहता है, किसी को बुरा करनेवाले की भी हत्या करने का अधिकार नही है।..

.मैं अपने नौजवान दोस्तो को सलाह दूंगा कि वे निर्भय और सच्चे बनें तथा धर्म के सिद्धान्तो का अनुसरण करें। यदि उनके पास देश के लिए कोई कार्यक्रम है तो उन्हे चाहिए कि उसे खुलेआम जनता के सामने रखें। जो नौज-वान यहाँ उपस्थित हैं उनसे मैं इस अपील के साथ अपना भाषण समाप्त करता हूँ कि वे धार्मिक बनें और धर्म तथा नैतिकता की भावना से परिचालित हों।

— विद्यार्थी भवन, कलकत्ता में दिये भाषण से। ३१।३।१९१५। अमृत बाजार पत्रिका, १।४।१९१५। सं० गां० वां०, खण्ड १३, पृ० ४८]

९. धर्म एवं आस्था

आपको उस अनुपम ग्रन्थ रामायण के रावण और राम तथा इन्द्रजित और लक्ष्मण के दृष्टान्त स्मरण होगे। लक्ष्मण और इन्द्रजित दोनो के गुण समान थे। दोनो ने तप किया था, दोनो ने एक सीमा तक आत्म-नियन्त्रण की शक्ति प्राप्त की थी। इसलिए इन्द्रजित को जीतना अत्यन्त कठिन कार्य था। किन्तु हम देखते है कि इन्द्रजित के पास जो कुछ था, वह निकम्मा सावित हुआ, जब कि लक्ष्मण के पास जो कुछ था, वह न केवल उनके लिए और वह जिस पक्ष से लड रहे थे उसके लिए, बल्कि हमारे लिए भी बडे काम का सावित हुआ, क्योकि वे हमारे लिए एक ऐसी निधि छोड गये है, जिसे हम सँजोकर रखते हैं, जिसके मूल्य को हम पहिचानते हैं। तब लक्ष्मण के पास कौन-सा अतिरिक्त गुण था? लक्ष्मण दैवी शक्ति की प्रेरणा पर चलते थे। उन्हे धर्म का बोध था। उनका जीवन सिद्धान्त से निर्देशित होता था, उनके जीवन का आधार धर्म था, जब कि इन्द्रजित के जीवन का आधार अधर्म था। इन्द्रजित नही जानता था कि वह कहाँ जा रहा है। धर्म-हीन जीवन का दूसरा नाम सिद्धान्त-हीन जीवन है, और बिना सिद्धान्त का जीवन बिना पतवार की नौका के समान है। जिस प्रकार बिना पतवार की नौका और उसका माँझी इधर-उधर भटकते फिरेंगे और उन्हे अपनी मजिल कभी नही मिलेगी, उसी प्रकार जिस व्यक्ति को धर्म का बल प्राप्त नही है, जिसकी धर्म मे गहरी आस्था नही है, वह इस तूफानी ससार-सागर मे इधर से उधर भटकता रह जायगा, किन्तु उसे अपनी मजिल कभी न मिल पायगी, अत प्रत्येक समाज-सेवी को मेरा सुझाव है कि वह इस भ्रम मे न रहे कि वह धर्म के बोध और दैवी प्रेरणा द्वारा शुद्धीकृत इन दो गुणो के बिना अपने देशभाइयो की सेवा कर सकेगा।

—सोशल सर्विस लीग, मद्रास की सभा मे दिये गये भाषण से, १६।२।१९१६। अंग्रेजी से। हिन्दू, १७।२।१९१६। स० गा० वा०, खण्ड १३, पृ० २३८]

● धर्म-हीन जीवन का दूसरा नाम सिद्धान्त-हीन जीवन है।

१०. चातुर्वर्ण : वर्णाश्रम

प्रश्न—चातुर्वर्ण के विषय मे आपकी क्या सम्मति है?

उत्तर—यह सस्था बहुत अच्छी है। इसने देश का बडा उपकार किया है। इसका रहना बहुत जरूरी है।

प्रश्न—हिन्दू समाज में यदि चार ही वर्ण हैं और वे ऐसे ही रहेंगे तो अछूत जातियों को आप किस वर्ण में गिनते हैं।

उत्तर—अछूत जातियो का अस्तित्व चातुर्वर्ण की ज्यादती है। चातुर्वर्ण ने अनुचित रूप से ज्यादती करके इन जातियो को बहिष्कृत किया है। इनका स्थान चातुर्वर्ण के अन्दर ही है। ...

—लखनऊ मे ली गई भेंट से, २९ से ३१ दिसम्बर १९१६ के लगभग। महात्मा गांधी। सं० गां० वां०, खण्ड १३, पृ० ३२६]

११. गोरक्षा : समस्या और समाधान

गोरक्षिणी सभा ने मुझे इस शहर मे गोशाला का शिलान्यास करने का काम सौंपा है, इसके लिए मैं सभा का और आप सबका आभार मानता हूँ। हिन्दुओ की दृष्टि मे यह कार्य बहुत पवित्र है। गाय की रक्षा करना हर भारतीय का मुख्य कार्य है। फिर भी यह महान् कार्य करने की हमारी जो पद्धति है, उसमे मैंने अनेक दोष पाये हैं। इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर मैंने थोडा-बहुत विचार किया है, आपकी इजाजत से मैं उसे आपके सामने रखना चाहता हूँ।

आजकल गोरक्षा के दो ही अर्थ रह गये है। एक तो यह कि बकरीद आदि के अवसरो पर गोमाता को अपने मुसलमान भाइयो के हाथो से छुडाना और दूसरा यह कि दुर्बल गायो के लिए गोशालाएँ बनवाना।

मुसलमान भाइयों के हाथो से गोमाता की रक्षा करने का हमारा तरीका ठीक नही है। उसका परिणाम यह हुआ है कि भारत की इन दो बडी जातियो के बीच हमेशा वैर-भाव और अविश्वास बना रहता है। और कही-कही तो इन दोनो के बीच मारपीट भी हो जाती है। अभी हाल मे ही शाहाबाद जिले मे जो मारपीट हुई थी, वह मेरे इस कथन का समर्थन करती है। यह ऐसा प्रश्न है, जिस पर दोनो जातियो को गभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए। सैकडो हिन्दू भाइयो ने निरपराध मुसलमान भाइयो के घरबार लूटकर बडा उत्पात मचाया। इसमे पुण्य की तो गुजाइश ही कैसे हो सकती है? वह घोर पाप का काम था।

वास्तव मे गोरक्षिणी सभा के कार्यों मे, गायो की रक्षा होने के बदले उनकी हानि ही अधिक होती है। अहिंसा को हिन्दू-धर्म मे मुख्य स्थान दिया गया है। गाय की रक्षा करने के लिए मुसलमान की हत्या करना बिल्कुल अधर्म है। अगर हम चाहते हो कि उनके हाथो गाय की हत्या न हो, तो उनका हृदय-परिवर्तन करने

की जरूरत है। यह काम हम जोर-जबरदस्ती से नही कर सकते। हमे तो प्रार्थना और नम्रता के बल पर उनके हृदय मे प्रवेश करना है। इस प्रकार उनके अन्तर के दयाभाव को जाग्रत करके हम यह कार्य सिद्ध कर सकते हैं। इस तरह काम करने के लिए हमे यह प्रतिज्ञा लेनी होगी कि मैं गोरक्षा के लिए काम करूँगा, और ऐसा करने मे मुसलमान भाइयो के प्रति द्वेष या वैरभाव नही रखूँगा। उसी तरह उनपर क्रोध नही करूँगा और न उनके साथ मार-पीट करूँगा। ऐसा अभय-दान देने के बाद ही हम उनके साथ बात करने के अधिकारी हो सकते है। यह याद रखना है कि हम जिन बातो को पाप समझते है, उन्हे हमारे मुसलमान भाई पाप नही समझते। इतना ही नही, किसी-किसी अवसर पर तो गाय की हत्या करना वे पुण्य समझते हैं। अपने धर्म का पालन प्रत्येक मनुष्य के लिए जरूरी है। यदि इस्लाम का कोई ऐसा आदेश होता कि गाय की कुरबानी हर हालत मे जरूरी है, तो भारत मे वास्तविक शान्ति कभी न रह पाती। लेकिन मैं तो ऐसा समझता हूँ कि बकरीद आदि त्योहारो मे गाय का वध करना कोई धार्मिक कर्त्तव्य नही है। परन्तु जब हम जोर-जुल्म करके गोवध रोकना चाहते है, तब मुसलमान भाई मान लेते है कि गोवध करना उनका धार्मिक कर्त्तव्य है। जो भी हो, मेरा यह दृढ विश्वास है कि इस समस्या का समाधान केवल तपश्चर्या से हो सकता है। ऐसे अवसर पर गाय के लिए प्राण देना हमारी अन्तिम तपश्चर्या होगी।

ऐसी घोर तपश्चर्या करने का भी सब हिन्दुओ को अधिकार नही है। दूसरो को पापकर्म से विमुख करनेवालो को स्वय पापकर्म से मुक्त होना चाहिए। हिन्दू-जगत् गाय और गो-वंश पर बहुत बडा अत्याचार कर रहा है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमारी गायो की वर्तमान दशा है, जिनका रक्त-मास सूख गया है, जिनकी चमडी के भीतर हड्डी का ढाँचा साफ नजर आता है, जिन्हे पूरी खुराक नही मिलती, जिन पर मनमाना बोझ लाद दिया जाता है और जिन्हे पूँछ मरोडकर या पैने मारकर हाँका जाता है। ऐसे हजारो बैलो को जब मैं देखता हूँ तो मेरा हृदय रोता है, मेरा शरीर काँपने लगता है और मैं सोचता हूँ कि जबतक हम ऐसी घोर हिंसा करने से बाज नही आते तबतक मुसलमान भाइयो से क्या कह सकते है ? हमारी स्वार्थ-बुद्धि इतनी प्रबल है कि गाय का सारा दूध दुहते हुए हमे तनिक भी शर्म नही आती। कलकत्ते की डेरियो मे तो बछडो को माँ के दूध के बिना ही रखा जाता है। वहाँ फूंके की क्रिया से गायो का सारा दूध निकाल दिया जाता है। इन डेरियो के मालिक और व्यवस्थापक सब हिन्दू ही होते है और दूध पीने-वालो मे भी बडी सख्या हिन्दुओ की ही है। जबतक ऐसी डेरिया चलती है और वहाँ का दूध हम पीते हैं, तबतक हमे मुसलमान भाइयो से एक शब्द भी कहने

प्रश्न—हिन्दू समाज में यदि चार ही वर्ण हैं और वे ऐसे ही रहेंगे तो अछूत जातियों को आप किस वर्ण में गिनते हैं।

उत्तर—अछूत जातियो का अस्तित्व चातुर्वर्ण की ज्यादती है। चातुर्वर्ण ने अनुचित रूप से ज्यादती करके इन जातियो को बहिष्कृत किया है। इनका स्थान चातुर्वर्ण के अन्दर ही है। . . .

— लखनऊ में ली गई भेंट से, २९ से ३१ दिसम्बर १९१६ के लगभग। महात्मा गांधी। सं० गां० वां०, खण्ड १३, पृ० ३२६]

११. गोरक्षा : समस्या और समाधान

गोरक्षिणी सभा ने मुझे इस शहर मे गोशाला का शिलान्यास करने का काम सौंपा है, इसके लिए मै सभा का और आप सबका आभार मानता हूँ। हिन्दुओ की दृष्टि मे यह कार्य बहुत पवित्र है। गाय की रक्षा करना हर भारतीय का मुख्य कार्य है। फिर भी यह महान् कार्य करने की हमारी जो पद्धति है, उसमे मैंने अनेक दोष पाये हैं। इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर मैंने थोडा-बहुत विचार किया है, आपकी इजाजत से मैं उसे आपके सामने रखना चाहता हूँ।

आजकल गोरक्षा के दो ही अर्थ रह गये है। एक तो यह कि बकरीद आदि के अवसरो पर गोमाता को अपने मुसलमान भाइयो के हाथो से छुडाना और दूसरा यह कि दुर्बल गायो के लिए गोशालाएँ बनवाना।

मुसलमान भाइयों के हाथो से गोमाता की रक्षा करने का हमारा तरीका ठीक नही है। उसका परिणाम यह हुआ है कि भारत की इन दो बडी जातियो के बीच हमेशा वैर-भाव और अविश्वास बना रहता है। और कही-कही तो इन दोनो के बीच मारपीट भी हो जाती है। अभी हाल मे ही शाहाबाद जिले मे जो मारपीट हुई थी, वह मेरे इस कथन का समर्थन करती है। यह ऐसा प्रश्न है, जिस पर दोनो जातियो को गभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए। सैकडो हिन्दू भाइयो ने निरपराध मुसलमान भाइयो के घरबार लूटकर बडा उत्पात मचाया। इसमे पुण्य की तो गुजाइश ही कैसे हो सकती हे? वह घोर पाप का काम था।

वास्तव मे गोरक्षिणी सभा के कार्यो से, गायो की रक्षा होने के बदले उनकी हानि ही अधिक होती है। अहिंसा को हिन्दू-धर्म मे मुख्य स्थान दिया गया है। गाय की रक्षा करने के लिए मुसलमान की हत्या करना बिल्कुल अधर्म है। अगर हम चाहते हो कि उनके हाथो गाय की हत्या न हो, तो उनका हृदय-परिवर्तन करने

की जरूरत है। यह काम हम जोर-जबरदस्ती से नही कर सकते। हमे तो प्रार्थना और नम्रता के बल पर उनके हृदय मे प्रवेश करना है। इस प्रकार उनके अन्तर के दयाभाव को जाग्रत करके हम यह कार्य सिद्ध कर सकते हैं। इस तरह काम करने के लिए हमे यह प्रतिज्ञा लेनी होगी कि मैं गोरक्षा के लिए काम करूँगा, और ऐसा करने मे मुसलमान भाइयो के प्रति द्वेष या वैरभाव नही रखूंगा। उसी तरह उनपर क्रोध नही करूँगा और न उनके साथ मार-पीट करूँगा। ऐसा अभय-दान देने के बाद ही हम उनके साथ बात करने के अधिकारी हो सकते है। यह याद रखना है कि हम जिन बातो को पाप समझते है, उन्हे हमारे मुसलमान भाई पाप नही समझते। इतना ही नही, किसी-किसी अवसर पर तो गाय की हत्या करना वे पुण्य समझते है। अपने धर्म का पालन प्रत्येक मनुष्य के लिए ज़रूरी है। यदि इस्लाम का कोई ऐसा आदेश होता कि गाय की कुरबानी हर हालत मे जरूरी है, तो भारत मे वास्तविक शान्ति कभी न रह पाती। लेकिन मै तो ऐसा समझता हूँ कि बकरीद आदि त्यौहारो मे गाय का वध करना कोई धार्मिक कर्त्तव्य नही है। परन्तु जब हम जोर-जुल्म करके गोवध रोकना चाहते है, तब मुसलमान भाई मान लेते है कि गोवध करना उनका धार्मिक कर्त्तव्य है। जो भी हो, मेरा यह दृढ विश्वास है कि इस समस्या का समाधान केवल तपश्चर्या से हो सकता है। ऐसे अवसर पर गाय के लिए प्राण देना हमारी अन्तिम तपश्चर्या होगी।

ऐसी घोर तपश्चर्या करने का भी सब हिन्दुओ को अधिकार नही है। दूसरो को पापकर्म से विमुख करनेवालो को स्वय पापकर्म से मुक्त होना चाहिए। हिन्दू-जगत् गाय और गो-वश पर बहुत बडा अत्याचार कर रहा है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमारी गायो की वर्तमान दशा है, जिनका रक्त-मास सूख गया है, जिनकी चमडी के भीतर हड्डी का ढाँचा साफ नजर आता है, जिन्हे पूरी खुराक नही मिलती, जिन पर मनमाना बोझ लाद दिया जाता है और जिन्हे पूंछ मरोडकर या पैने मारकर हाँका जाता है। ऐसे हजारो बैलो को जब मैं देखता हूँ तो मेरा हृदय रोता है, मेरा शरीर काँपने लगता है और मैं सोचता हूँ कि जबतक हम ऐसी घोर हिंसा करने से बाज़ नही आते तबतक मुसलमान भाइयो से क्या कह सकते है? हमारी स्वार्थ-बुद्धि इतनी प्रबल है कि गाय का सारा दूध दुहते हुए हमे तनिक भी शर्म नही आती। कलकत्ते की डेरियो मे तो बछडो को माँ के दूध के बिना ही रखा जाता है। वहाँ फूंके की क्रिया से गायो का सारा दूध निकाल दिया जाता है। इन डेरियो के मालिक और व्यवस्थापक सब हिन्दू ही होते है और दूध पीने-वालो मे भी बडी सख्या हिन्दुओ की ही है। जबतक ऐसी डेरिया चलती है और वहाँ का दूध हम पीते हैं, तबतक हमे मुसलमान भाइयो से एक शब्द भी कहने

का क्या अधिकार है? यह भी विचारने योग्य बात है कि सारे भारत के शहर कसाईखाने बन गये हैं। वहां हजारों गायों और बैलों का वध होता और अधिकांश अंग्रेज भाइयों को मांस वहीं से दिया जाता है। इस विषय में सारा हिन्दू-जगत् चुप है और उस हत्या को बन्द करने में वह अपने-आपको असमर्थ मानता है।

जबतक हम ऐसे घोर हत्याकाण्ड को नहीं रोक पाते, तबतक मुसलमानों के दिलों पर असर डालना या उनसे गायों की रक्षा कराना मुझे असम्भव मालूम होता है। इसलिए हमारा दूसरा काम अंग्रेज भाइयों के बीच आन्दोलन करना है। उसमें हम पशुबल का उपयोग नहीं कर सकते। अंग्रेज भाइयों का मन हमें अपनी तपश्चर्या और नम्रता से जीतना चाहिए। मांस का भक्षण उनके लिए कोई धार्मिक क्रिया नहीं है। उन्हें समझा पाना इस हद तक ज्यादा आसान होना चाहिए। जब हम अपने इस हिंसा-दोष से मुक्त हो जायंगे और अंग्रेज भाइयों को गोमांस-भक्षण तथा गाय-बैलों की हत्या न करने की बात समझा सकेंगे, तभी हमें मुसलमान भाइयों से इस विषय में कुछ कहने का अधिकार प्राप्त हो सकेगा। और मैं विश्वास के साथ कहता हूं कि जब हम अंग्रेज भाइयों को समझा लेंगे, तब हमारे मुसलमान भाई भी हम पर दया करके किसी दूसरी तरह की कुरबानी से अपनी धार्मिक रूढ़ि सम्पन्न कर लिया करेंगे। जब हम अपना हिंसा-दोष स्वीकार कर लेंगे, तब हमारी गोशालाओं का प्रबन्ध भी बदल जायगा। तब हम अपनी गोशालाओं में केवल कमजोर गायों को ही नहीं रखेंगे, बल्कि हृष्ट-पुष्ट गायों और बैलों को भी रखेंगे। वहां हम ढोरों की नस्ल सुधारने का प्रयत्न करेंगे और शुद्ध दूध-घी आदि भी पैदा कर सकेंगे। यह प्रश्न केवल धार्मिक ही नहीं है। इसमें हिन्दुस्तान की आर्थिक उन्नति की बात भी आ जाती है। अर्थशास्त्रियों ने अकाट्य आंकड़े देकर यह सिद्ध कर दिखाया है कि हिन्दुस्तान के बहुत से ढोर इतने कमजोर हैं कि कितने ही गाय-बैलों को रखने में जो खर्च पड़ता है उसकी तुलना में दूध बहुत कम मिलता है। हम अपनी गोशालाओं को अर्थशास्त्र के अध्ययन और इस बड़ी समस्या के माध्यम के केन्द्रों में परिणत कर दें। गोशालाओं में अभी जो अधिक खर्च आता है, उसे हमें जैसे-तैसे पूरा करना पड़ता है। मेरी कल्पना की गोशाला आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर होगी। ऐसी गोशालाएँ शहर के भीतर नहीं होनी चाहिए। शहर के बाहर सौ-दो सौ एकड़ जमीन लेकर वहाँ हम ऐसी गोशालाएँ स्थापित कर सकते हैं। उनमें गायों के लिए अनाज और हर प्रकार की घास आदि पैदा की जा सकती है। और उनके मल-मूत्र से जो कीमती खाद बनेगी, उसका हम सुन्दर उपयोग कर सकते हैं। आशा है

आप सब मेरी बातो पर पूरा ध्यान देंगे। मोतीहारी की गोरक्षिणी सभा ने मेरी उपर्युक्त सलाह स्वीकार की है। अन्त मे मेरी प्रार्थना है कि तदनुसार बेतिया और मोतीहारी की ये दोनो सस्थाएँ मिलकर इस महत् कार्य को अपने हाथो मे ले लेगी।

—बेतिया, ९।१०।१९१७। के लगभग। गुजराती से। गो-सेवा। स० गा० वा० खण्ड, १४, पृ० २,३,४]

- इस (गोवध की) समस्या का समाधान केवल तपश्चर्या से हो सकता है।
- गाय के लिए प्राण देना हमारी अन्तिम तपश्चर्या होगी।
- दूसरो को पापकर्म से विमुख करनेवालो को स्वय पापकर्म से मुक्त होना चाहिए।

१२. गोरक्षा का प्रश्न

[मुजफ्फरपुर मे दिये गये भाषण से]

हिन्दू और मुसलमानो के बीच झगडा गोमाता को लेकर खडा हुआ है। यदि हमे गाय की रक्षा करनी है तो हमे उसे कसाईखाने मे बचाना चाहिए। अंग्रेज बन्धुओ के लिए हर रोज कम से कम ३० हजार गाय और बछडे कत्ल किये जाते है। और जबतक हम इस हत्या को रोक नही पाते तबतक मुसलमान भाइयो पर हाथ उठाने का हमे कोई अधिकार नही है। अपने हिन्दू भाइयो से मै कहूँगा कि गोमाता को बचाने के लिए मुसलमान बन्धुओ का खून करना कोई धर्म नही है। हिन्दू-धर्म तो केवल एक मार्ग बताता है और वह है तपश्चर्या का मार्ग। तुलसीदास जी की वाणी मे कहे तो 'दया धर्म को मूल है'। इसलिए हमे तो दया से ही काम लेना चाहिए। गाय की रक्षा तो मैं भी करना चाहता हूँ। पर गाय के लिए मैं अपने मुसलमान भाइयो से कहूँगा कि गाय को छुरा मारने के बदले आप मेरी गर्दन पर छुरी चलावें और मेरा खून करें। मुझे विश्वास है कि मेरी यह दीन वाणी मुसलमान-बन्धु अवश्य सुनेगे। हम यदि अपनी स्वतन्त्रता चाहते है तो हमे दूसरो की स्वतन्त्रता छीन लेने का कोई अधिकार नही है। एक दूसरे की स्वतन्त्रता छीन लेने के प्रयास मे ही झगडे खडे होते है। यदि कोई मुसलमान आदेश के स्वर मे कहेगा कि कोई भी हिन्दू ढोल न बजाये तो हिन्दू कभी नही मानेगा, पर यदि अपने मुसलमान भाई नम्रतापूर्वक कहे कि आप ढोल न बजायें, हमारे धर्म-कार्य नमाज मे खलल न डालें, और यदि आप ऐसा करेंगे तो हम अपने

का क्या अधिकार है ? यह भी विचारने योग्य बात है कि सारे भारत के बडे शहर कसाईखाने बन गये है। वहाँ हजारो गायो और बैलो का वध होता है। और अधिकाश अग्रेज भाइयो को मास वही से दिया जाता है। इस विषय मे सारा हिन्दू-जगत् चुप है और उस हत्या को बन्द कराने मे वह अपने-आपको असमर्थ मानता है।

जबतक हम ऐसे घोर हत्याकाण्ड को नही रोक पाते, तबतक मुसलमानो के दिलो पर असर डालना या उनसे गायो की रक्षा कराना मुझे असम्भव-सा मालूम होता है। इसलिए हमारा दूसरा काम अग्रेज भाइयो के बीच आन्दोलन करना है। उसमे हम पशुबल का उपयोग नही कर सकते। अग्रेज भाइयो को भी हमे अपनी तपश्चर्या और नम्रता से जीतना चाहिए। मास का भक्षण उनके लिए कोई धार्मिक क्रिया नही है। उन्हे समझा पाना इस हद तक ज्यादा आसान होना चाहिए। जब हम उपर्युक्त हिंसा-दोष से मुक्त हो जायगे और अग्रेज भाइयो को गोमास-भक्षण तथा गाय-बैलो की हत्या न करने की बात समझा सकेंगे, तभी हमे मुसलमान भाइयो से इस विषय मे कुछ कहने का अधिकार प्राप्त हो सकेगा। और मैं विश्वास के साथ कहता हूँ कि जब हम अग्रेज भाइयो को समझा लेंगे, तब हमारे मुसलमान भाई भी हम पर दया करके किसी दूसरी तरह की कुरबानी से अपनी धार्मिक रूढि सम्पन्न कर लिया करेंगे। जब हम अपना हिंसा-दोष स्वीकार कर लेंगे, तब हमारी गोशालाओ का प्रबन्ध भी बदल जायगा। तब हम अपनी गोशालाओ मे केवल कमजोर गायो को ही नही रखेंगे, बल्कि हृष्ट-पुष्ट गायो और बैलो को भी रखेंगे। वहाँ हम ढोरो की नस्ल सुधारने का प्रयत्न करेंगे और शुद्ध दूध-घी आदि भी पैदा कर सकेंगे। यह प्रश्न केवल धार्मिक ही नही है। इसमे हिन्दुस्तान की आर्थिक उन्नति की बात भी आ जाती है। अर्थ-शास्त्रियो ने अकाट्य आँकडे देकर यह सिद्ध कर दिखाया है कि हिन्दुस्तान के बहुत से ढोर इतने कमजोर हैं कि कितने ही गाय-बैलो को रखने मे जो खर्च पडता है उसकी तुलना मे दूध बहुत कम मिलता है। हम अपनी गोशालाओ को अर्थ-शास्त्र के अध्ययन और इस बडी समस्या के माध्यम के केन्द्रो मे परिणत कर दे। गोशालाओ मे अभी जो अधिक खर्च आता है, उसे हमे जैसे-तैसे पूरा करना पडता है। मेरी कल्पना की गोशाला आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर होगी। ऐसी गोशा-लाएँ शहर के भीतर नही होनी चाहिए। शहर के बाहर सौ-दो सौ एकड जमीन लेकर वहाँ हम ऐसी गोशालाएँ स्थापित कर सकते है। उनमे गायो के लिए अनाज और हर प्रकार की घास आदि पैदा की जा सकती है। और उनके मल-मूत्र से जो कीमती खाद बनेगी, उसका हम सुन्दर उपयोग कर सकते हैं। आशा है,

आप सब मेरी बातो पर पूरा ध्यान देंगे। मोतीहारी की गोरक्षिणी सभा ने मेरी उपर्युक्त सलाह स्वीकार की है। अन्त मे मेरी प्रार्थना हे 'कि तदनुसार वेतिया और मोतीहारी की ये दोनो सस्थाएँ मिलकर इस महत् कार्य को अपने हाथो मे ले लेगी।

—वेतिया, ९।१०।१९१७। के लगभग। गुजराती से। गो-सेवा। स० गा० वा० खण्ड, १४, पृ० २,३,४]

- इस (गोवध की) समस्या का समाधान केवल तपश्चर्या से हो सकता है।
- गाय के लिए प्राण देना हमारी अन्तिम तपश्चर्या होगी।
- दूसरो को पापकर्म से विमुख करनेवालो को स्वय पापकर्म से मुक्त होना चाहिए।

१२. गोरक्षा का प्रश्न

[मुजफ्फरपुर मे दिये गये भाषण से]

हिन्दू और मुसलमानो के बीच झगडा गोमाता को लेकर खडा हुआ है। यदि हमे गाय की रक्षा करनी है तो हमे उसे कसाईखाने से बचाना चाहिए। अग्रेज बन्धुओ के लिए हर रोज कम से कम ३० हजार गाय और बछडे कत्ल किये जाते हैं। और जबतक हम इस हत्या को रोक नही पाते तबतक मुसलमान भाइयो पर हाथ उठाने का हमे कोई अधिकार नही है। अपने हिन्दू भाइयो से मैं कहूँगा कि गोमाता को बचाने के लिए मुसलमान बन्धुओ का खून करना कोई धर्म नही है। हिन्दू-धर्म तो केवल एक मार्ग बताता हे और वह हे तपश्चर्या का मार्ग। तुलसीदास जी की वाणी मे कहे तो 'दया धर्म को मूल है'। इसलिए हमे तो दया से ही काम लेना चाहिए। गाय की रक्षा तो मै भी करना चाहता हूँ। पर गाय के लिए मैं अपने मुसलमान भाइयो से कहूँगा कि गाय को छुरा मारने के बदले आप मेरी गर्दन पर छुरी चलावें और मेरा खून करे। मुझे विश्वास है कि मेरी यह दीन वाणी मुसलमान-बन्धु अवश्य सुनेगे। हम यदि अपनी स्वतन्त्रता चाहते है तो हमे दूसरो की स्वतन्त्रता छीन लेने का कोई अधिकार नही है। एक दूसरे की स्वतन्त्रता छीन लेने के प्रयास मे ही झगडे खडे होते हैं। यदि कोई मुसलमान आदेश के स्वर मे कहेगा कि कोई भी हिन्दू ढोल न बजाये तो हिन्दू कभी नही मानेगा, पर यदि अपने मुसलमान भाई नम्रतापूर्वक कहे कि आप ढोल न बजाये, हमारे धर्म-कार्य नमाज मे खलल न डाले, और यदि आप ऐसा करेंगे तो हम अपने

ही खून की नदी बहा देंगे, तो मैं विश्वास करता हूँ कि कोई भी हिन्दू भाई इतना नासमझ नही मिलेगा जो इस प्रार्थना के विरुद्ध व्यवहार करेगा। परन्तु सच्ची बात तो यह है कि इस सम्बन्ध मे हिन्दू और मुसलमान, किसी का भी मन साफ नही है। यदि हम मेल और प्रेम चाहते हैं तो वह मुहब्बत से ही हो सकेगा, भय दिखाकर तो कभी नही हो सकेगा, हम अपने दिल की बात कभी भी साफ-साफ नही कह पायेंगे।

—११।११।१९१७। गुजराती। 'महात्मा गांधीनी विचारसृष्टि।' सं० गां० वां० खण्ड १४, पृ० ७८-७९]

● एक दूसरे की स्वतन्त्रता छीन लेने के प्रयास में ही झगड़े खड़े होते हैं।

१३. आज वर्ण-धर्म कहाँ है ?

वर्ण की मेरी की हुई व्याख्या के अनुसार तो आज हिन्दू-धर्म मे वर्ण-धर्म का पालन होता ही नही। ब्राह्मण नाम रखनेवाले विद्या पढाना छोड बैठे है। वे दूसरे धन्धे करने लगे है। यही बात अन्य वर्णो के विषय मे भी सच है। .

—गोधरा, ५।११।१९१७ के बाद। बापू और हरिजन। स० गा० वा०, खण्ड १४, पृ० ७३]

१४. धर्म का ह्रास

[श्री रणछोड़लाल पटवारी को लिखे पत्र से।]

वैष्णव-धर्म के नाम पर इस महा-पवित्र धर्म का लोप हो रहा है। गोरक्षा के नाम पर गाय की हत्या हो रही है। धर्म के नाम पर पाखण्ड का प्रसार हो रहा है। धार्मिक होने का ढोग करनेवाले अधार्मिक लोग धर्म-सम्बन्धी नियमो का विधान करते हैं। मैं यह सब अनुभव करता हूँ तो फिर वैष्णव-धर्म की प्रतिष्ठा चाहनेवाले आप यह सब कैसे नही देख पाते? यह प्रश्न निरन्तर मेरे सम्मुख रहता है। भगी का स्पर्श करने मे कदापि पाप नही है। गाय के नाम पर मुसलमान का वध करने मे कदापि पुण्य नही है, धर्म-पुस्तको मे कदापि असत्य का प्रतिपादन नही हो सकता, स्वेच्छाचारी के हाथ मे धर्म की बागडोर कदापि नही दी जा सकती, ये सब वाक्य सूत्रो-जैसे है। इसमे मतभेद कैसे हो सकता है? . .

—मोतीहारी कार्तिक सुदी ४, १८।११।१९१७। सं० गा० वां०, खण्ड १४, पृ० ९०-९१]

१५. मन्दिर और पुरोहित

मन्दिरो को पवित्र रखे। पुरोहित को मूर्ख नही होना चाहिए। उसे ज्ञान-शील होना चाहिए। सगीत के वाद्य-यन्त्र (पूजा-हेतु) कर्ण-मधुर होने चाहिए। मूर्ति के लिए वस्त्र शुद्ध खादी या अतलस का होना चाहिए।

—२८।९।१९१९। मूल गुजराती। 'गुजराती', १२।१०।१९१९। अग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गाधी, खण्ड १६, पृ० १८८]

१६. धर्मान्तर आवश्यक नहीं

[सुश्री एडा वेस्ट को लिखे गये पत्र से]

दूसरे के धर्म के सौन्दर्य की प्रशसा-हेतु किसी को अपना धर्म बदलने की आवश्यकता नही है। मेरा हिन्दू-धर्म मुझे ईसाई-धर्म की श्रेष्ठ बाते ग्रहण करने से नही रोकता, न यह मुझे व्यवहार मे आई अपवित्रता की ओर से अन्धा ही बनाता है।

—१३।१।१९२०। मूल अग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गाधी, खण्ड १६, पृ० ४७६]

१७. मेरा हिन्दुत्व

[कुमारी एनो मेरी पीदर्सन को लिखे पत्र से]

मैं स्वय को हिन्दुओ मे पक्का हिन्दू समझता हूँ। मेरा विश्वास है कि मुझे हिन्दू-धर्म के सत्य का श्रेष्ठ बोध है। और मैंने इससे बहुमूल्य पाठ यह सीखा है कि मैं यह आशा न करूँ कि दूसरे लोग हिन्दू-धर्म स्वीकार कर ले, बल्कि यह कि वे अपने धर्म के श्रेष्ठ नमूने बन जायँ।

—१३।१।१९२०। मूल अग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गाधी, खण्ड १६, पृ० ४७७।]

- **मुझे हिन्दूधर्म के सत्य का श्रेष्ठ बोध है।**

१८. जीवहत्या और गोहत्या

[श्रीआसफअलीको लिखे पत्र से]

मेरा विचार है कि ईश्वर ने पशु-सृष्टि की क्षुद्र कोटियो को इसलिए नही बनाया है, कि मनुष्य उनका जैसा चाहे इस्तेमाल करे। मनुष्य अपना मुख्य ध्येय

प्रवृत्ति नही, निवृत्ति-द्वारा प्राप्त करता है। मुझे पशु-सृष्टि का वध करने का कोई अधिकार नही है, यदि मैं वानस्पतिक सृष्टि पर रहकर स्वस्थ जीवन बिता सकता हूँ। मुझे समस्त पशु-सृष्टि के बध करने का इसलिए अधिकार नही मिल जाता कि मैं कुछ पशु-सृष्टि का बध करना जरूरी समझता हूँ। अतएव यदि मैं बकरी, मछली और मुर्ग पर भलीभाँति रह सकता हूँ तो अपने निर्वाह के लिए गाय का बध करना पाप होगा। और इसी प्रकार कुछ तर्क थे, जिनके कारण प्राचीन ऋषियो ने गाय को पवित्र माना। विशेष कर उन्होने यह पाया कि गाय राष्ट्रीय जीवन मे सबसे बडी आर्थिक निधि है। और मैं इस सीमा तक इस प्रकार सेवा-योग्य पशु की पूजा करने मे कोई त्रुटि नही देखता जबतक वह अपने सृष्टा की समता नही करने लगता। मैं इस विचार की बहुत प्रशसा करता हूँ, (पर इस्लाम मे जोर दिया गया है) कि विशेष पूजा हम सब के सृष्टा-हेतु सुरक्षित रखनी चाहिए। किन्तु मुझे गो-पूजा और गो-हत्या को मिला नही देना चाहिए। यदि आप इस प्रस्थापना को स्वीकार करते है कि जो मनुष्य जितना निवृत्तिशील है वह उतना ही अधिक मनुष्य है, तो आपको यह मानने मे कठिनाई न होगी की नैतिक धरातल पर गोहत्या का बचाव नही किया जा सकता।

— २५।१।१९२०। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गाधी, खण्ड १६, पृ० ५०८-५०९]

१९. धर्म और नम्रता

सर अल्फ्रेड लायल अपनी एक पुस्तक मे लिखते हैं कि वास्तविक धर्म इतने मूक भाव से फैलता है कि लोग यह जान भी नही पाते कि वह फैल रहा है। वर्तमान समय मे आर्यसमाज केवल अनेक धार्मिक सम्प्रदायो मे से एक है। यदि यह पूछा जाय कि धर्म किस प्रकार मौन भाव से फैल सकता है, तो प्रकृति इसका उत्तर देती है।

प्रकृति के चमत्कार की ओर देखिए। एक वृक्ष के विषय मे सोचिए। क्या आप इसकी वृद्धि का निरीक्षण कर सकते हैं? आप अपने शरीर के अगो को बढता हुआ पाते हैं; आपको इसके बारे मे कोई परेशानी नही उठानी पडती। धर्म ठीक इसी प्रकार फैलता है।

वास्तविक धर्म मे असहिष्णुता के लिए स्थान नही है। हम धर्म की श्रेष्ठताए और कही नही पा सकते। अन्य किसी धर्म ने हिसा से दूर रहने और उसके सक्रमण से मुक्त रहने मे वैसी सफलता नही पाई, जैसी कि हिन्दू धर्म ने। घृणा इसकी आत्मा

के लिए विजातीय है। हिन्दू-धर्म ने भी तलवार पर भरोसा किया है और युद्ध किया है, किन्तु अन्य धर्मों में उसको चरम सीमा पर पहुंचा दिया गया है।

ऋषियों और मुनियों के स्वभाव की ओर ध्यान दें और विचार करें। आप देखेंगे कि उन्होंने सत्य का उपदेश बिना उत्तेजित हुए और हृदय में शुद्धतम भावना रखकर अत्यन्त सज्जनता के साथ किया है। यहाँ तक कि जब कभी उन्होंने अप्रिय बातें भी कही हैं, उनके शब्दों में मधुरता और सत्य निहित रहा है। आर्यसमाजी ईसाइयों में पाये जाने वाले प्रचार के तरीके को छोड़ कर अच्छा करेंगे। यह नकल के योग्य नहीं है।

—अहमदाबाद, १२।१।१९२०। आर्य समाज की सभा में दिये गये भाषण से। मूल गुजराती। २५।१।१९२०। अंग्रेजी में अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गांधी, खण्ड १६, पृष्ठ ४७८-७९]

- वास्तविक धर्म में असहिष्णुता के लिए स्थान नहीं है।
- घृणा इसकी (हिन्दूधर्म की) आत्मा के लिए विजातीय है।

२०. गोरक्षा

गोरक्षा हिन्दूधर्म की एक मूलभूत आस्था है। अपनी पवित्रता के अतिरिक्त यह एक श्रेयस्करी धर्म-भावना है। किन्तु हम हिन्दू आज गाय और उसकी सन्तति के प्रति बहुत कम आदर-भाव रखते हैं।

—यं० इं०, ४।८।१९२०। अंग्रेजी में अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गांधी खण्ड १८, पृ० ११७]

२१. गोरक्षा : हिन्दू धर्म की सबसे महत्वपूर्ण बाह्य अभिव्यक्ति

गोरक्षा का उद्देश्य मेरे लिए अत्यन्त प्रिय है। यदि कोई मुझसे यह पूछे कि हिन्दू-धर्म की अत्यन्त महत्वपूर्ण बाह्य अभिव्यक्ति क्या है, तो मैं कहूँगा कि यह गोरक्षा का विचार है। मेरे समक्ष यह कई वर्ष पहिले स्पष्ट हो चुका है कि हमने इस कर्तव्य का त्याग कर दिया है।

—गुजराती। न० जी० ८।८।१९२०। अंग्रेजी में अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गांधी, खण्ड १८, पृ० १२७]

- यदि कोई मुझसे यह पूछे कि हिन्दूधर्म की अत्यन्त महत्वपूर्ण बाह्य अभिव्यक्ति क्या है तो मैं कहूँगा कि यह गोरक्षा का विचार है।

प्रवृत्ति नही, निवृत्ति-द्वारा प्राप्त करता है। मुझे पशु-सृष्टि का वध करने का कोई अधिकार नही है, यदि मै वानस्पतिक सृष्टि पर रहकर स्वस्थ जीवन बिता सकता हूँ। मुझे समस्त पशु-सृष्टि के वध करने का इसलिए अधिकार नही मिल जाता कि मैं कुछ पशु-सृष्टि का वध करना जरूरी समझता हूँ। अतएव यदि मैं बकरी, मछली और मुर्ग पर भलीभांति रह सकता हूँ तो अपने निर्वाह के लिए गाय का वध करना पाप होगा। और इसी प्रकार कुछ तर्क थे, जिनके कारण प्राचीन ऋषियो ने गाय को पवित्र माना। विशेष कर उन्होने यह पाया कि गाय राष्ट्रीय जीवन मे सबसे बडी आर्थिक निधि है। और मैं इस सीमा तक इस प्रकार सेवा-योग्य पशु की पूजा करने मे कोई त्रुटि नही देखता जबतक वह अपने सृष्टा की समता नही करने लगता। मैं इस विचार की बहुत प्रशसा करता हूँ, (पर इस्लाम मे ज़ोर दिया गया है) कि विशेष पूजा हम सब के सृष्टा-हेतु सुरक्षित रखनी चाहिए। किन्तु मुझे गो-पूजा और गो-हत्या को मिला नही देना चाहिए। यदि आप इस प्रस्थापना को स्वीकार करते हैं कि जो मनुष्य जितना निवृत्तिशील है वह उतना ही अधिक मनुष्य है, तो आपको यह मानने मे कठिनाई न होगी की नैतिक धरातल पर गोहत्या का बचाव नही किया जा सकता।

—२५।१।१९२०। अंग्रेजी से अनूदित। क्लेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गांधी, खण्ड १६, पृ० ५०८-५०९]

१९. धर्म और नम्रता

सर अल्फ्रेड लायल अपनी एक पुस्तक मे लिखते हैं कि वास्तविक धर्म इतने मूक भाव से फैलता है कि लोग यह जान भी नही पाते कि वह फैल रहा है। वर्तमान समय मे आर्यसमाज केवल अनेक धार्मिक सम्प्रदायो मे से एक है। यदि यह पूछा जाय कि धर्म किस प्रकार मौन भाव से फैल सकता है, तो प्रकृति इसका उत्तर देती है।

प्रकृति के चमत्कार की ओर देखिए। एक वृक्ष के विषय मे सोचिए। क्या आप इसकी वृद्धि का निरीक्षण कर सकते हैं? आप अपने शरीर के अगो को बढता हुआ पाते है, आपको इसके बारे मे कोई परेशानी नही उठानी पडती। धर्म ठीक इसी प्रकार फैलता है।

वास्तविक धर्म मे असहिष्णुता के लिए स्थान नही है। हम धर्म की श्रेष्ठताए और कही नही पा सकते। अन्य किसी धर्म ने हिंसा मे दूर रहने और उसके सक्रमण से मुक्त रहने मे वैसी सफलता नही पाई, जैसी कि हिन्दू धर्म ने। घृणा इसकी आत्मा

के लिए विजातीय है। हिन्दू-धर्म ने भी तलवार पर भरोसा किया है और युद्ध किया है, किन्तु अन्य धर्मों में उसको चरम सीमा पर पहुँचा दिया गया है।

ऋषियों और मुनियों के स्वभाव की ओर ध्यान दें और विचार करें। आप देखेंगे कि उन्होंने सत्य का उपदेश बिना उत्तेजित हुए और हृदय में शुद्धतम भावना रखकर अत्यन्त सज्जनता के साथ किया है। यहाँ तक कि जब कभी उन्होंने असधुर बातें भी कही हैं, उनके शब्दों में मधुरता और सत्य निहित रहा है। आर्यसमाजी ईसाइयों में पाये जाने वाले प्रचार के तरीके को छोड़ कर अच्छा करेंगे। यह नकल के योग्य नहीं है।

—अहमदाबाद, १२।१।१९२०। आर्य समाज की सभा में दिये गये भाषण से। मूल गुजराती। २५।१।१९२०। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गांधी, खण्ड १६, पृष्ठ ४७४-७५]

- ० वास्तविक धर्म में असहिष्णुता के लिए स्थान नहीं है।
- ● घृणा इसकी (हिन्दूधर्म की) आत्मा के लिए विजातीय है।

२०. गोरक्षा

गोरक्षा हिन्दूधर्म की एक मूलभूत आस्था है। अपनी पवित्रता के अतिरिक्त यह एक श्रेयस्करी धर्म-भावना है। किन्तु हम हिन्दू आज गाय और उसकी सन्तति के प्रति बहुत कम आदर-भाव रखते हैं।

—य० इं०, ४।८।१९२०। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गांधी खण्ड १८, पृ० ११७]

२१. गोरक्षा : हिन्दू धर्म की सबसे महत्वपूर्ण बाह्य अभिव्यक्ति

गोरक्षा का उद्देश्य मेरे लिए अत्यन्त प्रिय है। यदि कोई मुझसे यह पूछे कि हिन्दू-धर्म की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बाह्य अभिव्यक्ति क्या है, तो मैं कहूँगा कि यह गोरक्षा का विचार है। मेरे समक्ष यह कई वर्ष पहिले स्पष्ट हो चुका है कि हमने इस कर्त्तव्य का त्याग कर दिया है।

—गुजराती। न० जी० ८।८।१९२०। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गांधी, खण्ड १८, पृ० १२७]

- ० यदि कई मुझसे यह पूछे कि हिन्दूधर्म की अत्यन्त महत्वपूर्ण बाह्य अभिव्यक्ति क्या है तो मैं कहूँगा कि यह गोरक्षा का विचार है।

२२. हिन्दू-धर्म-रक्षा का उपाय

यदि हिन्दू अपने धर्म की रक्षा के लिए शक्ति प्राप्त करना चाहते हैं, तो इसे भी वे मुसलमानो की सहायता करके प्राप्त करेगे, क्योकि इसमे हिन्दुओ को निश्चय, साहस, सत्य, आत्म-बलिदान की क्षमता, एकता, सगठन-क्षमता आदि श्रेष्ठ गुण प्रदर्शित करने पडेंगे।

—गुजराती। न० जी०, २९।८।१९२०। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गांधी, खण्ड १८, पृ० २०४]

२३. वैष्णवों से

वैष्णव जन तो तेने कहिए, जे पीड़ पराई जाणे रे!
परदुःखे उपकार करे तोये, मन अभिमान न आणे रे।
सकल लोकमां सहुने वदे, निन्दा न करे केनी रे;
वाच काछ मन निश्चल राखे, धन धन जननी तेनी रे!
समदृष्टि ने तृष्णा त्यागी, परस्त्री जेने मात रे,
जिह्वा थकी असत्य न बोले, परधन नव झाले हाथ रे।
मोहमाया व्यापे नहिं जेने, दृढ़ वैराग्य जेना मनमा रे;
रामनाम शु ताली लागी, सकल तिरथ तेना तनमा रे।
वणलोभी ने कपट रहित छे, काम क्रोध निवार्या रे;
भणे नरसैयो तेनुं दरसन करतां कुल एकोतेर तार्या रे॥

नरसी मेहता द्वारा वर्णित वैष्णव के लक्षण से हम देखते हैं कि यह वह व्यक्ति है जो—

१ पीडित व्यक्ति की सहायता के लिए सदैव सक्रिय रहता है।
२ ऐसा करने मे अभिमान नही करता।
३ सबके प्रति आदर-भाव रखता है।
४. किसी को दुर्वचन नही कहता।
५ भाषण मे,
६ आचरण मे,
७ विचार मे आत्म-नियन्त्रित है।
८ सबके प्रति समान आदर रखता है।
९ इच्छाओ का त्याग कर चुका है।

१० एक स्त्री—अपनी पत्नी के प्रति सच्चा है।
११ सदैव सत्यपूर्ण है।
१२ अस्तेय के नियम का पालन करता है।
१३ माया की पहुँच से परे है।
१४ परिणामस्वरूप प्रत्येक इच्छा से मुक्त है।
१५ सदैव राम-नामोच्चारण मे लीन है।
१६ परिणामत पवित्र हो चुका है।
१७ किसी वस्तु की लालसा नही रखता।
१८ छल-कपट से,
१९ इच्छाओ के आवेग से और
२० क्रोध से मुक्त है।

यहा, वैष्णवो मे श्रेष्ठ नरसिंह ने अहिंसा को प्रथम स्थान का गर्व दिया है। इसका अर्थ यह कि जिस व्यक्ति मे प्रेम नही वह वैष्णव नही है। वह व्यक्ति जो सत्य का अनुसरण नही करता और जिसने इन्द्रियो पर नियन्त्रण नही प्राप्त किया है, वैष्णव नही है। वह अपने प्रभाती गान[1] मे हमे सिखाते हैं कि केवल वेदाध्ययन से, वर्णाश्रम-नियमो के पालन से, तुलसी की माला पहिनने या तिलक लगाने से ही कोई वैष्णव नही हो जाता। ये सारी चीजे पाप का उद्गम हो सकती हैं। एक दभी भी गुरियो की माला पहिन सकता है, तिलक लगा सकता है, वेद पढ सकता है या ओठो से राम-नाम उच्चारण कर सकता है। पर ऐसा व्यक्ति जीवन मे सत्य का अनुसरण नही कर सकता और वह जबतक अपनी दाभिकता छोड न दे विपत्ति-ग्रस्त की सहायता नही कर सकता, न वह भाषण, आचरण और वाणी मे आत्म-नियन्त्रित हो सकता है।

—मूल गुजराती। न० जी०, ५।१२।१९२०। अग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गाधी, खण्ड १९, पृ० ७२-७३]

२४. गोरक्षा

[बेतिया गोशाला मे दिया गया भाषण]

गोरक्षा हिन्दू धर्म का बाह्य रूप है। मैं किसी व्यक्ति को हिन्दू मानने को तैयार नही हूँ, यदि वह इस प्रश्न पर अपना जीवन बलिदान करने को तैयार नही है।

---

१ प्रभात काल मे भक्तजनो द्वारा गाये जानेवाले भजन।

यदि गोकुशी मुसलमानो के लिए नमाज पढने की तरह धार्मिक कर्त्तव्य होती, तो मुझे उनसे स्पष्ट कह देना पडता कि मुझे उनसे लडना चाहिए। किन्तु यह उनके लिए धार्मिक कर्त्तव्य नही है। हमने अपने रुख के कारण उनके लिए उसे कर्त्तव्य बना दिया है।

गोरक्षा के लिए जो वास्तव मे आवश्यक है, वह यह है कि हिन्दू स्वय गाय की फिक्र करे क्योकि वे भी उसे मारते हैं। दूध की आखिरी बूंद तक दुहने के लिए फूंका लगाने की बर्बर विधि, बैलो को कष्ट देना, जो कि गाय की सन्तान हैं, उन्हे आर चुभाना, और उनकी सामर्थ्य से अधिक भार ढोने को विवश करना—ये बातें गोहत्या के तुल्य है। यदि हम गोरक्षा के विषय मे गम्भीर हैं, तो हमे अपना घर सुधारना चाहिए।

जबकि मुसलमान मास के लिए कभी-कभी गोकुशी करता है, अग्रेज इसके बिना एक दिन भी नही रह सकता। किन्तु हम गुलाम की तरह उनसे समझौता कर लेते हैं। गोमाता की रक्षा करें और गोमाता आपकी रक्षा करेंगी।

—बेतिया, ८।१२।१९२०। मूल गुजराती। महादेव भाईनी डायरी, भाग ५, अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गांधी, खण्ड १९, पृ० ९१,-९२]

२५. शास्त्र का अर्थ और वैष्णव धर्म

मेरी राय मे जिसे तर्क द्वारा समझा न जा सके, हृदय स्वीकार न करे, वह शास्त्र नही हो सकता, और मैं समझता हू कि कोई भी व्यक्ति जो धर्म का उसके शुद्ध रूप मे पालन करना चाहता है उसे इस सिद्धान्त को स्वीकार करना ही पडेगा। अगर हम ऐसा नही करते तो हमे अपने धर्म के उल्लघन का जोखम उठाना पडेगा। मैंने गीता का अर्थ इस रूप मे किये जाते हुए सुना है कि अगर हमारा कोई सम्बन्धी दुष्ट है तो हम उसे झुकाने के लिए शक्ति का प्रयोग कर सकते हैं, निश्चय ही ऐसा करना हमारा धर्म है। चूंकि राम ने रावण का वध किया था, इसलिए क्या हमारा यह धर्म है कि हम जिसे रावण समझें उसका वध कर दे? मनुस्मृति मास खाने की अनुमति देती है, इसलिए क्या एक वैष्णव को मास खाने की स्वतन्त्रता है? मैंने यह बात शास्त्रियो और उन व्यक्तियो के मुंह मे सुनी है जो संन्यासी होने का दावा करते हैं कि बीमार पडने पर, कोई गोमास भी खा सकता है। यदि मैं शास्त्रो की ये सब व्याख्याएँ स्वीकार लेता तो कहाँ होता? मैंने अपने सम्बन्धियो को नष्ट कर डाला होता, अग्रेजो को मारने की सलाह दी होती और बीमारी के दौरान

गोमांस खा लिया होता। ऐसे मौकों पर मैं बच गया क्योंकि मैंने केवल उसे ही धर्म माना, जिसे मेरे हृदय और तर्क ने उस रूप में स्वीकार किया। और मैंने हर व्यक्ति को उसी की सलाह दी।

इसीलिए तपश्चर्या करनेवाले पवित्र व्यक्तियों ने हमें बताया है कि जो वेद पढ़ लेते हैं पर आचरण में धर्म का पालन नहीं करते वे केवल विद्याभिमानी हैं। वे न तो स्वयं तैरकर पार जा सकते हैं न दूसरे को इसमें सहायता दे सकते हैं। यही कारण है कि मैं उन लोगों से कभी प्रभावित नहीं हुआ जिनकी जिह्वा पर वेद हैं या जिन्होंने भाष्य रट रखे हैं। और उनकी विद्वत्ता पर आश्चर्य प्रकट करने के बजाय मैं थोड़े ज्ञान को अधिक मूल्यवान समझता हूँ।

मैं शास्त्र नहीं जानता, मुझे अनुभव नहीं है, मैं हठी हूँ—यह सब स्वीकार कर लेने से मैं वैष्णव होने के अयोग्य नहीं हो जाता। जबतक मैं यह मानता हूँ कि वैष्णवत्व की कसौटी नैतिक आचरण में निहित है वाद-विवाद, चातुर्यपूर्ण भाषण, या शास्त्रों का अर्थ निश्चित करने में नहीं, तबतक मैं अपना (वैष्णव होने का) दावा छोड़ने को इच्छुक नहीं हूँ।

—मूल गुजराती। न० जी०, १२।१२।१९२०। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गांधी, खण्ड १९, पृ० ९७-९९]

- **जिसे तर्क द्वारा समझा न जा सके, हृदय स्वीकार न करे, वह शास्त्र नहीं हो सकता।**
- **जो वेद पढ़ते हैं पर आचरण में धर्म का पालन नहीं करते, वे केवल विद्याभिमानी हैं।**
- **मैं उनसे कभी प्रभावित नहीं हुआ जिनकी जिह्वा पर वेद हैं या जिन्होंने भाष्य रट रखे हैं।**

२६. वेद का प्रमाण

धर्मग्रन्थ विवेक और सत्य का उल्लंघन नहीं कर सकते। उनका उद्देश्य विवेक को पवित्र करना, सत्य को प्रकाशित करना है। मैं किसी बेदाग घोड़े को इसलिए नहीं जलाने जा रहा हूँ कि वेदों ने (उसके) बलिदान की सम्मति, स्वीकृति, दी है या उसे सहन किया है—ऐसा विवरण मिलता है। मेरे लिए वेद ईश्वरीय और अलिखित हैं। शब्द मार डालता है यह (शब्द का) भाव है जो प्रकाश

देता है। और वेदो का भाव पवित्रता, सत्य, सदाचार, नम्रता, सरलता, क्षमा, देवत्व और वह सब है जो एक स्त्री या पुरुष को वीर और श्रेष्ठ बनाता है।

—यं० इं०, १९।१।१९२१। मूल अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गाधी खण्ड १९, पृ० २४३।]

● शब्द मार डालता है; यह (शब्द का) भाव है जो प्रकाश देता है

२७. गोरक्षा-धर्म का कैसे पालन हो ?

आप मुसलमानो या अंग्रेजो को मारकर गाय को नही बचा सकते। आप उसे केवल अपनी प्रिय गर्दन की भेंट चढाकर बचा सकते है। यदि आप गाय की रक्षा-हेतु अपनी गर्दन भेट कर देते हैं, तो यमराज इसके लिए आपसे जवाब तलब नही करेंगे बल्कि अपने सिंहासन पर आपको स्थान ग्रहण करने को कहेगे। दूसरी ओर यदि आप गाय को बचाने के लिए किसी की हत्या करेंगे तो यमराज निश्चित रूप से आपसे इस कृत्य का औचित्य सिद्ध करने को कहेगे, क्योकि आप भी आदमी है और (जिसे आपने मारा है) वह भी आदमी है। हम भगवान नही हैं जो कि हम गाय को बचाने के लिए दूसरे व्यक्ति को मार सकें। फिर भी हिन्दू -धर्म हम पर कर्त्तव्य-वन्धन लगाता है कि मैं गाय के लिए अपने गले की भेंट चढा दूँ। कितने हिन्दुओ ने इस प्रकार आचरण किया है। ..वणिक के गणना-गुण से गाय को नही बचाया जा सकता। हिन्दू-धर्म की उदात्त परम्परा की माँग है कि आप अपने प्राणो का विचार न करे।

—वड़ताल, १९।१।१९२१। मूल गुजराती। न० जी० २७।१।१९२१। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गाधी, खण्ड १९, पृ० २५४।]

२८. हिन्दूधर्म का सन्देश

...हिन्दू धर्म किसी धर्म की अवहेलना नही करता। वह सबसे कहता है— स्वधर्म में ही श्रेय है।

—न० जी०। हि० न० जी०, ४।५।१९२४]

२९. मूर्ति-पूजा

मैं मूर्ति-पूजक भी हूँ, और मूर्ति-भजक भी हूँ, पर उस अर्थ मे, जिसे मैं इन शब्दो का सही अर्थ मानता हूँ। मूर्ति-पूजा के अन्दर जो भाव है, उसका मैं आदर

करता हूँ। मनुष्य जाति के उत्थान में उससे अत्यन्त सहायता मिलती है। और मैं अपने अन्दर प्राण देकर भी उन हजारों पवित्र देवालयों की रक्षा करने की सामर्थ्य रखना पसन्द करूँगा, जो हमारी इस जननी-जन्मभूमि को पुनीत कर रहे हैं। मुसलमानों के साथ मेरी जो मित्रता है उसके अन्दर पहिले से ही यह बात स्वीकार की हुई है कि वे मेरी मूर्तियों और मेरे मन्दिरों के प्रति पूरी सहिष्णुता रखेंगे। और मैं मूर्तिभंजक इस अर्थ में हूँ कि मैं धर्मान्धता के रूप में छिपी उस सूक्ष्म मूर्ति-पूजा का सिर तोड़ देता हूँ, जो अपनी ईश्वर-पूजा की विधि के अलावा, दूसरे लोगों की पूजा-विधि में किसी गुण और अच्छाई को देखने से इन्कार करती है। इस प्रकार की सूक्ष्म मूर्ति-पूजा—बुतपरस्ती, अधिक घातक है, क्योंकि यह उस स्थूल और प्रत्यक्ष पूजा से, जिसमें एक पत्थर के टुकड़े—या सुवर्ण मूर्ति में ईश्वर की कल्पना कर ली जाती है, अधिक सूक्ष्म और धोखा देनेवाली है।

—यं० इं०। हि० न० जी०, ३१।८।१९२४]

● मैं मूर्त्तिपूजक भी हूँ और मूर्त्ति-भंजक भी।

३०. बाजे का प्रश्न और हिन्दू धर्म का दृष्टिकोण

हिन्दू धर्म की कोई भी विधि ऐसी नहीं है जो बिना बाजा बजाये हो सकती है। कितनी विधियाँ तो ऐसी हैं जिनमें शुरू से आखीर तक बाजा बजाना जरूरी है। हाँ, इसमें भी हिन्दुओं को इतनी चिन्ता जरूर रखनी चाहिए कि मुसलमानों का दिल न दुखने पाये। इस्लाम में ऐसा कोई फरमान नहीं है, जिससे दूसरे के बाजे को बन्द करना लाजिमी हो। इसलिए मस्जिद के सामने दूसरे विधर्मी के बाजा बजाने से इस्लाम को धक्का नहीं लगता।

विनय के सामने झुकना धर्म है, जोर-जबर्दस्ती के सामने झुकना अधर्म है। मार के डर से यदि हिन्दू बाजा बजाना छोड़ दें तो वे हिन्दू न रहेंगे।

—न० जी०। हि० न० जी०, १४।९।१९२४]

● विनय के सामने झुकना धर्म है, जोर-जबर्दस्ती के सामने झुकना अधर्म है।

३१. मेरा धर्म

जब मेरे शरीर और मन का एक-एक कण हिन्दू है, तो निश्चय ही हिन्दुओं के मन की बात जानने के लिए मुझे उनके बीच रहने की कोई जरूरत नहीं है। मेरा

देता है। और वेदो का भाव पवित्रता, सत्य, सदाचार, नम्रता, सरलता, क्षमा, देवत्व और वह सब है जो एक स्त्री या पुरुष को वीर और श्रेष्ठ बनाता है।

—यं० इ०, १९।१।१९२१। मूल अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गांधी खण्ड १९, पृ० २४३।]

● शब्द मार डालता है; यह (शब्द का) भाव है जो प्रकाश देता है

२७. गोरक्षा-धर्म का कैसे पालन हो?

आप मुसलमानो या अंग्रेजो को मारकर गाय को नही बचा सकते। आप उसे केवल अपनी प्रिय गर्दन की भेंट चढाकर बचा सकते है। यदि आप गाय की रक्षा-हेतु अपनी गर्दन भेंट कर देते है, तो यमराज इसके लिए आपसे जवाब तलब नही करेंगे बल्कि अपने सिंहासन पर आपको स्थान ग्रहण करने को कहेगे। दूसरी ओर यदि आप गाय को बचाने के लिए किसी की हत्या करेंगे तो यमराज निश्चित रूप से आपसे इस कृत्य का औचित्य सिद्ध करने को कहेगे, क्योकि आप भी आदमी हैं और (जिसे आपने मारा है) वह भी आदमी है। हम भगवान नही हैं जो कि हम गाय को बचाने के लिए दूसरे व्यक्ति को मार सकें। फिर भी हिन्दू-धर्म हम पर कर्त्तव्य-बन्धन लगाता है कि मैं गाय के लिए अपने गले की भेंट चढा दूं। कितने हिन्दुओ ने इस प्रकार आचरण किया है। ..वणिक के गणना-गुण से गाय को नही बचाया जा सकता। हिन्दू-धर्म की उदात्त परम्परा की माँग है कि आप अपने प्राणो का विचार न करे।

—वड़ताल, १९।१।१९२१। मूल गुजराती। न० जी० २७।१।१९२१। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गांधी, खण्ड १९, पृ० २५४।]

२८. हिन्दूधर्म का सन्देश

हिन्दू धर्म किसी धर्म की अवहेलना नही करता। वह सबसे कहता है—स्वधर्म मे ही श्रेय है।

—न० जी०। हि० न० जी०, ४।५।१९२४]

२९. मूर्ति-पूजा

मै मूर्ति-पूजक भी हूँ, और मूर्ति-भजक भी हूँ, पर उस अर्थ मे, जिसे मैं इन शब्दो का सही अर्थ मानता हूँ। मूर्ति-पूजा के अन्दर जो भाव है, उसका मैं आदर

करता हूँ। मनुष्य जाति के उत्थान मे उससे अत्यन्त महायता मिलती है। और मै अपने अन्दर प्राण देकर भी उन हजारो पवित्र देवालयो की रक्षा करने की सामर्थ्य रखना पसन्द करूँगा, जो हमारी इस जननी-जन्मभूमि को पुनीत कर रहे है। मुसलमानो के साथ मेरी जो मित्रता है उसके अन्दर पहिले से ही यह वात स्वीकार की हुई है कि वे मेरी मूर्तियो और मेरे मन्दिरो के प्रति पूरी सहिष्णुता रखेगे। और मैं मूर्तिभजक इस अर्थ मे हूँ कि मै धर्मान्धता के रूप मे छिपी उस सूक्ष्म मूर्ति-पूजा का सिर तोड देता हूँ, जो अपनी ईश्वर-पूजा की विधि के अलावा, दूसरे लोगो की पूजा-विधि मे किसी गुण और अच्छाई को देखने मे इन्कार करती है। इस प्रकार की सूक्ष्म मूर्ति-पूजा —बुतपरस्ती, अधिक घातक है, क्योकि यह उस स्थूल और प्रत्यक्ष पूजा से, जिसमे एक पत्थर के टुकडे—या सुवर्ण मूर्ति मे ईश्वर की कल्पना कर ली जाती है, अधिक सूक्ष्म और धोखा देनेवाली है।

—य० इ०। हि० न० जी०, ३१।८।१९२४]

● मै मूर्त्तिपूजक भी हूँ और मूर्त्ति-भजक भी।

३०. बाजे का प्रश्न और हिन्दू धर्म का दृष्टिकोण

हिन्दू धर्म की कोई भी विधि ऐसी नही है जो विना वाजा वजाये हो सकती है। कितनी विधियाँ तो ऐसी हैं जिनमे शुरू से आखीर तक वाजा वजाना जरूरी है। हाँ, इसमे भी हिन्दुओ को इतनी चिन्ता जरूर रखनी चाहिए कि मुसलमानो का दिल न दुखने पाये। इस्लाम मे ऐसा कोई फरमान नही है, जिससे दूसरो के वाजे को वन्द करना लाजिमी हो। इसलिए मस्जिद के सामने दूसरे विधर्मी के वाजा वजाने से इस्लाम को धक्का नही लगता।

विनय के सामने झुकना धर्म है, जोर-जवर्दस्ती के सामने झुकना अधर्म है। मार के डर से यदि हिन्दू वाजा वजाना छोड दे तो वे हिन्दू न रहेगे।

—न० जी०। हि० न० जी०, १४।९।१९२४]

● विनय के सामने झुकना धर्म है, जोर-जवर्दस्ती के सामने झुकना अधर्म है।

३१. मेरा धर्म

जब मेरे शरीर और मन का एक-एक कण हिन्दू है, तो निश्चय ही हिन्दुओ के मन की वात जानने के लिए मुझे उनके वीच रहने की कोई जरूरत नही है। मेरा

हिन्दू धर्म अत्यन्त क्षुद्र वस्तु होगी, यदि वह अत्यन्त प्रतिकूल प्रभावो के अन्दर भी फल-फूल न सके। मैं सहज स्फुरण से ही जानता हूँ कि हिन्दू -धर्म के लिए किस बात की आवश्यकता है।...मेरा धर्म मुझे सिखाता है कि सब पर समान प्रेम रखो। ईश्वर उसमे मेरा सहायक हो।

—यं० इं०। हिं० न० जी०, २८।९।१९२४]

३२. तप की महिमा

हिन्दू-धर्म मे तप कदम-कदम पर है। पार्वती यदि शकर को चाहे तो तप करे। शिव से भूल हुई हो तो उन्होने तप किया। विश्वामित्र तो तप की मूर्ति ही थे। राम जब बन गये तो भरत ने योगारूढ होकर घोर तपश्चर्या की और शरीर को क्षीण कर दिया।

ईश्वर (तप के अतिरिक्त) अन्य प्रकार से मनुष्य की कसौटी कर ही नही सकता। यदि आत्मा देह से भिन्न है, तो देह को कष्ट देते हुए भी वह प्रसन्न रहती है। अन्न शरीर की खूराक है, ज्ञान और चिन्तन आत्मा की, यह बात प्रसगोपात्त हर व्यक्ति को अपने लिए सिद्ध करनी पडती है।

परन्तु यदि तप आदि के साथ श्रद्धा, भक्ति, नम्रता न हो तो वह एक मिथ्या कष्ट है। वह दभ भी हो सकता है। ऐसे तपस्वी से तो सरल हृदय भजन करने वाले ईश्वरभक्त हजार गुना श्रेष्ठ हैं।

अपने तप की व्यथा लिखने योग्य शक्ति आज मुझमे नही है। पर इतना कह देता हू कि इस तप के बिना मेरा जीना असम्भव था।

—दिल्ली आश्विन सुदी ११ बुधवार। न० जी०। हिं० न० जी० १२।१०।१९२४]

- **हिन्दू धर्म मे तप कदम-कदम पर है।**
- **अन्न शरीर की खुराक है; ज्ञान और चिन्तन आत्मा की।**
- **यदि तप के साथ श्रद्धा, भक्ति, नम्रता न हो तो वह एक मिथ्या कष्ट है। वह दभ भी हो सकता है।**

३३. बलिदान, त्याग और यज्ञ

बलिदान का मर्म समझने की जरूरत है। यज्ञ करनेवाला मनुष्य दूसरे की दया का भूखा नही होता। उसकी स्थिति दयाजनक नही, वह तो स्तुत्य है। जो अनिच्छा या विषादपूर्वक किया जाता है, वह यज्ञ नही है, बलिदान के साथ

तो उल्लास, हर्ष और उत्साह होता है। बलिदान करनेवाला इच्छा करता है कि उसे अधिक त्याग की सामर्थ्य प्राप्त हो। वह त्याग मे दुखी नही होता, क्योंकि उसके लिए त्याग मे सुख है। उसे विश्वास होता है कि यद्यपि आज यह (त्याग) कष्ट-दायक दीखता है, तथापि अन्त मे तो वह सुखदायी ही सिद्ध होगा। जो अपनी गन्दगी दूर करता है, वह शुद्ध होता है। त्याज्य वस्तु का त्याग करना मानो सिर का बोझ हलका होना है। मीराबाई राजभोग का त्याग कर नाचती थी, राजभोग पर रोती थी। हमारी दृष्टि मे वह भारी बलिदान था। मीराबाई के लिए वह त्याग और भोग था। सुधन्वा उबलते हुए तेल के कडाह मे भी नाचता हुआ नारायण का नाम लेता था, इसीलिए गुजराती कवि प्रीतम ने कहा है कि जो लोग किनारे पर खडे हैं, उनका हृदय तो काँप रहा है परन्तु जो मझधार मे कूद पडे है, वे बडा सुख मानते हैं। इसी कारण निष्कुलानन्द ने भी कहा है कि त्याग बिना वैराग्य के नही टिकता। जबतक किसी वस्तु के विषय मे राग रहता है, तबतक उसका वास्तविक त्याग सम्भव नही। उडीसा के क्षुधा-पीडा से मरणासन्न कगाल निराहारी त्यागी नही हैं। वे तो ज़बर्दस्ती भूखे रहे हैं। उनका राग तो ज्यो-का-त्यो बना हुआ है। वे तो चौबीसो घण्टे भोजन करते है, क्योंकि उनकी नीयत भोजन मे ही लगी रहती है। जहा मन है, वही यदि शरीर है तो शरीरधारी का उद्धार सम्भव है, परन्तु जो शरीर और मन को अलग-अलग जगह रखता है, वह अपने को, ससार को और ईश्वर को धोखा देता है।

—न० जी०। हि० न० जी०, २३।११।१९२४]

- **यज्ञ करनेवाला मनुष्य दूसरे की दया का भूखा नहीं होता।**
- **जो अनिच्छा या विषादपूर्वक किया जाता है, वह यज्ञ नहीं है।**
- **बलिदान के साथ तो उल्लास, हर्ष और उत्साह होता है।**
- **जबतक किसी वस्तु के विषय मे राग रहता है, तबतक उसका वास्तविक त्याग सम्भव नहीं।**

३४. मेरा धर्म

मैं हिन्दू हूँ और चाहता हूँ कि गीता का एक श्लोक पढते-पढते मर जाऊँ और मोक्ष प्राप्त करूँ। मै स्वर्ग नही चाहता, न विमान चाहता हूँ। पृथिवी पर चलने से भी अभिमान होता है। विमान पर चढने से जाने कितना अभिमान होगा। मै तुलसी और रामचन्द्र का भक्त हूँ और शुद्ध सनातनी होने का दावा करता हूँ।

—रावलपिण्डी, १०।१२।१९२४। न० जी०। हि० न० जी०, २१।१२।१९२४]

३५. धर्म-सेवी

जो हिन्दू अन्त्यज की सेवा करेगा वह हिन्दू धर्म का तारक होगा और अछूत भाई-बहिनो के हृदय का सम्राट बनेगा।
—हि० न० जी०, ८।१।१९२५]

३६. श्रद्धा

जब मैं जेल मे था, मौलाना हसरत मोहानी ने एक पुस्तक मुझे दी थी। मैंने उसमे से एक शागिर्द की कहानी पढी थी, जिसने हुक्का भरने-जैसे क्षुद्र काम को भी दस-बीस नही पचासो बार श्रद्धा से किया और उससे उसको लाभ हुआ। . इस श्रद्धा से काम करना होगा। काशी विश्वनाथ की भव्य मूर्ति मौलाना हसरत मोहानी के निकट एक पत्थर का टुकडा हो पर मेरे लिए तो वह ईश्वर की प्रतिमा है। मेरा हृदय उसका दर्शन करके द्रवित होता है। यह श्रद्धा की बात है। जब मैं गाय का दर्शन करता हूँ तब मुझे किसी भक्ष्य पशु का दर्शन नही होता, उसमें मुझे एक करुण काव्य दिखाई देता है। उसकी पूजा करूँगा और फिर करूँगा और यदि सारा जगत् मेरे खिलाफ उठ खडा हो तो उसका मुकाबला करूँगा। ईश्वर एक है। पर वह मुझे पत्थर की पूजा करने की श्रद्धा प्रदान करता है। वही मुझे पशु मे, मेरे समक्ष की प्रत्येक वस्तु मे, अग्रेजो मे, अधिक क्या देशद्रोही तक मे अपने को —ईश्वर को —देखने की शक्ति देता है।
—हि० न० जी०, ८।१।१९२५]

- **जब मै गाय का दर्शन करता हूँ तब मुझे किसी भक्ष्य पशु का दर्शन नहीं होता : उसमे मुझे एक करुण काव्य दिखाई देता है।**
- **ईश्वर एक है। पर वह मुझे पत्थर की पूजा करने की श्रद्धा प्रदान करता है।**

३७. धर्म की शक्ति संख्या नहीं, गुण

किसी भी धर्म का आधार इसके अनुयायियो की सख्या पर अवलम्बित नही रहता। इस विचार से बढकर कोई पाखण्ड नही कि धर्म-बल का आधार सख्या है। यदि एक भी व्यक्ति सच्चा हिन्दू रहे तो हिन्दू धर्म का नाश नही हो सकता, पर

यदि करोडो हिन्दू पाखण्डी बनकर रहे तो इनसे हिन्दू धर्म सुरक्षित नही, उसका विनाश ही निश्चित समझिए।
—हि० न० जी०, १९।२।१९२५]

३८. गोरक्षा का अर्थ

गाय की रक्षा का अर्थ केवल गौ नामक पशु की रक्षा नही, बल्कि जीवमात्र की, प्राणिमात्र की रक्षा है। प्राणिमात्र मे मनुष्य तो आ ही जाते है इसलिए गाय की रक्षा हेतु मुसलमानो या अग्रेजो को मारना अधर्म है।
—न० जी०। हि० न० जी, ७।५।१९२५]

३९. वर्ण और जाति

वर्ण तो चार ही है, जाति चार हो या चालीस हजार। छोटी-छोटी जातियो का समागम स्वागत-योग्य है। छोटी जातियो से हिन्दू-धर्म को बडी हानि उठानी पडी है। जो वैश्य है, वह सारे हिन्दुस्तान की वैश्य जाति मे कही भी सम्बन्ध जोडने का प्रयत्न क्यो न करे? ब्राह्मणो मे गुजरात के ब्राह्मण अपने लिए वर-कन्या क्यो न ढूढे? यदि इतना सुधार करने का भी साहस नही है, तो हिन्दू धर्म के अत्यन्त सकुचित हो जाने का भय है। यदि वर्ण की रक्षा करनेवाले छोटी-छोटी जातियो की रक्षा करने का भी प्रयत्न करेंगे, तो छोटी जातियाँ गई ही है, उनके साथ सम्भव है कि वे वर्ण को भी खो बैठेगे।
—न० जी०। हि० न० जी०, १५।१०।१९२५]

४०. मन्दिर

मन्दिर के अस्तित्व को मैं पाप या अन्धविश्वास नही मानता। समान उपासना का कोई स्वरूप और उपासना का कोई सामान्य स्थान मनुष्य के लिए आवश्यक है। मन्दिरो मे मूर्तियाँ होनी चाहिए या नही, इसका आधार मनुष्य के स्वभाव और रुचि पर है। मैं हिन्दू मन्दिर को या रोमन कैथलिक चर्च को केवल इसीलिए आवश्यक रूप मे बुरा या अन्धविश्वास का धाम नही मानता कि वहाँ मूर्तियाँ होती है, और न किसी मस्जिद या प्रोटेस्टेण्ट चर्च को इसलिए अच्छा या अन्धविश्वास से मुक्त समझता हूँ कि वहाँ मूर्तियाँ नही रखी गई है।

क्रास या पुस्तक-जैसा प्रतीक आसानी से मूर्ति का रूप ले सकता है। दूसरी ओर बालकृष्ण या कुमारी मेरी की मूर्ति की पूजा मनुष्य को ऊँचा उठानेवाली और सारे अन्धविश्वास से मुक्त हो सकती है। यह सब पूजा और उपासना करनेवाले भक्त के हृदय की वृत्ति पर निर्भर करता है।
—यं० इं०, ५।११।१९२५]

४१. तीन प्रश्न

एक महाशय ने बडे ही विनम्र भाव से तीन प्रश्न पूछे हैं। उन्होने प्रश्नो के साथ अपने उत्तर भी लिखे हैं लेकिन स्थानाभाव से मैं उन्हे यहाँ नही दे रहा हूँ। प्रश्न इस प्रकार हैं और उन्ही के शब्दो मे दिये गये हैं —

"(१) आप वर्ण-भेद जन्मजात मानते हैं। किन्तु किसी आदमी को कोई भी कर्म करने में हर्ज नहीं तथा किसी भी आदमी मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि द्विजो के गुण आ सकते हैं यह भी आपकी मान्यता है। ऐसी हालत में वर्ण या उपाधि की क्या जरूरत है? सिर्फ जन्म से नाम का आरोपण क्यो? जन्म को इतना महत्व क्यो?

(२) आप अद्वैततत्व मानते हैं और यह भी कहते हैं कि सृष्टि अनादि, अनन्त तथा सत्य है। अद्वैततत्व सृष्टि के अस्तित्व का इन्कार करता है। आप द्वैती भी नहीं, क्योकि आप जीवात्मा के स्वतन्त्र कर्तृत्व पर श्रद्धा रखते हैं। इस लिए आपको अनेकान्तवादी या स्याद्वादी कहना क्यो ठीक नहीं है?

(३) आपने कई बार लिखा है कि ईश्वर का अर्थ देहविरहित, वीतरागी, स्वतन्त्र और उपाधिरहित शुद्धात्मा है। अर्थात् ईश्वर ने सृष्टि नहीं पैदा की और वह पापपुण्य का हिसाब नहीं देने बैठता। तो भी आप ईश्वरच्छा की बात बार-बार करते ही रहते हैं। उपाधिरहित ईश्वर को इच्छा कैसे हो सकती है और उसकी इच्छा के अधीन आप कैसे हो सकते हैं? आपकी आत्मा जो कुछ करना चाहती, कर सकती है। यदि एकदम न (कर) सकती हो तो उसी आत्मा का पूर्वसंचित कर्म ही उसका कारण है, न कि ईश्वर। आप सत्याग्रही होने के कारण सिर्फ मूढात्माओ को समझाने के लिए यह असत्य बात नहीं कहते होगे। तो फिर यह ईश्वरेच्छा का दैववाद क्यों?"

(१) वर्णभेद को मानने मे मैं सृष्टि के नियमो का समर्थन करता हूँ। माता-पिता के कुछ गुण-दोषो को हमलोग जन्म से ही प्राप्त करते है। मनुष्य योनि मे मनष्य ही पैदा होते हैं और यही जन्मानुसार वर्णो का सूचक है। और

जन्म से प्राप्त गुण-दोषों में हम लोग अमुक अंशों में परिवर्तन कर सकते हैं, इसलिए कर्म को भी स्थान है। एक ही जन्म में पूर्व-जन्म के फलों का सर्वथा मिटा देना शक्य नहीं है। इस अनुभव की दृष्टि से तो जो जन्म से ब्राह्मण है उसे ब्राह्मण मानने में ही सब प्रकार का लाभ है। विपरीत कर्म करने से ब्राह्मण यदि इसी जन्म में शूद्र बने तो भी समाज उसे ब्राह्मण ही माना करे तो उससे समाज की कोई हानि न होगी। यह सच है कि आज वर्णभेद का उल्टा अर्थ हो रहा है और इसलिए यह भी सच है कि वह छिन्नभिन्न हो गया है। फिर भी जिस नियम का मैं पग-पग पर अनुभव करता हूं उससे कैसे इन्कार कर सकता हूं? मैं समझता हूं कि यदि मैं उससे इन्कार करूँ तो बहुत-सी मुश्किलों से बच जाऊंगा। लेकिन यह दुर्बुद्धि का मार्ग है। मैंने तो यह स्पष्ट पुकारकर कहा है कि वर्ण की स्वीकृति-द्वारा मैं ऊंच-नीच के भेद को स्वीकार नहीं करता। जो सच्चा ब्राह्मण है वह तो सेवक का भी सेवक बनकर रहता है। ब्राह्मण में भी क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के गुण रहते हैं। केवल उसमें ब्राह्मण गुण दूसरे गुणों की अपेक्षा अधिक होना चाहिए। लेकिन आज तो वर्ण भी चाक पर चढ़ा हुआ है और उसमें से क्या निकलेगा यह तो ईश्वर ही या ब्राह्मण ही जान सकते हैं।

(२) यह सच है कि मैं अपने को अद्वैतवादी मानता हूँ लेकिन मैं द्वैतवाद का भी समर्थन कर सकता हूं। सृष्टि में प्रतिक्षण परिवर्तन होता है इसीलिए सृष्टि असत्य—अस्तित्वरहित—कही जाती है। लेकिन परिवर्तन होने पर भी उसका एक रूप ऐसा है, जिसे स्वरूप कह सकते हैं, उस रूप में वह है, यह भी हम लोग देख सकते हैं इसलिए वह सत्य भी है। उसे सत्यासत्य कहें तो भी मुझे कोई आपत्ति नहीं है। इसलिए यदि मुझे अनेकान्तवादी या स्याद्वादी माना जाय तो भी इससे मेरी कोई हानि न होगी। जिस प्रकार मैं स्याद्वाद को जानता हूँ उसी प्रकार मैं उसे मानता हूं, पंडित लोग जैसा मानना चाहें वैसा शायद नहीं मानता। वे मुझे वाद-विवाद करने के लिए बुलायें तो मैं हार जाऊंगा। मैंने अपने अनुभव से यह देखा है कि मैं अपनी दृष्टि से हमेशा ही सच्चा होता हूं और मेरे प्रामाणिक टीकाकार की दृष्टि से मैं बहुत-सी बातों में भी गलती पर होता हूं। मैं यह जानता हूँ कि अपनी-अपनी दृष्टि से हम दोनों ही सच्चे हैं। और इस ज्ञान के कारण मैं किसी को भी सहसा झूठा, कपटी इत्यादि नहीं मान सकता। सात अन्धों ने हाथी का सात प्रकार से वर्णन किया था और वे सब अपनी-अपनी दृष्टि से सच्चे थे, आपस में एक-दूसरे की दृष्टि से गलत थे और ज्ञानी की दृष्टि से सच्चे भी थे और गलत भी थे। मुझे यह अनेकान्तवाद बड़ा ही प्रिय है। उसमें से ही मैंने मुसलमान की दृष्टि से मुसलमान की और ईसाई की दृष्टि से ईसाई की परीक्षा

करना सीखा है। मेरे विचारो को जब कोई गलत समझता था तो पहिले मुझे उस पर बडा क्रोध होता था लेकिन अब मैं उसकी आखो से उसका दृष्टि विन्दु भी देख सकता हूँ इसलिए मै उस पर भी प्रेम कर सकता हूँ क्योकि मैं ससार के प्रेम का भूखा हूँ। अनेकान्तवाद का मूल अहिंसा और सत्य का युगल है।

(३) ईश्वर के जिस रूप को मैं मानता हूँ उसी का मैं वर्णन करता हूँ। झूठ-मूठ लोगो को समझाकर मै अपना अध पतन किसलिए होने दूं ? मुझे उनसे कौन सा ईनाम लेना है ? मैं तो ईश्वर को कर्ता-अकर्त्ता मानता हूँ, उसका भी मेरे स्याद्वाद से उद्भव होता है। जैनो के स्थान पर वैठ कर उसका अकर्तृत्व सिद्ध करता हूँ और रामानुज के स्थान पर बैठ कर उसका कर्तृत्व सिद्ध करता हूँ। हम सब अचिन्त्य का चिन्तन करते है, अवर्णनीय का वर्णन करते है और अज्ञेय को जानना चाहते हैं इसलिए हमारी भाषा तुतलाती है, अपूर्ण है और कभी-कभी तो वक्र भी होती है। इसीलिए तो ब्रह्म के लिए वेदो ने अलौकिक शब्दो की रचना की और उसका नेति के विशेषण से परिचय दिया। लेकिन यद्यपि वह यह नही है, फिर भी वह है। अस्ति सत्, सत्य ०, १, ११ यह कह सकते हैं। हम लोग हैं, हमे पैदा करनेवाले माता-पिता है और उनके भी पैदा करने वाले हैं इसलिए सबको पैदा करनेवाला भी एक है, यह मानने मे कोई पाप नही है लेकिन पुण्य है। यह मानना धर्म है। यदि वह नही है तो हम भी नही हो सकते है। इसीलिए हम सब उसे एक स्वर से परमात्मा, ईश्वर, शिव, विष्णु, राम, अल्लाह, खुदा, दादा होरमज, जिहोवा, गाड इत्यादि अनेक और अनन्त नामो से पुकारते हैं। वह एक है, अनेक है, अणु से भी छोटा और हिमालय से भी बडा है। वह समुद्र के एक विन्दु मे भी समा सकता है और ऐसा भारी है कि सात समुद्र मिल कर भी उसे सहन नही कर सकते। उसे जानने के लिए बुद्धिवाद का उपयोग ही क्या हो सकता है ? वह तो बुद्धि से अतीत है। ईश्वर के अस्तित्व को मानने के लिए श्रद्धा की आवश्यकता है। मेरी वुद्धि अनेक तर्क-वितर्क कर सकती है। वडे भारी नास्तिक के साथ विवाद करने मे मैं हार सकता हूँ, फिर भी मेरी श्रद्धा वुद्धि से भी इतनी अधिक आगे दौडती है कि मैं समस्त ससार का विरोध होने पर भी यही कहूँगा कि ईश्वर है, वह अवश्य है।

लेकिन जिसे ईश्वर का इन्कार करना है उसे उसका इन्कार करने का भी अधिकार है। क्योकि वह तो वडा दयालु है, रहीम है, रहमान है। वह मिट्टी का बना हुआ कोई राजा नही है कि उसे अपनी दुहाई कुबूल कराने के लिए सिपाही रखने पडे। वह तो हम लोगो को स्वतन्त्रता देता हैं फिर भी केवल अपनी दया के वल से हम लोगो को नमन करने के लिए विवश करता है। लेकिन हम लोगों

में से यदि कोई मनन न भी करे तो भी वह कहता है—वृथा मे न करो, मेरा सूर्य तो तुम्हारे लिए भी रोशनी देगा, मेरा मेघ तो तुम्हारे लिए भी पानी बरसायेगा। अपना अधिकार चलाने के लिए मुझे तुम पर जबरदस्ती करने की कोई आवश्यकता नहीं है। जो नादान है वह भले ही उसे न माने लेकिन मैं करोड़ो बुद्धिमानों में से एक हूँ, इसलिए उसको प्रणाम करने से कभी नहीं थकता।

—न० जी०। हि० न० जी०। २१।१।१९२६]

- आज वर्ण-भेद का उलटा अर्थ हो रहा है इसलिए वह छिन्न-भिन्न हो गया है।
- वर्ण की स्वीकृति-द्वारा मैं ऊँच-नीच के भेद को स्वीकार नहीं करता।
- जो सच्चा ब्राह्मण है वह तो सेवक का भी सेवक बनकर रहता है।
- मुझे अनेकान्तवाद बडा प्रिय है।
- अनेकान्तवाद का मूल अहिंसा और सत्य का युगल है।
- मैं ईश्वर को कर्ता-अकर्ता मानता हूँ।
- हम सब अचिन्त्य का चिन्तन करते हैं, अवर्णनीय का वर्णन करते हैं और अज्ञेय को जानना चाहते हैं।
- वह (ईश्वर) एक है; अनेक है, अणु से भी छोटा और हिमालय से भी बडा है।
- ईश्वर है, वह अवश्य है।
- वह (ईश्वर) बडा दयालु है, रहीम है, रहमान है।

४२. धर्म-सम्बन्धी कुछ प्रश्न

एक भाई ने धर्म-सम्बन्धी कुछ प्रश्न पूछे हैं। ऐसे प्रश्न अनेक बार पूछे जाते हैं। उनका उत्तर देने मे हमेशा थोडा-बहुत सकोच बना रहता है। परन्तु (मैंने) ऐसे प्रश्नो पर विचार किया है, निर्णय किया, फिर है, भी उनका उत्तर न देना उचित नहीं मालूम देता। इसलिए निम्नलिखित प्रश्नो का यथामति उत्तर देता हूँ।

"प्राचीन समय मे होने वाले यज्ञो के सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं? इससे वायु-शुद्धि होती है या नहीं? आज ऐसे यज्ञो के लिए स्थान है? कुछ संस्थाएँ ऐसे यज्ञो का पुनरुद्धार करती हैं, इससे क्या लाभ होगा?"

यज्ञ शब्द सुन्दर है, शक्तिमान् है। जैसे-जैसे ज्ञान और अनुभव की वृद्धि होती है अथवा युग बदलता है वैसे ही उसके अर्थ का भी विस्तार हो सकता है

करना सीखा है। मेरे विचारो को जब कोई गलत समझता था तो पहिले मुझे उस पर बड़ा रोष होता था लेकिन अब मैं उसकी आखो से उसका दृष्टि विन्दु भी देख सकता हूँ इसलिए मै उस पर भी प्रेम कर सकता हूँ क्योकि मैं ससार के प्रेम का भूखा हूँ। अनेकान्तवाद का मूल अहिसा और सत्य का युगल है।

(३) ईश्वर के जिस रूप को मै मानता हूँ उसी का मैं वर्णन करता हूँ। झूट-मूठ लोगो को समझाकर मै अपना अध पतन किसलिए होने दूं ? मुझे उनसे कौन सा इनाम लेना है ? मै तो ईश्वर को कर्ता-अकर्त्ता मानता हूँ, उसका भी मेरे स्याद्वाद से उद्‌भव होता है। जैनो के स्थान पर वैठ कर उसका अकर्तृत्व सिद्ध करता हूँ और रामानुज के स्थान पर वैठ कर उसका कर्तृत्व सिद्ध करता हूँ। हम सब अचिन्त्य का चिन्तन करते है; अवर्णनीय का वर्णन करते है और अज्ञेय को जानना चाहते है इसलिए हमारी भाषा तुतलाती है, अपूर्ण है और कभी-कभी तो वक्र भी होती है। इसीलिए तो ब्रह्म के लिए वेदो ने अलौकिक शब्दो की रचना की और उसका नेति के विशेषण से परिचय दिया। लेकिन यद्यपि वह यह नही है, फिर भी वह है। अस्ति सत्, सत्य ०, १, ११ यह कह सकते हैं। हम लोग हैं, हमे पैदा करनेवाले माता-पिता हैं और उनके भी पैदा करने वाले हैं इसलिए सबको पैदा करनेवाला भी एक है, यह मानने मे कोई पाप नही है लेकिन पुण्य है। यह मानना धर्म है। यदि वह नही है तो हम भी नही हो सकते है। इसीलिए हम सब उसे एक स्वर से परमात्मा, ईश्वर, शिव, विष्णु, राम, अल्लाह, खुदा, दादा होरमज, जिहोवा, गाड इत्यादि अनेक और अनन्त नामो से पुकारते है। वह एक है, अनेक है, अणु से भी छोटा और हिमालय से भी बडा है। वह समुद्र के एक बिन्दु मे भी समा सकता है और ऐसा भारी है कि सात समुद्र मिल कर भी उसे सहन नही कर सकते। उसे जानने के लिए बुद्धिवाद का उपयोग ही क्या हो सकता है? वह तो बुद्धि से अतीत है। ईश्वर के अस्तित्व को मानने के लिए श्रद्धा की आवश्यकता है। मेरी बुद्धि अनेक तर्क-वितर्क कर सकती है। बड़े भारी नास्तिक के साथ विवाद करने मे मैं हार सकता हूँ, फिर भी मेरी श्रद्धा बुद्धि से भी इतनी अधिक आगे दौडती है कि मैं समस्त ससार का विरोध होने पर भी यही कहूँगा कि ईश्वर है, वह अवश्य है।

लेकिन जिसे ईश्वर का इन्कार करना है उसे उसका इन्कार करने का भी अधिकार है। क्योकि वह तो बडा दयालु है, रहीम है, रहमान है। वह मिट्टी का बना हुआ कोई राजा नही है कि उसे अपनी दुहाई कुबूल कराने के लिए सिपाही रखने पडे। वह तो हम लोगो को स्वतन्त्रता देता है फिर भी केवल अपनी दया के बल से हम लोगो को नमन करने के लिए विवश करता है। लेकिन हम लोगो

मे से यदि कोई मनन न भी करे तो भी वह कहता है—खुशी से न करो, मेरा सूर्य तो तुम्हारे लिए भी रोशनी देगा, मेरा मेघ तो तुम्हारे लिए भी पानी बरसायेगा। अपना अधिकार चलाने के लिए मुझे तुम पर जबरदस्ती करने की कोई आवश्यकता नहीं है। जो नादान है वह भले ही उसे न माने लेकिन मैं करोड़ो बुद्धिमानो मे से एक हूँ, इसलिए उसको प्रणाम करने से कभी नहीं थकता।
—न० जी०। हि० न० जी०। २१।१।१९२६]

- आज वर्ण-भेद का उल्टा अर्थ हो रहा है इसलिए वह छिन्न-भिन्न हो गया है।
- वर्ण की स्वीकृति-द्वारा मैं ऊँच-नीच के भेद को स्वीकार नहीं करता।
- जो सच्चा ब्राह्मण है वह तो सेवक का भी सेवक बनकर रहता है।
- मुझे अनेकान्तवाद बड़ा प्रिय है।
- अनेकान्तवाद का मूल अहिंसा और सत्य का युगल है।
- मैं ईश्वर को कर्ता-अकर्ता मानता हूँ।
- हम सब अचिन्त्य का चिन्तन करते हैं, अवर्णनीय का वर्णन करते हैं और अज्ञेय को जानना चाहते हैं।
- वह (ईश्वर) एक है; अनेक है, अणु से भी छोटा और हिमालय से भी बड़ा है।
- ईश्वर है, वह अवश्य है।
- वह (ईश्वर) बड़ा दयालु है, रहीम है, रहमान है।

४२. धर्म-सम्बन्धी कुछ प्रश्न

एक भाई ने धर्म-सम्बन्धी कुछ प्रश्न पूछे हैं। ऐसे प्रश्न अनेक बार पूछे जाते हैं। इनका उत्तर देने मे हमेशा थोड़ा-बहुत सकोच बना रहता है। परन्तु (मैंने)ऐसे प्रश्नो पर विचार किया है, निर्णय किया, फिर है, भी उनका उत्तर न देना उचित नही मालूम देता। इसलिए निम्नलिखित प्रश्नो का यथामति उत्तर देता हूँ।

"प्राचीन समय मे होने वाले यज्ञो के सम्बन्ध मे आपके क्या विचार हैं? इससे वायु-शुद्धि होती है या नहीं? आज ऐसे यज्ञो के लिए स्थान है? कुछ सस्थाएँ ऐसे यज्ञो का पुनरुद्धार करती हैं, इससे क्या लाभ होगा?"

यज्ञ शब्द सुन्दर है, शक्तिमान् है। जैसे-जैसे ज्ञान और अनुभव की वृद्धि होती है अथवा युग बदलता है वैसे ही उसके अर्थ का भी विस्तार हो सकता है

और वह बदल भी सकता है। यज्ञ का अर्थ पूजन, बलिदान, परमार्थिक कर्म हो सकता है। इस अर्थ मे यज्ञ का हमेशा पुनरुद्धार होना ही उचित है। परन्तु शास्त्रो मे यज्ञ के नाम से जो विभिन्न क्रियाएँ वर्णित की गई है उनका पुनरुद्धार इष्ट या सम्भव नही। कुछ क्रियाए तो हानिकारक भी हैं। उन क्रियाओ का आज जो अर्थ किया जाता है, वह अर्थ वैदिक काल मे रहा होगा या नही, इस विषय मे भी सन्देह बना रहता है। सन्देह को स्थान हो या न हो परन्तु उसकी बहुत-सी क्रियाए ऐसी है कि उनको आज हमारी बुद्धि या नीति स्वीकार नही कर सकती। शास्त्रज्ञ लोग कहते हैं कि पहिले नरमेध होता था। क्या आज वह हो सकता है? यदि कोई अश्वमेध करने बैठे, तो यह क्रिया हास्यजनक ही मालूम होगी। यज्ञ से हवा की शुद्धि होती है या नही, इस विचार के झमेले मे पडना अनावश्यक है, क्योकि वायु-शुद्धि-जैसा तुच्छ फल प्राप्त होगा या नही, यह विचार धार्मिक क्रिया के सम्बन्ध मे नही किया जा सकता। हवा की शुद्धि के लिए आज भौतिक-शास्त्र का आधुनिक ज्ञान हमारी बहुत सहायता कर सकता है। शास्त्र के सिद्धान्त भिन्न हैं और उन सिद्धान्तो पर रचित क्रियाएँ अलग चीज हैं। सिद्धान्त हर समय, हर जगह एक ही होता है। क्रियाएँ समय-समय पर स्थान-विशेष के अनुरूप बदलती रहती हैं।

"हम लोगों में साधारणतया यह बात कही जाती है कि मानव-जन्म बार-बार नहीं मिलता, इसलिए ईश्वर का भजन करो। यह मनुष्य-जन्म चूकोगे तो फिर चौरासी लाख योनियों में भटकना होगा। इसमें सत्य क्या है? कबीर भी एक भजन में कहते हैं—"कहे कबीर चेत अजहूं नहिं, फिर चौरासी जाई, पाय जनम शूकर कूकर को भोगेगा दुख भाई।" इसमे ग्रहण करने योग्य रहस्य क्या है?"

मैं इसे अक्षरश मानता हूँ। अनेक योनियो मे भ्रमण करने के बाद ही मनुष्य जन्म मिल सकता है और मोक्ष अथवा द्वन्द्वादि से मुक्ति भी मनुष्य-देह के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। यदि अन्त मे आत्मा एक ही है तो उसके अनेक आत्मारूप से असख्य योनियो मे भ्रमण करना असम्भव या आश्चर्यजनक प्रतीत नही होना चाहिए। इसे बुद्धि भी स्वीकार करती है और कुछ लोग तो अपने पूर्व-जन्म का स्मरण भी कर सकते हैं।

"प्राणायाम से समाधि तक पहुँचनेवाला योगी और इन्द्रिय-सयमी इन दो मनुष्यो मे कौन अपनी आत्मा का अधिक कल्याण करता होगा?"

इस प्रश्न मे सयम और योग के विरोधी होने की कल्पना की गई है। लेकिन सच बात तो यह है कि पहिला दूसरे का कारण है अथवा पहिला दूसरे का सहायक है। सयम के विना समाधि कुम्भकर्ण की निद्रा हो जाती है। समाधि के विना

संयम होना कठिन है। यहाँ समाधि का व्यापक अर्थ लेना चाहिए, हठयोगी की समाधि नहीं। यह नहीं कि हठयोगी की समाधि इन्द्रिय-संयम के लिए आवश्यक है। यह समाधि भले ही सहायक हो सकती है, परन्तु अभी तो सामान्य समाधि ही इष्ट है। सामान्य समाधि का अर्थ है निश्चित की हुई वस्तु के लिए तन्मय हो जाने की शक्ति। स्मरण रखना चाहिए कि इन्द्रिय-संयम बिना योग की साधना निरर्थक है।

"स्वाश्रयी मनुष्य स्वयं खेती करके अपने लिए अनाज पैदा करे, खेती के लिए आवश्यक औजार, हल आदि भी स्वयं बनाये, बढ़ई का काम भी खुद करे, कपड़े भी खुद ही बनाये, रहने के लिए मकान भी स्वयं बनाये—अर्थात् अपने लिए जिन चीजों की आवश्यकता हो, वह स्वयं बना ले, अपनी आवश्यकता के लिए दूसरे को न रखे। यदि स्वाश्रयी ऐसा करे तो, यह उचित कहा जायगा या अनुचित? आपने स्वाश्रयी की क्या व्याख्या की है?"

स्वाश्रय का अर्थ है किसी की सहायता बिना सीधे खड़े रहने की शक्ति। इसका मतलब यह नहीं कि स्वाश्रयी दूसरों की सहायता के सम्बन्ध में लापरवाह हो जाय, उसका त्याग करे अथवा दूसरों की मदद न चाहे, न माँगे। परन्तु यदि दूसरों की मदद चाहने और माँगने पर भी न मिल सके तो भी जो मनुष्य स्वस्थ रह सकता है, स्वमान की रक्षा कर सकता है, वह स्वाश्रयी है। जो किसान दूसरे की सहायता उपलब्ध होने पर भी स्वयं ही हल जोते, अनाज बोये, फसल काटे, खेती के औजार तैयार करे, अपने वस्त्र स्वयं ही काते, बुने या सिले, अपने लिए अनाज भी स्वयं तैयार करे और घर भी खुद बनाये—वह बेवकूफ, अभिमानी या जंगली होगा। स्वाश्रय में शरीर-यज्ञ तो आ ही जाता है—अर्थात् प्रत्येक मनुष्य को अपनी आजीविका के लिए आवश्यक शारीरिक श्रम करना चाहिए। इसलिए जो मनुष्य आठ घण्टे खेती का काम करता है उसे जुलाहा, बढ़ई, लुहार आदि कारीगरों की मदद लेने का अधिकार है। उसका धर्म उनसे मदद लेना है और उसे वह सहज ही मिल सकती है। बढ़ई, लुहार आदि कारीगर-वर्ग किसान की मेहनत लेकर उससे अन्नादि प्राप्त कर सकते हैं। जो आँख हाथ की सहायता बिना काम चला लेने का इरादा रखती है, वह स्वाश्रयी नहीं, अभिमानी है। जिस प्रकार हमारे शरीर में अवयव अपने कार्य के सम्बन्ध में स्वाश्रयी है, फिर भी एक दूसरे की सहायता करने में परोपकारी हैं और इस तरह परस्पर-सहायता लेने के कारण परावलम्बी है, उसी प्रकार हिन्दुस्तान रूपी शरीर के हम लोग तीस कोटि अवयव हैं। सबको अपने-अपने क्षेत्र में स्वाश्रयी बनने का धर्म पालन करना चाहिए और स्वयं को राष्ट्र का अंग सिद्ध करने के लिए एक दूसरे के साथ सहायता का विनिमय भी करना चाहिए।

"आजकल लग्न की क्रिया, सन्ध्या, यज्ञ की क्रिया, ईश-प्रार्थना आदि क्रियाएँ संस्कृत मन्त्रो से कराई जाती हैं। करानेवाला मन्त्र बोलता है। और करनेवाला उसका रहस्य समझे बिना उसमे सम्मिलित होता है। अब संस्कृत मातृभाषा नहीं रही। बहुत-से पण्डित लोगों को ईश-प्रार्थना, सन्ध्या, यज्ञ आदि सस्कृत मन्त्रों से ही करने को कहते हैं। लोगो को उस भाषा का ज्ञान नहीं होता फिर वे उसमें एकचित्त कैसे हो सकते हैं? संस्कृत बडी कठिन भाषा है। इसलिए मै मानता हूँ कि उसके मन्त्रों को रटने मे और फिर उसके अर्थों को याद करने में दुगनी मेहनत होती है। जिस समय सस्कृत मातृभाषा थी, उन दिनो जन-समाज का समस्त कामकाज उसी के द्वारा चलता था और यह उचित ही था। परन्तु अब वैसी स्थिति नहीं है। हर एक व्यक्ति अपनी क्रियाएँ अपनी मातृभाषा के द्वारा ही करे, यह लाभप्रद होगा, लेकिन अभी तो उल्टा ही काम हो रहा है। जन-समाज में उपर्युक्त सब कर्म संस्कृत मे ही कराये जाते हैं।"

मेरा अभिप्राय यह है कि सभी हिन्दू धार्मिक क्रियाओ मे सस्कृत होनी ही चाहिए। अनुवाद कितना ही अच्छा क्यो न हो फिर भी मूल शव्दो की ध्वनि मे जो रहस्य होता है, वह उसमे नही मिलता। हज़ारो वर्ष हुए, जो भाषा सस्कारी बनी है और जिसमे अमुक मन्त्र बोले जाते हैं, उनको प्राकृत मे ले आने मे और उतने से ही सन्तोष मान लेने मे उसका गाम्भीर्य कम हो जाता है। मेरे मन मे इस विषय मे कोई सन्देह नही कि जो मन्त्र जिसके लिए बोले जाते हैं और जो क्रिया होती है उनका अर्थ उसे उसकी भाषा मे अवश्य ही समझाना चाहिए। लेकिन मेरा अभिप्राय यह है कि किसी भी हिन्दू की शिक्षा तबतक अपूर्ण ही रहती है, जबतक उसे सस्कृत भाषा के मूल तत्वो का ज्ञान नही कराया जाता। मैं बहुत बडे परिमाण मे सस्कृत-ज्ञान के विना हिन्दू धर्म के अस्तित्व की कल्पना नही कर सकता। हम लोगो ने अपने शिक्षाक्रम के कारण ही भाषा को कठिन बना दिया है। वह वस्तुत. कठिन नही है। यदि कठिन भी हो तो धर्म का पालन तो उससे भी अधिक कठिन है। इसलिए जिन्हे धर्म का पालन करना है, उन्हे उसका पालन करने के लिए जिन साधनो की आवश्यकता हो, वे कठिन हो तो भी उन्हे वे सरल ही मालूम होने चाहिए।

—न० जी०। हि० न० जी०, ८।४।१९२६]

- यज्ञ शब्द सुन्दर है, शक्तिमान है।
- यज्ञ का अर्थ पूजन, वलिदान, परमार्थिक वर्ग हो सकता है।
- सिद्धान्त हर समय, हर जगह एक ही होता है।

- सयम के विना समाधि कुम्भकर्ण की निद्रा हो जाती है।
- समाधि के विना सयम होना कठिन हे।
- सामान्य समाधि का अर्थ हे निश्चित की हुई वस्तु के लिए तन्मय हो जाने की शक्ति।
- स्वाश्रय का अर्थ है किसी की सहायता विना सीधे खडे रहने की शक्ति।
- स्वाश्रय मे शरीर यज्ञ ..आ जाता हे।
- सभी हिन्दू धार्मिक क्रियाओ मे सस्कृत होनी ही चाहिए।
- मैं बहुत वड परिमाण मे सस्कृत-ज्ञान के विना हिन्दू धर्म के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं कर सकता।

४३. श्राद्ध और सगर-आख्यान

[प्रश्नोत्तर]

प्रश्न—श्राद्ध के सम्वन्ध मे आपका क्या विचार है? क्या श्राद्ध करने से सद्गति होती है? मृत्यु हो जाने के वाद अस्थि किसी तीर्थ स्थान मे ले जाते हैं। इसका क्या रहस्य है? राजा सगर के पुत्रो का उद्धार भगीरथ ने गगाजल से किया था, इसका क्या रहस्य है? अजामिल अपने पुत्र का नाम रटते हुए मृत्यु को प्राप्त हुआ था, अर्थात् अपने पुत्र के प्रति ममत्व रखने पर भी वह केवल सयोग-वश पुत्र का नारायण नाम रखने (और उसका मृत्यु के समय उच्चारण करने) से मुक्त हुआ। क्या इस तरह मुक्त हुआ जा सकता है?

उत्तर—मैं श्राद्ध के सम्वन्ध मे उदासीन हूँ। उसकी कोई आध्यात्मिक उपयोगिता हो भी तो उमे मैं नही जानता। श्राद्ध से मृत मनुष्य की सद्गति होती है, यह भी मेरी समझ मे नही आता। मृत देह की अस्थि ले जाकर गगा जी मे डालने से एक प्रकार के धार्मिक भावो मे वृद्धि होती होगी, इसके अलावा कोई अन्य लाभ होता हो तो उसे मैं नही जानता।

मेरा अभिप्राय यह है कि राजा सगर की वात एक रूपक है, ऐतिहासिक नही। नारायण नाम के उच्चारण के सम्वन्ध मे जो वात कही जाती हैं, वह केवल श्रद्धा वढाने के लिए है। मैं इसे स्वीकार नही कर सकता कि उस मन्त्रोच्चार का अर्थ समझे विना ही जो मनुष्य अपने पुत्र का नाम होने के कारण मृत्यु के समय नारायण का उच्चार करता है, उसे भी मुक्ति मिल जाती है। लेकिन

जिसके हृदय मे नारायण का वास है और जो इसलिए उस मन्त्र को रटता है, उसे मोक्ष अवश्य ही प्राप्त होता है।

—न० जी०। हि० न० जी०, १५।४।१९२६]

४४. मेरा हिन्दुत्व

मैं अपने को सनातनी हिन्दू इसलिए कहता हूँ कि मैं वेदो, उपनिषदो, पुराणो और पवित्र सुधारको के लेखो मे विश्वास रखता हूँ। इस विश्वास के लिए मुझे प्रत्येक वस्तु पर जो शास्त्र के नाम से अभिहित हो, आप्तवाक्य कह कर विश्वास करने की जरूरत नही है। जिन बातो से नीति के मूल सिद्धान्तो का विरोध होता है, मैं उन सभी का विरोध करता हूँ। मेरे लिए पण्डितो की सभी आज्ञाओ या उनके अर्थ मे विश्वास करना आवश्यक नही है। इससे बडी बात यह है कि मैं अपने को सनातनी हिन्दू तभी तक कहता हूँ जब तक साधारण हिन्दू समाज मुझे इस रूप मे स्वीकार करता है। स्थूल रूप से वह आदमी हिन्दू है जो ईश्वर मे विश्वास करता है, आत्मा की अविनश्वरता, पुनर्जन्म, कर्म-सिद्धान्त और मोक्ष मे विश्वास रखता है, अपने दैनिक जीवन मे सत्य-अहिंसा का अभ्यास करने का प्रयत्न करता है और इसलिए अत्यन्त व्यापक अर्थ मे गोरक्षा करता है, वर्णाश्रम धर्म को समझता है और उस पर चलने का प्रयत्न करता है।

—यं० इं०। हि० न० जी०, १४।१०।१९२६]

४५. गोरक्षा

तर्क की दृष्टि से तो अगर कोई हिन्दू गाय की रक्षा करता है, तो उसे अन्य पशुओ की रक्षा भी करनी चाहिए। लेकिन सब बातो को ध्यान मे रखते हुए हम उसकी गोरक्षा पर केवल इसीलिए आपत्ति नही कर सकते कि वह अन्य पशुओ को नही बचाता। इसलिए केवल यही प्रश्न विचार के लिए रह जाता है कि गोरक्षा करके वह उचित करता है या अनुचित। अहिंसा मे विश्वास करनेवाला गोरक्षा करने मे तब गलत रास्ते पर नही है जब पशुओ को न मारना सामान्य रूप से कर्त्तव्य मान लिया जाय। इसलिए प्रत्येक धर्मान्ध हिन्दू ऐसा करता है।

पशुओं को न मारना, सामान्य रूप से एक निर्विवाद बात मान ली जानी चाहिए। तब हिन्दू धर्म के लिए यह सराहनीय बात हो जायगी कि उसने गोरक्षा को कर्त्तव्य समझ कर हाथ में लिया है। गो तो उसका एक चिह्न -स्वरूप है और हिन्दू से आशा की जाती है कि वह कम-से-कम गो-रक्षा तो करेगा ही। लेकिन जैसा कि मैं अपने पिछले लेखों में बतला चुका हूँ, वह इस प्रारम्भिक कर्त्तव्य-पालन में भी च्युत हो रहा है।

जहाँ तक मुझे मालूम है यह हिन्दू धर्म का अंग नहीं कि गोरक्षा में विश्वास न रखने वालों को बलात् गोवध करने से रोका जाय।

—य० इं०। हि० न० जी०, २।१२।१९२६]

४६. मेरी स्थिति

पर-धर्म का शुद्ध पक्ष लेने से मैं अपने धर्म की रक्षा ही करता हूँ। मैं हिन्दू धर्म का नाश नहीं चाहता। मैं नाश कर नहीं सकता क्योंकि मैं हिन्दू महासागर की केवल एक बूँद हूँ। मुसलमान मुझे काफिर कहे तो इसमें क्या? उसका जवाब क्यों देना चाहिए? मेरा भाजा मेरे ही साथ रहता था। जब दूसरों को लगता था कि मैं उसके साथ पक्षपात कर रहा हूँ, उस समय मैंने और उसने भी समझा कि मैं उसके साथ न्याय नहीं करता था। मेरे तो चौबीस घण्टे श्रीकृष्ण भगवान को समर्पित है। वही मेरी रक्षा करते हैं और मैं दासानुदास श्रीकृष्ण, भगवान से सदा प्रार्थना करता हूँ, हे कृष्ण, मेरी ओर से जो उत्तर देना हो, जा, तूही दे आ।

—य० इं०। हि० न० जी०, ३।३।१९२७]

४७. वेद-वचन

वेद-वचनों का जो अर्थ बुद्धि और हृदय को न जँचनेवाला न हो, वह त्याज्य है। बाह्याचार में धर्म का रहस्य निहित नहीं है, किन्तु यह प्रायः अन्तर की भावना प्रकट करता है। जहाँ आत्म-विद्या का अभ्यास चलता हो, वहाँ मैं प्राचीन आर्य ऋषियों की आर्य संस्कृति और सादगी देखने की आशा करता हूँ।

—न० जी०। हि० न० जी०, २५।८।१९२७]

४८. दीक्षा का अधिकार

[जावरा रियासत की गुलाब बाई नामक एक षोडशवर्षीया विवाहिता ने एक पत्रिका छपवाकर बटवाई थी। इससे ज्ञात होता था कि उक्त स्त्री के पति ने थोडी ही उम्र मे घर त्याग कर दीक्षा लेने का निश्चय किया था, जो उस समय तक पूरा नहीं हो सका था। उक्त स्त्री और उसके पति के सम्बन्ध में पूछे जाने पर गांधी जी ने जो विचार व्यक्त किये, वे यहाँ संकलित किये जा रहे हैं।—सम्पा०]

मुझे आशा है कि इस युवक को कोई दीक्षा नही देगा, यही नही बल्कि यह स्वय ही अपना धर्म समझेगा। छोटी अवस्था मे बुद्ध या शकराचार्य-जैसे दीक्षा लें, यह सम्भव है। किन्तु यदि हर एक जवान दीक्षा लेने लगे तो वह अपने धर्म को शोभा देने के बजाय उसे लजायेगा। आजकल ली जाने वाली दीक्षा मे कायरता के सिवा कुछ दीख नही पडता और इसीलिए साधु लोग तेजस्वी होने के बदले हम लोगो-जैसे ही दीन और ज्ञान-हीन होते हैं। दीक्षा लेना पराक्रम का काम है। इसके पीछे पूर्वजन्म का प्रबल सस्कार या इस जन्म मे अर्जित अनुभव-ज्ञान होना चाहिए। वृद्ध माता और तरुण पत्नी का तनिक भी विचार किये बिना, दीक्षा लेने-वाले को इतना वैराग्य होना चाहिए कि आस-पास का समाज उसे समझे विना न रहे। ऐसी कोई सम्पत्ति इस युवक के पास देखने मे नही आती।

दीक्षा लेने को उत्सुक जवान, इसका अधिक विस्तृत अर्थ क्यो नही कर सकता? अभी तो ससार-धर्म का पालन करने वाले भी वहुत कम देखने मे आते है। घर मे बैठ कर दीक्षा-प्राप्त जैसा जीवन बिताने मे कम पराक्रम की आवश्यकता नही। असली कसौटी तो उसी मे होती है। मैं बहुत-से दीक्षा लिये हुए व्यक्तियो को जानता हूँ। वे बेचारे सरलता से स्वीकार करते हैं कि उन्होंने न तो प्रमाद को जीता है, न पाच इन्द्रियो को। उन्होंने तो दीक्षा लेकर अपने खाने-पीने की और भी अधिक सुविधा कर ली है। सन्तोपपूर्वक पवित्र रह कर, सत्य का पालन करते हुए गृहस्थी चलाना, परस्त्री को माँ-बहिन जैसी जानना, अपनी स्त्री के साथ भी मर्यादा मे रह कर ही भोग भोगना, शास्त्रादि का अभ्यास करना और यथाशक्ति देशसेवा करना—यह कोई साधारण दीक्षा नही है। दीक्षा का अर्थ आत्मार्पण है। आत्म-समर्पण बाहरी आडम्बर से नही होता। यह मानसिक वस्तु है। और उसके साथ अनेक वाह्याचार आवश्यक हो जाते हैं। लेकिन वे तभी शोभा देंगे, जब वे आन्तरिक त्याग के वाह्य चिह्न मात्र हो। उसके विना वे निर्जीव पदार्थ हैं।

—न० जी०। हि० न० जी०। ११।१९२७]

- दीक्षा लेना पराक्रम का काम है।
- दीक्षा का अर्थ आत्म-समर्पण है।
- आत्म-समर्पण बाहरी आडम्बर से नहीं होता। यह मानसिक वस्तु है।

४९. प्रार्थना की विधि

[बगलोर की प्रार्थना-सभा मे किये गये प्रवचन से।—सम्पा०]

मुझे तो आपके साथ प्रार्थना करने मे आनन्द मिला है और उससे मेरी उन्नति हुई है। आप अब प्रार्थना करना न छोडे। सस्कृत श्लोक न जानते हो, भजन गाना न जानते हो, तो कोई चिन्ता की बात नही। हमारे प्राचीन ऋषियो ने हमारे लिए रामनाम का बडा सरल रास्ता दिखाया है।

मनुष्य-जीवन के दो विभाग है—एक व्यक्तिगत या स्वतन्त्र और दूसरा सामाजिक। मनुष्य के स्वतन्त्र जीवन-विभाग की स्वतन्त्र प्रार्थना भले ही चौबीस घण्टे चलती रहे किन्तु समाज के अग की हैसियत से उसे सामुदायिक प्रार्थना भी करनी चाहिए।

इसलिए सुबह उठ कर और शाम को दिन की सारी प्रवृत्तियाँ पूरी होने पर सब लोग समाज मे बैठकर प्रार्थना करे।

मेरा अनुभव तो यह है कि जब मै अकेला होता हूँ, तब भगवान का नाम ले लिया करता हूँ, किन्तु जब कोई नही होता तब अच्छा नही लगता, एकाकीपन लगता है। आप लोग जो यहाँ आते है उन्हे मै पहिचानता नही, फिर भी आप मेरे साथ प्रार्थना मे सम्मिलित थे, इतना ही काफी है। आप मेरा समाज बन गये है। जब मै यहाँ से जाऊँगा, तब मुझे अनेक प्रकार के दु ख होगे। उनमे से एक दु ख प्रार्थना मे सम्मिलित होनेवाले समाज का वियोग भी होगा।

यह प्रार्थना जारी रखे। यहाँ आकर इसी समाज मे प्रार्थना करें, ऐसा नही किन्तु, आप अपना समाज अपने स्थान मे तैयार कर ले। अधिक नही, तो आपके कुटुम्बी जन है ही, उन्हे ही समाज मान कर प्रार्थना करें, किन्तु इसे नही छोडे। प्रयत्न से भजन, गीता सीखेंगे तो अच्छा है। जितना अधिक हो उतना ही अच्छा होगा। आप कोई भी नाम लें और आत्मशुद्धि करे, यही मुख्य हेतु है।
—न० जी०। हि० न० जी०, १५।९।१९२७]

- ऋषियो ने हमारे लिए रामनाम का बडा सरल रास्ता दिखाया है।

५०. वर्णाश्रम धर्म : एक परिभाषा

वर्णाश्रम धर्म मे मेरा दृढ विश्वास है। वर्णाश्रम धर्म एक नियम है, जिसे हम-आप लाख इन्कार करने पर भी मिटा नही सकते। उस नियम को मानना, जीवन मे जो एकमात्र काम करने को हम पैदा हुए हैं, उसे करने की स्वतन्त्रता पा लेना है। वर्णाश्रम धर्म नम्रता है। मैंने जब यह कहा कि सभी स्त्री-पुरुष समान हैं, तब मेरा मतलब यह नही था कि माता-पिता के गुण-दोष भी विरासत मे नही मिलते। मेरा विश्वास है कि जिस प्रकार सबको एक विशेष प्रकार का शरीर मिलता है वैसे ही अपने माता-पिता के गुण-दोष भी मिलते है और इस बात को मानना अपनी शक्ति का सचय करना है। अगर कोई इस बात को स्पष्ट करके इसके अनुसार चले तो इससे उसकी भौतिक अभिलाषाओ पर लगाम लग जायगी और इस प्रकार आध्यात्मिक शोध और आध्यात्मिक विकास के लिए हमारी शक्तियाँ मुक्त हो जायँगी। मैंने सदैव वर्णाश्रम धर्म के इसी अर्थ को माना है। आप कह सकते हैं कि वर्णाश्रम का यह अर्थ आज नही समझा जाता। मैंने स्वय अनेक बार कहा है कि आज जो वर्णाश्रम धर्म समझा और अमल किया जाता है वह असली वर्णाश्रम की अत्यन्त बुरी नकल है। इस तोड-मरोड को दूर करने के लिए हमे असल को नही तोड देना चाहिए।

—य० इं०। हि० न० जी०, ६।१०।१९२७]

- **वर्णाश्रम धर्म एक नियम है, जिसे हम-आप लाख इन्कार करने पर भी मिटा नहीं सकते।**
- **वर्णाश्रम धर्म नम्रता है।**

५१. मेरा वर्णाश्रम धर्म

यह (वर्णाश्रम धर्म) तो सार्वदेशिक नियम है, जिसे हिन्दू धर्म मे इतने शब्दो मे कहा गया है। यह आध्यात्मिक अर्थशास्त्र का नियम है। पश्चिम के देशो और इस्लाम को अनजाने ही उसका पालन करना पड रहा है। इसमे बडप्पन या छोटे-पन की कोई वात नही है। खान-पान और विवाह के रस्म वर्णाश्रम धर्म के आवश्यक अग नही हैं। मेरे और आपके पूर्वज ऋषियो ने इसे ढूढा था। उन्होंने देखा कि अगर अपने जीवन का सबसे अच्छा भाग ईश्वर की सेवा मे, समाज की सेवा मे, लगाना है—अपनी सेवा मे नही तो, उन्हे वश-परम्परा का नियम मानना ही पडेगा। मनुष्य की शक्तियो को ऊंचे कामो मे लगाने के लिए यह नियम बनाया गया है। मेरे वर्णाश्रम के अनुसार हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी जो भी

मुझे स्वच्छ भोजन दे सके, उसके साथ मैं खा सकता हूँ। मेरे वर्णाश्रम के अनुसार मेरे ही मकान मे मेरी लडकी के तौर पर एक अन्त्यज बालिका के लिए जगह है। मेरे वर्णाश्रम मे कई अछूत परिवारो को भी जगह है, जिनके साथ मैं खाना खाता हूँ—और उनके साथ खाना बडी बात है।

मेरा वर्णाश्रम ससार के बडे-से-बडे राजा के सामने सिर झुकाने से इन्कार करता है, लेकिन जहाँ मैं ज्ञान देखता हू, पवित्रता पाता हूँ, जिस आदमी मे ईश्वर के दर्शन होते हैं, वहाँ पर नम्रता से सिर झुकाने के लिए मेरा वर्णाश्रम मुझे विवश करता है

— य० इ०। हि० न० जी० ६।१०।१९२७]

- **यह (वर्णाश्रम धर्म) तो सार्वदेशिक नियम है।**
- **यह (वर्णाश्रम धर्म) आध्यात्मिक अर्थशास्त्र का नियम है।**

५२. वर्ण और आश्रम

त्रिवेन्द्रम मे दिये गये भाषण का अश।—सम्पा०]

जहाँ तक मेरा हिन्दू धर्म से तनिक भी परिचय है, मेरी जानकारी मे वर्ण का अर्थ अत्यन्त सहज है। इसका अर्थ है कि हम सब अपने वश और परम्परागत काम को केवल जीविका के लिए ही, यदि वह नीति के मूल सिद्धान्तो के विरुद्ध न हो तो, करे। अगर हम सभी धर्मों मे बतलाये गये मनुष्य के लक्षण को माने तो यह हमारे जीवन का नियम है। परमात्मा की समस्त सृष्टि मे केवल मनुष्य ही ऐसा बनाया गया है कि उसे पहिचाने। इसलिए मानव-जीवन का उद्देश्य दिन-दिन अधिकाधिक धन जमा करना नही है बल्कि उसका प्रधान कार्य है दिनोदिन अपने सर्जनकर्ता के और भी निकट पहुँचना। और इसी परिभाषा से हमारे प्राचीन ऋषियो ने हमारे जीवन का यह नियम ढूढ निकाला था। आप समझ सकेंगे कि अगर हम सब इस वर्ण-धर्म का पालन करे तो हमारी ससारिक अभिलाषाए मर्यादित हो जायगी। और हमारी शक्ति उस कार्य के लिए मुक्त हो जायगी, जिसके द्वारा हम परमात्मा की खोज कर सकते हैं। आप तत्काल देखेंगे कि आज हमारा ध्यान आकर्षित करनेवाले ससार मे होने वाले कामो के, दस मे से नौ हिस्सा का कोई अर्थ नही रहेगा। वे छूट जायगे। तब आप कह सकेंगे कि आज जिस वर्ण-धर्म का हम पालन कर रहे हैं, वह मेरे बतलाये वर्णधर्म का अत्यन्त भ्रष्ट स्वरूप है। निस्सन्देह वह है, लेकिन जिस तरह असत्य को सत्य बन कर चलते देख हम सत्य से घृणा नही करने लगते, बल्कि असत्य मे से सत्य को खोज निकालते हैं

और उस पर स्थिर रहते हैं, उसी तरह हम वर्ण-धर्म के नाम से प्रचलित उसके भ्रष्ट स्वरूप को नष्ट करके, हिन्दू समाज को इस बुरी स्थिति से शुद्ध कर सकते हैं।

मैंने आपको जो बतलाया है, उसमे आश्रम का धर्म जरूरी है। लेकिन आज अगर वर्ण-धर्म नष्ट हो गया है तो आश्रम-धर्म भी नष्ट हो गया है। आश्रम का अर्थ है मनुष्य-जीवन के चार विभाग। . ब्रह्मचर्य आश्रम का नियम है कि दूसरे यानी गृहस्थाश्रम मे वे प्रवेश कर सकते हैं, जिन्होने कम से कम पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन किया हो। और चूंकि हिन्दू धर्म की सारी कल्पना ही मनुष्य को अच्छा बनाने की, उसे ईश्वर के निकट पहुँचाने की है, इसलिए ऋषियो ने गृहस्थाश्रम की भी एक मर्यादा बाँध दी और हम पर वानप्रस्थ और सन्यास का बन्धन रखा। लेकिन आज सारे हिन्दुस्तान मे एक भी सच्चे ब्रह्मचारी, सच्चे गृहस्थ को खोज निकालना असम्भव है, वानप्रस्थ और सन्यासी की तो बात ही नही है। हम अपनी बुद्धिमत्ता मे भले ही इस योजना पर हँस लें, लेकिन मुझे इसमे कोई शक नही कि हिन्दू धर्म की सफलता का यही एक कारण है। हिन्दू सभ्यता के सामने ही मिश्र, असीरिया और बेबीलोनिया की सभ्यताए मिट गई। ईसाई सभ्यता तो अभी सिर्फ दो हजार वर्ष की है, इस्लामी सभ्यता अभी कल की है। दोनो महान है किन्तु मेरी नम्र सम्मति मे, अभी बन ही रही है। ईसाई युरोप तनिक भी ईसाई नही है। वह अँधेरे मे टटोल रहा है। मेरी राय मे उसी तरह इस्लाम को अपने गुप्त रहस्य का पता नही चला है। आज इन तीनो धर्मों मे एक प्रकार की बडी ही लाभदायक और साथ ही साथ हानिकारक होड चल रही है। ज्यो-ज्यो, साल पर साल बीतते जा रहे है, मेरा विश्वास बढता जाता है कि वर्ण-धर्म ही मनुष्य का जीवन-धर्म है। यह ईसाई और इस्लाम धर्म के लिए भी उतना ही ज़रूरी है जितना कि हिन्दू धर्म के लिए, जिसकी रक्षा इसी से हुई है।

. . . .वर्णाश्रम और जाति मे कोई मेल नही है। जाति जरूर ही हिन्दू धर्म पर एक बोझ है और जैसा कि मैंने बतलाया अस्पृश्यता वर्णाश्रम धर्म पर लगी हुई जग है।. . . .अगर मैं हिन्दू धर्म का ठीक अर्थ समझता हूँ तो सभी जीव समान हैं और एक हैं। इसलिए यह ब्राह्मणो की शेखी है कि वे अपने को अन्य तीनो वर्णों से ऊचा मानते है।. . . . .

—यं० इ०। हि० न० जी०, ३।११।१९२७]

- परमात्मा की समस्त सृष्टि मे केवल मनुष्य ही ऐसा बनाया गया है कि उसे पहिचाने।
- ईसाई युरोप तनिक भी ईसाई नहीं है।
- इस्लाम को अपने गुप्त रहस्यों का पता नहीं चला है।

- वर्ण-धर्म ही मनुष्य का जीवन-धर्म है।
- जाति हिन्दू धर्म पर एक बोझ है।
- अस्पृश्यता वर्णाश्रम धर्म पर लगी हुई जग है।
- सभी जीव समान हैं और एक हैं।

५३. मै हिन्दू क्यो हूं ?

एक अमरीकी बहिन, जो अपने को हिन्दुस्तान का आजीवन मित्र कहती हैं, लिखती है —

"चूंकि हिन्दू धर्म पूर्व के मुख्य धर्मों मे से एक है, और आपने ईसाई धर्म और हिन्दू धर्म का अध्ययन साथ-साथ करके स्वय अपने को हिन्दू घोषित किया है इसलिए मैं आपसे आपके हिन्दू धर्म पसन्द करने का कारण पूछने का साहस करती हूँ। हिन्दू और ईसाई दोनो ही मानते हैं कि मनुष्य की प्रधान आवश्यकता ईश्वर को जानना और भावना और सत्य मे उसकी पूजा करना है। अमेरिका ने ईसामसीह को परमात्मा का प्रकाश मानते हुए अपने हजारो पुत्रो और पुत्रियो को भारतवासियो को उनके बारे मे बतलाने के लिए भेजा है। क्या आप कृपा करके ईसा की शिक्षाओ के साथ-साथ हिन्दू धर्म का अपना अर्थ देंगे ? इस कृपा के लिए मै आपका बहुत-बहुत उपकार मानूंगी।"

मैंने कई मिशनरी सभाओ मे अंग्रेज और मिशनरियो से यह कहने का साहस किया है कि अगर वे ईसा के बारे मे हिन्दुस्तान से कहने से बाज आते और केवल गिरि-शिखर-प्रवचन के अनुसार अपने जीवन का पालन करते तो हिन्दुस्तान उन पर शक करने के बजाय, उनकी कीमत समझता, उनसे लाभ उठाता। मैं ऐसा विचार रखते हुए बदले के रूप मे अमेरिकन मित्रो को हिन्दू धर्म के बारे मे कुछ कह नही सकता। दूसरो से अपने धर्म के बारे मे, धर्म-परिवर्तन के लिए कहने मे मेरा विश्वास नही है। श्रद्धा के लिए कहना नही पडता। उसके अनुसार जीवन बनाना पडता है और तब वह स्वय प्रचार बन जाता है।

अपने जीवन के माध्यम के अतिरिक्त मैं स्वय को हिन्दू-धर्म को समझाने के योग्य नही मानता। अगर मैं लिखकर हिन्दू-धर्म को नही समझा सकता, तो ईसाई धर्म से उसकी तुलना भी नही कर सकूंगा। इसलिए मै तो सिर्फ इतना ही कह सकता हूँ कि मैं हिन्दू क्यो हूँ ?

वशानुगत गुणो के प्रभाव पर विश्वास रखते हुए, हिन्दू परिवार मे जन्म ग्रहण करके मैं हिन्दू बना हुआ हूँ। अगर मुझे यह अपनी नैतिक वृत्ति या आध्यात्मिक

उन्नति के विरुद्ध लगा तो मैं इसे छोड दूगा। विचार करने पर मैंने इसे अपनी जानकारी मे सभी धर्मों से अधिक सहनशील पाया है। इसमे स्थिर सिद्धान्तो का न होना मुझे बहुत आकर्षित करता है क्योंकि इस कारण इसके अनुयायी को आत्म-प्रकाश का अधिक से अधिक अवसर मिलता है। स्वय सबसे अलग बँधा-बँधाया धर्म न होने के कारण, इसके अनुयायियो को न सिर्फ दूसरे धर्म का आदर करने की स्वतन्त्रता होती है, बल्कि वे सभी धर्मों की अच्छी बातो को अपना सकते हैं। . हिन्दू धर्म न सिर्फ सभी मनुष्यो की एकात्मता मे विश्वास करता है, बल्कि यह सभी प्राणियो के एकात्म्य इसलिए जीव की पवित्रता मे इसके विश्वास का व्यावहारिक रूप है। भिन्न योनियो मे जन्म लेने का महान् विश्वास, इसी श्रद्धा का प्रत्यक्ष परिणाम है। वर्णाश्रम धर्म के नियम का ज्ञान सत्य की निरन्तर खोज का अत्यन्त सुन्दर परिणाम है। ऊपर की बतलाई बातो की परिभाषा देकर मैं इस लेख को बडा नही कर सकता। मैं तो इतना ही कह सकता हू कि गो-भक्ति और वर्णाश्रम के आज के विचार मेरी समझ मे मूल गोभक्ति और वर्णाश्रम के उपहास मात्र हैं। जो चाहते हो वे इस पत्र के पिछले अको मे वर्णाश्रम और गोभक्ति की परिभाषा देख सकते हैं। मैं निकट भविष्य मे ही वर्णाश्रम पर कुछ कहने की आशा रखता हूँ। इस अत्यन्त सक्षिप्त रूपरेखा मे तो मैंने सिर्फ हिन्दूधर्म की वे विशेषताए बताई हैं, जो मुझे हिन्दू बनाये हुए हैं।

—य० इ०। हि० न० जी० २७।१०।१९२७]

- **श्रद्धा के लिए कहना नहीं पड़ता। उसके अनुसार जीवन बनाना पड़ता है।**
- **वर्णाश्रम धर्म के नियम का ज्ञान सत्य की निरन्तर खोज का अत्यन्त सुन्दर परिणाम है।**

५४. वर्णाश्रम धर्म

[गाधी जी की भारत-यात्रा के दौरान, उनसे पूछे गये कुछ प्रश्न और उनके उत्तर। प्रस्तुति : महादेव ह० देसाई।—सम्पा०]

प्रश्न—आखिर आप वर्णधर्म पर इतना जोर क्यों देते हैं? क्या आप वर्तमान जाति-प्रथा का समर्थन कर सकते हैं? वर्ण की आप क्या परिभाषा करेंगे?

उत्तर—वर्ण का अर्थ है किसी आदमी के पेशे का पहिले से ही निश्चय हो जाना। वर्णधर्म यह है कि हर आदमी अपनी आजीविका के लिए अपने बाप का ही पेशा अख्तियार करे। हर लडका स्वभाव से ही अपने बाप के ही वर्ण या रग का होता है

और उसका ही पेशा चुनता है। इस तरह से वर्ण एक प्रकार से वंशानुक्रम का नियम है। वर्ण-धर्म कुछ हिन्दू धर्म पर ऊपर से लादा नहीं गया है बल्कि हिन्दू धर्म के रक्षक मुनियों ने इसे ढूंढ निकाला है। यह मनुष्य-द्वारा आविष्कृत चीज नहीं है बल्कि जैसे[1] न्यूटन साहब के पता लगाने के पहिले भी संसार के कण-कण में परस्पर आकर्षण जारी था और न्यूटन साहब ने केवल प्रकृति की इस प्रवृत्ति का पता भर लगाया था उसी तरह यह भी प्रकृति का एक नियम है जिसका हमें सिर्फ पता लगा है और जो गुरुत्वाकर्षण के नियम की तरह निरन्तर चालू है और पता लगने के पहिले भी चालू था। इसका पता लगाना हिन्दुओं के भाग्य में बदा था। प्रकृति के कुछ नियमों का पता लगाकर और उनका प्रयोग करके पश्चिमवालों ने सहज ही अपनी आर्थिक सम्पत्ति बढा ली है। उसी तरह हिन्दुओं ने इस अबाध सामाजिक झुकाव का पता लगाकर आध्यात्मिक क्षेत्र में वह सफलता पाई है, जो दुनिया के किसी राष्ट्र के भाग्य में बदी नहीं थी।

वर्ण का जातिप्रथा से कोई सम्बन्ध नहीं है। ठीक अस्पृश्यता के ही समान जातिप्रथा भी हिन्दू धर्म का एक विकार ही है। वे सभी विकार, जिन पर आज इतना जोर दिया जा रहा है, हिन्दू धर्म के अग कभी नहीं थे। मगर क्या वैसे ही विकार इस्लाम और ईसाई-धर्म में भी नहीं मिलते?

आप से जितना हो सके उनका विरोध कीजिए। वर्ण के नाम पर प्रचलित इस जाति-प्रथा के असुर का नाश कीजिए। वर्ण के इस भ्रष्ट स्वरूप ने ही हिन्दू धर्म और भारतवर्ष को नीचे गिराया है। हमारी आर्थिक और आध्यात्मिक अवनति का मुख्य कारण वर्ण-धर्म का पालन न करना ही है। बेकारी और गरीबी की यही एक वजह है और अछूतपन और हमारे धर्म में भी हानि की जिम्मेवार यह जाति-प्रथा है।

मगर (आप) मूल नियम के इस भ्रष्ट स्वरूप और भ्रष्टाचार से जूझते हुए उस नियम से ही न जूझ पड़े।

प्रश्न—वर्ण कितने होते हैं?

उत्तर—चार वर्ण होते हैं। चार विभाग होना कुछ वर्ण-धर्म का ही अग नहीं है। निरन्तर प्रयास और शोध करने के बाद ऋषिगण इन चार विभागों पर यानी रोजी पैदा करने के चार तरीकों पर आये।

प्रश्न—तब तो तर्क के अनुसार जितने पेशे हैं, उतने ही वर्ण भी होने चाहिए।

---

१ सर आइज़क न्यूटन—धरती के गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त के अन्वेषक।

उत्तर—कोई जरूरी नही है। अलग-अलग पेशो को सहज ही इन चार विभागो मे बाँटा जा सकता है—विद्यादान का, देश-रक्षा का, धनोत्पादन और सेवा का। जहाँ तक दुनिया से मतलब है, सबसे बडा-चढा मुख्य विभाग है धन पैदाकरनेवालो का, जैसे कि सभी आश्रमो मे मुख्य है गृहस्थाश्रम। सभी वर्णो का मध्यस्थ वैश्य है। अगर धन-सम्पत्ति न हो तो रक्षक चाहिए ही नही। पहिले और चौथे वर्ण भी इस तीसरे के लिए ही जरूरी हैं। पहिले वर्ण मे जरूर ही बहुत कम आदमी होगे क्योकि उसमे बहुत कठिन सयम की जरूरत है और सुसगठित समाज मे दूसरे और चौथे वर्ण स्वाभाविक ही कम होगे।

प्रश्न—अगर कोई आदमी ऐसा पेशा अख्तियार करता है जो उसका जन्मगत नहीं है तो वह किस वर्ण में गिना जायगा?

उत्तर—हिन्दू धर्म के अनुसार उसका वर्ण तो वही है जिसमे उसका जन्म हुआ है मगर अपने वर्ण का धर्म पालन नही करने से वह अपने प्रति अन्याय करता है और पतित हो जाता है।

प्रश्न—आप कहते रहे हैं कि वर्ण धर्म हमारी भौतिक इच्छाओ पर अकुश रखता है। यह किस प्रकार होता है?

उत्तर—जब मैं अपने बाप का ही धन्धा करता हू तो मुझे उसको सीखने के लिए स्कूल मे जाने की भी जरूरत नही है और यो मेरी मानसिक शक्ति आध्यात्मिक खोजो के लिए मुक्त हो जाती है, क्योकि मेरी रोज़ी निश्चित हो जाती है। जब मैं दूसरे धन्धो पर मन लगाता हूँ तो आत्म-प्राप्ति की अपनी शक्ति को बेच देता हूँ, एक कानी कौडी मे अपनी आत्मा को बेच देता हूँ।

प्रश्न—आप आध्यात्मिक अभ्यासो के लिए शक्ति मुक्त कर देने की बात करते हैं। उधर जो लोग अपने बापदादो का धन्धा कर रहे हैं, उनमे कोई आध्यात्मिक सस्कृति है ही नहीं। उनका वर्ण ही उन्हे उसके अयोग्य बना डालता है।

उत्तर—हम वर्ण की विकृत भावनाओ को लेकर बाते कर रहे हैं। जब वर्ण-धर्म का पालन वास्तव मे होता था, हमे अध्यात्मिक अभ्यासो के लिए काफी समय था। अब भी आप दूर के गांवो मे जाइए और देखिए कि शहरवालो की अपेक्षा उनमे कितनी अधिक आध्यात्मिक सस्कृति है। ये शहरवाले तो आत्मा का नाम भी नही जानते। ...

प्रश्न—वर्ण धर्म का सिद्धान्त जिस प्रकार आपने प्रतिपादित किया है, शास्त्रो मे मिलता है या वह केवल आपका ही है?

उत्तर—मेरा नही है। मैंने इसे भगवद्गीता मे लिया है।

प्रश्न—क्या आप मनुस्मृति मे दिये गये सिद्धान्त को पसन्द करते हैं?

उत्तर—सिद्धान्त तो यहाँ ठीक है, मगर उसके प्रयोग मुझे पूरी तरह नही जंचते। ग्रन्थ के कई अशो पर कई तरह की आपत्ति की जा सकती है। मैं आशा करता हूँ कि वे अश बाद मे जोड दिये गये होगे।

प्रश्न—क्या मनुस्मृति मे बहुत अन्याय नहीं है?

उत्तर—हाँ, स्त्रियो और नामधारी नीच जातियो के प्रति अन्याय है। शास्त्र के नाम से प्रचलित सभी कुछ शास्त्र नही है। इसलिए नामधारी शास्त्रो को खूब सम्हालकर पढना चाहिए।

प्रश्न—मगर आप तो भगवद्गीता का आधार रखते हैं न? उसमे तो वर्ण को गुण और कर्म पर माना है। आप यहाँ जन्म को कहाँ से ला रखते हैं?

उत्तर—मैं भगवद्गीता का ही प्रमाण देता हू क्योकि मै इसे एकमात्र पुस्तक पाता हूँ, जिसके विरुद्ध कोई आपत्ति नही उठाई जा सकती। यह सिर्फ सिद्धान्त निश्चित कर देती है और प्रयोग आप स्वय खोज लीजिए। गीता मे गुण और कर्म के अनुसार वर्ण का होना लिखा जरूर है, मगर गुण और कर्म जन्म से मिलते है। भगवान् कृष्ण ने कहा है,—"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्ट," यानी चारो वर्ण मैंने बनाये हैं, और मैं समझता हूँ कि वे जन्म से हैं। अगर वर्ण-धर्म जन्म पर निर्भर न हो तो है ही क्या?

प्रश्न—मगर वर्ण मे कोई बडप्पन, छुटपन तो नहीं है?

उत्तर—नही, ज़रा भी नही, अगर्चे मैं कहता हूँ कि ब्राह्मण दूसरे वर्णों का ऊपरी (भाग) है, जिस प्रकार शरीर का ऊपरी (भाग) सिर है। इसका अर्थ है ऊँची स्थिति। जिस समय ऊँची स्थिति का घमण्ड शुरू हो जाता है, यह पैरो तले कुचलने के योग्य बन जाता है।

प्रश्न—आज की चाल तो इतनी बिगडी हुई है कि क्या यह सब छोड कर नये सिरे से ही शुरू करना ठीक न होगा?

उत्तर—बेशक, अगर हम परमात्मा होते। हम कलम के सिर्फ एक झटके से हिन्दू जाति का स्वभाव नही बदल सकते। हम इस नियम का पालन करने का रास्ता खोज कर निकाल सकते है, इसे नष्ट करने का नही।

प्रश्न—जब शास्त्रकर्ताओ ने नई स्मृतियाँ बनाई हैं तो आप क्यो नहीं एक नई स्मृति बना सकते?

उत्तर—अगर मैं नई सृष्टि बना सकता, तब तो मेरी हालत विश्वामित्र से कही बिगडी हुई होगी और विश्वामित्र मुझसे कितने बडे थे।

प्रश्न—बौद्ध धर्म हिन्दुस्तान से भगाया गया क्योंकि उससे ब्राह्मण दुखी हो गये। उसी तरह अगर हिन्दू धर्म से उनका मतलब न सधा तो उसे भी वे मार भगायेंगे।

उत्तर—(ऐसा) करने तो दीजिए। मगर मेरा तो दृढ विश्वास है कि बौद्ध-धर्म हिन्दुस्तान से गया नही है। हिन्दुस्तान ही वह देश है, जिसने बुद्ध की शिक्षाएँ सबसे अधिक ग्रहण की। बौद्ध धर्म को बुद्ध के भावो से अलग ही गिनना होगा, उसी प्रकार जिस तरह कि ईसा की शिक्षाओ से ईसाई धर्म अलग है। वे बौद्ध धर्म को इसलिए भगा सके कि उन्होने बुद्ध की मूल शिक्षा को अपने मे समाहित कर लिया था।
—हि० न० जी० १।१२।१९२७]

- वर्ण का अर्थ है किसी आदमी के पेशे का पहिले से निश्चय हो जाना।
- वर्ण एक प्रकार से वशानुक्रम का नियम है।
- वर्ण का जाति-प्रथा से कोई सम्बन्ध नहीं है।
- जाति-प्रथा हिन्दू-धर्म में एक विकार...है।
- सभी वर्णों का मध्यस्थ वैश्य है।
- शास्त्र नाम से प्रचलित सभी कुछ शास्त्र ..नहीं है।
- नामधारी शास्त्रो को खूब सम्हाल कर पढना चाहिए।
- हम कलम के एक ही झटके से हिन्दू जाति का स्वभाव नहीं बदल सकते।
- हिन्दुस्तान ही वह देश है, जिसने बुद्ध की शिक्षाएं सबसे अधिक ग्रहण कीं।

५५. गौतमबुद्ध और हिन्दू शास्त्र

याद रखिए कि गौतमबुद्ध बडे-से-बडे हिन्दुओ मे से एक थे। हिन्दू भावना, वैदिक भावना उनकी नस-नस मे भीनी हुई थी। उनका जन्म ही हिन्दू वातावरण मे हुआ था और आत्मा के लिए लाभदायक उसी वातावरण मे वे पले थे। जहाँ तक मुझे पता है उन्होने वेदो को कभी अस्वीकृत नही किया था। उन्होने तो यही किया कि अपने चारो ओर मृत-प्राय पडे हुए धर्म मे जीवन्त सुधार को समाविष्ट किया। इसलिए मैं आपसे कहूँगा कि जबतक आप उन मूल ग्रन्थो को नही पढ लेते जिन्हे पढ कर उस महापुरुष ने ज्ञान प्राप्त किया था, यानी सस्कृत मे हिन्दू शास्त्रो को नही पढते, आपका बौद्ध धर्म का ज्ञान अधूरा ही कहा जायगा।
—हि० न० जी०, १५।१२।१९२७]

५६. लंका-निवासी हिन्दुओं से

[लका यात्रा के दौरान, हिन्दुओ के समक्ष दिये गये भाषण का अश। —सम्पा०]

आपको मालूम होगा कि मेरा दावा है कि मैं कट्टर हिन्दू हूँ। मगर दूसरे जो लोग अपने को कट्टर हिन्दू कहते है, वे मेरे इस दावे को नही मानते। मैं आपको

भ्रम मे डालना नही चाहता। अगर कट्टर हिन्दुत्व का अर्थ हो—मुमलमान, ईमाइयो से वैर करना, अगर कट्टर हिन्दुत्व सिखलाता हो कि इम आदमी को छुओ, मगर उमसे मत छुलाओ, उसका छुआ भोजन अपवित्र ह, उसे मत खाओ ता मै कहूँगा कि मैं कट्टर हिन्दू नही हूँ। लेकिन अगर कट्टर हिन्दू होने का अर्थ है, इसका मतत शोध करते रहना कि वास्तव मे हिन्दू धर्म का सच्चा स्वरूप कौन-मा है, हिन्दूवर्म का जो सच्चा स्वरूप समझ मे आवे, उसी के अनुकरण का यथाशक्ति पूरा प्रयत्न करना, तो मैं दावा करता हूँ कि मैं सच्चा कट्टर हिन्दू हूँ। इसके अलावा महर्षि व्यास के मतानुसार भी मैं कट्टर हिन्दू हूँ।

विस्तृत हिन्दुत्व

अव अपना दावा सावित कर चुकने के वाद मैं आप से कहूँगा कि हिन्दू के रूप मे आपका यहाँ क्या कर्तव्य होना चाहिए। सवसे पहिले तो आपको उनका ख्याल करना होगा, जिनकी वस्ती यहाँ सव से अधिक है। मै आपको यह सुझाना चाहता हूँ कि वे आपके सहधर्मी है। वे अगर चाहे तो इस वात से इन्कार कर सकते है क्योकि वे कहेगे कि वौद्धधर्म हिन्दूधर्म का अग नही है और वहुत अशो मे उनका कहना सही भी होगा। कितने हिन्दू भी यह नही मानेंगे कि वौद्धधर्म हिन्दूधर्म का अग है। वल्कि वे तो इसी मे अपना गौरव मानेंगे कि उन्होने वौद्धधर्म को हिन्दुस्तान से मार भगाया। मगर वात दरअमल यह है कि स्वय बुद्ध भी वडे-से-वडे हिन्दुओ मे एक थे और उन्होने हिन्दूधर्म को सुधारने की कोशिश की थी। इसमे उन्हे सफलता भी मिली थी। उम समय हिन्दूवर्म ने भी यही किया कि वुद्ध की शिक्षाओ मे जो सवसे अच्छी और भली थी, उन्हे अपने मे समाहित कर लिया। इमीलिए मैं कहता हूँ कि हिन्दूवर्म का इम प्रकार वुद्ध की शिक्षाएँ अपने मे समाहित कर लेने से विस्तार हुआ। हिन्दूधर्म ने काम इतना ही किया कि वुद्ध की शिक्षाओ के आमपास जो मैल आ जमी थी उमे माफ करके दूर कर दी। इमलिए यह वात आप वौद्धो को इसी तरह दिखला सकते है कि आप इम विस्तृत हिन्दूधर्म का पालन करे। वुद्ध ने जो एक वात सिखलाई थी वह यह थी कि परमात्मा कोई ऐमा जीव नही है जो निर्दोष प्राणियो की वलि से खुश हो। इसके उलटे उनका कहना था कि परमात्मा को खुश करने के लिए वलि-दान करनेवाले दुहरा पाप वटोरते हैं। इमलिए अगर आप अपने धर्म का मच्चा पालन करना चाहते हे तो आपको एक भी मन्दिर मे निर्दोष प्राणियो की वलि नही चढानी होगी। मैं सारे भारतवर्ष के विरुद्ध यह कहने को तैयार हूँ कि चाहे जिम मतलव से हो, या परमात्मा को खुश करने के लिए ही क्यो न हो, एक भी जानवर की वलि चढाना वुरा काम है, पाप है, गुनाह है।

मन्दिरों को सुधारो

जाफना के किसी मित्र ने मुझे लिखा है कि यहाँ हिन्दुओ के कुछ मन्दिरो मे वेश्याओ का नाच कराया जाता है। अगर यह बात सच हो तो आप देवता के आवास मन्दिरो को वेश्याओ के अड्डे बना रहे है। अगर मन्दिर को पूजा-स्थान होना है, देवस्थान रहना है तो उसे कुछ मर्यादाओ का पालन करना होगा। मन्दिर मे जाने का एक वेश्या को भी वही अधिकार है जो किसी सन्त को है। मगर वह अधिकार तो उसे तब है जब वह अपने पाप धोने जाती हो। मगर जब किसी मन्दिर के रक्षक धर्म या देवपूजन की आड मे वेश्या को वहाँ ले जाते हैं तब वे देवस्थान को बदल कर दाल की मण्डी बनाते हैं। और जब आपके पास कोई आकर यह साबित करने की कोशिश करे कि आपके मन्दिरो मे वेश्याओ को नाचने या किसी ऐसे ही काम के लिए बुलाना उचित है तो वह कितना ही बडा आदमी क्यो न हो आप उसकी बात से इन्कार करे, और मेरी ही बात पर अडे रहे। अगर आप हिन्दू बनना चाहते हैं, अगर आपको परमात्मा की पूजा स्वीकार है, तो आप अपने मन्दिरो के दरवाजे अछूतो के लिए भी खोल दें। परमात्मा के दरबार मे उसके भक्तो मे कोई फर्क नही किया जाता। वह तो इन अछूतो और नाम-मात्र के अछूतो, सब की पूजा एक सी स्वीकार करता है। उसके यहाँ सिर्फ एक शर्त है—प्रार्थना सच्चे दिल से होनी चाहिए।

संस्कृत शिक्षा

अगर शिक्षा मडल अपने कर्तव्य का पालन करे तो उसे आपकी पाठशालाओ मे सस्कृत -शिक्षा को उत्तेजन देना चाहिए। सस्कृत का कुछ ज्ञान प्राप्त किये बिना मैं किसी हिन्दू लडके की शिक्षा अधूरी समझता हूँ। और जहाँ तक मुझे पता है, हिन्दूधर्म मे श्रीमद्भगवद्गीता के समान कोई पुस्तक सर्वत्र सुलभ और सर्वग्राही नही है। इसलिए अगर आप अपने मे और अपने लडको मे हिन्दू भावना का समावेश करना चाहते हैं तो आपको गीता की शिक्षाओ का रहस्य समझने की कोशिश करनी होगी। आपको रामायण और महाभारत का भी सामान्य ज्ञान पैदा करना पडेगा।

—यं० इं०। हि० न० जी०, २२।१२।१९२७]

- मेरा दावा है कि मैं कट्टर हिन्दू हूँ।
- बुद्ध...बड़े से बड़े हिन्दुओं में एक थे।...उन्होंने हिन्दूधर्म को सुधारने की कोशिश की।

- परमात्मा कोई ऐसा जीव नहीं जो निर्दोष प्राणियो की बलि से खुश हो।
- जानवर की बलि चढ़ाना बुरा काम है, पाप है, गुनाह है।
- हिन्दू धर्म ने भगवद्गीता के समान कोई पुस्तक सर्वत्र सुलभ और सर्वग्राही नहीं है।

५७. मन्दिर कैसा हो?

[वरतेज मे हरिजनो के लिए मन्दिर की आधारशिला रखते समय दिये गये भाषण का अश।—सम्पा०]

मन्दिर कुछ ईंट या चूने का घर मात्र नही है, उसमे सिर्फ मूर्ति की स्थापना करने से ही वह मन्दिर नही बन जाता। मन्दिर तो वही कहा जाता है कि जिसमे प्राण-प्रतिष्ठा की गई हो। ब्राह्मण को बुलाकर हवन करके मन्दिर खोलने मे पाखण्ड होना भी सम्भव है। सच्ची बात तो यह है कि जिन्होंने मन्दिर बनाने का निश्चय किया हो उन्हे सकल्प की ही घडी से अपना जीवन प्रायश्चित्त के कामो मे व्यतीत किये हुए होना चाहिए और यह भी कि उन्होने अपने सारे पुण्यो का भार उसी मन्दिर मे डाला हो। मन्दिर के सचालक और पुजारी भी तपश्चर्यामय जीवनवाले हो और उस मे घुसते ही जानेवाले का हृदय हिल जाय। आप समझ ले कि अगर यह मन्दिर ऐसा न बन सके, इसके पीछे इतनी आत्मशुद्धि और विचारशुद्धि न हो तो यह केवल मकान है, पृथिवी पर बोझ-रूप है। यह मन्दिर कहा जायगा और इसलिए कि उसका कोई उपयोग नही हो सकेगा, उतना भाग निरर्थक होगा। कदाचित् मन्दिर के नाम पर यह सस्था हानिकारक भी बन जाय, अपने पापो का धाम बन जाय। मैंने यह मान कर इसकी नीव रखी है कि ये दोष यहाँ पर नही हैं। इस बात मे कोई सार नही है कि विचार हुआ नही कि मन्दिर बनना चाहिए और फिर नीव डलवाई और इस भरोसे बैठ रहे कि आगे कभी मन्दिर भी बन जायगा। उतावली से आम के पेड मे फल नही लगते, इसी तरह उतावली से धर्म का पौधा नही उगता। इसके लिए सच्चा विश्वास चाहिए, उद्यम चाहिए, धैर्य चाहिए।
—न० जी०। हि० न० जी०, १।२।१९२८]

- मन्दिर वही कहा जायगा, जिसमे प्राण-प्रतिष्ठा की गई हो।
- उतावली से आम के पेड मे फल नहीं लगते। उसी तरह उतावली से धर्म का पौधा नहीं उगता।

५८. एकभक्ति हनुमान

[हनुमत जयन्ती के दिन आश्रम की प्रार्थना मे प्रकट किये गये उद्‌गार।—सम्पा०]

हनुमान के अनुकरण का पहिला पाठ यह है कि हम जो काम करते हो उसी मे सभी इन्द्रियो को लगा दे। यह करने के लिए नेत्र निश्चल और सच्चे रखने चाहिए। आँखे सारे शरीर का दीपक हैं, और उन्हे आत्मा का भी दीपक कहे तो उचित होगा। जबतक शरीर मे आत्मा है, तबतक आँख से उसकी परीक्षा हो सकती है। मनुष्य अपने वचन से शायद आडम्बर करके उसे छिपा ले मगर उसकी आँखें उसे जाहिर कर देंगी। उसकी आँख सीधी, निश्चल न हो तो अन्तर परख लिया जायगा। जिस तरह जीभ की परीक्षा करके हम शरीर के रोग परखते हैं, उसी भाँति आँख की परीक्षा करके आध्यात्मिक रोग परखे जा सकते है। इसलिए लडको को बचपन से ही आँखें निश्चल रखने की आदत डालनी चाहिए।

हनुमान की आँखें निश्चल थी। वे सदा दिखलाती थी कि राम का नाम जिस तरह उनके मुँह मे था, उसी भाँति हृदय मे भरा हुआ था, उनके रोम-रोम मे व्याप्त था।

हम अखाडो मे जो हनुमान की स्थापना करते हैं वह मुझे रुचती है। मगर इसका अर्थ यह नही है कि हम केवल शरीर से ही बलवान होना चाहते हैं या केवल हनुमान के शरीर-बल की ही अराधना करते है। शरीर से जरूर बलवान् बनें मगर उसके साथ यह भी जान लें कि हनुमान का शरीर राक्षसी न था। वे तो वायुपुत्र थे यानी उनका शरीर फूल के समान था, और फिर भी कसा हुआ था। किन्तु हनुमान की विशेषता उनके शरीरबल मे न थी, उनकी भक्ति मे थी। वे राम के अनन्य भक्त थे, उनके गुलाम थे। राम के दासत्व मे ही उन्होंने सर्वस्व माना, और उन्हे जो भी काम सौंपा गया, उसे वायु-वेग से किया। इसलिए हम व्यायाम-शाला मे हनुमान की जो स्थापना करते हैं, वह इस अर्थ मे कि व्यायाम करके भी, हम दास बनेंगे—भारतवर्ष के दास, जगत् के दास और इसीलिए ईश्वर के दास बनेंगे। इस दासत्व मे हमे परमेश्वर की झांकी मिलेगी।

इसलिए यह भी मत कहो कि हम केवल हनुमान के ब्रह्मचर्य के लिए उनकी अराधना करते हैं। सेवक मात्र को ब्रह्मचर्य का पालक अवश्य होना पडेगा। जिसने सेवा का व्रत लिया, वह भला इन्द्रिय-विषयो का सेवन कैसे कर सकेगा? पिता-माता की सेवा-जैसी सकुचित सेवा के लिए भी पुत्र के सयमी बनने की आवश्यकता है। जैसा विषयी मैं बना था, वैसा बन कर वह सेवा नही की जा

सकती। इसी तरह जिसे आश्रम की सेवा करनी है, स्त्री-पुरुषों, बालक-बालिकाओं की सेवा करनी है उसके लिए विषय का सेवन करने से कैसे काम चल सकेगा? और आश्रम की सेवा तो महज एक छोटी सी सेवा है, समुद्र में एक बिन्दु मात्र है। इसलिए जिसे जगत् की सेवा करनी है, वह विषय में भागता ही फिरेगा।

किन्तु विषयों से मन को हटा लेना हो तो यह काम केवल उपवास से या तपश्चर्या से ही नहीं होगा, किन्तु हनुमान-जैसी भक्ति से हो सकता है। यानी ब्रह्म-चर्य और दूसरी सभी वस्तुओं की कुंजी भक्ति में है। हम रोज शाम को गाते हैं —

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

निराहारी की इन्द्रियाँ भले ही शान्त हों, किन्तु विषयों के लिए रस शान्त नहीं होता। इन्द्रियाँ जब शिथिल होती हैं, तब बहुत करके मन अधिक चंचल हो जाता है, विषयों की ओर अधिक दौड़ता है, यह रस भी राम जी के दर्शन से शान्त हो जाता है। यह हनुमान जी का कौल है अथवा हनुमान के जीवन से यह पदार्थ-पाठ सीखना है।

मैंने कल ब्रह्मचर्य के बारे में एक ऐसे विशेषण का प्रयोग किया है, जैसा कभी नहीं किया था। वह यह कि मैंने हनुमान के ब्रह्मचर्य को सात्विक ब्रह्मचर्य कहा। इस प्रकार ब्रह्मचर्य की स्तुति करते हुए उसके तीन भेद सात्विक, राजसी और तामसी दिखलाई पड़े। हनुमान का ब्रह्मचर्य सात्विक था, जब कि मेघनाद का ब्रह्मचर्य राक्षसी था। राक्षसी ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले में क्रोध होता है, अभिमान होता है। सात्विक में समर्पण होता है। दोनों ही शरीरबल में एक दूसरे से बढ़े-चढ़े हुए थे। किन्तु हनुमान मेघनाद को इसलिए हरा सके, कि वह अभिमानी था, जब कि हनुमान भक्ति-भीने थे, इसलिए उनका बल विशेष था।

इसलिए आँखें बिल्कुल सच्ची रखना, हाथ-पैर ठीक रखना, जीभ सच्ची रखना और इस प्रकार किसी अंश तक हनुमान का अनुकरण भी करने की शक्ति पैदा करनी चाहिए। ब्रह्मचर्य का पालन करके शरीर को सुदृढ़ अवश्य बनाना है किन्तु वह इस लिए कि हमें शरीर से भी राम की भक्ति करनी है, और भक्त बनकर जगत् के सेवक बन जाना है।

केवल बाह्य बातों को ही सम्हालने से अन्तर भी नहीं सम्हल जायगा। किन्तु हम यदि बाहर को भी सम्हालते जायंगे और यह सब केवल बाह्याडम्बर न होगा तो किसी दिन मन भी स्थिर हो जायगा। और तब हम किसी दिन हनु-मान की बराबरी कर सकेंगे।

—न० जी०। हि० न० जी० १२।४।१९२८]

"जो मोगरे, चन्द्रमा या बर्फ के हार जैसी गौरवर्ण हैं, जो श्वेत वस्त्र पहिने हुए हैं, जिनके हाथ वीणा के सुन्दर दण्ड से सुशोभित हैं, जो सफेद कमल पर विराजमान हैं, ब्रह्मा, विष्णु और महेश से लेकर सभी देवता जिनकी नित्य स्तुति करते है, वह समस्त अज्ञान और जडता का नाश करनेवाली देवी सरस्वती मेरी रक्षा करे।"

मेरे लिए यह विचार बहुत सुन्दर है। विद्या का अर्थ अवश्य ही ज्ञान है। तीनो प्रकार की यानी बर्फ, चन्द्रमा और फूल की सफेदी का और सफेद पोशाक और श्वेतासन का आशय यह है कि सम्पूर्ण शुद्धि ज्ञान या विद्या का एक अनिवार्य अग है। इन श्लोको और ऐसे ही दूसरे श्लोको के गहरे अर्थ की खोज करने पर तुम्हे पता चलेगा कि कोश के एक रूखे-सूखे शब्द के बजाय हरेक गुण को मूर्तरूप देकर सजीव सत्य बना दिया गया है। ये काल्पनिक देवता हमारी पाचो इन्द्रियो से देखे हुए और अनुभव किये जानेवाले तथाकथित सत्य पदार्थों से अधिक सत्य हैं। उदाहरण के लिए, जब मैं इस श्लोक का पाठ कराता हूँ तो मुझे कभी यह खयाल नही होता कि मैं किसी काल्पनिक चित्र से बात कर रहा हूँ। इसका पाठ एक आध्यात्मिक क्रिया है। जब मैं इस क्रिया का वुद्धि से विश्लेषण करता हूँ, तब मुझे मालूम होता है कि देवी कोई काल्पनिक प्राणी है। परन्तु इससे प्रार्थना के समय इस पाठ के महत्व मे कुछ भी अन्तर नही पडता।

—— १४।१।१९३१ और १८।१।१९३१। बापू के पत्र : मीरा के नाम, पृ० १२३, न० जी० प्र० मं०]

६१. वर्ण और वर्ण-संकर

मैं गीतामाता से अपनी सारी शकाओ का समाधान कर लेता हूँ। गीता और साथ ही दूसरे सब शास्त्रो से मैंने यह सार निकाला है कि वर्ण-सकर तो विषय-वासना से होनेवाले सम्भोग का परिणाम है। गीता के पहिले अध्याय के अन्त मे अर्जुन वर्णसकर की बात करता है, तब उसके मन मे इसके सिवा दूसरा कुछ नही था। वह समझता है कि पुरुषो का नाश हो जाने पर स्त्रिया हर तरह के व्यभिचार से अपने विषय को सन्तोष देंगी। किन्तु पुरुष और स्त्री किसी भी वर्ण के हो, तो भी केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए और मानव-जाति की सेवा करने की इच्छा से यानी शुद्ध प्रेम से सम्भोग करें तो इसमे सकर नही होता। वर्ण-व्यवस्था मे शक्ति-दुर्व्यय रोकना हेतु है। हरएक आदमी को अपने बापदादा का धन्धा करना चाहिए। यहाँ मैं स्वीकार करता हूँ कि वर्ण जन्म से बनता है। परन्तु वर्ण का अर्थ अधिकार

नही होता। वर्ण का अर्थ है कर्त्तव्य, धर्म। ब्राह्मण के लिए यह जरूरी नही कि वह ब्राह्मण स्त्री के साथ ही विवाह करे। उसका कर्त्तव्य तो यह है कि वह अध्ययन और अध्यापन करे। मनुष्य मनुष्य के प्रति निहित मूल कर्त्तव्यों के साथ धर्म का सम्बन्ध है। मैं वेद के आध्यात्मिक भाग का ही विचार कर रहा हूँ, ऐतिहासिक भाग का नही। क्योंकि इतिहास तो बहुत अनिश्चित है और समय-समय पर अलग-अलग लिखा जा सकता है। किन्तु धर्म अलग-अलग नही हो सकता।

—५।१।१९३२। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० १६]

- वर्णव्यवस्था मे शक्ति का दुर्व्यय रोकना हेतु है।
- वर्ण का अर्थ है कर्त्तव्य, धर्म।
- मनुष्य मनुष्य के प्रति निहित मूल कर्त्तव्यो के साथ धर्म का सम्बन्ध है।
- धर्म अलग-अलग नहीं हो सकता।

६२. उदार हिन्दू-धर्म

मैंने कभी कहा ही नही कि हिन्दू-धर्म का उत्तम-से-उत्तम व्यक्ति ईसाई धर्म के उत्तमोत्तम व्यक्ति से बढकर हो सकता है। इसीलिए हिन्दू-धर्म मे किसी के धर्म को नीचा समझने की और किसी से अपना धर्म छुड़वाने की बात नही है। ईसाई ईसा को भगवान मानते है और किसी भी मनुष्य की ईसा के साथ तुलना करना या किसी भी मनुष्य मे ईसा के गुण मानना वे मूर्तिपूजा समझते है। मुसलमान मुहम्मद को ईश्वर नही मानते और किसी चीज़ या व्यक्ति मे ईश्वर का आरोपण करना मूर्तिपूजा समझते हैं। यह बात सच होते हुए भी वे लोग पैगम्बर की मूर्ति-पूजा ही करते है। और जहाँ सचराचर उसमे भरपूर है, वहाँ किसी वस्तु या व्यक्ति पर भगवान के आरोपण की बात कहाँ रही? व्यक्तिमात्र मे ईश्वरीय अंश है, किसी मे कम, किसी मे ज्यादा।

—२७।३।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ४६-४७]

- व्यक्तिमात्र मे ईश्वरीय अंश है।

६३. यज्ञोपवीत, माला एवं गो

[आश्रम-बालकों के प्रश्नो का उत्तर]

जनेऊ या माला पवित्रता सीखने मे कुछ न कुछ मदद करती है। आजकल इसका बहुत उपयोग नही माना जाता। गाय इसलिए माता मानी जाती

है कि वह मा की तरह दूध देती है। और फिर माता तो अपने ही बच्चे को एक साल तक दूध देती है, मगर गाय सब को देती है। इसलिए वह सब की मा है। माता बच्चो से बहुत सेवा लेती है। गाय की कौन करता है? इसलिए गाय तो बडी मा है।

—२५।४।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ११८]

६४. क्षात्र-धर्म

क्षात्र-धर्म बहुत जबर्दस्त चीज़ है। सच्चा क्षत्रिय तो वह माना जाता है, जिसका व्यवहार ऐसे अनजान व्यक्ति के प्रति भी बिल्कुल शुद्ध रहे, जिसे मदद की जरूरत हो और जो उसका कुछ भी बदला न दे सकता हो—यहा तक कि धन्यवाद का एक शब्द भी न कह सके।

—६।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १३८]

६५. स्वामी रामकृष्ण परमहंस

[स्वामी रामकृष्ण परमहंस के बारे मे कहा जाता है कि वे नींद मे रुपये और सोने को छूते तो उन्हें वे आग की तरह लगते। वे किसी दुष्ट मनुष्य को छूते तो उन्हें सर्प-स्पर्श-जैसा लगता। इस सम्बन्ध मे महादेव भाई देसाई के प्रश्न का गांधी जी द्वारा उत्तर।—सम्पा०]

यह स्वाभाविक है, मगर यह चीज़ तुम कहते हो वैसी आत्मशुद्धि की पराकाष्ठा बतानेवाली नही है। एक चीज के लिए इतना तिरस्कार पैदा किया जा सकता है कि नींद मे भी उसका स्पर्श हो जाय तो मनुष्य चौक पड़े। और खराब आदमी के छू जाने से भी वे चौंकते थे, यह बात मुझे विरोधी लगती है। क्योकि वे तो सभी मे भगवान को देखते थे। उन्हे बुरे मनुष्य के प्रति तिरस्कार तो हो ही नही सकता था। बात यह है कि हमे तो ऐसे महापुरुषो की महत्ता को स्वीकार करना चाहिए। उनके बारे मे दूसरो को जो अनुभव हुए हो, वे सम्भव है हमे न भी हो। मगर हमारे लिए तो यह बात याद रखने और समझने लायक है कि उन्होंने अनेक का उद्धार किया।

—१।६।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १९१]

६६. मन्दिर, मूर्तिपूजा, वैष्णव-धर्म

मन्दिरों और चौगहों का उपयोग तो मशहूर है। उनके जरिए लोग जमा होते है, भजनादि और सभाएँ वगैरह करते हैं। और यही उद्देश्य था।

मूर्तिपूजा की जरूरत है या नहीं, यह प्रश्न उठता ही नहीं। क्योंकि यह अनादिकाल से है और रहेगी। देहधारी मात्र मूर्तिपूजक होता है।

वैष्णव-धर्म की पूजा-विधि मे फेर-बदल इष्ट हो सकता है। ईश्वर सब जगह है, इसलिए मूर्ति मे भी है। मूर्तिपूजा का नाश मैं असम्भव मानता हूँ।
—२५।६।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० २५०]

- यह (मूर्तिपूजा) अनादिकाल से है और रहेगी।
- देहधारीमात्र मूर्तिपूजक होता है।
- मूर्तिपूजा का नाश मैं असम्भव मानता हूँ।

६७. रामकृष्ण और विवेकानन्द

[श्री किशोरलाल भाई को लिखे पत्र मे]

मुझे यह नहीं लगा कि जितने भक्त रामकृष्ण थे, उतने विवेकानन्द भी थे। विवेकानन्द का प्रेम विस्तृत था, वे भावना मे भरपूर थे और भावना मे बह भी जाते थे। यह भावना उनके ज्ञान के लिए हिरण्यमयपात्र थी। धर्म और राजनीति मे उन्होंने जो भेद किया था, यह ठीक नहीं था। मगर इतने महान व्यक्ति की आलोचना कैसी? और आलोचना करने बैठ जाय तो कैसी भी आलोचना की जा सकती है। हमारा धर्म तो यह है कि ऐसे व्यक्तियों से जो कुछ लिया जा सके वह ले लें। तुलसीदास का जड-चेतन वाला दोहा[1] मेरे जीवन मे अच्छी तरह रम गया है, इसलिए आलोचना करना मुझे पसन्द ही नहीं आता। मगर मैं जानता हू कि मेरे मन मे भी कोई आलोचना रह गई हो, तो उसे जानने की तुम्हे इच्छा हो सकती है। इसीलिए मैंने इतना लिख दिया है। मेरे मन मे शका नहीं है कि विवेकानन्द महान सेवक थे। यह हमने प्रत्यक्ष देख लिया कि जिसे उन्होंने सत्य मान लिया, उसके लिए अपना शरीर गला डाला। सन् १९०१ मे जब मैं बेलूर मठ देखने गया था, तब विवेकानन्द के भी दर्शन करने की बडी

---

१ जड, चेतन, गुण-दोषमय, विश्व कीन्ह करतार।
सन्त हसगुण गहहि पय, परिहरि वारि विकार॥

इच्छा थी। मगर मठ मे रहनेवाले स्वामी ने बताया कि वे तो बीमार हैं, शहर मे हैं और उनसे कोई मिल नही सकता। इसलिए निराशा हुई थी। मुझमे जो पूज्य भाव (निहित) रहा है, उसके कारण मैं बहुत-सी आपत्तियो से बच गया हू। उस समय कोई ऐसा प्रसिद्ध व्यक्ति नही था, जिससे मैं भावना के साथ मिलने दौड न जाता था। और ज्यादातर जगहो पर मैं कलकत्ते के लम्बे रास्तो मे पैदल ही जाता था। इसमे भक्तिभाव था, रुपया बचाने की वृत्ति न थी। ..

—१।७।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० २६१-२६२]

- विवेकानन्द का प्रेम विस्तृत था, वह भावना से भरपूर थे।
- आलोचना करना मुझे पसन्द ही नहीं आता।
- मुझमें जो पूज्यभाव रहा है, उसके कारण मैं बहुत-सी आपत्तियो से बच गया हूं।

६८. यज्ञोपवीत, आर्य-अनार्य

[श्री सोनी राम जी को लिखे पत्र से]

जनेऊ के गूढ अर्थ मैंने बहुत सुने हैं, मगर ये सब अर्थ काल्पनिक है। जनेऊ की उत्पत्ति के समय ये सब भाव भरे थे, यह मैं नही मानता। मगर आर्य और अनार्य मे भेद है, यह बताने के लिए जो अपने को आर्य मानते थे उन्होंने जनेऊ की निशानी अख्तियार की।...

—२४।७।१९३२। १, पृ० ३१८] ९। म० भाग १ पृ० ३१८]

६९. नाम-जप का प्रभाव

[सुश्री प्रेमा बहिन कंटक को लिखे पत्र से]

नाम-जप से पापाहरण अच्छी तरह होता है। शुद्ध भाव से नाम जपनेवाले को श्रद्धा होती ही है। वह इस निश्चय के साथ शुरू करता है कि नाम-जप से पाप दूर होते ही हैं। पाप दूर होना यानी आत्मशुद्धि होना। श्रद्धा के साथ नाम लेने वाला कभी थकता नही। इसलिए जो बात जीभ से होती है, वह अन्त मे हृदय मे उतरती है और उससे शुद्धि होती है। यह अनुभव निरपवाद है। मानसशास्त्री भी मानते हैं कि मनुष्य जैसा विचारता है, वैसा बन जाता है। राम-नाम की बात भी इसी के अनुसार है। नाम-जप पर मेरी श्रद्धा अटूट है। नाम-जप का खोजने-

वर्ण को कोई आँच नही आती थी। भगवद्गीता मे अलग-अलग वर्णों की जो व्याख्या दी गई है, उसके आधार पर यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। मनुष्य जब अपने बाप-दादे का धन्धा छोड देता है, तब वह वर्ण से पतित हो जाता है। आज तो हमारे लिए वर्ण-धर्म खोया हुआ धन है।

—५।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २७२]

- **हमारे लिए वर्ण-धर्म खोया हुआ धन है।**

७२. शास्त्र

[एक पण्डित को लिखे पत्र का अंश]

बडी कठिनाई सत्यपथ पर चलनेवालो के लिए यह है कि शास्त्र किसको कहे? जब सस्कृत मे लिखे हुए स्मृति इत्यादि नाम से प्रचलित अनेक ग्रन्थ मिलते हैं और उसके विरोधी वचन भी मिलते हैं, तब सादा और श्रद्धालु मनुष्य क्या करेगा? इसी कारण हिन्दू-धर्म का सर्वमान्य सिद्धान्त मैंने ग्रहण कर लिया है, सत्य और अहिंसा से जो आचार विरुद्ध है, वह निषिद्ध है और जो ग्रन्थ उसका विरोधी है, उसे शास्त्र न माना जाय।

—८।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १८२]

- **सत्य और अहिंसा से जो आचार विरुद्ध है, वह निषिद्ध है।**
- **जो ग्रन्थ उसका (सत्य और अहिंसा का) विरोधी है, उसे शास्त्र न माना जाय।**

७३. प्रार्थना का रूप

[एक बालक को लिखे पत्र से]

श्रीकृष्ण की प्रार्थना करने का सच्चा तरीका यह है कि जो हमसे कम भाग्यशाली हैं, उनकी जो कुछ सेवा हो सके उसके नाम से करे। जब हम अपने दैनिक जीवन मे सेवा की यह भावना प्रकट करेंगे, तब हमारे अश्रद्धालु पडोसी भी ईश्वर पर श्रद्धा करने लगेंगे।

—१४।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २०३]

७४. शास्त्र का अर्थ क्या है?

[अस्पृश्यता-निवारण-कार्य के लिए गांधी जी को जेल मे पत्र-प्रतिनिधियों से मिलने और पत्र-व्यवहार करने की छूट दी गई थी। गांधी जी ने इस छूट के

वाद जो बयान जारी किये थे, उनमे से आठवें बयान का कुछ अश यहा दिया जा रहा है।—सम्पा०]

बहुत से पत्र-लेखको ने यह एक दूसरा सवाल पूछा है—'आप कहते हैं कि मैं शास्त्र को मानता हू। शास्त्र का आप क्या अर्थ करते हैं, यह हम नही जानते। क्योकि शास्त्रो ने जिसका समर्थन किया है, उसे आप मनमाने तौर पर अस्वीकार करते हैं। आप जिस गीता को मानते हैं, वह भी कहती है कि शास्त्र के अनुसार चलना चाहिए।'

मैंने पिछले एक लेख मे जो कहा है, उसे यहा फिर कह देना चाहिए कि गीता के मुख्य सिद्धान्त मे असगत कोई चीज कही भी छपी हुई मिल जाय, तो वह मेरे विचार मे शास्त्र नही है। मेरे कट्टर रूढिवादी मित्रो को आघात न पहुचे, तो मैं अपना अर्थ अभी और स्पष्ट करना चाहता हू। सदाचार के विश्वमान्य मूलतत्वो से असगत किसी चीज़ को मैं शास्त्र-प्रमाण नही मानता। शास्त्रो का उद्देश्य मूल तत्वो को उखाडना नही, परन्तु उन्हे कायम रखना है। और गीता मेरे लिए सम्पूर्ण है, इसका कारण यह है कि वह इन मूलतत्वो का समर्थन ही नही करती, बल्कि उन पर हर हालत मे डटे रहने के लिए हमे ठोस कारण देती है। मेरा बताया हुआ स्वर्ण-नियम न हो, तो परस्पर-विरोधी वचनो के जगल मे और सुन्दर ढग मे छपे हुए और उतनी ही खूबसूरत जिल्दोवाले सस्कृत-ग्रन्थो के ढेर मे, जिन्हे विरोधी पक्ष के पण्डित अपौरुषेय मानते हैं, मेरे-जैसे मामूली आदमी गोते ही खाते रहे। स्मृतिया अनेक है और उनमे से कुछ से तो, जिस छोटे से इलाके मे थोडे से लोग उन्हे मानते होगे उस इलाके से बाहर, के लोगो का परिचय भी नही होता। उनका मूल या उनके बनने की तारीख कोई नही बता सकता। ऐसा एक ग्रन्थ मैंने दक्षिण मे देखा था। इस ग्रन्थ के बारे मे जब साक्षर मित्रो से पूछा, तो उन्होने कहा कि उन्हे इसकी कुछ खबर नही है। आगमो की सख्या भी कुछ कम नही है। उनकी जाँच करने पर मालूम होता है कि वे परस्पर-विरोधी होते है और जिस छोटे क्षेत्र मे वे स्वीकार किये गये होते है, उसके बाहर वे प्रमाण-भूत नही माने जाते। अगर ये सब ग्रन्थ हिन्दुओ के लिए प्रमाण माने जाय तो ऐसा कोई भी अनाचार नही जिसके लिए शास्त्र का आधार न मिले। और प्राचीन मनुस्मृति से भी शकास्पद प्रमाणवाले श्लोक न निकाल दिये जाय, तो इस सारे महान ग्रन्थ मे भी जो ऊचे-ऊचे नैतिक उपदेश जगह-जगह पर बिखरे हुए हैं, उनके विरोधी वाक्य कितने ही मिल जायगे। इसलिए भगवद्गीता मे एक ही जगह जहा शास्त्र शब्द आता है, वहा मैंने उसका अर्थ यह नही किया कि वह गीता के बाहर का कोई ग्रन्थ या विधि-वाक्य है, बल्कि यह कि वह किसी

जीवन्त प्रमाणभूत व्यक्ति मे मूर्तिमान हुआ सदाचार है। मैं जानता हू कि इससे इस आलोचक को सन्तोष नही होगा। और साधारण मनुष्य की हैसियत से मैं किसी को रास्ता भी नही बता सकता, परन्तु यह बताकर कि शास्त्र का साफ अर्थ मैं क्या करता हू, अपने आलोचको को तृप्त कर सकता हू।

ईश्वरीय प्रेरणा और अन्तर्नाद

एक और सवाल इतने ही आग्रह से बार-बार पूछा जाता है—'ईश्वरीय प्रेरणा और अन्तर्नाद का आप क्या अर्थ करते है? और अगर हर मनुष्य अपने लिए ऐसी ही प्रेरणा होने का दावा करे और हर व्यक्ति अपने पडोसियो से बिल्कुल अलग ही ढग से बर्ताव करे, तो आपकी और दुनिया की क्या दशा हो?'

यह अच्छा सवाल है। ईश्वर ने अगर आत्मरक्षा के लिए सुविधा न कर रखी होती, तो हमारा बुरा हाल होता। इसलिए यह दावा भले ही सब करे, परन्तु इसे सच्चा साबित करके दिखलानेवाले तो थोडे ही मनुष्य निकलेंगे। किसी सासारिक राजा की आज्ञानुसार चलने का झूठा दावा करनेवाले की जितनी बुरी दशा हो सकती है, उससे भी बुरी दशा ईश्वर की प्रेरणा या अन्तर्नाद की आज्ञानुसार करने का झूठा दावा करनेवाले की होगी। पहिला पकडा गया तो शारीरिक सज़ा पाकर छूट जायगा, मगर दूसरा तो शरीर और आत्मा दोनो से नष्ट हो जायगा। उदार मनवाले आलोचक मुझ पर धोखे का आरोप नही करते, परन्तु कहते हैं कि सम्भव है मैं भारी भ्रम मे पडा हुआ हू। तो भी मेरे लिए इसका परिणाम मेरे झूठा दावा करने से बहुत भिन्न नही होगा। मेरे-जैसे नम्र शोधक होने का दावा करनेवाले को अत्यन्त सावधान रहना चाहिए और मन का सन्तुलन कायम रखना चाहिए। ईश्वर प्रेरणा करे इससे पहिले उसे शून्यवत् बन जाना पडता है। इस चीज़ के बारे मे मैं अधिक नही कहूगा। मैंने जो दावा किया है, वह असाधारण नही है, और न अकेले मेरे लिए ही है। जो पूरी तरह ईश्वर की शरण मे जाते हैं, उन सबके जीवन का यह नियामक बन जाता है। गीता की भाषा मे जिन्होने सम्पूर्ण अनासक्ति यानी आत्मविलोपन को साध लिया है, उनके ज़रिये ईश्वर अपना काम करता है। इसमे भ्रम का सवाल ही नही रहता। मैंने सरल शास्त्रीय सत्य पेश किया है। जिनमे यह योग्यता प्राप्त करने की इच्छा और धीरज हो, वे सब इसकी परीक्षा कर सकते है। यह योग्यता भी समझने मे अत्यन्त सीधी और जहा निश्चय हो वहा प्राप्त करने मे आसान है। अन्त मे, मेरे दावे के बारे मे किसी को चिन्ता करने की जरूरत नही। मैं लोगो से जो करने को कहता हू, वह बुद्धि की कसौटी पर कसा जा सकता है। मैं चला जाऊगा

तब भी अस्पृश्यता को दूर करना ही होगा। उपवास की प्रेरणा ईश्वर ने की है या नही, इसकी फिक्र मेरे निकट के साथियो को भी करने की जरूरत नही। वे मेरे प्रति प्रेम के कारण इसके लिए दुगने उत्साह से काम करें, इसमे तो आपत्ति होगी ही नही, फिर भले ही ऐसा मालूम हो कि उपवास एक मनस्वी मित्र का बेवकूफी भरा कदम था। जिन्हे मेरे प्रति प्रेम या विश्वास नही होगा, उन पर उपवास का असर नही होगा। इसलिए मेरे सोचे हुए उपवास की या इस विषय मे मेरे दावे की बात बार-बार करते रहने से जनता परेशान होती है और राष्ट्र के सामने जो महान कार्य पडा है उससे ध्यान हट जाता है।

— १७।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २ (परिशिष्ट), पृ० ४०५, ४०६, ४०७]

७५. मूर्तिपूजा में श्रद्धा

[प्रश्नोत्तर]

प्रश्न—आपको तो मूर्तिपूजा मे श्रद्धा नहीं है, फिर हरिजनो को मूर्तिपूजा का अधिकार दिलवाने के लिए आप क्यो इतना श्रम उठा रहे है ?

उत्तर—मुझे स्मरण नही आता कि मैंने कभी यह कहा हो कि मुझे मूर्ति-पूजा मे श्रद्धा नही है। मुझे याद नही कि मैंने अपने लेखो मे भी कभी कोई ऐसी बात कही हो। मैंने जो बार-बार कहा है, वह तो यह है कि मैं मूर्तिभजक भी हू और मूर्तिपूजक भी। यह बात ऐसा कहने से तो अलग हुई न कि मुझे मूर्तिपूजा मे विश्वास नही ? लेकिन कोई यह कहे कि मैं शायद ही कभी मन्दिर मे जाता हू तो यह बात जरूर सच होगी। मैं क्यो नही जाता, इसके कारणो मे मैं नही जाऊगा। मगर मैं इतना कहूगा कि मेरा धर्म इतना विशाल है कि मैं हिन्दुओ के मन्दिर मे, मुसलमानो की मस्जिद मे और ईसाई तथा यहूदी गिरजे मे एक ही भक्ति-भाव से जाता हू। इन सब मे मैं नास्तिक या आलोचक के रूप मे कभी नही गया, बल्कि सदा भक्तिभावपूर्वक ही गया हू।

— २१।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २१८-२१९]

७६. राम-नाम और जप

[मेरठवासी श्री आनन्द-स्वरूप को लिखे पत्र से]

राम-नाम, और ऊँकार एक ही चीज है। तुलसीदास जी ने यह स्पष्ट बता भी दिया है। जप जपते हुए मन स्थिर नही रहता, इसीलिए तो तुलसीदास ने राम-

महिमा गाई है। यदि कोई व्यक्ति श्रद्धापूर्वक जप करेगा, तो अन्त मे वह स्थिर-चित्त अवश्य होगा, ऐसी सब शास्त्रो की प्रतिज्ञा है, और ऐसा जप करनेवालो का अनुभव है। जप करते समय आँख मूदना ही काफी होगा। भृकुटि मे ध्यान रखा जाय, तो अवश्य अच्छा है।

—२६।११।१९३२। म०भा०डा०,भाग२, पृ० २३७]

७७. रुद्राक्ष-माला

एक समय था, जब मैं रुद्राक्ष की माला पहिनता था, मगर अब नही पहिनता। और इसके पहिनने के बारे मे जबतक मुझे ईश्वर का आदेश न मिले, तबतक कैसे पहिन सकता हू ?

—२९।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २४४]

७८. वेदादि का प्रमाण

मुझे अपने ज्ञान का प्रदर्शन नही करना है। मगर शास्त्रो का मैंने जो कुछ अध्ययन किया है, उसके आधार पर बने हुए मेरे विचार, मैं मानता हू, पूरी तरह शुद्ध है। मैं यह नही मानता कि वेदो का प्रत्येक शब्द ईश्वरप्रेरित है। कारण, आखिर तो वेद भी मनुष्य के मुख से ही उच्चरित हुए हैं। फिर हमारे पास तो वेदो के बहुत ही थोडे भाग है। बाद के ग्रन्थो से उनकी पूर्ति की जा सकती है। इसलिए जो वेदो मे न हो, ऐसी बाते कहने की भी मेरे लिए काफी गुजाइश है।

—१३।१२।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २८१]

७९. हिन्दू धर्म की निषेधात्मक वृत्ति

मैं देख रहा हू कि हिन्दू-धर्म के सामने सर्वनाश का भय पैदा हो गया है। हिन्दू-धर्म के लिए हजारो आदमी अपने प्राणो की बाजी लगाने को तैयार न हुए, तो उसका नाश निश्चित है। आजकल तो अलग-अलग धर्मों के बीच स्पर्धा हो रही है। अन्य सब धर्म सक्रिय और लडनेवाले हैं। हिन्दू-धर्म निषेधात्मक बन गया है। इसने सब गुणो को भी नकारात्मक कर दिया है। ऐसी निषेधात्मक वृत्तिवाले हिन्दू धर्म से मैं इन्कार करता हू।...

—५।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० १५]

- हिन्दू धर्म के लिए हजारो आदमी अपने प्राणो की बाजी लगाने को तैयार न हुए तो उसका नाश निश्चित है।
- हिन्दू धर्म निषेधात्मक बन गया है।

८०. वर्णाश्रम-उद्धार

मेरी प्रवृत्ति मात्र वर्णाश्रम धर्म के पुनरुद्धार के लिए है। इसमे मुझे तनिक भी शका नही है।

—९।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० ३०]

८१. हिन्दू-धर्म : मेरा आराध्य

[ए० पी० आई० से हुई भेंट-वार्ता का अश]

हिन्दू-धर्म के द्वारा ही प्रकाश, आनन्द और शान्ति प्राप्त करने के सिवा इस दुनिया मे मेरी कोई इच्छा नही है। इसी कारण मैं उसे विशुद्ध हुआ देखना चाहता हू। हिन्दू धर्म मुझे सन्तोष देता है। क्योकि उसे जिस तरह मैने समझा है और जिस ढग से मैं उसका आचरण कर रहा हू, उसी तरह वह मुझे दूसरे तमाम धर्मों के प्रति पूरी तरह समभाव रखने की और दूसरे धर्मों के अनुयायियो को भी अपने सगे भाई-बहिन मानने की प्रेरणा देता है। गीता का, वेदो का, उपनिषदो का, भागवत और महाभारत का मेरे विचार का हिन्दू धर्म मुझे सिखाता है कि जीवमात्र एक हैं और ईश्वर के सामने न कोई ऊचा है और न कोई नीचा। वाद-विवाद करने मे मुझे अरुचि है, किन्तु असत्य और अशुद्धि मे मुझे उससे भी ज्यादा अरुचि है।

—२७।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, (परिशिष्ट खण्ड) पृ० ३९७-३९८]

८२. वर्ण-धर्म बनाम वर्णाश्रम धर्म

वर्ण-धर्म स्वतन्त्र वस्तु नही है, किन्तु वर्णाश्रम धर्म सच्ची वस्तु है।

—२।२।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० १११]

८३. वर्णाश्रम धर्म

मेरा कहना यह है कि एक वर्ण के मनुष्य को दूसरे वर्ण के कर्म करने का अधिकार नही है, ऐसी बात नही है, लेकिन यह अनुचित है। मैं कहता हू कि यह धर्म सबके लिए है। अनायास नही वल्कि सोच-समझकर इसका पालन होना चाहिए। जैसे हिन्दू पालें वैसे ही मुसलमान पालें। इसी अर्थ मे मैंने कहा था कि यह हिन्दू-धर्म की मानव-जाति के लिए सबसे बडी भेंट है। इस धर्म के पालन से सारे समाज की रक्षा होगी, सारा समाज अजेय होगा।

— १८।२।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० १५२]

८४. सती का माहात्म्य

[मदुरा के एक पण्डित और गांधी जी के बीच हुई वार्ता।]

पण्डित जी—मन्दिर तो स्त्रियो और शूद्रो के लिए ही हैं। शास्त्रो के अनुसार आज के दिन सिर्फ शूद्र ही मन्दिरो मे जा सकते है, क्योकि वे ही अब स्वधर्म अर्थात् सेवा का पालन कर रहे है। पतिव्रता स्त्रियो को भी ऐसा ही अधिकार है। दूसरो के लिए जो कर्म धर्म-विहित थे, उनका उन्होंने पालन करना छोड दिया और इसीलिए अब वे मन्दिरो मे जाने के अधिकारी नही रहे।

गांधी जी—जब ब्राह्मण कर्म-चाण्डाल हो जाय तो उसकी सती स्त्री मन्दिर मे जाने की अधिकारिणी वनी रह सकती है?

पण्डित जी—इसलिए कि उस स्त्री का सतीत्व उसके पति को पवित्र वना लेता है।

गांधी जी—तो यह कहना चाहिए कि जिसकी स्त्री सती है, वह मनुष्य उसी क्षण पवित्र हो जाता है, चाहे वह कैसा ही जीवन व्यतीत करता हो?

पण्डित जी—हा, उसकी स्त्री उसे वचा लेती है।

गांधी जी—कोई व्यक्ति चाहे कितना ही पतित हो जाय, पर यदि उसकी स्त्री सती है, तो क्या इससे वह पवित्र हो जायगा?

पण्डित जी—हा, उसकी रक्षा वह सती कर लेगी। माना कि वह पाप करता है, पर उसके पाप, पाप न रहेगे।

गांधी जी—यदि कोई मनुष्य अपने समस्त कर्म-फलो मे मुक्त रहना चाहता है तो वह चाहे जो करता रहे, उसकी रक्षा के लिए सती स्त्री होनी चाहिए?

पण्डित जी—विल्कुल ठीक।

गांधी जी—चूंकि हम भारत की एक भी सती स्त्री के चरित्र पर कलंक नहीं लगाने जा रहे हैं, क्योंकि हमें प्रत्येक स्त्री को पवित्र मानना ही चाहिए, जब तक वास्तव में वह स्वयं स्वीकार न कर ले कि वह असती है या वैसी मान ली गई है, अतः कहना चाहिए कि प्रत्येक विवाहित पुरुष पवित्र है।

पण्डित जी—वह सच्ची पतिव्रता हो, वास्तविक सती हो, जैसी स्त्रियों का वर्णन हमारी रामायण-जैसी धार्मिक पुस्तकों में आया है।

गांधी जी—आप यह निश्चय कैसे करेंगे कि अमुक स्त्री पर उक्त परिभाषा ठीक बैठती है?

पण्डित जी—अग्नि-परीक्षा। उसे अपने सतीत्व की परीक्षा अग्नि में प्रवेश करके देनी चाहिए, जिस प्रकार सीता दी थी।

गांधी जी—वह उस अग्नि-परीक्षा में से निष्कलंक न निकले तो क्या उसे असती कहना चाहिए?

पण्डित जी—निश्चय ही।

गांधी जी—बस हो गया।

—हे० से०, २।३।१९३३]

८५. वर्ण-धर्म

वर्ण का आजीविका के व्यवसाय के साथ निकट सम्बन्ध है। प्रत्येक व्यक्ति का व्यवसाय उसका स्वधर्म है। उसे छोड़ देने से वह वर्ण-भ्रष्ट होकर नष्ट हो जाता है। अर्थ यह कि उसकी आत्मा का हनन हो जाता है। वह व्यक्ति वर्ण-संकरता का दोषी है। उससे समाज को हानि पहुंचती है। जब सब लोग अपने-अपने वर्ण-धर्म का त्याग कर देते हैं, तब समाज की व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है, अन्धेर होने लगता है और फिर समाज नष्ट हो जाता है। ब्राह्मण का धर्म अध्यापन है। उसे उसने छोड़ दिया कि उसका पतन हुआ। क्षत्रिय ने प्रजा-रक्षण का काम छोड़ा कि वह वर्ण-भ्रष्ट हुआ। वैश्य द्रव्योपार्जन का धर्म छोड़कर वर्णच्युत हो जाता है और शूद्र का पतन सेवा-धर्म छोड़ने से हो जाता है।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

स्वधर्म-त्याग को पतन का पर्याय ही समझना चाहिए। स्वधर्म का त्याग कर देनेवाले ब्राह्मण से स्वधर्म-पालन करनेवाला शूद्र श्रेष्ठ है।

इस वर्ण-व्यवस्था में अधिकार की बात नहीं। यहां केवल कर्त्तव्य की बात है। जहां सिर्फ कर्त्तव्य की बात हो, वहां उच्च-नीच-भाव के लिए स्थान ही कहां?

आज-कल वर्ण-धर्म का लोप दिखाई दे रहा है। एक भी वर्ण अपना धर्म छोड देता है तो वर्ण-लोप हो जाता है। आज तो ब्राह्मण ने ब्राह्मणत्व का, क्षत्रिय ने क्षत्रियत्व का और वैश्य ने वैश्यत्व का त्याग कर दिया है। यदि इस पर यह कोई शका करे कि द्रव्योपार्जन तो सभी लोग कर लेते हैं, तब यह क्यो माना जाय कि वैश्य-धर्म का लोप हो गया है—यह ठीक नही है—आजकल वैश्य स्वार्थ के लिए ही द्रव्योपार्जन करता है, अतएव वह गीता की भाषा मे चोर ही है—'स्तेन एव स'। वैश्य का धर्म तो यह है कि वह द्रव्योपार्जन करके अपनी आजीविका के लिए उसका उचित अश रख ले और शेष समाज के हितार्थ दे दे। ऐसे वैश्य-धर्म का पालन तो शायद ही कोई करता हो। इसलिए उसका भी लोप ही हुआ समझें।

बाकी रहा शूद्रधर्म। कितने ऐसे शूद्र होगे जो शुद्ध शूद्र-धर्म अर्थात् सेवा-धर्म का पालन करते हैं? अनिच्छावश की हुई मजदूरी सेवा नही है। धर्म मे बलात्कार के लिए स्थान नही। धर्म समझ कर स्वेच्छा से समाज की उन्नति के लिए की गई मजदूरी ही सेवा कही जा सकती है। इसलिए दु खपूर्वक यह स्वीकार करना पडेगा कि वर्ण-धर्म का सर्वथा नाश हो गया है। शूद्र का अर्थ मजदूर करके शूद्र का अपमान किया गया है और हिन्दू-धर्म को हानि पहुचाई गई है।

पर यह स्पष्ट है कि वर्ण-धर्म हर हिन्दू की रग-रग मे समा गया है—भूल से चाहे रोटी-बेटी के व्यवहार को ही वर्ण-धर्म के लिए पर्याप्त समझ लिया गया हो। वर्ण-धर्म की कल्पना के बिना हिन्दू मात्र के हृदय को शान्ति नही। इसलिए वर्ण-धर्म का पुनरुद्धार सम्भव है। इसका एकमात्र साधन तप है। तप ही वह महाशक्ति है, जिससे धर्म की रक्षा और उसकी सस्थापना हो सकती है। ज्ञान-शून्य तप, तप नही, वह तो केवल शारीरिक क्लेश है। तप और ज्ञान का सम्मिश्रण ब्राह्मण धर्म मे ही हो सकता है। जो ब्रह्मज्ञान के लिए शुद्ध परिश्रम करता है, वही ब्राह्मण होने योग्य है। अगर आज ऐसा परिश्रम किया जायगा तो किसी दिन हिन्दू-धर्म अर्थात् वर्ण-धर्म का उद्धार हो जायगा। सौभाग्य से आज ऐसा परिश्रम करनेवाला एक छोटा-सा समूह मौजूद है। इसलिए मेरी अचल श्रद्धा है कि हिन्दू-धर्म—शुद्ध सनातन धर्म—पुन एक बार अपना तेज प्रकट करेगा और ससार को मार्ग दिखायेगा।

मेरा हिन्दू-धर्म सर्वव्यापक है। उसमे न तो किसी धर्म के प्रति द्वेष है, न अवगणना। समस्त धर्म एक-दूसरे के साथ ओत-प्रोत हैं। प्रत्येक धर्म मे कई-कई विशेषताएँ हैं किन्तु एक धर्म दूसरे से श्रेष्ठ नही है। जो एक मे है वह दूसरे मे नही है। इसलिए एक धर्म दूसरे का पूरक है। अत एक धर्म की विशेषता दूसरे की विशिष्टता के प्रतिकूल नही हो सकती, जगत् के सर्व-सामान्य सिद्धान्तो

का विरोधी नहीं हो सकती। इस दृष्टि से वर्ण-धर्म का जो मैंने उसका यही अर्थ निकल सकता है, जो मैंने किया है। इतिहास सिद्ध करता है कि एक समय हिन्दू कहे जानेवाले सभी लोग ऐसे धर्म का स्वेच्छापूर्वक पालन करते थे।

इस वर्ण-धर्म का पालन पुनः होने लगे, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि वह स्वेच्छापूर्वक शूद्र-धर्म का स्वीकार कर ले। शूद्र मुख्यतया शारीरिक श्रम से सेवा करता है। यह धर्म सबके लिए सुलभ और सुसाध्य है। चूंकि आजकल शूद्र-वर्ण नीच-वर्ण माना जाता है, इसलिए सब अपने को शूद्र मानने लगें तो उच्च-नीच का भाव न रहेगा।

जब सभी ज्ञानपूर्वक सेवा-धर्म का पालन करने लगेंगे और अपने को शूद्रों में गिनने लगेंगे, तब कोई ब्रह्म-विद्या नहीं सीखेगा—ऐसी बात नहीं है। अपनी रुचि के अनुसार कोई ब्रह्मविद्या सीखेगा और कोई सिखायेगा, कोई प्रजा-पालन करेगा, कोई द्रव्योपार्जन करेगा। सबके रहन-सहन का ढंग एक-सा होगा। करोड़पति और कौड़ीपति का भेद नहीं रहेगा। वैश्य का धन प्रजा का धन होगा। सब शूद्र होंगे। फिर कौन उच्च और कौन नीच रहेगा? ऐसे धर्म-पालन से ही वर्ण-धर्म का पुनरुद्धार होगा।

वर्ण-धर्म में वंश-परम्परा की प्रणाली अवश्य रही है। उसके बिना सुव्यवस्था असम्भव है। इसलिए अध्यापन करनेवालों की सन्तान उसी धर्म का पालन करेगी। एकाएक सब लोग ब्रह्मज्ञानी नहीं बन सकते। अगर बन सकें तो कोई आपत्ति नहीं क्योंकि ब्रह्मज्ञानी बनने का अर्थ सेवा की पराकाष्ठा पर पहुंचना है। उसमें अभिमान या स्वार्थ की गन्ध भी नहीं आ सकती। जब ऐसे ब्रह्मज्ञानी काफी तादाद में पैदा होंगे, तब कहीं वर्ण-व्यवस्था का पुनरुद्धार शक्य है।

अगर हिन्दू-समाज वर्ण-व्यवस्था-सम्बन्धी मेरे विचार स्वीकार न करेगा, तो वे मेरे ही पास रहेंगे। मैं अपने विचार स्वीकार कराने के लिए किसी को विवश नहीं करूंगा, न मेरी ऐसा करने की इच्छा है। अगर ये विचार हिन्दू-धर्म के विरोधी होंगे तो मैं समाज से कंकड़-सा हटा दिया जाऊंगा। मैं अपने वर्ण-व्यवस्था-सम्बन्धी विचार मात्र प्रकट कर देता हूं क्योंकि मैं किसी को धोखे में नहीं रखना चाहता। धर्म के सम्बन्ध में व्यक्ति की कोई गणना नहीं। व्यक्ति आज है, कल नहीं, धर्म सनातन है और सनातन रहेगा। उसके बारे में नित्य नवीन कल्पनाएं होती आई हैं और होती रहेंगी। जैसे ईश्वर के गुण अनन्त हैं, वैसे ही धर्म की मर्यादा अनन्त है। धर्म को सम्यक् रूप से किसी ने नहीं जाना। इतना ही पर्याप्त है कि जिसका जितना धर्मज्ञान हो उसे वह उतना पालन करे। इतना होता रहेगा तो धर्म की प्रगति और जागृति होती रहेगी।

. . धर्म का पालन करनेवाला ही उसे जान सकेगा। हर प्रकार के ज्ञान के लिए परिश्रम आवश्यक है। धर्म-सशोधन के लिए उसकी अधिक आवश्यकता है। इसलिए इस सशोधन के आरम्भ मे ही अनुभवियो ने धर्म-नियमो के पालन की आवश्यकता बतलाई है।

—ह० ब०। ह० से०, ३१।३।१९३३]

- **प्रत्येक व्यक्ति का व्यवसाय उसका स्वधर्म है।**
- **स्वधर्म-त्याग को पतन का पर्याय समझना चाहिए।**
- **अनिच्छावश की हुई मजदूरी सेवा नहीं है।**
- **धर्म में बलात्कार के लिए स्थान नहीं।**
- **वर्ण-धर्म का पुनरुद्धार सम्भव है।**
- **ज्ञानशून्य तप, तप नहीं।**
- **मेरा हिन्दू-धर्म सर्वव्यापक है।**
- **समस्त धर्म एक दूसरे के साथ ओत-प्रोत हैं।**
- **एक धर्म दूसरे का पूरक है।**
- **ब्रह्मज्ञानी होने का अर्थ सेवा की पराकाष्ठा पर पहुँचना है।**
- **धर्म के सम्बन्ध में व्यक्ति की कोई गणना नहीं।**
- **धर्म सनातन है और सनातन रहेगा।**

८६. ब्राह्मण और ब्राह्मण धर्म

मेरी दृष्टि मे ब्राह्मण धर्म का दूसरा नाम हिन्दू धर्म है। ब्राह्मण धर्म का अर्थ है ब्रह्मज्ञान। इसलिए ब्राह्मण धर्म उस ज्ञान का नाम है, जिसके द्वारा मनुष्य को ईश्वर -दर्शन अथवा आत्म-दर्शन होता है। यदि मेरा यह आशय न होता तो मैं हिन्दू धर्म का आश्रयी कभी न रहता। लेकिन ब्राह्मण मात्र इस ब्राह्मण धर्म के प्रतिनिधि नही हैं। जैसे दूसरो मे अपूर्ण लोग होते हैं, वैसे ही ब्राह्मणो मे भी पाये जाते हैं। पर इसके साथ ही मैं यह भी मानता हू कि दूसरो की अपेक्षा ब्राह्मणो मे सच्चे ब्राह्मण अधिक सख्या मे पाये जायगे। मुझे हिन्दूधर्म के सिवा और किसी ऐसे धर्म का ज्ञान नही, जिसमे एक समस्त वर्ग स्वेच्छा से ग़रीब रखा गया हो और जिसका एकमात्र धर्म ब्रह्मज्ञान की खोज ही नियत कर दिया गया हो। ब्राह्मणो ने अपने लिए जो धर्म बना रखा था, उसका वे सभी पूर्णतया पालन न कर सके, तो यह उनका कोई विशेष दोष नही माना जाना चाहिए। . . .

यदि ब्राह्मण वर्ग की ओर देखे तो वह गिरा हुआ दीखेगा। यदि उसका पतन न हुआ होता, यदि ब्राह्मणो ने अपना धर्म न छोड दिया होता तो हिन्दू धर्म की जो दशा आज देखी जाती है, वह कभी न होती। ऐसा कोई नही कह सकता कि यद्यपि ब्राह्मणो ने अपने कर्त्तव्य का पूरा पालन किया, फिर भी हिन्दू धर्म की दुर्दशा हो गई। यह कथन परस्पर-विरोधी होगा। हमे ब्राह्मणो ने ही सिखाया है कि जहा ब्रह्मज्ञान होता है वहा भय, दारिद्रय, ऊच-नीच का भाव, लोभ, द्वेष, विग्रह, असत्य आदि नही रह सकते। ब्राह्मण धर्म का लोप हुआ, इसलिए उसके साथ अन्य हिन्दुओ का भी पतन हुआ। मुझे इसमे लेशमात्र शका नही है कि यदि ब्राह्मण धर्म का पुनरुद्धार न हुआ तो हिन्दू धर्म का नाश निश्चित है।

किन्तु आज तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य नाम मात्र के ही रह गये हैं। मैं कह चुका हू कि आज वर्णों का सकर हो गया है, सभी ने अपना धर्म छोड दिया है। इसलिए अब यही अभीष्ट हो सकता है कि सब लोग अपने को शूद्र मानने लगे। यही राज-मार्ग है, जिसपर चल कर ब्राह्मण अपना ब्राह्मणत्व सिद्ध कर सकता है और वर्ण-धर्म का पुनरुद्धार हो सकता है।

—ह० ज०। ह० से०, ७।४।१९३३]

- **ब्राह्मण धर्म का दूसरा नाम हिन्दू धर्म है।**
- **ब्राह्मण धर्म का अर्थ है ब्रह्मज्ञान।**
- **जहा ब्रह्मज्ञान होता है वहा भय, दारिद्रय, ऊच-नीच का भाव, लोभ, द्वेष, विग्रह, असत्य आदि नहीं रह सकते।**
- **ब्राह्मण धर्म का पुनरुद्धार न हुआ तो हिन्दू धर्म का नाश निश्चित है।**

८७. वर्ण-व्यवस्था

मेरा अभिप्राय यह है कि वर्ण-व्यवस्था वस्तुत आज रह नही गई है। सभी वर्णों ने अपना धर्म छोड दिया है। शास्त्र कहता है और बुद्धि भी समर्थन करती है कि जब वर्ण के गुण छूट जाते है, तब वह लुप्त हो जाता है। आज वर्णो ने अपना धर्म छोड दिया है, इसलिए वर्णों का सकर, हो गया है। यदि कोई वर्ण थोडा बच गया तो वह शूद्र वर्ण है और उसी के अन्तर्गत समस्त स्पृश्य और अस्पृश्य को मानना चाहिए। यदि यह ठीक नही है तो सब लोग अपनी-अपनी इच्छानुसार अपना वर्ण पसन्द कर ले। तात्पर्य यह कि वर्ण-धर्म नही रहा। धर्म मे इस तरह पस-

न्दगी के लिए स्थान नही हो सकता, क्योकि धर्म अधिकार का विषय नही, वह केवल कर्त्तव्य का विषय है। धर्म मे न कोई उच्च हो सकता है, न नीच।
—ह० से०, ७।४।१९३३]

- धर्म अधिकार का विषय नहीं, वह केवल कर्त्तव्य का विषय है।
- धर्म में न कोई उच्च हो सकता है, न नीच।

८८. वर्ण-धर्म

[कुछ प्रश्न और उनके उत्तर]

प्रश्न—आजीविका के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कौन-से कार्य कर सकते हैं ?

उत्तर—ब्राह्मण समाज को ब्रह्मज्ञान देगा। क्षत्रिय राष्ट्र की रक्षा करेगा। वैश्य व्यापारादि से धनोपार्जन करेगा। शूद्र परिचर्या करेगा। अपने-अपने कर्त्तव्य-कर्म से ही सभी अपनी-अपनी जीविका उपार्जित करेंगे, बस, यह काफी है।

प्रश्न—सेवा के लिए चारो वर्ण क्या-क्या कार्य करें ?

उत्तर—वर्ण वास्तव मे धर्म है, अधिकार नही। इसलिए वर्ण का अस्तित्व केवल सेवा के लिए हो सकता है, स्वार्थ के लिए नही। इस कारण न तो कोई उच्च है न नीच। ज्ञानी होकर भी जो अपने को दूसरो से उच्च मानेगा, वह मूर्ख से भी बदतर है। उच्चता के अभिमान से वह वर्ण-च्युत हो जाता है। यहा यह भी समझ लेना आवश्यक है कि वर्ण-धर्म मे ऐसी कोई बात नही है, कि शूद्र ज्ञान का सचय अथवा राष्ट्र की रक्षा न करे। हा, शूद्र अपने ज्ञान के विनिमय को अथवा राष्ट्र-रक्षा को अपनी आजीविका का साधन न बना ले। अथवा ब्राह्मण परिचर्या न करे, ऐसी बात भी नही है। परन्तु वह परिचर्या द्वारा अपनी जीविका न चलाये। यदि इस सहज स्वाभाविक धर्म का सर्वथा पालन किया जाय, तो समाज मे आज जो उपद्रव हो रहे हैं, एक दूसरे के प्रति जो द्वेषपूर्ण प्रतिस्पर्धा बढ रही है, धन इकट्ठा करने के जो कष्ट उठाये जा रहे हैं, असत्य का जो प्रचार हो रहा है और युद्ध के जो साधन तैयार किये जा रहे है वे सब शान्त हो जाय। इस नीति का पालन सारा ससार करे या न करे, हिन्दू लोग करें न करें, पर जितने लोग इस व्यवस्था पर चलेंगे, उतना लाभ ससार को होगा ही। मेरा यह विश्वास बढता ही जाता है कि वर्ण-धर्म से ही जगत् का उद्धार होगा। वर्ण-धर्म का सच्चा अर्थ सेवा-धर्म है। जो कुछ किया जाय वह सेवा-भाव से ही किया जाय। सेवा मे सौदा कहा ? . . .

प्रश्न—आपने लिखा है, इस वर्ण-धर्म का पालन फिर से सम्भव करने के लिए सबके स्वेच्छा से शूद्र-धर्म स्वीकार करने की आवश्यकता है। यदि शूद्रेतर वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) शूद्र-धर्म को स्वीकार करेंगे, तो क्या उन्हे स्वधर्म छोडकर अन्य धर्म स्वीकार करने का दोष न लगेगा?

उत्तर—यह प्रश्न करते समय प्रश्नकार कदाचित् भूल गये कि मेरा अभिप्राय यह है कि आज वर्ण-धर्म का प्राय नाश हो गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य बहुत पहिले से अपना वर्ण-धर्म छोड कर अधिकार ले बैठे है। दोष तो हो ही चुका है। अब स्वेच्छा से शूद्र-धर्म स्वीकार करके वर्ण-च्युत ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य दोष-मुक्त होने का आरम्भ कर सकते है। उनका धर्म शूद्र को तुच्छ या नीच समझना कदापि नही था।

प्रश्न—आपने लिखा है, ब्रह्मज्ञान का प्रयत्न करनेवाला सद्भाग्य से आज एक छोटा-सा वर्ग मौजूद है जिससे कि शुद्ध सनातन धर्म फिर अपना तेज प्रकट करेगा और जगत् को कल्याण का मार्ग बतायेगा। वह वर्ग कौन-सा है?

उत्तर—जो लोग भागवत धर्म का हार्दिक पालन करते है, जो प्रभु-प्रीत्यर्थ केवल आजीविका प्राप्त करके सतत लोक-सेवा करते है, वे निस्सन्देह, अपने आचरण से ससार को ब्रह्मज्ञान देते है। उनमे विद्वान् भी है और अविद्वान् भी। वे अपना कार्य किसी को दिखाने के लिए नही करते। मै उन सब का नाम नही जानता। लेकिन मेरा विश्वास है कि ऐसे लोग मौजूद है, यद्यपि उनकी सख्या बहुत कम है।

—ह० से०, २१।४।१९३३]

- वर्ण ..धर्म है, अधिकार नहीं।
- वर्ण-धर्म से ही जगत् का उद्धार होगा।
- वर्ण-धर्म का सच्चा अर्थ सेवा-धर्म है।

८९. अनशन का आध्यात्मिक प्रयोजन

[दीनबन्धु ऐंडरूज़ ने गाधी जी को लम्बा पत्र लिखा, जिसमे गाधी जी के अनशनो के प्रति असहमति व्यक्त की गई थी। ऐंडरूज़ ने लिखा था कि उन्हें गाधी जी के अनशनो से नैतिक घृणा-सी हो गई है। उन्होने अनशन के शुभकारी प्रभाव को भी विवादास्पद बताया था। इस पत्र के उत्तर मे गाधी जी ने जो विचार व्यक्त किया, उसका आवश्यक अश यहा दिया जा रहा है।—सम्पा०]

न्दगी के लिए स्थान नही हो सकता, क्योंकि धर्म अधिकार का विषय नही, वह केवल कर्त्तव्य का विषय है। धर्म मे न कोई उच्च हो सकता है, न नीच।
—ह० नै०, ७।४।१९३३]

- धर्म अधिकार का विषय नहीं, वह केवल कर्त्तव्य का विषय है।
- धर्म मे न कोई उच्च हो सकता है, न नीच।

८८. वर्ण-धर्म

[कुछ प्रश्न और उनके उत्तर]

प्रश्न—आजीविका के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कौन-से कार्य कर सकते हैं?

उत्तर—ब्राह्मण समाज को ब्रह्मज्ञान देगा। क्षत्रिय राष्ट्र की रक्षा करेगा। वैश्य व्यापारादि से धनोपार्जन करेगा। शूद्र परिचर्या करेगा। अपने-अपने कर्त्तव्य-कर्म से ही सभी अपनी-अपनी जीविका उपार्जित करेंगे, बस, यह काफी है।

प्रश्न—सेवा के लिए चारो वर्ण क्या-क्या कार्य करें?

उत्तर—वर्ण वास्तव मे धर्म है, अधिकार नही। इसलिए वर्ण का अस्तित्व केवल सेवा के लिए हो सकता है, स्वार्थ के लिए नही। इस कारण न तो कोई उच्च है न नीच। ज्ञानी होकर भी जो अपने को दूसरो से उच्च मानेगा, वह मूर्ख से भी बदतर है। उच्चता के अभिमान से वह वर्ण-च्युत हो जाता है। यहा यह भी समझ लेना आवश्यक है कि वर्ण-धर्म मे ऐसी कोई बात नही है, कि शूद्र ज्ञान का सचय अथवा राष्ट्र की रक्षा न करे। हा, शूद्र अपने ज्ञान के विनिमय को अथवा राष्ट्र-रक्षा को अपनी आजीविका का साधन न बना ले। अथवा ब्राह्मण परिचर्या न करे, ऐसी बात भी नही है। परन्तु वह परिचर्या द्वारा अपनी जीविका न चलाये। यदि इस सहज स्वाभाविक धर्म का सर्वथा पालन किया जाय, तो समाज मे आज जो उपद्रव हो रहे हैं, एक दूसरे के प्रति जो द्वेषपूर्ण प्रतिस्पर्धा बढ रही है, धन इकट्ठा करने के जो कष्ट उठाये जा रहे हैं, असत्य का जो प्रचार हो रहा है और युद्ध के जो साधन तैयार किये जा रहे है वे सब शान्त हो जाय। इस नीति का पालन सारा ससार करे या न करे, हिन्दू लोग करें न करें, पर जितने लोग इस व्यवस्था पर चलेंगे, उतना लाभ ससार को होगा ही। मेरा यह विश्वास बढता ही जाता है कि वर्ण-धर्म से ही जगत् का उद्धार होगा। वर्ण-धर्म का सच्चा अर्थ सेवा-धर्म है। जो कुछ किया जाय वह सेवा-भाव से ही किया जाय। सेवा मे सौदा कहा? . .

चाहे मनुष्य हो चाहे पशु, कोई न भोजन करे, न पानी पिये। क्या मनुष्य, क्या पशु सभी भगवा वस्त्र-धारी होकर जोर-जोर से ईश्वर की पुकार करे, प्रत्येक बुराई से बचे और हिंसा को छोडे। किसको पता है कि कदाचित ईश्वर हमसे प्रसन्न होकर क्रोध वापस ले ले, जिससे हम सब नष्ट होने से बच जाय।

ईश्वर ने उनके कर्मों को देखा, कि वे लोग अपने बुरे मार्ग से हट गये है। ईश्वर ने जो दण्ड देने का सकल्प किया था उसे लौटा लिया और दण्ड नही दिया।

इन लोगो का यह कार्य मरणान्त अनशन नही तो क्या था? हर एक अनशन आत्म-घात नही होता। निनेवा के राजा और प्रजा का यह उपवास, दुःखो से छुटकारा पाने के लिए, ईश्वर से प्रार्थना करना ही तो था? इसके फल दो ही हो सकते थे, या तो मौत या सकट-मोचन। यदि मै अपने उपवास की उस बाइबिल वाले उपवास के साथ तुलना करू, तो मेरे उपवास का भी वही फल था। जोना के इस अध्याय मे रामायण की-सी एक घटना का वर्णन है। यह उचित है, कि मेरे मित्रगण जान ले, कि मेरे सिद्धान्त के मूल मे क्या है। मुझे अनशन के तरीके मे पूर्ण श्रद्धा है, वह अनशन निजी हो, चाहे सार्वजनिक। यह मौका किसी भी दिन, बिना किसी को सूचना दिये ही, उपस्थित हो सकता है, दूसरो को क्या चाहे स्वय मुझे भी इसका पता न हो। यदि ऐसा मौका आ गया, तो मै, उसका वैसा ही स्वागत करूगा, जैसे किसी बडे अधिकार और आनन्द का।

—ह० ज०। ह० से० २८।४।१९३३]

- अनशन आधुनिक हिन्दू-धर्म का एक आवश्यक अग है।
- हिन्दू-शास्त्र अनशन के उदाहरणों से भरा पडा है।
- तितिक्षा को आध्यात्मिक उन्नति का अग माना गया है।
- उपवास के बिना कोई प्रार्थना नहीं हो सकती।
- पूर्ण उपवास का अर्थ है पूर्ण आत्मत्याग। यही सबसे सच्ची प्रार्थना है।
- अन्न और जल त्याग देना आत्मत्याग का आरम्भ मात्र है।
- हर एक अनशन आत्म-घात नहीं होता।
- मुझे अनशन के तरीके मे पूर्ण श्रद्धा है।

९०. रोगी हिन्दू-धर्म

मैने रोगग्रस्त हिन्दू-धर्म की नाडी अच्छी तरह देख ली है और दवा भी उपयुक्त बताई है। यदि उस दवा का भलीभाति उपयोग हो तो रोग का नाश

अवश्य होगा, इसमे सन्देह नही। लेकिन रोगी उसका उपयोग ही न करे तो वैद्य बेचारा क्या कर सकता है? वह अधिक-से-अधिक रोगी के सिरहाने बैठ कर अनशन कर सकता है।

—ह० ब०। ह० से०, २८।४।१९३३]

९१. वर्ण-धर्म : एक दृष्टिकोण

मैने वर्ण-धर्म का जो अर्थ किया है, उसके अनुसार वह ऊँचे-से-ऊँचे मानसिक विकास के लिए किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नही है। अधिक कमाने के लिए पूर्वजो का धन्धा छोडकर जैसी खराब और विनाशकारी प्रतिस्पर्धा आजकल चल रही है, जो जीवन के आनन्द और सुन्दरता का ह्रास कर रही है उसके समक्ष वर्ण-धर्म निस्सन्देह प्रतिबन्ध-रूप है। पर यह प्रतिबन्ध केवल धर्म की दृष्टि से रखा गया है।

— ह० ज०। ह० से०, ११।८।१९३३]

९२. ब्राह्मण-धर्म और वर्ण-धर्म

जो जन्म से ब्राह्मण है और ब्राह्मण-धर्म का पालन करता है, वह नौकरी क्यो तलाशता फिरता है? ब्राह्मण होने का दावा करनेवाले को यही शोभा देता है कि वह ससार मे ब्रह्मज्ञान का प्रचार करके अपनी आजीविका का प्रश्न धार्मिक मनोवृत्ति वाले यजमानो पर ही छोड दे। नौकरी खोजनेवाले ब्राह्मण के लिए सच्चा आश्वासन यही है कि वह अपने धर्म का पालन करे, तो उसके लिए निराशा का कोई कारण नहीं रह जाता।

वर्ण-धर्म का लोप हो गया है,यह कह कर भी मैं बाध्यत: वर्ण-धर्म का आश्रय क्यो लेता हूँ—इस पर मुझे आशा है, कोई मेरी टीका नहीं करेगा। वर्ण-धर्म के लोप होने का यह अर्थ नही है कि उसका पालन किसी को नही करना चाहिए। वर्ण-धर्म माननेवालो को अपने लिए उसका पूर्ण रूप से पालन करना ही उचित है।

इस कठिन समय मे भी ब्राह्मणो ने व्यक्तिगत रूप से देश की कम सेवा नही की है। दूसरो के मुकाबले ब्राह्मणो का त्याग अधिक है। उनका श्रेष्ठ त्याग नौकरी आदि अर्थमात्र का त्याग है। ब्रह्मण-धर्म की शोभा केवल परमार्थ से है।

ब्राह्मण यदि वर्ण-धर्म का मर्म समझकर उसके अनुसार आचरण करे तो अब भी वर्ण-धर्म का पुनरुद्धार आसानी से हो सकता है।

—ह० ब० । ह० से०, २२।९। १९३३]

• ब्रह्मण-धर्म की शोभा परमार्थ से है।

९३. भविष्य का वर्ण-धर्म

एक सनातनी सज्जन लिखते हैं —

'हरिजन-बन्धु' के पिछले अक मे आपने हरिजनो के प्रति लिखा था—'मेरी दृष्टि मे वर्ण-धर्म का लोप हो गया है, और धर्म का उद्धार तुम्हे वर्ण के बाहर रखकर नहीं हो सकता। पर अगर मेरे जीवन-काल मे वर्ण-धर्म का उद्धार होना है, तो जो तुम्हारा वर्ण समझा जायगा वही मेरा भी मानना, कारण कि मैं अपने को स्वेच्छाकृत हरिजन ही मानता हूँ।' वर्ण-धर्म का लोप हो गया है, यह तो स्पष्ट ही देखा जा सकता है। रोटी-बेटी-व्यवहार के निषेध और छुआछूत के आग्रह से वर्ण-धर्म टिक नहीं सकता, यह बात भी मानी जा सकती है। पर सच्चे वर्ण-धर्म का उद्धार कैसे होगा, यह शका तो मन मे रहती ही है। पुनरुद्धार होने पर करोडो हिन्दुओ मे से प्रत्येक का वर्ण कौन निश्चित करेगा? किन तत्वो के आधार पर वर्ण निश्चित किया जायगा? सैकडो जातियो और हजारो धन्धो मे अमुक जाति और अमुक धन्धा अमुक वर्ण में माना जायगा, यह किन सिद्धान्तो पर कौन निश्चित करेगा?

"क्या आप सचमुच समझते हैं, कि वर्ण-व्यवस्था पुनः स्थापित करने के योग्य शक्ति और सगठन किसी समाज मे आ जायगा?

"क्या आपकी धारणा है, कि रूस-जैसी राजशक्ति वर्ण-धर्म स्थापित करेगी? कृपा कर इस प्रश्न का तनिक विस्तार से जवाब दें, जिससे आपके हृदय की बात मेरे-जैसा सनातनी समझ सके।"

इस प्रकार के प्रश्नो का सीधा जवाब देना कठिन है। इनका उत्तर त्रिकाल-दर्शी ही दे सकता है। मेरे लिए तो वर्तमान का ज्ञान और उसके अनुसार आचरण ही पर्याप्त है। 'चूकै मति यह दांव, कहा आगे की सोचै?' आस्तिक और नास्तिक दोनो ही इसे अन्त करण से गा सकते है। नास्तिक का भाग तो खाने-पीने और मौज उडाने मे ही समाप्त हो जाता है। और आस्तिक का भगवद्भक्ति और उससे प्राप्त कर्तव्य-कार्य मे तन्मय हो जाने मे समाप्त होता है। मैं अपने को आस्तिक मानता हू और वर्तमानकालिक कर्तव्य पूरा करने मे अपने को कृतार्थ मानता हू। आज जैसा करूगा, भविष्य मे वैसा भरूँगा, अर्थात्

यह निश्चित है कि वर्तमान के कर्मानुसार ही भविष्य बनेगा। इसीलिए वर्ण-धर्म में भविष्य के विषय में मुझे चिन्ता नही है। इन सनातनी सज्जन से भी मै यही सिफारिश करता कि वह भविष्य की चिन्ता मे न पडे। मेरी तरह जो वर्ण-धर्म मानता है, और मेरी बताई व्याख्या के अनुसार ही अपने आचार-विचार रखता है, वह पूर्णतया अपना धर्म पालनेवाला समझा जायगा।

फिर एक दूसरी बात भी ध्यान मे रखने योग्य है। किसी भी धर्म के मूल सिद्धान्त व्यापक बनने योग्य होने चाहिए। जिन सिद्धान्तो मे ये गुण नही होते, वे सिद्धान्त नही रहे जा सकते। यदि वर्ण-धर्म का सिद्धान्त व्यापक न हो तो उसकी उत्पत्ति किसी विशेष काल, स्थान और सयोग मे होनी चाहिए, और उनमे से एक के भी बदलने से वर्ण-व्यवस्था भी बदल जायगी। वर्ण-व्यवस्था अगर इतनी क्षणजीवी वस्तु हो तो चाहे वह रहे या न रहे, उसके सम्बन्ध मे कुछ भी विचार करने की जरूरत नही है। पर अपनी व्याख्यानुसार, मैं वर्ण-धर्म को सर्वव्यापक सिद्धान्त मानता हू। उसके पालन पर जनसमाज के अस्तित्व का आधार है। यदि मेरे विश्वास मे कुछ तथ्य है तो भविष्य मे वर्ण-धर्म अवश्य व्यापक होगा, फिर वह चाहे जिस नाम से पुकारा जाय। वर्ण-धर्म का अभिप्राय है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी पैतृक आजीविका के साधन से सन्तुष्ट हो। इस योजना के मूल मे अहिसा है, ईश्वरीय नियम का ज्ञान है, शुद्ध अर्थशास्त्र है और मनुष्यत्व है। इस वर्ण-धर्म का पालन न हुआ तो अभूतपूर्व पारस्परिक सहार ही होगा। ज्यो-ज्यो करोडो मे जागृति आती जायगी, सब धनी होना चाहेगे, सब बडे बनना चाहेगे, नीच कहे जानेवाले धन्धे कोई नही करना चाहेगा, त्यो-त्यो ऊच-नीच की भावना और-और अधिक बढती जायगी। मुझे लगता है कि इसका परिणाम आपस की मार-काट के सिवा और कुछ न होगा।

पर मनुष्य के स्वभाव मे ही आत्म-रक्षा का गुण मौजूद है। इसलिए वर्ण-धर्म का आश्रय लेकर मनुष्य बच जायगा। सब अपने-अपने पैतृक धन्धो मे लगे रहेगे, किसी धन्धे को ऊच-नीच माने बिना ही सब अपना-अपना जीवन बितायेंगे। ऐसा होने पर अगर कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि नामो से प्रसिद्ध न होकर, दूसरे नामो से प्रसिद्ध हो तो उसकी चिन्ता न करनी चाहिए। वर्ण चार के बजाय दो हो सकते हैं और चार से अधिक भी। इतना स्पष्ट है, कि वर्ण के महान् नियमो का पालन करने से हम पूजीवाद और मजदूरवाद आदि के कलह से बच जायगे।

इस व्यवस्था मे एक ओर तो अति लोभ, अति धन, और अति मद न होगा, और दूसरी ओर लाचारी, दरिद्रता और दीनता न होगी। सब मिलकर प्रेम से रहेगे, कोई किसी को ऊच या नीच न मानेगा।

इतना लिखने के बाद अब मैं अपनी कल्पना के घोड़े पर सवार होकर कुछ सैर करूंगा। अगर कोई मुझे वर्ण-व्यवस्था ही की रचना करने दे और मैं शासन में होऊं, तो उसका श्रीगणेश ब्राह्मणों से ही करूं। वे निश्चित रूप से अनुभव-ज्ञान और उसके आधार पर रचे हुए आचार के रक्षक होते हैं, अतः उनके सामने दूसरे वर्ण स्वयं व्यवस्थित हो सकते हैं। कारण यह है कि उनका अनुभव स्वयं-सिद्ध और निःस्वार्थ होने के कारण सब सहज ही उनका अनुसरण करेंगे। उनमें विद्या भी होती है। कौन ब्राह्मण है, यह प्रश्न ही तब नहीं रहेगा। तथोक्त हरि-जन ब्राह्मण की तरह सर्वसम्मान्य होंगे और तथोक्त ब्राह्मण अपने को शूद्र कह जाने में सकोच नही करेंगे। मेरे कल्पना-काल में कुछ अड़चन नहीं आयेगी, कारण कि उस समय ऊंच-नीच की भावना का सर्वथा उन्मूलन हो जायगा, और सब अपने-अपने गृह-कर्म में लग जायगे, तथा सहज ही अपने-अपने स्थान में सुव्य-वस्थित हो जायगे। कल्पना के घोड़े पर चढ़कर यात्रा का वर्णन करने में कुछ बाधा नहीं आती, इसलिए मार्ग-दर्शक के समान इतना ही वर्णन करके समाप्त करता हूं। पर इस लेख में इतना समझ लेना चाहिए, कि वर्ण-धर्म यहां अहिंसा-प्रधान माना गया है, अतः उसमें राजदण्ड अथवा बलात्कार के लिए स्थान नहीं है। मनुष्य-स्वभाव में यदि वर्ण-धर्म है, तो उसका उद्धार हो ही जायगा। वर्ण-धर्म यदि मानव-स्वभाव के विपरीत है, तो आज उसका लोप हो जाना ठीक ही है। मनुष्य पशुजाति का जन्तु-विशेष ही नहीं है, बल्कि वह ऐसा प्राणी है, जिसमें से पशुत्व दिन-दिन कम होता जाता है और जो सज्ञाहीन अवस्था से जागरित होकर आत्मवान् बनता जाता है। मनुष्य की रचना आत्मा को पहिचानने के लिए हुई है, बल्कि वह आत्मस्वरूप है। इसलिए वह किसी दिन ऊंच-नीच के मिथ्या प्रपच से निकलकर, आत्मैक्य बढ़ानेवाली वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार करेगा।

—ह० ब०। ह० से०, ६।१०।१९३३]

- मनुष्य के स्वभाव मे ही आत्मरक्षा का गुण मौजूद है।
- मनुष्य की रचना आत्मा को पहिचानने के लिए हुई है।

९४. वर्ण-व्यवस्था की धार्मिक बुनियाद

वर्ण-व्यवस्था की बुनियाद आर्थिक तो है ही, लेकिन उसका धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसा मैं नहीं मानता। इससे उलटा मेरा मन्तव्य तो यह है कि

वर्ण-व्यवस्था के मार्फत शास्त्रकार ने अर्थ को धर्म के ढांचे मे रख दिया और स्वार्थ ने बचा लिया।
—हिन्दी। वर्धा। श्री देवव्रत शास्त्री को लिखे निजी पत्र से। प्रतिलिपि प्रधान सम्पादक के पास सग्रहीत, १।११।१९३३]

९५. वर्ण, धर्म, ईश्वर

वर्ण के चार विभागो का आधार कर्त्तव्य है, अधिकार नही। धर्म अधिकारो का बँटवारा नही करता; वह सबके लिए मर्यादा, कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व का निश्चय करता है। ..ईश्वर चराचर जगत् का स्रष्टा है, अत सभी प्राणी उसकी दृष्टि मे एक है।...
—मोर्शी। ह० से०, १।१२।१९३३]

९६. मैं सनातनी हूँ

मैं सनातनी होने का दावा करता हूँ, क्योकि मेरा विश्वास है कि मेरा आचरण शास्त्र एव शास्त्रीय सिद्धान्तो के अनुकूल है।...मैंने शास्त्रो का यथाशक्ति अनुशीलन किया है।
—दिल्ली। ह० से०, २९।१२।१९३३]

९७. वर्ण-धर्म

वर्ण-धर्म किसी मनुष्य का बनाया कानून नही, जो उसकी इच्छा से किसी पर लगाया जा सके या हटाया जा सके। यह तो एक प्राकृतिक नियम है—मनुष्य भले ही उसकी चिन्ता न करे। इस नियम को मानने, न मानने की स्वतन्त्रता हर व्यक्ति को है। यह सत्य है कि भारत मे वर्ण-व्यवस्था का आविष्कार हुआ था और लोगो ने सदियो तक न्यूनाधिक सचाई के साथ ज्ञानपूर्वक उसका पालन भी किया। आज भी अधिकाश जनता, अज्ञानपूर्वक—विवशता से ही सही, उस नियम का पालन कर रही है। उस नियम की दृष्टि मे ब्राह्मण और भगी बिल्कुल समान हैं। स्वेच्छा और सच्चाई से जो भगी अपना धन्धा करता है, वह निसन्देह ईश्वर का कृपा-पात्र है। और ब्राह्मण, चाहे वह कितना ही प्रकाण्ड विद्वान हो, यदि अपने धर्म का ईमानदारी से पालन नही करता तो वह निश्चय

ही, ईश्वर की अप्रसन्नता का पात्र है। वर्ण-व्यवस्था का अर्थ अधिकार नहीं, कर्त्तव्य है। हम उचित रीति से इस नियम का पालन करके ही वास्तविक प्रजातन्त्र को विकसित कर सकते है। मेरी राय मे वर्ण-व्यवस्था मे कोई बुराई नही। बुराई तो एक वर्ण को दूसरे वर्ण से ऊचा समझने मे है।
—कडाया। ह० से०, १९।१।१९३४]

९८. ब्राह्मण और ब्राह्मणत्व

ब्राह्मणत्व की पहिचान का कोई बाह्य चिह्न नही है। मै जिन पवित्र शास्त्रो का शपथपूर्वक आदर करता हू और जिनके सरक्षण के लिए मैं अपना प्राण तक दे देना पसन्द करूगा, वे शास्त्र मुझे यह बतलाते है कि ब्राह्मण वही है, जो ब्रह्म को जानता है। जहा विनय, शील, आत्मोत्सर्ग और दया आदि गुण विद्यमान है, वही ब्राह्मणत्व है। हमारे पूर्वजो ने हमे जिन सात्त्विक गुणो का आदर करना सिखाया है, वे सारे गुण ब्राह्मण मे होने ही चाहिए। जो शास्त्रो का जीवित भण्डार है अर्थात् जिसके समस्त आचरण शास्त्र-विहित है, वही ब्राह्मण है।
—ह० से०, २६।१।१९३४]

९९. ग़लत रास्ता

हरिजन-कार्य मे रुचि रखनेवाले एक सज्जन ने सनातनियो के लेखो मे से लेकर कुछ कतरनो का एक सग्रह मेरे पास भेजा है। उनमे मेरे लेखो के कुछ ऐसे भी अग-भग अवतरण दिये गये हैं, जिनके द्वारा साधारण जनता मेरे विरुद्ध उभाडी जा सकती है। उक्त सज्जन ने इस अभियोग की सफाई देने के लिए मुझे लिखा है। मेरे लिए यह कोई नई बात नही है। इनमे से कुछ बातो का जवाब मैं कई बार दे चुका हू। मैं कोई भी सफाई दू, वे लोग तो सुनेंगे नही, जो पक्षपात से काम ले रहे हैं। और जो मेरे अनुकूल है, उनके ऊपर खासकर ऐसे वाहियात अभियोगो का कोई असर नही पडेगा। लेकिन कायल न होनेवाले आलोचको और उन समर्थको के बीच, जो किसी के फुसलाने मे नही आते, हमेशा एक ऐसा मध्यम वर्ग रहता है, जो इधर या उधर किसी एक तरफ झुक सकता है। जिन सज्जन ने मेरे पास ये कतरने भेजी है, शायद वह उसी मध्यम वर्ग के हैं। इसलिए उनके

पत्र का 'हरिजन' मे उत्तर देना आवश्यक है। उनकी भेजी हुई कुछ कतरनो मे लिखा है :—

१ महाभारत आदि से लेकर अन्त तक वाहियात कूडे-कचरे का ढेर है।

२ श्रीकृष्ण को मै अवतार नही, बल्कि एक मामूली, आदमी समझता हू।

३ हिन्दू-मन्दिर वेश्यालय या चकले है।

४ सदाचार मे मेरा विश्वास नही है। मै मूर्तिभजक हू।

५ हिन्दुओ का धर्म शैतानी से भरा हुआ है। उनके शास्त्र निरीश्वरता-पूर्ण और उनके ऋषि तथा मुनि शैतान है।

ये चिह्न सनातनियो के मौलिक लेखो मे है। किसी भी उदाहरण के अन्त मे य० इ० अथवा न० जी० का कोई उल्लेख नही है। मेरे पास य० इ० या न० जी० की फाइल नही है इसलिए मुझे यहा अपनी स्मृति मे ही काम लेना है।

महाभारत के विषय मे पहिले जो मैंने कहा है और आज भी मेरा जो विश्वास है, वह यह है कि यह महान् ग्रन्थ बहुमूल्य हीरो की खान है। उसे आप जितना ही गहरा खोदेंगे, उतने ही हीरे उसमे आपको मिलेंगे।

श्रीकृष्ण के विषय मे जो पहिले था, आज भी मेरा वही विश्वास है, कि भगवान् के अनेक अवतारो मे श्रीकृष्ण भी एक अवतार है।

हिन्दू-मन्दिरो को मैंने कभी वेश्यालय नही कहा। किन्तु मैंने यह अवश्य कहा है और अब भी कहता हू कि हिन्दुओ के कुछ मन्दिर वेश्यालय के समान हैं।

मैं यह कभी नही कह सकता, कि सदाचार मे मेरा विश्वास नही है, क्योकि मेरी दृष्टि मे धर्म और सदाचार दोनो पर्यायवाची शब्द है। मेरे तमाम लेख इस बात का साक्ष्य देते है।

वास्तव मे मैं मूर्ति-भजक हू, यद्यपि मैं मूर्ति-पूजक भी हू। मैं झूठे देवताओं के सामने कभी अपना मस्तक नही झुकाता।

पाचवा अवतरण तो एक ऐसा कुफ्र है, जिसे मैं कभी मुह से निकाल ही नहीं सकता। अगर मैंने हिन्दू-धर्म को शैतानी से भरा धर्म माना होता, तो उसका मैंने बहुत पहिले परित्याग कर दिया होता।

सनातनियो-द्वारा प्रकाशित पत्रो मे ऐसे अग-भग या विकृत लेख छापने से सनातन-धर्म को कोई लाभ नही होगा।

—ह० ज०। ह० से०, २०।४।१९३४]

- **मेरी दृष्टि में धर्म ओर सदाचार दोनो पर्यायवाची शब्द हैं।**
- **मैं झूठे देवताओं के सामने अपना मस्तक कभी नहीं झुकाता।**

१००. वर्णाश्रम धर्म

हमने अपने वर्णाश्रम धर्म को विकसित करने के बजाय उसे बिल्कुल सकुचित बना दिया है। वर्णाश्रम के समान सस्था ससार मे कही नही है। इस अनुपम सस्था मे रहकर ही प्रत्येक मनुष्य अपने मन, बुद्धि और शरीर की शक्ति के अनुसार समाज-सेवा और समाज-सरक्षण की व्यवस्था कर सकता है।
—ह० से०, २४।८।१९३४]

१०१. वर्ण-धर्म की व्याख्या

वर्णाश्रम धर्म की रचना इसी उद्देश्य से हुई है कि मनुष्य की मानसिक, बौद्धिक और शारीरिक शक्ति का उपयोग समाज के हितार्थ हो। इस व्यवस्था का खान-पान या व्याह-शादी के प्रश्न से कोई सम्बन्ध नही।
—कानपुर। ह० से०, ३१।८।१९३४]

१०२. जाति और वर्ण

जातिया अनेक है। वे मनुष्य-कृत है। उनमे निरन्तर परिवर्तन हुआ करते हैं। पुरानी जातियो का नाश होता है, नई पैदा होती है। इसका धर्म से कोई सम्बन्ध नही।

वर्ण अनेक नहीं किन्तु चार है। शास्त्रो मे इस चातुर्वर्ण का प्रतिपादन है। जाने-अनजाने ये वर्ण समस्त जगत् मे दीख पडते है। यदि शुद्ध वर्ण-नीति का पुनरुद्धार हो जाय, ऊच-नीच के भेद मिट जाय तो हिन्दू धर्म पुन उज्जवल हो जाय, भारत का कल्याण हो और साथ ही साथ जगत् का भी कल्याण हो।
—वर्धा, २८।११।१९३५। ह० ब०। ह० से०, २५।१।१९३६]

१०३. धर्म-परिवर्तन और शुद्धि

[किशोरी-परिषद् के अन्तिम दिन दिये गये गाधी जी के आम वक्तव्य का अश।]

धर्म-परिवर्तन की धमकी को विचार करके हमे कुछ नही करना चाहिए। केवल धर्म-परिवर्तन को रोकने के विचार से आप कुछ करेंगे तो उसका कोई नतीजा

न होगा, यह निश्चित है।.. चूकि हम भी मनुष्य ही है, इसलिए धर्म-परिवर्तन की धमकी पर हमारे अन्दर यह प्रतिक्रिया तो होगी ही कि इसे रोकने के लिए हम भी कुछ करे, अत हमे इस पर ध्यान रखना चाहिए। लेकिन इसके कारण कुछ नही करना चाहिए। ..

[परिषद् मे किये गये प्रश्नोत्तर का अश।]

प्रश्न—जो लोग पुनः हिन्दू-धर्म में लौटना चाहे उनके प्रति हमारा क्या रुख हो?

उत्तर—हम उनसे सिर्फ यह कहेगे—स्वागत है, आप आइए। लेकिन इसके लिए हमे उनको कोई प्रलोभन नही देना चाहिए।

प्रश्न—नहीं-नहीं, यह प्रश्न नहीं है। मैं तो सिर्फ यही जानना चाहता था कि क्या आप शुद्धि के किसी तरीके को पसन्द करते हैं?

उत्तर—नही, किसी शुद्धि-समारोह की जरूरत नही। अगर उन्होने विना सोचे-विचारे धर्म वदला हो तो वे पश्चात्तापपूर्वक वापस आयेंगे। उस दशा मे जो लोग उन्हे अपने मे मिलायेंगे वे उनसे कुछ शुद्धि करने के लिए जरूर कहेगे। मैं तो उनसे केवल सौ वार राम-नाम लेने के लिए कहूगा।

—ह० से०, ११।७।१९३६]

१०४. गोसेवा-धर्म

हमारे धर्म-विरुद्ध आचरण मे गो-सेवा का अभाव भी शामिल है। प्रत्येक हिन्दू मानता है कि गो की सेवा करना उसका विशेष धर्म है। लेकिन गो-सेवा के जो साधारण नियम हैं, उनका पालन करनेवाले मुट्ठी भर ही हिन्दू पाये जाते हैं।

—ह० से०, ३०।१।१९३७]

१०५. गोसेवा और हमारा धर्म

मेरा दृढ विश्वास है कि मृत पशु के चमडे का सदुपयोग करने से न धर्म की हानि होती है, न सनातनी हिन्दुओ को इससे दु:ख होना चाहिए। मृत पशु के चमडे का पूरा-पूरा उपयोग न करने से अवश्य धर्म-हानि होती है क्योकि इससे गोवध बढता है। अगर हम गो-सेवा को हिन्दू-धर्म का अनिवार्य अग समझ लें तो न हम चर्मकार के धन्धे को नीच मान सकते हैं, न चर्मकार को अछूत। गाय केवल

हमारे अज्ञान से मरती है। धर्म का नाम लेने से धर्म की रक्षा नहीं हो सकती। वह तो शास्त्र का रहस्य जान लेने और उसका पालन करने से ही हो सकती है। मैंने कई बार लिखा है कि यदि भारतवर्ष की गोशालाएं अपने धर्म का ज्ञान लें और उसका भलीभांति पालन करें तो गोवध नष्ट किया जा सकता है और सबको गाय का दूध सुलभ हो सकता है। मेरे इस वाक्य में कोई अतिशयोक्ति नहीं है। गोधन प्राय सब हिन्दुओं के हाथ में है। यदि वे गाय न बेचने के, जो गोवध का कारण है, धर्म का पालन करें तो गोवध नहीं हो सकता।
—ह० से०, ३।४।१९३७]

१०६. उपनयन-संस्कार

[हुदली में गांधी-सेवा-संघ के अधिवेशन के अवसर पर कुछ बालकों का उपनयन-संस्कार किया गया था। इसके समक्ष प्रवचन करते हुए गांधी जी ने इन्हें उपनयन-संस्कार की महत्ता समझाई थी। गांधी जी का वह प्रवचन यहां दिया जा रहा है।—सम्पा०]

तुम यह तो जानते ही हो कि आज से तुम द्विज हुए—तुम्हारा यह दूसरी बार जन्म हुआ। आज तक तुम्हें जो ज्ञान नहीं था, वह आज होता है। तुम्हें शास्त्री जी ने बताया है कि तुम वेदाध्ययन के योग्य बनते हो। वेदाध्ययन तो है ही, पर वेदाध्ययन का व्यापक अर्थ है, धर्म-जीवन। अब तक तुम्हारा जीवन धर्माधर्म के भान के बिना था, अब उसे यह भान हो जाता है। विश्वामित्र ऋषि ने दुर्भिक्ष के समय भूख के मारे मांस चुराया था। मांस चुरा तो लिया, पर उसे खाने के पहिले उन्हें अनेक विधियां करनी थीं। स्नान-सन्ध्या बिना भोजन नहीं होता, इसलिए वे स्नान-सन्ध्या करने लगे। किन्तु स्नान-सन्ध्या का यह नित्य-नियम करते-करते उन्हें भान हुआ कि 'मेरा कितना पतन हुआ है, पेट के लिए मैंने चोरी की, और वह भी मांस की? कन्द मूल-फल खाकर तृप्त रहनेवाले मेरे-जैसे वानप्रस्थ ने पेट के लिए मांस पर बुरी नज़र डाली।' यह विचार करते हुए उन्हें धर्म का भान हुआ। जिस खटिक के यहां से मांस चुराया था, उसके पास वह गये और उससे माफी मांगी। खटिक ऋषि की क्षमा-याचना से लज्जित हो गया और कहने लगा—ऋषिराज, यह दूकान तो आप ही की है, आपको अपनी भूख जितनी तृप्त करनी हो, उतनी करें। ऋषि पर इसका भारी असर हुआ। खटिक से उन्होंने कहा कि आज से तू मेरा गुरु हुआ। इसके बाद उनके बीच लम्बा संवाद हुआ जो महाभारत में आया है। पर उससे तुम्हें मतलब नहीं।

यह बात तो मैंने तुमसे इसीलिए कही कि धर्म-जीवन क्या वस्तु है, इसका तुम्हे ज्ञान हो जाय। १२ वर्ष तक शुद्ध विचार और आचार रखकर, ब्रह्मचर्य का पालन करके तुमने विद्याभ्यास करने का व्रत तो लिया ही है, तुम आज से धर्म की दृष्टि से विचार करनेवाले हो जाते हो। आज से पहिले तुम जो भूले करते थे उन भूलों को अब भुला देना चाहिए, क्योंकि तुम्हारा नया जीवन आज से शुरू होता है। कोई भी काम करते हुए तुम्हे अब यह विचार करना होगा कि मै यह सत्य का अनुष्ठान कर रहा हू या असत्य का? उपवीत का उपयोग इसी दृष्टि से है। द्विज का अर्थ ब्राह्मण है, ऐसा मानने की कोई जरूरत नही। ब्राह्मण वह है जो ब्रह्म को जाने। उपवीत लेने के बाद यदि हम नया जन्म न लें, धर्म-जीवन का आरम्भ न करे, तो उपवीत लेना न लेना बराबर है, क्योंकि आज यह विधि केवल बाह्य विधि बन गई है। पर जिसे इस विधि मे से धर्म का ज्ञान प्राप्त करना हो, वह अवश्य उपवीत ले।

——ह० से०, ८।५।१९३७]

- वेदाध्ययन का व्यापक अर्थ है, धर्म-जीवन।
- ब्राह्मण वह है जो ब्रह्म को जाने।
- आज यह (यज्ञोपवीत) विधि केवल बाह्य विधि बन गई है।

१०७. धर्म-परिवर्तन और शुद्धि

एक सज्जन नीचे लिखे चार प्रश्न पूछते हैं——

"१. जिन हिन्दुओं ने एक या दूसरे कारण से स्वधर्म का त्याग करके इस्लाम या ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया था, वे अब हृदय से पछताते हैं और पुन. हिन्दू-धर्म मे आना चाहते हैं। आप उन्हे फिर से हिन्दू-धर्म में लेंगे या नहीं? अपने लड़के हरिलाल का ही उदाहरण ले लें।

"२. आप जानते हैं कि दक्षिण भारत मे लाखों हरिजन सामूहिक रूप से ईसाई-धर्म मे शामिल हो गये हैं। जब से त्रावणकोर दरबार ने घोषणा की और वहा हरिजन-आन्दोलन लोकप्रिय हुआ तब से कुछ लोगो का दिल कहता है कि वे पुनः अपना धर्म ग्रहण कर लें। उन्हें आप लोग क्या सलाह देते हैं?

"३. एक हिन्दू को अमुक लोभ देकर दूसरे धर्म मे मिला लिया जाता है। कुछ दिनो बाद उसकी आखें खुलती हैं और वह हमारे यहा आकर हमारा दरवाज़ा खटखटाता है। हम उसका स्वागत करें या नहीं?

"४ छोटे-छोटे हिन्दू बालक-बालिकाओं को अक्सर पादरी लोग हथिया लेते हैं और उनका धर्म बदल देते हैं। कभी-कभी मुसलमान भी इस काम के लिए अपने यतीमखानों का उपयोग करते हैं। अगर ऐसे लड़के-लड़कियाँ अकेली या अपने अभिभावकों के साथ हमारे पास आकर अपनी शुद्धि कराना चाहें, तो उस वक्त हमें क्या करना चाहिए ?"

ये और इसी किस्म के दूसरे सवाल पहिले भी किसी न किसी रूप में पूछे गये हैं और उनका जवाब भी 'हरिजन' में दिया गया है। हर एक प्रश्न का जवाब अलग से देने की ज़रूरत नहीं। मेरी राय में ये धर्मान्तर सच्चे हृदय-परिवर्तन द्वारा किये गये नहीं हैं। अगर कोई आदमी डर से, जोर-ज़बर्दस्ती से, भूख से या कुछ रुपये-पैसे की लालच में दूसरे धर्म में चला जाता है तो उस धर्मान्तर को हृदय-परिवर्तन का नाम नहीं दिया जा सकता। हम जिन सामूहिक धर्मान्तरों के विषय में इधर दो वर्ष से सुनते आ रहे हैं, उनमें से अधिकांश तो मेरे विचार में खोटे सिक्के-जैसे हैं। सच्चा धर्मान्तर--सच्चा मत-परिवर्तन हृदय से—किसी अजनबी आदमी की प्रेरणा से नहीं, किन्तु ईश्वर की प्रेरणा से उद्भूत होता है। कौन आवाज़ मनुष्य की है और कौन ईश्वर की, इसे हमेशा पहिचान सकते हैं। मैं मानता हू कि पत्र-लेखक ने जो काल्पनिक दृष्टान्त दिये हैं वे सच्चे मत-परिवर्तन के दृष्टान्त नहीं हैं। इसलिए मैं ऐसे पश्चात्ताप करनेवालों को बिना किसी हिचक या दिक्कत के हिन्दू-धर्म में फिर से ले लूगा। (उनकी) शुद्धि तो निश्चय ही नहीं करूगा। ऐसे मनुष्यों को शुद्धि की ज़रूरत नहीं। चूकि मेरी मान्यता है कि इस जगत् के सभी महान धर्म समान हैं, मैं मानता हू कि यदि कोई व्यक्ति वृक्ष की दूसरी डाल पर बैठ गया तो इससे वह अपवित्र या दूषित नहीं हो गया। वह अगर अपनी मूल डाल पर फिर से बैठना चाहता है तो उसका स्वागत होना चाहिए। यह कहना उचित नहीं कि जिस कुटुम्ब में वह पहिले था, उसे छोड कर चला गया तो उसने कोई पाप किया। जितने अंशों में उसकी गलती मानी जा सकती है, उतने अंशों में उसने उस गलती का पश्चात्ताप कर लिया और वह मूल धर्म में फिर से आ गया, यही उसकी भूल का प्रायश्चित्त है। यह प्रायश्चित्त करके वह शुद्ध हो जाता है।

—ह० ज०, २५।९।१९३७। ह० से०, २।१०।१९३७]

- धर्मान्तर, सच्चा मत-परिवर्तन हृदय से—किसी अजनबी आदमी की प्रेरणा से नहीं—किन्तु ईश्वर की प्रेरणा से उद्भूत होता है।
- इस जगत् के सभी महान् धर्म समान हैं।

१०८. हिन्दू धर्म की नित्य प्रदक्षिणा

. हिन्दू धर्म की प्रतिष्ठा सत्य और अहिंसा पर निर्भर है। इस कारण हिन्दू धर्म किसी धर्म का विरोधी नही हो सकता। हिन्दू-धर्मी की नित्य प्रदक्षिणा यह होनी चाहिए कि जगत् के सभी प्रतिष्ठित धर्मों की और उसके द्वारा सारे ससार की उन्नति हो। . . .

— दिल्ली, १८।३।१९३९। ह० से०, २५।३।१९३९]

१०९. गोसेवा

गोसेवा का काम बडा कठिन है। उसके लिए बडे शुद्ध मनुष्य चाहिए, धीरज चाहिए। सहनशीलता चाहिए। उसका पूरा-पूरा ज्ञान चाहिए।

— वृन्दावन (चम्पारन, बिहार) २९।४।१९३९ से ६।५।१९३९ के बीच किसी दिन। बापू की छाया में, बलवन्त सिंह, पृ० २१३, सस्करण १९५७, न० जी० प्र० मं०]

११०. सनातनी कौन है ?

सनातनी वह है जो सनातनधर्म का पालन करे। महाभारत-शान्ति पर्व मे सनातनधर्म की व्याख्या इस प्रकार की गई है

सत्य दानस्तपः शौच सतोषो ह्री. क्षमार्जव,
ज्ञानं शमोदया ध्यानमेषधर्म' सनातनः।
अद्रोह. सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा,
अनुग्रहश्च दान च सताधर्म' सनातनः॥१॥

चूंकि मैं इन नियमो पर यथाशक्ति चलने का प्रयत्न करता रहा हूँ, इसलिए मुझे अपने-आपको सनातनी कहने मे सकोच नही होता। पर अस्पृश्यता-निवारण आन्दोलन के दिनो मे मेरे विरोधियो को मेरा यह नाम बुरा लगा। वे अपने को ही सनातनी बताते थे। मैंने नाम पर उनसे झगडा नही किया। इसलिए मैंने विरोधियो को उसी नाम से पुकारा है, जो उन्होने अपने लिए पसन्द कर लिया। अब मुझे सनातन धर्म प्रतिनिधि-सभा, पजाब की तरफ से एक पत्र मिला है। इसमे इस बात पर नाराजगी जाहिर की गई है कि मैं अपने विरोधियो को सनातनी

बताकर यह अर्थ क्यो निकलने देता हूँ कि सभी सनातनी अस्पृश्यता को मानते हैं और उन्हे बुरी-से-बुरी गालियाँ देने मे आनन्द आता है। इस पत्र मे आगे लिखा है —

"सच पूछिए तो इससे हमे बडा दु ख हुआ और हमे अन्देशा है कि पजाब मे हमारे धार्मिक और सामाजिक कार्य को हानि पहुँचेगी।

"महात्माजी, आप दक्षिण के पास होने के कारण हम उत्तरवालो से दक्षिण के सनातनियो को ज्यादा जानते हैं। यहाँ पजाब मे हम लोग हरिजनो को मन्दिर-प्रवेश और दूसरी सहूलियतें देने की हिमायत करते रहे है। हमने इस तरह की व्यवस्थाएँ भी अखिल भारतीय सनातनधर्म महासभा की परिषद् से ले ली हैं। हमारा सगठन सनातनधर्म प्रतिनिधि-सभा, पजाब, जिसकी ६०० शाखाएँ और ३०० महावीर दल हैं, खुद इसी दिशा मे काम कर रही है। इस प्रान्त मे बहुत कम मन्दिर ऐसे हैं जिनके महन्त या पुजारी लोग हरिजनो को देव-दर्शन का अधिकार देने से इन्कार करते हो।

"आप अच्छी तरह सोच सकते हैं कि आपके लेख का हमारे काम पर क्या असर हो सकता है। अपढ जनता एक तरह के सनातनी और दूसरी तरह के सनातनी मे फर्क नहीं कर सकती, इसलिए उसने हमे अपना विरोधी समझ लिया है। हमारे वक्तव्यो और खडनो से कोई लाभ नहीं। हमारे सैकडो व्याख्यानो से आप की बात का असर ज्यादा होता है। हमने पण्डित मदनमोहन जी मालवीय और गोस्वामी गणेशदत्त जी के नेतृत्व मे हरिजन-उद्धार का काम किया है और अब भी कर रहे हैं।

"मेरी प्रार्थना है कि जो लोग हरिजन-आन्दोलन के विरोधी हैं उनके लिए कोई और शब्द निकालिए। सनातनी शब्द तो जँचता नहीं।"

लेखक का यह समझना गलत है कि मैं उत्तर के सनातनियो को नही जानता। अगर काशी को उत्तर मे गिना जा सकता हो तो वहाँ से अत्यन्त हठी सुधार-विरोधी निकले हैं। लेखक भाई पजाब के सनातनियो की ही बात करते तो अधिक हानि न होती। मगर मुझे यह खयाल नही आ सकता था कि मैं जिस सीमित अर्थ मे वह शब्द इस्तेमाल कर रहा था उसे कोई नही समझ सकेगा। मुझे लगता है कि मेरे सुधार-विरोधियो को सनातनी बताने से जितना बिगाड हुआ है उससे लेखक ने ज्यादा समझ लिया है। अवश्य ही, पजाब के सनातनियो को अपनी खुद की स्थिति साफ करने मे तो कोई कठिनाई न होनी चाहिए। कुछ भी हो, वे इस लेख का प्रयोग अपने समर्थन मे कर सकते है। असल मे दक्षिण के भी सारे सनातनी सुधार के या मेरे विरोधी नही है। हरिजन-यात्रा मे ही मुझे पता लग गया था कि

मैं कही भी गया तो वहां पर मेरे विरोधी आटे मे नमक के वरावर ही थे। वाद के इन वर्षों मे तो उनकी सख्या और भी घटी है। हिन्दुओ का भारी वहुमत पक्ष मे न होता तो राजाजी का हरिजन-मन्दिर-प्रवेश कानून पास नही हो सकता था, न यह सम्भव था कि सनातनियो का विरोध तनिक भी व्यापक होता, तो दक्षिण के वडे-वडे मन्दिर हरिजनो के लिए खोल दिये जाते। इसलिए जव मैं सनातनियो के विरोध की वात करता हूँ, तो उसका मतलव उन मुठ्ठीभर लोगो से ही हो सकता है, जो सनातनी कहलाने मे खुश होते हैं और जिनका घन्धा ही अस्पृश्यता के सुधार का विरोध करना और मुझे कोसना हो गया है। मैं यही प्रार्थना कर सकता हू कि किसी दिन उनकी आँखे खुले और वे भी उस सुधार के पक्ष मे हो जाँय जो हिन्दू-धर्म को कम-से-कम अस्पृश्यता के कलक से तो पवित्र करके ही छोड़ेगा।

—सेवाग्राम, १९।१२।१९३९। ह० से० २३।१२।१९३९]

१११. गो-सेवा

[गोपालन-विशेषज्ञों की सभा में दिया गया भाषण]

आजकल जिस तरह गो-सेवा का कार्य हो रहा है, दूसरी सस्थाएँ जो कुछ कर रही हैं, उसमे और गो-सेवा के काम मे वडा अन्तर है। वह काम जनता के सामने नही आ रहा था। जमनालाल जी के इसमे पड जाने से वह सब की नजर मे आ गया है। गोरक्षा का दावा करनेवालो को गोशाला और गोवश की हालत का ज्ञान नही है। अपने को परम्परा से गो-भक्त माननेवाले लोग एक तरफ गो-सेवा के नाम पर पैसा देते हैं और दूसरी तरफ व्यापार मे बैलो के साथ निर्दयता करते हैं। मैं किसी की टीका नही करता। सिर्फ यह वताना चाहता हूँ कि हममे असली उपाय के प्रति कितना अज्ञान भरा है। यही बात मैंने पिंजरापोलो मे भी देखी। वहाँ भी विवेक, मर्यादा और ज्ञान की कमी पाई।

मुसलमानो से गोकुशी छुडाने के लिए उनका विरोध किया जाता है और गाय को बचाने मे इसानो का खून तक हो जाता है। लेकिन मैं बार-बार कहता हूँ कि मुसलमानो से लडकर गाय नही वच सकती। इससे तो और भी ज्यादा गायें मारी जायँगी।

असली दोष तो हिन्दुओ का है। घी का सारा व्यापार हिन्दुओ के हाथ मे है। लेकिन क्या घी-दूध शुद्ध मिलता है? दूध मे मिलावट की जाती है, और जो पानी मिलाया जाता है, वह भी स्वच्छ नही होता। घी मे दूसरे पशुओ का घी और जमाया वनस्पति मिलाया जाता है। फूके से दूध निकाला जाता है। वाजार मे

जो घी वेचा जाता है, उसे एक तरह से जहर कहे तो ज्यादा नही है। न्यूजीलैण्ड, आस्ट्रेलिया या डेन्मार्क से विश्वस्त रूप मे गाय का शुद्ध मक्खन मिल सकता है। लेकिन हिन्दुस्तान मे जो घी मिलता है उसकी शुद्धता की कोई गारण्टी नही।

मुझे यह देखकर आश्चर्य होता है कि हम भैस के घी-दूध का कितना पक्षपात करते है। असल मे हम निकट का स्वार्थ देखते है, दूर का लाभ नही सोचते। नही तो यह साफ है कि अन्त मे तो गाय ही ज्यादा उपयोगी है। गाय के घी और मक्खन मे एक खास तरह का पीला रग होता है, जिसमे भैस के मक्खन से कही अधिक केरोटीन यानी 'ए' विटामिन रहता है। उसमे एक खास तरह का स्वाद भी है। मुझसे मिलने को आनेवाले विदेशी यात्री सेवाग्राम मे गाय का शुद्ध दूध पीकर लट्टू हो जाते है। और युरोप मे तो भैस का मक्खन कोई जानता ही नही। हिन्दुस्तान ही ऐसा देश है, जहा भैस का घी-दूध इतना पसन्द किया जाता है। इससे गाय की वरवादी हुई है और इसलिए मैं कहता हूँ कि हम सिर्फ गाय पर ही जोर न देंगे, तो वह नही वच सकती। यह वडे दु ख की वात है कि सव गायें और भैसे मिलकर भी हम चालीस करोड लोगो को पूरा दूध नही दे सकती। हमे यह विश्वास होना चाहिए कि गाय का महत्त्व इसलिए है कि वही काफी दूध, खेती और वोझा ढोने के लिए जानवर देनेवाली है। वह मरने पर भी मूल्यवान है, यदि उसके चमडे, हड्डी, मास और अँतडियाँ का भी हम उपयोग करे।

पिंजरापोलो का प्रश्न कठिन है। देश-भर मे उनकी सख्या काफी है। शायद हर वडे कस्बे मे एक-एक धर्मार्थ गोशाला होगी। उनके पास रुपया भी वहुत जमा है। लेकिन वहुतो की व्यवस्था विगडी हुई है। उनका असली काम दूध का व्यवसाय करना नही है। हाँ, वे चाहे तो एक अलग दुग्धशाला या गोशाल-विभाग रख सकती है। लेकिन उनका मुख्य धर्म यही है कि वूढे और अपग ढोरो का पालन करे और चर्मालय के लिए कच्चा माल भेजे। हर पिंजरापोल के साथ एक-एक सुसज्जित चर्मालय होना चाहिये। उन्हे उत्तम साँड भी रखने चाहिए, जो जनता के भी काम आ सके। खेती और गोपालन की शिक्षा का भी प्रवन्ध उनमे होना चाहिए।

गो-सेवा सघ ने अपने सदस्यो के लिए यह शर्त रखी है कि वे गाय का ही घी-दूध खाय और गाय-वैल का मुर्दार चमडा ही काम मे लायें। इस नियम के पालन मे वडी कठिनाई यह वताई जाती है कि जिनके यहाँ हम मेहमान वनते हैं, उनको वडी दिक्कत और परेशानी होती है। लेकिन इन कठिनाइयो को वहुत महत्त्व नही देना चाहिए। धर्म का पालन सदा कष्टदायी तो होता ही है। उससे भागने मे न वहादुरी है, न जीव-दया।

आज तो गाय मृत्यु के किनारे खडी है। और मुझे भी यकीन नही है कि अन्त मे हमारे प्रयत्न उसे बचा सकेंगे। लेकिन वह नष्ट हो गई, तो उसके साथ ही हम भी यानी हमारी सभ्यता भी नष्ट हो जायगी। मेरा मतलब हमारी अहिंसा-प्रधान और ग्रामीण सस्कृति से है। हमारा जीवन हमारे जानवरो के साथ ओतप्रोत है। हमारे अधिकाश देहाती अपने जानवरो के साथ ही रहते हैं और अक्सर एक ही घर मे रात बिताते हैं। दोनो साथ जीते है और साथ ही भूखो मरते है। लेकिन हमारा काम करने का ढग सुधर जाय, तो हम दोनो बच सकते है।

हमारे सामने हल करने का प्रश्न तो आज अपनी भूख और दरिद्रता का है। हमारे ऋषियो ने हमे रामबाण-उपाय बता दिया है। वे कहते है कि गाय की रक्षा करो, सबकी रक्षा हो जायगी। ऋषि ज्ञान की कुजी खोल गये है। उसे हमे बढाना चाहिए, बरबाद नही करना चाहिए। हमने विशेषज्ञो को बुलाया है और हम उनकी सलाह से पूरा लाभ उठाने की कोशिश करेंगे।

— १।२।१९४२, 'बापू की छाया में,' बलवन्त सिह, पृ० २४२-२४४। सस्करण १९५७, न० जी० प्र० म०]

- **धर्म का पालन सदा कष्टदायी. . .होता है। उससे भागने में न बहादुरी है, न जीवदया।**
- **हमारा जीवन हमारे जानवरो के साथ ओतप्रोत है।**
- **गाय की रक्षा करो, सबकी रक्षा हो जायगी।**

११२. दशरथ-नन्दन राम

एक आर्यसमाजी भाई लिखते है —

"जिन अविनाशी राम को आप ईश्वर-स्वरूप मानते हैं, वे दशरथ-नन्दन सीता-पति राम कैसे हो सकते हैं? इस दुविधा का मारा मैं आपकी प्रार्थना में बैठता तो हूं, लेकिन रामधुन मे हिस्सा नहीं लेता। वह मुझे चुभता है। क्योंकि आपका कहना तो यह है कि सब हिस्सा लें, और यह ठीक भी है। तो क्या आप ऐसा कुछ नहीं कर सकते, जिससे सब हिस्सा ले सकें?"

सब के माने मैं बता चुका हू। जो लोग दिल से हिस्सा ले सकें, जो एक सुर मे गा सकें, वे ही हिस्सा लें, बाकी शान्त रहे। लेकिन यह तो छोटी बात हुई। बडी बात तो यह है कि दशरथ-नन्दन अविनाशी कैसे हो सकते हैं। यह सवाल स्वय तुलसीदास जी ने उठाया था और उन्होने ही इसका जवाब भी दिया था। ऐसे सवालो का जवाब बुद्धि से नही दिया जा सकता, बुद्धि को भी नहीं। यह दिल की

बात है। दिल की बात दिल ही जाने। शुरू मे मैंने राम को सीता-पति के रूप मे पाया। लेकिन जैसे-जैसे मेरा ज्ञान और अनुभव बढता गया, वैसे-वैसे मेरा राम अविनाशी और सर्वव्यापी बना है, और है। इसका मतलब यह कि वह सीता-पति बना रहा है, और साथ ही सीता-पति का अर्थ भी विस्तृत हो गया। ससार ऐसे ही चलता है। जिसका राम दशरथ राजा का कुमार ही रहा, उसका राम सर्वव्यापी नही हो सकता, लेकिन सर्वव्यापी राम का बाप दशरथ भी सर्वव्यापी बन जाता है। कहा जा सकता है कि यह सब मनमानी है—'जैसी जिसकी भावना, वैसा उसको होय।' दूसरा कोई चारा मुझे नज़र नही आता। यदि अन्तत सब धर्म एक है, तो हमे सबका एकीकरण करना है। अलग धर्म तो पडे ही है, और उन्हे अलग मानकर हम एक दूसरे से लडते है। और जब थक जाते है, तो नास्तिक बन जाते है, और फिर सिवा "हम" के न ईश्वर रहता है, न कुछ और। लेकिन जब समझ जाते है, तो हम कुछ नही रह जाते, ईश्वर ही सब कुछ बन जाता है—वह दशरथ-नन्दन, सीता-पति, भरत व लक्ष्मण का भाई है भी और नही भी। जो दशरथ-नन्दन राम को न मानते हुए भी सब के साथ प्रार्थना मे बैठते हैं, उनकी बलिहारी है। यह बुद्धिवाद नही। यहा मैं यह बता रहा हू कि मैं क्या करता हूँ, और क्या मानता हू।

—नई दिल्ली, १६।९।१९४६। ह० से०, २२।९।१९४६]

११३. मेरा हिन्दुत्व

मैंने एक हिन्दू के रूप मे जन्म लिया है और एक हिन्दू—सनातनी हिन्दू के रूप मे मरूँगा। मेरे लिए यदि मुक्ति है तो यह हिन्दू के रूप मे है। हिन्दू-धर्म अन्य धर्मों की श्रेष्ठ बातो को समाहित कर लेता है और इसमे विस्तार के लिए क्षेत्र है।

—श्रीरामपुर। बृहस्पतिवार, ५।१२।१९४६। मूल अग्रेजी से अनूदित। माई 'डेज़ विद गाधी', पृ० ९७]

११४. सहस्र नामधारी ईश्वर

हिन्दू-धर्म-ग्रन्थो मे ईश्वर के हज़ार नाम माने गये है। अगर उसके चालीस करोड नाम भी हो, तो क्या बिगडेगा। हर व्यक्ति को स्वतन्त्रता है कि वह

अपने आध्यात्मिक सन्तोप के लिए भगवान को जितने नामो से पुकारना चाहे, पुकारे।.....
— दिल्ली, प्रार्थना-सभा, ८।४।१९४७। ह० से०, २७।४।१९४७]

११५. गोरक्षा-धर्म

मैं गाय को माता मानता हू और मेरे हृदय मे उसकी पूजा के लिए स्थान है, क्योकि वह मुझे दूध देती है। यदि मैं अपनी सुरक्षा करना चाहू तो मुझे गाय की रक्षा करनी चाहिए। विहार मे भी गाय पूजी जाती है। लेकिन जैसा कि मैंने १९०८ मे लिखा था, हम गो-रक्षक बनते है पर वस्तुत हम गो-भक्षक हैं। इस पर कुछ हिन्दू मुझसे नाराज भी हुए थे। पर मैं अपनी बात पर कायम रहा।

गाय की हालत जैसी हिन्दुस्तान मे है, वैसी दुनिया मे कही नही है। हम गाय को जैसे रखते हैं उसे देखें, तो पता चलेगा कि हम कहते तो हैं कि हम गाय को पूजते हैं, लेकिन हमारे हृदय मे उसके लिए कोई आदर नही है। हम उसके साथ कठोर-से-कठोर व्यवहार करते हैं। बैलो के स्वास्थ्य का कोई ध्यान नही रखा जाता, उनकी एक-एक हड्डी दिखाई पडती है। . . शास्त्रियो ने लिखा है कि या तो पशु हमे मार डालेंगे या फिर अपने को बचाने के लिए उनको मारना हमारा धर्म हो जायगा। ऐसा हुआ तो दुनिया हम पर हँसेगी कि ये लोग गाय के पुजारी होकर उसे मारते हैं।

हम गाय की सुरक्षा के लिए मरते नही, दूसरो को मारते है। मारें भी तो किसे? अंग्रेजो को? नही उन्हे कैसे मार सकते हैं? वे ताकतवर हैं। यद्यपि उनकी सख्या बहुत कम है, लेकिन उनके पास शासन और शस्त्र हैं। वे जितनी चाहते हैं, गाय खाते हैं, बीफ यानी गोमास का व्यापार करते हैं। वे जितनी चाहते हैं, तन्दुरुस्त और अच्छी से अच्छी गायें हिन्दुस्तान से मारने के लिए ले जाते हैं। वे गायें मुसलमान नही बेचते, क्योकि उनके पास इतनी गायें नही है। वे गाये आप ही देते हैं। फिर, वे बीफ-टी बेचते और हम सब खाते हैं, क्योकि डाक्टर लिख देता है कि उसे खाना चाहिए। मेरे एक वैष्णव-मित्र हैं। उन्होने बीफ खाई और बताया कि डाक्टर ने कहा है कि उसके वगैर जिन्दा नही रह सकते, इसलिए खाना ही पडता है।

गाय को बचाना है, तो अपना धर्म समझिए। सच्ची दया, सच्चा धर्म क्या है, यह जानिए। जानवरो को कैसे पालना चाहिए, यह सीखिए।
गाय की रक्षा करना हमारा धर्म है। वल्कि मैं तो कहूँगा कि यह हर इसान का

धर्म है क्योकि गाय का दूध और घी खाना सबके फायदे की चीज़ है।
हमे गोरक्षा के लिए सबसे पहिले अपने को नम्र बनाने की कोशिश करनी चाहिए। हम किसी पर गुस्सा न करे बल्कि दूसरो को समझा-बुझाकर गोरक्षा का प्रयत्न करें। तभी हम सफल हो सकते हैं।

—बाकीपुर-मैदान (बिहार) प्रार्थना-सभा २५।४।१९४७। ह० से०, ११।५। १९४७]

११६. हिन्दुत्त्व का लक्षण

मैं खुद सनातनी हिन्दू होने का दावा करता हू। लेकिन पवित्र हृदय और सहिष्णुता के विना केवल यज्ञोपवीत पहिनने और चोटी रखने से कोई हिन्दू नही कहला सकता।

—प्रार्थना सभा, १।६।१९४७। नई दिल्ली, ३।६।१९४७। ह० ज०। ह० से०, ८।६।१९४७]

११७. ईश्वर का रूप और उसका वास

ब्रह्मचर्य क्या है, यह बताते हुए मैने लिखा था कि ब्रह्म यानी ईश्वर तक पहुँचने का जो आचार होना चाहिए वह ब्रह्मचर्य है। लेकिन इतना जान लेने से ईश्वर के रूप का पता नही चलता। अगर उसका ठीक पता चल जाय, तो हम ईश्वर की ओर जाने का ठीक रास्ता भी जान सकते हैं। ईश्वर मनुष्य नही है। इसलिए वह किसी मनुष्य मे उतरता है या अवतार लेता है, ऐसा कहे तो यह पूरा सत्य नही है। एक तरह से, ईश्वर किसी खास मनुष्य मे उतरता है, ऐसा कहने का अर्थ सिर्फ इतना ही हो सकता है कि वह मनुष्य ईश्वर के अधिक निकट है, उसमे अधिक ईश्वरत्त्व दिखाई देता है। ईश्वर तो सब जगह उपस्थित है। वह सबमे मौजूद है। इसलिए हम सब ईश्वर-अवतार हैं। मगर ऐसा कहने से कोई अर्थ सिद्ध नही होता। राम, कृष्ण वगैरह को हम अवतार कहते है, क्योकि उनमे लोगो ने ईश्वर के गुण देखे। आखिर तो राम, कृष्ण वगैरह मनुष्य के काल्पनिक ससार मे बसते हैं और उसके काल्पनिक चित्र ही है। इतिहास मे ऐसे लोग हो गये या नही, इसके साथ इन कल्पना की तसवीरो का कोई सम्बन्ध नही। कई बार हम इतिहास के राम और कृष्ण को ढूंढते हुए मुश्किल मे पड जाते है और हमे कई तरह के तर्को का सहारा लेना पडता है।

सच वात यह है कि ईश्वर एक शक्ति है, तत्त्व है, शुद्ध चैतन्य है, सर्वव्यापी है। लेकिन आश्चर्य की वात यह है कि ऐसा होते हुए भी सबको उसका सहारा या लाभ नही मिलता, या यो कहे कि सब जगह उसका सहारा नही पा सकते।

बिजली एक बडी ताकत है। मगर सब उससे फायदा नही उठा सकते। उसे पैदा करने का अटल कानून है। उसके अनुसार काम किया जाय तभी बिजली पैदा की जा सकती है। बिजली जड है, बेजान चीज है। उसके प्रयोग का नियम चेतन मनुष्य परिश्रम करके जान सकता है। जिस चेतनामय अत्यन्त बडी शक्ति को हम ईश्वर कहते है, उसके इस्तेमाल का भी नियम तो है ही। लेकिन यह बिल्कुल स्पष्ट है कि उस नियम को ढूंढने के लिए बहुत अधिक परिश्रम की आवश्यकता है। उस नियम का छोटा-सा नाम है ब्रह्मचर्य। ब्रह्मचर्य-पालन का सीधा रास्ता राम-नाम है, यह मै अपने अनुभव से कह सकता हू। तुलसीदास-जैसे भक्त ऋषि-मुनियो ने तो वह रास्ता बताया ही है। कोई मेरे अनुभव का आवश्यकता से अधिक अर्थ न निकाले। राम-नाम सर्वव्यापी रामबाण औषधि है, यह शायद मैंने पहिले-पहल उरूलीकाचन मे ही साफ-साफ जाना था। जो उसका पूरा प्रयोग जानता है, उसे जगत् मे कम-से-कम बाहरी काम करना पडता है। फिर भी उसका काम बडे-से-बडा होता है।

इस तरह विचार करते हुए मैं कह सकता है कि ब्रह्मचर्य की रक्षा के जो नियम माने जाते है, वे खेल ही हैं। सच्ची और अमर रक्षा तो राम-नाम ही है। राम जब जीभ से उतरकर हृदय मे बस जाता है, तभी उसका पूरा चमत्कार दिखलाई देता है। यह अचूक साधन पाने के लिए एकादश व्रत तो है ही। मगर कई साधन ऐसे होते हैं कि उनमे से कौन-सा साधन और कौन-सा साध्य है, यह अन्तर करना मुश्किल हो जाता है। एकादश व्रत मे से सत्य को ही ले, तो पूछा जा सकता है कि क्या सत्य साधन है और राम साध्य ? या राम साधन है और सत्य साध्य है।

मगर मैं सीधी बात पर जाऊ। ब्रह्मचर्य का आज का माना हुआ अर्थ लें तो वह है—जननेन्द्रिय पर नियन्त्रण करना। इस सयम का सुनहला रास्ता और उसकी अमर रक्षा राम-नाम है। इस राम-नाम को सिद्ध करने के नियम तो हैं ही। इस बारे मे हम कुछ महीनो पहिले विचार कर चुके हैं, तो भी आगे और सोचेंगे।

—नई दिल्ली, १४।६।१९४७। ह० ब०, २२।६।१९४७]

- **ईश्वर एक शक्ति है, तत्त्व है, शुद्ध चैतन्य है, सर्वव्यापी है।**
- **ब्रह्मचर्य-पालन का सीधा रास्ता राम-नाम है।**
- **राम-नाम सर्वव्यापी रामबाण-औषधि है।**

११८. हिन्दू-धर्म के प्राचीन लक्षण

प्रत्येक धर्म और उसके अनुयायियो को सहिष्णुता की दृष्टि से देखना और जिन धर्मों और सस्कृतियो का सम्पर्क हो उनकी अच्छी बातो को सीखना और पचाना यह प्राचीन काल मे हिन्दू-धर्म और हिन्दू-सस्कृति का विशेष गुण रहा है।

— नई दिल्ली, १५।६।१९४७। ह० ज०। ह० से०, २२।६।१९४७]

११९. नाम-साधना की निशानियां

जिसके हृदय से राम-नाम निकलता है, उसकी पहचान क्या है? अगर हम इतना न समझ लें, तो राम-नाम की फजीहत हो सकती है। वैसे भी तो होती है। माला पहिन कर और तिलक लगाकर राम-नाम बडबडाने वाले तो बहुत मिलते हैं। कही मैं उनकी सख्या को बढा तो नही रहा हूँ? यह डर ऐसा-वैसा नही है। आजकल के मिथ्याचार मे क्या करना चाहिए? क्या चुप रहना ही ठीक नही? हो सकता है। लेकिन बनावटी मौन से कोई लाभ नही है। जीते-जागते मौन के लिए बडी भारी साधना की ज़रूरत है। उसके अभाव मे हृदयगत् राम-नाम की पहचान क्या है? हम इसपर गौर करे।

एक वाक्य मे कहा जाय तो राम के भक्त और गीता के स्थितप्रज्ञ मे कोई भेद नही है। ज्यादा गहरे उतरें तो हम देखेंगे कि राम-भक्त पचमहाभूतो का सेवक होगा। वह प्रकृति के नियम पर चलेगा। इसलिए उसे किसी तरह की बीमारी नही होगी। होगी भी तो उसे पचमहाभूतो की सहायता से अच्छा कर लेगा। किसी भी उपाय से भौतिक दु ख दूर कर लेना शरीरी का काम नही, शरीर का भले हो। इसलिए जो शरीर को ही आत्मा मानते हैं, जिनकी दृष्टि मे शरीर से अलग शरीरधारी आत्मा-जैसा कोई तत्त्व नही, वे तो शरीर को टिकाये रखने के लिए सारी दुनिया मे भटकेंगे। लका जायेंगे। इससे उलटे, जो यह मानता है कि आत्मा देह मे रहते हुए भी देह से अलग है, हमेशा कायम रहनेवाला तत्त्व है, अनित्य शरीर मे बसता है, शरीर की सम्हाल तो रखता है, पर शरीर के जाने से घबराता नही, दु खी नही होता और सहज ही उसे छोड देता है, वह देहधारी डाक्टर-वैद्यो के पीछे नही भटकता। वह खुद ही अपना डाक्टर बन जाता है। सब काम करते हुए भी वह आत्मा का ही विचार करता है। वह मूर्च्छा मे से जागे हुए की तरह बर्ताव करता है।

फिर भी, प्रभाववाले हिन्दू बहुत बडी तादाद मे यह झूठा विश्वास करने लगे है कि हिन्दुस्तानी सघ हिन्दुओ का है और इसलिए उन्हे कानून के द्वारा अपने इस विश्वास को गैर-हिन्दुओ से भी बलात् मनवाना चाहिए। इसलिए यूनियन मे गायो की हत्या को रोकने का कानून बनवाने के लिए सारे देश मे जोश की एक लहर-सी फैल रही है।

ऐसी हालत मे—जिसकी नीव मेरी राय में अज्ञान है—हिन्दुस्तान मे दूसरो-जैसा ही गाय का भक्त और समझदार प्रेमी होने का दावा करते हुए मुझे अच्छे ढग से लोगो के इस अज्ञान को दूर करने की कोशिश करनी चाहिए।

सबसे पहिले हम यह समझ ले कि धार्मिक अर्थो मे गाय की पूजा बडे पैमाने पर सिर्फ गुजरात, मारवाड, यू० पी०[1] और बिहार मे ही होती है। गुजराती और मारवाडी लोग साहसी व्यापारी होते है। इसलिए वे इस बारे मे बडी-से-बडी आवाज उठाने मे सफल हुए है। लेकिन गो-हत्या के खिलाफ आवाज़ उठाने के साथ-ही-साथ वे अपनी व्यापारी बुद्धि को हिन्दुस्तान के पशु-धन की रक्षा के अत्यन्त कठिन प्रश्न को हल करने मे नही लगा रहे हैं।

अपने धर्म के आचार-विचार को कानून-द्वारा दूसरे धर्म के लोगो पर लादना बिल्कुल गलत चीज़ है।

अगर गो-रक्षा के सवाल को सिर्फ आर्थिक आवश्यकता की दृष्टि से देखा जाय, तो वह बडी आसानी से हल किया जा सकता है। लेकिन शर्त यही है कि उस पर केवल आर्थिक आधार पर ही विचार किया जाय। इस हालत मे दूध न देनेवाले सारे मवेशी, अपने पालने के खर्च से भी कम दूध देनेवाली गाये और बूढे व बेकार जानवर बिना किसी हिचकिचाहट के मार डाले जाने चाहिए। इस निर्दय आर्थिक व्यवस्था के लिए हिन्दुस्तान मे कोई जगह नही है, हालाकि आपसी विरोधवाले मतो के इस देश के लोग कभी कठोर काम करने के अपराधी हो सकते हैं और सचमुच हैं।

अब सवाल यह है कि, जब गाय अपने पालन-पोषण के खर्च से भी कम दूध देने लगती है या दूसरी तरह से नुकसान पहुँचानेवाला बोझ बन जाती है तो बिना मारे उसे कैसे बचाया जा सकता है? इस सवाल का जवाब थोडे मे इस तरह दिया जा सकता है —

१ हिन्दू, गाय और उसकी सन्तान के प्रति अपना कर्तव्य पूरा करके उसे बचा सकते हैं। अगर वे ऐसा करें, तो हमारे जानवर हिन्दुस्तान और ससार के गौरव बन सकते हैं। आज इससे बिल्कुल उल्टा हो रहा है।

---

१. उत्तर प्रदेश।

२ जानवरो के पालन-पोपण का विज्ञान सीखकर गाय की रक्षा की जा सकती है। आज तो इस काम मे पूरी अन्धाधुन्धी चलती है।

३ हिन्दुस्तान मे आज जिस बेरहम तरीके से बैलो को बधिया बनाया जाता है, उसकी जगह पश्चिम के हमदर्दी-भरे और नरम तरीके काम मे लाकर उसे बचाया जा सकता है।

४ हिन्दुस्तान के सारे पिंजरापोलो का पूरा-पूरा सुधार किया जाना चाहिए। आज तो हर जगह पिंजरापोल का इन्तजाम ऐसे लोग करते है जिनके पास न कोई योजना होती है और न वे अपने काम की जानकारी ही रखते है।

५ जब ये महत्त्व के काम कर लिये जायगे, तो मुसलमान खुद दूसरे किसी कारण से नही तो अपने हिन्दू भाइयो के खातिर ही मास या दूसरे मतलब के लिए गाय को न मारने की ज़रूरत को समझ लेंगे।

पाठक यह देखेंगे कि ऊपर बताई हुई ज़रूरतो के पीछे एक खास चीज़ है। वह है अहिसा, जिसे दूसरे शब्दो मे प्राणिमात्र पर दया कहा जाता है। अगर इस सबसे बडे महत्त्व की बात को समझ लिया जाय, तो दूसरी सब बाते आसान बन जाती है। जहा अहिसा है, वहा अपार धीरज, आन्तरिक शान्ति, भले-बुरे का ज्ञान, आत्म-त्याग और सच्ची जानकारी भी है। गो-रक्षा कोई आसान काम नही है। उसके नाम पर देश मे बहुत पैसा बरबाद किया जाता है। फिर भी अहिसा के न होने से हिन्दू गाय के रक्षक बनने के बजाय उसके नाश करनेवाले बन गये है। गो-रक्षा का काम हिन्दुस्तान से विदेशी हुकूमत को हटाने के काम से भी अधिक कठिन है।[1]

—कलकत्ता, २२।८।१९४७। ह० ज०। ह० से०, ३१।८।१९४७]

१२४. हिन्दू-धर्म और पाकिस्तान

पाकिस्तान हिन्दू-धर्म को कभी बरबाद नही कर सकेगा। सिर्फ हिन्दू ही स्वय को और अपने धर्म को बरबाद कर सकते हैं। इसी तरह अगर पाकिस्तान

---

१ टिप्पणी—कहा जाता है कि हिन्दुस्तान की गाय रोजाना लगभग २ पौण्ड दूध देती है, जब न्यूजीलैण्ड की १४ पौण्ड, इग्लैण्ड की १५ पौण्ड और हालैण्ड की गाय रोजाना २० पौण्ड दूध देती है। जैसे-जैसे दूध की पैदावार बढ़ती है, वैसे-वैसे तन्दुरुस्ती के आँकड़े भी बढ़ते हैं।

—२३।८।१९४७

बरबाद हुआ तो वह पाकिस्तान के मुसलमानो द्वारा ही होगा, हिन्दुस्तान के हिन्दुओ द्वारा नही ।

——बिडला भवन, नई दिल्ली, २५।९।१९४७। ह० ज०। ह० से०, ५।१०।-१९४७।]

१२५. प्राण-प्रतिष्ठा

मूर्ति पत्थर की होती है, लोहे, सोने, चादी या मिट्टी की होती है। लेकिन जब-तक उसकी प्राण-प्रतिष्ठा नही होती, तबतक वह पूजा के योग्य नही होती। पवित्र हाथो से मूर्ति की प्रतिष्ठा और पूजा होनी चाहिए। तब उसमे प्राण आते हैं।

——बिड़ला भवन, नई दिल्ली, ३०।११।१९४७। ह० से०, ७।१२।१९४७]

१२६. हिन्दू-धर्म की व्याख्या

मैं अपने हिन्दू-धर्म की व्याख्या दे सकता हू। वह यह है कि जो सब धर्मों को समान माने वही हिन्दू-धर्म है।

——बिड़ला भवन, नई दिल्ली, २३।१।१९४८। ह० से०, १।२।१९४८]

१२७. देव-मन्दिर

[फीनिक्स (नेटाल) मे जिस जगह गाधी जी का आश्रम था वहां से ७ मील पर वेरूमल नामक एक प्रसिद्ध गाव है। वहा के हिन्दू-निवासियो ने वहा एक कृष्ण-मन्दिर निर्माण कराया था, जिसका द्वार महात्मा गाधी के हाथो खुलाया गया था। निश्चित समय पर हजारो मनुष्यों की उपस्थिति मे महात्मा जी के हाथो मे सोने की कुजी दी गई। वे हँस पड़े। नियमानुसार मन्दिर का द्वारोद्घाटन कर चुकने पर उन्होने हिन्दी मे जो व्याख्यान दिया, वह इस प्रकार है।——सम्पा०]

परमेश्वर का द्वार रात-दिन सर्वदा खुला ही रहता है। तिस पर भी जो मुझसे उसे खुलवाने का स्वाग कराया गया है उसे देख कर प्रभु हँसेंगे। मैं जानता हूँ कि ईश्वर का द्वार खोलने का अभिमान रखनेवाले मनुष्य को पापी समझना चाहिए। फिर भी जो इस स्थान पर मैंने उसे खोलने की रस्म पूरी की है उसका कारण केवल वह प्रेम है जो मन्दिर के कार्यकर्त्ताओ का मुझ पर है। उसके अतिरिक्त वर्तमान समय मे मन्दिर का अर्थ दुराचार का प्रधान कार्यालय ही समझा जाने लगा है।

लोग उन्हे अहदीखाना ही समझते है। यदि कुछ काल के उपरान्त यह मन्दिर भी उसी अवस्था को पहुँच गया—ईश्वर के बदले दुराचार का आवास-स्थान बन गया-तो मैं पाप -भागी हूँगा और उसका मुझे प्रायश्चित्त करना पडेगा। ईश्वर करे, ऐसा समय न आवे। मन्दिर के कार्यकर्त्ताओ मे मै परिचित हू। उन पर मेरी श्रद्धा है। फिर भी मैं उनसे यह कहूगा कि आप लोगो की लापरवाही से यदि यह मन्दिर ईश्वर का निवास-स्थान न रह कर शैतान का निवास-स्थान हो गया तो इसका कडवा फल आपको जरूर चखना पडेगा। मन्दिर का ताला खोलने के लिए मुझे सोने की कुजी दी गई है। इस सुनहले ताले और सुनहरी ताली ने मेरे मन मे खलबली डाल दी है। इनको मैं किस मजबूत सन्दूक मे रखू? भारत मे मेरे रहने के लिए झोपडी भी मिलेगी या नही, इसका कोई निश्चय नही है। फिर इस ताले-कुजी को कहा छिपाऊ कि जहा से कोई चोर इन्हे न चुरा सके? मेरी समझ से यहा बुला कर आपने मेरा उपकार नही, किन्तु अपकार ही किया है।

और इस भगवद्गीता को देख कर तो हँसी के मारे मेरा बुरा हाल हुआ जाता है। इस पुस्तक की जिल्द चाँदी से मढी गई है और उस पर सुनहले बेल-बूटे बनाये गये हैं। पवित्र गीता-पुस्तक सोने-रूपे मे मढी गई, इसलिए अपवित्र हो गई। आपकी यह भेंट लेकर मैं क्या करूगा? जब-जब मैं आपकी दी हुई इस गीता का पाठ करने बैठूंगा तब-तब भगवान श्रीकृष्ण के निष्काम उपदेशो के और मेरे बीच यह सोना खडा होकर मेरा मन चचल कर देगा। यह पुस्तक भेट करने की अपेक्षा यदि आप सच्चे मन से मुझे यह आशीर्वाद देते कि मेरा तन-मन गीतामय हो जाय तो इससे मेरा अधिक उपकार होता। मेरी इस बडी टीका से आपके चित्त को दु:ख न पहुँचना चाहिए। मुझ पर अपका जो प्रेम है उसके सामने आपकी छोटी-छोटी भूले अदृश्य-प्राय हो जाती है, इसी से प्रेम-पूर्वक दी हुई आपकी भेट सादर ग्रहण करता हू।

—महात्मा गाधी, सकलन, गाधी हिन्दी पुस्तक भण्डार, बम्बई, सस्करण-पौष सवत् १९७८]

५
हिन्दू धर्म-ग्रन्थ
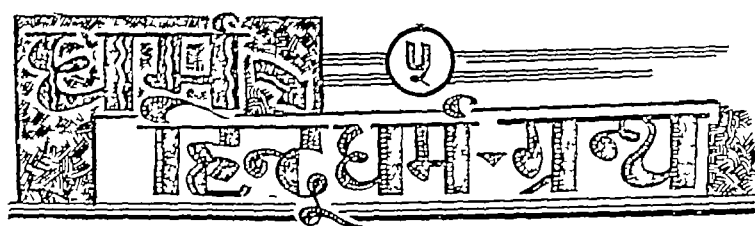
१. तुलसीकृत रामायण का सार

आजकल भारतीय प्रजा की मन्तान विदेश-यात्रा वहुत करती है। विदेश मे अपने धर्म का खयाल रखना मवके लिए कठिन होता है। परन्तु हिन्दुओ के लिए तो और भी कठिन है। लेखक का मत है कि सामान्य हिन्दू धर्म का रहस्य जानना केवल मव हिन्दुओ का ही नही मारे भारतीयो का काम है।

सामान्य हिन्दू-धर्म सबको मान्य होने योग्य है। उमका रहस्य नीति मे ममाया हुआ है। इम दृष्टि से कहा जा सकता है कि मभी धर्म सच्चे और ममान है, क्योकि नीति मे अलग कोई धर्म नही हो सकता।

वात जो भी हो, माधारण हिन्दू-धर्म का रूप रामायण मे यथावत् देखा जा सकता है। मूल रामायण[1] सस्कृत मे है। उसे थोडे ही लोग पढते है। उमका अनुवाद समार की वहुत-सी भापाओ मे हुआ है। यह रचना भारत की सभी प्राकृत भापाओ मे भी उपलब्ध है। इन सभी अनुवादो को परखे तो तुलमीदाम जी की रामायण के सामने कोई अनुवाद टिकने योग्य नही है। मच पूछा जाय तो तुलमीदाम-जी की भक्ति ऐसी अनन्य थी कि उन्होने अनुवाद करने के वजाय उसमे अपने ही भावो को गाया है। मद्राम के अलावा भारत का कोई भी भाग ऐसा नही है, जहा तुलसीकृत रामायण से कोई हिन्दू सर्वथा अनभिज्ञ निकले। ऐसी रामायण भी विदेशो मे और स्वदेश मे भी मभी लोग पूरी नही पढते। पढने का अवकाश नही मिलता। ऐमी पुस्तके सक्षिप्त रूप मे प्रकाशित की जायँ तो भारतीयो के लिए वडी कल्याण-कारी हो।

—गुजराती। इ० ओ०, १७।१०।१९०८। स० गा० वा० खण्ड ९, पृष्ठ ९९]

२. रामायण, महाभारत

[श्री जमनादास गाधी को लिखे पत्र से]

रामायण और महाभारत मे इतिहाम कम और कल्पना अधिक है, इसमे सन्देह नही। ये दोनो ही धर्मग्रन्थ है। करोडो लोग उन्हे इतिहाम मे अधिक महत्व

---

१ वाल्मीकीय रामायण।

देते है। और यह उचित ही है। भरत-जैसा राम का भाई भले ही न हुआ हो, किन्तु वैसे भरत भारत मे हुए हैं। तभी तो तुलसीदास उनकी कल्पना कर सके। जिन लोगो मे रामायण मे वर्णित गुण है, भारतवर्ष उनकी वन्दना करता है।
—चैत्र सुदी १२, २८।३।१९१५। स० गा० वा०, खण्ड १३, पृ० ४५]

३. स्मृतियां

ईसाई आलोचक हमारी स्मृतियो की अपूर्णता वताकर उनको सामान्य ग्रन्थ सिद्ध करना चाहते है। मैं यह वताने का प्रयत्न करता हू कि स्मृतियो की अपूर्णता का कारण या तो उनमे प्रक्षिप्त श्लोको का मिलाया जाना है या हमारे अध पतन के काल मे मान्यताप्राप्त स्मृतिकारो द्वारा अपने-अपने श्लोको का जोडा जाना है। इन श्लोको को निकाल कर शेष स्मृतियो की अपूर्वता सिद्ध की जा सकती है। मिथ्याभिमान या अज्ञान से स्मृतियो मे और हिन्दू-धर्म के अन्य सब ग्रन्थो मे कोई भी दोष नही है, ऐसा मान कर और दूसरो से मनवाकर मैं हिन्दू-धर्म का लँगडा वचाव कदापि नही करना चाहता। मेरा दृढ विश्वास है कि ऐसा करने से हिन्दू-धर्म की उन्नति नही होती, वल्कि अवनति ही होती है। जिस धर्म मे सत्य को उत्कृष्ट स्थान दिया गया है उसमे असत्य का समर्थन कदापि नही हो सकता।
—भगिनी समाज, बम्बई मे दिये गए भाषण से, २०।२।१९१८। गुजराती। 'महात्मा गांधीनी विचार-सृष्टि।' स० गा० वा०, खण्ड १४, पृ० १९१]

४. गीता : धर्मो का सार

गीता कोई ऐतिहासिक कृति नही है। यह तो एक महान धर्म-ग्रन्थ है, जिसमे समस्त धर्मों की शिक्षाए सार रूप मे दी गई हैं।
—८।५।१९१९। सं० गा० वा०, खण्ड १५, पृ० २९७]

५. गीता की सार्वदेशिकता

हिन्दुओ मे गीता सार्वदेशिक रूप मे स्वीकार की जाती है।
—मूल गुजराती। नवजीवन, १२।१०।१९१९। अग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गाधी, खण्ड १६, पृ० २३१।]

६. दैनिक व्यवहार मे गीता

सम्मत धर्म

मेरे कार्यक्षेत्र की मर्यादा बँधी हुई है। भगवान श्रीकृष्ण के गीता के उपदेशानुसार चलने का प्रयत्न करनेवाला मैं एक क्षुद्र मनुष्य हू और मै यह समझता हूँ कि मेरा अपना धर्म थोडे से थोडे मे भी क्या है —

श्रेयान्स्वधर्मो विगुण परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधन श्रेय परधर्मो भयावह ॥

दूसरा धर्म चाहे जितना अच्छा लगता हो, पर मेरे लिए मेरा मर्यादित धर्म ही भला है, दूसरा भयावह है।

परधर्म-रक्षा ही स्वधर्म रक्षा है।

प्रश्नोत्तर

प्रश्न—आप मुसलमानो के लिए पक्षपात क्यो करते हैं? कितने मुसलमान नेता आपके ऊपर वैयक्तिक आक्षेप करते हैं। उनका आप जवाब भी नहीं देते। ऐसा क्यो?

उत्तर—पर-धर्म का शुद्ध पक्ष लेने मे मैं अपने धर्म की रक्षा ही करता हूँ। मैं हिन्दू धर्म का नाश नही चाहता, मैं नाश कर नही सकता, क्योकि मैं हिन्दू-महासागर की एक बूंद मात्र हूँ। मुसलमान मुझे काफिर कहे तो उसमे क्या हुआ? उसका जवाब क्या देना है? मेरा भानजा मेरे साथ ही रहता था। जब दूसरो को लगा कि मैं उसका पक्षपात करता हूँ उस समय मैने और उसने भी समझा कि मै उसके साथ न्याय ही करता था। मुसलमान जब मुझ पर आक्षेप करते है तो इसमे शायद यह मालूम होता है कि मै उन्हे अभी पूरा न्याय न देता होऊँगा। मुझे जवाब देने की आवश्यकता क्यो हो? मेरे तो चौबीसो घण्टे श्रीकृष्ण भगवान को समर्पित है। वही मेरी रक्षा करते है और मैं दासानुदास श्रीकृष्णभगवान से सदा प्रार्थना करता हूँ कि, हे कृष्ण मेरी ओर से जो जवाब देना हो वह तू ही जाकर दे आ।

खिलाफत और गीतानुरूप आचरण

प्रश्नोत्तर

प्रश्न—आपने खिलाफत की लडाई जी-जान से लडी। उसी प्रकार आज हिन्दू-सगठन के लिए क्यो नहीं जुट जाते?

उत्तर—खिलाफत के लिए प्राण अर्पण करने की मेरी प्रतिज्ञा थी। परधर्मी के लिए मैने जो भी हो सका, किया। मैं मानता था और अब भी मानता हूँ कि

मेरी इस सेवा से गोरक्षा होगी। आप पूछेंगे कि गोरक्षा हुई ? गोरक्षण नही हुआ, पर इससे मुझे क्या ? मैं तो प्रयत्न का अधिकारी था। फल के अधिकारी तो श्रीकृष्ण भगवान हैं। भगवान ने कहा कि मुहम्मद अली से मिल, शौकत अली से मिल, उनके साथ काम कर। मैंने वही किया। उन्हे जितनी मदद दी जा सकी, दी। इस काम के लिए मुझे तनिक भी पछतावा नही है। फिर ऐसा प्रसग आये तो मैं यही करूँगा। लोग मेरी निन्दा करें, इसके उत्तर मे मैं भी उनकी निन्दा और अपमान करनेवाला नही। मैं तो वह करूँगा जो करने का तुलसीदास जी ने उपदेश दिया है—यानी तपश्चर्या। मेरी प्रकृति ही ऐसी बनी है। मुझसे दूसरा क्या होगा ? गीता जी ने कहा है न कि सब जीव अपनी प्रकृति के अनुसार ही चलते हैं, निग्रह क्या करेगा। इसलिए मुझे तो तपश्चर्या करनी रही। जब मुसलमानो के दिल मे खुदा बसेंगे और जब एक दिन ऐसा आयेगा कि हिन्दुओ के समान वे भी गोरक्षा करेंगे, मैं भविष्यवाणी करता हूँ कि तब आप कहेगे—यह गोरक्षा पुराने जमाने के किसी गाधी नाम के पागल की आभारी है।

मैं नही मानता की आज की तरह तबलीग, शुद्धि या धर्म-परिवर्तन करने की आज्ञा इस्लाम, हिन्दू-धर्म या ईसाई-धर्म मे है। तब मैं शुद्धि मे किस प्रकार हाथ बँटा सकता हूँ ? तुलसीदास और गीता तो मुझे सिखलाते हैं कि जब तुम्हारे ऊपर या तुम्हारे धर्म पर आक्रमण हो तो तुम आत्मशुद्धि कर लेना। और जो पिण्ड मे है वह ब्रह्माण्ड मे है। आत्मशुद्धि—तपश्चर्या करने का मेरा प्रयत्न चौबीसो घण्टे चल रहा है। पार्वती के भाग्य मे अशुभ लक्षणोवाला पति था। ऐसे लक्षण होने पर भी शुभकर शिव जी ही थे। पार्वती ने उन्हे तपोबल से पाया। सकट के समय ऐसा ही तप हिन्दू-धर्म सिखलाता है। इस धर्म-ज्ञान का साक्षी हिमालय है—वही हिमालय, जिसके ऊपर हिन्दू-धर्म की रक्षा के लिए लाखो ऋषि-मुनियो ने अपने शरीर गला डाले हैं। वेद कुछ कागज पर लिखे अक्षर नही है। वेद तो अन्तर्यामी हैं और अन्तर्यामी ने मुझे बतलाया है कि यम-नियमादि का पालन करें और कृष्ण का नाम लें। मैं विनय के साथ परन्तु सत्यता से कहता हूँ कि हिन्दू-धर्म की सेवा, हिन्दू-धर्म की रक्षा के सिवा मेरी दूसरी प्रवृत्ति नही। हाँ, उसे करने की मेरी रीति भले ही निराली हो।

कार्यक्षेत्र मर्यादित रखें

मेरा कार्यक्षेत्र मर्यादित है। दुर्योधन ने भी अपने योद्धाओ की मर्यादा का वर्णन किया था। यथाभागमवस्थिता सभी को अपने-अपने स्थान पर रहने को और अपने स्थान पर रह कर भीष्म की रक्षा करने को कहा था। गीता

का वर्णाश्रम धर्म यही कहना है। वह सबको अपनी-अपनी मर्यादा समझने को कहता है।

निर्भय रहे

.. मनुष्य से डरना न चाहिए, मनुष्य से धोखा खाने का भय भी नहीं रखना चाहिए। ईश्वर के ऊपर विश्वास रख कर कि लोग धोखा देंगे तो भी ईश्वर देख लेगा, स्वधर्म करना चाहिए।

—३।३।१९२१। गीता-माता, पृ० ५५०-५५५, स० सा० म०, संस्करण १९५०]

- मेरे लिए मेरा मर्यादित धर्म ही भला है, दूसरा भयावह है।
- मैं हिन्दू-महासागर की एक बूंद मात्र हूं।
- जो पिण्ड मे है वही ब्रह्माण्ड मे है।
- संकट के समय . हिन्दू-धर्म तप सिखलाता है।
- वेद कुछ कागज़ पर लिखे अक्षर नहीं हैं, वेद तो अन्तर्यामी हैं।
- हिन्दू-धर्म की रक्षा के सिवा मेरी दूसरी प्रवृत्ति नहीं।
- गीता का वर्णाश्रम धर्म सबको अपनी-अपनी मर्यादा समझने को कहता है।

७. रामायण का प्रभाव

मेरे परिवार मे रामायण नियमित रूप से पढी जाती थी। लाधा महाराज नामक एक ब्राह्मण इसे पढा करते थे। वे कोढ से पीडित थे और उन्हे विश्वास था कि रामायण के नियमित पाठ से उनका कोढ अच्छा हो जायगा। निश्चय ही वे इससे स्वस्थ हो गये।

—अहमदाबाद, १३।४।१९२१। य० इ०, २७।४।१९२१ और ४।५।१९२१। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गाधी, खण्ड १९, पृष्ठ ५७०-७१]

८. मेरा धर्म-ग्रन्थ-ज्ञान

मैंने सदैव सनातनी हिन्दू होने का दावा किया है। ऐसा नहीं है कि मैं धर्म-ग्रन्थो से बिल्कुल अनभिज्ञ हूँ। मैंने वेदो और उपनिषदो का केवल अनुवाद

पढा है। इसलिए स्वाभावत मैने उनका शास्त्रीय अध्ययन नही किया है। उनके सम्बन्ध मे मेरा ज्ञान किसी प्रकार पर्याप्त नही है किन्तु मैने उन्हे इस तरह पढा है, जिस तरह एक हिन्दू के नाते पढना चाहिए और मै उनकी सही भावना को समझ लेने का दावा करता हूँ। जब मै इक्कीस वर्ष का हुआ मैने दूसरे धर्मों का भी अध्ययन किया।

एक समय ऐसा भी था जब मै हिन्दू-धर्म और ईसाई-धर्म के बीच डावाडोल था। जब मैने अपना मानसिक नियन्त्रण फिर प्राप्त किया तो अनुभव हुआ कि मेरे लिए मुक्ति हिन्दू-धर्म के द्वारा ही सम्भव है। (तबसे) हिन्दू-धर्म के प्रति मेरी आस्था और भी गहरी तथा ज्ञानपूर्ण हो गई।

—अहमदाबाद, १३।४।१९२१। यं० इ०, २७।४।१९२१ और ४।५।१९२१। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गांधी, खण्ड १९, पृष्ठ ५७१]

९. वर्णाश्रम

मै वर्णाश्रम धर्म मे विश्वास करता हू। पर उस नाम से हम आज जिसे जानते है वह और कुछ नही, इसका बदला हुआ हास्यजनक रूप है। वर्णाश्रम धर्म समानता का सबसे सही मार्ग है। यह धर्म आत्म-उच्छृखलता का नही, आत्म-बलिदान का है। यह उद्दण्डता का नही, नम्रता का धर्म है।

—एल्लोर, ३।४।१९२१। यं० इं०, ११।५।१९२१। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गांधी, खण्ड १९ पृ० ५१३]

१०. कृष्ण और महाभारत

कृष्ण जो करना चाहते थे, उसमे महाभारतकार के अनुसार, वे असफल हुए। वे सर्वशक्तिमान थे। उन्हे उच्च पद से उतार कर घसीटना व्यर्थ है। . यदि हम उनके विषय मे उन्हे निरा मर्त्य मनुष्य मानकर विचार करें तो उनका पलडा ऊँचा उठ जायगा और उन्हे पीछे की तरफ आसन मिलेगा।

जैसा कि आमतौर पर कहा जाता है, महाभारत न तो उपन्यास है, न इतिहास, वह मानव-आत्मा का इतिहास है, जिसमे ईश्वर कृष्ण के रूप मे मुख्य नायक है। उस महाकाव्य मे ऐसी कितनी ही बातें हैं, जिनमे मेरी अल्प बुद्धि अवगाहन नही

कर पाती, अनेक बाते ऐसी है जो स्पष्टत क्षेपक हैं। वह चुना हुआ खजाना नही, वह तो एक खान है, जिसे खोदने की जरूरत है, जिसमे गहरे पैठने की जरूरत है, तब ककड-पत्थर निकालने पर हीरे हाथ आते है।

—य० इ०। हि० न० जी०, २१।५।१९२५]

○ वह (महाभारत) मानव-आत्मा का इतिहास है।

११. कृष्ण और महाभारत

मुझे पता नही कि महाभारत का कृष्ण कभी हुआ भी था। मेरे कृष्ण का किसी ऐतिहासिक व्यक्ति से कोई सम्बन्ध नही है। जो कृष्ण अपनी मानहानि होने पर हत्या करने के लिए उतारू होता हुआ बतलाया जाता है और अहिन्दू जिसका वर्णन दुराचारी युवक के रूप मे करते हैं, उसके आगे मेरा सिर न झुकेगा। मैं जिस कृष्ण को मानता हूँ वह पूर्णावतार है, पूर्ण निष्कलक और गीता को तथा लाखो मानव-प्राणियो के जीवन को अनुप्राणित करनेवाला है।

यदि कोई मुझे यह समझा दे कि महाभारत भी वर्तमान इतिहास-पुस्तको की तरह एक इतिहास-ग्रन्थ है, महाभारत का एक-एक शब्द प्रमाणयुक्त है और महाभारत के कृष्ण ने वे ही कार्य किये है, जो उनके लिए कहे जाते है, तो मैं उस कृष्ण को ईश्वर का अवतार मानने के लिए तैयार न होऊँगा। फिर चाहे मैं इसके लिए हिन्दू समाज से बाहर ही क्यो न निकाल दिया जाऊँ। पर मेरे नजदीक महाभारत एक गहन धार्मिक ग्रन्थ है। वह अधिकाश मे एक रूपक है। इतिहास के साथ उसका कोई सम्बन्ध नही। उसमे तो उस शाश्वत युद्ध का वर्णन है, जो हमारे अन्दर निरन्तर होता रहता है। वह ऐसी सजीव भाषा मे किया गया है, जिससे कुछ समय के लिए हमारा यह विचार हो जाता है कि उसमे वर्णित कृत्य सचमुच मनुष्यो-द्वारा ही किये गये है। मैं वर्तमान महाभारत को मूल ग्रन्थ की वास्तविक प्रतिलिपि भी नही मानता। इसके विपरीत मैं मानता हूँ कि मूल महाभारत मे अब तक कई परिवर्तन हो चुके हैं।

—य० इ०। हि० न० जी०, ८।१०।१९२५]

- मैं जिस कृष्ण को मानता हूँ, वह पूर्णावतार है।
- मेरे नजदीक महाभारत एक गहन धार्मिक ग्रन्थ है।
- उस (महाभारत) मे तो उस शाश्वत युद्ध का वर्णन है जो हमारे अन्दर निरन्तर होता रहता है।

१२. गीता का अर्थ

[एक मित्र ने गांधी जी से गीता के सम्बन्ध में चले आ रहे चिरन्तन वाद-विवाद का निर्णय पूछा था—'इसका सन्देश हिंसा है अथवा अहिंसा ?' इसका उत्तर देते हुए गांधी जी ने गीता के सम्बन्ध में अपना बहुमूल्य विचार प्रकट किया था। उसका आवश्यक अंश यहाँ दिया जा रहा है।—सम्पा०]

... मनुष्य वही करेगा जिसे उसका हृदय करने को कहेगा। प्रथम हृदय है, फिर बुद्धि, प्रथम सिद्धान्त फिर प्रमाण, पहिले स्फुरण है और फिर उसके अनुकूल तर्क, पहिले कर्म फिर बुद्धि। इसीलिए बुद्धि कर्मानुसारिणी कही गई है। मनुष्य जो करता है या करना चाहता है उसके समर्थन के लिए प्रमाण ढूँढ निकालता है।

इसलिए मैं समझता हूँ कि मेरा गीता का अर्थ सबके अनुकूल न होगा। ऐसी स्थिति मे यदि मैं इतना ही कहूँ कि गीता के अपने अर्थ पर मैं कैसे पहुँचा और धर्म-शास्त्रो का अर्थ निकलाने के लिए मैंने किन सिद्धान्तो को मान्यता दी है तो यही पर्याप्त होगा।

सन् १८८९ मे गीता जी से मेरा प्रथम परिचय हुआ। उस समय मेरी उम्र २० साल की थी। उन दिनो मैं अहिंसा धर्म को बहुत थोडा ही समझता था। मुझे उसमे से जीव-दया की प्रेरणा नही मिली थी। इसके पहिले मैं देश मे ही मासाहार कर चुका था।

अब दो अग्रेजो से सम्बन्ध होने पर मुझे गीता पढनी पडी। पढनी पडी, इसलिए कहता हू कि मुझे उसको पढने की कोई विशेष इच्छा नही थी। लेकिन जब इन दो भाइयो ने मुझे अपने साथ गीता पढने को कहा, तब मैं शर्मिन्दा हुआ। मुझे अपने धर्मशास्त्रो का तनिक भी ज्ञान नही है, इस विचार से मुझे बडा दु ख हुआ। लगता है, इस दु ख का कारण अभिमान था। मेरा सस्कृत-अध्ययन ऐसा नही था कि मैं गीता के समस्त श्लोको का अर्थ किसी की सहायता बिना ठीक-ठीक समझ लूँ। ये दोनो भाई तो कुछ नही समझते थे। इन्होने सर एडविन आर्नाल्ड[1] द्वारा किया गया गीता जी का उत्तमोत्तम काव्यानुवाद मेरे सामने रख दिया। मैंने शीघ्र ही उस पुस्तक को पढ डाला और उस पर मुग्ध हो गया। तब से लेकर आज तक दूसरे अध्याय के अन्तिम १९ श्लोक मेरे हृदय मे अकित हैं। मेरे लिए तो समस्त धर्म उसी मे आ गया है। उसमे सारा ज्ञान है। उसमे कहे हुए सिद्धान्त अटल हैं।

---

१. अंग्रेज कवि, जो अपनी प्रसिद्ध काव्य-कृति "लाइट आफ एशिया" के लिए ख्याति प्राप्त कर चुके हैं।

उसमे बुद्धि का भी पूरा उपयोग किया गया है। लेकिन यह बुद्धि सस्कारी बुद्धि है। इसमे अनुभूत ज्ञान है।

इस परिचय के बाद मैंने बहुत-से अनुवाद पढे, बहुत-सी टीकाए पढी, बहुत-से तर्क किये और सुने, लेकिन उसे पढने से मुझ पर जो छाप पडी थी, वह दूर नही होती। ये श्लोक गीता जी का अर्थ समझने की कुजी है। यदि इसमे विरोधी अर्थवाले वचन मिले तो मै उनका त्याग करने की सलाह दूंगा। नम्र और विनयी मनुष्य को तो त्याग करने की भी जरूरत नही है। वह तो सिर्फ यही कह दे कि आज दूसरे श्लोको का इसके साथ मेल नही बैठता, तो यह मेरी बुद्धि का दोष है, समय बीतने पर इनका और इन उन्नीस श्लोको मे कहे गये सिद्धान्तो का मेल मिल जायगा। अपने मन से और दूसरो से यह कह कर वह शान्त हो जायगा।

शास्त्रो का अर्थ करने के लिए सस्कार और अनुभव की आवश्यकता है। शूद्र को वेद का अध्ययन करने का अधिकार नही, यह वाक्य सर्वथा गलत नही है। शूद्र अर्थात् असस्कारी, मूर्ख, अज्ञान। ये वेदादि का अध्ययन करके उनका अनर्थ करेंगे। बडी उम्र के भी सब लोग बीजगणित के कठिन प्रश्न स्वय समझने के अधिकारी नही हैं। उनको समझाने के पहिले उन्हे कुछ प्राथमिक शिक्षा ग्रहण करनी पडती है। क्या व्यभिचारी के मुँह से 'अह ब्रह्मास्मि' शोभा देगा? उसका वह क्या अर्थ (या अनर्थ) करेगा?

शास्त्र का अर्थ करनेवाला 'यमादि' का पालन करनेवाला होना चाहिए। यमादि का शुष्क पालन जितना कठिन है उतना निरर्थक भी है। शास्त्रो ने गुरु का होना आवश्यक माना है, लेकिन इस जमाने मे गुरुओ का तो लगभग लोप हो गया है। इसीलिए ज्ञानी लोग भक्तिप्रधान प्राकृत ग्रन्थो का पठनपाठन करने की शिक्षा देते हैं, किन्तु जिसमे भक्ति नही, श्रद्धा नही, वह शास्त्र का अर्थ करने का अधिकारी नही होता। विद्वान लोग उसमे से विद्वत्ता-पूर्ण अर्थ भले ही निकाले, लेकिन वह शास्त्र का अर्थ नही। शास्त्र का अर्थ अनुभवी ही कर सकता है।

शास्त्र का अर्थ करने मे दूसरा नियम यह है कि उसके शब्दो को पकड कर नही बैठना चाहिए, वरन् उसकी ध्वनि देखनी चाहिए, उसका रहस्य समझना चाहिए। तुलसीदास जी की रामायण उत्तम ग्रन्थ है क्योंकि उसकी ध्वनि स्वच्छता है, दया है, भक्ति है। उसमे 'ढोल गवार, शूद्र, पशु, नारी, ये सब ताडन के अधिकारी' लिखा है, इसलिए यदि कोई पुरुष अपनी स्त्री को मारे तो उसकी अधोगति होगी। रामचन्द्र जी ने सीता जी पर कभी प्रहार नही किया, यही नही, उन्हे कभी दुःख भी नही पहुँचाया। तुलसीदास जी ने केवल प्रचलित वाक्य लिख दिया। उन्हे इस बात का विचार तक न आया होगा कि इस वाक्य का आधार लेकर अपनी

१२. गीता का अर्थ

[एक मित्र ने गाधी जी से गीता के सम्बन्ध मे चले आ रहे चिरन्तन वाद-विवाद का निर्णय पूछा था—'इसका सन्देश हिंसा है अथवा अहिंसा?' इसका उत्तर देते हुए गाधी जी ने गीता के सम्बन्ध मे अपना बहुमूल्य विचार प्रकट किया था। उसका आवश्यक अंश यहाँ दिया जा रहा है।—सम्पा०]

. . मनुष्य वही करेगा जिसे उसका हृदय करने को कहेगा। प्रथम हृदय है, फिर वुद्धि, प्रथम सिद्धान्त फिर प्रमाण, पहिले स्फुरण है और फिर उसके अनुकूल तर्क, पहिले कर्म फिर बुद्धि। इसीलिए वुद्धि कर्मानुसारिणी कही गई है। मनुष्य जो करता है या करना चाहता है उसके समर्थन के लिए प्रमाण ढूँढ निकालता है।

इसलिए मैं समझता हूँ कि मेरा गीता का अर्थ सबके अनुकूल न होगा। ऐसी स्थिति मे यदि मैं इतना ही कहूँ कि गीता के अपने अर्थ पर मै कैसे पहुँचा और धर्म-शास्त्रो का अर्थ निकलाने के लिए मैंने किन सिद्धान्तो को मान्यता दी है तो यही पर्याप्त होगा।

सन् १८८९ मे गीता जी से मेरा प्रथम परिचय हुआ। उस समय मेरी उम्र २० साल की थी। उन दिनो मैं अहिंसा धर्म को बहुत थोडा ही समझता था। मुझे उसमे से जीव-दया की प्रेरणा नही मिली थी। इसके पहिले मैं देश मे ही मासाहार कर चुका था।

अब दो अग्रेजो से सम्बन्ध होने पर मुझे गीता पढनी पडी। पढनी पडी, इसलिए कहता हू कि मुझे उसको पढने की कोई विशेष इच्छा नही थी। लेकिन जब इन दो भाइयो ने मुझे अपने साथ गीता पढने को कहा, तब मैं शर्मिन्दा हुआ। मुझे अपने धर्मशास्त्रो का तनिक भी ज्ञान नही है, इस विचार से मुझे बडा दु ख हुआ। लगता है, इस दु ख का कारण अभिमान था। मेरा सस्कृत-अध्ययन ऐसा नही था कि मैं गीता के समस्त श्लोको का अर्थ किसी की सहायता बिना ठीक-ठीक समझ लूँ। ये दोनो भाई तो कुछ नही समझते थे। इन्होने सर एडविन आर्नाल्ड[1] द्वारा किया गया गीता जी का उत्तमोत्तम काव्यानुवाद मेरे सामने रख दिया। मैंने शीघ्र ही उस पुस्तक को पढ डाला और उस पर मुग्ध हो गया। तब से लेकर आज तक दूसरे अध्याय के अन्तिम १९ श्लोक मेरे हृदय मे अकित हैं। मेरे लिए तो समस्त धर्म उसी मे आ गया है। उसमे सारा ज्ञान है। उसमे कहे हुए सिद्धान्त अटल हैं।

---

१. अंग्रेज कवि, जो अपनी प्रसिद्ध काव्य-कृति "लाइट आफ एशिया" के लिए ख्याति प्राप्त कर चुके हैं।

उसमे बुद्धि का भी पूरा उपयोग किया गया है। लेकिन यह बुद्धि सस्कारी बुद्धि है। इसमे अनुभूत ज्ञान है।

इस परिचय के बाद मैंने बहुत-से अनुवाद पढे, बहुत-सी टीकाए पढी, बहुत-से तर्क किये और सुने, लेकिन उसे पढने से मुझ पर जो छाप पडी थी, वह दूर नही होती। ये श्लोक गीता जी का अर्थ समझने की कुजी है। यदि इसमे विरोधी अर्थवाले वचन मिले तो मैं उनका त्याग करने की सलाह दूंगा। नम्र और विनयी मनुष्य को तो त्याग करने की भी ज़रूरत नही है। वह तो सिर्फ यही कह दे कि आज दूसरे श्लोको का इसके साथ मेल नही बैठता, तो यह मेरी बुद्धि का दोष है, समय बीतने पर इनका और इन उन्नीस श्लोको मे कहे गये सिद्धान्तो का मेल मिल जायगा। अपने मन से और दूसरो से यह कह कर वह शान्त हो जायगा।

शास्त्रो का अर्थ करने के लिए सस्कार और अनुभव की आवश्यकता है। शूद्र को वेद का अध्ययन करने का अधिकार नही, यह वाक्य सर्वथा गलत नही है। शूद्र अर्थात् असस्कारी, मूर्ख, अज्ञान। ये वेदादि का अध्ययन करके उनका अनर्थ करेंगे। बडी उम्र के भी सब लोग बीजगणित के कठिन प्रश्न स्वय समझने के अधिकारी नही हैं। उनको समझाने के पहिले उन्हे कुछ प्राथमिक शिक्षा ग्रहण करनी पडती है। क्या व्यभिचारी के मुँह से 'अह ब्रह्मास्मि' शोभा देगा? उसका वह क्या अर्थ (या अनर्थ) करेगा?

शास्त्र का अर्थ करनेवाला 'यमादि' का पालन करनेवाला होना चाहिए। यमादि का शुष्क पालन जितना कठिन है उतना निरर्थक भी है। शास्त्रो ने गुरु का होना आवश्यक माना है, लेकिन इस जमाने मे गुरुओ का तो लगभग लोप हो गया है। इसीलिए ज्ञानी लोग भक्तिप्रधान प्राकृत ग्रन्थो का पठनपाठन करने की शिक्षा देते है, किन्तु जिसमे भक्ति नही, श्रद्धा नही, वह शास्त्र का अर्थ करने का अधिकारी नही होता। विद्वान लोग उसमे से विद्वत्ता-पूर्ण अर्थ भले ही निकाले, लेकिन वह शास्त्र का अर्थ नही। शास्त्र का अर्थ अनुभवी ही कर सकता है।

शास्त्र का अर्थ करने मे दूसरा नियम यह है कि उसके शब्दो को पकड कर नही बैठना चाहिए, वरन् उसकी ध्वनि देखनी चाहिए, उसका रहस्य समझना चाहिए। तुलसीदास जी की रामायण उत्तम ग्रन्थ है क्योकि उसकी ध्वनि स्वच्छता है, दया है, भक्ति है। उसमे 'ढोल गवार, शूद्र, पशु, नारी, ये सब ताडन के अधिकारी' लिखा है, इसलिए यदि कोई पुरुष अपनी स्त्री को मारे तो उसकी अधोगति होगी। रामचन्द्र जी ने सीता जी पर कभी प्रहार नही किया, यही नही, उन्हे कभी दु ख भी नही पहुँचाया। तुलसीदास जी ने केवल प्रचलित वाक्य लिख दिया। उन्हे इस बात का विचार तक न आया होगा कि इस वाक्य का आधार लेकर अपनी

अर्द्धांगिनी को मारनेवाले पशु भी निकल आयँगे। यदि स्वय तुलसीदास ने परम्परा के वशवर्ती होकर अपनी पत्नी को मारा हो तो इससे क्या ? यह मारना अवश्य ही दोष है। फिर भी रामायण पत्नी के ताडन के लिए नही लिखी गई है। यह तो पूर्ण पुरुष का दर्शन कराने के लिए, सती-शिरोमणि सीता का परिचय कराने के लिए और भरत की आदर्श भक्ति चित्रित करने के लिए लिखी गई है। उसमे जो दोषपूर्ण रिवाजो का चित्रण पाया जाता है, वह त्याज्य है। तुलसीदास जी ने भूगोल पढाने के लिए अपना ग्रन्थ नही रचा, इसलिए उनके ग्रन्थ मे यदि गलत भूगोल पाया जाय, तो उसका त्याग करना अपना धर्म है।

अब गीता जी को देखें। ब्रह्मज्ञान-प्राप्ति और उसके साधन, यही गीता जी के विषय हैं। दो सेनाओ के बीच हुआ युद्ध निमित्त है। यह अवश्य कह सकते हैं कि कवि स्वय युद्धादि को निषिद्ध नही मानते थे और इसलिए उन्होंने युद्ध का इस प्रकार उपयोग किया है। महाभारत पढने के बाद मुझपर भिन्न प्रभाव पडा। व्यास जी ने इतने सुन्दर ग्रन्थ की रचना करके युद्ध के मिथ्यात्व का ही वर्णन किया है। कौरव हारे तो क्या और पाण्डव जीते तो क्या ? विजयी कितने बचे ? उनका क्या हुआ ? कुन्ती माता का क्या हुआ ? आज यादव कुल कहाँ है ?

धृतराष्ट्र कौन थे, दुर्योधन, युधिष्ठिर और अर्जुन कौन थे, कृष्ण कौन थे। क्या ये सब ऐतिहासिक पुरुष थे। क्या गीता जी मे उनके स्थूल व्यवहार का ही वर्णन किया गया है ? अर्जुन सहसा प्रश्न करता है और कृष्ण सारी गीता पढ जाते हैं ? इसी गीता को अर्जुन यह कहने के पश्चात् भी भूल जाता है कि उसका मोह नष्ट हो गया है। और वह दुवारा कृष्ण से अनुगीता कहलवाता है।

मै तो दुर्योधनादि को आसुरी और अर्जुनादि को दैवी वृत्ति मानता हूँ। यह शरीर धर्मक्षेत्र है। उसमे द्वन्द्व चलता ही रहता है और अनुभवी ऋषि कवि उसका तादृश वर्णन करते है। कृष्ण तो अन्तर्यामी हैं और हमेशा शुद्ध चित्त मे घडी की तरह टिक-टिक करते रहते हैं। यदि चित्त को शुद्धिरूप चाबी न दी गई हो, तो अन्तर्यामी वहाँ रहते तो हैं, पर उनका स्पन्दित होना अवश्य बन्द हो जाता है।

गीता यह भी कहती है कि कायर होने के कारण भाग कर हिंसा से नही बचा जा सकता। जो भागने का विचार करता है, उसे तो मारना या मरना चाहिए।

सर्वशक्तिमान् ईश्वर कर्त्ता-भर्त्ता और सहर्त्ता है और उसे ऐसा ही होना चाहिए। इस विषय मे कोई शका तो न होगी ? जो उत्पन्न करता है, वह नाश करने का अधिकार भी अपने पास रखता है। वह किसी को नही मारता क्योंकि वह उत्पन्न भी नही करता। नियम यह है कि जिसने जन्म लिया है, उसने मरने के

लिए ही जन्म लिया है। ईश्वर भी इस नियम को नही तोडता। यह उसकी दया है। यदि ईश्वर ही स्वच्छन्द और स्वेच्छाचारी बन जाय तो हम सब नष्ट हो जायगे।
—न० जी०। हि० न० जी०, १५।१०।१९२५]

- शास्त्रो का अर्थ करने के लिए सस्कार और अनुभव की आवश्यकता है।
- शास्त्र का अर्थ करनेवाला यमादि का पालन करनेवाला होना चाहिए।
- शास्त्र का अर्थ अनुभवी ही कर सकता है।
- यह शरीर धर्मक्षेत्र है।
- जिसने जन्म लिया है, उसने मरने के लिए ही जन्म लिया है।
- यदि चित्त को शुद्धिरूपी चाबी न दी गई हो, तो अन्तर्यामी वहाँ रहते तो हैं, पर उनका स्पन्दित होना अवश्य बन्द हो जाता है।

१३. गीता का सन्देश

गीता जिसकी मार्गदर्शिका बनी हुई है, उसे कभी निराश नही होना पडता, अथवा यो कहे कि उसे आशा कभी रखनी ही न चाहिए। निराशा से आरम्भ करने पर उसके फल बडे मधुर होते है। निराशा भी मन की एक तरग है इसलिए जो सावधान रहता है, उसे कभी निराशा नही होती, क्योकि वह आशा को मन मे कभी स्थान नही देता।
—न० जी०। हि० न० जी०, १९।११।१९२५]

१४. गीता का अर्थ

[आश्रम की प्रात कालीन प्रार्थना-सभाओ मे किये गये प्रवचनो के अश।
—सम्पा०]

नवाँ अध्याय—यह तो हमारे जैसे अन्तर्व्यथा से व्यथित रोगियो के लिए मरहम-पट्टी-जैसा है। हम सभी विकार से भरे हुए है और यहाँ भगवान ने अपनी शरण मे आनेवाले का विकार मिटाने का वचन दिया है। इस अध्याय मे यह भी जान पडता है कि जिस समय गीता लिखी गई थी, उस समय वर्णाश्रम धर्म मे ऊँच-नीच के भेदभाव घुस चुके थे और एक दूसरे को ऊँचा-नीचा गिना जाने लगा था। पर कौन ऊँचा है और कौन नीचा ? जो सम्पूर्ण निर्विकारी हो, वह दूसरे पर उगली उठाये और कहे, 'देखो लोगो, यह विकारी है।' यहाँ तो सबके सब

एक समान विकारी है, और उस विकार को दूर करने, मिटाने के लिए भगवान की शरण जाना, यही दवा बताई गई है। इससे यह न समझना चाहिए कि हाथ-पर-हाथ धरे बठे रह कर भगवान की शरण जाने से बिना प्रयत्न किये ही सब विकार धुल जायगे। जिसकी इन्द्रियाँ उसकी इच्छा के विरुद्ध उसे विषयो की ओर खीच ले जाती हैं और वह आँसू ढालता हुआ भगवान की शरण मे दौडता है तो उसे वह जरूर विकार-मुक्त करते है।

इस अध्याय मे पाप का प्रायश्चित्त भी आ जाता है। पाप का प्रायश्चित्त उपवास से नही, पर भक्ति और प्रपत्ति से होता है। मै उपवास की उपयोगिता भली-भाँति समझता हूँ मगर उसकी भी मर्यादा है। पाप के लिए उपवास हो ही नही सकता, शायद आड हो उठेगा। पापी तो पाप करनेवाला हुआ, पर पाप-योनि तो पाप रूप योनि से जन्मा हुआ, और इसलिए वह महापापी हुआ। यह तो हम नही कह सकते कि इसमे इसकी क्या कल्पना है, मगर आश्वासन तो सभी को भगवत्प्राप्ति मे मिला ही है। पाप का प्रायश्चित भक्ति ही है। कितनी बार भक्तिरस मे डूबने के लिए उपवास जरूरी जान पड सकता है और उस समय, सभी अपने-अपने लिए निश्चय कर सकते है। पर साधना तो केवल भक्ति ही है और भक्ति है, शन्य हो जाना, अपने आपको, अपनी खुशी को नष्ट कर डालना। अगर यह हो गया तो चाहे लाख पाप हो चुके हो, सभी नष्ट हो जाते हैं, लगते नही। दुराचार जो कहा है, वह दूसरा कुछ नही है, हम ही हैं। हृदय के अनेक पाप करनेवाले, ऊपर से रगे सियार बन कर फिरनेवाले हम सब पापी हैं और उनके लिए भगवान ने इस अध्याय मे वचन दिया है।

ग्यारहवाँ और बारहवाँ अध्याय—ग्यारहवें अध्याय मे भगवान के अनेकानेक रूपो का दर्शन कराके मनुष्य को भक्ति के लिए तैयार कराया है और इसके पश्चात् बारहवें मे भक्ति का रहस्य बतलाया है, सच्चे भक्त का वर्णन किया है। यह अध्याय इतना छोटा है कि कोई व्यक्ति उसे सहज ही कण्ठ कर ले सकता है।

चौदहवाँ और पन्द्रहवाँ अध्याय—चौदहवें मे तीन गुणो का वर्णन है और पन्द्रहवे मे पुरुषोत्तम का वर्णन है। चौदहवें मे मनुष्य का नियमन करने वाले तीन गुण बतलाये हैं। नियम तो अनेक है, मगर उनके सत्व, रजस और तमस्, तीन विभाग किये गये हैं। इनमे कोई आदमी ऐसा नही दिखलाई पडता जिसमे केवल एक ही गुण हो। सब मे तीनो का ही कुछ-न-कुछ अश रहता है। धीमे-धीमे चढते हुए हम सात्विक बनें और अन्त मे उसे भी पार करके पुरुषोत्तम को पायें। अपने अवगुण को पहाड-जैसे देख कर भाप-जैसे पतले बनें, तभी सात्विकता आयगी। इस बात को समझाने के लिए पानी और भाप का दृष्टान्त बडा योग्य जान पडता है।

पानी जब बर्फ की दशा मे होता है, तब उसकी गति नीचे की ओर होती है। वह धरती पर ही पडा रहता है। पर भाप बनना शुरू हुआ नही कि वह ऊपर चढने लगा। बर्फ बन कर वह ऊपर चढने की शक्ति खो बैठता है, वह शक्ति उसमे भाप बनने से आ जाती है। अन्त मे वह बादल बनकर बरसता है और जगत् का कल्याण करता है। यह बात अलग है कि बर्फ का भी उपयोग है और सूर्य के बिना पानी भाप बन कर आकाश मे उड कर बादल नही बन सकता,--इसे भी हम अभी अलग ही रखे। तात्पर्य यह है कि बादल मोक्ष की दशा बतलाते है, भाप सात्विक दशा बतलाती है, और पानी हमारी अपनी स्थिति दिखलाता है।

—न० जी०। हि० न० जी० १९।१।१९२७]

- पाप का प्रायश्चित्त उपवास से नहीं भक्ति और प्रपत्ति से होता है।
- साधन केवल भक्ति ही है।
- भक्ति है शून्य हो जाना, अपने आपको, अपनी खुदी को नष्ट कर डालना।
- बादल मोक्ष की दशा बतलाते हैं, भाप सात्विक दशा बतलाती है, और पानी हमारी अपनी स्थिति दिखलाता है।

१५. गीता-दृष्टि

काम करने मे जो गीता-दृष्टि हम चाहते हैं, वह पैदा करनी चाहिए। गीता-दृष्टि यह है कि सब काम सेवा-भाव से करें। सेवा-भाव से करें यानी ईश्वरार्पण करके करे। और जो ईश्वरार्पण करके करता है, उसमे यह भाव नही होता कि मैं करता हूँ। उसमे द्वेष नही होता। उसमे दूसरो के प्रति उदारता होती है।

—त्रिचनापल्ली, १९।७।१९२७। मौनवार। बापू के पत्र ' आश्रम की बहिनो को, पृ० ४७ न० जी० प्र० म०]

१६. हिन्दू विद्यार्थी और गीता

[मन्नारगुडी के विद्यार्थियो के समक्ष दिये गये भाषण का एक अश। —सम्पा०]

तुम अपने मानपत्र मे कहते हो कि तुम मेरी तरह रोज बाइबिल पढते हो। मै यह नही कह सकता कि मै रोज बाइबिल पढता हूँ लेकिन यह कह सकता हूँ कि मैंने नम्रता और भक्ति से बाइबिल पढी है। और अगर तुम भी उसी भाव से

बाइबिल पढते हो तो अच्छा ही है। लेकिन मेरा अनुमान है कि तुममे से अधिकाश लडके हिन्दू हो। कितना अच्छा होता अगर तुम कुछ कह सकते कि तुममे से हिन्दू लडके आध्यात्मिकता पाने के लिए रोज गीता का पाठ करते है। क्योकि मेरा विश्वास है कि ससार के सभी धर्म कमोबेश सच्चे है। मै कमोबेश इसलिए कहता हूँ कि आदमी जो कुछ छूते हैं, उनकी अपूर्णता से वह अपूर्ण हो जाता है। पूर्णता केवल ईश्वर का ही गुण है और इसका वर्णन नही किया जा सकता, विश्लेषण नही किया जा सकता। मेरा विश्वास है कि हर एक आदमी के लिए ईश्वर-जैसा ही पूर्ण बन जाना सम्भव है। हम सबके लिए पूर्णता की उच्च अभिलाषा रखनी जरूरी है। लेकिन जब हम उस धन्य स्थिति पर पहुँच जाते हैं उसका वर्णन नही किया जा सकता, वह समझाई नही जा सकती। और इसलिए मै पूरी नम्रता से मानता हू कि वेद, कुरान और बाइबिल ईश्वर के अपूर्ण शब्द हैं। और हम जिस प्रकार के अपूर्ण प्राणी हैं, अनेक विषयो मे इधर-उधर घूमते रहते हैं, हमारे लिए ईश्वर का यह शब्द पूरा समझना भी असम्भव है। इसीलिए मैं हिन्दू लडके से कहता हू कि तुम जिस परम्परा मे पले हो उसे उखाड मत फेको, जिस तरह मैं मुसलमान और ईसाई बालको से कहूँगा कि तुम अपनी परम्परा से सम्बन्ध न तोड लो। इसलिए जब मैं तुम्हारे कुरान या बाइबिल पढने का स्वागत करूगा, मै तुम सब हिन्दू लडको पर अगर जोर डाल सकता हू तो गीता पढने के लिए जोर डालूँगा। मेरा विश्वास है कि लडको मे हम जो अपवित्रता पाते हैं, जीवन की आवश्यक बातो के बारे मे उपेक्षा देखते हैं, जीवन के सबसे बडे और परमावश्यक प्रश्नो पर वे जिस ढिलाई से विचार करते हैं, उसका कारण उनकी उस परम्परा का नष्ट हो जाना है जिससे उन्हे अब तक पोषण मिलता आया था।

लेकिन कोई गलतफहमी न होने पाये। मै यह नही मानता कि केवल पुरानी होने से सभी पुरानी बातें अच्छी हैं। प्राचीन परम्परा के अनुसार ईश्वर की दी हुई तर्क-बुद्धि का त्याग करने को मैं नही कहता। कोई भी परम्परा हो, नीति-विरुद्ध होने पर त्याज्य है। अस्पृश्यता शायद पुरानी परम्परा मानी जाय, बाल-वैधव्य, बाल-विवाह और दूसरे कई बीभत्स विश्वास तथा भ्रम शायद पुरानी परम्परा मे माने जायँ। मुझमे यदि शक्ति होती तो मै उन्हे धो बहाता। तुम शायद अब समझ सकोगे कि मैं जब पुरानी परम्परा का आदर करने को कहता हूँ तो मेरा क्या आशय है। और चूंकि मैं उसी परमात्मा को भगवद्गीता मे देखता हूँ जिसे बाइबिल और कुरान मे, मै हिन्दू बालको को गीता पढने को कहता हूँ, क्योकि गीता के साथ उनका मेल और किसी दूसरी पुस्तक मे कही अधिक होगा।

—य० इं०। हि० न० जी०, २९।९।१९२७]

- मेरा विश्वास है कि ससार के सभी धर्म कमोवेश सच्चे हैं।
- पूर्णता केवल ईश्वर का ही गुण है।
- वेद, कुरान और वाइविल ईश्वर के अपूर्ण शब्द हैं।
- कोई भी परम्परा हो, नीति-विरुद्ध होने पर वह त्याज्य है।

१७. गीता और रामायण

वहुत-से नौजवान कोशिश करते हुए भी पाप मे वच नही पाते। वे हिम्मत खो वैठते हैं और फिर दिन-दिन पाप की गहराई मे कदम वढाते जाते हैं। वहुत-से तो वाद मे पाप ही को पुण्य भी मानने लगते है। ऐसे लोगो को मैं कई वार गीता जी और रामायण पढने और उन पर विचार करने की सलाह देता हूँ। लेकिन वे इस वात मे दिलचस्पी नही ले सकते। इसी तरह के नौजवानो की सन्तुष्टि के लिए, उन्हे धीरज वँधाने की गरज से, एक नौजवान के पत्र का कुछ हिस्सा, जो इस विषय मे सम्वन्ध रखता है, नीचे देता हूँ —

"मन साधारणत स्वस्थ है। लेकिन जव कुछ दिनो तक मन विल्कुल स्वस्थ रह चुकता है, और खुद इस वात का खयाल हो जाता है तो फिर पछाड खाती ही पडती है। विकार इतने प्रवल वन जाते हैं कि उनका विरोध करने मे वुद्धिमानी नहीं मालूम पडती, लेकिन ऐसे समय प्रार्थना, गीता-पाठ और तुलसी-रामायण से वडी मदद मिलती है। रामायण को एक वार पढ़ चुका हूँ, दुवारा सती की कथा तक जा पहुँचा हूँ। एक समय था, जव रामायण का नाम सुनते ही जी घवराता था, लेकिन आज तो उसके पन्ने-पन्ने मे रस पा रहा हूँ। एक ही पृष्ठ को पांच-पांच वार पढ़ता हूँ, फिर भी दिल नहीं ऊवता। कागभुशुण्डि जी की जिस कथा के कारण मेरे दिल में तुलसी-रामायण के प्रति घृणा पैदा हो गई थी, वह वुरी लगती थी, वही आज सवसे अच्छी मालूम होती है। उसमे मैं, गीता के ११ वें अध्याय से भी अधिक काव्य देख रहा हूँ। दो-चार साल पहिले आधे दिल से स्वच्छता पाने की कोशिश करने पर भी उसे न पाकर जो निराशा पैदा होती थी, आज उस निराशा का पता भी नहीं है, उलटे मन मे विचार आता है कि जो विकास अनन्तकाल वाद होनेवाला है उसे आज ही पा लेने का हठ करना कितनी मूर्खता है। पूरे दिन मे कातते समय और रामायण का अभ्यास करते समय आराम मिलता है।"

इस पत्र के लेखक मे जितनी निराशा और जितना अविश्वास था, शायद ही किसी दूसरे नौजवान मे उतनी निराशा और उतना अविश्वास हो। दोषो ने उसके

शरीर मे घर कर लिया था। लेकिन आज उसमे जिस श्रद्धा का उदय हुआ है, उससे नवयुवक-जगत् मे आशा का सचार होना चाहिए। जो लोग अपनी इन्द्रियो को जीत सके है उनके अनुभव पर भरोसा करके लगन के साथ रामायण आदि का अभ्यास करनेवाले का दिल पिघले बिना रह ही नही सकता। मामूली विषयो के अभ्यास के लिए भी जब हमे अक्सर बरसो तक मेहनत करनी पडती है, कई तरकीबो से काम लेना पडता है, तो जिसमे सारी जिन्दगी का और उसके बाद की शान्ति का भी सवाल छुपा हुआ है, उस विषय के अभ्यास के लिए हममे कितनी लगन होनी चाहिए ? उस पर भी जो लोग थोडे मे थोडा समय और ध्यान देकर रामायण तथा गीता मे से रसपान करने की आशा रखते हैं उनके लिए क्या कहा जाय ?

ऊपर के पत्र मे लिखा है कि पत्र-लेखक को अपने स्वस्थ होने का विचार आते ही विकार फिर से चढ दौडते है। जो बात शरीर के लिए ठीक है वही मन के लिए भी ठीक है। जिसका शरीर बिल्कुल चगा है उसे अपने स्वस्थ होने का विचार कभी नही आता, न उसकी कोई जरूरत ही है, क्योकि स्वास्थ्य तो शरीर का स्वभाव है। यही बात मन पर भी लागू होती है। जिस दिन मन की तन्दुरुस्ती का विचार आये, समझ लीजिए कि विकार पास आकर झाँक रहे हैं। अत मन को हमेशा स्वस्थ बनाये रखने का एक-मात्र उपाय उसे हमेशा अच्छे विचारो मे लगाये रखना है। इसी कारण राम-नाम आदि के जप की शोध हुई और वे गेय माने गये। जिसके हृदय मे हर घडी राम का निवास हो उस पर विकार चढाई नही कर सकते। सच तो यह है कि जो शुद्ध बुद्धि से राम-नाम का जप करता है, समय पाकर राम-नाम उसके हृदय मे घर कर लेता है। इस तरह हृदय-प्रवेश होने के बाद रामनाम उस मनुष्य के लिए एक अभेद्य किला बन जाता है। बुराई का खयाल करते रहने से वह नही मिटेगी, हाँ, अच्छाई का विचार करने से बुराई जरूर मिट जाती है। लेकिन बहुत बार देखा गया है कि लोग सच्ची नीयत से उल्टी तरकीब काम में लाते है। यह कैसे आई, कहाँ से आई, वगैरह विचार करने से बुराई का ध्यान बढता जाता है। बुराई को मेटने का यह उपाय हिसक कहा जा सकता है। इसका सच्चा उपाय तो बुराई से असहयोग करना है। जब बुराई हम पर आक्रमण करे तो उससे 'भाग जा' कहने की कोई जरूरत नही, हमे तो यह समझ लेना चाहिए कि बुराई नाम की कोई चीज है ही नही और हमेशा स्वच्छता का, अच्छाई का विचार करते रहना चाहिए। 'भाग जा' कहने मे डर का भाव है, उसका विचार तक न करने मे निडरता है। हमे सदा यह विश्वास बढाते रहना चाहिए कि बुराई मुझे छू तक नही सकती। अनुभव-द्वारा यह सब सिद्ध किया जा सकता है।

— न० जी०। हि० न० जी०, १८।४।१९२९]

- स्वास्थ्य तो शरीर का स्वभाव है।
- जो शुद्ध बुद्धि से राम-नाम का जप करता है राम-नाम उसके हृदय मे घर कर लेता है।
- राम-नाम .. मनुष्य के लिए अभेद्य किला बन जाता है।
- बुराई का ख़याल करते रहने मे वह नहीं मिटेगी ....अच्छाई का विचार करने से बुराई जरूर मिट जाती है।

१८. गीता : परिचय एवं विश्लेषण

जिस प्रकार स्वामी आनन्द आदि मित्रो के प्रेम के वश होकर मैंने सत्य के प्रयोग मात्र के लिए आत्मकथा का लिखना आरम्भ किया था उसी प्रकार गीता का अनुवाद भी। स्वामी आनन्द ने असहयोग के जमाने मे मुझसे कहा था, 'आप गीता का जो अर्थ करते हैं, वह अर्थ तभी समझ मे आ सकता है जब आप एक बार समूची गीता का अनुवाद कर जायँ और उसके ऊपर जो टीका करनी हो वह करें और हम वह सम्पूर्ण एक बार पढ जायें। फुटकर श्लोको मे से अहिंसादि का प्रतिपादन मुझे तो ठीक नही लगता है।' मुझे उनकी दलील मे सार जान पडा। मैंने जवाब दिया—'अवकाश मिलने पर यह करूँगा।' फिर मैं जेल गया। वहाँ गीता का अध्ययन कुछ अधिक गहराई से करने का मौका मिला। लोकमान्य का ज्ञान का भण्डार पढा। उन्होंने ही पहिले मुझे मराठी, हिन्दी और गुजराती-अनुवाद प्रेमपूर्वक भेजे थे और सिफारिश की थी कि मराठी न पढ सकूँ तो गुजराती अवश्य पढ़ू। जेल के बाहर तो उसे पढ पाया, पर जेल मे गुजराती अनुवाद पढा। इसे पढने के बाद गीता के सम्बन्ध मे अधिक पढने की इच्छा हुई और गीता-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ उलटे-पलटे।

गीता से परिचय और उसका अनुवाद

मुझे गीता का प्रथम परिचय एडविन आर्नाल्ड के पद्य-अनुवाद से सन् १८८८-८९ मे प्राप्त हुआ। उससे गीता का गुजराती अनुवाद पढने की तीव्र इच्छा हुई और जितने अनुवाद हाथ लगे उन्हे पढ गया, परन्तु ऐसी पढाई मुझे अपना अनुवाद जनता के सामने रखने का बिल्कुल अधिकार नही देती। इसके सिवा मेरा संस्कृत-ज्ञान अल्प है, गुजराती का ज्ञान विद्वत्ता के विचार से कुछ नही है। तब मैंने अनुवाद करने की धृष्टता क्यो की ?

गीता को मैने जिस प्रकार समझा है उस प्रकार उसका आचरण करने का मेरा और मेरे साथ रहनेवाले कई साथियो का बराबर प्रयत्न है। गीता हमारे लिए आध्यात्मिक निदान-ग्रन्थ है। उसके अनुसार आचरण मे निष्फलता रोज आती है, पर वह निष्फलता हमारा प्रयत्न रहते हुए है। इस निष्फलता मे सफलता की फूटती हुई किरणो की झलक दिखाई देती है। यह नन्हा-सा जन-समुदाय जिस अर्थ को आचार मे परिणत करने का प्रयत्न करता है, वह इस अनुवाद मे है।

इसके सिवा स्त्रियाँ, वैश्य और शूद्र-सरीखे जिन्हे अक्षर-ज्ञान थोडा ही है, जिन्हे मूल सस्कृत मे गीता समझने का समय नही है, इच्छा नही है, परन्तु जिन्हे गीता रूपी सहारे की आवश्यकता है, उन्ही के लिए इस अनुवाद की कल्पना है।[1] गुजराती भाषा का मेरा ज्ञान कम होने पर भी उसके द्वारा गुजरातियो को मेरे पास जो कुछ पूँजी हो वह दे जाने की मुझे सदा बडी अभिलाषा रही है। यह अवश्य चाहता हूँ कि आज जब कि गन्दे साहित्य का प्रवाह जोरो से जारी है, ऐसे समय हिन्दू-धर्म मे अद्वितीय माने जानेवाले इस ग्रन्थ का सरल अनुवाद गुजराती जनता को मिले और उसमे से वह उस प्रवाह का सामना करने की शक्ति प्राप्त करे।

इस अभिलाषा मे दूसरे गुजराती अनुवादो की अवहेलना नही है। उन सबका स्थान भले ही हो, पर उनके पीछे उनके अनुवादो का आचाररूपी अनुभव का दावा हो, ऐसी मेरी जानकारी मे नही है। इस अनुवादक के पीछे अडतीस वर्ष के आचार के प्रयत्न का दावा है। इसलिए मैं यह अवश्य चाहता हूँ कि प्रत्येक गुजराती भाई और बहिन, जिन्हे धर्म को आचरण मे लाने की इच्छा है, इसे पढें, विचारें और इसमे से शक्ति प्राप्त करे।

इस अनुवाद मे मेरे साथियो की मेहनत मौजूद है। मेरा सस्कृत-ज्ञान बहुत अधूरा होने के कारण शब्दार्थ पर मुझे पूरा विश्वास नही हो सकता था, अत केवल इतने के लिए इस अनुवाद को विनोबा, काका कालेलकर, महादेव देसाई और किशोर-लाल मशरूवाला ने देख लिया है।

ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं

अब गीता के अर्थ पर आता हूँ।

सन् १८८८-८९ मे जब गीता का प्रथम दर्शन हुआ तभी मुझे ऐसा लगा कि यह ऐतिहासिक ग्रन्थ नही है, वरन् इसमे भौतिक युद्ध के वर्णन के बहाने प्रत्येक मनुष्य

---

१. गांधी जी का अनुवाद गुजराती मे है। यह इस अनुवाद के हिन्दी रूपान्तर की भूमिका है।

के हृदय के भीतर निरन्तर होते रहनेवाले द्वन्द्व-युद्ध का ही वर्णन है, मानुषी योद्धाओ की रचना हृदयगत युद्ध को रोचक बनाने के लिए गढी हुई कल्पना है। यह प्राथमिक स्फुरणा धर्म का और गीता का विशेष विचार करने के बाद पक्की हो गई। महाभारत पढने के बाद यह विचार और भी दृढ हो गया। महाभारत ग्रन्थ को मैं आधुनिक अर्थ मे इतिहास नही मानता। इसके प्रबल प्रमाण आदिपर्व मे ही हैं। पात्रो की अमानुषी और अतिमानुषी उत्पत्ति का वर्णन करके व्यास भगवान ने राजा-प्रजा के इतिहास को मिटा दिया है। उसमे वर्णित पात्र मूल मे ऐतिहासिक भले ही हो, परन्तु महाभारत मे तो उनका उपयोग व्यास भगवान ने केवल धर्म का दर्शन कराने के लिए ही किया है।

महाभारत

महाभारतकार ने भौतिक युद्ध की आवश्यकता नही, उसकी निरर्थकता सिद्ध की है। विजेता से रुदन कराया है, पश्चात्ताप कराया है और दु ख के सिवा और कुछ नही रहने दिया।

इस महाग्रन्थ मे गीता शिरोमणि रूप से विराजती है। उसका दूसरा अध्याय भौतिक युद्ध-व्यवहार सिखाने के बदले स्थितप्रज्ञ के लक्षण सिखाता है। स्थितप्रज्ञ का ऐहिक युद्ध के साथ कोई सम्बन्ध नही होता, यह बात उसके लक्षणो से ही मुझे प्रतीत हुई है। साधारण पारिवारिक झगडो के औचित्य-अनौचित्य का निर्णय करने के लिए गीता-जैसी पुस्तक की रचना सम्भव नही है।

गीता के कृष्ण

गीता के कृष्ण मूर्तिमान् शुद्ध सम्पूर्ण ज्ञान है, परन्तु काल्पनिक हैं। यहाँ कृष्ण नाम के अवतारी पुरुष का निषेध नही है। केवल सम्पूर्ण कृष्ण काल्पनिक हैं, सम्पूर्णावतार का आरोपण पीछे से हुआ है।

अवतार की व्याख्या

अवतार से तात्पर्य है शरीरधारी पुरुष विशेष। जीवमात्र ईश्वर के अवतार हैं, परन्तु लौकिक भाषा मे सबको हम अवतार नही कहते। जो पुरुष अपने युग मे सब से श्रेष्ठ धर्मवान है, उसे भावी प्रजा अवतार-रूप से पूजती है। इसमे मुझे कोई दोष नही जान पडता। इसमे न तो ईश्वर के बडप्पन मे कमी आती है, न इससे सत्य को आघात पहुँचता है। आदम खुदा नही, लेकिन खुदा के नूर से आदम जुदा नही। जिसमे धर्म-जागृति अपने युग मे सबसे अधिक है वह विशेषावतार है।

इस विचार-श्रेणी से कृष्ण-रूपी सम्पूर्णावतार आज हिन्दू-धर्म मे साम्राज्य भोग रहा है।

गीता मे आत्मदर्शन

यह दृश्य मनुष्य की अन्तिम सदभिलाषा का सूचक है। मनुष्य को ईश्वर-रूप हुए बिना चैन नही पडता, शान्ति नही मिलती। ईश्वर-रूप होने के प्रयत्न का नाम सच्चा और एकमात्र पुरुषार्थ है और यही आत्मदर्शन है। यह आत्मदर्शन जैसे सब धर्म-ग्रन्थो का विषय है, वैसे ही गीता का भी है। पर गीताकार ने इस विषय का प्रतिपादन करने के लिए गीता नही रची वर आत्मार्थी को आत्मदर्शन का एक अद्वितीय उपाय बतलाना गीता का आशय है। जो चीज हिन्दू-धर्म-ग्रन्थो मे छिट-फुट दिखाई देती है, उसे गीता ने अनेक रूपो, अनेक शब्दो मे, पुनरुक्ति का दोष स्वीकार करके भी, अच्छी तरह स्थापित किया है।

निष्काम कर्म

वह अद्वितीय उपाय है कर्मफल-त्याग।

इस मध्यबिन्दु के चारो ओर गीता की सारी सजावट है। भक्ति, ज्ञान इत्यादि उसके आसपास तारामण्डल-रूप मे सज गये हैं। जहाँ देह है वहाँ कर्म तो है ही। उससे कोई मुक्त नही है, तथापि देह को प्रभु का मन्दिर बनाकर उसके द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है, यह सब धर्मों ने प्रतिपदन किया है। परन्तु कर्ममात्र मे कुछ दोष तो है ही, भक्ति तो निर्दोष की ही होती है। तब कर्म-बन्धन मे से अर्थात् दोष-स्पर्श मे से कैसे छुटकारा हो? इसका जवाब गीता जी ने निश्चयात्मक शब्दो मे दिया है—निष्काम कर्म से, यज्ञार्थ कर्म करके, कर्म-फल त्याग करके, सब कर्मों को कृष्णार्पण करके, अर्थात् मन, वचन और काया को ईश्वर मे होम करके।

ज्ञान, भक्ति और कर्म

पर निष्कामता, कर्मफल-त्याग कहने-भर से नही हो जाता। यह केवल बुद्धि का प्रयोग नही है। यह हृदय-मन्थन से ही उत्पन्न होता है। यह त्याग-शक्ति पैदा करने के लिए ज्ञान चाहिए। एक प्रकार का ज्ञान तो वहुतेरे पण्डित पाते हैं। वेदादि उन्हे कण्ठ होते हैं, परन्तु उनमे से अधिकाश भोगादि मे लगे-लिपटे रहते हैं। ज्ञान का अतिरेक शुष्क पाण्डित्य के रूप मे न हो जाय, इस खयाल से गीताकार ने ज्ञान के साथ भक्ति को मिलाया और उसे प्रथम स्थान दिया। बिना भक्ति का ज्ञान हानिकर है। इसलिए कहा गया, भक्ति करो तो ज्ञान मिल ही जायगा।

पर भक्ति तो सिर का सौदा है, इसलिए गीताकार ने भक्त के लक्षण स्थितप्रज्ञ के-से वतलाये हैं।

गीता मे भक्ति

तात्पर्य, गीता की भक्ति वाह्याचारिता नही है, अन्ध-श्रद्धा नही है। गीता मे वताये उपचार का वाह्य चेष्टा या क्रिया के साथ कम-से-कम सम्वन्ध है। माला, तिलक, अर्घ्यादि साधन भले ही भक्त वरते, पर वे भक्ति के लक्षण नही है। जो किसी से द्वेष नही करता, जो करुणा का भण्डार है और ममतारहित है, जो निरहकार है, जिसे सुख-दु ख, शीत-उष्ण समान है, जो क्षमाशील है, जो सदा सन्तोषी है, जिसके निश्चय कभी वदलते नही, जिसने मन और बुद्धि ईश्वर को अर्पण कर दिये है, जिससे लोग उद्वेग नही पाते, जो लोगो का भय नही रखता, जो हर्ष-क्षमा-भयादि से मुक्त है, जो पवित्र है, जो कार्यदक्ष होने पर भी तटस्थ है, जो शुभाशुभ का त्याग करनेवाला है, जो शत्रु-मित्र पर समभाव रखनेवाला है, जिसे मान-अपमान समान है, जिसे स्तुति से खुशी नही होती और निन्दा से ग्लानि नही होती, जो मौनधारी है, जिसे एकान्त प्रिय है, जो स्थिर-बुद्धि है, वह भक्त है। यह भक्ति आसक्त स्त्री-पुरुपो मे सम्भव नही है।

आत्मदर्शन

इससे हम देखते है कि ज्ञान प्राप्त करना, भक्त होना ही आत्मदर्शन है। आत्मदर्शन उससे भिन्न वस्तु नही है। जैसे रुपये के वदले मे जहर खरीदा जा सकता है और अमृत भी लाया जा सकता है, वैसे ज्ञान या भक्ति के वदले वन्धन भी लाया जा सके और मोक्ष भी, यह सम्भव नही है। यहाँ तो साधन और साध्य विल्कुल एक नही तो लगभग एक ही वस्तु हैं, साधन की पराकाष्ठा जो है वही मोक्ष है और गीता के मोक्ष का अर्थ परम शान्ति है।

कर्म-अकर्म

किन्तु ऐसे ज्ञान और भक्ति को कर्मफल-त्याग की कसौटी पर चढना ठहरा। लौकिक कल्पना में शुष्क पण्डित भी ज्ञानी मान लिया जाता है। उसे कुछ काम करने को नही रहता। हाथ से लोटा तक उठाना भी उसके लिये वन्धन है। यज्ञ-शून्य जहा ज्ञानी गिना जाय वहाँ लोटा उठाने-जैसी तुच्छ लौकिक क्रिया को स्थान ही कैसे मिल सकता है?

लौकिक कल्पना मे भक्त से मतलब है बाह्याचारी,[1] माला लेकर जप करनेवाला। सेवाकर्म करते भी उसकी माला मे विक्षेप पडता है। इसलिए वह खाने-पीने आदि भोग भोगने के समय ही माल को हाथ से छोडता है, चक्की चलाने या रोगी की सेवा-शुश्रूषा करने के लिए कभी नही छोडता।

इन दोनो वर्गों को गीता ने साफ तौर से कह दिया, कर्म बिना किसी ने सिद्धि नही पाई। जनकादि भी कर्मद्वारा ज्ञानी हुए। यदि मैं भी आलस्य-रहित होकर कर्म न करता रहूँ तो इन लोगो का नाश हो जाय। तो फिर लोगो के लिए पूछना ही क्या रह जाता है ?

गीता का निष्काम भाव

परन्तु एक ओर से कर्म-मात्र बन्धन है, यह निर्विवाद है। दूसरी ओर से देही इच्छा-अनिच्छा से भी कर्म करता रहता है। शारीरिक या मानसिक सभी चेष्टाएँ कर्म है। अब कर्म करते हुए भी मनुष्य बन्धनमुक्त कैसे रहे ? जहाँ तक मुझे मालूम है, इस समस्या को गीता ने जिस तरह हल किया है वैसे दूसरे किसी भी धर्म-ग्रन्थ ने नही किया है। गीता का कहना है—फलासक्ति छोडो और कर्म करो, आशा-रहित होकर कर्म करो, निष्काम होकर कर्म करो। यह गीता की वह ध्वनि है जो भुलाई नही जा सकती। जो कर्म छोडता है वह गिरता है। कर्म करते हुए भी जो उसका फल छोडता है वह चढता है। फल-त्याग का यह अर्थ नही है, कि परिणाम के सम्बन्ध मे लापरवाही रहे। परिणाम और साधन का विचार और उसका ज्ञान अत्यावश्यक है। इतना होने के बाद जो मनुष्य परिणाम की इच्छा किये बिना साधन मे तन्मय रहता है वह फल-त्यागी है।

कर्म-फल-त्याग

पर यहाँ फल-त्याग का कोई अर्थ न करे कि त्यागी को फल मिलता नही। गीता मे ऐसे अर्थ को कही स्थान नही है। फल-त्याग से मतलब है फल के सम्बन्ध में आसक्ति का अभाव। वास्तव मे देखा जाय तो फल-त्यागी को तो हजारगुना फल मिलता है। गीता के फल-त्याग मे तो अपिरिमित श्रद्धा की परीक्षा है। जो मनुष्य परिणाम का ध्यान करता रहता है वह बहुत बार कर्म-कर्त्तव्य-भ्रष्ट हो जाता है। उसे अधीरता घेरती है, उसमे वह क्रोध के वश हो जाता है और फिर वह न करने

---

१. जो बाह्याचार मे लीन रहता है और शुद्ध भाव से मानता है कि यही भक्ति है।

योग्य कर्म करने लग जाता है, एक कर्म से दूसरे मे और दूमरेसे तीमरे मे पडताजाता है। परिणाम की चिन्ता करनेवाले की स्थिति विपयान्ध-सी हो जाती है और अन्त मे वह विपयी की भाँति सारासार का, नीति-अनीति का विवेक छोड देता है और फल प्राप्त करने के लिए हर किसी साधन से काम लेता है और उसे धर्म मानता है।

अनासक्ति

फलासक्ति के ऐसे कटु परिणामो मे से गीताकार ने अनासक्ति का अर्थात् कर्मफल-त्याग का सिद्धान्त निकाला और ससार के सामने अत्यन्त आकर्षक भापा मे रखा। साधारणत तो यह माना जाता है कि धर्म और अर्थ विरोधी वस्तु हैं, व्यापार इत्यादि लौकिक व्यवहार मे धर्म नही बचाया जा सकता, धर्म को जगह नही हो सकती, धर्म का उपयोग केवल मोक्ष के लिए किया जा सकता है। धर्म की जगह धर्म शोभा देता है और अर्थ की जगह अर्थ। हम बहुतो-द्वारा ऐसा कथन सुनते हैं। गीताकार ने इम भ्रम को दूर किया है। उसने मोक्ष और व्यवहार के बीच ऐमा भेद नही रखा है, वर व्यवहार मे धर्म को उतारा है। जो धर्म व्यवहार मे न लाया जा सके, वह धर्म नही है, मेरी समझ से यह बात गीता मे है। मतलब, गीता के मतानुसार जो कर्म ऐसे है कि आमक्ति के बिना हो ही न मके वे सभी त्याज्य हैं। ऐमा सुवर्ण-नियम मनुष्य को अनेक धर्म-सकटो मे से बचाता है। इस मत के अनुसार खून, झूठ, व्यभिचार इत्यादि कर्म अपने-आप त्याज्य हो जाते हैं, मानव-जीवन सरल बन जाता है और सरलता से शान्ति उत्पन्न होती है।

गीता का सार सत्य-अहिंसा

इस विचार-श्रेणी के अनुसार मुझे ऐसा जान पडा है कि गीता की शिक्षा को व्यवहार मे लानेवाले को अपने-आप सत्य और अहिंसा का पालन करना पडता है। फलासक्ति के बिना न तो मनुष्य को असत्य बोलने का लालच होता है, न हिंसा करने का। चाहे जिस हिंसा या असत्य के कार्य को हम लें, यह मालूम हो जायगा कि उसके पीछे परिणाम की इच्छा रहती है। गीता-काल के पहिले भी अहिंमा परमधर्म-रूप मानी जाती थी। पर गीता को तो अनामक्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन करना था। दूसरे अध्याय मे ही यह बात स्पष्ट हो जाती है।

परन्तु यदि गीता को अहिंमा मान्य थी अथवा अनासक्ति मे अहिंमा अपने-आप आ ही जाती है तो गीताकार ने भौतिक युद्ध को उदाहरण के रूप मे भी क्यो लिया? गीता-युग मे अहिंसा धर्म मानी जाने पर भी भौतिक युद्ध मर्वमान्य वस्तु

होने के कारण गीताकार को ऐसे युद्ध का उदाहरण लेते सकोच नही हुआ और न होना चाहिए था।

हिंसा की निष्फलता

परन्तु फल-त्याग के महत्त्व का अन्दाजा करते हुए गीताकार के मन मे क्या विचार थे, उसने अहिंसा की मर्यादा कहाँ निश्चित की थी, इस पर हमे विचार करने की आवश्यकता नही रहती। कवि महत्त्व के सिद्धान्तो को ससार के सम्मुख उपस्थित करता है, इसके यह मानी नहीं होते कि वह सदा अपने उपस्थित किये हुए सिद्धान्तो का महत्त्व पूर्णरूप से पहिचानता है या पहिचानने के बाद समूचे को भाषा मे रख सकता है। इसमे काव्य की और कवि की महिमा है। कवि के अर्थ का अन्त ही नही है। जैसे मनुष्य का, उसी प्रकार महावाक्यो के अर्थ का विकास होता ही रहता है। भाषाओ के इतिहास से हमे मालूम होता है कि अनेक महान् शब्दो के अर्थ नित्य नये होते रहे हैं। यही बात गीता के अर्थ के सम्बन्ध मे भी है। गीताकार ने स्वय महान् रूढ शब्दो के अर्थ का विस्तार किया है। गीता को ऊपरी दृष्टि से देखने पर भी यह बात मालूम हो जाती है। गीता-युग के पहिले कदाचित् यज्ञ मे पशु-हिंसा मान्य रही हो। गीता के यज्ञ मे उसकी कही गन्ध तक नही है। उसमे तो जपयज्ञ यज्ञो का राजा है। तीसरा अध्याय बतलाता है कि यज्ञ का अर्थ है मुख्य रूप से परोपकार के लिए शरीर का उपयोग। तीसरा और चौथा अध्याय मिलाकर दूसरी व्याख्या भी निकाली जा सकती है, पर पशु-हिंसा नही निकाली जा सकती।

गीता मे संन्यास

वही बात गीता के संन्यास के अर्थ के सम्बन्ध मे है। कर्म-मात्र का त्याग गीता के सन्यास को भाता ही नही। गीता का सन्यासी अतिकर्मी है, तथापि अति-अकर्मी है। इस प्रकार गीताकार ने महान् शब्दो का व्यापक अर्थ करके अपनी भाषा का भी व्यापक अर्थ करना हमे सिखाया है। गीताकार की भाषा के अक्षरो से यह बात भले ही निकलती हो कि सम्पूर्ण कर्मफलत्यागी द्वारा भौतिक युद्ध हो सकता है, परन्तु गीता की शिक्षा को पूर्णरूप से अमल मे लाने का ४० वर्ष तक सतत प्रयत्न करने पर मुझे तो नम्रतापूर्वक ऐसा जान पडा है कि सत्य और अहिंसा का पूर्णरूप से पालन किये विना सम्पूर्ण कर्मफल-त्याग मनुष्य के लिए असम्भव है।

धर्म-काव्य

गीता सूत्र-ग्रन्थ नही है। गीता एक महान् धर्म-काव्य है। उसमे जितना गहरे

उतरिए, उतने ही उसमे से नये और सुन्दर अर्थ लीजिए। गीता जन-समाज के लिए है, उसमे एक ही बात को अनेक प्रकार से कहा है। अत गीता मे आये हुए महाशब्दो का अर्थ युग-युग मे बदलता और विस्तृत होता रहेगा। गीता का मूल मन्त्र कभी नही बदल सकता। वह मन्त्र जिस रीति से सिद्ध किया जा सके उस रीति से जिज्ञासु चाहे जो अर्थ कर सकता है।

गीता विधि-निषेध बतलानेवाली भी नही है। एक के लिए जो विहित होता है वही दूसरे के लिए निषिद्ध हो सकता है। एक काल या एक देश मे जो विहित होता है, वह दूसरे काल मे, दूसरे देश मे निषिद्ध हो सकता है। निषिद्ध केवल फलासक्ति है, विहित है अनासक्ति।

गीता मे ज्ञान की महिमा सुरक्षित है, तथापि गीता बुद्धिगम्य नही है, वह हृदय-गम्य है। अत वह श्रद्धालु के लिए नही है। गीताकार ने कहा है —

"जो तपस्वी नही है, जो भक्त नहीं है, जो सुनना नही चाहता और जो मेरा द्वेष करता है, उससे यह (ज्ञान) तू कभी न कहना। १८।६७

"परन्तु यह परमगुह्य ज्ञान जो मेरे भक्तो को देगा, वह मेरी परमभक्ति करने के कारण नि सन्देह मुझे ही पायेगा।

"और जो मनुष्य द्वेषरहित होकर श्रद्धापूर्वक केवल सुनेगा वह भी मुक्त होकर पुण्यवान् जहाँ बसते हैं उस शुभ लोक को पायेगा। १८-७१

— कौसानी, सोमवार, आषाढ कृष्ण द्वितीया, सवत् १९८६। २४।६।१९२९]

- जीवमात्र ईश्वर के अवतार हैं।
- कर्ममात्र मे कुछ दोष तो है ही। मुक्ति तो निर्दोष की ही होती है।
- यह (कर्मफल-त्याग).. हृदय-मन्थन से ही उत्पन्न होता है।
- भक्ति तो सिर का सौदा है।
- माला, तिलक, अर्घ्यादि साधन भले ही भक्त बरते, पर वे भक्ति के लक्षण नहीं हैं।
- भक्ति आसक्त स्त्री-पुरुषो मे सम्भव नहीं।
- ज्ञान प्राप्त करना, भक्त होना ही, आत्म-दर्शन है।
- साधन की पराकाष्ठा जो है, वही मोक्ष है।
- शारीरिक या मानसिक सभी चेष्टाएँ कर्म हैं।
- जो कर्म छोडता है वह गिरता है। कर्म करते हुए भी जो उसका फल छोड देता है वह चढता है।
- फल-त्याग से मतलब है फल के सम्बन्ध मे आसक्ति का अभाव।
- परिणाम की चिन्ता करनेवाले की स्थिति विषमान्ध-जैसी हो जाती है।

- जो धर्म व्यवहार मे न लाया जा सके, वह धर्म नहीं है।
- फलासक्ति के बिना न तो मनुष्य को असत्य बोलने का लालच होता है, न हिंसा करने का।
- कवि के अर्थ का अन्त......नहीं है।
- जैसे मनुष्य का उसी प्रकार महावाक्यों के अर्थ का विकास होता ही रहता है।
- उसमें (गीता में) तो-जपयज्ञ यज्ञों का राजा है।
- गीता एक महान धर्म-काव्य है।
- गीता जन-समाज के लिए है।
- निषिद्ध केवल फलासक्ति है, विहित है अनासक्ति।
- गीता बुद्धिगम्य नहीं है, वह हृदयगम्य है।
- वह (गीता) अश्रद्धालु के लिए नहीं है।

१९. भगवद्गीता अथवा अनासक्तियोग

गीता पढते, विचारते और उसका अनुसरण करते हुए अब मुझे चालीस साल से ज्यादा हो चुके हैं। मित्रो ने यह इच्छा प्रकट की थी कि मै जनता को बताऊ कि मैंने गीता को किस रूप मे समझा है, फलत मैंने अनुवाद[1] शुरू किया। विद्वान की दृष्टि से देखने बैठूं तो अनुवाद करने की मेरी अपनी योग्यता कुछ भी नही ठहरती। हां, आचरण करनेवाले की दृष्टि से ठीक मानी जा सकती है। यह अनुवाद अब छपा है। अनेक गीता के साथ सस्कृत भी होती है। (मैंने) इसमे जान-बूझ कर सस्कृत नही रखी। सस्कृत सब जानें-समझें तो मुझे अच्छा लगे, लेकिन सब सस्कृत कभी जानेंगे नही और सस्कृत के तो अनेक सस्ते सस्करण मिल सकते हैं।. .

मेरा लोभ तो यह है कि प्रत्येक हिन्दी भाषा-भाषी इस गीता को पढे, विचारे और वैसा आचरण करे। इसके विचार का सरल उपाय यह है कि सस्कृत का खयाल किये विना ही इसके अर्थ को समझने का प्रयत्न किया जाय और फिर तदनुसार आचरण किया जाय। उदाहरण के लिए जो यह कहते हैं कि गीता तो अपने-पराये का भेद रखे विना दुष्टो का सहार करने की शिक्षा देती है, उन्हे अपने दुष्ट माता-पिता या अन्य प्रियजनो का सहार शुरू कर देना चाहिए। पर वे ऐसा तो कर नहीं सकते। तो फिर जहाँ सहार की चर्चा आती है, वहाँ उसका कोई दूसरा अर्थ होना

---

१. यह अनुवाद "अनासक्तियोग" नाम से प्रकाशित हुआ है।

सम्भव है, यह वात पाठको को महज ही मूझेगी। अपने-पराये के वीच भेद न रखने की वात तो गीता के पन्ने-पन्ने मे आती है। पर यह कैमे हो मकता है ? यो मोचते-सोचते हम इम निश्चय पर पहुँचेंगे कि अनासक्तिपूर्वक सव काम करना ही गीता की प्रधान ध्वनि है, क्योंकि पहिले ही अध्याय मे अर्जुन के मामने अपने-पराये का झगडा खडा होता है। गीता के प्रत्येक अध्याय मे यह वताया गया है कि ऐसा भेद मिथ्या और हानिकारक है।

गीता को मैंने अनामक्तियोग का नाम दिया है। यह क्या है, कैमे सिद्ध हो सकता है, अनासक्ति के लक्षण क्या हैं, आदि तमाम वातो का जवाव इस पुस्तक मे हैं।

—२२।५।१९३०। गीता-माता, स० सा० म०, सस्करण १९५०]

- सस्कृत सव जानें-समझे तो मुझे अच्छा लगे।
- अनासक्तिपूर्वक सव काम करना ही गीता की प्रधान ध्वनि है।

२०. यज्ञ : व्याख्या—१

हम यज्ञ शब्द का व्यवहार वार-वार करते है इसलिए यज्ञ शब्द पर विचार कर लेना ज़रूरी है। इम लोक मे या परलोक मे कुछ भी वदला लिये या चाहे विना, परार्थ किये हुए किसी भी कर्म को यज्ञ कहे। कर्म कायिक हो या मानसिक, चाहे वाचिक, कर्म का विशाल से विशाल अर्थ लेना चाहिए। परार्थ के लिए का मतलव केवल मनुष्य-वर्ण नही, वल्कि जीवनमात्र लेना चाहिए और अहिंसा की दृष्टि से भी मनुष्य जाति की सेवा के लिए भी, दूसरे जीवो को होमना या उनका नाश करना यज्ञ की गिनती मे नही आ सकता। वेदादि मे अश्व, गाय इत्यादि को होमने की जो वात आती है उसे हमने गलत माना है। वहाँ पशु-हिंसा का अर्थ लें तो सत्य और अहिंसा की तराजू पर ऐसे होम नही चढ सकते, इतने से हमने सन्तोष मान लिया है। जो वचन धर्म के नाम से प्रसिद्ध है उनका ऐतिहासिक अर्थ करने मे हम नही फँसते और वैसे अर्थों के अन्वेषण की अपनी अयोग्यता हम स्वीकार करते हैं। हम उस योग्यता की प्राप्ति का प्रयत्न भी नही करते, क्योकि ऐतिहासिक अर्थ से जीव-हिंसा सगत भी ठहरे तो भी अहिंमा को सर्वोपरि धर्म मानने के कारण हमारे लिए अर्थ को रुचनेवाला आचार त्याज्य है।

उक्त व्याख्या के अनुसार विचारने पर हम देख मकते हैं कि जिस कर्म मे अधिक-से-अधिक जीवो का अधिकाधिक क्षेत्र मे कल्याण हो और जो अधिक-से-अधिक मनुष्य अधिकाधिक सरलता से कर सकें और जिसमे अधिक-से-अधिक सेवा होती हो

वह महायज्ञ या अच्छा यज्ञ है। अत किसी की भी सेवा के निमित्त अन्य किसी का अकल्याण चाहना या करना यज्ञ-कार्य नही है और यज्ञ के अलावा किया हुआ कार्य बन्धनरूप है, यह हमे भगवद्गीता और अनुभव भी सिखाता है।

ऐसे यज्ञ के बिना यह ससार क्षण-भर भी नही टिक सकता। . हम यज्ञ को जन्म से ही साथ लाये हैं। यहाँ तक कि हमे यह शरीर केवल परमार्थ के लिए मिला है और इसलिए जो यज्ञ किये विना खाता है वह चोरी का खाता है, ऐसी सख्त बात गीताकार ने कह डाली। जो शुद्ध जीवन बिताना चाहता है उसके सब काम यज्ञ-रूप होते हैं। हमारे यज्ञ-सहित जन्म लेने का मतलब यह है कि हम हरदम के ऋणी या देनदार है। इसलिए हम ससार के सदा के गुलाम हैं। और जिस प्रकार स्वामी सेवक को सेवा के बदले मे खाना-कपडा आदि देता है उसी प्रकार जगत् का स्वामी हमसे गुलामी लेने के लिए हमे जो अन्न-वस्त्रादि देता है, उसे कृतज्ञतापूर्वक लेना चाहिए। यह न समझना चाहिए कि जो मिलता है उतने का भी हमे हक है, न मिलने पर मालिक को दोष न दें। यह देह उसकी है, वह यदि चाहे तो रखे या न रखे। यह स्थिति दु खद नही है, न दयनीय है। यदि हम अपना स्थान समझ ले तो यह स्वाभाविक है और इसलिए सुखद और चाहने योग्य है। ऐसे परम सुख के अनुभव के लिए अचल श्रद्धा तो अवश्य चाहिए। अपने लिए कोई चिन्ता न करना, सब परमेश्वर को सौप देना—ऐसा आदेश तो मैंने सब धर्मों मे पाया है।

पर इस वचन से किसी को डरना नही चाहिए। मन को स्वच्छ रख कर सेवा का आरम्भ करनेवाले को उसकी आवश्यकता दिन-प्रतिदिन स्पष्ट होती जाती है और वैसे ही उसकी श्रद्धा बढती जाती है। जो स्वार्थ छोडने को तैयार नही, उसके लिए तो सेवा के सब मार्ग कठिन हैं। उसकी सेवा मे स्वार्थ की गन्ध आती ही रहेगी। पर ऐसे स्वार्थी जगत् मे कम ही मिलेंगे। कुछ-न-कुछ नि स्वार्थ सेवा हम सब जाने-अनजाने करते ही रहते हैं। यही चीज विचारपूर्वक करने से हमारी पारमार्थिक सेवा की वृत्ति उत्तरोत्तर बढती रहेगी। उसमे हमारा सुख है और जगत् का कल्याण है।

—मगल प्रभात, २१।१०।१९३० ।गीता-बोध, पृ०, २६-२९।स० सा० मं०, दसवा संस्करण १९५४]

- इस लोक में या परलोक मे कुछ भी बदला लिये या चाहे बिना, परार्थ किये हुए किसी भी कर्म को यज्ञ कहेंगे।
- दूसरे जीवों को होमना या उनका नाश करना यज्ञ की गिनती में नहीं आता।

- यज्ञ के विना यह ससार क्षण-भर भी नहीं टिक सकता।
- हम यज्ञ को जन्म से ही साथ लाये हैं।
- हमे यह शरीर केवल पुरुषार्थ के लिए मिला है।
- अपने लिए कोई चिन्ता न करना, सव परमेश्वर को सौंप देना ऐसा आदेश मैंने सव धर्मो मे पाया है।
- जो स्वार्थ छोड़ने को तैयार नहीं, उसके लिए सेवा के सव मार्ग कठिन हैं।

२१. गीता-द्वारा आत्मनियन्त्रण

[सुश्री मीरा वहिन को लिखे पत्र से]

मेरे खयाल मे मानसिक नियन्त्रण सवसे कठिन है। इसके लिए उत्तम उपाय गीता का अभ्यास है। जव-जव मन को आघात लगता है, तभी अभ्यास मे असफलता रहती है। अच्छी और वुरी खवर दोनो ही तुम्हारे ऊपर से इसी तरह गुजर जानी चाहिए, जैसे वतख की पीठ पर पानी। जव हम कोई समाचार सुने तव हमारा कर्त्तव्य इतना ही पता लगा लेना है कि किसी कार्रवाई की जरूरत है या नही, और अगर है तो परिणाम से प्रभावित या उसके प्रति आसक्त हुए विना प्रकृति के हाथो मे साधन वनकर कर्म करे। अगर हम यह याद रखे कि किसी परिणाम को लाने मे एक से अधिक साधन इस्तेमाल किये जाते हैं, तो इस अनासक्ति की वैज्ञानिक आवश्यकता प्रतीत होती है। यह कहने का साहस कौन करेगा कि मैंने किया है? मैं जानता हूँ यह सव तुम्हे मालूम है। फिर भी मैं इस सत्य को जोर के साथ कहता हूँ, ताकि दिमाग से वह हृदय मे उतर जाय। जवतक वह केवल दिमाग मे रहता है, तवतक वह उस पर निरा वोझ वना रहता है। दिमाग की मानी हुई सचाई को फौरन दिल मे उतार लेना चाहिए। जव ऐसा नही होता है तव वह वेकार जाती है और फिर वह जहरीली मवाद वनकर दिमाग मे पड़ी रहती है। जो चीज दिमाग को जहरीला वनाती है, वह सारे शरीर को जहरीला कर देती है। इसलिए दिमाग को इस तरह इस्तेमाल करने की जरूरत है, मानो वह केवल डाक्टर है। जो उसमे आता है, वह या तो फौरन कार्रवाई के लिए दिल के लिए सुपुर्द कर दिया जाता है, या वहाँ भेजने के लिए अयोग्य समझा जाकर उसी वक्त फेंक दियाजाता है।

— १३।१२।१९३०। वापू के पत्र मीरा के नाम, न०जी०प्र०म०]

२२. धर्म-ग्रन्थों का पारायण

[श्री सन्तराम महाराज की आज्ञा से सन्तराम मन्दिर मे देश की शान्ति-हेतु गीता-रामायण आदि के पारायण शुरू किये गये थे। इस प्रसंग में लिखे गये गाधी जी के पत्र से।—सम्पा०]

इस बारे मे दो मत हो ही नही सकते कि ब्राह्मण पण्डित, सन्त पुरुष हो और लोगो मे उपनिषदादि का प्रचार करें तो अच्छा है। विद्वत्ता और साधुता का मेल आजकल कम पाया जाता है। इसलिए ऐसी प्रवृत्तियो के बारे मे उदासीनता जरूर रहती है।

गीता-रामायण के पूरे पारायण के बारे मे ऊपर की-जैसी या उससे तनिक ज्यादा उदासीनता रहती है। अर्थ समझे बिना या अर्थ समझते हुए भी केवल उच्चारण के लिए—यह मानकर कि मानो उच्चारण मे ही पुण्य हो—या आडम्बर या कीर्ति के लिए जो लोग पाठ करते हैं, उनके पारायण का मेरी नजर मे कोई मूल्य नही। इतना ही नही, बल्कि मैं यह जानता हू कि इससे नुकसान होता है। अगर ऊपर के दोषो को दूर रखने के उपाय महाराज खोज सके हो और उसके अनुसार पारायण करा रहे हो, तो इसमे शक नही कि उससे भला होगा।

—८।४।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ८०-८१]

● **विद्वत्ता और साधुता का मेल आजकल कम पाया जाता है।**

२३. गीता की शिक्षा

गीता ने एक तरफ तो हमे जीवन का आदर्श बताया है और दूसरी तरफ यह बताया है कि उस आदर्श की तरफ जाते हुए जीवन किस प्रकार बिताया जाय ? एक वाक्य मे वह यो है—आदर्श को ध्यान मे रखते हुए जो कर्त्तव्य सामने आये, उसे पूरा करते चले जाय और फल की इच्छा न रखें।

—८।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १४१]

२४. गीता का पाठ

['गीता रोज पढ़ने से नीरस लगती हैं'—ऐसी शिकायत करनेवालो को उत्तर।—सम्पा०]

गीता को रोज पढना नीरस इसलिए लगता है कि उसका मनन नही होता। उसे यह समझ कर पढ़े कि वह हमे रोज रास्ता बतानेवाली माता है, तो वह नीरस

नही लगेगी। हर रोज पाठ के बाद एक मिनट तक उस पर विचार कर लिया करे, तो रोज कुछ न कुछ नई बात मिलेगी। सिर्फ सम्पूर्ण मनुष्य को ही उससे कुछ नहीं मिलेगा। मगर जो यह समझ कर रोज पढता है कि जिसके हाथो नित्य कोई-न-कोई दोष हो जाता है, उसका उद्धार करनेवाली यह गीता माता है, वह नित्य के वाचन से नही थकेगा।

—१६।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १५३-१५४]

२५. गीता का ध्यान

कल्पना का चित्र कुछ भी खीचा हो और उसका ध्यान किया हो तो इसमे दोष नही देखता। लेकिन गीतामाता के ध्यान से सन्तोष होता हो तो और क्या चाहिए? गीता का ध्यान दो तरह से हो सकता है—एक तो उसे माता के रूप मे माना है। इसलिए सामने माता की तस्वीर की जरूरत रहती हो तो या तो अपनी मा मे ही, यदि वह मर गई हो तो, कामधेनु का आरोपण करके गीता के रूप से मानकर उसका ध्यान करना चाहिए, या कोई भी काल्पनिक चित्र मन मे खीच लिया जाय। उसे गोमाता का रूप दिया हो तो भी काम चल सकता है। दूसरी प्रकार हो सके, तो इसे मै ज्यादा अच्छा समझता हूँ। हम हमेशा जो अध्याय बोलते हो, उसमे से या किसी भी अध्याय के किसी भी श्लोक या किसी शब्द का ध्यान करना ही उसका चिन्तन करना है। गीता मे जितने शब्द हैं, वही उसके आभूषण है और प्रियजनो के आभूषणो का ध्यान करना भी उन्ही का ध्यान धरने के बराबर है। यही बात गीता की है। लेकिन इसके सिवा किसी को और कोई ढग मिल जाय तो भले ही वह उस ढग से ध्यान धरे। जितने दिमाग उतनी ही विविधता होती है। कोई दो व्यक्ति एक ही तरीके से एक ही चीज का ध्यान नही करते। दोनो के वर्णन और कल्पना मे कुछ-न कुछ अन्तर तो रहेगा ही।

छठे अध्याय के अनुसार तनिक-सी भी की हुई साधना बेकार नही जाती और जहा से रुक गई हो वहा से दूसरे जन्म मे आगे चलती है। इसी तरह जिसमे कल्याण-मार्ग की ओर मुडने की इच्छा तो अवश्य हो पर अमल करने की ताकत न हो, उसे ऐसा मौका जरूर मिलेगा, जिससे दूसरे जन्म मे उसकी यह इच्छा दृढ हो। इस बारे मे मन मे कोई शका नही है। पर इसका यह अर्थ न किया जाय कि तब तो हम इस जन्म मे शिथिल रहे, तो भी काम चलेगा। ऐसी इच्छा इच्छा नही है, या वह बौद्धिक है, पर हार्दिक नही है। बौद्धिक इच्छा के लिए कोई स्थान ही नही है। वह मरने के बाद नही रहती, पर जो इच्छा हृदय मे बैठ जाती है उसके पीछे प्रयत्न

तो होना ही चाहिए। कई कारणों से और शरीर की निर्बलता से सम्भव है कि वह इच्छा इस जन्म मे पूरी न हो। और इस तरह का अनुभव हमे रोज होता है। पर इस इच्छा को लेकर जीव देह को छोडता है और दूसरे जन्म मे इस जन्म की उपाधियां कम होकर यह इच्छा फलती है या ज्यादा मजबूत तो होती ही है। इस तरह कल्याणकृत लगातार आगे ही बढता रहता है।

ज्ञानेश्वर महाराज ने निवृत्तिनाथ के जीते हुए उनका ध्यान धरा हो तो भले ही धरा हो, लेकिन इतना होने पर भी मेरी पक्की राय है कि वह हमारे नकल करने लायक नही है। जिसका ध्यान करना है उसे पूर्णताप्राप्त व्यक्ति होना चाहिए। जीवित व्यक्ति के लिए इस तरह का खयाल करना बिल्कुल बेजा और गैरजरूरी है। किन्तु यह हो सकता है कि ज्ञानेश्वर महाराज ने शरीरधारी निवृत्तिनाथ का ध्यान किया हो। मगर हम इस झगडे मे क्यो पडें? और जब जीवित मूर्ति का ध्यान करने का सवाल उठता है तब कल्पना की मूर्त्ति की गुंजाइश नही रहती। और इसका उल्लेख करके जवाब दिया हो तो इस जवाब से बुद्धिभ्रंश होना सम्भव है।

पहिले अध्याय मे जो नाम दिये गये है, वे सब नाम, मेरी राय मे, व्यक्तिवाचक होने के बजाय गुणवाचक ज्यादा है। दैवी और आसुरी वृत्तियो के मध्य लडाई का वर्णन करते हुए कवि ने वृत्तियो को मूर्तिमान बनाया है। इस कल्पना मे इस बात से इन्कार नही किया गया है कि पाण्डवो और करवो के बीच हस्तिनापुर के पास सचमुच युद्ध हुआ होगा। मेरी ऐसी कल्पना है कि उस युग का दृष्टान्त लेकर कवि ने इस महान् ग्रन्थ की रचना की है। इसमे भूल हो सकती है, या ये सब नाम ऐतिहासिक हो तो ऐतिहासिक आरम्भ करने के लिए इन्हे देना अनुचित भी नही माना जा सकता। विषय-विचार के लिए पहिला अध्याय जरूरी है, इसलिए गीता-पाठ के समय उसे पढ लेना भी जरूरी है।

—१८।६।१९३२। महादेव भाईनी डायरी, पहिला भाग, पृ० २२३]

- गीता में जितने शब्द है, उतने ही उसके आभूषण हैं।
- तनिक-सी भी की हुई साधना बेकार नहीं जाती।
- कल्याणकृत लगातार आगे ही बढता रहता है।
- जिसका ध्यान करना है उसे पूर्णताप्राप्त व्यक्ति होना चाहिए।

२६. धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन

[एक ऐसे व्यक्ति को लिखे गये पत्र का अंश, जिन्हे बहुत-सी धार्मिक पुस्तकें पढ़ने और बहुत अधिक विचार करने की आदत थी।—सम्पा०]

तुम्हे आश्चर्य होगा कि अभी तो पढने मे रायचन्द[1] भाई और गीता जी को भी छोडने की मेरी सिफारिश है। प्रार्थना के समय जितनी गीता जी और भजन आये, उन्हे ही समझ कर मनन करना चाहिए। यह सयम कठिन है, मगर तुम उसका चमत्कारी असर देखोगे। अभी तो तुम्हारा पढना ही तुम्हारा काम मालूम होता है। फुरसत हो तब जो उपयोगी काम पसन्द हो ले लेना, तर्क सब छोड देना। 'मेरे लिए एक कदम काफी हे' का यही अर्थ हे। जो साधन बन्धन बन जाय उसे छोड देना।

—१९।६।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० २२९]

२७. गीता कण्ठ करें

गीता को कण्ठ करने के विषय मे मैं बहुत वार लिख चुका हू, कह चुका हू। मेरे अपने किये यह न हो सका, इसलिए यह कहना मुझे शोभा नही देता। फिर भी इस बात को बार-बार कहते मुझे शर्म नही मालूम होती, इसलिए कि उसका लाभ मै समझता हू। मेरी गाडी ज्यो-त्यो चल गई है क्योकि एक बार तो मै तेरहवें अध्यय कत कण्ठ कर गया था और गीता का मनन तो वर्षों से चल रहा हे। इसलिए यह मान लिया जा सकता है कि उसकी छाया के नीचे मेरा कुछ निर्वाह हो गया, पर मै उसे कण्ठ कर सका होता, अब भी उसमे अधिक गहराई मे पैठ सका होता तो सम्भव है मैंने बहुत अधिक पाया होता, पर मेरा चाहे जो हुआ हो और हो मेरा समय बीता हुआ माना जा सकता है या मानना चाहिए। यद्यपि मुझे सहज ही इसका सुयोग मिल जाय तो गीता कण्ठ करने का प्रयत्न आरम्भ कर दू।

यहा गीता का अर्थ थोडा विस्तृत करना चाहिए। गीता, अर्थात् हमारा आधाररूप ग्रन्थ। हममे से बहुतो का आधार गीता है, इसलिए मैने गीता का नाम लिया है। पर अमतुल[2] प्रार्थना या कुरेशी गीता के बदले कुरान शरीफ—पूरा या उसका कोई भाग कण्ठ कर सकते है। जिन्हे सस्कृत न आती हो, जो अब उसे सीख न सकते हो, वे गुजराती या हिन्दी मे कण्ठ करे। जिन्हे गीता पर आस्था न हो और दूसरे किसी धर्म-ग्रन्थ पर हो, वे उसे कण्ठ करे।

और कण्ठ करने का अर्थ भी समझ लीजिए। जिस चीज को हम कण्ठ करे, उसके आदेशानुसार आचरण करने का हमारा आग्रह होना चाहिए। वह मूल सिद्धान्तो का घातक न होना चाहिए। उसका अर्थ हम समझ चुके हो।

---

१ श्रीमद् राजचन्द्र

२ बीबी अमतुस्सलाम—गाधी जी की एक प्रमुख शिष्या

तो होना ही चाहिए। कई कारणो से और शरीर की निर्बलता से सम्भव है कि यह इच्छा इस जन्म मे पूरी न हो। और इस तरह का अनुभव हमे रोज होता है। पर इस इच्छा को लेकर जीव देह को छोडता है और दूसरे जन्म मे इस जन्म की उपाधिया कम होकर यह इच्छा फलती है या ज्यादा मजबूत तो होती ही है। इस तरह कल्याणकृत लगातार आगे ही बढता रहता है।

ज्ञानेश्वर महाराज ने निवृत्तिनाथ के जीते हुए उनका ध्यान धरा हो तो भले ही धरा हो, लेकिन इतना होने पर भी मेरी पक्की राय है कि वह हमारे नकल करने लायक नही है। जिसका ध्यान करना है उसे पूर्णताप्राप्त व्यक्ति होना चाहिए। जीवित व्यक्ति के लिए इस तरह का खयाल करना बिल्कुल बेजा और गैरजरूरी है। किन्तु यह हो सकता है कि ज्ञानेश्वर महाराज ने शरीरधारी निवृत्तिनाथ का ध्यान किया हो। मगर हम इस झगडे मे क्यो पडें ? और जब जीवित मूर्ति का ध्यान करने का सवाल उठता है तब कल्पना की मूर्त्ति की गुजाइश नही रहती। और इसका उल्लेख करके जवाब दिया हो तो इस जवाब से बुद्धिभ्रश होना सम्भव है।

पहिले अध्याय मे जो नाम दिये गये है, वे सब नाम, मेरी राय मे, व्यक्तिवाचक होने के बजाय गुणवाचक ज्यादा हैं। दैवी और आसुरी वृत्तियो के मध्य लडाई का वर्णन करते हुए कवि ने वृत्तियो को मूर्त्तिमान बनाया है। इस कल्पना मे इस बात से इन्कार नही किया गया है कि पाण्डवो और करवो के बीच हस्तिनापुर के पास सचमुच युद्ध हुआ होगा। मेरी ऐसी कल्पना है कि उस युग का दृष्टान्त लेकर कवि ने इस महान् ग्रन्थ की रचना की है। इसमे भूल हो सकती है, या ये सब नाम ऐतिहासिक हो तो ऐतिहासिक आरम्भ करने के लिए इन्हे देना अनुचित भी नही माना जा सकता। विषय-विचार के लिए पहिला अध्याय जरूरी है, इसलिए गीता-पाठ के समय उसे पढ लेना भी जरूरी है।

—१८।६।१९३२। महादेव भाईनी डायरी, पहिला भाग, पृ० २२३]

- गीता मे जितने शब्द हैं, उतने ही उसके आभूषण हैं।
- तनिक-सी भी की हुई साधना बेकार नहीं जाती।
- कल्याणकृत लगातार आगे ही बढता रहता है।
- जिसका ध्यान करना है उसे पूर्णताप्राप्त व्यक्ति होना चाहिए।

२६. धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन

[एक ऐसे व्यक्ति को लिखे गये पत्र का अश, जिन्हे बहुत-सी धार्मिक पुस्तकें पढने और बहुत अधिक विचार करने की आदत थी।—सम्पा०]

तुम्हे आश्चर्य होगा कि अभी तो पढने मे रायचन्द[1] भाई और गीता जी को भी छोडने की मेरी सिफारिश है। प्रार्थना के समय जितनी गीता जी और भजन आये, उन्हे ही समझ कर मनन करना चाहिए। यह सयम कठिन हे, मगर तुम उमका चमत्कारी असर देखोगे। अभी तो तुम्हारा पढना ही तुम्हारा काम मालूम होता है। फुरसत हो तब जो उपयोगी काम पमन्द हो ले लेना, तर्क सब छोड देना। 'मेरे लिए एक कदम काफी है' का यही अर्थ हे। जो साधन बन्धन बन जाय उसे छोड देना।

—१९।६।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० २२९]

२७. गीता कण्ठ करें

गीता को कण्ठ करने के विषय मे मैं बहुत बार लिख चुका हू, कह चुका हू। मेरे अपने किये यह न हो सका, इसलिए यह कहना मुझे शोभा नही देता। फिर भी इस बात को बार-बार कहते मुझे शर्म नही मालूम होती, इसलिए कि उसका लाभ मैं समझता हू। मेरी गाडी ज्यो-त्यो चल गई है क्योकि एक बार तो मैं तेरहवें अधायय कत कण्ठ कर गया था और गीता का मनन तो वर्षों से चल रहा है। इसलिए यह मान लिया जा सकता हे कि उसकी छाया के नीचे मेरा कुछ निर्वाह हो गया, पर मैं उसे कण्ठ कर सका होता, अब भी उसमे अधिक गहराई मे पैठ सका होता तो सम्भव है मैंने बहुत अधिक पाया होता, पर मेरा चाहे जो हुआ हो और हो मेरा समय वीता हुआ माना जा सकता है या मानना चाहिए। यद्यपि मुझे सहज ही इमका सुयोग मिल जाय तो गीता कण्ठ करने का प्रयत्न आरम्भ कर दू।

यहा गीता का अर्थ थोडा विस्तृत करना चाहिए। गीता, अर्थात् हमारा आधाररूप ग्रन्थ। हममे से बहुतो का आधार गीता है, इसलिए मैंने गीता का नाम लिया है। पर अमतुल[2] प्रार्थना या कुरेशी गीता के बदले कुरान शरीफ—पूरा या उसका कोई भाग कण्ठ कर सकते है। जिन्हे सस्कृत न आती हो, जो अब उसे सीख न सकते हो, वे गुजराती या हिन्दी मे कण्ठ करे। जिन्हे गीना पर आस्था न हो और दूसरे किसी धर्म-ग्रन्थ पर हो, वे उमे कण्ठ करे।

और कण्ठ करने का अर्थ भी समझ लीजिए। जिम चीज को हम कण्ठ करे, उसके आदेशानुमार आचरण करने का हमारा आग्रह होना चाहिए। वह मूल सिद्धान्तो का घातक न होना चाहिए। उमका अर्थ हम ममझ चुके हो।

---

१ श्रीमद् राजचन्द्र

२ बीबी अमतुस्सलाम—गाधी जी की एक प्रमुख शिष्या

इसका फल है। हमारे पास ग्रन्थ न हो, चोरी हो जाय, जल जाय, हमे भूल जाय, हमारी आँख चली जाय, हम वाक्शक्ति से रहित हो जाय, पर समझ बनी हो—ऐसे और भी दैवयोग सोचे जा सकते हैं—उस समय अगर अपना प्रिय आधाररूप ग्रन्थ कण्ठ हो तो वह हमारे लिए बडी शान्ति देनेवाला हो जायगा और मार्गदर्शक होगा, सकट का साथी होगा।

दुनिया का अनुभव भी यही है। हमारे पूर्वज हिन्दू, मुसलमान, ईसाई पारसी—कुछ विशेष पाठ कण्ठ किया करते थे। आज भी बहुतेरे करते हैं। इन सब के अमूल्य अनुभव को हम फेक न दे। इसमे कुछ अशो मे हमारी श्रद्धा की परीक्षा है।

— ३१।७।१९३२। आश्रमवासियों से]

● गीता अर्थात् हमारा आधाररूप ग्रन्थ।

२८. जीवमात्र का साम्य

प्राणिमात्र एक रूप है। सब ईश्वर से पैदा हुए है और उसी मे विलीन हो जाने वाले है। भगवती गीतामाता के सिखाये हुए सनातन धर्म के अनुसार जीवन की सफलता बाह्य आचार और कर्मकाण्ड मे नही, परन्तु सम्पूर्ण चित्तशुद्धि मे, शरीर मन और आत्मा सहित समस्त व्यक्तित्व को परब्रह्म के साथ एकाकार कर देने मे है। गीता के इस सन्देश को अपने जीवन मे ओतप्रोत करके मैं करोडो के जनसमह के पास गया हू। मुझे विश्वास है कि उन्होने मेरी बात सुनी है, तो वह मेरे किसी राजनीतिक सयानेपन के कारण या मेरी भाषा की छटा के कारण नही, बल्कि मुझे हृदय से अपना और अपने धर्म का आदमी मान कर सुनी है। समय बीतने के साथ-साथ मेरी यह श्रद्धा अधिकाधिक दृढ होती गई है कि मैं सनातनधर्मी होने का दावा करू तो वह गलत नही है, और ईश्वर की इच्छा होगी, तो वह मुझे इस दावे पर अपनी मृत्यु की मुहर लगाने देगा।

—४।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, (परिशिष्ट) पृ० ३८१]

२९. गीता

गीता हमे चित्त की समता बनाये रखना सिखाती है।

— ६।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १५०]

३०. गीता-माता

[सुश्री नर्मदा भुस्कुटे को लिखे पत्र से]

गीतामाता की प्रतिज्ञा है कि जो ईश्वर के भक्त है उनको भगवान साधन दे देगा।

— १५।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १२०]

३१. गीता का मनन

[श्री रामदास को लिखे पत्र से]

मनन से तेरे निश्चय को जरूर बल मिलता रहेगा। गीता को छान डाले और उसके मूल शब्दो का विचार करते रहे, तो उससे भी बहुत आवश्यक बल मिलता है। मुझे तो ऐसा ही होता है।

— २६।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १५०]

३२. गीता और ईशोपनिषद्

.गीता मे बार-बार एक ही बातकही गई है—अनासक्ति, जब कि ईशोपनिषद् मे तो एक-एक श्लोक मे नई-नई बाते भरी हैं। ईश[1] के 'तेन त्यक्तेन भुजीथा' मे गीता का सारा उपदेश आ जाता है। परन्तु दूसरे सब श्लोको मे से हर एक मे नई चीजे भरी हैं क्योकि वे सब मन्त्र है, जब कि गीता के हर श्लोक मे नई चीज नही भरी हुई है।

— २।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १६५]

३३. गीता पर आस्था

फिर एक 'विशालबुद्धि' पुरुष—गीता का प्रणेता उत्पन्न हुआ। उसने हिन्दू-समाज को गहरे तत्वज्ञान से भरा और साथ ही हिन्दू-धर्म का ऐसा दोहन अर्पित किया जो मुग्ध जिज्ञासु को सहज ही समझ मे आ सकता है। हिन्दू-धर्म का अध्ययन करने की इच्छा रखनेवाले प्रत्येक हिन्दू के लिए यह एकमात्र सुलभ ग्रन्थ है और यदि अन्य सभी धर्मशास्त्र जल कर भस्म हो जाय तब भी इस अमर ग्रन्थ के सात सौ

---

१ ईशोपनिषद्।

श्लोक यह बताने के लिए पर्याप्त होगे कि हिन्दू धर्म क्या है और उसे जीवन मे किस प्रकार उतारा जाय ? मै सनातनी होने का दावा करता हूँ, क्योकि मै चालीस वर्षो से उस ग्रन्थ के उपदेशो को जीवन मे अक्षरश उतारने का प्रयत्न करता आया हूँ। गीता के मुख्य सिद्धान्त के विपरीत जो कुछ भी हो, उसे मै हिन्दू धर्म का विरोधी मान कर अस्वीकार करता हूँ। गीता मे किसी भी धर्म या धर्म-गुरु के प्रति द्वेष नही। मुझे यह कहते हुए बडा आनन्द होता है कि मैने गीता के प्रति जितना पूज्यभाव रखा है, उतने ही पूज्यभाव से मैने बाइबिल, कुरान, जेन्दअवेस्ता और ससार के अन्य धर्म-ग्रन्थ पढे है। इस वाचन ने गीता के प्रति मेरी श्रद्धा को दृढ बनाया है। उससे मेरी दृष्टि और मेरा हिन्दू-धर्म विशाल हुआ है। जैसे कि जरथुस्त्र, ईसा और मुहम्मद के जीवनचरित को मैने समझा है, वैसे ही गीता के बहुत-से वचनो पर मैने प्रकाश डाला है।

मै अपने को हिन्दू कहने मे गौरव मानता हूँ, क्योकि मेरे मन मे यह शब्द इतना विशाल है कि पृथिवी के चारो कोनो के पैगम्बरो के प्रति यह केवल सहिष्णुता ही नही रखता, वर उन्हे आत्मसात् कर लेता है। इस जीवन-सहिता मे कही भी अस्पृश्यता को स्थान हो, ऐसा मै नही देखता। इसके विपरीत लौह-चुम्बक के समान चित्ताकर्षक वाणी मे मेरी बुद्धि को स्पर्श करके और इसके भी आगे मेरे हृदय को पूर्णतया स्पर्श करके मेरे मन मे यह आस्था उत्पन्न करती है कि भूतमात्र एकरूप है, वे सभी ईश्वर से आविर्भूत है और उसी मे विलीन हो जायगे। भगवती गीता माता-द्वारा उपदिष्ट सनातन धर्म के अनुसार जीवन का साफल्य वाह्य आचार और कर्मकाण्ड मे नही वर सम्पूर्ण चित्तशुद्धि मे और शरीर, मन तथा आत्मा-सहित समग्र व्यक्तित्व को परब्रह्म के साथ एकाकार कर देने मे है। गीता के इस सन्देश को अपने जीवन मे ओतप्रोत करके मै करोडो की मानवमेदिनी के पास गया हूँ और उन्होने मेरी बाते सुनी है, सो मेरी राजनीतिज्ञता के कारण अथवा मेरी वाणी की छटा के कारण नही, वल्कि मेरा विश्वास है कि मुझे अपना, अपने धर्म का मान कर सुनी है। समय के साथ-साथ मेरी यह श्रद्धा अधिकाधिक दृढ होती गई है कि मै सनातनधर्मी होने का दावा करू, यह चीज़ गलत नही और यदि ईश्वर की इच्छा होगी तो वह मुझे मेरे इस दावे पर मेरी मृत्यु की मुहर लगा लेने देगा।

—४।११।१९३२। महादेव भाईनी डायरी, भाग २ पृष्ठ ४३५]

- मैं सनातनी होने का दावा करता हूँ।
- गीता मे किसी धर्म या गुरु के प्रति द्वेष नहीं।
- मैं अपने को हिन्दू कहने में गौरव मानता हूँ।

o भूतमात्र एकरूप है, वे सभी ईश्वर से आविर्भूत हैं और उसी मे विलीन हो जायगे।

३४. गीता का अन्तिम श्लोक

[श्री रामदास को लिखे पत्र से]

अठारहवे अध्याय का आखिरी श्लोक गीता के अध्ययन का और उस पर ध्यानपूर्वक किये गये आचरण का फल है, यानी जहाँ श्रीकृष्ण हैं अर्थात् शुद्ध ज्ञान है और जहाँ अर्जुन हैं यानी ज्ञानपूर्वक कर्म है, वहाँ सब कुछ है। इन श्लोको का मनन करने से तू देख सकेगा कि किसी भी तरह की चिन्ता करने की सख्त मनाही है। गीता का अभ्यास करने वाला कोई चिन्ता कर ही नही सकता। ऐसी आज्ञा है कि सब कुछ ईश्वर के अर्पण कर दो। सब कुछ यानी किसी भी अपवाद के विना। और इस तरह जो सर्वार्पण करेगा, वह फिर चिन्ता की गठरी का भार क्यो उठाये ?

—७।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १७९-१८०]

३५ गीता का विरोधी शास्त्र नही

गीता के मुख्य सिद्धान्त से असगत कोई बात चाहे जहा भी लिखी हो, मेरा मन उसे शास्त्र नही मानता। मेरे रूढिग्रस्त मित्रो को आघात न लगे तो मैं अपना अर्थ और अधिक स्पष्ट करना चाहता हूँ। सदाचार के विश्वमान्य मूलतत्वो मे असगत किसी भी चीज को मैं शास्त्र-प्रामाण्य मे नही मानता। शास्त्रो का उद्देश्य इन मूलतत्वो को उखाड फेंकना नही, वर इन्हे टिकाये रखना है। और गीता मेरे लिए सम्पूर्ण है, इसका कारण यह है कि वह इन मूलतत्वो का समर्थन करती है। इतना ही नही, वल्कि वह किसी भी मूल्य पर इनसे चिपके रहने के लिए अचूक कारण बताती है।

—१७।११।१९३२। 'महादेव भाईनी डायरी' भाग २, पृ० ४६०]

o सदाचार के विश्वमान्य मूलतत्वो से असगत किसी भी चीज को मै शास्त्र-प्रामाण्य मे नहीं मानता।

३६. गीता-सम्मत आचार

[एक सिन्धी डाक्टर को लिखे पत्र से]

गीता का अर्थ करने मे हमारे बीच मतभेद है। लड्डू पूरा-का-पूरा रहे और खा भी ले, ये दोनो बातें नही हो सकती। लेकिन गीता की बात जाने दीजिए।

अगर आपको लोगो के भले के लिए नही, परन्तु अपनी कमाई के लिए अपने इलाज गुप्त रखने पडे, तो इसमे कुछ ईश्वरार्पण नही है और न अपने को शून्य बनाने की ही बात है। भगियो को ही लीजिए। समाज के लिए वे गन्दा काम करके अपनी रोजी कमाते है। आपको अगर शून्य बन जाना है, तो स्वेच्छा से और आनन्दपूर्वक जिस प्रकार का काम भगी करता है,उसी तरह का काम आपको भी करना चाहिए और साथ ही साथ अपनी डाक्टरी के ज्ञान का लाभ गरीबो और रोगियो को मुफ्त देना चाहिए। इस बात को अव्यावहारिक मत मानना। कितने ही लोगो ने सफलतापूर्वक ऐसा किया है।

—२९।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २४३]

३७. गीता

गीता के पास मै नही गया, परन्तु गीता ही मेरे पास आ पहुँची। गीता मेरे लिए स्वतन्त्र आधार है, और अनेक टीकाओ की झझट से बचने के लिए मैने अपनी श्रद्धा, बुद्धि और भक्ति का आश्रय लिया।

—६।१२।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २६२]

३८. महाभारत

महाभारत तो मनुष्य-जाति का सनातन इतिहास है। वह तो रत्नो की खान है। खान मे तो रत्नो के साथ पत्थर भी मिलते है।

—२९।१२।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० ३२८]

३९. शास्त्र का प्रमाण

[पण्डित गिरिधर शास्त्री को लिखे पत्र से]

मै शास्त्र को प्रमाण मानता हूँ। ग्रन्थो की गिनती तो मुझे कोई देता नही है, न दे सकते है, ऐसा अब तक तो प्रतीत हुआ है। इस कारण मैने गीतामाता की शरण ली है। मै जो करता हूँ उसमे विनय रखने की मेरी चेष्टा है। परन्तु अपने विनय को सत्य का विरोधी न होने देने का भी मै बहुत प्रयत्न करता हूँ।

—९।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० २९]

४०. कामधेनु गीता

मैं गीता-माता के सन्देश को हृदय में धारण करूंगा। वह विलक्षण माता है। मेरा ख्याल है, तुम जानती हो कि वह माता कहलाती है। गीता का अर्थ है गेय। वह शब्द विशेषण के रूप में उपनिषद के साथ प्रयुक्त होता है, जो स्त्रीलिंग है। गीता कामधेनु की भांति है, जो सम्पूर्ण इच्छाओं की पूर्ति करती है। इसलिए वह माता कहलाती है। अपने आध्यात्मिक जीवन को कायम रखने के लिए हमें जितने दूध की आवश्यकता है उसके लिए अगर हम याचक दुधमुंहे बच्चे की तरह मांग करें तो वह अमर माता हमें सम्पूर्ण दूध दे देती है। उसमें अपने लाखों बच्चों को अपने अजस्र थनों से दूध देने की क्षमता है।
——२४।२।१९३३। 'बापूज लेटर्स टू मीरा']

- वह (गीता) विलक्षण माता है।
- गीता कामधेनु की भांति है, जो सम्पूर्ण इच्छाओं की पूर्ति करती है।

४१. हिन्दू-धर्मग्रन्थों का प्रमाण

मैं वेद, उपनिषद्, स्मृतियों और पुराणों को मानता हूँ। पर मैं गीता को शास्त्र-ज्ञान की कुंजी मानता हूँ। गीता में हमें यह बात मिलती है कि हमारे जीवन या आचरण की रचना किन तत्वों के आधार पर होनी चाहिए? गीता में समस्त शास्त्रों का सार आ जाता है। इसलिए प्राकृत मनुष्यों को गीता के बाद किसी अन्य ग्रन्थ को देखने की आवश्यकता नहीं रह जाती। पर मैं तो इससे भी एक कदम आगे बढ जाता हूँ। वेदों के नाम से जो चार ग्रन्थ प्रसिद्ध है, वही वेद नहीं है। इन ग्रन्थों में मूल वेद का अवशेष ही रह गया है। जो सत्य अविनश्वर है, नित्य है, सनातन है—वह इन छपे हुए ग्रन्थों में क्यों गड़ा या सीमित रहेगा? इसलिए मेरा विश्वास है कि वेद अनिर्वचनीय है और ग्रन्थमात्र से परे है। वेद का वास मनुष्य के हृदय में है। हमारे शास्त्रों ने बताया है कि हृदय में इस सत्य वेद का स्फुरण होने के लिए किस प्रकार की साधना और कैसा अभ्यास करना चाहिए। अतः मनुष्य के मौलिक अनुभव को इसके लिए प्रमाणरूप समझना चाहिए। ग्रन्थों की सहायता मनुष्य को मिलती है, पर इन ग्रन्थों का भी अर्थ करना पड़ता है और जब एक ही वचन के भिन्न-भिन्न अर्थ किये जाते हों, तब सत्य-शोधक को स्वयं ही अन्तिम निर्णय करना पड़ता है।
——ह० से०, २९।१२।१९३३]

- मै गीता को ज्ञान की कुजी मानता हूँ।
- गीता मे समस्त शास्त्रो का सार आ जाता है।
- वेद अनिर्वचनीय है और ग्रन्थ-मात्र से परे है।
- वेद का वास मनुष्य के हृदय मे है।
- सत्य-शोधक को स्वयं ही अन्तिम निर्णय करना पडता है।

४२. वेद यों पढ़ें !

आप वेद और उपनिषदो को नम्रतापूर्वक यथार्थ रीति से पढे और उन उत्कृष्ट शास्त्रो का अर्थ लगाते समय अपनी प्रज्ञा की हत्या न करे, अपने रूढिगत विचारो की ओट न ले।

—त्रिवाकुर। २०।१।१९३४। ह० से० २।२।१९३४]

४३. मनुस्मृति

मैं मनुस्मृति को शास्त्रो का एक अश मानता हूँ। परन्तु इसका यह अर्थ नही कि मैं मनुस्मृति के छपे हुए प्रत्येक श्लोक को प्रामाणिक समझता हूँ। मुद्रित मनुस्मृति मे परस्पर-विरोधी इतनी वाते हैं कि यदि उसका एक अश स्वीकार किया जाय तो अन्य अश जो उससे सगति नही रखते, अवश्य ही अस्वीकृत करने पडेगे। मनुस्मृति के उच्च विचारो के कारण मैं उसे एक धार्मिक ग्रन्थ मानता हूँ।
इस बात का कोई भी प्रमाण नही है कि मनु नामक ऋषि कभी हुए भी हैं। किसी न किसी तरह महान् सत् सिद्धान्तो के रचयिताओ या प्रकाशको को हिन्दू धर्म की प्रतिभा ने कुछ घिस-सा डाला है।

—ह० ज०। ह० से०, ६।४।१९३४]

४४. परिणाम-चिन्तन

गीता का अध्ययन करना और परिणाम का विचार करना, ये दोनो बाते कैसे हो सकती हैं? परिणाम जो होना हो सो हो। अच्छा दीखनेवाला बुरा हो सकता है और बुरा दीखनेवाला अच्छा हो सकता है। तब कैसे जाने? 'विपदा नैव विपद' भी रोज गाते है।

—जोरहाट, आसाम, १८।४।१९३४। बापू के पत्र : सरदार वल्लभभाई के नाम, पृ० ९०, न० जी० प्र० मं०]

४५. मृत्यु-विजय : उपनिषद्-सन्देश

जबतक मृत्यु अजित है, तबतक मनुष्य जो कुछ करता है, सब बेकार है। इसीलिए ईशोपनिषद् का पहिला मन्त्र लिखा गया। वह ध्यान मे है न ? शायद आपको याद होगा कि मै यह उपनिषद् वहा रटता और रोज पढता था। (आपके पास) न हो और चाहे तो भेज दूगा। उसमे कुल अठारह मन्त्र है। इनने मे ही सारा ज्ञान भर दिया गया है। इसमे और गीता मे भेद नही है। जो इसमे बीजरूप मे है, वह गीता मे सुन्दर वृक्ष के रूप मे दिया गया है।

— चम्पीपुरहाट, उत्कल, २२।५।१९३४। 'बापू के पत्र सरदार वल्लभभाई के नाम, पृ० ९९, न० जी० प्र० म०]

४६. गीता पर उपदेश

[गाधी जी ने हिन्दू विश्वविद्यालय की सभा मे भाषण करते हुए आचार्य आनन्दशकर बापूभाई ध्रुव के अनुरोध पर गीता के सम्बन्ध मे उपदेश किया था। इसके आवश्यक अश सकलित किये जा रहे है।—सपा०]

मेरे-जैसे व्यक्ति पर गीता-माता का क्या प्रभाव पडा है, यह बतलाने के लिए कुछ कहता हूँ। ईसाई के लिए बाइबिल है, मुसलमान के लिए कुरान है पर हिन्दू किस (ग्रन्थ) को कहे ? वेद को कहे, स्मृति को कहे या पुराण को कहे ? मुझे बाईस-तेईस साल की उम्र मे ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा हुई। मालूम हुआ कि वेदो का अभ्यास करने मे पन्द्रह वर्ष लगेगे, पर मै इसके लिए तैयार नही था। मुझे मालूम हुआ, मैने कही पढा कि गीता समस्त शास्त्रो का दोहन है, कामधेनु है। मुझे बतलाया गया कि उपनिषद आदि का साराश सात सौ श्लोको मे आ गया है। थोडी सस्कृत की शिक्षा भी थी, मैने सोचा कि यह तो सरल उपाय है। मैने (गीता का) अध्ययन किया और वह मेरे लिए बाइबिल, कुरान, नही रही, माता बन गई। प्राकृतिक माता नही, ऐसी माता जो मेरे चले जाने पर भी रहेगी। उसके करोडो लडके-लडकिया पारस्परिक द्वेष के बिना उसका दुग्धपान कर सकते है। पीडा के समय वे माता की गोद मे बैठ सकते है और पूछ सकते है कि यह सकट आ गया है, मै क्या करू, और माता ज्ञान बता देगी। कुछ लोग कहते है कि गीता-माता बहुत गूढ ग्रन्थ है। लोकमान्य तिलक के लिए वह भले ही गूढ ग्रन्थ हो, पर मेरे लिए तो इतना ही काफी है—पहिला, दूसरा और तीसरा अध्याय पढ लीजिए-शेष अशो मे तो केवल इन्ही अध्यायो की बाते दोहराई गई है। इसमे भी थोडे-से श्लोक मे सभी बातो का समावेश है। और सबसे सरल गीतामाता मे तीन जगह कहा गया

है कि जो सब चीजो को छोड कर मेरी गोद मे बैठ जाते है, उनके लिए निराशा का स्थान नही, आनन्द ही आनन्द है।'

गीता-माता कहती है कि पुरुषार्थ करो, फल मुझे सौप दो। ऐसी मोटी-मोटी बाते मैने गीता माता से पाईं। इसे भक्ति से पाना सम्भव है। मै प्रतिदिनि उससे कुछ-न-कुछ प्राप्त करता हूँ। इसलिए मुझे कभी निराशा नही होती। आप लोग प्रतिदिन सुबह गीता का पाठ करे। यह सर्वोपरि ग्रन्थ है। अठारह अध्याय कण्ठ करना अधिक परिश्रम की बात नही। वन या कारागार मे चले जाय तो कण्ठ करने के कारण गीता साथ जायगी। प्राणान्त के समय जब आख काम नही देती, केवल थोडी बुद्धि रह जाती है तो गीता से ही ब्रह्मनिर्वाण मिल सकता है।

—काशी, १।८।१९३४। ह० से०, १०।८।१९३४]

- **गीता समस्त शास्त्रो का दोहन है, कामधेनु है।**
- **गीता से......ब्रह्मनिर्वाण मिल सकता है।**

४७. रामचरित मानस

ससार के महान ग्रन्थो मे तुलसीदास की रामायण ने मेरे हृदय मे अग्रगण्य स्थान बना लिया है। जो चमत्कार तुलसीकृत रामायण मे है वह न तो महाभारत मे हैं न वाल्मीकी रामायण मे। शायद जितने अश और जिस अर्थ मे तुलसीकृत रामायण धार्मिक ग्रन्थ कहा जाता है, उतने अश और उस अर्थ मे महाभारत नही कहा जाता।

—७।८।१९३४। ह० से०, २४।८।१९३४]

४८. गीता की एक शिक्षा

गीता माता हमे यह शिक्षा देती है कि कायाकृत दोषो से दूर रहते हुए भी मन मे मलिनता का वास हो तो सारा जीवन दम्भमय और मिथ्याचारयुक्त हो जाता है। जिसके मन मे विकार उठ रहा हो, उसके लिए यह आवश्यक है कि विकार को ढँककर, मूढात्मा और मिथ्याचारी बनने के बजाय वह उसे स्वीकार कर ले। ऐसा न करेगा तो वह विकार का दोषी भी होगा, असत्य का भी दोष-भागी होगा।

—ह० से०, २४।८।१९३४]

४९. धर्मग्रन्थों का प्रमाण

स्मृति नामधारी वर्तमान ग्रन्थो मे आज जो परस्पर-विरोधी सैकडो वाक्य मिलते है, वे सभी प्रमाण रूप नही माने जा सकते। ऐसी परस्पर-विरोधी बातें

या तो लेखक ने मूर्च्छित दशा मे लिखी होगी या बाद मे उनमे क्षेपक जोड दिये गये है। मनु महाराज-जैसे तपस्वी स्मृतिकार मूर्च्छित दशा मे नही हो सकते, इसलिए हमे उनके ग्रन्थो मे असगत लगनेवाली बाते निरुपयोगी समझनी चाहिए। लोगो ने जब तुलसीकृत रामायण मे भी क्षेपक जोड दिये है, तब मनुस्मृति-जैसे प्राचीन ग्रन्थो मे ऐसा घोटाला हुआ हो तो क्या आश्चर्य ? मुझे मनु महाराज की सनातन धर्म की यह व्याख्या यथार्थ जान पडती है और हमे सब वचनो को इसी कसौटी पर कसना चाहिए—

विद्वद्भि 'सेवित सद्भि नित्यमद्वेषरागिभि ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञात एष धर्म सनातन.॥

—ह० से० ३१।८।१९३४]

५०. गीता का उपदेश

गीता का उपदेश स्पष्ट, निश्चित है। जिसका मन एक बार ईश्वर मे लग गया वह कोई पाप नही कर सकता। मै उससे कितनी दूर हूँ, यह तो वही जानता है। ईश्वर को धन्यवाद है कि अपने महात्मापन की प्रसिद्धि से मै कभी धोखे मे नही पडा हूँ। गीता के सन्देश मे सदा की तरह आज भी मेरा वैसा ही विश्वास है। उस विश्वास को ऐसे सुन्दर रूप मे परिणत करने के लिए, जिससे गिरावट का अनुभव ही न हो, लगातार अथक प्रयत्न की आवश्यकता है। लेकिन उसी गीता मे इसके साथ ही असन्दिग्ध रूप से यह भी कहा गया है कि ईश्वरीय अनुग्रह बिना यह स्थिति प्राप्त नही हो सकती। अगर विधाता ने इतनी गुंजाइश न रखी होती तो हमारे हाथ-पैर फूल गये होते और हम अकर्मण्य हो जाते।
——ह० ज०। ह० से०, २९।२।१९३६]

५१. कामधेनु गीता

[गाधी जी ने १९२२-२४ के बीच यरवदा-जेल मे जो गीतापदार्थ-कोष (गीता के शब्दो के साथ स्थल-निर्देश) तैयार किया था, वह प्रकाशित हो गया

---

१ नित्य रागद्वेषविहीन, सद्विद्वानो द्वारा सेवित और हृदय-द्वारा अनुज्ञात यही सनातन धर्म है।

है। शब्दार्थ गुजराती भाषा और देवनागरी लिपि मे छपा है। प्रस्तावना रूप में गांधी जी ने जो 'पाठकों से विनती' लिखी है उसे यहा सकलित किया जा रहा है।—सम्पा०]

जिन्हे मेरे नाम से प्रसिद्ध गीता के अनुवाद मे तनिक भी रस है, उनके लिए यह कोष सहज ही आवश्यक है। सम्भव है कि दूसरे गीताभ्यासियो के लिए भी यह कोष उपयोगी हो। उनके लिए मेरी सूचना है कि यदि पदार्थकोष मे दिया हुआ अर्थ उन्हे न रुचे और दूसरा अर्थ अधिक प्रिय मालूम हो, तो उसे वे उसी मे नोट कर ले। ऐसा करने से उनकी अपनी मनोभिरुचि का कोप बहुत थोडे परिश्रम से तैयार हो जायगा। और ऐसे गीताभ्यासी अगर अपना पसन्द किया हुआ अर्थ मुझे लिख भेजेगे तो मै उनका आभार मानूँगा।

ज्यो-ज्यो मै गीता का अभ्यास करता हूँ, त्यो-त्यो मुझे उसकी अधिकाधिक अनुपमता मालूम होती जाती है। मेरे लिए गीता आध्यात्मिक कोष है। मै जब कार्याकार्य की व्याकुलता मे पड जाता हूँ, तब मै इसी का आश्रय लेता हू, और अबतक इसने मुझे कभी निराश नही किया। यह सच्ची कामधेनु है। हममे से कुछ लोग पहले नित्य एक श्लोक, फिर दो, फिर पाँच, फिर नित्य एक अध्याय, फिर चौदह दिन मे पारायण, और इधर अन्त के कुछ वर्षो से सात दिन का पारायण करते आ रहे है, और उस-उस दिन उस-उस अध्याय का पाठ प्रात काल साढे चार बजे के लगभग सुनते है। कुछ लोगो ने—बहुत थोडो ने १८ अध्याय कण्ठ कर लिये है।
सबेरे की दैनिक प्रार्थना मे यह क्रम चलता है—

शुक्रवार १, २
शनिवार ३, ४, ५
रविवार ६, ७, ८
सोमवार ९, १०, ११, १२
मगलवार १३, १४, १५
बुधवार १६, १७
गुरुवार १८

इस प्रकार के विभाग के विषय मे इतना ही कहना पर्याप्त है कि इसके पीछे एक विचार-श्रेणी निहित है। इस रीति से मनन करने मे ठीक-ठीक अनुकूलता पडती है, ऐसा अनुभव है।

शुक्रवार से पारायण क्यो शुरू हुआ, यह प्रश्न हो सकता है। कारण इसका इतना ही है कि बहुत समय तक हमारा चौदह दिन का पारायण चलता रहा। यरवदा जेल मे सात दिन के पारायण का विचार मेरे मन मे आया और शुक्रवार

को वह विचार कार्यरूप मे परिणत हुआ, इस प्रकार तब मे पारायण-सप्ताह शुक्रवार को शुरू होता है।

पारायण की बात को यहा स्थान देने मे दो हेतु हैं। एक तो यह बताने का कि गीताभक्ति आजकल हममे से कुछ लोगो को कहाँ तक ले गई है, और दूसरा हेतु है पाठ करनेवालो को अभ्यास के लिए प्रोत्साहन देने का मार्ग बताना।

पर गीता का गान करके ही हम निहाल होने के नही। गीता धर्मदर्शक कोष है, आत्मा की गुत्थियो को सुलझानेवाली एक प्रचण्ड शक्ति है, दुखियो का आधार है, मूर्च्छा से जगानेवाली है, ऐसा जो मानता है उसे गीता-गान सहायता देता है। बिना अर्थ किये गीता-ज्ञान स्वतन्त्र रीति से मनुष्य का कल्याण करता है, ऐसा कहने का मेरा यहा बिलकुल आशय नही। उचित प्रयत्न से पाले हुए तोते को गीता अवश्य कण्ठ कराई जा सकती है, पर इससे तोते को या उसके शिक्षक को रत्तीभर भी पुण्य प्राप्त नही होगा।

गीता जीवित, जीवन देनेवाली, अमर माता है। दूध पिला-पिलाकर पालने-वाली माता किसी दिन दगा देकर चली जायगी। असख्य माताएँ अपनी सन्तान को खतरो से बचाने मे असमर्थ पाई जाती है, ऐसा हमारे देखने मे आता है। किन्तु गीतामाता की शरण लेनेवाला भयकर खतरे से बच जाता है। यह नित्य जाग्रत रहती है, कभी धोखा नही देती। पर जिस प्रकार बिना माँगे मा भी नही परोसती उसी तरह गीतामाता भी बिना माँगे कुछ नही देती। वह किसी को गोद मे लेने से पहिले उसकी कडी परीक्षा लेती है, उससे पूर्ण भक्ति की अपेक्षा रखती है। शुष्क भक्ति भी काम आने की नही। वह तो अनन्य-भक्ति चाहती है। इसलिए जो उसे सर्वार्पण करने के लिए तैयार नही, उसे शरण देने से साफ इन्कार कर देती है।

एक-एक भौतिक विज्ञान का अभ्यासी उसके पीछे पागल हो जाता है, तब उसे उसका थोडा-सा दर्शन मिलता है। एम० ए० बी० ए० होने की इच्छा रखनेवाले दिन-रात पढते ही रहते है, इसके पीछे पैसा भी खर्च करते है, शरीर भी खपाते है। इस तरह प्रयत्न करनेवालो मे से थोडे से ही विद्यार्थी पहली बार पास होते है। उत्तीर्ण न होनेवाले निराश नही होते और बार-बार प्रयत्न करते है। वे उत्तीर्ण होने पर ही शान्त होते है। और अन्त मे ?

गीतामृत का पान करने के लिए इन प्रयत्नो की अपेक्षा बहुत अधिक प्रयत्न की आवश्यकता होनी चाहिए, और है ही। पर इस अमृतपान की इच्छा कितने लोगो को है ? अगर इच्छा है जो तन-तोड प्रयत्न करने के लिए कितने तैयार होते है ? हम यह जानते है कि मेरी बताई हुई इस दृष्टि से गीता की भक्ति करनेवालो की सख्या नही के बराबर है। तो भी यह सभी स्वीकार करते है कि गीता समस्त

उपनिषदो का दोहन है। किसी भी हिन्दू को उसके ज्ञान से वचित नही होना चाहिए। पर आज तो धर्मशास्त्र की कीमत घट गई है। इसके कारणो मे उतरने का यह प्रसग नही। मैंने तो,गीता-पदार्थ कोष प्रकाशित हो रहा है इस निमित्त से, जिज्ञासुओ का ध्यान गीतारूपी रत्न की ओर खीचने का और यह बतलाने का प्रयत्न इस विनीतपत्र मे किया है कि उसका सदुपयोग किस तरह हो सकता है। यह प्रयत्न सफल हो।
—सेगाव, वर्धा २४।९।१९३६। ह० ज० ७।११।१९३६]

- **गीता आध्यात्मिक कोष है।**
- **यह (गीता) सच्ची कामधेनु है।**
- **गीता धर्मदर्शक कोष है; आत्मा की गुत्थियो को सुलझाने वाली एक प्रचण्ड शक्ति है।**
- **गीता जीवित, जीवन देनेवाली, अमर माता है।**
- **गीता समस्त उपनिषदों का दोहन है।**

५२. गीता, महाभारत, रामायण

.....गीता ... को लीजिए। उसने कर्म, सन्यास, यज्ञ आदि का बिल्कुल भिन्न अर्थ प्रतिपादित किया है। उसने हिन्दू धर्म मे नया जीवन डाल दिया है, उसने आचार का एक मौलिक मार्ग बताया है। पर इसका अर्थ यह नही हो सकता कि गीता मे जो कहा गया है, वह पुराने धर्म-ग्रन्थो से उपलब्ध नही हो सकता था। गीता ने सिर्फ उन भावो को भाषाबद्ध कर दिया है, जो उन ग्रन्थो मे गर्भित थे। मैंने ससार के कई धर्मो का श्रद्धापूर्वक अध्ययन और मनन किया है, विशेषकर गीता-प्रतिपादित हिन्दू धर्म के पालन का शक्तिभर पूरा यत्न भी किया है। मैंने इसी श्रद्धा और अनुभव के आधार पर किसी प्रकार की खीचातानी किये बिना हिन्दूधर्म का एक व्यापक और विशाल स्वरूप जनता के सामने रखने का यत्न किया है—वह रूप नही जो असख्य धर्म-ग्रन्थो मे दबा पडा है।

मैंने हिन्दू धर्म का वह सजीव स्वरूप देश के सामने रखा है, जो अपने दुखी बालक को सान्त्वना देनेवाली माता के समान है। और मेरा यह दावा है कि इसमे मैंने कोई नई बात नही की, इसमे मैंने अपने पूर्व-पुरुषो के चरण-चिह्नो का ही अनुगमन किया है। हम जानते है कि एक समय हमारे पूर्वज क्रुद्ध देवी-देवताओ को प्रसन्न करने के लिए प्राणियो की बलि देते थे। उनके वशजो ने, जो हमारे नजदीक पूर्वपुरुष थे, इस बलिदान मे भिन्न अर्थ पाया। उन्होने बताया कि बलिदान प्राणियों

का नहीं हमारे अधम विकारों का हो और वह क्रुद्ध देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए नहीं, बल्कि अपने अन्तस्तल में विराजमान प्रभु को प्रसन्न करने के लिए हो। मेरा तो यही मत है कि गीता-धर्म की निश्चित शिक्षा यही है कि हम सत्र शान्ति की उपासना करें। इसके लिए हमें अपने प्राण भी अर्पित कर देने पड़े, तो कोई चिन्ता की बात नहीं। यह मानवजाति की सर्वोच्च आकांक्षा है।

महाभारत और रामायण दो ऐसे ग्रन्थ है, जिनको करोड़ों हिन्दू जानते हैं और अपने मार्ग-दर्शन के लिए पढते भी है। वे रूपक हैं, यह तो भीतरी प्रमाण से ही सिद्ध है। माना कि उनमें अधिकांशत ऐतिहासिक व्यक्तियों का ही वर्णन है। फिर भी इससे मेरे पक्ष को कोई बाधा नहीं पहुँचती। प्रत्येक महाकाव्य में सत् और असत् शक्तियों के बीच चलनेवाले सनातन संघर्ष का वर्णन होता है। इसलिए मैं किसी भी दशा में यह स्वीकार नहीं कर सकता कि मैंने पहिले से अपने कुछ विचार बना लिये हैं और उनका समर्थन करने के उद्देश्य से मैं हिन्दू धर्म या गीता की खींचातानी करना चाहता हूँ। मैं तो कहता हूँ कि मेरे विचार वास्तव में गीता, रामायण, महाभारत और उपनिषदों के अध्ययन का परिणाम हैं।

—ह० ज०। ह० से०, ३।१०।१९३६]

५३. गीता-जयंती

पूना से केसरी'[1] के श्री जी० वी० केतकर लिखते है —

"इस वर्ष गीता-जयन्ती शुक्रवार २२ दिसम्बर को पडती है। जो प्रार्थना मैं कई साल से करता आया हूँ वही इस बार दुहराता हूँ कि आप हरिजन मे गीता-जयन्ती पर लिखें। एक बात और भी पिछले वर्ष कही थी, वह फिर से कहता हूँ। गीता पर आपने अपने व्याख्यानों मे एक जगह कहा है कि जिन्हे ७०० श्लोकों की पूरी गीता का पारायण करने का अवकाश नहीं उनके लिए दूसरा और तीसरा अध्याय पढ़ लेना काफी है। आपने यह भी कहा है कि इन दो अध्यायों का भी सार किया जा सकता है। सम्भव हो तो आप समझाइए कि आप दूसरे और तीसरे अध्याय को क्यों आधारभूत मानते हैं। मैंने भी दूसरे और तीसरे अध्याय के श्लोक गीता-बीज के रूप मे प्रकाशित करके यही विचार जनता के सामने रखने का प्रयत्न किया है। अवश्य ही आपके इस विषय पर लिखने का प्रभाव अधिक पड़ेगा।"

---

१ प्रमुख मराठी पत्र।

अब तक मैंने श्री केतकर की बात नही मानी थी। मैं नही जानता कि जिस उद्देश्य से ये जयन्तियाँ मनाई जाती है, वह इस तरह पूरा होता है। आध्यात्मिक विषयो मे विज्ञापन के साधारण साधनो का स्थान नही होता। आध्यात्मिक वस्तुओ का उत्तम विज्ञापन तो उनके अनुरूप कर्म ही होता है। मेरा विश्वास है कि सभी आध्यात्मिक ग्रन्थो का प्रभाव दो बातें होने से पडता है। एक तो यह कि उनमे लेखको के अनुभवो का सच्चा इतिहास हो और दूसरे उनके भक्तो का जीवन यथासम्भव उनके उपदेशो के अनुसार रहा हो। इस प्रकार ग्रन्थकार अपने ग्रन्थो मे प्राण-सचार करते है और अनुयायी उनके अनुसार आचरण करके उनका पोषण करते है। मेरी सम्मति मे करोडो पर गीता, तुलसीकृत रामायण आदि पुस्तको के प्रभाव का यही रहस्य है।

श्री केतकर का आग्रह मानने मे मैं यह आशा रखता हू कि आगामी जयन्ती-उत्सव मे भाग लेनेवाले उचित भावना से प्रेरित होगे और गीता के पवित्र सन्देश के अनुसार अपना जीवन बनाने का दृढ निश्चय करेंगे। मैंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि यह सन्देश आसक्ति छोडकर स्वधर्म-पालन करना ही है। मेरा यह मत रहा है कि गीता का मुख्य विषय दूसरे अध्याय मे है और उसके अनुसार आचरण करने की विधि तीसरे अध्याय मे बताई गई है। ऐसा कहने का यह अर्थ नही है कि दूसरे अध्यायो की महिमा कम है। वास्तव मे एक-एक अध्याय का अपना महत्व अलग-अलग ही है। विनोबा ने गीता को गीताई अर्थात् गीता-माता कहकर पुकारा है। उन्होने उसका बहुत ही सरल और ओजस्वी मराठी मे पद्यानुवाद किया है। उसका छन्द भी वही रखा है जो मूल सस्कृत मे है। हजारो के लिए गीता ही सच्ची माता है, क्योकि वह कठिनाइयो मे सान्त्वना-रूपी पौष्टिक दूध देती है। मैंने उसे अपना आध्यात्मिक कोष कहा है, क्योकि दुःख मे मैं उससे कभी निराश नही हुआ हूँ। इसके अतिरिक्त, यह ऐसी पुस्तक है जिसमे साम्प्रदायिकता और धार्मिक अधिकारवाद का नाम भी नही है। यह मनुष्यमात्र को प्रेरणा देती है। मै गीता को क्लिष्ट पुस्तक नही मानता। निःसन्देह पण्डितो के हाथ मे तो जो भी चीज पड जाय उसी मे वे गहनता देख लेते हैं, परन्तु मेरी सम्मति मे साधारण बुद्धि के मनुष्य को भी गीता के सरल सन्देश को समझ लेने मे कोई कठिनाई नही होनी चाहिए। इसकी सस्कृत तो अत्यन्त सरल है। मैंने गीता के कई अग्रेजी अनुवाद पढे हैं, परन्तु एडविन आर्नाल्ड के छन्दानुवाद की तुलना मे एक भी नही है। इसका नाम स्वर्गीय गीत भी उन्होने बहुत सुन्दर और उपयुक्त रखा है।

—११।१२।१९३९। गीता-माता, पृ० ५५७-५५९, स० सा० मं०, संस्करण १९५०]

- आध्यात्मिक वस्तुओ का उत्तम विज्ञापन तो उनके अनुरूप कर्म ही होता है।
- यह (गीता का) सन्देश आसक्ति छोड कर स्वधर्म-पालन करना ही है।
- हजारो के लिए गीता ही सच्ची माता है क्योकि वह कठिनाइयों मे सान्त्वना-रूपी पौष्टिक दूध देती है।
- यह (गीता) एक ऐसी पुस्तक है जिसमे साम्प्रदायिकता और अधिकारवाद का नाम नहीं है।
- यह (गीता) मनुष्य मात्र को प्रेरणा देती है।

५४. हिन्दू धर्म और धर्म-ग्रन्थ

हिन्दुओ के वेद हजारो वर्ष पुराने है। इतने ही पुराने उनके उपनिषद् हैं, मगर लोग उनको पूरी तरह नही जानते। इनमे से किसी भी धर्मग्रन्थ मे जो खराबिया घुस आई है, वे उसके बहुत वर्ष बाद लिखे जाने के कारण है। हिन्दू-धर्म एक महान धर्म है। उसमे असीम सहिष्णुता और अन्य धर्मों को अपने मे मिला लेने की शक्ति है। ईश्वर सर्वव्यापी है। वह मनुष्य के हृदय पर शासन करता है। वह केवल अनन्य भक्ति चाहता है, फिर वह भक्ति चाहे किसी रूप मे और किसी भाषा मे की जाय।

—दिल्ली, प्रार्थना-सभा ४।४।१९४७। ह० से० २०।४।१९४७]

५५. सनातन हिन्दू-धर्म

सनातन हिन्दू-धर्म ओछा नहीं है। यह बडा उदार धर्म है। यह कुए के मेढक की तरह कुए को ही अपना देश नही मानता। यह इन्सान का धर्म है। महाभारत के एक मलयाली टीकाकार ने कहा है कि यह मानव का इतिहास है। यही ठीक है। मगर ऐसा हो न हो, हिन्दू शब्द सस्कृत का नही है। सिन्धु के इस पार रहनेवालो को परदेशियो ने हिन्दू कहा और हमने वह शब्द पचा लिया। मनु किसी एक व्यक्ति का नाम नही है। उनका बनाया हुआ शास्त्र मानव-धर्म-शास्त्र कहा जाता है। यह शास्त्र मानव का है। इसमे वास्तविक श्लोक कौन हैं और बाद मे कौन-से डाले गये है, यह कहना कठिन है।

बाबू भगवानदास कुछ (श्लोको) को क्षेपक मानते है, आर्य समाज ने अन्य कुछ को क्षेपक माना है। मैं तो यह मानता हूँ कि उसमे से जो विवकशील के हृदय और मस्तिष्क को जँचे, वही मानव-धर्म-शास्त्र है। इसमे सुधार और वृद्धि की हमेशा गुजाइश रहती है। क्षेपक श्लोक भी भिन्न-भिन्न युगो के स्वय को सुधारक माननेवालो के सफल या असफल प्रयत्न है।

ऐसा मानव-धर्म-शास्त्र सब मनुष्यो पर लागू होना चाहिए। उसमे जाति-पाँति का भेद नही हो सकता। उसके लिए कोई हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई, नही, बल्कि सब इसान है। ऐसे शास्त्र को माननेवाले किसी तरह का भेदभाव कैसे रख सकते हैं?

— कश्मीर जाते हुए रेलगाडी मे, ३१।७।१९४७। ह० ज०। ह० से०, १०-८-१९४७]

५६. गीता-माता

गीता शास्त्रो का दोहन है। मैंने कही पढा था कि सारे उपनिषदो का निचोड उसके ७०० श्लोको मे आ जाता है। इसलिए मैंने निश्चय किया कि कुछ न हो सके तो भी गीता का ज्ञान प्राप्त कर लूँ। आज गीता मेरे लिए केवल बाइबिल नही है, केवल कुरान नही है, मेरे लिए वह माता हो गई है। मुझे जन्म देनेवाली माता तो चली गई, पर सकट के समय गीता-माता के पास जाना मैं सीख गया हूँ। मैंने देखा है कि जो कोई इस माता की शरण जाता है, उसे वह ज्ञानामृत से तृप्त करती है।

कुछ लोग कहते हैं कि गीता तो अत्यन्त गूढ ग्रन्थ है। स्व० लोकमान्य तिलक ने अनेक ग्रन्थो का मनन करके पण्डित की दृष्टि से उसका अभ्यास किया और उसके गूढ अर्थों को वे प्रकाश मे लाये। उन्होने उस पर एक महाभाष्य की रचना भी की। तिलक महाराज के लिए यह गूढ ग्रन्थ था, पर हमारे-जैसे साधारण मनुष्य के लिए यह गूढ नही है। सारी गीता का वाचन आपको कठिन मालूम हो तो आप केवल पहिले तीन अध्याय पढ लें। गीता का सब सार इन तीन अध्यायो मे आ जाता है। बाकी अध्यायो मे वही बात अधिक विस्तार से और अनेक दृष्टियो से सिद्ध की गई है। यह भी किसी को कठिन मालूम हो तो इन तीन अध्यायो मे से कुछ ऐसे श्लोक छांटे जा सकते हैं[1] जिनमे गीता का निचोड आ जाता है। तीन जगहो पर तो गीता

---

१. गाधी जी ने स्वय चुने हुए श्लोको का एक संग्रह गीता-प्रवेशिका के नाम से किया था।

मे यह भी आता है कि सब धर्मों को छोडकर तू केवल मेरी ही शरण ले। इससे अधिक सरल और सादा उपदेश और क्या हो सकता है ? यदि मनुष्य गीता मे से अपने लिए आश्वासन प्राप्त करना चाहे तो उसे उसमे से वह पूरा-पूरा मिल जाता है। जो मनुष्य गीता का भक्त होता है, उसके लिए निराशा की कोई जगह नही है, वह हमेशा आनन्द मे रहता है।

पर इसके लिए बुद्धिवाद नही, बल्कि अव्यभिचारिणी भक्ति चाहिए। अबतक मैंने एक भी ऐसे आदमी को नही जाना, जिसने गीता का अव्यभिचारिणी भक्ति से सेवन किया हो और जिसे गीता से आश्वासन न मिला हो। तुम विद्यार्थी लोग कही परीक्षा मे फेल हो जाते हो तो निराशा के सागर मे डूब जाते हो। गीता निराश होनेवालो को पुरुषार्थ सिखाती है, आलस्य और व्यभिचार का त्याग बताती है। एक वस्तु का ध्यान करना, दूसरी चीज़ बोलना और तीसरी को सुनना, इसको व्यभिचार कहते हैं। गीता सिखाती है कि पास हो या फेल, दोनो चीजे समान हैं। मनुष्य को केवल प्रयत्न करने का अधिकार है, फल पर कोई अधिकार नही। यह आश्वासन मुझे कोई नही दे सकता, वह तो अनन्य भक्ति से ही प्राप्त होता है। सत्याग्रही की हैसियत से मै कह सकता हूँ कि इसमे से नित्य ही मुझे कुछ-न-कुछ नई वस्तु मिलती रहती है। कोई मुझे कहेगा कि यह तुम्हारी मूर्खता है तो मै उसे कहूँगा कि मै अपनी इस मूर्खता पर अटल रहूँगा। इसलिए सब विद्यार्थियो से मै कहूँगा कि सबेरे उठकर तुम इसका अभ्यास करो। तुलसीदास का मै भक्त हूँ पर तुम लोगो को इस समय मै तुलसीदास नही सुझाता हूँ। विद्यार्थी की हैसियत से तो तुम गीता का ही अभ्यास करो, पर द्वेष-भाव से नही, भक्ति-भाव से। तुम उसमे भक्तिपूर्वक प्रवेश करोगे तो जो तुम्हे चाहिए वह उसमे से मिलेगा। अठारहो अध्याय कण्ठ करना कोई खेल नही है, पर करने जैसी चीज़ तो है ही। तुम एक बार उसका आश्रय लोगे तो देखोगे कि दिनो-दिन उसमे तुम्हारा अनुराग बढेगा। फिर तुम कारागृह मे हो या जगल मे, आकाश मे हो या अँधेरी कोठरी मे, गीता की रटन तो निरन्तर तुम्हारे हृदय मे चलती ही रहेगी और उसमे से तुम्हे आश्वासन मिलेगा। तुमसे यह आधार तो कोई छीन ही नही सकता। इसकी रटन मे जिसका प्राण जायगा उसके लिए तो वह सर्वस्व ही है, केवल निर्वाण नही, बल्कि ब्रह्म-निर्वाण है।

—गीता माता, पृ० ५२९–३१, संस्करण जनवरी १९५०]

- गीता मेरे लिए केवल बाइबिल नहीं है, केवल कुरान नहीं है, मेरे लिए वह माता हो गई है।
- जो मनुष्य गीता का भक्त होता है, उसके लिए निराशा की कोई जगह नहीं है।

● मनुष्य को केवल प्रयत्न करने का अधिकार है, फल पर कोई अधिकार नहीं।

५७. गीता से प्रथम परिचय

विलायत मे रहते हुए कोई एक साल हुआ होगा, इस बीच दो थियोसॉफिस्ट मित्रो से मुलाकात हुई। दोनो सगे भाई थे और अविवाहित थे। उन्होने मुझसे गीता की बात चलाई। उन दिनो वे एडविन आर्नोल्ड-कृत गीता का अग्रेजी अनुवाद पढ रहे थे, पर मुझे उन्होने अपने साथ संस्कृत मे गीता पढने के लिए कहा। मैं लज्जित हुआ, क्योंकि मैंने तो गीता न संस्कृत मे, न भाषा मे ही पढी थी। मुझे उनसे यह बात झेपते हुए कहनी पडी, पर साथ ही यह भी कहा कि मै आपके साथ पढने को लिए तैयार हूँ। यो तो मेरा संस्कृत-ज्ञान नही के बराबर है; फिर भी मैं इतना समझ सकूँगा कि अनुवाद कही गडबड होगा तो उसे बता सकूं। इस तरह इन भाइयो के साथ मेरा गीता-वाचन आरम्भ हुआ। दूसरे अध्याय के अन्तिम श्लोको में ..

ध्यायतो विषयान्पुसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

इन श्लोको का मेरे दिल पर गहरा असर हुआ। बस कानो मे उनकी ध्वनि दिनरात गूंजा करती। तब मुझे प्रतीत हुआ कि भगवद्गीता तो अमूल्य ग्रन्थ है। यह धारणा दिन-दिन अधिक दृढ होती गई, और अब तो तत्त्वज्ञान के लिए मैं उसे सर्वोत्तम ग्रन्थ मानता हूँ। निराशा के समय इस ग्रन्थ ने मेरी अमूल्य सहायता की है। यो इसके लगभग तमाम अग्रेजी अनुवाद मैं पढ गया हूँ, परन्तु एडविन आर्नाल्ड का अनुवाद सबमे श्रेष्ठ मालूम होता है। उन्होने मूल ग्रन्थ के भावो की अच्छी रक्षा की है और तिस पर भी वह अनुवाद-जैसा नही मालूम होता। फिर भी यह नही कह सकते कि इस समय मैने भगवद्गीता का अच्छा अध्ययन कर लिया है। उसका दैनिक पाठ तो वर्षो बाद शुरू हुआ।

—आत्मकथा, अध्याय २०, बारहवां संस्करण, पृ० ८९]

● भगवद्गीता......अमूल्य ग्रन्थ है।

● तत्त्वज्ञान के लिए मैं उसे (गीता को) अमूल्य ग्रन्थ मानता हूँ।

५८. धर्म-निरीक्षण का परिणाम

सन् १८९३ मे जब मै ईसाई मित्रो के निकट सम्पर्क मे आया, तब मै केवल जिज्ञासु था। ईसाई मित्र मुझे बाइबिल का सन्देश सुनाने, समझाने और मुझसे उसको स्वीकार कराने का प्रयत्न करते थे। मै नम्रतापूर्वक तटस्थ भाव से उनके उपदेश सुन-समझ रहा था। इस निमित्त मैने हिन्दू-धर्म का यथाशक्ति अध्ययन किया और दूसरे धर्मों को समझने की कोशिश की।

अब १९०३ मे स्थिति थोडी बदल गई। थियॉसाफिस्ट मित्र मुझे अपने मण्डल मे सम्मिलित करने की इच्छा जरूर रखते थे। पर उनका हेतु हिन्दू के नाते मुझसे कुछ पाना था। थियॉसफी की पुस्तको मे हिन्दू-धर्म की छाया और उसका प्रभाव तो काफी है ही। इसलिए इन भाइयो ने मान लिया कि मै उनकी सहायता कर सकूंगा। मैने उन्हे समझाया कि मेरा सस्कृत का अध्ययन नही के बराबर है, मैने उसके प्राचीन धर्म-ग्रन्थ सस्कृत मे नही पढे हैं। अनुवादो के द्वारा भी मेरी पढाई कम ही हुई है। फिर भी चूंकि वे सस्कार और पुनर्जन्म को मानते थे, इसलिए उन्होने समझा कि मुझसे थोडी-बहुत सहायता तो मिलेगी ही और मैं 'निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते'[1]-जैसी स्थिति मे आ पडा। किसी के साथ मैने स्वामी विवेकानन्द का तो किसी के साथ मणिलाल नभुभाई का राजयोग पढना शुरू किया। एक मित्र के साथ पातजल योगदर्शन पढना पडा। बहुतो के साथ गीता का अभ्यास शुरू हुआ। जिज्ञासु-मण्डल के नाम से एक छोटा-सा मण्डल भी स्थापित किया और नियमित अभ्यास होने लगा। गीता जी पर मुझे प्रेम और श्रद्धा तो थी ही। अब उसकी गहराई मे उतरने की आवश्यकता प्रतीत हुई। मेरे पास एक-दो अनुवाद थे। उनकी सहायता से मैने मूल सस्कृत समझ लेने का प्रयास किया और नित्य एक-दो श्लोक कण्ठ करने का निश्चय किया।

इस गीता-पाठ का प्रभाव मेरे साथ पढनेवालो पर क्या पडा उसे वे जाने, परन्तु मेरे लिए तो वह पुस्तक आचार की एक प्रौढ पथ-प्रदर्शिका बन गई। वह मेरे लिए धार्मिक कोश का काम देने लगी। जिस प्रकार नये अग्रेजी शब्दो के हिज्जे या उनके अर्थ के लिए मै अग्रेजी शब्दकोश देखता था, उसी प्रकार आचार-सम्बन्धी कठिनाइयो और उसकी समस्याएँ गीता से हल करता था। उसके अपरिग्रह, समभाव आदि शब्दो ने मुझे पकड लिया। समभाव का विकास कैसे हो, उसकी रक्षा किस प्रकार की जाय? अपमान करनेवाली अविकारी रिश्वत

---

१ जहाँ कोई वृक्ष नहीं वहाँ एरण्ड (रेंड) ही वृक्ष बन जाता है।

लेनेवाले अधिकारी, व्यर्थ विरोध करनेवाले कल के साथी इत्यादि, और जिन्होने बडे-बडे उपकार किये है, ऐसे सज्जनो के बीच भेद न करने का क्या अर्थ है? अपरिग्रह किस प्रकार पाला जाता होगा? देह का होना ही कौन कम परिग्रह है? स्त्री-पुत्रादि परिग्रह नही तो और क्या है? ढेरो पुस्तको से भरी इन आलमारियो को क्या जला डालूं? घर जलाकर तीर्थ करने जाऊँ? तुरन्त ही उत्तर मिला कि घर जलाये बिना तीर्थ किया ही नही जा सकता। यहाँ अंग्रेजी ने मेरी मदद की। स्नेल की कानूनी सिद्धान्तो की चर्चा याद आई। गीता के अध्ययन के फलस्वरूप ट्रस्टी शब्द का अर्थ विशेषरूप से समझ मे आया। कानून-शास्त्र के प्रति मेरा आदर बढा। मुझे उसमे भी धर्म के दर्शन हुए। ट्रस्टी के पास करोडो रुपयो के रहते हुए भी उसमे से एक भी पाई उसकी नही होती। मुमुक्षु को ऐसा ही बर्ताव करना चाहिए। यह बात मैंने गीता से समझी। मुझे यह दीपक की तरह स्पष्ट दिखाई दिया कि अपरिग्रही बनने मे, समभावी होने मे हेतु का, हृदय का परिवर्तन जरूरी है। मैंने रेवाशकर भाई को लिखा कि मेरे बीमे की पालिसी बन्द करदे। कुछ रकम वापस मिले तो ले ले, न मिले तो भरे हुए पैसे को गया हुआ मान लें। बच्चो की और स्त्री की रक्षा उन्हे और हमे पैदा करनेवाला करेगा। पितृ-तुल्य भाई को लिखा—आज तक तो मेरे पास जो बचा वह मैंने आपको अर्पण किया। अब आप मेरी आशा छोड दीजिए। अब जो बचेगा, वह यही हिन्दुस्तानी समाज के हित मे खर्च होगा।. . . .

—आत्मकथा, भाग ४, अध्याय ५]
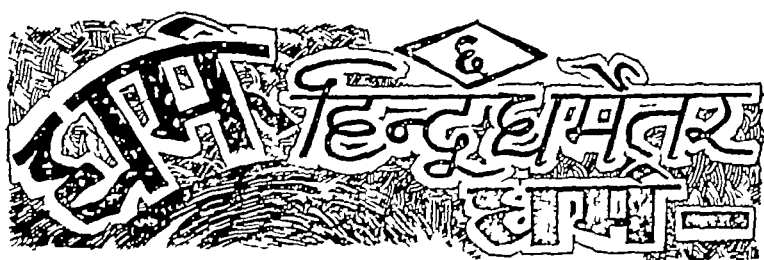
१. सूफी-सम्प्रदाय

सूफी सम्प्रदाय के उपदेशो के अनुसार कोई भी धर्म जिसमे नीति हो, बरा नही होता।

—गुजराती से। इ० ओ०, १५।६।१९०७]

२. थियॉसफी

[डा० प्राणजीवन मेहता को लिखे पत्र से]

थियॉसफी के विषय मे आपके जो विचार हैं, वैसे मेरे १८९९ से रहे है। उस समय मुझसे सोसायटी मे शामिल होने का बहुत आग्रह किया गया था, किन्तु मैंने साफ इन्कार कर दिया था और कहा था कि सोमायटी का भाईचारे वाला सिद्धान्त मुझे पसन्द है, किन्तु मैं सूक्ष्म शक्तियो की खोज करने तथा उन्हे प्राप्त करने के प्रयत्न के विरुद्ध हूँ। इसके बावजूद थियॉसफी मे से मुझे जो मार लेने योग्य लगा वह मैंने लिया है। थियॉसफी के कारण अनेक हिन्दू अपने धर्म की खोज करने के लिए प्रेरित हुए है। जो प्रयोजन ईसाई-धर्म ने पूरा किया है, वही थियॉसफी ने भी पूरा किया है। इसके सिवा हम जिन मूल सिद्धान्तो को मानते है, उन्हे थियॉसफी भी मानती है, इसलिए उसके अनुयायियो मे भले आदमी आसानी से मिल जाते है। वैष्णवो आदि के सम्प्रदायो मे ऊपर से नीचे तक धूर्तो की कमी नही है, फिर भी उनमे नरसी[1] मेहता, भोजा भगत[2] आदि हीरे भी मिलते हैं। रिच भी थियॉसफिस्ट थे। उन्होने मुझसे सोमायटी का सदस्य होने का आग्रह किया। मै तो उसका सदस्य नही हुआ, साथ ही उनको उसके ढोग से मुक्त होने मे मैंने सहायता दी। पोलक थियॉसफिस्ट हैं, किन्तु थियॉसफिस्टो के कर्मकाण्ड से तथा उनकी पुस्तको से वह बहुत दूर रहते है। ऐमा ही कैलेनवैक के विपय मे कहा जा सकता है। . कार्डिज फीनिक्स मे है। वह पक्के थियॉमफिम्ट है। उन्हे

---

१ गुजराती सन्त कवि।

२ मध्ययुगीन गुजराती भक्त कवि।

जाना हो तो जाना हिन्दू धर्म का सार है और मुसलमानो के
। और वाजा वजाने की रोक इस्लाम का सार-सर्वस्व है।

। उन मुसलमान मित्रो के वताये आकर्षक सूत्र पर विचार करना
उसमे से कम-से-कम मैं क्या मान सकता हूँ? मेरा सहज स्वभाव
र इसलिए मैं जानता हूँ कि इस पर मैं जो कहूँगा वह हिन्दुओ के
ाज को भी पसन्द होगा।

छिए तो सामान्य रूप से मुसलमान ही वेदो की तथा दूसरे हिन्दू धर्म-
अपौरुषेयता को या कृष्ण अथवा राम के पैगम्वर, अवतार या देवता
वात कवूल न करेंगे। हिन्दुओ के लिए तो कुरान-शरीफ या पैगम्वर
ो भला-वुरा कहने का यह नया तरीका निकला है। मैंने हिन्दुओ के
मे पैगम्वर साहव के प्रति आदर भाव देखा है। यहाँ तक कि हिन्दुओ
ो मे इस्लाम की तारीफ पाई जाती है।

अव सूत्र के पहिले भाग को लीजिए। ईश्वर वस्तुत एक है। वह अगम,
चर और मानव-जाति के, वहु जन-समाज के लिए अज्ञात है। वह सर्वव्यापी
वह विना आँख देखता है, विना कानो सुनता है। वह निराकार, अभेद और
जन्मा है। उसके माता है, न पिता, न सन्तान, फिर भी वह पिता, माता, पत्नी
ा सन्तान के रूप मे पूजा ग्रहण करता है। यहाँ तक कि वह काष्ठ, पाषाण के
रूप मे भी पूजा-अर्चा अगीकार करता है, यद्यपि वह न तो काष्ठ है, न पाषाण
आदि। वह हाथ नही आता। चकमा देकर निकल जाता है। अगर हम उसे
पहिचान ले तो वह हमारे विल्कुल निकट है। पर अगर हम उसकी सर्वव्यापकता
का अनुभव न करना चाहे तो वह हमसे अत्यन्त दूर है। वेद मे अनेक देवता है।
दूसरे धर्मग्रन्थ उन्हे देव-दूत या नवी कहते हैं। पर वेद तो एक ही ईश्वर का गुण-
गान करते है।

मुझे कुरान को ईश्वर-प्रेरित मानने मे कोई सकोच नही होता, जिस प्रकार
वाइविल, जेन्दावेस्ता या ग्रन्थसाहव तथा दूसरे पवित्र धर्म-ग्रन्थो को मानने मे नही
होता। ईश्वरीय प्रकाश किसी एक ही राष्ट्र या जाति की सम्पत्ति नही है। यदि
मुझे हिन्दू-धर्म का कुछ भी ज्ञान है तो वह समावेशक, व्यापक, सतत-वर्धमान और
परिस्थिति के अनुरूप नवीन रूप धारण करनेवाला है। उसके यहाँ कल्पना,
तर्कना और तर्क के लिए पूरा-पूरा अवकाश है। मैंने कुरान और पैगम्वर साहव
के प्रति आदर-भाव उत्पन्न करने मे हिन्दुओ के नजदीक तनिक भी दिक्कत मह-
सूस नही की। पर हाँ, मुसलमानो के अन्दर वेदो के और अवतारो के प्रति वही
आदर-भाव उत्पन्न करने मे मैंने अवश्य दिक्कत महसूस की है। भगवद्गीता

मैं अभी थियॉसफी के व्यसन से मुक्त नही कर सका हूँ। उनका मन निर्मल प्रतीत होता है। इस समय वे आग्रहपूर्वक अडयार गये हुए है। वे ईमानदार हैं, इसलिए यदि चक्कर मे न आये तो वहाँ का ढोग वे समझ लेंगे और उसे छोड देंगे। अडयार मे यह ढोग किस हद तक है या ऐसा कहिए कि श्रीमती बेसेंट की सज्जनता के कारण वह किस हद तक ढका है, यह सब जानने योग्य है। श्रीमती बेसेंट मास्टर (गुरु) के रूप मे प्रसिद्ध होना चाहती हैं, यह बात समझ मे आती है। जो व्यक्ति (गूढ) शक्तियो की खोज मे भटकता है उसे इस प्रकार का नशा चढे बिना नही रहता। मैं समझता हूँ कि यही कारण है कि हमारे सभी शास्त्रो मे शक्तियो और सिद्धियो को वर्ज्य कहा गया है और इसीलिए हठयोग की तुलना मे भक्ति-योग को अधिक अच्छा माना गया है।

—तालस्ताय फार्म, वैशाख सुदी १०, ८।५।१९११। सं० गां० वां०, खण्ड ११, पृ० ६३-६४]

- **हमारे सभी शास्त्रो में सिद्धियो और शक्तियो को वर्ज्य कहा गया है।**
- **हठयोग की तुलना में भक्तियोग को अधिक अच्छा माना गया है।**

३. इस्लाम की उन्नति क्यों हुई ?

[श्री शंकरलाल को लिखे पत्र से]

मेरी धारणा है कि इस्लाम धर्म की उन्नति का कारण मुसलमानो की तलवारें नही, किन्तु मुसलमान फकीरो की आत्माहुति ही है।

—२।९।१९१७। स० गां० वा०, खण्ड १३, पृ० ५२७]

४. ईसा मसीह

[रेवरेण्ड एम० वेल्स ब्राच को लिखे गए पत्र से]

मेरी धारणा है कि ईसामसीह ससार के महत्तम शिक्षको मे से एक थे। अवतार शब्द के हिन्दू-अर्थ मे मैं उन्हे अवतार मानता हूँ। जिस अर्थ मे कट्टर ईसाई-धर्म उन्हे ससार का त्राता समझता है उस अर्थ मे मैं उन्हे ससार का त्राता नही मानता। परन्तु वे उस अर्थ मे एक त्राता अवश्य थे, जिसमे बुद्ध, जरथुस्त्र,

---

१. मद्रास के निकट एक स्थान, जहाँ थियॉसफिकल सोसायटी का प्रधान कार्यालय है।

मुहम्मद तथा अन्य अनेक महान व्यक्ति थे। दूसरे शब्दो मे मै यह नही मानता कि समस्त ससार मे केवल ईसा ही देवत्व से विभूषित थे।

—लैंबर्नम रोड, गाम देवी, बम्बई, १२।५।१९१९। स० गा० वा०, खण्ड १५, पृ० ३१३]

५. इस्लाम की प्रवृत्ति

इस्लाम धर्म-निरपेक्ष और धार्मिक मे कोई भेद नही करता।

—अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गाधी, खण्ड, १६, पृ० १०५। मूल गुजराती। नवजीवन, ७।९।१९१९]

६. ईसाइयों को सन्देश

[रेवरेण्ड ई० स्टैनली जोस से भेंट के दौरान गाधी जी ने उनसे ईसाइयो को भारत मे क्या करना चाहिए, इस विषय मे कुछ सूत्र बताये थे। रेवरेण्ड जोस ने उन्हे गाधी जी की अनुमति से प्रचारित किया। यहाँ वे सन्देश-रूप मे प्रस्तुत हैं।—सम्पा०]

१ समस्त ईसाई, नेतागण और सभी, अधिकतर ईसा की तरह रहना प्रारम्भ करें।

२ आप ईसाई-धर्म का पालन उसे भ्रष्ट या नीचे गिराये बिना करे।

३ आप अपने केन्द्र-सिद्धान्त प्रेम पर अधिक बल दे।

४ आप अधिक सहानुभूति के साथ ईसाई-धर्म से इतर धर्मो का अध्ययन करें और उनकी अच्छी बातें खोजने का प्रयत्न करे।

—दिल्ली, ३।११।१९१९ से पूर्व। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गाधी, खण्ड १६, पृ० २८०]

७. बाइबिल : मेरी पथ-प्रदर्शिका

[श्री एस० डब्ल्यू० क्लीमेंस से भेंट-वार्ता के मध्य व्यक्त विचार]

बहुत बार ऐसे अवसर आये हैं कि मुझे ज्ञात नही हो सका कि किधर मुडना चाहिए। किन्तु मैंने बाइबिल पढी, विशेषकर 'नया करार' देखा और इसके सन्देश से मैंने शक्ति प्राप्त की।

—मेरठ, २२।१।१९२०। य० इ०, २५।२।१९२०। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गाधी, खण्ड १६, पृष्ठ ४९६]

८. इस्लाम की धार्मिक आस्था

मुस्लिम इतिहास कहता है कि इस्लाम की धवलता तलवार के बल पर स्थित नही रही। इस्लाम की तलवार ने उसकी रक्षा भले की हो, पर इस्लाम ने इसाफ और गैर-इसाफ का फैसला तलवार के बल पर नही किया। ससार मे आजतक कोई धर्म केवल तलवार के बल जीवित नही रह पाया। जब-तब तलवार खीच लेने की आदत खराब है, धर्म का नाश करनेवाली है। इस्लाम को उसके फकीरो, सूफियो और तत्त्वज्ञानियो ने उज्ज्वल किया है। उन्होंने अपनी या अपने धर्म की रक्षा तलवार के बल पर नही, बल्कि आत्मिक शक्ति के बूते की है। इस्लाम का इतिहास यही सिद्ध करता है।

—न० जी०। हि० न० जी० ४।५।१९२४]

९. धार्मिक की कसौटी

धार्मिको की कसौटी उनकी पवित्रता के द्वारा ही होगी। धर्म की रक्षा आप गुण्डो के हाथो जाने देंगे तो इस्लाम को भारी नुकसान पहुँचायेंगे।

—न० जी०। हि० न० जी०, १५।९।१९२४]

१०. ईश्वर एक है

पिछले गुरुवार की रात पहिले से समय तय करके कुछ मुसलमान मित्र मुझसे मिलने आये थे। उनमे मुझे सरगर्मी और सच्चाई दीख पडती थी। उन्होंने कहा, 'हम वेदो की अपौरुषेयता को मानते है। हम श्रीकृष्ण जी महाराज और श्रीरामचन्द्र जी महाराज (विशेषण उन्ही के हैं) को भी मानते हैं। फिर हिन्दू क्यो कुरान को अपौरुषेय मान कर हमारे साथ नही कहते—'ला इलाहि-लिल्लाह मुहम्मदरसूलिल्लाह (अर्थात् सब देवो मे खुदा एक है और मुहम्मद उसका नबी है।) हमारा मजहब सकुचित-विवर्जक नही है, उल्टे वह तो खास कर समावेशक—व्यापक है।'

मैंने उनसे कहा कि आपका उपाय उतना आसान नही है, जितना कि आप बताते है। आपका यह सूत्र चाहे कुछ सुशिक्षित लोगो के लिए ठीक हो, पर राह चलते लोगो के लिए वह काम न देगा। क्योकि हिन्दुओ की दृष्टि से गो-रक्षा और हरिकीर्तन, जिसमे बाजे के साथ बेरोकटोक सगीत करते हुए, मस्जिद के

सामने होकर भी जाना हो तो जाना हिन्दू धर्म का सार है और मुसलमानो के खयाल मे गो-वध और बाजा बजाने की रोक इस्लाम का सार-सर्वस्व है।

मैं यहा उन मुसलमान मित्रो के बताये आकर्षक सूत्र पर विचार करना चाहता हूँ कि उसमे से कम-से-कम मैं क्या मान सकता हूँ ? मेरा सहज स्वभाव हिन्दू है। और इसलिए मैं जानता हूँ कि इस पर मैं जो कहूँगा वह हिन्दुओ के बहु जन-समाज को भी पसन्द होगा।

सच पूछिए तो सामान्य रूप से मुसलमान ही वेदो की तथा दूसरे हिन्दू धर्म-ग्रन्थो की अपौरुषेयता को या कृष्ण अथवा राम के पैगम्बर, अवतार या देवता होने की बात कबूल न करेंगे। हिन्दुओ के लिए तो कुरान-शरीफ या पैगम्बर साहब को भला-बुरा कहने का यह नया तरीका निकला है। मैंने हिन्दुओ के समुदाय मे पैगम्बर साहब के प्रति आदर भाव देखा है। यहाँ तक कि हिन्दुओं के गीतो मे इस्लाम की तारीफ पाई जाती है।

अब सूत्र के पहिले भाग को लीजिए। ईश्वर वस्तुत एक है। वह अगम, अगोचर और मानव-जाति के, बहु जन-समाज के लिए अज्ञात है। वह सर्वव्यापी है। वह बिना आँख देखता है, बिना कानो सुनता है। वह निराकार, अभेद और अजन्मा है। उसके माता है, न पिता, न सन्तान, फिर भी वह पिता, माता, पत्नी या सन्तान के रूप मे पूजा ग्रहण करता है। यहाँ तक कि वह काष्ठ, पाषाण के रूप मे भी पूजा-अर्चा अंगीकार करता है, यद्यपि वह न तो काष्ठ है, न पाषाण आदि। वह हाथ नही आता। चकमा देकर निकल जाता है। अगर हम उसे पहिचान ले तो वह हमारे बिल्कुल निकट है। पर अगर हम उसकी सर्वव्यापकता का अनुभव न करना चाहे तो वह हमसे अत्यन्त दूर है। वेद मे अनेक देवता हैं। दूसरे धर्मग्रन्थ उन्हे देव-दूत या नबी कहते हैं। पर वेद तो एक ही ईश्वर का गुण-गान करते हैं।

मुझे कुरान को ईश्वर-प्रेरित मानने मे कोई सकोच नही होता, जिस प्रकार बाइबिल, जेन्दावेस्ता या ग्रन्थसाहब तथा दूसरे पवित्र धर्म-ग्रन्थों को मानने मे नही होता। ईश्वरीय प्रकाश किसी एक ही राष्ट्र या जाति की सम्पत्ति नही है। यदि मुझे हिन्दू-धर्म का कुछ भी ज्ञान है तो वह समावेशक, व्यापक, सतत-वर्धमान और परिस्थिति के अनुरूप नवीन रूप धारण करनेवाला है। उसके यहाँ कल्पना, तर्कना और तर्क के लिए पूरा-पूरा अवकाश है। मैंने कुरान और पैगम्बर साहब के प्रति आदर-भाव उत्पन्न करने मे हिन्दुओ के नजदीक तनिक भी दिक्कत महसूस नही की। पर हाँ, मुसलमानो के अन्दर वेदो के और अवतारो के प्रति वही आदर-भाव उत्पन्न करने मे मैंने अवश्य दिक्कत महसूस की है। भगवद्गीता

और तुलसीदास की रामायण से मुझे अजहद शान्ति मिलती है। मैं खुल कर स्वीकार करता हूँ कि कुरान, बाइबिल और ससार के अन्यान्य धर्मों के प्रति मेरा अति आदर-भाव होते हुए भी मेरे हृदय पर उनका उतना प्रभाव नही होता, जितना श्रीकृष्ण की गीता और तुलसीदास की रामायण का होता है।.

मैं जस्टिस अमीर अली के इस विचार से सहमत हूँ कि 'हारू-उल-रशीद' और 'मामू' के जमाने मे इस्लाम दुनिया के तमाम मजहबो मे सबसे ज्यादा सहिष्णु था। पर आगे चलकर उनके जमाने के धर्म-गुरुओ की प्रतिपादित उदारवृत्ति के खिलाफ प्रत्याघात शुरू हुए। इन प्रतिगामियो मे भी बडे विद्वान और प्रभावशाली लोग थे और उन्होने इस्लाम के उदार और सहिष्णु धर्मगुरुओ और तत्ववेत्ताओ को प्राय दाब लिया था। उस प्रत्याघात के प्रभाव से आज भी हम भारत मे दु ख पा रहे हैं। लेकिन इस बात मे तिल मात्र सन्देह नही है कि इस्लाम के अन्दर इस अनुदारता और असहिष्णुता को निकाल डालने की पूरी क्षमता है। हम बडी तेजी से उस काल के निकट पहुँच रहे हैं जब कि इन मित्रो का सुझाया सूत्र सारी मनुष्य-जाति को मान्य हो जायगा। इस समय आवश्यकता इस बात की नही है कि सबका धर्म एक बना दिया जाय बल्कि इस बात की है कि विभिन्न धर्मों के अनुयायी और प्रेमी परस्पर आदर-भाव और सहिष्णुता रखे।

हम सब धर्मों को मृतवत् एक सतह पर लाना नही चाहते, बल्कि विविधता मे एकता चाहते है। पूर्व-परम्परा तथा आनुवशिक सस्कार, जलवायु और दूसरी आसपास की बातो के प्रभाव को उन्मूलित करने का प्रयत्न केवल असफल ही नही अधर्म भी होगा। आत्मा सब धर्मों की एक है—हाँ, वह विभिन्न आकृतियो मे मूर्तिमान् होती है। और यह बात कालान्त तक बनी रहेगी। इसलिए जो बुद्धिमान है, समझदार हैं, वे तो ऊपरी कलेवर पर ध्यान देकर विभिन्न आकृतियो मे उसी एक आत्मा का दर्शन करेंगे। हिन्दुओ के लिए यह आशा करना कि इस्लाम ईसाई-धर्म और पारसी-धर्म को हिन्दुस्तान से निकाल दिया जा सकेगा, एक निरर्थक स्वप्न है। इसी तरह मुसलमानो का भी यह आशा करना कि किसी दिन सिर्फ उनके कल्पनागत इस्लाम का राज्य सारी दुनिया मे हो जायगा, कोरा स्वप्न है। पर अगर इस्लाम के लिए एक ही खुदा को और उसके पैगम्बरो की अनन्त परम्परा को मानना काफी होता हो तो हम सब मुसलमान है। इसी तरह हम सब हिन्दू और ईसाई भी हैं। सत्य किसी एक ही धर्म-ग्रन्थ की ऐकान्तिक सम्पत्ति नही है।

—१९।९।१९२४। यं० इ०। हि० न० जी०, २८।९।१९२४]

११. ईसा का कष्ट-सहन

[प्रश्नोत्तर]

प्रश्न—ईसा मसीह ने जो दूसरो के दु:खो का भार अपने सिर उठाया और सबको तारा (मुक्ति दी), इसके विषय मे आपकी क्या धारणा है ?

उत्तर—मुझ पर इस विचार का ज्यादा असर नही हुआ।

प्रश्न—आपको आघात पहुँचा ?

उत्तर—नही, आघात भी नही पहुँचा। हिन्दुओ मे भी ऐसी कुछ बाते है। परन्तु बाइबिल के कितने ही अश—जोन की वार्ता के कितने ही सुपरिचित अश—का अर्थ मैं कुछ दूसरी तरह करता हूँ। मैं यह नही मानता कि कोई किसी के पाप धो सकता है और किसी को मुक्त कर सकता है। परन्तु यह बात मानस-शास्त्र-सिद्ध है कि एक के दु ख अथवा पाप मे दूसरा दुखी हो सकता है और इस खयाल से कि दूसरे को दु ख हो रहा है, पहिले की उन्नति होती ह। परन्तु मुझे यह बात नही जँचती कि एक मनुष्य करोडो के लिए मर सकता है और उनको तार सकता है।

—न० जी०। हि० न० जी०, ७।१०।१९२४]

१२. ईसाई धर्म से सम्पर्क

आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि ईसाई धर्म से मेरा पहिला परिचय किस तरह हुआ और मुझे अपने धर्म-ग्रन्थो के प्रति अनुराग किस तरह पैदा हुआ ? मैं तो यह समझता था कि ईसाई होने के मानी है गोश्त खाना और शराब पीना। राजकोट मे एक व्यक्ति ईसाई हुआ था। लोग कहते थे कि वह ऐसा ही करता है। मेरा उससे पहिला परिचय इस तरह हुआ। इसी विचार को लेकर मैं लन्दन गया था। दो अग्रेजो ने मुझसे कहा—चलो हम साथ-साथ भगवद्गीता पढे । मुझे तो उस समय भगवद्गीता का भी ज्ञान नही था। मैंने आर्नाल्ड[1] का अनुवाद लिया। मेरे मन पर उसकी बडी छाप पडी। मैंने देखा कि उसने ग्रन्थ का हार्ट (तत्त्व) समझ कर अपने हृदय के उद्गार

---

१. श्री एडविन आर्नाल्ड, प्रसिद्ध अग्रेज कवि और भारतीय सस्कृति के अध्येता। इनकी कृति 'लाइट आफ एशिया' महात्मा बुद्ध के जीवन पर लिखित एक प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ है।

प्रकाशित किये है। फिर तो मैं उस पर मुग्ध हो गया। मैं सायकाल की प्रार्थना मे जिन श्लोको का पाठ करता हूँ वे मेरे रात-दिन के साथी हो गये। इसके बाद एक शाकाहारवाले उपाहार-गृह मे एक मित्र से भेंट हुई। उन्होने मुझे बाइबिल दी। मैं पुराने इकरार[1] के काण्ड एक के बाद एक पढता गया और मेरी रूह काँपने लगी। मन मे सवाल उठा, क्या ईसाई धर्म यही है? पर मैं उन मित्र को वचन दे चुका था कि मैं बाइबिल आदि से अन्त तक पढ जाऊँगा। इसलिए मैं सिर नीचा किये पढता ही चला गया। वचन का पालन करने के मेरे आग्रह ने मुझे बचाया। अन्त मे गिरि-प्रवचन[2] आया और मैंने आनन्द से उच्छ्वास किया। उससे मुझे परम शान्ति और आश्वासन मिला।

—न० जी०। हि० न० जी०, ७।१०।१९२४]

१३. धर्मान्तरण धर्म-सेवा नहीं

[ख्वाजा हसन निजामी ने गांधी जी से मुलाकात के दौरान उन्हें अब्दुल-कादिर जीलानी हज़रत गौस की एक दृष्टान्त-कथा सुनाई। कथा यो है—हज़रत गौस का एक पड़ोसी उनकी नमाज़ के वक्त बाजे बजाता और शोरगुल करता। हज़रत के मुरीद उस पर बिगड़ते और उसकी शिकायत करते। किन्तु सहिष्णु हज़रत यह कह कर टाल देते कि हम क्यो उसका खयाल करें। हम नमाज़ मे मन लगायें नकि उसके शोरगुल मे।

एक दिन पडोसी का शोरगुल बन्द हो गया तो हज़रत का कुतूहल जगा। पूछने पर मालूम हुआ कि पडोसी गिरफ्तार हो गया है और उस पर मुकदमा चल रहा है। हज़रत हाकिम के पास गये और बोले, "यह मेरा पड़ोसी है। मुझे इसकी लाज रखनी चाहिए। अगर इसे माफ करने से दूसरे को नुकसान पहुँचता हो तो इसे सजा दीजिए, अगर इसका कुसूर ऐसा हो कि इस पर जुर्माना करके छोड़ा जा सके तो इसे छोड़ने की मिहरबानी करें। जुर्माने की रक़म मैं अदा कर दूंगा।" इस पर हाकिम ने उसे छोड़ दिया। पड़ोसी हज़रत के उपकार से दब गया, अपने किये पर शर्मिन्दा हुआ और उसने इस्लाम स्वीकार कर लिया।

गांधी जी ने इस कहानी पर ख्वाजा साहब से जो प्रतिक्रिया व्यक्त की उसे हम यहाँ दे रहे हैं।—सम्पा०]

---

१. ओल्ड टेस्टामेण्ट।

२. सरमन आन द माउण्ट।

ऐसी तो कितनी ही मिसाले इस्लाम मे भरी पडी है। पर आपका इन उदाहरणो को हिन्दुओ के सामने पेश करना ठीक नही। क्या सिर्फ इस्लाम मे ही मिसाले मिलती है? हिन्दू-धर्म मे भी ऐसे दृष्टान्त पग-पग पर मिलते है। परन्तु जिस प्रकार ऐसे उदाहरणो से किसी को अपना धर्म छोडकर हिन्दू बनने की जरूरत नही, उसी प्रकार अब्दुल कादिर की मिसाल से किसी को इस्लाम स्वीकार करने की जरूरत नही। इस्लाम मे अब्दुल कादिर-जैसे बहुत से व्यक्ति हो और उन्हे देखकर सारा हिन्दुस्तान मुसलमान हो जाय तो मुझे तनिक भी चिन्ता नही। परन्तु जिस प्रकार हिन्दुओ मे श्रेष्ठ और दुष्ट व्यक्ति हो गये है उसी प्रकार इस्लाम मे भी बुरे लोग है। मैं नही चाहता कि आप अब्दुल कादिर की मिसाल इस्लाम कुबूल करवाने के लिए पेश करें। आप तो हिन्दुओ से दूसरी बात कह सकते है। आप भगी-चमारो को मुसलमान बन जाने के लिए क्यो कहते है? आप हिन्दुओ से कह सकते है कि आपके यहाँ तो बडे-बडे उदार-चरित व्यक्ति हो गये है। आप तो प्राणिमात्र मे अभेद-भाव मानते है, आप मनुष्य को अस्पृश्य किस तरह मान सकते है? इसान को अछूत बनाये रखने मे आपको शर्म नही आती? इस प्रकार आप हिन्दू-धर्म की सेवा कर सकते है।

मैं अब्दुल कादिर साहब की मिसाल पेश कर मुसलमानो से कह सकता हूँ कि आपके मजहब मे ऐसे सत्य-प्रेमी, खामोशी-पसन्द, दुश्मन को माफ करनेवाले साधु पुरुष हो गये है। आप उनकी बदनामी किस तरह कर सकते है? ऐसा कह कर मै इस्लाम की सेवा करूँगा। फिर यदि हम अपने धर्म को इतना स्वच्छ कर ले, जिससे दूसरो को स्वय ही उसमे आने की इच्छा हो तो उसे कौन रोक सकता है?

पर किसी की गरीबी से फायदा उठा कर यदि कोई किसी से कहे,—"ले मै तुझे इतना रुपया देता हूँ, तेरा कर्ज उतार दूंगा, तेरे धर्मवाले मुझे दिक करते है, तू हमारे मजहब मे आ जा' तो यह बुरी बात है। इस हालत मे वह इस्लाम को चाह कर नही आता, बल्कि पैसे को देख कर आता है। मुहम्मद साहब के पास जो लोग आते थे उन्हे क्या बढिया-बढिया खाना मिलता था? (उन्हें) खजर और पानी और अगर वह भी न मिले तो फाका (मिलता था)। फिर भी उनके व्यक्तित्व से आकर्षित होकर, उनकी रूहानी ताकत से प्रेरित होकर बहुत-से लोग उनके पास जाते और मुसलमान बनते थे। यदि कोई मुहम्मद साहब पैदा हो और उनके प्रभाव से सारा ससार मुसलमान हो जाय तो मुझे तनिक भी अफसोस न हो।

—न० जी०। हि० न० जी०, २६।१०।१९२४]

१४. धर्म-ग्रन्थों का प्रचार प्रमाण नहीं

'एक हितचिन्तक' ने मेरे चिन्तन के लिए नीचे लिखी पक्तियाँ भेजी है:—

"बाइबिल को लोग ५६६ भाषाओ मे पढ़ सकते हैं, पर उपनिषदो और गीता को कितनी भाषाओं में पढ़ सकते हैं? पादरियो ने कितने कुष्ठालय और दलित-पीड़ित लोगो के लिए कितनी संस्थाएँ खोल रखी हैं? आपने कितनी खोली हैं?"

ऐसे टेढे प्रश्न मुझसे सामान्यत हमेशा पूछे जाते है। 'एक हितचिन्तक' को जवाब देने की ज़रूरत नही है। पादरियो के उत्साह, उमग और त्याग के प्रति मेरे मन मे बडा आदर-भाव है। पर मैं उन्हे यह बताने मे कभी नही हिचका कि उनकी ये दोनो चीजें बहुधा अस्थानीय हुआ करती हैं। यदि बाइबिल का अनुवाद ससार की प्रत्येक भाषा मे हो जाय तो उससे क्या? पेटेण्ट दवाओ का विज्ञापन बहुत-सी भाषाओं मे किया जाता है, इसलिए क्या उसकी महत्ता उपनिषदो से बढ सकती है? कोई भूल अपने बहु-प्रचार के कारण सत्य का स्थान नही ग्रहण कर सकती। और सत्य इस कारण मिथ्या नही हो सकता कि उस पर किसी की दृष्टि नही पडी।

बाइबिल का उपदेश जिन दिनो पूर्वकालीन ईसाई-उपदेशको द्वारा किया जाता था, उन दिनो उसका सामर्थ्य आज से कही अधिक था। 'एक हितचिन्तक' अगर यह समझते हो कि उपनिषदो की अपेक्षा बाइबिल का अधिक भाषाओ मे अनुवाद होना उसकी श्रेष्ठता की कसौटी है, तो कहना पडेगा कि उनको पता नही है कि सत्य किस तरह काम करता है। सत्य का फल तभी हो सकता है जब तदनुसार आचरण किया जाय। किन्तु यदि मेरा उत्तर पाने से 'एक हितचिन्तक' को कुछ सन्तोष हो सकता है तो मैं उनसे प्रसन्नता के साथ कहूँगा कि हाँ, बाइबिल की अपेक्षा उपनिषदो और गीता का अनुवाद बहुत कम भाषाओ मे हुआ है। मुझे कभी इस बात की जिज्ञासा नही हुई कि उनके अनुवाद कितनी भाषाओ मे हुए हैं।

दूसरे प्रश्न के विषय मे भी मुझे यह स्वीकार करना चाहिए कि पादरियो ने कुष्ट-चिकित्सालय तथा अन्य सस्थाएँ बहुत-सी खोली है, मैंने एक भी नही। फिर भी मेरी स्थिति अटल है। ऐसी बातो मे मै पादरियो अथवा अन्य किन्ही लोगो की प्रतिस्पर्धा नही कर रहा हूँ। मैं तो जिस प्रकार ईश्वर मार्ग दिखलाता है उसी प्रकार मनुष्य-जाति की सेवा करने की कोशिश कर रहा हूँ। कुष्ठालय आदि खोलना मनुष्य-जाति की सेवा का एक साधन है, वह भी शायद सर्वोत्तम

नही। परन्तु ऐमी उच्च सेवाओ की उच्चता भी उम अवस्था मे बहुत घट जाती है, जव उमका प्रेरक-हेतु धर्मान्तरण करना होता है। वही मेवा मर्वोच्च होती है जो केवल मेवा के लिए की जाती है। यहाँ मेरे आशय को कोई गलत न ममझे। जो पादरी नि स्वार्थ भाव मे ऐमे कुष्ठालय मे सेवा करते है, वे मेरे आदर के अधिकारी हैं। मुझे यह स्वीकार करते हुए वडी लज्जा का अनुभव होता है कि हिन्दू लोग इतने निष्ठुर हो गये हैं कि मसार की वात तो दूर, अपने देश के ही दलित-पतित लोगो की वहुत कम चिन्ता करते हैं।
—न० जी०। हि० न० जी०, २६।२।१९२५]

- **कोई भूल अपने वहु प्रचार के कारण सत्य का स्थान नहीं ग्रहण कर सकती।**
- **सत्य इस कारण मिथ्या नहीं हो सकता कि उस पर किसी की दृष्टि नहीं पडी।**
- **वही सेवा सर्वोच्च होती है जो केवल सेवा करने के लिए की जाती है।**

१५. इस्लाम : कुछ विचार

किमी कार्य का चाहे पैगम्बर के व्यवहार से ममर्थन किया जाता हो या इस्लामी दुनिया के मामुदायिक निर्णय मे किया जाता हो, लेकिन जवतक वह इस्लाम का एक अग माना जाता है, तवतक मेरे-जैसे वाहर के आदमी के लिए उसमे कोई फर्क नही हो सकता। मैं अपने मुसलमान मित्रो से यह चाहता हूँ कि वे ऐमे कार्यो की, जिमे ममार के वुद्धिमान पुरुष दया-धर्म के खिलाफ मानते हैं, विना किमी हिचकिचाहट के निन्दा करे, फिर चाहे उमका मूल कही भी क्यो न हो। .... इस्लाम के नाम से जिन कार्यों का ममर्थन किया जाता है, उनके वारे मे यदि मैं प्रामाणिक राय जाहिर करूँ और वह (मेरी) इज्जत नष्ट हो जाय तो वह एक दिन की खरीद के लायक भी नही है। सच वात तो यह है कि मुझे इज्जत की दरकार नहीं है। यह तो राजा-महाराजाओ के दरवार की वस्तु है। मै तो जिम तरह हिन्दुओं का मेवक हूँ, उमी तरह मुसलमान, पारमी, यहूदी इत्यादि का भी मेवक हूँ

मेरी स्थिति स्पष्ट है। इस्लाम के वारे मे लिखते ममय मैं उसकी इज्जत का उतना ही खयाल रखता हूँ, जितना हिन्दू-धर्म की प्रतिष्ठा का ध्यान रखता हूँ। दोनो का अर्थ करने की मेरी पद्धति भी एक है। शास्त्र मे उक्त वात लिखी है—यह प्रमाण देकर मैं हिन्दू-धर्म की किमी वात का समर्थन नही करता। उमी प्रकार कुरान मे लिखी होने के कारण मैं किमी वात का समर्थन नहीं कर सकता। मभी

बातो की आलोचना विवेक-दृष्टि से होनी चाहिए। लोगो की विवेक-बुद्धि को इस्लाम जँचता है, तभी वह उन्हे पसन्द आता है। कालान्तर मे यह मालूम हो जायगा कि दूसरे किसी तरीके से उसकी आलोचना करने पर बडी मुश्किलें पेश आयेगी। निस्सन्देह ससार मे ऐसे पदार्थ भी हैं जो बुद्धि से परे हैं। यह बात नही कि हम बुद्धि की कसौटी पर उनकी परीक्षा नही करना चाहते, लेकिन वे स्वय ही उसकी मर्यादा मे नही आते। वे अपने सहज रूप के कारण बुद्धि को थका देते है। ईश्वर के अस्तित्व का रहस्य ऐसा ही है। वह बुद्धि के विरुद्ध नही है, उससे परे है। धर्म त्याग का व्यापक अर्थ लिया जाय तो उसका अर्थ अपने धर्म का त्याग होता है। क्या यह बहुत बडा अपराध है कि इसकी सजा मौत होनी चाहिए? यदि है, तो वह हिन्दू जो मुसलमान हो गया है, अगर फिर हिन्दू-धर्म मे आ जाय तो उसका, यह कार्य उसी प्रकार का एक अपराध होगा, जिसकी बहुत बडी सजा होनी चाहिए।

—यं० इ०। हि० न० जी०, २।४।१९२५]

● वह (ईश्वर) बुद्धि के विरुद्ध नहीं है, उससे परे है।

१६. इस्लाम शस्त्र-धर्म नहीं

मुझे यह कहना ठीक नही मालूम होता कि इस्लाम तलवार का धर्म है। इतिहास ऐसा नही बतलाता।

—न० जी०। हि० न० जी०, २७।८।१९२५]

१७. इस्लाम, शान्ति का धर्म

मैं इस्लाम को उसी अर्थ मे शान्ति-धर्म मानता हूँ, जिसमे ईसाई, बौद्ध या हिन्दू-धर्म को मानता हूँ। निस्सन्देह शान्ति की मात्रा मे अन्तर है, मगर उन धर्मो का उद्देश्य शान्ति है। मैं कुरान के वे वाक्य जानता हूँ, जो इसके विरुद्ध प्रस्तुत किये जा सकते है, लेकिन वेदो से भी तो ऐसे ही वाक्य निकालना उतना ही सम्भव है। अनार्यों के विरुद्ध वचनो का और क्या अर्थ लगेगा? अवश्य ही इस युग मे उनका दूसरा अर्थ है, किन्तु किसी समय उनका रूप भयकर अवश्य था। हम हिन्दुओ का अछूत के साथ किये जानेवाले व्यवहार का और क्या अर्थ है? चलनी भला सूप पर क्यो हँसे? बात यह है कि हम सबका विकास हो रहा है। मैंने अपना मत प्रकट कर दिया है। इस्लाम के अनुयायियो की तलवार और छुरी बात-बात मे निकला करती है। लेकिन यह कुरान की शिक्षा के कारण नही है।

मेरे विचार मे उसका कारण वह स्थिति है, जिसमे इस्लाम का जन्म हुआ था। ईसाई-धर्म का इतिहास खून-खराबी से भरा पड़ा है, लेकिन इसका कारण ईसा की त्रुटि नही। इसका कारण यह है कि ईसा की उच्च शिक्षा का जिस स्थिति मे प्रचार हुआ वह उसे ग्रहण करने योग्य न थी।

ये दोनो—इस्लाम और ईसाई-धर्म—अभी कल के धर्म है। अभी उनका अर्थ लगाया ही जा रहा है। मौलवियो के इस अधिकार को कि वे मुहम्मद की शिक्षाओ का अन्तिम अर्थ लगा सकते है, मै उसी प्रकार इन्कार करता हू, जिस प्रकार ईसा की शिक्षाओ का अर्थ करने के पादरियो का। दोनो का अर्थ उन दोनो के जीवन मे लगता है, जो इनका पालन अपने जीवन मे पूरी शान्ति और आत्म-बलिदान के साथ कर रहे है। शोर-गुल कोई धर्म नही है, बडी बुद्धि से ही विशाल विद्या नही होती, धर्म का स्थान हृदय है। हम हिन्दुओ, ईसाइयो, मुसलमानो और अन्य धर्मावलम्बियो को अपने धर्म का भाष्य अपने हृदय के रक्त से लिखना होगा, और किसी प्रकार नही।

—य० इ०। हि० न० जी०, २०।१।१९२७]

- धर्मो का उद्देश्य शान्ति है।
- शोर-गुल कोई धर्म नहीं है।
- बडी बुद्धि से ही विशाल विद्या नहीं होती।
- धर्म का स्थान हृदय है।
- हिन्दुओ, ईसाइयो, मुसलमानो और अन्य धर्मावलम्बियो को अपने धर्म का भाष्य अपने रक्त से लिखना होगा।

१८. दिगम्बर-श्वेताम्बर

[उदयपुर राज्य मे जैनो के दो सम्प्रदाय दिगम्बर और श्वेताम्बर के बीच हुए झगडे पर गाधी जी की प्रतिक्रिया।—सम्पा०]

असल बात तो यह है कि हम धर्म को भूल गये है। हर व्यक्ति अपनी ही बात को कायम रखना चाहता है। किसी को यह जानने की इच्छा भी नही है कि धर्म क्या है, वह कहाँ है, उसे कैसे पहिचाना जा सकता है और उसकी रक्षा किस तरह हो सकती है।

पर जैनो से इससे ज्यादा अच्छी बातो की कल्पना की जानी चाहिए। वे तो स्याद्वाद के पुजारी है, दया-धर्म के ठेकेदार है। उनमे सहिष्णुता होनी चाहिए। अर्थात् मतभेद रखनेवाले प्रतिपक्षी के प्रति उनसे उदारता की आशा की जाती है।

उनको यह मानना चाहिए कि उन्हे स्वय अपना सत्य जितना प्रिय है उतना ही प्रिय प्रतिपक्षी को भी उसका सत्य जरूर होगा। जहाँ विरोधी भूल करता दीखे, वहाँ भी उन्हे रोष छोड कर दया-भाव से काम लेना चाहिए।

परन्तु इन लेखो को पढ कर मुझे ऐसा आभास होने लगा मानो स्याद्वाद और दया-धर्म तो केवल जैन-घरो और जैन-मन्दिरो की पोथियो मे ही शोभा देता है। मुझे इसका यत्र-तत्र अनुभव होता रहता है। यदि कही दया-धर्म का पालन होता है तो उसकी सीमा चीटियो को चून देने और मछलियो को बचाने मे समाप्त हो जाती है। यदि इस धर्म का पालन करने मे मनुष्य के साथ कही क्रूरता हो रही हो, तो वह धर्म समझी जाती है।

रायचन्द भाई कहते थे कि जब से जैन-धर्म बनियो के यहाँ गया, उसका व्यवहार भी बनियो का-सा हो गया है। ज्ञान और वीरता का, जो दया के लक्षण होने चाहिए, प्राय लोप हो गया और दया तथा भीरुता एकार्थवाची होकर दया का पतन हो गया।

धर्म और धन एक-दूसरे के कट्टर शत्रु हैं। फिर भी जैन-मन्दिरो मे लक्ष्मी-देवी जा बसी। अर्थात् धार्मिक सिद्धान्तो का निर्णय तपस्या से नही, बल्कि अदालतो मे वकीलो के तर्कों से होने लगा। फलत यह दशा हो गई है कि जो अधिक धन देता, वही धर्म का निर्णय अपने अनुकूल करा लेता।

मैं जैनो को जानता हूँ। वैष्णव-सम्प्रदाय और वैष्णवो से मेरा जितना परिचय है, लगभग उतना ही परिचय जैनो और जैन-सिद्धान्तो से है। अनेक व्यक्ति मुझे द्वेष-भाव से जैन समझते हैं और अनेक प्रेमपूर्वक चाहते हैं कि मैं जैन हो जाऊँ। अनेक लोग मेरा जैनो के प्रति पक्षपात देख कर मुझ पर प्रसन्न भी होते हैं। मैंने जैनो के ग्रन्थो से बहुत-कुछ सीखा है। अनेक जैन-मित्रो का सत्सग मेरे लिए बहुत लाभदायक सिद्ध हुआ है। इसीलिए उपर्युक्त बाते कहकर उन लोगो को जाग्रत करने की इच्छा हुई, जिन्हे जैन-धर्म प्रिय है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर मे शत्रुता क्यो हो? दोनो के सिद्धान्त एक ही हैं। थोडा-सा भेद है। वह ऐसा नही जो असह्य हो, बल्कि ऐसा है, जिससे दोनो शान्ति और समाधानपूर्वक अपने-अपने धर्म का पालन कर सकते हैं—जैसे द्वैत और अद्वैत।

जैनो मे साधु और साध्वियाँ बहुत होती हैं। उन्हे समय भी बहुत मिलता है। वे सच्ची तपश्चर्या क्यो न करें? क्यो वे शुद्ध ज्ञान न प्राप्त करें? क्यो अपना अनुभूत ज्ञान समाज को न दे?

मैं जैन और हिन्दू-धर्म को अलग नही मानता। स्याद्वाद की सहायता से ही मैं हिन्दू अर्थात् वैदिक-धर्म और जैन-धर्म का ऐक्य-साधन कर सकता हूँ।

मैंने तो उसकी सहायता से अपने लिए बहुत पहिले धर्मों का ऐक्य-साधन कर लिया है। श्वेताम्बर-दिगम्बर के झगडो का न्याय अखबारो और अदालतो मे नही प्राप्त हो सकता। वह तभी प्राप्त हो सकता है जब दोनो या एक ही, दोनो के लिए प्रायश्चित्त करे और शुद्ध हो जाय। जिससे यह भी न बन पडे वह धर्म का नाम छोड कर नम्रतापूर्वक मौन धारण कर ले।
—न० जी०। हि० न० जी०, २३।६।१९२७]

- **हम धर्म को भूल गये हैं।**
- **धर्म और धन एक दूसरे के कट्टर शत्रु हैं।**
- **मैं जैन और हिन्दू-धर्म को अलग नहीं मानता।**

१९. बौद्ध-धर्म

मैंने अनेक बार लोगो को यह कहते हुए सुना है और बौद्ध धर्म का मर्म प्रकट करने का दावा करनेवाली पुस्तको मे पढा भी है कि बुद्ध ईश्वर को नही मानते थे। मेरी नम्र राय मे इस प्रकार की मान्यता बुद्ध की शिक्षा के केन्द्रीय तत्त्व के ही विरुद्ध है। यह गडबड इसलिए पैदा हुई कि बुद्ध ने अपने जमाने मे ईश्वर के नाम पर चलनेवाली तमाम बुराइयो को अस्वीकार कर दिया था और यह ठीक ही था। उन्होने बेशक इस खयाल को मानने मे इन्कार कर दिया था कि ईश्वर नामधारी प्राणी द्वेष से काम लेता है, अपने कर्मो पर पश्चात्ताप कर सकता है और सासारिक राजाओ की भाँति प्रलोभनो मे फँस सकता है और उसके कोई विशेष कृपा-पात्र भी हो सकते हैं। उन्होने इस मान्यता का प्रबल विरोध किया कि ईश्वर नामधारी प्राणी को अपने सन्तोष के लिए पशुओ का ताजा रक्त चाहिए, ताकि वह खुश हो सके—उन पशुओ का जो उसकी अपनी ही सृष्टि है। इसलिए उन्होने ईश्वर को फिर से ठीक स्थान पर आसीन किया और उस शुभ्र सिंहासन को हडप करके बैठे हुए अनधिकारी को वहाँ से च्युत कर दिया। उन्होंने इस विश्व के नैतिक शासन के चिरस्थायी और अटल अस्तित्व पर जोर दिया और उसकी फिर से घोषणा की। उन्होने निस्सकोच कहा कि धर्म ही ईश्वर है।

ईश्वर के नियम शाश्वत और नित्य होते है। उन्हे ईश्वर से अलग नही किया जा सकता। ईश्वर की पूर्णता की यह अनिवार्य शर्त है। इसीलिए यह भ्रान्ति हुई है कि बुद्ध का ईश्वर मे विश्वास नही था और वे केवल नैतिक धर्म को मानते थे। और स्वय ईश्वर के सम्बन्ध मे इस गडबड के कारण निर्वाण-जैसे महान शब्द को ठीक तरह समझने के बारे मे भी गडबड हुई। अवश्य ही निर्वाण का अर्थ

सर्वथा नाश नही है। जहाँ तक मैं बुद्ध के जीवन के केन्द्रीय तथ्य को समझ सका हूँ, निर्वाण हमारे अन्दर की सारी नीचता, सारी बुराई और सारी अधमता का ही सर्वनाश है। निर्वाण कब्र की काली और मृत शान्ति नही है, परन्तु ऐसी आत्मा की सजीव शान्ति और सजीव सुख है जिसे स्वय अपना भान है, और जिसे अविनाशी परम सत्ता के हृदय मे अपना स्थान प्राप्त कर लेने का भी भान है।
—यं० इं०, २४।११।१९२७]

- **धर्म ही ईश्वर है।**
- **ईश्वर के नियम शाश्वत और नित्य होते हैं।**
- **निर्वाण हमारे अन्दर की सारी नीचता, सारी बुराई और सारी अधमता का ही सर्वनाश है।**

२०. बाइबिल : मेरी नज़र में

न्यू टेस्टामेण्ट से मुझे शान्ति मिली और अपार हर्ष हुआ, वह ओल्ड टेस्टामेण्ट के कुछ हिस्सो से उत्पन्न हुई अरुचि के बाद मेरे पढने मे आया। मान लीजिए, आज मुझसे गीता छीन ली जाय और उसकी सब बाते मैं भूल जाऊ, परन्तु मुझे 'गिरि-शिखर-प्रवचन' (दि सर्मन ऑन दि माउण्ट) की पुस्तिका मिल जाय, तो मुझे उससे वही आनन्द प्राप्त होगा जो गीता से होता है।
—यं० इं०, २२।१२।१९२७]

२१. ईसाई-मिशनरी और धर्मान्तरण

मैं मानता हूँ कि भूतदया की आड मे किया गया धर्मान्तर और कुछ नही तो आरोग्यनाशक अवश्य है। इस देश के निवासियो को स्वभाव से ही इस बात पर चिढ है। धर्म एक अत्यन्त गहन वस्तु है, वह हृदय की गुफा को छूनेवाली है। ईसाई-धर्म माननेवाले किसी डाक्टर ने मेरे रोग का इलाज करके मुझे स्वस्थ किया, सिर्फ इसीलिए मुझे अपना धर्म क्यो बदलना चाहिए? अथवा जब मैं ऐसे डाक्टर का इलाज कराता होऊं, उन दिनो ऐसे परिवर्तन की आशा या सूचना क्यो करनी चाहिए? डाक्टरी सेवा ही क्या अपने काम का पुरस्कार और सन्तोष का विषय नही है? मैं पादरियो के मदरसे मे पढ रहा होऊँ, तो उन दिनो मुझ पर ईसाई-धर्म की शिक्षा का भार क्यो डाला जाय? धर्म पार्थिव वस्तुओ की तरह दान की वस्तु नहीं है। वह तो हृदय की भाषा-द्वारा दिया जाता है। जिस मनुष्य

के अन्दर धर्म-भावना सजीव है वह गुलाब के फूल की तरह अपनी सुगन्धि चारो ओर फैलाये बिना नही रहता। आँखो से अगोचर होने के कारण पुष्प-पँखुरियो के रग की प्रकट शोभा की अपेक्षा उसका प्रभाव कही अधिक व्याप्त होता है।

मैं धर्मान्तर का विरोधी नही हूँ, परन्तु उसकी वर्तमान रीति का विरोधी हूँ। धर्मान्तर ने आज दूसरी चीजो की तरह व्यापार का रूप ग्रहण कर लिया है।

मैं यह ज़रूर कहता हूँ कि भारतवर्ष के लिए उसके महान धर्म पर्याप्त है। ईसाई और यहूदी-धर्म के अतिरिक्त हिन्दू-धर्म और उसकी शाखाएँ, इस्लाम और पारसी धर्म, ये सब जीवित धर्म है। कोई भी धर्म एकाकी सम्पूर्ण नही। सब धर्म अपने अनुयायियो के समान रूप मे प्रीति-पात्र है। आज इस बात की ज़रूरत नही है कि हर कौम अपने धर्म को दूसरे सभी धर्मो मे अच्छा सिद्ध करने का निरर्थक प्रयास करे। सच्ची ज़रूरत तो जगत् के महान् धर्मो के अनुयायियो मे मैत्री-भाव उत्पन्न करने की है। इस प्रकार के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध मे हम सब अपने-अपने धर्मों की त्रुटियो और गन्दगी को दूर करेंगे।

मेरी उपर्युक्त बात से यह सिद्ध होता है कि मेरे विचार मे हिन्दुस्तान को ऐसे धर्मान्तर की तनिक भी आवश्यकता नही है। आत्मशुद्धि, आत्म-साक्षात्कार के अर्थ मे धर्मान्तर इस जमाने की बडी-से-बडी आवश्यकता है। पर यह, वह चीज कदापि नही, जिसका अर्थ सदा भ्रष्टता किया जाता रहा है। जो लोग भारतवर्ष का धर्म बदलना चाहते है, उनसे कहा जा सकता है, हकीम जी, आप अपना ही इलाज कीजिए।

—न० जी०। हि० न० जी०, ३०।४।१९३१]

- भूतदया की आड मे किया गया धर्मान्तर . आरोग्यनाशक है।
- धर्म एक अत्यन्त गहन वस्तु है, वह हृदय को गुफा को छूनेवाला है।
- धर्म पार्थिव वस्तुओ की तरह दान की वस्तु नहीं है। वह तो हृदय की भाषा-द्वारा दिया जाता है।
- धर्मान्तर ने आज दूसरी चीजो की तरह व्यापार का रूप ग्रहण कर लिया है।
- भारतवर्ष के लिए उसके महान धर्म पर्याप्त हैं।
- कोई भी धर्म एकाकी सम्पूर्ण नहीं।
- सब धर्म अपने अनुयायियो के समान रूप मे प्रीति-पात्र हैं।
- हिन्दुस्तान को . धर्मान्तर की तनिक भी आवश्यकता नहीं।

२२. दिगम्बर साधु

नग्नावस्था के बारे मे मैंने जो कुछ लिखा है, उस पर मेरे पास उचित टीकाएँ आई है। किसी-किसी (टीका) भेजनेवाले ने क्रोध भी प्रकट किया है। कुछ लोगो की यह भी सूचना है कि चूंकि दिगम्बर-जैन भाइयो की भावना को चोट पहुँची है, इसलिए मुझे अपना लेख वापस ले लेना चाहिए।

मैंने अपना लेख केवल धर्म-भाव से लिखा था। ऐसे लेख मित्रो का दु ख दूर करने के लिए भी वापस नही लिये जा सकते। यदि वापस किया जाय, तो धर्म की मधुर चर्चा न हो सके। मेरा कहना है कि सरदार की बात कानून नही है। स्वराज्य मिलने पर जैसा लोक-मत कहेगा, तदनुसार ही होगा। धार्मिक भावना किसे कहा जाय, यह हमेशा विचारणीय होगा। इसका विचार भी अदालतें ही करेंगी। मुझ-जैसे तो चर्चा करके सिर्फ लोक-मत तैयार कर सकते हैं। इसलिए मैं दिगम्बर-जैन भाइयो से प्रार्थना करता हूँ कि वे इस विषय की चर्चा तटस्थ भाव से करें और दूसरो को करने दें।

जैन-मत के प्रति मेरा इतना अधिक पक्षपात है, कि बहुतो ने मुझे जैन ही माना है। अपरिचित जैनमण्डली मे जब मुझे अनुचित सम्मान का त्याग करने की इच्छा से यह कहना पडा है कि मैं जैन नही हूँ, तब मेरे आसपास स्थित जन-समाज को आश्चर्य हुआ है, और चोट पहुँची है। मुझे दिगम्बर-मत के लिए आदर-भाव है। मैंने कुछ दिगम्बर-ग्रन्थ पढे हैं। आदर्श-रूप मे मुझे नग्नावस्था प्यारी है। अपने बालको को मैंने विचारत नगा रक्खा है। इसलिए सबको यह मान लेना उचित है कि मेरी सम्मति मित्रतापूर्ण और धर्म-रक्षा के लिए ही होती है। सम्भव है कि मैं विचार-दोष करता होऊँ। इस कारण जिसकी बुद्धि को मेरी राय पसन्द न पडे, वह अवश्य उसका त्याग करे। लेकिन मुझ पर गुस्सा न हो। रोष या क्रोध धर्म-सम्बन्धी या अन्य विचारो के समझने मे विघ्न पैदा करता है, इसलिए त्याज्य है।

. दिगम्बर साधु का निर्विकार होना बिल्कुल सम्भव है। लेकिन मैं यह बात स्वीकार नहीसकता कर कि उन सब को निर्विकार होना ही चाहिए। मैं मानता हूँ कि साधुता का दावा नही किया जा सकता। साधुता स्वयसिद्ध होती है। सबूत और दावे की अपेक्षा रखनेवाली साधुता, साधुता नही। ऐसी साधुता की रक्षा की आवश्यकता नही होती। दिगम्बर साधुता, साधुता की पराकाष्ठा होनी चाहिए। उसे अवलम्बन किसका हो? ऐसी दिगम्बरता को कानून या अदालत की रक्षा की आवश्यकता नही होती। जो स्वभावत निर्विकार है, वह

किसी का ध्यान आकर्षित करे, और यदि यह आश्चर्य की बात न हो, तो मानना चाहिए कि ऐसे साधु को कचहरी मे जाने या जेल जाने से दिगम्बरता की उत्कृष्टता वताने का अनायास अवसर मिलता है।

साधु सच्चे भी होते है और बनावटी भी। बनावटी साधुओ की सख्या असीम है। दोनो का भेद कौन करेगा? या चाहे जो नगा घूमे, उसे रोकना न चाहिए? ऐसा करने से अनर्थ न होगा? यह कहना ठीक नही कि विकारी नग्न रह ही नही सकता। मर्यादा का त्याग करने के वाद विकारी लज्जा क्यो न छोडेगा? विकारी स्थिति मे भी नग्न रहने से वह क्षुब्ध क्यो होगा? साधारणत नग्नावस्था के हिमायती यह मानते है कि विकारी स्थिति मे भी स्त्री पुरुष नग्न हो, तो हानि नही। वे साथ ही यह भी मानते हैं कि विकार ही मनुष्य की सामान्य स्थिति है, इसलिए नग्नावस्था से विकार वृद्धि हो, तो उसमे दोष समझने का कोई कारण नही। विकार साधारण वात है, तो उसकी तृप्ति भी साधारण ही हो सकती है। इस प्रकार यह भोग-प्रिय, भोग को धर्म माननेवाला सम्प्रदाय मानता है कि नग्नावस्था मे कही भी दोष नही है। मर्यादाशील, सयमी दिगम्वर-जैन इस भोग-धर्म का समर्थन करने को तैयार है? वे समाज को विपावत वना हुआ देखने को तैयार है? ऐसी स्थिति के लिए वे जिम्मेवार वनेगे? मुझे विश्वास है कि इसे पढते समय ही उन्हे कँपकँपी छूटेगी। इसलिए अगर वे गहरे पैठेंगे तो देखेंगे कि इस ज़माने मे गुह्येन्द्रिय को ढकने की जो प्रथा है, उसकी रक्षा करना धर्म है। इसीलिए, भले लौकिक मर्यादा के लिए ही, दिगम्वर-साधु थोडे समय के लिए लँगोटी धारण करे, या नग्न विचरते हुए जो कष्ट पडे, उन्हे सह ले, लेकिन जैनेतर हम उनकी नग्नावस्था को व्यवहार मे नही उतार सकते। अपवाद मानने से सकट का सामना करना पडता है, इसलिए हम अपवाद न माने।

लेकिन वालक नग्न रहता है, उसका क्या? उसे कौन रोकता है? यह उपमा वहुत दोषपूर्ण है। वालक स्वभाव से निर्विकार है। साधु, करोडो मे कोई, अत्यन्त अभ्यास के वाद, निर्विकारिता प्राप्त करता है। अखिल विश्व मे वालक नग्न रहता है। साधु मे नग्नावस्था अपवाद-रूप है। वालक मे विकार सम्भव नही, और, साधु मात्र मे विकार असम्भव नही। वालक को अन्धे भी पहचान सकते है। साधु को देखकर विरले ही परख सकते है। इसलिए वालक की नग्नावस्था का उदाहरण निर्णय तक पहुँचने मे हमारी सहायता नही करता। उल्टे, इसमे यह ध्वनि निकलती है कि वाल्यकाल मे जो नग्नावस्था शोभा देती है, वह उस काल के वीतने पर शोभा नही देती, वल्कि मनुष्य को लजाती है। इसलिए मै शुद्ध साधु की नग्नावस्था की पूजा करते हुए भी यह मानता हूँ कि दिगम्वर-आचार्य

यदि गहरा विचार करके समाज मे विचरण करनेवाले साधु के लिए गुह्येन्द्रिय ढकने का मार्ग ढूँढ निकाले, तो उसमे धर्म की रक्षा है, साधु की शोभा है। वैसा न हो सके, तो भी उसकी सार्वजनिक रूप से चर्चा करना हानिकर है।
—न० जी०। हि० न० जी०, ९।७।१९३१]

- **आदर्श-रूप में मुझे नग्नता प्यारी है।**
- **रोष या क्रोध धर्म-सम्बन्धी या अन्य विचारो को समझने मे विघ्न पैदा करता है, इसलिए त्याज्य है।**
- **साधुता का दावा नहीं किया जा सकता।**
- **साधुता स्वयंसिद्ध होती है।**
- **सबूत और दावे की अपेक्षा रखनेवाली साधुता, साधुता नहीं।**
- **दिगम्बर-साधुता, साधुता की पराकाष्ठा होनी चाहिए।**
- **हम नग्नावस्था को व्यवहार मे नहीं उतार सकते।**

२३. पैगम्बरों और अवतारों का अनुकरण

...मेरे ख़याल से यह कहना ठीक नही कि पैगम्बर साहब ने जो-जो काम किये, वे सब काम पैगम्बर साहब के अनुयायियो को करना चाहिए या करना उचित है। महान पुरुष जो कुछ करते है, वह सभी को करने का अधिकार हो—यह बात नही है। हमने यह भी देख लिया है कि ऐसा करने से बुरा नतीजा होता है। मगर हिन्दू, मुसलमान और दूसरे धर्मवाले इस सुनहरे कानून पर सदा अमल करते नही पाये जाते। इतना ही नही, वे यह मान कर व्यवहार करते हैं कि अवतारों ने अमुक बाते की हैं, इसलिए हमे भी ऐसा करने का अधिकार है।
—२।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १३१-१३२]

२४. पारसी-धर्म का आधार : वेद

[दरबारी साधु के सम्बन्धियो को लिखे पत्र से]

जरथुस्त्र का आधार वेद है। जहाँ तक मुझे याद है वेन्दीदाद के अनुवादक ने ज़ेन्द और संस्कृत के बीच बहुत साम्य बताया है। इसलिए आज जो चीज़ पारसी-धर्मग्रन्थो मे न पाई जाय, उस कमी को वेदो और उपनिषदो से पूरा कर लेने मे पारसी-धर्म या पारसीपन को कुछ भी बट्टा नही लगता। असल मे तो अपने धर्म पर कायम रहकर किसी भी दूसरे धर्म मे जो विशेषता दिखे, उसे ले लेने का

हमारा अधिकार है। इतना ही नहीं, ऐसा करना हमारा धर्म है। दूसरे धर्मों से कुछ भी न लिया जा सके, इसी का नाम धर्मान्धता है।
—२५।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १७०]

● दूसरे धर्मों से कुछ भी न लिया जा सके, इसी का नाम धर्मान्धता है।

२५. इस्लाम की शक्ति : श्रद्धा

इस्लाम की ताकत न उसके एकेश्वरवाद मे है और न उसकी बन्धुत्व-वृत्ति मे—क्योंकि उसका बन्धुत्व झूठा है—मगर उसकी ताकत तो उसकी धर्म-सम्बन्धी श्रद्धा मे है। मुसलमान-मात्र को अपने धर्म के बारे मे एक प्रकार की अटल श्रद्धा है। इसका बल इसी मे है।
—५।७।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० २७०]

२६. धर्म-ग्रन्थ

[बीबी अमतुस्सलाम को लिखे पत्र से]

तुमने कुरान के बारे मे ठीक पूछा है। मैं किसी किताब के लिए यह नहीं मानता कि उसे फरिश्तो ने किसी को खुदा की तरफ से दिया। लेकिन पैगम्बरो को अन्दरूनी आवाज आई। हमारे लिए इतना काफी होना चाहिए। कुरान के माने अच्छी तरह समझ लेने का तुम्हारा इरादा अच्छा ही है। दीनी (धार्मिक) किताबे पढने का मतलब तो यह है कि हमे पता चले कि उनमे क्या लिखा है और हमारे दिल पर उसका क्या असर होता है ?
—२१।८।१९३२। बापू के पत्र बीबी अमतुस्सलाम के नाम, पृ० २१, न० जी० प्र० म०]

२७. ईश्वर सभी धर्मों में है

[एक हिन्दुस्तानी ईसाई श्रीमती सत्यवती चिदम्बर को लिखे पत्र से।—सम्पा०]

आप यह क्यो मानती है कि जिस ढग से आप ईसा को मानती है, उसी तरह मानने मे ही सत्य भरा है ? और किसलिए यह मानती है कि गिरि-प्रवचन के सिद्धान्तो को सनातनी हिन्दू पालन नही कर सकता ? आपको यह विश्वास है

कि आप सनातनी हिन्दू का अर्थ अच्छी तरह जानती हैं ? इससे भी आगे बढकर पूछता हूँ कि ईसा और उनके उपदेशो के अर्थ के बारे मे क्या आपको पूरा यकीन है ? आपके उत्साह की मैं जरूर कद्र करता हू, मगर आपके ज्ञान के बारे मे आपको बधाई नही दे सकता। पैंतालीस साल की प्रार्थना और चिन्तन से मुझमे तो वह भरोसा पैदा नही हुआ जैसा आप मे है।[1] मैं तो पहिले से ज्यादा नम्र बना हूँ। मेरी प्रार्थना का मुझे तो साफ और ज़ोरदार जवाब यह मिला है कि ईश्वर ऐसी तिजोरी मे बन्द किया हुआ नही है, जिसमे किये हुए एक ही छोटे-से छेद मे से ही वह दिखाई दे सकता हो। वह तो ऐसा है जो नम्र और शुद्ध हृदयवालो को करोडो द्वारो से दिखाई दे सकता है। आप जिस शिखर पर बैठी है और जहा आपके सिवा और किसी के खडे रहने की गुजाइश नही है, वहा से मैं आपको उतरने की सलाह देता हूँ।

—४।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ३९१-३९२]

● ईश्वर ऐसी तिजोरी मे बन्द किया हुआ नहीं है, जिसमे किये हुए एक ही छोटे-से छेद मे से ही वह दिखाई दे सकता हो।

२८. ईसा और मुहम्मद

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

मुझे लगता है कि ईसा और मुहम्मद के बीच तूने जो तुलना[2] की है वह, आकर्षक है मगर अशत ही सही है। तूने यह कहावत तो सुनी ही है कि तुलनाए अरुचि-

---

१. श्रीमती सत्यवती चिदम्बर के पत्र का एक अश यो है :—

"आप अगर ईसा को स्वीकार करें और सच्चे ईसाई बनने की कोशिश करें तो जितने बड़े आप हैं उससे ज्यादा बडे बन जाय। जिस हिन्दुस्तान को आप चाहते हैं उसी की खातिर मैं आपसे अपने हृदय और जीवन मे ईसा को स्थान देने की अपील करती हूं। ईसा तो हाथ फैला कर हिन्दुस्तान को अपनाने के लिए खड़े हैं। यह नहीं हो सकता कि आप सनातनी हिन्दू बने रहें और ईसा के गिरि-प्रवचन के सिद्धान्तो पर चल सकें। एक ईसा ही दुनिया के तारनहार हैं।"

२. सुश्री मीरा बहिन ने ईसा और मुहम्मद साहब के विषय मे अपने पत्र मे ये विचार व्यक्त किये थे—"ऐसा लगता है कि पैगम्बर को जिन ईसाइयो से काम पड़ा था वे ईसाई अपने धर्म का बहुत सकुचित विचार करते थे। पैगम्बर साहब को यह अच्छा नहीं लगता था। ईसा मसीह

कर होती है। मेरी राय मे सभी क्रान्तिकारी सुधारक होते है और सभी सुधारक क्रान्तिकारी होते है। दोनो महान धर्मगुरु थे और अपने जमाने और जरूरत के अनुरूप थे। दोनो ने मानव-प्रगति मे अपना अनन्य भाग दिया है। जगद्‌गुरुओ मे दोनो का स्थान बराबर है। तूने अपने को आश्रमवासिनी वर्णन किया है, सो बिल्कुल ठीक है। तू ईसा का इन्कार नही करती, परन्तु अपने को आश्रमवासिनी कहती है, जो किसी भी धर्मगुरु का इन्कार नही करता। अलग-अलग गुरुओ के उपदेशो के अर्थो से हमे कोई वास्ता नही है। जिसे जो अनुकूल पडे वह अर्थ कर ले।
—३।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १६६—१६७]

- **सभी क्रान्तिकारी सुधारक होते हैं और सभी सुधारक क्रान्तिकारी होते हैं।**
- **दोनों (ईसा और मुहम्मद) महान धर्मगुरु थे और अपने जमाने और जरूरत के अनुरूप थे।**

२९. मेरी दृष्टि में इस्लाम

मैं ससार के धर्मों का विद्यार्थी हूँ। मैंने ससार के महान धर्मो का अध्ययन उनके अनुयायियो की ही आँखो से किया है और मुझे यह कहने मे कठिनाई नही होती कि इस्लाम मे भ्रातृत्व की भावना ओत-प्रोत है। मेरी इच्छा है कि अगर यह भ्रातृत्व मुसलमानो तक ही सीमित न होता तो अच्छा था, जैसा कि कुछ लोगो ने किया भी है। जब मैंने कुरान पढा तो मुझे ऐसा लगा कि यह तो सारी मानव-जाति को अपने दायरे मे ले लेता है।
—खामगाव। ह० से०, २४।११।१९३३]

३०. इस्लाम और हजरत मुहम्मद साहब

[बारेवफात के अवसर पर पूना मे अजुमने फिदाये इस्लाम-द्वारा आयोजित विशाल मुस्लिम-सभा मे गाधी जी द्वारा किये गये भाषण का आवश्यक अंश।
—सम्पा०]

के लिए उन्हें बहुत ज्यादा आदर था। मैंने अपने अज्ञान मे यह नहीं समझा था कि जिन शास्त्रो पर ईसाई-धर्म रचा गया है, उन्हीं शास्त्रों पर अब इस्लाम की बुनियाद है। मुझे ऐसा लगता है कि मुहम्मद ने इन शास्त्रो का उपयोग एक सुधारक के रूप मे किया, जब कि ईसा ने एक क्रान्तिकारी के रूप में।"

मेरे लिए केवल वेदादि ही धर्मशास्त्र नही हैं बल्कि कुरान और बाइबिल आदि भी उसी तरह धर्मशास्त्र हैं। मैं जिस प्रकार गीता और उपनिषद् आदि को मानता हूँ, उसी प्रकार दूसरे धर्मग्रन्थो का भी आदर करता हूँ। मेरा विश्वास है कि मुहम्मद साहब ससार के एक महान पैगम्बर थे। इसी प्रकार महात्मा ईसा भी हो गये हैं। इन ग्रन्थो को देखने से मेरे ऊपर यह असर पडा है कि पैगम्बर साहब एक सच्चे और खुदापरस्त पुरुष थे। मैं यह कोई काल्पनिक बात नही बतला रहा हूँ। मेरे दिल पर पैगम्बर साहब के जीवन चरित का जो थोडा-बहुत असर पडा है, उसे मैं आपको बता रहा हूँ। उन्होने मुसीबतें झेलने मे कुछ उठा नही रखा था। वे एक बहादुर आदमी थे। वे किसी मनुष्य से नही, सिर्फ खुदा से डरते थे। वे जो सत्य समझते थे वही करते थे। उनकी कथनी और करनी एक थी। उन्होने जिस समय जिस चीज़ को सत्य समझा, अधिकार समझा, उसे अमल मे लाते हुए अन्य सब चीज़ो को तुच्छ गिना। ऐसा नही कि (उन्होने) कहा कुछ (हो) और किया कुछ हो, आज जो ठीक जँचा उसके अनुसार किया कल यदि उसके प्रति विश्वास मे अन्तर हुआ तो लोकनिन्दा या विरोध की चिन्ता न करते हुए उसी के अनुसार आचरण किया। इसमे कुछ टीकाकारो को विरोध दीख पडता है। मगर सत्य का पुजारी अन्यथा आचरण नही कर सकता। वह उसी का आचरण करेगा, जो जिस समय उसे सत्य प्रतीत होगा।

उनका रहन-सहन फकीरो का था, वे त्याग के रग मे रँगे हुए थे। उनके पास काफी दौलत आती थी, फिर भी उन्होने अपने भोग के लिए कभी उसका उपयोग नही किया। जब मैंने यह पढा कि वे अपने साथियो और कबीले को लेकर किसी तरह मस्जिद मे ही गुज़र किया करते थे, तो मेरी आँखें आनन्द के आँसुओ से छलछला आई। जिसके दिल मे हमेशा खुदा की रटन लगी हो, खुदा का डर समाया हो, दुनिया के लिए अगम-अपार दया भरी हो, उसे मेरे-जैसा सत्याग्रही न पूजे, यह कैसे हो सकता है?

आप सब लोग कुरान का पाठ करते हैं। मैं भी कुरान पढा करता हूँ। मैं आपकी ही आँखो कुरान पढ़ता हूँ। लेकिन आप लोगो का एक बहुत बडा हिस्सा कुरान का पाठ तो करता है, पर उसकी शिक्षा को अमल मे नही लाता। आप शायद यह कहे कि हिन्दू भी तो गीता का पारायण करते हैं, लेकिन उस पर चलते कब हैं? यह ठीक है।...

—पूना, २३।६।१९३४। ह० से०, १३।७।१९३४]

● मुहम्मद साहब-ससार के एक महान पैगम्बर थे।

३१. धर्मान्तर के विषय में

उस दिन फेडरेशन आफ इण्टरनेशनल फेलोशिप के सदस्य श्री ए० ए० पाल ने मुझे लिखा था, अच्छा हो, अगर धर्मान्तर के विषय मे आप 'हरिजन' मे अपनी विचार-स्थिति साफ-साफ वतला दें। इस पर मैंने उनसे यह कहा कि जिन वातो का आप मुझसे उत्तर चाहते हो उन्हे कृपा कर प्रश्न के रूप मे लिख भेजें। परिणामस्वरूप, उनका यह पत्र, सिद्धान्त-सूची के साथ, आया है।

"आपको याद होगा कि एक महीने से कुछ ऊपर हुआ, जव मैंने आपको यह लिखा था कि क्या आप अपने धर्मान्तर-विषयक विचारो को एक वक्तव्य के रूप मे प्रकाशित कर देंगे। आपने मेरे पत्र के जवाव मे यह लिखा था कि मेरे लिए यह अधिक आसान होगा, अगर आप अपने विचारो को प्रश्नो या सिद्धान्तो के रूप मे लिख भेजें। मद्रास-इण्टरनेशनल फेलोशिप की कार्यकारिणी समिति के अनुरोध पर हमारे एक ईसाई बन्धु ने यह सिद्धान्त-सूची तैयार कर दी है, और समिति ने इस प्रार्थना के साथ आपके पास इसे भेज देने के लिए मुझसे कहा है कि आप कृपाकर 'हरिजन' मे इन प्रश्नो का उत्तर प्रकाशित कर दें। इसमे सन्देह नहीं कि ये सिद्धान्त ईसाई धर्म की दृष्टि से ही तैयार किये गये है, पर हमारी समिति का विचार है कि उन अन्य मिशनरी धर्मों पर भी ये सिद्धान्त उतने ही लागू हो सकते हैं, जो आज धर्मान्तर के कार्यक्रम मे लगे हुए हैं। तो क्या मैं यह आशा करूँ कि इन सिद्धान्तो के सम्वन्ध मे आप अपनी विचार-स्थिति स्पष्ट कर देंगे?

सिद्धान्त

१ हृदय का, पाप से ईश्वर के प्रति, परिवर्तन ही धर्मान्तर है। यह ईश्वर का कार्य है। पाप का अर्थ है ईश्वर से विलगाव।

२ ईसाई यह मानते हैं कि मानवजाति के कल्याणार्थ ईसा पूर्णावतार के रूप मे प्रकट हुआ था, ईश्वर का वह पूर्ण इलहाम है। वह पापो से हमारा उद्धार करता है। पापी को एक वही ईश्वर की शरण मे ले जानेवाला है, और वही उसका जिलानेवाला है।

३ जिस ईसाई ने ईसा मसीह के द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार कर लिया है, वह ईसा के सम्वन्ध मे वोलना, और जिस वस्तु को मुक्तहस्त मे देने के लिए ईसा ने पृथिवी पर अवतार धारण किया था उस वस्तु की घोषणा करना अपना सौभाग्य और धर्म समझता है।

४. यदि इस सन्देह को सुनकर किसी मनुष्य का हृदय इतना अधिक प्रभावित हो जाय कि वह अपने पापो लिए पश्चात्ताप करके ईसा के शिष्य के रूप में नया जीवन बिताना चाहे, तो उसे ईसा के अनुयायियों के सम्प्रदाय मे—ईसाई धर्मसंघ मे—दाखिल कर लेना ईसाई उचित समझता है।

५. ईसाई ऐसे सभी मामलों में, उस मनुष्य की श्रद्धा सच्ची है या नहीं, इस बात की थाह लेने का भरसक प्रयत्न करेगा, और जितना उससे हो सकेगा उसे धर्म-परिवर्तन के परिणाम समझायेगा और अपने कुटुम्ब के प्रति उस मनुष्य का क्या कर्तव्य है, इस पर वह खास जोर देगा।

६. ईसाई खुद अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए, जहां तक उससे हो सकेगा, किसी मनुष्य का धर्म-परिवर्तन नहीं करेगा, और यह ध्यान रखेगा कि वह मनुष्य रुपये-पैसे की लालच में पड़कर तो ईसाई नहीं बन रहा है।

७. चूंकि ईसा पूर्ण जीवन का दान देने के लिए पृथिवी पर उतरे थे और यह इतिहास-प्रसिद्ध बात है कि ईसाई धर्म में आने से अनेक का जीवन ऊंचा उठ गया है, इसलिए यदि ईसाई धर्म मे आने से किसी मनुष्य की सामाजिक उन्नति हो जाती है तो ईसाई धर्म की दीक्षा देनेवाले किसी ईसाई पर यह दोषारोपण नहीं करना चाहिए कि उसने उस मनुष्य को रुपये-पैसे का लोभ देकर ईसाई बनाया है। क्योंकि किसी को धर्म मे मिलाने के लिए तो प्रलोभन दिया ही नहीं जाता।

८. सच्ची श्रद्धा से जो ईसाई धर्म में आ जाता है उसकी देह, उसकी आत्मा और उसके मन की सार-सम्हाल रखना ईसाई अपना जो कर्त्तव्य समझता है वह ठीक ही करता है।

९. ईसाइयों पर यह दोष लगाना ही नहीं चाहिए कि वे रुपये-पैसे का प्रलोभन देते है। हिन्दुओ के सामाजिक सिद्धान्तों मे कुछ ऐसे तथ्य हैं, जिनपर ईसाइयों का कोई काबू नहीं, और जो खुद ही हरिजनों के हक में प्रलोभनस्वरूप हो जाते हैं। (किन्तु इस विषय में सिद्धान्त न० ५ और ६ देखिए)।

इन सिद्धान्तो की भूमिका समझने के लिए पाठको को यह जान लेना चाहिए कि दक्षिण भारत का एक समूचा गाँव ही जिसमे हरिजनो की पूरी या अधिकाश आबादी थी, ईसाई बना डाला गया है। इस विषय पर मेरी श्री ए० ए० पाल के साथ जो चर्चा चल रही थी, उसी से यह मुख्य प्रश्न उठा। इस धर्मान्तर के सम्बन्ध मे पाठको को शायद और भी अधिक पढने को मिले। फिलहाल इतना समझ लेना उनके लिए काफी होगा कि ऊपर जो ये सिद्धान्त दिये हैं, उन्हे सामूहिक धर्मान्तर की कसौटी पर ही कसना है। नवां सिद्धान्त तो करीब-करीब यही बात बतला भी रहा है।

मैने कई बार इन सिद्धान्तो को पढा, और जितना ही अधिक मैं उन्हे पढता हू उतना ही मुझे लगता है कि ये सिर्फ व्यक्तियो के सम्बन्ध मे ही लागू हो सकते है, साधारण जनसमूह के विषय मे तो ये कभी लागू हो ही नही सकते। पहिले ही सिद्धान्त को लीजिए। पाप की व्याख्या की गई है ईश्वर से बिलगाव। हृदय का, पाप से ईश्वर के प्रति, परिवर्त्तन ही धर्मान्तर है। यह धर्मान्तर ईश्वर का कार्य है। ऐसा सिद्धान्तकार का कथन है। अगर धर्मान्तर ईश्वर का कार्य है तो वह कार्य उससे क्यो छीना जाय? और मनुष्य ईश्वर से कोई चीज छीन लेनेवाला कौन होता है? वह तो ईश्वर के हाथ का एक विनम्र साधन या यन्त्र ही बन सकता है। इसी तरह वह दूसरो के हृदय का निर्णायक भी नही हो सकता। दूसरो के हृदय की बात तो दूर रही, मुझे तो इसी मे अक्सर शका रहती है कि क्या हम खुद अपने साथ सदा सच्चा न्याय ही करते है, क्या हम सही अर्थ मे स्वय अपने हृदय के सच्चे निर्णायक है? 'ओ मनुष्य, तू अपने आप को जान'—यह अन्तर्ध्वनि किसी निराश हृदय से ही निकली होगी। और अगर हम स्वय अपने विषय मे इतना कम जानते हैं, तो हमे अपने उन पडोसियो और दूर के अजनबियो के बारे मे कितना कम ज्ञात होगा, जिन का हमारे साथ बीसियो चीज़ो मे, और कई अत्यन्त महत्व की चीज़ो मे, मतभेद हो सकता है? दूसरे प्रश्न मे, ईसाइयो की उस श्रद्धा की बात आती है, जिसे वे पीढी-दर-पीढी मानते चले आ रहे है, किन्तु जिसकी सचाई को हजारो-लाखो जन्मजात ईसाइयो ने खुद अपने आप पर कभी नही कसा। और यह ठीक ही है। जिन लोगो का जन्म और पालन-पोषण एक भिन्न ही धर्म मे हुआ है, उनके आगे इस तरह की श्रद्धा की बात रखना सचमुच एक खतरनाक चीज़ है। किसी अन्य धर्म के अनुयायी के सामने मैं अपनी अनपरखी श्रद्धा की बात रखता हूँ तो यह मेरी धृष्टता ही होगी, क्योकि मैं जानता हूँ कि उसका धर्म भी उतना ही सच्चा हो सकता है जितना कि मेरा है। सबसे उत्तम तो यह है कि मेरी धर्म-श्रद्धा मेरे लिए अच्छी है, और उसकी उसके लिए। पृथिवी के शीतप्रधान देश के निवासियो के लिए एक मोटा ऊनी लबादा जितना उपयुक्त है, विषुवत् रेखा के समीपस्थ देश मे रहनेवालो के लिए उतना ही उपयुक्त लंगोटी का एक छोटा-सा टुकडा है।

तीसरे सिद्धान्त का भी, पहिले की ही तरह, धर्म के गूढ रहस्यो से सम्बन्ध है। साधारण लोग उन रहस्यो को यद्यपि समझते नही है, तो भी उन्हे वे श्रद्धा-पूर्वक मानते हैं। वे परम्परागत श्रद्धा के अनुयायियो के लिए बहुत अच्छा सहारा दे सकते हैं। पर जिन्हे बचपन मे किसी दूसरी ही वस्तु मे श्रद्धा रखना सिखाया गया है उन्हे तो वे गूढ रहस्य अटपटे से मालूम होगे।

इसके आगे के पाँच सिद्धान्तो का सम्बन्ध मिशनरियो-द्वारा उन लोगो के प्रति किये जानेवाले व्यवहार से है, जिन्हे कि वे अपने धर्म की दीक्षा देना चाहते है। इनका व्यवहार मे लाना मुझे लगभग असम्भव मालूम होता है। जहा आरम्भ ही गलत हो, वहा बाद मे जो भी किया जायगा, वह सब गलत ही होगा। अपने श्रोताओ की आन्तरिक श्रद्धा की सच्चाई का पता कोई ईसाई कैसे लगा सकेगा? उनके हाथ उठाने से, उनके साथ खुद बात करने से, या किसी क्षणिक परीक्षा से? ऐसी कोई भी परीक्षा, जिसकी कि कल्पना की जा सकती है, तर्कों के द्वारा निर्णयात्मक होने पर भी, असफल ही रहेगी। मनुष्य के अन्तर की बात एक अन्तर्यामी ईश्वर के सिवा और कोई नही जानता। क्या किसी ईसाई को अपने तन, अपने मन और अपनी आत्मा के प्रामाणिक या शुद्ध होने का इतना अधिक भरोसा है कि वह आसानी से यह अनुभव कर सके कि ईसाई धर्म मे दीक्षित मनुष्य की देह, आत्मा और मन की सार-सम्हाल रखना उसका कर्त्तव्य है?

अन्तिम सिद्धान्त तो पहिले के सब सिद्धान्तो से बढ-चढ जाता है। उसे पढकर स्तब्ध ही हो जाना पडता है, क्योकि उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दूसरे आठो सिद्धान्तो का प्रयोग बेचारे हरिजनो पर होना है। और अभी तो पहिला ही सिद्धान्त आज के युग के बडे-बडे बुद्धिमानो और तत्ववेताओ को भी चक्कर मे डाले हुए है। कौन जानता है कि जन्मजात पाप किस प्रकार का होता है? ईश्वर से बिलगाव का क्या अर्थ है? ईश्वर के साथ ऐक्य-साधन करने का क्या मतलब है। जिसने ईश्वर के साथ ऐक्य कर लिया उस मनुष्य के क्या लक्षण है? जो ईसा के सन्देश का उपदेश करने का साहस करते है, क्या उन सब का यह विश्वास है कि उनका ईश्वर के साथ ऐक्य हो गया है? यदि नही, तो हरि-जनो के इन गम्भीर विषयो के ज्ञान की परीक्षा कौन लेगा?

ऊपर के सिद्धान्त पढकर मेरे मन मे जो विचार आये हैं वे ये है। मुझे आशा है कि मेरे इन विचारो को पढकर किसी ईसाई का दिल दुखेगा नही। इन नौ सिद्धान्तो के सम्बन्ध मे यदि मैं अपनी सच्ची स्थिति अपने अनेक ईसाई मित्रो को न बतलाता, तो मुझे ऐसा लगता कि मैं उनके साथ असत्य व्यवहार कर रहा हूँ।

अब मैं अपनी निजी राय थोडे मे दे दूँ। मेरा विश्वास है कि आज धर्मान्तर जिस अर्थ मे लिया जाता है, उस *अर्थ मे एक धर्म से दूसरे धर्म मे मनुष्य जा ही नही* सकता। यह तो मनुष्य और ईश्वर के बीच की एक व्यक्तिगत बात है। मुझे अपने पडोसी के धर्म के प्रति कोई बुरी नीयत नही रखनी चाहिए। मुझे उसके

धर्म का उतना ही आदर करना चाहिए जितना कि मैं अपने धर्म का करता हूँ। कारण यह है कि जितना सच्चा मेरा धर्म मेरे लिए है, उतने ही सच्चे दुनिया के तमाम महान् धर्म उन धर्मों के अनुयायियो के लिए है। ससार के धर्मग्रन्थो का आदरपूर्वक अध्ययन करने मे मुझे उन सब मे सौन्दर्य देखने मे तनिक भी कठिनाई मालूम नही पडती। जिस तरह मैं अपना धर्म बदलने का विचार नही करता, उसी तरह किसी ईसाई, मुसलमान, पारसी या यहूदी से यह कहने की कल्पना भी नही करता कि वह अपना धर्म बदल दे। इससे यह होता है कि अपने धर्म के अनुयायियो की अनेक बडी-बडी त्रुटियो के विषय मे मैं जितना दुर्लक्ष्य करता हूँ उससे अधिक दुर्लक्ष्य उन धर्मो के अनुयायियो की त्रुटियो के सम्बन्ध मे नही करता। और यह देखते हुए, कि मेरी सारी साधनशक्ति तो अपने आचरण को अपने धर्म के आदर्श तक ले जाने का प्रयत्न करने मे और अपने सहधर्मिया को उसके अनुसार उपदेश देने मे ही खर्च हो जाती है, मै दूसरे धर्मानुयायियो को उपदेश देने की स्वप्न मे भी कल्पना नही करता। दूसरो के न्यायाधीश न बनना, नही तो तुम भी न्यायतुला पर तोले जाओगे—यह मनुष्य के आचरण के लिए अत्यन्त सुन्दर नियम है। मेरी यह धारणा दिन-दिन बढती ही जा रही है कि अगर महान् और समृद्ध ईसाई पादरी भारत को या कम-से-कम उसके सीधे-सादे ग्रामनिवासियो को ईसाई धर्म मे मिलाने, और इस तरह उनके सामाजिक ढाँचे को नष्ट करने का भीतरी इरादा छोडकर शुद्ध दयाभाव से मानव सेवा करने तक ही अपने कार्यो को सीमित रखने का निश्चय कर लें, तो वे भारत की सच्ची सेवा करेंगे। हमारे यहा की समाज-रचना मे यद्यपि अनेक त्रुटिया हैं, अनेक दोष है, और उस पर भीतर और बाहर से कितने ही हमले हुए हैं, तो भी अनेक युगो मे वह आजतक वैसी ही अडिग खडी हुई है। ये मिशनरी और हम चाहे या न चाहें, तो भी हिन्दूधर्म मे जो सत्य है, वह हमेशा रहेगा, और जो असत्य है वह खण्ड-खण्ड होकर नष्ट हो जायगा। प्रत्येक जीवित धर्म के अन्दर, अगर उसे दुनिया मे जीवित रहना है, पुनर्यौवन-सचार की शक्ति होनी ही चाहिए।

—ह० ज०। ह० से०, ५।१०।१९३५]

- मनुष्य के अन्तर की बात एक अन्तर्यामी ईश्वर के सिवा और कोई नहीं जानता।
- यह (धर्म) तो मनुष्य और ईश्वर के बीच की एक व्यक्तिगत बात है।
- प्रत्येक जीवित धर्म के अन्दर पुनर्यौवन-सचार की शक्ति होनी ही चाहिए।

४ यदि इस सन्देह को सुनकर किसी मनुष्य का हृदय इतना अधिक प्रभावित हो जाय कि वह अपने पापो लिए पश्चात्ताप करके ईसा के शिष्य के रूप में नया जीवन विताना चाहे, तो उसे ईसा के अनुयायियो के सम्प्रदाय में—ईसाई धर्मसंघ मे—दाखिल कर लेना ईसाई उचित समझता है।

५. ईसाई ऐसे सभी मामलो मे, उस मनुष्य की श्रद्धा सच्ची है या नहीं, इस बात की थाह लेने का भरसक प्रयत्न करेगा, और जितना उससे हो सकेगा उसे धर्म-परिवर्तन के परिणाम समझायेगा और अपने कुटुम्ब के प्रति उस मनुष्य का क्या कर्तव्य है, इस पर वह खास जोर देगा।

६. ईसाई खुद अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए, जहा तक उससे हो सकेगा, किसी मनुष्य का धर्म-परिवर्तन नहीं करेगा, और यह ध्यान रखेगा कि वह मनुष्य रुपये-पैसे की लालच मे पड़कर तो ईसाई नहीं बन रहा है।

७. चूंकि ईसा पूर्ण जीवन का दान देने के लिए पृथिवी पर उतरे थे और यह इतिहास-प्रसिद्ध वात है कि ईसाई धर्म में आने से अनेक का जीवन ऊंचा उठ गया है, इसलिए यदि ईसाई धर्म में आने से किसी मनुष्य की सामाजिक उन्नति हो जाती है तो ईसाई धर्म की दीक्षा देनेवाले किसी ईसाई पर यह दोषारोपण नहीं करना चाहिए कि उसने उस मनुष्य को रुपये-पैसे का लोभ देकर ईसाई बनाया है। क्योकि किसी को धर्म में मिलाने के लिए तो प्रलोभन दिया ही नहीं जाता।

८. सच्ची श्रद्धा से जो ईसाई धर्म मे आ जाता है उसकी देह, उसकी आत्मा और उसके मन की सार-सम्हाल रखना ईसाई अपना जो कर्त्तव्य समझता है वह ठीक ही करता है।

९. ईसाइयो पर यह दोष लगाना ही नहीं चाहिए कि वे रुपये-पैसे का प्रलोभन देते हैं। हिन्दुओं के सामाजिक सिद्धान्तों मे कुछ ऐसे तथ्य हैं, जिनपर ईसाइयों का कोई काबू नहीं, और जो खुद हो हरिजनों के हक मे प्रलोभनस्वरूप हो जाते हैं। (किन्तु इस विषय में सिद्धान्त नं० ५ और ६ देखिए)।

इन सिद्धान्तो की भूमिका समझने के लिए पाठको को यह जान लेना चाहिए कि दक्षिण भारत का एक समूचा गाँव ही जिसमे हरिजनो की पूरी या अधिकाश आवादी थी, ईसाई बना डाला गया है। इस विषय पर मेरी श्री ए० ए० पाल के साथ जो चर्चा चल रही थी, उसी से यह मुख्य प्रश्न उठा। इस धर्मान्तर के सम्बन्ध मे पाठको को शायद और भी अधिक पढने को मिले। फिलहाल इतना समझ लेना उनके लिए काफी होगा कि ऊपर जो ये सिद्धान्त दिये हैं, उन्हे सामूहिक धर्मान्तर की कसौटी पर ही कसना है। नवा सिद्धान्त तो करीब-करीब यही बात बतला भी रहा है।

मैंने कई वार इन सिद्धान्तो को पढा, और जितना ही अधिक मै उन्हे पढता हूँ उतना ही मुझे लगता है कि ये सिर्फ व्यक्तियो के सम्बन्ध मे ही लागू हो सकते हैं, साधारण जनसमूह के विषय मे तो ये कभी लागू हो ही नही सकते। पहिले ही सिद्धान्त को लीजिए। पाप की व्याख्या की गई है ईश्वर मे विलगाव। हृदय का, पाप मे ईश्वर के प्रति, परिवर्त्तन ही धर्मान्तर है। यह धर्मान्तर ईश्वर का कार्य है। ऐसा सिद्धान्तकार का कथन है। अगर धर्मान्तर ईश्वर का कार्य है तो वह कार्य उससे क्यो छीना जाय ? और मनुष्य ईश्वर से कोई चीज छीन लेनेवाला कौन होता है ? वह तो ईश्वर के हाथ का एक विनम्र साधन या यन्त्र ही बन सकता है। इसी तरह वह दूसरो के हृदय का निर्णायक भी नही हो सकता। दूसरो के हृदय की बात तो दूर रही, मुझे तो इसी मे अक्सर शका रहती है कि क्या हम खुद अपने साथ सदा सच्चा न्याय ही करते है, क्या हम सही अर्थ मे स्वय अपने हृदय के सच्चे निर्णायक है ? 'ओ मनुष्य, तू अपने आप को जान'—यह अन्तर्ध्वनि किसी निराश हृदय से ही निकली होगी। और अगर हम स्वय अपने विषय मे इतना कम जानते हैं, तो हमे अपने उन पडोसियो और दूर के अजनबियो के बारे मे कितना कम ज्ञात होगा, जिन का हमारे साथ बीसियो चीजो मे, और कई अत्यन्त महत्व की चीजो मे, मतभेद हो सकता है ? दूसरे प्रश्न मे, ईसाइयो की उस श्रद्धा की बात आती है, जिसे वे पीढी-दर-पीढी मानते चले आ रहे हैं, किन्तु जिसकी सचाई को हजारो-लाखो जन्मजात ईसाइयो ने खुद अपने आप पर कभी नही कसा। और यह ठीक ही है। जिन लोगो का जन्म और पालन-पोषण एक भिन्न ही धर्म मे हुआ है, उनके आगे इस तरह की श्रद्धा की बात रखना सचमुच एक खतरनाक चीज है। किसी अन्य धर्म के अनुयायी के सामने मैं अपनी अनपरखी श्रद्धा की बात रखता हूँ तो यह मेरी धृष्टता ही होगी, क्योकि मै जानता हूँ कि उसका धर्म भी उतना ही सच्चा हो सकता है जितना कि मेरा है। सबसे उत्तम तो यह है कि मेरी धर्म-श्रद्धा मेरे लिए अच्छी है, और उसकी उसके लिए। पृथिवी के शीतप्रधान देश के निवासियो के लिए एक मोटा ऊनी लबादा जितना उपयुक्त है, विषुवत् रेखा के समीपस्थ देश मे रहनेवालो के लिए उतना ही नहीं। उनको तो लँगोटी का एक छोटा-सा टुकडा है।

तीसरे सिद्धान्त का भी, पहिले की ही तरह, धर्म के गूढ रहस्यो मे सम्बन्ध है। साधारण लोग उन रहस्यो को यद्यपि समझते नही है, तो भी उन्हे वे श्रद्धा-पूर्वक मानते हैं। वे परम्परागत श्रद्धा के अनुयायियो के लिए बहुत अच्छा तरह काम दे सकते हैं। पर जिन्हे बचपन से किसी दूसरी ही वस्तु मे श्रद्धा करना सिखाया गया है उन्हे तो वे गूढ रहस्य अटपटे से मालूम होगे।

इसके आगे के पाँच सिद्धान्तो का सम्बन्ध मिशनरियो-द्वारा उन लोगो के प्रति किये जानेवाले व्यवहार से है, जिन्हे कि वे अपने धर्म की दीक्षा देना चाहते है। इनका व्यवहार मे लाना मुझे लगभग असम्भव मालूम होता है। जहा आरम्भ ही गलत हो, वहा वाद मे जो भी किया जायगा, वह सब गलत ही होगा। अपने श्रोताओ की आन्तरिक श्रद्धा की सच्चाई का पता कोई ईसाई कैसे लगा सकेगा ? उनके हाथ उठाने से, उनके साथ खुद वात करने से, या किसी क्षणिक परीक्षा से ? ऐसी कोई भी परीक्षा, जिसकी कि कल्पना की जा सकती है, तर्को के द्वारा निर्णयात्मक होने पर भी, असफल ही रहेगी। मनुष्य के अन्तर की वात एक अन्तर्यामी ईश्वर के सिवा और कोई नही जानता। क्या किसी ईसाई को अपने तन, अपने मन और अपनी आत्मा के प्रामाणिक या शुद्ध होने का इतना अधिक भरोसा है कि वह आसानी से यह अनुभव कर सके कि ईसाई धर्म मे दीक्षित मनुष्य की देह, आत्मा और मन की सार-सम्हाल रखना उसका कर्त्तव्य है ?

अन्तिम सिद्धान्त तो पहिले के सव सिद्धान्तो से वढ-चढ जाता है। उसे पढकर स्तब्ध ही हो जाना पडता है, क्योकि उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दूसरे आठो सिद्धान्तो का प्रयोग बेचारे हरिजनो पर होना है। और अभी तो पहिला ही सिद्धान्त आज के युग के बडे-बडे बुद्धिमानो और तत्ववेताओ को भी चक्कर मे डाले हुए है। कौन जानता है कि जन्मजात पाप किस प्रकार का होता है ? ईश्वर से बिलगाव का क्या अर्थ है ? ईश्वर के साथ ऐक्य-साधन करने का क्या मतलब है। जिसने ईश्वर के साथ ऐक्य कर लिया उस मनुष्य के क्या लक्षण है ? जो ईसा के सन्देश का उपदेश करने का साहस करते है, क्या उन सब का यह विश्वास है कि उनका ईश्वर के साथ ऐक्य हो गया है ? यदि नही, तो हरिजनो के इन गम्भीर विषयों के ज्ञान की परीक्षा कौन लेगा ?

ऊपर के सिद्धान्त पढकर मेरे मन मे जो विचार आये हैं वे ये हैं। मुझे आशा है कि मेरे इन विचारो को पढकर किसी ईसाई का दिल दुखेगा नही। इन नौ सिद्धान्तो के सम्बन्ध मे यदि मैं अपनी सच्ची स्थिति अपने अनेक ईसाई मित्रो को न वतलाता, तो मुझे ऐसा लगता कि मैं उनके साथ असत्य व्यवहार कर रहा हूँ।

अब मैं अपनी निजी राय थोडे मे दे दूँ। मेरा विश्वास है कि आज धर्मान्तर जिस अर्थ मे लिया जाता है, उस अर्थ मे एक धर्म से दूसरे धर्म मे मनुष्य जा ही नही सकता। यह तो मनुष्य और ईश्वर के वीच की एक व्यक्तिगत वात है। मुझे अपने पडोसी के धर्म के प्रति कोई बुरी नीयत नही रखनी चाहिए। मुझे उसके

धर्म का उतना ही आदर करना चाहिए जितना कि मैं अपने धर्म का करता हूँ। कारण यह है कि जितना सच्चा मेरा धर्म मेरे लिए है, उतने ही सच्चे दुनिया के तमाम महान् धर्म उन धर्मों के अनुयायियो के लिए है। ससार के धर्मग्रन्थो का आदरपूर्वक अध्ययन करने से मुझे उन सब मे सौन्दर्य देखने मे तनिक भी कठिनाई मालूम नही पडती। जिस तरह मैं अपना धर्म बदलने का विचार नही करता, उसी तरह किसी ईसाई, मुसलमान, पारसी या यहूदी से यह कहने की कल्पना भी नही करता कि वह अपना धर्म बदल दे। इससे यह होता है कि अपने धर्म के अनुयायियो की अनेक बडी-बडी त्रुटियो के विषय मे मैं जितना दुर्लक्ष्य करता हूँ उससे अधिक दुर्लक्ष्य उन धर्मों के अनुयायियो की त्रुटियो के सम्बन्ध मे नही करता। और यह देखते हुए, कि मेरी सारी साधनशक्ति तो अपने आचरण को अपने धर्म के आदर्श तक ले जाने का प्रयत्न करने मे और अपने सहधर्मियो को उसके अनुसार उपदेश देने मे ही खर्च हो जाती है, मैं दूसरे धर्मानुयायियो को उपदेश देने की स्वप्न मे भी कल्पना नही करता। दूसरो के न्यायाधीश न बनना, नही तो तुम भी न्यायतुला पर तोले जाओगे—यह मनुष्य के आचरण के लिए अत्यन्त सुन्दर नियम है। मेरी यह धारणा दिन-दिन बढती ही जा रही है कि अगर महान् और समृद्ध ईसाई पादरी भारत को या कम-से-कम उसके सीधे-सादे ग्रामनिवासियो को ईसाई धर्म मे मिलाने, और इस तरह उनके सामाजिक ढाँचे को नष्ट करने का भीतरी इरादा छोडकर शुद्ध दयाभाव से मानव सेवा करने तक ही अपने कार्यों को सीमित रखने का निश्चय कर ले, तो वे भारत की सच्ची सेवा करेंगे। हमारे यहा की समाज-रचना मे यद्यपि अनेक त्रुटिया हैं, अनेक दोष है, और उस पर भीतर और बाहर से कितने ही हमले हुए हैं, तो भी अनेक युगो से वह आजतक वैसी ही अडिग खडी हुई है। ये मिशनरी और हम चाहे या न चाहे, तो भी हिन्दूधर्म मे जो सत्य है, वह हमेशा रहेगा, और जो असत्य है वह खण्ड-खण्ड होकर नष्ट हो जायगा। प्रत्येक जीवित धर्म के अन्दर, अगर उसे दुनिया मे जीवित रहना है, पुनर्यौवन-सचार की शक्ति होनी ही चाहिए।

—ह० ज०। ह० से०, ५।१०।१९३५]

- मनुष्य के अन्तर की बात एक अन्तर्यामी ईश्वर के सिवा और कोई नहीं जानता।
- यह (धर्म) तो मनुष्य और ईश्वर के बीच की एक व्यक्तिगत बात है।
- प्रत्येक जीवित धर्म के अन्दर ..पुनर्यौवन-सचार की शक्ति होनी ही चाहिए।

३२. ईसा की शरण

[एक ईसाई भाई ने गांधी जी को एक लम्बा पत्र लिखा था, जिसके कुछ अंश यहां दिये जा रहे हैं—

". . . आपने नागरिक जीवन में आगे जो दान किया है उसे आपका समस्त आत्म-त्याग, उपवास, प्रार्थना और दूसरे भी नहीं बचा सकेंगे। . . उस समय या हर एक दिन, हर तरह शरण ईसा है जो आपको मिल सकता ही है। . . .

"यदि हम जो भी पाप करते हैं वह सब परमेश्वर के प्रति किया हुआ पाप है, तो उसको क्षमा करने का भी उसे ही अधिकार है। यदि उसका न्यायपूर्ण निर्णय जाति की ओर से स्वयं अपने को ही प्रायश्चित्त देना हो (क्योंकि ईसा के रूप में ईश्वर ने संसार का दोष अपने सिर लिया था, दुनिया के लोगों पर उसके लिए दोषारोपण नहीं किया था) और यदि जैसा धर्मशिष्यों का विश्वास था, उसके अनुसार परमपिता परमात्मा के रूप में स्वर्ग और पृथिवी पर ईसा को जगत् का उद्धारक स्वीकार किया है तो हम (या आप) उस महान मुक्ति की उपेक्षा कैसे कर सकते हैं?

"अगर, जैसा कि आप अपना विश्वास बतलाते है, ईसामसीह परमात्मा के अनेक अवतारो मे से एक और सबसे अन्तिम अवतार हैं, तो फिर या तो आपको उसके ईश्वर-प्रभव होने के आश्चर्यजनक दावो को स्वीकार करना चाहिए या उन सबको भूल-चूक करनेवाले साधारण मनुष्य का भान कर छोड देना चाहिए। और जब ईसामसीह कहता है, जैसा कि उसने अपने समय के यहूदियो से कहा था, 'अगर तुम यह विश्वास नहीं करते कि मै परमेश्वर हूं तो तुम अपने पापो में सडते हुए मर जाओगे' या 'स्रोत, सत्य और जीवन मैं ही हूं। मेरी कृपा के बिना ईश्वर के पास कोई नहीं पहुँचता,' तो आप या तो उसे धोखे मे पडा हुआ माने या जानबूझ-कर झूठ बोलनेवाला कहे। इसके सिवा मुझे और कोई उपाय नहीं दीखता। मै नित्य यह प्रार्थना करता हूँ कि प्रभु ईसा आपके अन्दर उसी प्रकार ईश्वरीय दिव्य सन्देश उतारें जैसा उन्होने 'टारसस के साल' के साथ किया था, ताकि इस सासारिक पाप से मुक्त होने के पहिले आप भारत के करोडो व्यक्तियो को उसके मूल्यवान रक्त के बलिदान की क्षमता या अमोघता बता सकें।"

इस पत्र का गाधी जी द्वारा दिया गया उत्तर यहा सकलित किया जा रहा है।—सम्पा०]

. . . .बाइबिल मे यह स्पष्ट उल्लेख किये जाने पर भी कि तत्व को शब्द नष्ट कर देता है और अर्थ उसमे प्राण डाल देता है उसके हर एक उद्धरण का

शाब्दिक अर्थ किया जाता है। मैंने जब पहिली बार बाइबिल पढी तो मुझे मालूम हो गया कि यदि मै उसकी बहुत-सी बातो का शब्दश अर्थ करू या उसके हर एक वाक्य को ब्रह्मवाक्य मानूं, तो मैं उसके अनेक अश मे महमत नही हो सकता। जैसे-जैसे मैं विभिन्न धर्मो के ग्रन्थो का अध्ययन करता गया, मुझे लगा कि उन सबको—यहा तक कि वेदो और उपनिषदो को भी—हम इसी रूप मे ग्रहण कर सकते हैं। इसलिए मैंने ईसा के निर्दोष कुमारी कन्या के गर्भ मे उत्पन्न होने की कथा को रहस्य-पूर्ण मानकर अपने मन को समझा लिया। ईसा के जन्म-सम्बन्धी पद्यो को उनके शाब्दिक अर्थ मे ग्रहण करना मेरे लिए कठिन ही है। अगर मै उन पद्यो का शब्दश अर्थ लगाऊ तो उससे ईसा के प्रति मेरा श्रद्धा-भाव नही बढेगा। इसका अर्थ यह नही कि बाइबिल लिखनेवाले झूठ-मूठ बाते गढनेवाले थे। हा, उन्होने भक्तिवश बढाकर लिखा है। मैने अपनी युवावस्था से शास्त्रो के बारे मे यह तय किया है कि उनमे नैतिक शिक्षा की जो बात हो उसे ही मानना चाहिए। उसमे वर्णित चमत्कारो मे मेरी कोई दिलचस्पी नही है। ईसा के बारे मे जिन नैतिक चमत्कारो का किया जाना बताया जाता है उनके कारण मैं बाइबिल के ऐसे किसी उपदेश को नही मान सकता जो नैतिक न हो। कुछ भी हो, मेरे लिए और मैं समझता हूँ मेरी ही तरह लाखो के लिए, धर्म-शिक्षको के शब्दो मे एक जीती-जागती शक्ति है, जो साधारण मनुष्यो -द्वारा कहे गये वैसे ही शब्दो मे नही होती।

ईसा, मेरे लिए, दूसरो के समान ससार के एक महान धर्म-शिक्षक हुए है। वह अपने समय के लोगो के लिए निश्चय ही एकमात्र ईश्वर-प्रभव पुत्र थे। पर उन लोगो का जो विश्वास था वही मेरा भी हो, यह जरूरी नही है। मेरे जीवन पर ईसा का कुछ कम प्रभाव नही है, क्योकि मै उन्हे अनेक ईश्वर-प्रभव पुत्रो मे से एक मानता हूँ। मेरे लिए 'प्रभव' विशेषण का उसके शब्दार्थ की अपेक्षा कही गहरा और सम्भवत विशाल अर्थ है। मै इसका अर्थ 'आध्यात्मिक पुनर्जन्म' करता हूँ अर्थात् अपने समय मे वही ईश्वर के सबसे निकट थे।

जो लोग उनकी शिक्षाओ को स्वीकार करते थे उनके पाप-निवारणार्थ ईसा ने अपने को निर्दोष बनाकर उनके सामने अपना उदाहरण रखा। लेकिन उनके लिए उस उदाहरण का कोई मूल्य नही, जिन्होने उनके सहारे अपने जीवन को उन्नत करने का कभी कष्ट नही किया। किन्तु जिस प्रकार सुवर्ण तपाने से उसका मूल दोष दूर हो जाता है, उसी प्रकार इस दिशा मे नये सिरे से कोशिश की जाय, तो मूल का धब्बा भी मिट सकता है।

मै अपने अनेक पापो को स्पष्टतम रूप मे स्वीकार कर चुका हूं। लेकिन मै हमेशा अपने कन्धो पर उनका बोझ नही लादे फिरता। यदि मैं—जैसा कि

मैं समझता हूँ—ईश्वर की ओर जा रहा हूँ तो सुरक्षित हूँ, क्योंकि उसकी उपस्थिति में प्रखर प्रकाश का अनुभव करता हूँ। मैं जानता हूँ कि आत्मसंयम के लिए यदि मैं आत्म-दमन, उपवास और प्रार्थना पर ही निर्भर रहूँ तो कोई लाभ न होगा। लेकिन अगर, जैसी कि मुझे उम्मीद है, ये बातें अपने सिरजनहार की गोद में अपना चिन्तातुर सिर रखने सम्बन्धी आत्मा की आकांक्षा को व्यक्त करती है, तो उनका भी मूल्य है।

मेरे लिए गीता ही संसार के समस्त धर्मग्रन्थो की कुंजी हो गई है। संसार के धर्म-ग्रन्थो में जो गहरे-से-गहरे रहस्य भरे हुए है, वह मेरे लिए उन सबको खोल कर रख देती है। उन धर्म-ग्रन्थो को मैं हिन्दू-धर्मशास्त्रो की ही तरह आदर-भाव से देखता हूँ। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, यहूदी आदि नाम तो सुविधा के लिए रख लिये गये है। जब मैं इन नामो को सामने से हटा देता हूँ तो मेरे लिए सब एक हैं। हम सब उसी परमात्मा की सन्तान है। संसार के सभी महान् धर्म-शिक्षको ने शब्दो के हेर-फेर के साथ यही बात कही है कि 'वह व्यक्ति सचमुच स्वर्ग मे प्रवेश नही करेगा जो प्रभु-प्रभु कह कर मुझे पुकारता रहता है, बल्कि जो परमपिता परमेश्वर की इच्छा का पालन करेगा वही स्वर्ग मे प्रवेश पायगा।'

—ह० ज०। ह० से०, ८।५।१९३६]

- धर्म-शिक्षको के शब्दो मे एक जीती-जागती शक्ति है।
- वह (ईसा) अपने समय के लोगो के लिए निश्चय ही एकमात्र ईश्वर-प्रभव पुत्र थे।
- यदि मैं...ईश्वर की ओर जा रहा हूँ तो सुरक्षित हूँ।
- मेरे लिए गीता ही ससार के समस्त धर्म-ग्रन्थो की कुजी .. है।

३३. मेरा विद्रोह

. ...आज मै रूढिचुस्त ईसाई धर्म के विरुद्ध विद्रोह कर रहा हूँ, क्योकि मेरा विश्वास है कि इस धर्म ने ईसा के सन्देश को तोड-मरोड कर विकृत बना डाला है। ईसा एशिया के निवासी थे। उनका सन्देश अनेक माध्यमो से युरोप पहुँचा। जब उसे रोमन बादशाहो का पृष्ठपोषण मिला तब वह साम्राज्यवादी पन्थ बन गया और वह आज तक उसी रूप मे चला जा रहा है। निस्सन्देह, उसमे एण्डरूज या एल्विन-जैसे ऊँचे विरल व्यक्ति भी है, पर उसका सामान्य झुकाव वही है, जो मैंने बताया है।

कुछ दिन पूर्व वम्बई मे सर्व-धर्म-सभा हुई थी। अभी इस प्रकार की वास्तविक सभा होने मे स्पष्ट रुकावट यह है कि न तो हम सब धर्मों की समता स्वीकार करते है, न हमारे हृदय मे एक दूसरे के धर्म के प्रति आदर-भाव है। हमे यह नही भूलना चाहिए कि वह धर्मो की सभा थी, थोडे-से धर्मवुद्धिवाले मनुष्यो की सभा नही। मै पूछता हूँ, उस सभा मे क्या ईसाई धर्म अन्य धर्मों के साथ समता का भाव लेकर उपस्थित हुआ था ? खुल कर नही तो चुपके-चुपके वे हमारे अनेक देवी-देवताओ की टीका करते रहते हैं, पर वे यह भूल जाते है कि उनके भी तो अनेक देवी-देवता हैं।
—ह० ज०। ह० से०, १३।६।१९३६]

३४. धर्म-समन्वय और ईसाई मिशनरी

[अन्तर्राष्ट्रीय सेवा-सेना के अध्यक्ष डा० पीअर सेरेसोल दो ईसाई मिशनरी महिलाओ के साथ गाधी जी से मिलने आये। गाधी जी के साथ हुई इन तीनो की वार्ता के आवश्यक अश यहा दिये जा रहे हैं।—सम्पा०]

डा० सेरेसोल—मैं भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बियो के वीच किसी प्रकार का धार्मिक आत्मैक्य चाहता हूँ।

गांधी जी—अगर मन मे कोई दु ख न हो तो यह सर्वथा सम्भव है।

डा० सेरेसोल—लेकिन मेरे एक मित्र का, जो मानवजाति के महान सेवक हैं, विश्वास है कि केवल लोगो को ईसाई धर्म मे प्रविष्ट करने के लिए वे मिशन का काम हाथ मे नहीं लेते। उनका कहना है कि ईसा के साथ तादात्म्य होने से ही उन्हें जीवन-शक्ति मिलती है, क्योकि ईसा सदैव परमेश्वर के सम्पर्क मे रहते थे।

गाधी जी—हमारी सवसे वडी कठिनाई यह नही है कि ईसाई मिशनरी अपने निज के अनुभव पर निर्भर करते है, बल्कि यह कि वे हिन्दू भगवद्भक्तो की साक्षी पर वाद-विवाद करने लगते हैं। उन्हे यह समझना चाहिए कि जिस तरह उन्हे आध्यात्मिक अनुभव और तादात्म्य का आनन्द प्राप्त होता है उसी तरह हिन्दुओ को भी होता है।

मिशनरी महिला—मेरे पास लोगो को ईसाई बनाने का समय नहीं है, कभी इच्छा भी नहीं हुई है। अगर हमारे अस्पतालो के द्वारा अधिक लोग ईसाई जीवन की ओर चले जाय, तो हमारे देश के चर्च को इससे प्रसन्नता ही होगी।

गाधी जी—पर, जहा आप लोग दवा-दारू की सहायता देते है, वहा इस रूप मे प्रतिफल की आशा करते है कि आपके मरीज़ ईसाई हो जाय।

मिशनरी महिला—हां, हम प्रतिफल की आशा जरूर रखते हैं अन्यथा संसार में ऐसे अनेक स्थान हैं जहां हमारी सेवाओं की जरूरत है। पर, वहां जाने के बजाय हम हिन्दुस्तान आते हैं।

गाधी जी—यही तो वक्रता है। आप लोगो के मन मे शुद्ध, निष्काम सेवा नही है, वल्कि आप सेवा का फल इस रूप मे चाहते हैं कि बहुत-से लोग ईसाई धर्म स्वीकार कर लें।

मिशनरी महिला—मेरे अपने काम में कोई छिपा हेतु नहीं है। मैं लोगों की सार-सम्हाल करती हूं, दुःख-दर्द का भार हल्का करती हूं क्योकि मैं कुछ दूसरा नहीं कर सकती। इसका मूल है ईसा के प्रति मेरी दृढ़ भक्ति, जिसने पीड़ित मानवता की सेवा की थी। मैं स्वीकार करती हूं कि मेरे मन मे अवश्य यह इच्छा है कि ईसा की भक्ति मे जो आनन्द मुझे मिलता है, वही दूसरे लोगों को मिले। इसमे वक्रता की बात कहां है?

गांधी जी—चर्च मे है, जिसका विचार है कि कुछ ऐसे लोग हैं जिनमे कुछ चीजो की कमी है और आप उन्हे वे चीजें जरूर देंगे, चाहे उन्हे उसकी जरूरत हो या न हो। अगर आप अपने मरीजो से सिर्फ यह कहे, 'मैंने तुम्हे जो दवा दी उसका तुमने सेवन किया है। ईश्वर की कृपा है कि तुम्हे स्वस्थ कर दिया। अब यहा न आना।' तो आपने अपना कर्त्तव्य पूरा कर दिया लेकिन इसके साथ अगर आप यह भी कहती हैं, 'कितना अच्छा होता अगर ईसाई धर्म मे आपकी वैसी ही श्रद्धा होती, जैसी मेरी है।' तो आप अपने मिशन को निष्काम सेवा-दान का साधन नही बनाती।

मिशनरी महिला—लेकिन अगर मुझे ऐसा महसूस होता हो कि मेरे पास कुछ दवादारू और आध्यात्मिक वस्तु है, जिसे मैं दे सकती हूं तो मैं इसे कैसे रोक सकती हूं?

गांधी जी—यह कठिनाई इस प्रकार हल हो सकती है। आपको यह अनुभव तो होना ही चाहिए कि आपके पास जो अच्छी चीज है उसे आपका रोगी भी प्राप्त करे। किन्तु वह इसे भिन्न मार्ग से प्राप्त करे। आप कहें, मै इस मार्ग से आई हूं, तुम दूसरे मार्ग से आओ। वह आपके ही निर्दिष्ट रास्ते से प्राप्त हो, दूसरे नही—ऐसी इच्छा आप क्यो करती हैं?

मिशनरी महिला—क्योंकि अपनी दयालु माता के लिए मेरे हृदय में पक्षपात है।

गांधी जी—मेरे लिए यही कठिनाई है। आप अपनी माता को पूजती हैं इसलिए आप यह इच्छा नही कर सकती कि दूसरे लोग भी आपकी माता की सन्तान हो जाय।

मिशनरी महिला—यह भौतिक दृष्टि से असम्भव है।

गाधी जी—तव यह भी आध्यात्मिक असम्भाव्यता है। समस्त मानव-जाति एक ही सृजनकर्त्ता की सन्तान है। फिर मैं किस तरह अपनी अल्प-बुद्धि से ईश्वर की महिमा को मर्यादित कर दूं, और यह कहूँ कि वस, यही एकमात्र मार्ग है ?

मिशनरी महिला—मै यह नहीं कहती कि यही एकमात्र मार्ग है। सम्भव है कोई श्रेष्ठतर मार्ग भी हो।

गाधी जी—अगर आप यह स्वीकार करती है कि श्रेष्ठतर मार्ग भी हो सकता है, तो आप अपना तर्क समाप्त कर देती हैं ।

मिशनरी महिला—आप कहते हैं कि मुझे अपना ठीक रास्ता मिल गया है तो मुझे आपका धर्म वदलने की अधिक व्याकुलता नहीं है। तव तो मैं कीच मे फँसे किसी मनुष्य के पास जाऊगी।

गाधी जी—आप न्यायाधीश वनेंगी ? क्या आपके यहाँ के लोग कीच मे नही फँसे है ? आप अपनी ही छाप का सत्य सवको क्यो देने जाती है ?

मिशनरी महिला—जो दवा मुझे मालूम हो उसे देना ही चाहिए।

गाधी जी—तो आप उससे यह कहे, क्या तुम अपने डाक्टर से मिले हो ? आप उसे उसके डाक्टर के पास भेज देगी और उस मनुष्य की सार-सम्हाल रखने के लिए डाक्टर से कह देंगी। आप शायद उस डाक्टर से सलाह करेगी, उससे उस रोगी के इलाज की चर्चा करेंगी और या तो आप अपनी वात उसके गले उतार देगी या उसकी वात खुद समझ जायँगी। पर वहा तो आप तुच्छ शारीरिक रोग का इलाज कर रही होगी। और यहा आप आध्यात्मिक वस्तु की चर्चा कर रही हैं, जहा आप यह सव आवश्यक शोध नही कर सकती। इसीलिए मैं कहता हूँ कि आप दयावृत्ति से काम लें। आप यह दावा तो नही करती कि ईसाई-समाज मे दम्भ नही है ?

डा० सेरेसोल—हममे से अधिकाश लोग अपने धर्म को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। उन्हे इस वात की तनिक भी कल्पना नहीं होती कि दूसरे धर्मों ने अपने अनुयायियो को क्या ज्ञान दिया है ? डाक्टर ने हिन्दू धर्मशास्त्रो का ठीक से अनुशीलन किया है और उन्होने यह समझ लिया है कि हिन्दू धर्म हिन्दुओ को क्या देता है ?

गाधी जी—मै कहता हूँ कि गीता या कुरान का पढना ही उनके लिए काफी नही है। जिस तरह वे यह आशा रखते होगे कि मै एक ईसाई की दृष्टि मे वाइविल पढूँ, उसी तरह उन्हे कुरान को मुसलमान की दृष्टि से और गीता को हिन्दू की दृष्टि से पढना चाहिए। मै उनसे पूछूगा, जिस पूज्य भाव से मैंने गीता को पढा है क्या आपने उतने ही पूज्य भाव से उसे पढा है ? मैं आपसे कहता हूँ कि मैंने ईसाई

धर्म-सम्बन्धी जितनी पुस्तके पढी है उतनी हिन्दू धर्म-सम्बन्धी नही पढी। फिर भी मै इस परिणाम पर नही पहुचा कि ईसाई धर्म या हिन्दू धर्म ही सत्य के साक्षात्कार का एकमात्र मार्ग है।

[इसके पश्चात् गाधी जी ने मि० स्टोक्स की चर्चा की, जिन्होने बाद में अपना नाम सत्यानन्द रख लिया था और कहा—]

मि० स्टोक्स जब हिन्दुस्तान आये तो प्रारम्भ मे पठानो को ईसाई धर्म का उपदेश करते हुए उनके प्राण जाते-जाते बचे। पर उन्होने एक सच्चे ईसाई की तरह अपने आक्रमणकारी को हत्या के दण्ड से बचा लिया। बाद मे उन्होने सोचा कि ईसा पर तो मेरी सदा की ही भाति अगाध श्रद्धा है, पर मैं स्वय हिन्दू हुए बिना ईसा का सन्देश हिन्दुओ तक नही पहुँचा सकता। जबतक हिन्दू और भी अच्छे हिन्दू न बन जाय, तबतक यह नही कहा जा सकता कि मैं अपने प्रभु की सच्ची सेवा कर रहा हूँ।

मिशनरियो का दृष्टिकोण

मिशनरी महिला—तो मिशनरियो का कैसा रुख रहना चाहिए?

गाधी जी—मेरा खयाल है कि इसे मै समझा चुका हूँ, पर दोबारा दूसरे शब्दो मे कहे देता हूँ। आप लोग यह भूल जाय कि हम धर्मशून्य नास्तिको के देश मे आये हैं। आप ऐसा विचार रखें कि ये लोग भी हमारी ही तरह ईश्वर की खोज मे हैं, यह महसूस करें कि हम इन लोगो के देश मे अपने धर्म का दान करने नही जा रहे हैं, पर आपके पास सासारिक सुख-सम्पत्ति का जो अच्छा खजाना है, उसमे से आप इन्हे भी हिस्सा देंगे। तब आप लोग अपने मनमे कोई छिपाव रखे बिना अपना काम करेंगे और इस तरह आपके पास जो आध्यात्मिक धन होगा, उसमे से आप इन लोगो को हिस्सा देगे। आपके मन मे यह दुराव है—यही ज्ञान आपके और मेरे बीच भेद की दीवार खडी कर रहा है। ..

मिशनरी महिला— . आज तो मैं जिस मार्ग का अनुसरण कर रही हूँ उससे अच्छा एक भी मार्ग नहीं।

गाधी जी—यही तो मैं कहता हूँ कि यह अधिक मान लेना हुआ। आपने सब धर्मों के विश्वासो को नही परखा। परखा भी हो तो आप नही कह सकती कि आपसे कभी गल्ती नही हो सकती। आपको तमाम लोगो का ज्ञान है—ऐसा आप मान लेती है। आप यह तभी मान सकती हैं जब आप ईश्वर हो। मैं आपको समझा देना चाहता हूँ कि आप दोहरे भ्रम मे पडी हुई हैं। एक तो यह कि आप जिस चीज को सर्वश्रेष्ठ मानती हैं, वह वास्तव मे श्रेष्ठ है, और दूसरा यह कि

आप जिसे, अपने लिए श्रेष्ठ मानती है, वह सारे ससार के लिए श्रेष्ठ है। इसके मूल मे आपका दावा है कि आप सर्वज्ञ हैं और कभी भूल नही कर सकती। मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप तनिक नम्र बने।
—ह० ज० १८।७।१९३६, ह० से० २५।७।१९३६]

३५. ईसाइयत और अन्य धर्म

[प्रसिद्ध अमरीकी पादरी डा० क्रेन गाधी जी से मिलने सेगाव आये। वे युद्ध के कट्टर विरोधी थे और उसे ईसाई धर्म की मान्यताओ के खिलाफ समझते थे। उन्होने भारत का भ्रमण किया था और यहा की धार्मिक असहिष्णुता और चमत्कारो के विषय मे देख-सुन चुके थे। वे जानना चाहते थे कि गाधी जी का ईसाई-धर्म के प्रति क्या दृष्टिकोण है। उनके इस प्रश्न और परवर्ती वार्तालाप के उत्तर मे गाधी जी ने जो उद्गार व्यक्त किये, वे यहा सकलित किये जा रहे हैं। —सम्पा०]

गाधी जी—ईसाई-धर्म का मुझ पर जो असर पडा है, उसे मैं आपको जरूर सुनाऊगा। जब मैं सिर्फ १८ साल का था, तभी मैं लन्दन मे अच्छे ईसाइयो के सम्पर्क मे आया। उससे पहिले मैं उस ईसाई-धर्म को जानता था जिसे मैं उन दिनो शराब और गोमास-भक्षक ईसाई-धर्म कहा करता था। ईसाई होनेवाले आदमियो मे ये गुण अनिवार्यत आवश्यक होते थे। पर एक बात और थी, यानी यूरोपियन ढग का पहनावा। उस समय के ईसाई सन्त पाल के 'किसी चीज को नापाक न कहो'—इन वचनो की दुहाई देकर अपनी स्वच्छन्दता का समर्थन किया करते थे। मैं ईसाई-धर्म के प्रति इस तरह के विचार लेकर लन्दन पहुंचा। पर वहा मैं सज्जन ईसाइयो के सम्पर्क मे आया और उन्होने मुझसे बाइबिल पढने की सिफारिश की। उसके बाद तो मैं दक्षिण अफ्रीका मे कई ईसाइयो से मिला, और तब से मेरा यह खयाल बन गया है कि ईसाई-धर्म भी उतना ही अच्छा है जितना कि मेरा अपना धर्म। कुछ समय तक जरूर मेरे दिल मे यह सघर्ष होता रहा कि मेरे परिचित धर्मो मे से कौन-सा धर्म सच्चा है? अन्त मे विचार करने पर मैं इसी निश्चित परिणाम पर पहुंचा कि ऐसी कोई बात नही हो सकती कि कोई विशेष धर्म ही सच्चा हो और दूसरे सब झूठे हो। एक भी धर्म ऐसा नहीं जो सब दृष्टि से पूर्ण हो। न्यूनाधिक परिणाम मे सब अपूर्ण या यो कहे कि पूर्ण हैं। इसलिए मैं इस नतीजे पर पहुंचा कि ईसाई-धर्म भी उतना ही अच्छा और सच्चा धर्म है जितना

मेरा धर्म। यही बात मुसलमानो, पारसियो तथा यहूदियो के धर्म के विषय मे भी कही जा सकती है।

इसलिए इस वचन को मैं अक्षरश सत्य नही मानता कि केवल ईसा ही परमात्मा का बेटा है। परमात्मा किसी खास एक ही बेटे का बाप नही हो सकता और न मैं केवल ईसा को ही दिव्यत्व प्रदान कर सकता हूं। वह उतना ही दिव्य है जितने कि राम, कृष्ण, मुहम्मद या जरथुस्त्र। इसी प्रकार मैं यह भी नही मानता कि बाइबिल का अक्षर-अक्षर ईश्वरीय प्रेरणा से लिखा गया है। यही बात मैं वेदो और कुरान के विषय मे भी मानता हूं। हा, इन धर्मग्रन्थो को सम्पूर्ण रूप से लिया जाय तो जरूर वे अपौरुषेय कहे जा सकते है। पर अगर प्रत्येक वचन की अलग-अलग जांच करें तो बहुत से वचनो मे मुझे वह प्रेरणा नही दिखाई देती। बाइबिल को मैं उसी तरह एक धर्मग्रन्थ मानता हूं जिस तरह गीता या कुरान को।

[इतना कहकर गांधी जी डा० क्रन को कुरान के वे दो-तीन संस्करण दिखाये जो उनके सामनेवाली बांस की खुली अलमारी पर रखे थे। बाइबिल की भी एक प्रति थी। वे बाइबिल की बहुत-सी टीकाए पढ चुके थे। पर कुरान पर उन्होने इतनी टीकाए नहीं पढ़ी थीं। इसलिए इसके अनेक सस्करण उनके पास रखे हुए थे। इसके पश्चात् वह बोले।]

इसलिए मैं आपको ईसाई-धर्म से हिन्दू-धर्म मे नही लेना चाहता। पर साथ ही अगर आप मुझे ईसाई बनाने के इरादे से आये हो तो मैं आपका प्रतिकार भी नही करूगा। लेकिन मैं आपके इस दावे का जरूर खण्डन करूगा कि केवल ईसाइयत ही एकमात्र सच्चा धर्म है। हा, मै यह मान लूगा कि वह भी एक सच्चा और महान धर्म है, उसने भी अन्य धर्मो के साथ-साथ मनुष्य-जाति को नैतिक दृष्टि से ऊचा उठाने का काम किया है। पर अभी तो उसके सामने और भी अधिक काम पडा हुआ है। आखिर किसी धर्म के इतिहास मे २००० वर्ष अधिक तो नही हो गये। आज तो तरसती हुई मानव-जाति के सामने ईसाइयत बिगडे रूप मे पेश हो रही है। जरा कल्पना कीजिए कि जब बिशप-जैसे बडे-बडे पादरी ईसाई-धर्म के नाम पर हत्याकाण्डो का समर्थन करे, तब उसे क्या कहा जाय ?

परस्पर-विरोधी शिक्षाएं

डा० क्रेन—आप कहते हैं कि सब धर्म सच्चे हैं, लेकिन जब उनकी शिक्षाए परस्पर-विरोधी होती हैं तब आप क्या करते हैं?

गाधी जी— सत्य को ढूढने मे मुझे कोई कठिनाई नही होती, क्योकि मैं कुछ मौलिक सिद्धान्तो के आधार पर चलता हूं। मैं सत्य को सर्वोपरि मानता हूं।

इसमे विपरीत जो कुछ भी हो, मै उसे छोड देता हूँ। इसी प्रकार अहिंसा के विपरीत जो हो उसे भी छोड देना चाहिए। इसी तरह बुद्धिगम्य बातो मे जो बाते बुद्धि के विपरीत हो उन्हे भी त्याग देना चाहिए।

डा० क्रेन—बुद्धिगम्य बातो मे ?

गाधी जी—हाँ, कुछ ऐसे विषय है जिनमे बुद्धि हमे बहुत दूर नही ले जा सकती। हमे उन्हे श्रद्धापूर्वक मानना पडता है। ऐसी जगह श्रद्धा बुद्धि की विरोधिनी नही होती। वह बुद्धि से परे होती है। इस प्रकार हम श्रद्धा को छठी इन्द्रिय भी कह सकते है, जो उन मामलो मे निर्णय देती है, जो बुद्धि के क्षेत्र से बाहर है। अतएव इन तीन कसौटियो के मिल जाने पर मुझे धर्म के पक्ष मे पेश किये गये किसी भी दावे की जाँच करने मे कोई कठिनाई नही होती। इस तरह यह दावा कि ईसा परमात्मा का एकमात्र औरस पुत्र है, मुझे बुद्धि के विपरीत मालूम होता है, क्योकि परमात्मा शादी करके बच्चे नही पैदा कर सकता। इसलिए वहाँ बेटा या पुत्र शब्द तो आलकारिक भाषा मे ही प्रयुक्त हो सकता है। और उस अर्थ मे ऐसा हर व्यक्ति जो ईसा की तुलना मे खडा हो सकता है, औरस पुत्र कहला सकता है। अगर कोई आध्यात्मिक दृष्टि से हमसे कोसो आगे बढा हुआ हो तो हम उसके विषय मे कह सकते है कि वह एक विशेष अर्थ मे परमात्मा का बेटा है। यो तो हम सभी उसके बच्चे है। पर हम जहाँ अपने जीवन मे इस सम्बन्ध का खण्डन करते रहते है, वहाँ उसका जीवन इस सम्बन्ध का प्रत्यक्ष उदाहरण और प्रमाण होता है।

दिव्यता का परिमाण

डा० क्रेन—तब तो दिव्यता के परिमाण को मानते हैं। क्या आप यह नहीं मानेंगे कि ईसा सबसे अधिक दिव्य था ?

गाधी जी—नही, और इसका एक ही सीधा कारण है कि हमारे पास यह कहने का कोई प्रमाण नही है। इतिहास की दृष्टि से देखा जाय तो हमारे पास मुहम्मद के विषय मे इन सबकी अपेक्षा अधिक प्रमाण है, क्योकि वे सबसे अधिक आधुनिक है। ईसा के लिए उससे कम प्रमाण है। बुद्ध, राम, कृष्ण के विषय मे और भी कम है। फिर जब हम उनके विषय मे इतना कम जानते है, तो यह कहना क्या दु साहस नही होगा कि उनमे से एक दूसरे की अपेक्षा अधिक ऊँचा और दिव्य है ? बात यह है कि अगर कही बहुत से प्रमाण मिल भी जाय तो कोई निर्णायक उनकी जाँच करके अपना निर्णय देने की जिम्मेवारी नही लेगा। क्योकि अन्य कारणो की ओर ध्यान न भी दे तो भी यह एक कारण तो है ही कि ऐसे महापुरुषो की दिव्यता और उच्चता को तौलने के लिए निर्णायक का आध्यात्मिक दृष्टि से कितना अधिक उच्च होना

जरूरी है। यह कहना कि ईसा ९९ प्रतिशत दिव्य था, मुहम्मद ५० प्रतिशत और कृष्ण १० प्रतिशत, अपने सिर एक ऐसा काम लेना है जो वास्तव में मनुष्य की शक्ति से बाहर है।

डा० क्रेन—पर, हम एक विवादास्पद प्रश्न को लें। मान लीजिए, मैं इस बात पर बहस कर रहा हूँ कि हिंसा धर्म है या नहीं? तब इस्लाम एक बात कहेगा और ईसाई-धर्म दूसरी।

गाधी जी—तब मुझे उन कसौटियो पर इसकी जाँच करनी चाहिए जिन्हें मैं पहिले बता चुका हूँ।

डा० क्रेन—पर क्या कुछ परिस्थितियो मे मुहम्मद तलवार पकड़ने की सिफारिश नहीं करते?

गाधी जी—हाँ, इस बात को बहुत से मुसलमान स्वीकार करेंगे। पर मैं धर्म को दूसरी दृष्टि से देखता हूँ। खानसाहब अब्दुलगफ्फार खा कुरान से अहिंसा की शिक्षा ग्रहण करते हैं। उधर लन्दन के बिशप बाइबिल मे हिंसा का उपदेश पाते हैं। स्वय मैं गीता से अहिंसा-धर्म ग्रहण करता हू, वही दूसरे अनेक लोग ऐसे हैं जो गीता मे हिंसा का दर्शन करते हैं। जो कुछ भी हो। हम बुरी-से-बुरी बात सोच ले। अगर मैं इस नतीजे पर पहुँच जाऊ कि कुरान हिंसा की ही शिक्षा देता है, तो भी मैं हिंसा का त्याग ही करूगा। फिर भी मैं यह नही कहूगा कि बाइबिल कुरान से श्रेष्ठ है या मुहम्मद ईसा से कनिष्ठ हैं, क्योकि ईसा और मुहम्मद को तौलना मेरा काम नही है। फिर भी इस बात से कोई इन्कार नही कर सकता कि अन्य किसी प्रकार के ग्रन्थ का जनता मे इतना आदर नही है जितना धर्म-ग्रन्थो का। मार्कट्वेन[1] की अपेक्षा, अथवा अधिक उपयुक्त उदाहरण लें तो इमर्सन[2] की अपेक्षा, उनका मुझ पर अधिक असर पडा है। ईसा और मुहम्मद एक अर्थ मे पूरी तरह से क्रियाशील थे, जैसा कि इमर्सन कभी नही हो सकता। पर उनकी शक्ति ईश्वर मे उनकी श्रद्धा से उत्पन्न हुई थी।

डा० क्रेन—मैं अपनी बात एक उदाहरण देकर तनिक स्पष्ट कर दूं। पिछले सोमवार को मुझे बडा आघात पहुँचा। मुसलमानों ने सेंतीस गायों को खुलेआम सडकों पर काटा और हिन्दुओ के दिल को चोट पहुँचाई। मेरे साथ जो हिन्दू भाई सफर कर रहे थे उनसे मैंने पूछा, कि मुसलमानों ने ऐसा क्यो किया? उन्होंने कहा, यह उनके धर्म का अग है। तब मैंने उनसे पूछा, कि क्या यह उनके धार्मिक और

---

१. प्रसिद्ध अंग्रेजी हास्य-व्यंग-लेखक।
२. प्रसिद्ध अंग्रेजी निबन्धकार।

आध्यात्मिक विकास के लिए जरूरी है ? उन्होने कहा, हाँ ! फिर मैं एक मुसलमान से मिला। उसने कहा, यह तो एक पन्थ दो काज है। हम भी खुश होते हैं और खुदा को भी खुश करते हैं। अब यह मुसलमान ऐसी रँगरेलिया करता है जिससे आपको और मुझे भी चोट पहुँचती है। क्या आपका खयाल है कि यह कुरान की आज्ञाओ के खिलाफ है ?

गाधी जी—जरूर, मेरा यही खयाल है। हिन्दुओ के अन्दर भी इसी प्रकार की अनेक बुराइया हैं। उदाहरण के लिए छुआछूत को लीजिए। यह हिन्दूधर्म का अग नही है। मैं कहता हूँ कि गो-हत्या इस्लाम का अग नही है। फिर भी जो मानते हैं कि इस्लाम की शिक्षा यही है, उनसे मैं कुश्ती नही लडता।

धर्मान्तर

डा० क्रेन—धर्मान्तरो के प्रयत्नो के विषय मे आप क्या कहेंगे ?

गाधी जी—इन अत्यन्त अज्ञानी लोगो से धर्मान्तर करने के विषय मे जो आग्रह किया जा रहा है उसे देखकर मुझे बडा रोष आता है। अगर कोई आकर मुझसे ऐसी बाते करे—और करते भी है—तो उसे मैं समझ सकता हूँ, क्योकि मैं उनसे दलील कर सकता हूँ और वे भी मुझसे दलीले कर सकते हैं पर जब हरिजनो से कोई ऐसी बाते करता है तो मुझे जरूर बुरा मालूम होता है। जब कोई ईसाई प्रचारक किसी हरिजन से जाकर कहता है कि ईसा खुदा का औरस बेटा था, तो वह आश्चर्य से देखता ही रह जाता है। फिर ये प्रचारक उसके सामने तरह-तरह के प्रलोभन भी रखते हैं।

डा० क्रेन—क्या आपका यह मतलब है कि हरिजन मे विचार-शक्ति नहीं होती ?

गाधी जी—होती तो है। उदाहरण के लिए अगर आप बगैर मजूरी दिये उससे काम लेना चाहेगे तो वह नही करेगा। वह नीति-अनीति भी समझ सकता है। पर जब आप उससे ईश्वर-सम्बन्धी विश्वासो की बाते करेंगे और सिद्धान्त प्रस्थापित करेंगे तो वह कुछ भी नही समझेगा। मैं तो १७ वर्ष की अवस्था मे, जब कि मुझे कुछ शिक्षा भी मिल गई थी, कुछ नही समझता था। कट्टर हिन्दुओ ने हरिजनो को इतनी बुरी लापरवाही से रखा है कि यही आश्चर्य हो रहा है कि वे हिन्दू-धर्म को अभी तक कैसे पकडे हुए है। इसलिए अब मै कहता हू कि उनकी श्रद्धा को अगर दूसरे विचलित करेंगे तो यह भारी अन्याय होगा।

डा० क्रेन—आप ऐसे आदमी के विषय मे क्या कहेगे जो कहता है कि उसे तो ईश्वर ने ऐसा करने की आज्ञा दी है ?

गाधी जी—वहाँ आप उसके ईश्वर के मुकाबले मे दूसरे ईश्वर को खडा न कीजिए। आप उसके धर्म को न छेडिए। उसकी बुद्धि को, विचार-शक्ति को, जागरित कीजिए।

डा० क्रेन—लेकिन हिटलर का उदाहरण लीजिए। वह कहता है कि मैं जो यहूदियो को सताता हूँ और अपने दुश्मनो की हत्या करता हूँ, यह तो ईश्वर की आज्ञानुसार कर रहा हूँ।

गाधी जी—आप ईश्वर के एक वचन के विरुद्ध दूसरा शब्द न कहे। आप तो उसकी विचार-शक्ति को जागरित करके उसे कायल कीजिए। उसके लिए आपको एक चमत्कार करना पडेगा। यह तभी होगा जब ईसाई लोग बगैर मारे उस सिद्धान्त के लिए मरना सीखेगे जो उन्हे धर्म से भी प्यारा होगा। पर इस तरह तो हम सवाल-जवाब करते ही जायेंगे और इसका कोई अन्त नही आयगा। फिर मैं आपको यह भी याद दिला दू कि आपका समय हो चुका है।

गांधी जी का धर्म

डा० क्रेन—एक बात और। तब क्या आप यह कहेगे कि आपका धर्म सर्वधर्म-समन्वय है?

गाधी जी—हाँ, आप यही कह सकते है। पर मै उस सर्वधर्म-समन्वय को हिन्दू-धर्म कहूगा। और आपके लिए यह समन्वय ईसाई-धर्म होगा। अगर मैं ऐसा न करू तो आप हमेशा मुझसे दरखास्त करते रहेगे, जैसे कि अभी भी कई ईसाई कर ही रहे है। वे कहते हैं, क्या ही अच्छा हो अगर गाधी ईसाई बन जाय। मुसलमान भी यही करने लगेगे और कहेगे, कितना अच्छा हो अगर गाधी इस्लाम पर ईमान लाये। पर यह कहते ही आपके और मेरे बीच मे दीवार खडी हो जाती है।

जाति और वर्ण

डा० क्रेन—सिर्फ एक प्रश्न और रह गया है। आपने अपनी हिन्दू-धर्म की परिभाषा में क्या वर्ण और जाति को भी स्थान दिया है?

गाधी जी—नही, हिन्दू-धर्म मे जातियो के लिए स्थान नही है। मै तो उन्हे एकदम मिटा देना चाहता हूँ। पर वर्णाश्रम को मैं मानता हूँ। वह हमारा अपना धर्म है। मै मानता हूँ कि कुछ लोग ज्ञान देने के लिए, कुछ समाज की रक्षा करने के लिए, कुछ व्यापार-व्यवसाय और खेती करने के लिए पैदा होते है और कुछ केवल शरीर-श्रम करने के लिए ही आते हैं। यहाँ तक कि आगे चलकर ये पेशे वश-परम्परागत

हो जाते हैं। वर्ण-धर्म शुद्ध शक्ति-सचय का कानून है। अगर मे मेहतर हूँ तो मेरा लडका मेहतर क्यो न बने ?

डा० क्रेन—सचमुच! क्या आप यहाँ तक मानते हैं ?

गाधी जी—हाँ ? क्योकि मै तो मेहतर के धन्धे को किसी धर्माधिकारी के धन्धे से किसी प्रकार छोटा नही समझता ।

डा० क्रेन—मैं मानता हूं, पर क्या लिंकन[1] को अमेरिका का राष्ट्रपति होने के बजाय लकड़ी चीरने का काम करना चाहिए था ?

गाधी जी—पर एक लकडी चीरनेवाला ही राष्ट्रपति क्यो न हो ? ग्लैडस्टन[2] लकडी नही काटता था ?

डा० क्रेन—लेकिन उसे वह अपना पेशा नहीं मानता था।

गाधी जी—अगर मानता भी तो उसका कुछ नही बिगडता। मेरा मतलब यह है कि जो मेहतर के यहा पैदा हो उसे वही काम करके अपनी आजीविका कमानी चाहिए। उसे करने के वाद वह जो चाहे कर सकता है, क्योकि मेहतर को अपनी रोजी कमाने का उतना ही हक है जितना कि एक वकील या आपके राष्ट्रपति को। मेरी समझ से हिन्दू-धर्म की यही शिक्षा है। ससार मे इससे वढकर साम्यवाद हो ही नही सकता। इसे मैंने उपनिषदो के एक मन्त्र से स्पष्ट कर दिया है, जिसका अर्थ है—परमात्मा सम्पूर्ण चराचर मे व्याप्त है, इसलिए अपने सर्वस्व का त्याग करके उसे परमात्मा के चरणो मे रख दो और इस तरह अपना जीवन-निर्वाह करो। इस तरह जीवन-निर्वाह का अधिकार त्याग से प्राप्त होता है। वह यही नही कहता कि जव मव अपने-अपने हिस्सो का काम करेंगे तव मैं भी अपना करूगा। वह तो कहता है कि दूसरो की चिन्ता मे न पडो। अपना काम पहिले करो, और शेप ईश्वर पर छोड दो। वर्णाश्रम गुरुत्वाकर्षण की तरह एक सनातन नियम है । दिन-व-दिन,

---

१ सयुक्त राज्य अमेरिका के एक भूतपूर्व राष्ट्रपति। वह वचपन मे लकडी चीरने का धन्धा करते थे। और अपने अध्यवसाय के बल पर राष्ट्रपति वने। उनके समय मे हब्शियो को गुलाम बनाने के प्रश्न पर सयुक्त राज्य अमेरिका के उत्तरी और दक्षिणी राज्यो के बीच गृह-युद्ध हुआ। लिंकन हब्शियो को गुलाम वनाये जाने के विरुद्ध थे और उन्होने दृढतापूर्वक इस अमानवीय प्रथा के समर्थक दक्षिणी राज्यो से युद्ध कर विजय प्राप्त की। वाद मे उनके एक अन्य विरोधी ने, जो अभिनेता था, एक थियेटर मे नाटक देखते समय गोली मार कर उनकी हत्या कर दी।

२ इग्लैण्ड के एक भूतपूर्व प्रधान मन्त्री।

उत्तरोत्तर, अधिक-अधिक ऊंची उडान लगाकर मैं गुरुत्वाकर्पण के नियम को टाल नही सकता। यह प्रयत्न व्यर्थ है। उमी प्रकार एक-दूसरे को दबाना भी है। वर्ण-धर्म तो प्रतिस्पर्धा की बुराई का उत्तर और रामवाण औपधि है। प्रतिस्पर्धा मारक है।.. ..

—ह० ज०। ह० से०, ६।३।१९३७]

- एक भी धर्म ऐसा नहीं जो सब दृष्टि से पूर्ण हो।
- मै सत्य को सर्वोपरि मानता हूँ।
- मै...सर्वधर्म-समन्वय को हिन्दू-धर्म कहूगा।
- वर्ण-धर्म शुद्ध शक्ति-संचय का क़ानून है।
- वर्णाश्रम गुरुत्वाकर्षण की तरह एक सनातन नियम है।

३६. ईसाई-धर्म-प्रचार : एक वार्ता

[भारतीय ईसाइयों ने एक संयुक्त वक्तव्य प्रकाशित किया था, जिसमें उन्होने अपने धर्म-प्रचार और सामूहिक धर्म-परिवर्तन का औचित्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया था। गाधी जी ने उक्त ववतव्य की विशद और युक्तिपूर्ण आलोचना प्रकाशित की थी। इस सम्बन्ध मे गाधी जी से मिलने के लिए आये एक ईसाई पादरी से विस्तृत चर्चा हुई। इस चर्चा के आवश्यक अंश यहां दिये जा रहे हैं। —सम्पा०]

पादरी—ईसाई-धर्म के प्रचार-कार्य पर आपने इस आधार पर एतराज उठाया है कि हरिजन अशिक्षित और अज्ञान हैं। पर अगर हरिजनेतर लोगो में प्रचार-कार्य किया जाय, तो आप क्या कहेगे ?

गांधी जी—यही आपत्ति वहाँ भी उठाऊंगा, क्योकि हिन्दुस्तान की जन-सख्या का बहुत बडा भाग ईसाई-धर्म की पक्ष और विपक्ष की बातो को, जितना एक गाय समझती है उससे अधिक अच्छी तरह नही समझता। मेरी इस उपमा पर आपत्ति उठाई गई है, तो भी मै उसे फिर दोहराता हूं। जब मै यह कहता हूं कि मै घातप्रमापक (लोगारिथ्म) के सिद्धान्त को जितना मेरी गाय समझती है, उससे अधिक नही समझता, तब इसका यह मतलब नही कि मै अपनी बुद्धि का कोई अपमान करता हूं। मै आपको सेगाव ले चलूगा और वहा आपको दिखाऊंगा कि जहा तक ऐसी बातो को समझने की योग्यता का सम्बन्ध है, वहा तक हरिजनो और हरिजनेतरो मे कोई अन्तर नही है। आप मेरी स्त्री को ईसाई-धर्म के सिद्धान्त का उपदेश देने का प्रयत्न

कीजिए। मेरी गाय जितना समझेगी उससे अधिक अच्छी तरह वह उन सिद्धान्तो को नही समझ मकेगी। हाँ, मैं समझ सकता हूँ, क्योकि मैंने वैमी शिक्षा पाई है।

पादरी—लेकिन हम किसी आध्यात्मिक सिद्धान्त का उपदेश तो देते नहीं। हम तो उनसे केवल ईसा के जीवन के विषय मे कहते हैं, और उन्हे वताते हैं कि ईसा का जीवन और ईसा के उपदेश हमारे लिए कितने शान्तिदायक हैं। हम कहते है कि वह हमारा सदा मार्गदर्शक रहा है, और दूसरो से भी हम यही कहते हैं कि वे भी उसे अपना मार्गदर्शक बना लें।

गाधी जी—हाँ, आप यही कहते है। पर जव आप कहते है कि रामकृष्ण परमहस की अपेक्षा मुझे ईसा को ही अपना मार्गदर्शक मानना चाहिए, तव आपको ज़रा गहरे पानी मे उतरना होगा। इसीलिए मैं कहता हूँ कि आपको जो कुछ कहना हो उसे स्वय आपका जीवन हमसे कहे। गुलाव के फूल को कभी वोलने की जरूरत पडती है ? वह तो वस अपनी सुगन्ध फैला देता है ? गुलाव की सुगन्ध से तो अन्धा मनुष्य भी अवगत हो जाता है। यही गुलाव के सुन्दर सन्देश का रहस्य है। किन्तु ईसा ने जिस शुभ मन्देश का प्रचार किया वह गुलाव के सरस सन्देश से कही अधिक सूक्ष्म और सुगन्धित है। अगर गुलाव को किसी एजेंट की ज़रूरत नही, तो ईसा के मन्देश के लिए तो और भी किसी एजेंट की ज़रूरत नही पडनी चाहिए।

छिपा हुआ हेतु

पादरी—पर ईसाइयो के प्रचार-कार्य पर आपको यह आपत्ति भी है कि उसमे व्यापारी दृष्टि है। हरेक सच्चा ईसाई इस वात को मानता है कि किसी को कोई प्रलोभन नहीं देना चाहिए।

गाधी जी—तव ईसाई-धर्म का जिस रूप मे आजकल प्रचार हो रहा है वह क्या है ? जवतक आप अपनी शिक्षण-सस्थाओ और अस्पतालो मे से यह धर्मान्तर की दृष्टि अलग नही करेंगे, तवतक उनका कोई मूल्य नही। मिशन स्कूलो और कालेजो मे पढनेवाले विद्यार्थी वाइविल पढने के लिए क्यो मजबूर किये जाय, या उनमे यह आशा भी क्यो रखी जाय ? अगर उन्हे ईसा का सन्देश समझना ही चाहिए, तो फिर बुद्ध, जरयुस्त्र और मुहम्मद का क्यो नही ?

पादरी—यह तो पुराना तरीका था, अव यह वात नहीं है।

गाधी जी—मैं आपके सामने इस तरह के यथेच्छ आधुनिक उदाहरण रख सकता हू। डोर्नाकल के विशप क्या आधुनिक नहीं है ? उन्होंने हिन्दुस्तान के दलित वर्गों के नाम जो खुली चिट्ठी लिखी है उसके वारे मे आप क्या कहते हैं ? तनिक उनकी वह चिट्ठी देखिए, वह कितने प्रलोभनो से भरी हुई है।

पादरी—ईसाई-धर्म के जिस नमूने का प्रतिनिधित्व वे करते हैं, उसे मैं पसन्द नहीं करता। लेकिन जहा वाइविल का पढना अनिवार्य नहीं है, और केवल शिक्षा ही दी जाती है, उन मिशन स्कूलो व कालेजो मे विद्यार्थी पढ़ें तो इसमे आपको क्या एतराज है ?

गाधी जी—जब आप यह आशा रखते हैं कि विद्यार्थी वाइविल पढें तव इसमे ईसाइयत के प्रचार का एक सूक्ष्म प्रकार तो रहता ही है।

पादरी—अस्पतालों के बारे मे, मेरा ख़याल है कि बगैर किसी धार्मिक उपदेश की शक्ति के लोकोपकारी कार्य सफल नहीं होते।

गांधी जी—तव आप अपने दान का क्रय-विक्रय करते है। क्योकि आपके मन मे यह भावना है कि चूकि आप सेवा-दान देते है, इसलिए किसी-न-किसी दिन आपका दान ग्रहण करनेवाले ईसा को अपना मार्गदर्शक या उद्धारक मान लेंगे। आपकी सेवा ही उसका पुरस्कार क्यो न हो ?

पादरी—खैर, इन बातो को छोडिए। मेरा ख़याल है कि मैं बहुत ऊचे दर्जे के ईसाइयो के नाम गिना सकता हूं, जो अपने जीवन का उदाहरण रखकर लोगो को आकर्षित करते हैं।

गांधी जी—मै भी ऐसे नाम गिना सकता हूं। एण्डरूज़ ऐसे ही आदमी हैं। पर वे सब अपवाद-रूप है।

पादरी—पर ईसाई-धर्म की जाँच, उसकी अच्छाई-बुराई का विवेचन आपको उसके अच्छे-से-अच्छे अनुयायियो के आधार पर करना चाहिए, न कि उसके बुरे-से-बुरे अनुयायियो के आधार पर।

गाधी जी—मै यहा क्रिश्चियेनिटी का गुणदोष-विवेचन एक धर्म के रूप मे नही कर रहा हूं। मै तो उस तरीके के बारे मे बात कर रहा हूँ, जिस तरीके से उसका प्रचार किया जा रहा है। और जिस तरह आप ऊची कोटि के थोडे-से अंग्रेज़ो से ब्रिटिश राज्य-प्रणाली को जाँच नही सकते, उसी तरह अपवाद-रूप ईसाइयो का उदाहरण सामने रखकर आप ईसाइयत पर अपनी कोई राय नही वना सकते। हमे तो आपके प्रचारको के उस बहुत वडे भाग को लेना चाहिए, जो ईसाई-धर्म का प्रचार आज कर रहे है। क्या वे अपने जीवन की सुगन्ध फैला रहे हैं ? मेरे लिए तो यही एकमात्र कसौटी है। मैं उनसे केवल यही चाहता हूं कि वे ईसा के अनुयायियो के लिए उपयुक्त जीवन बिताये। मै उनकी टीका-टिप्पणी नही करना चाहता। कठिन और प्रार्थनापूर्ण शोध के वाद मै इस अभिप्राय पर पहुंचा हूँ और मुझे यह कहते खुशी होती है कि मेरे इस मत को माननेवाले ईसाइयो की सख्या बराबर वढ रही है।

ईसा का व्यक्तित्त्व

पादरी—ईसा के व्यक्तित्त्व के प्रति आपका जो भाव है उसे आपके ही मुख से सुनकर मैं आपका आभारी होऊगा।

गाधी जी—इसे तो मैने अनेक वार स्पष्ट किया है। ईसा को मै मानव-जाति का एक महान गुरु मानता हूँ, पर मै उन्हे आपकी तरह ईश्वर द्वारा उत्पन्न हुआ एकमात्र पुत्र नही मानता। यह विशेषण उनकी स्थूल व्याख्या मे विल्कुल ही अमान्य है। रूपक के रूप मे तो हम सभी ईश्वर-जनित पुत्र है, पर हममे से प्रत्येक के लिए एक विशेष अर्थ मे भिन्न-भिन्न ईश्वर-पुत्र हो सकते हैं। जैसे, मैं अपने लिए चैतन्य को एकमात्र ईश्वर-जनित पुत्र मान सकता हू।

पादरी—क्या आप मानव-प्रकृति के पूर्णत्त्व मे विश्वास नहीं करते? और क्या आपका इस बात मे विश्वास नहीं है कि ईसा ने उस पूर्णत्त्व को प्राप्त कर लिया था?

गाधी जी—मैं मानव-प्रकृति के परिपूर्णत्त्व मे विश्वास करता हूं। ईसा जितना सम्भव था, उतना पूर्णत्त्व के समीप पहुंचे। पर यह कहना कि वह पूर्णतया परिपूर्ण थे, इस बात मे इन्कार करना है कि ईश्वर मनुष्य से श्रेष्ठ है। और फिर इस सम्बन्ध मे मेरा अपना एक सिद्धान्त है। जबतक हम शरीर-बन्धन से जकडे हुए है तबतक परिपूर्ण अवस्था को प्राप्त नही कर सकते। यह तो शरीर-विनाश के बाद ही सम्भव है। इसलिए परिपूर्ण तो एकमात्र ईश्वर ही है। जब वह पृथिवी पर अवतीर्ण होता है, तब वह स्वय अपनी इच्छा से अपने को सीमित कर लेता है। सूली पर ईसा की मृत्यु इसलिए हुई, क्योकि वह शरीर-बन्धन से बंधे हुए थे। गुरु के रूप मे ईसा की महत्ता कायम करने के लिए मुझे न तो उनकी भविष्यवाणियो की जरूरत है, और न उनके चमत्कारो की। उनके तीन वर्ष के धर्माचरण से बढकर चमत्कार और क्या हो सकता है? इस कथा मे कोई चमत्कार की बात नही है कि उन्होने मुट्ठी-भर पाव रोटियो से एक बडे जन-समूह को खिलाया। ऐसा इन्द्रजाल तो जादूगर दिखला सकता है। लानत है उस दिन पर, जिन दिन हम किसी जादूगर को मानव-जाति का मुक्तिदाता कहे। और ईसा की इन चमत्कार-जनक कहानियो के सम्बन्ध मे कि उसने मुर्दे को जिला दिया था, मुझे शका है कि जिन आदमियो को उसने जिला दिया था वे क्या सचमुच मर गये थे? मैने अपने एक रिश्तेदार की एक छोटी-सी लडकी को कल्पित मृत्यु के मुख से लौटा लिया था, पर बात असल मे यह थी कि वह लडकी मरी नही थी। और अगर मैं वहां पहुंच न जाता, तो लोग उसे स्मशान मे ले जाकर जला देते। पर मैने देखा कि उसके प्राण निकले नही थे।

विदेशी आपके सामने ईसाई-धर्म पेश करेंगे, किन्तु युरोप और अमरीका मे आज जो ईसाई-धर्म पाया जाता है, वह ईसा के उपदेशो से बिल्कुल मेल नही खाता। फिर, हिन्दू-धर्म, इस्लाम और जरथुस्त्र का पारसी-धर्म आदि कुछ और धर्म है। प्रत्येक धर्म मे कुछ-न-कुछ अच्छी बाते है। आपको अपनी रुचि को सीमित न रखते हुए इन अच्छी बातो को अपना लेना चाहिए और अपने धर्म का रूप निश्चित कर लेना चाहिए।

—सेवाग्राम, ८।२।१९४६। ह० ज०। ह० से०, २४।४।१९४६]

४०. यह इस्लाम की सेवा नहीं है

अगर एक हिन्दू अपनी राज़ी-खुशी से और सच्चे दिल से कलमा पढे, तो मुझे उसमे कोई आपत्ति नही होगी। लेकिन अगर वह अपनी जान गँवाने या सम्पत्ति खोने के डर से ऐसा करता है, तो वह व्यर्थ ही भगवान का नाम लेता है, क्योकि उस समय उसके मुह से निकलनेवाली आवाज़ शैतान की आवाज़ होती है। मैं इस्लाम को जिस रूप मे समझता हूँ, उस रूप मे वह कभी और जबर्दस्ती से नही बढा, न बढ सकता है। जो आदमी इस तरीके से इस्लाम की सेवा करने का दावा करता है, वह उस श्रेष्ठ धर्म को हानि पहुँचाता है।

—श्रीरामपुर, ४।१२।१९४६। ह० ज०। ह० से०, १२।१।१९४७]

४१. कुरान की शिक्षा

एक मित्र ने यह सिद्ध करने के लिए मेरे पास कुछ साहित्य भेजा है कि कुरान काफिरो[१] का कत्ल करना सिखाता है। मै जीवन-भर मुसलमानो के बीच रहा हूँ। लेकिन किसी ने यह कभी नही सुझाया कि काफिर होने के नाते मुझे कत्ल कर दिया जाय। मैं नोआखाली मे मौलवियो के बीच रहा हूं। विद्वान मुसलमानो ने मुझ से कहा कि कुरान की इस खास आयत का मतलब यह है कि खुदा नामधारी काफिर यानी इस्लाम को न माननेवाले को सज़ा देता है। लेकिन वह तो मुसलमानो के साथ भी यही करेगा। वह इसानो की जाँच उनके काम से करता है, न कि उनके शब्दो से। भागवत, मनुस्मृति और वेदो मे भयानक दण्डो का वर्णन आता है। फिर भी हिन्दू-धर्म की विशेष सीख है—दया सारे धर्मों का निचोड है। मैं

१. इस्लाम को न माननेवाले।

चाहता हूँ कि आप लोग तुलसीदास के इस वचन का ध्यान रखे —अच्छे-बुरे सभी व्यक्ति भगवान के उत्पन्न किये हुए है। भगवान का भक्त बुराई को छोडकर अच्छाई को उसी प्रकार ग्रहण करता है जिस प्रकार हम दूध और पानी के मिश्रण से दूध पी जाता है और पानी को छोड देता है।[1]

—प्रार्थना सभा, ३०।५।१९४७। नई दिल्ली, ३।६।१९४७। ह० ज०। ह० से० ८।६।१९४७]

४२. थियॉसफी

मैं थियॉससाफिकल सोसायटीवाले मित्रो का बहुत ऋणी हूँ। उनमे मेरे अनेक मित्र हैं। श्रीमती ब्लेवेट्स्की, कर्नल आलकाट या डाक्टर बेसेण्ट के खिलाफ आलोचक कुछ भी कहे, मानव-सभ्यता की प्रगति मे इनका योग सदा ऊचे दर्जे का माना जायगा। इस समाज मे मेरे शरीक होने मे उसका गुप्त पहलू भी बाधक हुआ है। उसकी गुप्त-विद्या (अकल्टिज्म) मुझे कभी नही जँची।

—दिस वाज़ बापू-ले० आर० के० प्रभु, सस्करण १९५४]

४३. ईसा : सूली की सेज पर

[रोम मे सूली पर चढ़े हुए ईसा का चित्र देखकर प्रकट किये गये उद्गार]

पोप के महल मे सूली पर चढे हुए ईसा की सजीव मूर्ति के सामने सिर झुका सकने के लिए मैं क्या नही दे डालता ? जीतीजागती करुणा के इस दृश्य से अलग होते हुए मुझे बडी पीडा हुई। इस दृश्य को देखते हुए मैंने मुहूर्त-मात्र मे समझ लिया कि व्यक्तियो की भाति राष्ट्र भी सूली की यातना सह कर ही बनाये जा सकते है, और किसी तरह नही। आनन्द दूसरो को पीडा पहुँचाने से नही मिलता, परन्तु खुशी से स्वय कष्ट भोगने से मिलता है।

—दिस वाज़ बापू, पृ० २९, सस्करण १९५४]

---

१ जड चेतन गुण - दोषमय, सृष्टि कीन्ह करतार।
सन्त हस गुण गहहिं पय, परिहरि वारि विकार॥

धर्म
विविध

१. धर्म पर व्याख्यान

[जोहानिसबर्ग की थियॉसफिकल सोसायटी ने श्री गाधी को हिन्दू धर्म पर भाषण देने के लिए आमन्त्रित किया और उस पर उन्होंने मेसानिक टेम्पल मे चार भाषण दिये। यहा 'इण्डियन ओपीनियन' मे प्रकाशित उनके भाषण का सक्षिप्त सार दिया जा रहा है।—सम्पा०]

दक्षिण अफ्रीका मे भारतीयो का अपमान

थियॉसफिकल सोसायटी ने मुझे भाषण करने के लिए बुलाया तब मैंने दो बातें सोचकर वह आमन्त्रण स्वीकार किया। मुझे दक्षिण अफ्रीका मे बसे हुए बारह वर्ष होने को आये। यहा मेरे देशवासियो पर जो तकलीफे आती है, उनकी खबर सबको है। लोग उनके रग को तिरस्कार की दृष्टि से देखते है। मैं ऐसा मानता हूँ कि यह सब गलतफहमी से होता है और यह गलतफहमी दूर करने मे मुझसे जितनी बने, उतनी मदद करने के हेतु मैं दक्षिण अफ्रीका मे पडा हूँ। इसलिए मुझे लगा कि यदि मैं सोसायटी का आमन्त्रण स्वीकार करूँ तो जो मेरा कर्त्तव्य है उसमे एक हद तक मदद मिलेगी, और यदि मैं आपको इन भाषणो से भारतीयो के प्रति थोडा भी अच्छा खयाल करा सका तो अपना धन्य भाग्य समझूँगा। मुझे आपको बताना तो हिन्दुओ ही के विषय मे है, किन्तु हिन्दू और अन्य जो भारतीय है उनकी बहुत-सी रीति एक ही है। सारे भारतीयो के गुण-दोष समान हैं और सारे एक ही शाखा से निकले है। निमन्त्रण स्वीकार करने का दूसरा कारण यह था कि थियॉसफिकल सोसाइटी के उद्देश्यो मे से एक उद्देश्य विभिन्न धर्मो की तुलना करके उनका तत्त्व खोजकर लोगो को यह बताना है कि वास्तव मे देखा जाय तो सारे धर्म ईश्वर को पहिचानने के अलग-अलग मार्ग है और कोई धर्म खराब है, ऐसा कहते हुए हिचक होनी चाहिए। मैंने सोचा कि यदि मैं हिन्दू धर्म के बारे मे दो बातें कहूँगा तो थोडा-बहुत यह हेतु भी सिद्ध होगा।

हिन्दू

हिन्दू वास्तव मे हिन्दुस्तान के रहनेवाले नही माने जाते। पश्चिम के विद्वान् कहते है कि हिन्दू और यूरोप के अधिकाश लोग एक समय मध्य एशिया मे निवास

करते थे। वहा से अलग होकर कुछ लोग युरोप गये और कुछ हिन्दुस्तान मे पजाब के रास्ते से पहुँचे और वहा आर्यधर्म का प्रसार हुआ। हिन्दुओ की सख्या २० करोड से ऊपर है। उनका नाम हिन्दू इसलिए पडा कि वे सिन्धु नदी के पार बसते थे। उनकी प्राचीनतम पवित्र पुस्तकें वेद हैं। बहुत से श्रद्धालु हिन्दू ऐसा मानते है कि वेद ईश्वरकृत और अनादि हैं। पश्चिम के विद्वानो की मान्यता है कि ईसा से २,०००वर्ष पहिले वेद रचे गये। पूना के प्रख्यात विद्वान् श्री तिलक ने बताया है कि वेद कम-से-कम १०,०००वर्ष पुराने है। हिन्दुओ की प्रधान विशेषता है उनका सर्वव्यापक ब्रह्म मे विश्वास। पृथिवी पर प्रत्येक व्यक्ति का लक्ष्य होना चाहिए मोक्ष प्राप्त करना, और मोक्ष का अर्थ है जन्म-मरण के भय से छूटना और ब्रह्म मे लीन हो जाना। उनकी नीति मे मृदुता और समदृष्टि मुख्य गुण हैं और उनके लौकिक व्यवहार मे जाति-भेद सर्वोपरि है।

हिन्दू धर्म की पहिली कसौटी जब बुद्धदेव ने जन्म लिया, तब हुई। बुद्धदेव स्वय एक राजा के पुत्र थे। उनका जन्म ईसा से ६०० वर्ष पहिले हुआ बताया जाता है। उस समय हिन्दू ऊपर के दिखावे पर मोहित हो रहे थे और ब्राह्मण स्वार्थ के कारण हिन्दू-धर्म की रक्षा का अपना कर्त्तव्य भूल गये थे। जब बुद्ध की दृष्टि मे यह सब आया तो उन्हे अपने धर्म की ऐसी दशा देखकर दया आई। उन्होने ससार छोडकर तपस्या को अपना लिया, कितने ही वर्ष ईश्वर-भक्ति मे लीन रहकर व्यतीत किये। अन्त मे उन्होने हिन्दू-धर्म मे सुधार सूचित किये। उनकी पवित्रता का ब्राह्मणो पर असर हुआ और बहुत हद तक यज्ञ के लिए प्राणियो का वध बन्द हो गया। इस तरह बुद्धदेव ने नया धर्म स्थापित किया, ऐसा नही कहा जा सकता। पर अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए भिन्न-भिन्न देशो मे लोग (प्रचारक) भेजे, और लका, चीन, ब्रह्मदेश आदि मुल्को मे बौद्ध धर्म को फैलाया। इस समय हिन्दू धर्म की यह खूबी प्रकट हुई कि किसी को जबर्दस्ती बौद्ध नही बनाया गया। केवल वादविवाद-द्वारा तर्क करके और प्रधान रूप से अपने शुद्ध चालचलन से प्रचारको ने लोगो के मन पर छाप डाली थी। ऐसा कह सकते हैं कि बौद्ध धर्म और हिन्दू-धर्म भारत मे तो एक ही थे और आज भी दोनो के मूल तत्व एक ही हैं।

मुहम्मद पैगम्बर का जन्म

आपने देखा कि हिन्दू-धर्म पर बौद्ध धर्म का असर अच्छा हुआ और उससे हिन्दू धर्म के रक्षक जाग्रत हुए। आज से १,००० वर्ष पहिले हिन्दू धर्म एक अन्य धर्म के सम्पर्क मे आया जो ज्यादा जोरदार था। हजरत मुहम्मद अब से १,३००

वर्ष पहिले जन्मे। उन्होंने अरबस्तान मे बहुत अत्याचार देखा। यहूदीधर्म नब गोते खा रहा था। ईसाई-धर्म वहा पाव नही धर पाता था और लोग विषयी और स्वच्छन्द हो गये थे। यह सब मुहम्मद को ठीक नही लगा। उनका मन मुरझाने लगा और उन्होने ईश्वर का नाम लेकर अपने देशवासियो को होश मे लाने का निश्चय किया। उनकी लगन इतनी तीव्र थी कि आस-पास के लोगो पर उनके हार्दिक जोश की छाप तुरन्त पडी और बडी तेजी से इस्लाम का प्रचार हुआ। जोश इस्लाम की जबर्दस्त खूबी है। इसमे कई अच्छे काम हुए और कई बार बहुत बुरे काम भी हुए। १,००० वर्ष पूर्व इस्लाम फैलाने के लिए भारत पर गजनी की सेना बढ आई। हिन्दू मूर्तियो का खण्डन शुरु हुआ और हमलावर सोमनाथ तक गये। इस तरह एक तरफ से जबर्दस्ती हो चली और दूसरी तरफ से इस्लामी फकीर उसकी वास्तविक खूबी बताने लगे। जो इस्लाम मे आते है वे सब बराबर हैं, इस बात का असर नीचे वर्ण के लोगो पर बहुत अच्छा पडा और लाखो हिन्दुओ ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। इससे हिन्दुओ मे बडी खलबली मची।

बनारस मे कबीर पैदा हुए। उन्होने सोचा कि हिन्दू विचार के अनुसार हिन्दू-मुसलमान मे भेद नही है। अगर दोनो अच्छा काम करे तो स्वर्ग प्राप्त कर सकते है। मूर्तिपूजा हिन्दू-धर्म का आवश्यक तत्व नही है—यह सोचकर उन्होंने इस्लाम और हिन्दू धर्म को एक करना शुरू किया। किन्तु उसका बहुत असर नही हुआ और वह एक अलग पन्थ होकर रह गया जो अभी तक देखने मे आता है। कुछ बरसो बाद पजाब मे गुरु नानक हुए। उन्होंने वही कबीर का तक मानकर, दोनो धर्मों को एक करने का विचार पसन्द किया, किन्तु उसके साथ-साथ उनका खयाल यह भी था कि जरूरत पडे तो इस्लाम का तलवार से मुकाबला करके हिन्दू धर्म की रक्षा की जाय। इसी मे से सिखधर्म उत्पन्न हुआ और लडनेवाले सिख तैयार हुए। इस सबका नतीजा यह हुआ है कि भले ही इन दिनो भारत मे हिन्दू और मुसलमान ऐसे दो मुख्यधर्म है, फिर भी दोनो कौमें हिल-मिलकर रहती है और दोनो, एक-दूसरे की भावना को चोट न पहुँचे, ऐसा बर्ताव करती है। हा, राजनीतिक सघर्ष और उत्तेजना से खटास उत्पन्न होती है। हिन्दू योगी अथवा मुस्लिम फकीर के बीच बहुत थोडा अन्तर देखने मे आता है।

पैगम्बर ईशु ख्रीस्त

इस तरह जब इस्लाम और हिन्दू-धर्म मे प्रतिद्वन्द्विता चल रही थी उसी बीच लगभग ५०० वर्ष पहिले ईसाई गोवा के बन्दरगाह मे उतरे और हिन्दुओ को

ईसाई बनाने लगे। उन्होने भी कुछ बलपूर्वक और कुछ समझाकर काम लेने की पद्धति अपनाई। उनमे कई पादरी अत्यन्त कोमल और दयालु थे। उनको सन्त कहे तो भी गलत नही होगा। उनका असर फकीरो की तरह हिन्दू जाति के निचले वर्णों पर बहुत हुआ। परन्तु बाद मे जब ईसाई-धर्म और पश्चिमी सभ्यता का गठबन्धन किया गया तब हिन्दुओ ने ईसाईधर्म को पसन्द नही किया। और आज हम देखते हे कि उनके ऊपर एक बहुत बडी ईसाई-शक्ति का राज्य होने पर भी बिरला ही हिन्दू ईसाई-धर्म स्वीकार करता है। फिर भी ईसाई-धर्म का असर हिन्दू-धर्म पर बहुत अधिक हुआ है। उन पादरियो ने ऊँचे प्रकार का शिक्षण दिया, हिन्दू-धर्म की बडी-बडी कमिया बताईं और परिणाम यह हुआ कि कबीर-जैसे दूसरे हिन्दू शिक्षक पैदा हुए और उन्होने ईसाई-धर्म मे जो अच्छा था उसे सीखना शुरू किया और हिन्दुओ की कमियाँ दूर करने का आन्दोलन चलाया। राजा राममोहनराय, देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन ऐसे ही व्यक्ति थे। पश्चिम भारत मे दयानन्द सरस्वती हुए और वर्तमानकाल मे भारत मे ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज बने। यह निश्चय ही ईसाई-धर्म का असर है। फिर श्रीमती ब्लेवेट्स्की[1] ने भारत मे आकर हिन्दू-मुसलमान दोनो को पश्चिमी सभ्यता के दोषो से परिचित कराया और उन्हे समझाया कि उसपर आसक्त नही होना चाहिए।

हिन्दू धर्म के तत्व

इस तरह आपने देखा कि हिन्दू-धर्म पर तीन आक्रमण —बौद्ध, इस्लाम और ईसाई-धर्म के हुए। किन्तु कुल मिलाकर देखें तो हिन्दू धर्म उनसे उबरकर निकला है। हरएक धर्म मे जो अच्छाई थी उसे उसने ग्रहण करने का प्रयत्न किया है। इस धर्म के लोग क्या मानते हैं, यह जान लेना चाहिए। ईश्वर है। वह अनादि है। निर्गुण है। निराकार है। सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान है। उसका मूलस्वरूप ब्रह्म है। वह करता नही है, कराता नही है। यह सत्ता नही चलाता। वह आनन्द-रूप है और उसके द्वारा ही सारी सृष्टि का पालन होता है। आत्मा है, वह देह से पृथक् है। वह भी अनादि है, अजन्मा है। उसके मूलस्वरूप और ब्रह्म मे भेद नही है। किन्तु कर्मवश या मायावश वह समय-समय पर देह धारण करती रहती है और अच्छे या बुरे कर्मो से अच्छी या बुरी योनियो मे जनमती रहती है। जन्म-मरण के चक्र के बन्धन से छूटना और ब्रह्म मे लीन होना मोक्ष है। मोक्ष पाने का साधन बहुत अच्छे काम करना, जीवमात्र पर दया करना और सत्यमय होकर रहना

---

१. थियॉसफिकल सोसायटी की संस्थापिका।

है। इस ऊँचाई तक पहुँचने पर भी मोक्ष नही मिलता, क्योंकि ऐसे अच्छे कामो के फल-भोग के लिए भी शरीर मिलता ही है। इसलिए इससे भी एक कदम आगे बढना जरूरी है। कर्म करना तो अनिवार्य है ही, पर उसमे आसक्ति नही रखनी चाहिए। उन्हे करने के लिए करे किन्तु उनके परिणाम पर नजर न रखे। थोडे मे, सब ईश्वर को अर्पण करें। हम कुछ कर रहे है या कर सकते है, स्वप्न मे भी ऐसा गुमान नहीं रखना चाहिए। सबको समान-भाव से देखना चाहिए। ये हैं हिन्दू धर्म के तत्व। हिन्दुओ मे अनेक सम्प्रदाय हैं, फिर लौकिक आचारो को लेकर कुछ फिरके बन गये हैं। उन सबका विचार इस प्रसग पर करना जरूरी नही है।

परिसमाप्ति सुनने वालो से प्रार्थना

यदि आपमे से किसी पर भी यह सब सुनकर अच्छा असर हुआ हो और यदि आपको ऐसा लगा हो कि हिन्दू या भारतीय, जिनके देश मे ऐसा धर्म प्रचलित है वे एकदम नीची प्रजाति के लोग नही होगे, तो आप राजनीति के मामलो मे बिना उलझे मेरे देशवासियो की सेवा कर सकते हैं।

हम सबको प्रेम से रहना है, यह सारे धर्म सिखाते है। मेरा हेतु आपको धर्म का उपदेश देना नही था। मैं वैसा करने योग्य हूँ भी नही। मेरा इरादा भी नही है। फिर भी यदि आपके मन पर कोई अच्छा असर पडा हो तो उसका लाभ मेरे भाइयो को देने की कृपा करें। जब उनकी निन्दा हो तो उनका पक्ष लें जो अग्रेज जाति को शोभा देता है।

—गुजराती से। इण्डियन ओपीनियन, १५।४।१९०५। स० गा० वा०, भाग ४, पृष्ठ, ४३५, ३६, ३७, ३८]

- **हम सब को प्रेम से रहना है, यह सारे धर्म सिखाते हैं।**
- **पृथिवी पर प्रत्येक व्यक्ति का लक्ष्य होना चाहिए मोक्ष प्राप्त करना।**
- **मोक्ष का अर्थ है जन्म-मरण के भय से छूटना और ब्रह्म मे लीन हो जाना।**

२. श्री गांधी का स्पष्टीकरण

भारत मे हिन्दू धर्म का क्या रूप है इसका चित्र उपस्थित करने का निमन्त्रण[1] मुझे मिला था। उसको मैंने स्वीकार कर लिया। उस विषय का विवे-

---

१ जोहानिसबर्ग, थियॉसफिकल सोसायटी के तत्वावधान मे आयोजित अपने एक भाषण में गाधी जी ने कहा था कि इस्लाम-धर्म को अधिकतर हिन्दुओं

चन करते हुए दूसरे धर्मों से तुलना करना आवश्यक हो गया। किन्तु उसमे मेरा एक ही इरादा यह था कि मैं, जहा तक बने, हर धर्म की अच्छी बाते बताकर गोरो के मन पर अच्छी छाप डालू। मैने जो-जो तथ्य बताये वे सब उस इतिहास से लिये गये है जिसे हम बचपन से पाठशाला मे पढते आये हैं। इस्लाम का प्रचार जोर-जबरदस्ती से हुआ, यह बात इतिहास बताता है। किन्तु उसके साथ मैंने बताया कि इस्लाम के प्रचार का प्रबल कारण है—उसकी सादगी और सबकी समान समझने की खूबी। निम्नवर्गीय हिन्दू ज्यादातर मुसलमान हुए, यह बात भी सिद्ध होने योग्य है और मेरी समझ मे इसमे कोई बुराई नही है। मेरे अपने मन मे ब्राह्मण और भगी के बीच कोई भेद नही है और मैं उसमे इस्लाम धर्म की श्रेष्ठता मानता हूँ कि जो लोग हिन्दू धर्म के भेदभाव से असन्तुष्ट हुए उन्होने इस्लाम को स्वीकार करके अपनी स्थिति सुधारी है। फिर मैंने यह भी नही कहा कि जितने हिन्दू मुसलमान हुए वे सब निम्नवर्ण के थे और निम्नवर्ण मे केवल ढेढ ही आते हैं ऐसा तो मुझे खयाल तक नही है। ऊचे वर्ण के हिन्दू अर्थात् ब्राह्मण और क्षत्रिय भी मुसलमान हुए हैं मैं यह स्वीकार करता हूँ, किन्तु उसमे अधिक भाग उनका नही था, यह जगत्-प्रसिद्ध बात है। परन्तु मुझे मुख्य जोर इस बात पर देना है कि नीचे वर्ण के हिन्दू मुसलमान हुए, इसमे इस्लाम धर्म की तनिक भी हीनता नही है। उलटे यह बात उसकी खूबी बताती है और मुसलमानो को इसका गर्व होना चाहिए।

जुनून (जोश) के बारे मे मेरा मत जैसा मैंने बताया है वैसा ही है। मैंने जुनून शब्द का सारार्थ लिया है और मैंने स्पष्ट कहा है कि यह इस्लाम की एक शक्ति है। सच्चे जुनून के सिवा कोई अच्छा काम नही हो सकता। तुर्क जब सच्चे जुनून से जान की बाजी लगाकर लडे तभी वे रूस और ग्रीस के साथ टक्कर ले सके और आज सब लोग तुर्क सिपाहियो से भय खाते है। जबतक राजपूत लोग जुनून से लडे तबतक कोई राजपूताने को हाथ भी नही लगा सका, जुनून से जपान जूझता है तभी तो वह पोर्ट[1] आर्थर का किला सर कर सकता है। जिस तरह युद्ध मे

के निम्न वर्गों ने अपनाया। उन्होने यह भी कहा कि जोश, या जुनून इस्लाम की एक बड़ी विशेषता है, जिससे कई अच्छे और बुरे काम हुए हैं। इस कथन से भारतीय मुसलमानो मे असन्तोष फैला और उन्होंने 'इण्डियन ओपीनियन' के सम्पादक को पत्र लिखे।

१. रूस-जपान युद्ध में जपानियो द्वारा पोर्ट आर्थर मे रूसी जहाजी-बेडे को पराजित किया गया था।

उसी तरह दूसरे कामो मे भी जुनून की जरूरत है और वह अच्छा गुण है। जुनून से एडीसन[1] बडी-बडी खोजे करता है। जुनून से ही वाट[2] ने रेल की खोज की और संसार मे यात्रा को सरल बनाया। और यही जुनून हुआ तो हम इकट्ठे होकर गोरो के साथ संघर्ष मे जीतकर अपनी शिकायते दूर करा सकेंगे। यह जुनून इस्लाम का खास गुण है। ऐसा ही जुनून दूसरे कामो मे भी बरता जाये तो बडा लाभ हो।

अब मेरे कहने के लिए अधिक नही रहता। मैंने जो सच समझा है, वह कहा है। वैसा कहने मे मेरा इरादा एक भी व्यक्ति की भावना को ठेस पहुँचाने का नही था और मेरे मन मे हिन्दू, मुसलमान और ईसाई के बीच कोई भेद नही है। ऐसा मैं कई बार कह चुका हूँ और मुझे लगता है कि मैंने उसी के अनुसार आचरण किया है। मेरा आग्रह है कि हिन्दू, मुसलमान, ब्राह्मण या भगी के बीच कोई भी भेदभाव रखे बिना सबके प्रति समदृष्टि रखनी चाहिए। हिन्दू धर्म की शिक्षा यही है और यही मेरा धर्म है।

—गुजराती से। इण्डियन ओपीनियन, २०।५।१९०५। स० गा० वा०, भाग ४, पृ० ४६०—६१]

३. भारत का धर्म

भारत का धर्म बहुत प्राचीन है। उसके पास देने के लिए बहुत कुछ है।

—इ० ओ०, २६।८।१९०५]

४. ईश्वरीय नियम

खुदाई कानून के सामने झुकनेवाला इस दुनिया मे और दूसरी दुनिया मे सुख भोगेगा। वह खुदाई कानून कौन-सा है? वह है, सुख भोगने के पहिले दुःख भोगना और चूंकि परमार्थ मे स्वार्थ है, इसलिए हम दूसरे के लिए आत्मबलिदान करें, दुःख उठायें।

—गुजराती से। इ० ओ०, २७।७।१९०७]

---

१ टामस एल्वा एडीसन, दूर-वार्ता और ग्रामोफोन आदि का आविष्कारक।

२ जेम्स वाट।

५. हिन्दू-मुसलमान कैदियों के लिए धर्मोपदेश

आजकल पश्चिमी देशो मे सभी जगह कैदियो को धार्मिक शिक्षा देने का रिवाज देखा जाता है। इसलिए जोहानिसबर्ग की जेल मे कैदियो के लिए विशेष गिरजाघर है। यह गिरजाघर ईसाइयो के लिए है। वहा केवल गोरे कैदियो को ही जाने दिया जाता है। मैने श्री फोर्टोएन के लिए तथा अपने लिए विशेष रूप से माँग की, किन्तु गवर्नर ने कहा कि उस गिरजाघर मे केवल गोरे ईसाई कैदी ही जा सकते है। प्रत्येक रविवार को इस गिरजाघर मे गोरे कैदी जाते हैं और वहाँ अलग-अलग पादरी आकर धर्म की शिक्षा देते है। वतनियो के लिए भी विशेष अनुमति लेकर कुछ पादरी आया करते है। वतनियो के लिए देवालय नही है। अतएव वे जेल के मैदान मे इकट्ठे होते हैं। यहूदियो के लिए उनके पुरोहित आते हैं।

किन्तु हिन्दू और मुसलमानो के लिए वैसा कुछ भी नही है। वास्तव मे भारतीय कैदी अधिक नही होते, फिर भी उनके धर्म के (शिक्षण) के लिए जेल मे कोई व्यवस्था नही है, इससे भारतीय समाज की हीनता सूचित होती है। इस विषय मे दोनो समाजो के नेताओ को, दोनो धर्मो के शिक्षण के प्रबन्ध का विचार, एक कैदी हो तो भी, करना चाहिए। इस काम के लिए मौलवी तथा हिन्दू-धर्मोपदेशक स्वच्छ हृदयवाले होने चाहिए, नही तो शिक्षण कटक वन सकता है।

—गुजराती से। इं० ओ०, २८।३।१९०८]

६. देशप्रेम और धर्म

मै देश-प्रेम को अपने धर्म का ही एक भाग मानता हूँ। उसमे सारा धर्म नही आता, यह वात सही है। लेकिन देश-प्रेम के विना धर्म का पालन पूरा हुआ नही कहा जा सकता। धर्म के पालन मे स्त्री-पुत्र आदि का वियोग सहन करना पडे, तो वह भी करना चाहिए। (प्रसगवश) उन्हे खो देने के लिए भी तैयार रहना चाहिए। यही नही कि इसमे कोई निर्दयता की वात नही है, वल्कि यही हमारा कर्त्तव्य है।

—गुजराती। इं० ओ०, ३०।१।१९०९]

७. मेरा धर्म

राजद्रोह से दूर रहना मेरे धर्म का अग है।

—लार्ड एम्टहिल को लिखे पत्र से। लन्दन, २९।७।१९०९]

८. अपने धर्म की रक्षा

यदि मैं स्वय अपने धर्म की रक्षा के योग्य न होऊ तो दूसरे धर्म का अनुयायी उसकी रक्षा कैसे करेगा ?

—गुजराती। स्वामी शकरानन्द को लिखे पत्र से। लन्दन, ३०।८।१९०९]

९. धर्महीन सभ्यता

सभ्यता के हिमायती साफ कहते हैं कि उनका काम लोगो को धर्म सिखाना नही है, कुछ लोग मानते हैं कि धर्म तो ढोग है। अन्य कुछ लोग धर्म का दम्भ करते हैं, नीति की भी बात करते है। फिर भी मैं बीस वर्ष के अनुभव के आधार पर कहता हूँ कि नीति के नाम पर अनीति सिखाई जाती है।

यह सभ्यता तो अधर्म है और यह युरोप मे इस सीमा तक फैल गई है कि वहाँ के लोग अर्द्धविक्षिप्त दिखाई देते हैं। उनमे सच्ची शक्ति नही है, अपनी शक्ति के नशे के बल पर कायम रहते है। वे एकान्त मे नही बैठ सकते। स्त्रियो को, जिन्हे घर की रानियाँ होना चाहिए, गलियो मे भटकना पडता है, या मजदूरी के लिए जाना पडता है। इग्लैण्ड मे ही चालीस लाख रक अबलाए पेट के लिए कठोर मजदूरी करती हैं और इस कारण इस समय सफ्रेजेट (मताधिकार) का अन्दोलन चल रहा है।

यदि हम धैर्यपूर्वक सोचें तो समझ मे आयगा कि यह ऐसी सभ्यता है कि इसकी लपेट मे पडे हुए लोग अपनी ही सुलगाई अग्नि मे जल मरेंगे। पैगम्बर मुहम्मद की शिक्षा के अनुसार इसे शैतानी राज्य कहा जा सकता है हिन्दू-धर्म इसे घोर कलियुग कहता है।

—हिन्द स्वराज्य, अध्याय ६ सभ्यता। इ० ओ०, ११।१२।१९०९]

१०. बुद्धि का उपयोग

मनुष्य की सीमा ईश्वर ने उसकी शारीरिक रचना से ही बाँध दी, तो मनुष्य ने उस सीमा का उल्लघन करने के उपाय खोज निकाले। मनुष्य को बुद्धि इसलिए दी गई है कि वह उससे ईश्वर को पहिचाने, परन्तु मनुष्य ने उसका उपयोग उसे भूलने मे किया।

—हिन्द स्वराज्य, अध्याय १०, भारत की दशा, हिन्दू मुसलमान। इ० ओ० ११।१२।१९०९]

११. ब्रह्मचर्य का मार्ग

[श्री मगनलाल गाधी को लिखे पत्र से]

ब्रह्मचर्य का व्रत लेने के पहिले अच्छी तरह विचार कर लेना। सन्तोक[1] की सम्मति लोगे तो और भी अच्छा होगा। कवि[2] ने अपनी रचनाओ मे ब्रह्मचर्य-पालन की जो शर्त्ते बताई हैं उनमे से कुछ गौर करने योग्य हैं। यह एक अत्यन्त कठिन व्रत है। (इसका पालन करने मे) शिव जी भी भटक गये। इसलिए यदि हम इसका निरन्तर ध्यान रखें तो पार उतर सकते है। लेकिन जब मैं एक विवाहित व्यक्ति द्वारा अपनी ही पत्नी के सम्बन्ध मे ऐसा व्रत लेने की बात सोचता हूँ और विशेष कर अपने सम्बन्ध मे, तो मेरा दिमाग काम नही करता। इस सम्बन्ध मे मेरा भाग्य प्रबल रहा है। मुझे मजबूरन बा से अलग रहना पडता है, इसी कारण मैं बहुत बच गया हूँ। यदि हम सन् १९०० से आज तक साथ-साथ रहते होते तो मैं बच पाया होता, यह कह सकना कठिन है। मेरी इच्छा है कि मेरे अनुभव का पूरा लाभ तुमको मिले।

—गुरुवार, २०।१।१९१०। सं० गा० वा०, खण्ड १०, पृ० १३९]

१२. भक्ति की परीक्षा

इस कठिन समय मे भक्ति को प्रधान पद मिला है। भक्ति करने के लिए भी यम-नियम आदि तो चाहिए ही। वे हमारी शिक्षा के मूल हैं। उनके बिना सारी चतुराई व्यर्थ है। मैं तो इसका अनुभव क्षण-क्षण कर रहा हूँ।

—श्री मगनलाल गांधी को लिखे पत्र से। ताल्सताय फार्म, कार्तिक सुदी २, ४।११।१९१०। सं० गां० वां०, खण्ड १०, पृ० ३६९]

१३. पुण्य-भूमि या अधर्मभूमि

हमने भारत को, जो पुण्य-भूमि है, धर्म का ग़लत अर्थ लगाकर या धर्म को पूर्णतया छोडकर, अधर्म-भूमि बना दिया है।

—श्री मगनलाल गांधी को लिखे पत्र से। ताल्सताय फार्म कार्तिक सुदी १३, १५।११।१९१०। सं० गां० वां०, खण्ड १०, पृ० ३८१]

---

१. श्री मगनलाल गांधी की पत्नी।

२. श्रीमद् राजचन्द्र।

१४. धर्मक्षेत्र भारत

भारत धर्म-क्षेत्र है, यह वात सही है। किन्तु यहाँ पाप-क्षेत्र भी है। इस प्रकार दूसरे स्थानो मे पाप-क्षेत्र होते हुए भी कही-कही धर्म-क्षेत्र रूपी हरियाली भी देखने मे आती है।

—श्री मगनलाल गाधी को लिखे पत्र से। सोमवार की रात, १७।७।१९११। स० गा० वा०, खण्ड ११, पृष्ठ १२३]

१५. श्रीकृष्ण

[श्री मगनलाल गाधी को लिखे पत्र से]

श्रीकृष्ण को तो मैं परमात्मा के रूप मे देखता हूँ। वे अर्जुन के सारथी और सुदामा के मित्र थे तथा नरसिंह मेहता के रणछोड जी। उनके सम्बन्ध मे टीका करने का स्वप्न मे भी विचार नही था। मेरे पत्र के कारण तुम्हारे मन मे जिस सीमा तक यह भाव आया उस सीमा तक मै पाप का भागी हूँ। इस विषय मे मुझसे एक अक्षर भी कैसे छूट गया, यह सोचकर मैं थर्रा जाता हूँ।

—भाद्रपद बदी १, ९।९।१९११। स० गा० वा०, खण्ड ११, पृ० १५१]

१६. एक ही धर्म आवश्यक नही

[श्री जमनादास गाधी को लिखे गये पत्र से]

सारी दुनिया के लिए एक ही धर्म न तो कभी हो सकता है और न उसकी आवश्यकता है। मुझे तो ऐसा ही लगता है।

—वैशाख बदी १०, ३०।५।१९१३। स० गा० वा०, खण्ड १२, पृ० ९०]

१७. भक्ति, ज्ञान और धर्म-साधना

ईश्वर है भी और नही भी। शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से वह नही है। जिस आत्मा को मोक्ष प्राप्त हो गया है, वह ईश्वर है और इसलिए उसे सम्पूर्ण ज्ञान है। भक्ति का सच्चा अर्थ तो आत्मा की खोज है। जिस समय आत्मा अपने को पहि-चान लेती है, उस समय भक्ति का लय हो जाता है और उसके स्थान पर ज्ञान प्रकट होता है।

नरसी[1] आदि भक्तो ने आत्मा की ऐसी ही भक्ति-पूर्ण खोज की थी। कृष्ण, राम आदि अवतार थे किन्तु यदि हमारे पुण्य भी उसी कोटि के हो, तो हम भी उन-जैसे हो सकते है। जो आत्मा मोक्ष-प्राप्ति की सीमा पर पहुँच गई है, वह अवतार रूप है। किन्तु यह मानने का कोई कारण नही है कि उसने अपने उसी जन्म मे सम्पूर्णता प्राप्त कर ली है।

कृष्ण, राम, बुद्ध, ईसा आदि मे बडे कौन हैं, यह कहना कठिन है। हर एक का कार्य भिन्न था और हरएक ने अपना कार्य एक भिन्न काल मे और भिन्न परिस्थितियो मे किया। केवल चरित्र का विचार करें तो शायद बुद्ध इन सबसे बडे थे। लेकिन कैसे कहे ? उनका वर्णन भक्तो ने अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार किया है। कृष्ण को वैष्णवो ने पूरी कलाओ से युक्त माना है और मानना ही चाहिए। उनके बिना अनन्य भक्ति नही उपजती। ईसा के विषय मे भी ईसाई लोग ऐसा ही मानते हैं। हिन्दुस्तान मे (अवतारो मे) कृष्ण अन्तिम थे। इसलिए उनकी विशेष महिमा मानी गई।

ईश्वर नही है, ऐसा कहने वाले लोगो के मार्ग भ्रष्ट हो जाने का भय है क्योकि तब उन्हे यह भी कहना पडेगा कि आत्मा नही है। अवतार की आवश्यकता है और हमेशा रहेगी। ऐसा माना जाता है कि जब लोगो मे बहुत निराशा फैल जाती है और अनीति का प्रसार होता है, तब अवतार होता है। दुष्ट लोगो के समाज मे सर्वसामान्य नीति का पालन करनेवाले थोडे-से लोग अपने लिए (भगवान से) सहायता की याचना करते है। ऐसे समय मे नीति का पालन करनेवाला ऐसा कोई बलवान व्यक्ति , जो दुष्टो से दबता नही, बल्कि दुष्ट ही जिससे दबते हैं, अपने जीवन-काल मे या मृत्यु के बाद अवतार-रूप मान लिया जाता है। ऐसा व्यक्ति अपने को जन्मना माने, यह बात अधिकाशत सम्भव नही मालूम देती।

धर्मों की तुलना करना अनावश्यक है। हमे अपने धर्म को प्रौढ मानकर दूसरे धर्मो को समझने की कोशिश करनी चाहिए। साधारणत धर्मों की तुलना करने मे दया-धर्म को मापदण्ड माना जा सकता है। जिस धर्म मे दया को अधिक स्थान दिया गया है, वहाँ धर्म अधिक है। दया धर्म को मूल है—धर्म की बात सबको समझाने के लिए यह पहिला सूत्र है। ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या यह दूसरा सूत्र है। जो सबको भा जाय, ऐसा एक भी सूत्र मिलना कठिन है। किन्तु ऐसा लगता है कि आत्मा की शोध मे लगे व्यक्ति को उचित समय पर ऐसा कोई उपयुक्त वचन सहज ही मिल जाता है। . . .

---

१. गुजरात के सन्त कवि नरसी मेहता।

सच पूछिए तो जितने मनुष्य हैं उतने ही धर्म है। जबतक मनुष्यो के मन मे भेद है, तबतक धर्म भिन्न-भिन्न रहेगे ही। जो व्यक्ति अपनी और दूसरे की आत्मा मे ऐक्य देखता है, वह विभिन्न धर्मो मे भी ऐक्य देखेगा।

आत्मा जब शरीर के बन्धन से मुक्त हो जाय तब कहा जा सकता है कि उसे मोक्ष प्राप्त हो गया। मोक्ष की स्थिति कैसी होती है, उसका वर्णन नही किया जा सकता, क्योकि वह इन्द्रियगम्य नही है। वह केवल अनुभव की जा सकती है। प्रेत आदि योनियो का अर्थ है दुष्ट योनिया और जो दुष्ट कार्य करते है, वे उन योनियो मे जाते है।

—गुजराती। महात्मा गाधीजीना पत्रो। ज्येष्ठ वदी १४, १९६९, २।७।१९१३ स० गा० वा०, खण्ड १२, पृष्ठ १२१—१२२]

- ईश्वर है भी और नहीं भी।
- जिस आत्मा को मोक्ष प्राप्त हो गया है वह ईश्वर है।
- भक्ति का सच्चा अर्थ...आत्मा की खोज है।
- जिस समय आत्मा अपने को पहिचान लेती है, उस समय भक्ति का लोप हो जाता है।
- धर्मों की तुलना करने मे दया-धर्म को मापदण्ड माना जा सकता है।
- जितने मनुष्य हैं, उतने ही धर्म हैं।
- मोक्ष की स्थिति...इन्द्रियगम्य नहीं है।

१८. धर्म और राजनीति

भारतीय राजनीति को धर्म से अलग नही कर सकते।

—अंग्रेजी। रैंड डेली मेल, १७।७।१९१४। स० गा० वा०, खण्ड १२, पृ० ४८९]

१९. हिन्दू-धर्म और ईसाई मिशनरी

चूंकि वह (हिन्दू-धर्म) धर्मान्तरण की नीति मे विश्वास नही करता इसलिए वह सबसे ज्यादा सहिष्णु है, और आज भी वह अपना विस्तार करने मे उतना ही समर्थ है, जितना भूतकाल मे था। कहा जाता है कि उसने बौद्ध-धर्म को खदेडकर भारत से बाहर कर दिया। यह ठीक नही है। उसने उसे आत्मसात् कर लिया। स्वदेशी की भावना के कारण हिन्दू अपने धर्म का परिवर्तन करने मे इन्कार करता

है। इसका अर्थ यह नही है कि वह अपने धर्म को सर्वश्रेष्ठ मानता है। कारण यह है कि वह जानता है कि उसमे नये सुधारो का समावेश करके उसे पूर्ण वनाया जा सकता है। और मैंने हिन्दुत्व के विषय मे जो-कुछ कहा है, वह मेरे विचार से ससार के सभी वडे-वडे धर्मो पर लागू है। हाँ, हिन्दूधर्म के वारे मे यह विशेष रूप से सही है। यहाँ वह वात आ जाती है जिसे कहने की मैं कोशिश कर रहा हूँ। भारत मे काम करनेवाली वडी-वडी मिशनरी सस्थाओ ने भारत के लिए बहुत कुछ किया है और अव भी कर रही है, और भारत इसके लिए उनका ऋणी है। किन्तु मैंने जो कुछ कहा है, उसमे यदि कोई सार हो तो क्या यह ज्यादा अच्छा न होगा कि वे परोपकार का अपना काम जारी रखते हुए धर्मान्तरण का काम बन्द कर दे ? क्या ईसाइयत की भावना के पोषण की दृष्टि से यह अधिक अच्छी बात न होगी ? मैं आशा करता हूं कि आप मेरे इस कथन को अशिष्टता नही मानेगे। मैंने हृदयपूर्वक और विनम्रता से यह सुझाव सामने रखा है। इसके सिवा आप मेरी वात ध्यान से सुने, इसका मुझे कुछ अधिकार भी है। मैंने बाइबिल को समझने का प्रयत्न किया है। मैं उसे अपने धर्मशास्त्रो मे गिनता हूँ। मेरे हृदय पर जितना अधिकार 'भगवद्‌गीता' का है, लगभग उतना ही अधिकार 'सरमन आन द माउट' का भी है। "लीड, काइडली लाइट" तथा अन्य अनेक प्रेरणा-स्फूर्ति प्रार्थना-गीत मैं किसी ईसाई धर्मावलम्बी से कम भक्ति के साथ नही गाता हूँ। मैं विभिन्न सम्प्रदायो के प्रसिद्ध ईसाई मिशनरियो के सम्पर्क मे आया हूँ और उनसे प्रभावित भी हुआ हूँ। उनमे से अनेक आज भी मेरे मित्र हैं। इसलिए आप कदाचित् स्वीकार करेंगे कि मैंने यह सुझाव किसी पूर्वग्रह-ग्रस्त हिन्दू की तरह नही दिया है, बल्कि धर्म के एक ऐसे विनम्र और निष्पक्ष विद्यार्थी होने के नाते दिया है, जिसका ईसाइयत की ओर बडा झुकाव है। क्या यह सम्भव नही है कि 'सारी दुनिया मे जाओ'—इस सन्देश की वास्तविक भावना को समझे विना उसका सकीर्ण अर्थ किया गया है ? मैं अपने अनुभव से कहता हूँ कि इससे कोई इन्कार नही करेगा कि ज्यादातर धर्म-परिवर्तन का तो धर्म से नाम-मात्र का ही सम्बन्ध होता है। कुछ तो हृदय की वजाय पेट की खातिर इस ओर प्रेरित होते हैं। और हर धर्मान्तरण के कारण कुछ-न-कुछ कटुता पैदा होती ही है, जो मेरी समझ मे टाली जा सकती है। मैं फिर अनुभव के वल पर कहता हूँ कि जिसे नया जन्म (न्यू बर्थ) कहा जाता है, हृदय-परिवर्तन की वह घटना हर महान धर्म मे सम्भव है। मैं जानता हूँ कि मैं एक वडी नाजुक-सी बात कह रहा हूँ। फिर भी मैं अपने भाषण के इस भाग के अन्त मे हिम्मत के साथ यह कहना चाहता हूँ कि इस समय युरोप मे जो भयानक काण्ड चल रहा है, उससे तो यही प्रकट होता है कि शान्ति के पुत्र,

नजरथ के ईशु के सन्देश पर युरोप मे लगभग किसी ने कान नही दिया और सम्भव है कि अव उस पर पूर्व से प्रकाश डालना पडे।

मैंने धार्मिक बातो मे आपसे सहायता की प्रार्थना की है और एक विशिष्ट अर्थ मे आप ही यह सहायता दे सकते है। किन्तु मैं आपसे राजनीति क्षेत्र मे भी सहयोग की प्रार्थना करता हूँ। मैं यह नही मानता कि धर्म का राजनीति मे कोई वास्ता नही है। धर्म-रहित राजनीति शव के समान है, जिसे दफना देना ही उचित है। सच तो यह है कि आप अपने तरीके से चुपचाप राजनीति को काफी प्रभावित करते हैं। और मुझे ऐसा लगता है कि यदि राजनीति को धर्म से विच्छिन्न कर देने का प्रयत्न नही किया गया होता, जैसा कि आज भी किया जा रहा है, तो जिस हद तक राजनीति का पतन हुआ दिखाई पड रहा है, वह उस हद तक न गिरती।

—मद्रास मे दिये गये भाषण से, १४।२।१९१६। अंग्रेजी। हिन्दू २८।२।१९१६। स० गा० वा०, खण्ड १३, पृ० २२२–२३]

● धर्म-रहित राजनीति शव के समान है।

२०. ईश्वर से डरें

ईश्वर से डरो, मनुष्य से नही, फिर वह मनुष्य चाहे राजा हो, चाहे पुरोहित, चाहे मौलवी।

— २६।२।१९१६। अंग्रेजी से। हिन्दू २९।२।१९१६]

२१. भारत : धर्म-भूमि

भारतवर्ष प्रधानत धर्म-भूमि है। उसे धर्म-भूमि बनाये रखना भारतवासियो का सबसे बडा कर्त्तव्य है। उन्हे अपनी आत्मा से, ईश्वर से, बल ग्रहण करना चाहिए।

—इलाहाबाद मे दिये गये भाषण से, २३।१२।१९१६। लीडर, २७।१२।१९१६। महात्मा गाधी · हिज़ लाइफ, राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज]

२२. ईश्वर पर विश्वास

[सुश्री एस्थर फेरिंग को लिखे पत्र से]

मेरा काम अत्यन्त कठिन है। लेकिन मेरा भरोसा ईश्वर मे है। हम तो कर्म ही कर सकते है, उसके बाद हमे कोई चिन्ता नही रहती।

—मोतीहारी, चम्पारन, १५।४।१९१७। अंग्रेजी से। 'माई डियर चाइल्ड।' सं० गा० वा० खण्ड १३, पृ० ३६६]

२३. राम और रावण

रामचन्द्र और रावण, आत्मा और अनात्मा-सूचक सज्ञाएँ है । रावण की अतुलित शारीरिक शक्ति रामचन्द्र की आत्मिक शक्ति के निकट किसी गिनती मे ही नही है। रावण के दस मस्तक रामचन्द्र के सामने तृणवत् हैं। रामचन्द्र योगी पुरुष हैं, वे सयमी हैं, निराभिमानी है, 'समभाव सदा वैभव विपदा' तथा 'नहि राग न लोभ न मान मदा' इत्यादि उनके गुण हैं।

—२।९।१९१७ के लगभग। स० गा० वां० खण्ड १३, पृ० ५३१]

२४. राजनीतिक प्रश्न और धार्मिक वृत्ति

धार्मिक वृत्ति से हम राजनीतिक सवालो को जिस तरह हल कर सकते हैं उस तरह धर्मवृत्ति को छोडकर नही कर सकते, धर्मवृत्ति को छोडकर हम जो फल प्राप्त करेंगे वह और ढग का होगा।

—प्रथम गुजरात राजनीतिक परिषद् मे दिये गये भाषण से। गोधरा, ३।११। १९१७। गुजराती। 'महात्मा गांधीनी विचारसृष्टि।' सं० गां० वा०, खण्ड १४, पृ० ६४]

२५. गोरक्षा-धर्म

मैंने यह बताया था कि जबतक हिन्दू लोग स्वय ही, अपने हिन्दू मालिको के हाथो भयकर दुर्व्यवहार झेलते हुए हजारो गाय-बैलो को तिल-तिल कर मारने और कलकत्ते की अमानवीय गोशालाओ की गौओ मे प्राप्त दूध का पान करने मे भागीदार है, और जबतक वे शान्तिपूर्वक भारत के युरोपीय तथा ईसाई निवासियो

को गो-माम उपलब्ध कराने के लिए भारत के कसाईखानो मे हजारो गायो का वध होते देखते रहते है, तबतक उन्हे अपने मुसलमान भाइयो--द्वारा धार्मिक विश्वास के कारण गोकुशी पर क्षुब्ध होने का कोई अधिकार नही है। मैंने यह कहा था कि गौओ के लिए पूर्ण सरक्षण प्राप्त करने का पहिला उपाय यह है कि हिन्दू लोग स्वय हिन्दुओ के द्वारा गौओ के साथ किये जाने वाले दुर्व्यवहार से उन्हे पूरी मुक्ति दिलाकर अपने-आपको सुधारे, और तब युरोपीयो से भारत मे रहते हुए गोमास न खाने या कम-से-कम उसे भारत के बाहर से मँगाने का अनुरोध करे। मैंने यह भी कहा था कि यदि हमे गोरक्षा के प्रचार को धार्मिक विश्वास पर आधारित करना है, तो गौओ की जान बचाने के लिए मुसलमानो के वध को किसी प्रकार भी सहन नही किया जा सकता, और मुसलमानो तथा ईसाइयो से भी गौओ के लिए पूर्ण सरक्षण प्राप्त करने का पहिला उपाय यह है कि हिन्दू लोग स्वय हिन्दुओ के द्वारा गौओ के साथ किये जाने वाले दुर्व्यवहार से उन्हे पूरी मुक्ति दिलाकर अपने आपको सुधारे, और तब युरोपीयो से भारत मे रहते हुए गोमास न खाने या कम से कम उसे भारत के बाहर से मँगाने का अनुरोध करे। और मुसलमानो तथा ईसाइयो से भी गौओ के लिए सरक्षण प्राप्त करने का धार्मिक तरीका यह है कि वे उनकी करुणा की भावना को जगाने के लिए खुशी-खुशी स्वय अपना बलिदान करने के लिए तैयार हो जाय। चाहे उचित हो या अनुचित गो-पूजा हिन्दुओ के स्वभाव मे रम गई है, और मेरी समझ मे इस प्रश्न पर हिन्दुओ और ईसाइयो तथा मुसलमानो के बीच कट्टरतम तथा घोर हिंसापूर्ण सघर्ष से बचने का इसके सिवा और कोई रास्ता दिखाई नही देता कि अहिंसा-धर्म को पूर्ण रूप से स्वीकार करके उस पर आचरण करें। और इसी धर्म के प्रचार को मुझे स्वेच्छया अपने जीवन का नम्र उद्देश्य बनाना है। सत्य से मुँह नही मोडना है। यह नही मान लेना चाहिए कि युरोपीयो के लिए जो गो-वध हो रहा है, उसके बारे मे हिन्दू कुछ भी महसूस नही करते। मैं जानता हूँ कि आज उनका क्रोध उनके मन पर अग्रेजी शासन का जो रोब छाया है, उसके कारण दबा हुआ है। किन्तु सारे भारत मे कोई भी हिन्दू ऐसा नही है जो एक दिन अपने देश को गो-वध से मुक्ति दिलाने की आशा नही लगाये हुए है। किन्तु, हिन्दूधर्म को मैं जिस रूप मे जानता हूँ उसकी प्रवृत्ति के प्रतिकूल वह लोगो को —चाहे वे ईसाई हो या मुसलमान—तलवार के जोर पर गो-वध बन्द करने के लिए मजबूर करने को बुरा नही समझता। मैं ऐसे अनर्थ को रोकने के लिए अपनी विनम्र भूमिका निभाना चाहता हूँ, और मैं श्री इर्विन को धन्यवाद देना चाहता हूँ कि उन्होने मुझे आपके पाठको को तथा स्वय श्री इर्विन को भी अपने कठिन प्रयत्न से सहायता देने के लिए आमन्त्रित करने

का अवसर दिया। हो सकता है, यह प्रयत्न गोवध रोकने मे सफल न हो। किन्तु कोई कारण नही कि धैर्यपूर्वक उद्योगरत रहने तथा उसके अनुसार निरन्तर आचरण करते रहने पर लोगो को अपने साथी पशु को बचाने के लिए साथी मानव को मारने के अपराध मे निहित भूल, वेवकूफी और अमानवीयता का अनुभव कराने मे भी सफलता न मिले।

—मोतीहारी, १६।१।१९१८। अंग्रेजी से। स्टेट्समैन, १९।१।१९१८। स० गा० वा० खण्ड १४, पृ० १३८-१३९]

● गो-पूजा हिन्दुओं के स्वभाव मे रम गई है।

२६. धर्म और राजनीति

शुद्ध धर्म-मार्ग पर चलनेवाला कोई भी भारतवासी राजनीतिक कार्यों मे भाग लिये बिना नही रह सकता। दूसरे शब्दो मे कहे तो शुद्ध धर्ममार्गी लोक-सेवा को अपनाये बिना नही रह सकता। और राजतन्त्र के जाल मे हम सब इतने अधिक जकड हुए हैं कि उसमे पडे बिना लोकसेवा सम्भव नही है। जो किसान पुराने समय मे राज्याधिकारी कौन है, यह जाने बिना ही अपना सरल जीवन निर्भयतापूर्वक बिता सकते थे, उनकी भी अब वैसी निराली स्थिति नही रह गई है। ऐसी दशा मे उन्हे धर्माचरण के निर्णय मे राजनीतिक परिस्थिति का विचार करना ही होगा। इस बडी बात को यदि हमारे साधु, ऋषि, मुनि, मौलवी और पादरी स्वीकार करें, तो जगह-जगह भारत-सेवक-समाज खडा हो जाय और हिन्दुस्तान मे धर्मवृत्ति इतनी व्यापक बन जाय कि आज का अप्रिय और अरुचिकर मालूम होनेवाला राजतन्त्र शुद्ध हो जाय, हिन्दुस्तान मे किसी समय जो धार्मिक साम्राज्य फैला हुआ था उसकी पुन स्थापना हो जाय।

—१९।२।१९१८ के पूर्व। गुजराती। 'गोपाल कृष्ण गोखलेना व्याख्यानो' खण्ड १। स० गां० वां०, खण्ड १४, पृ० १८९]

२७. शास्त्र

शास्त्र बुद्धि और नीति से परे नही हो सकते। यदि बुद्धि और नीति का त्याग कर दिया जाय तो किसी भी पाखण्ड का धर्म के नाम पर बचाव किया जा सकता है।

—नडियाद, चैत्र सुदी ७, १९७४, १७।४।१९१८। गुजराती। अन्त्यजस्तोत्र। सं० गा० वा०, खण्ड १४, पृ० १२७]

२८. धार्मिक उपचार

[श्री एन० एम० समर्थ को लिखे पत्र से]

निश्चय ही धार्मिक उपचारो मे मेरा विश्वास है। मैंने ज्यादातर इसी का आश्रय लिया है।

— २०।८।१९१८। अंग्रेजी से। स० गा० वा०, खण्ड १५, पृ० ३०]

२९. ईश्वर का नियम

[श्री सी० एफ० ऐण्डरूज को लिखे गये पत्र से।]

ईश्वर जिसे अपना साधन बनाना चाहता है, खासतौर पर जो किसी विरोध के बिना उसे अपना पथ-प्रदर्शन करने देता है, उसकी वह रक्षा भी करता ही है।

— १०।१।१९१९। अंग्रेजी से। स० गा० वा०, खण्ड १५, पृ० ७५]

३०. वीरता और धर्म-रक्षा

वीरता के बिना अपने धर्म की रक्षा नही हो सकती।

— अहमदाबाद, १४।४।१९१९। स० गा० वा०, खण्ड १५, पृ० २३०]

३१. धर्म एवं राजनीति

[श्री जी० एस० अरुण्डेल को लिखे पत्र से]

मेरा सुझाव राजनीतिक नही धार्मिक है और मैं राजनीति मे इसलिए भाग लेता हूँ क्योकि मैं अनुभव करता हूँ कि जीवन का कोई विभाग ऐसा नही है, जिसका धर्म से सम्बन्ध-विच्छेद किया जा सके।

— लैबर्नमरोड, बम्बई, ४।८।१९१९। इ० इ०, ६।८।१९१९। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गाधी, खण्ड १६, पृ० ५१।]

३२. धर्म-पालन

निस्सन्देह हमने धर्म त्याग दिया है किन्तु वर्तमान परिस्थितियो मे , इसकी स्थापना अत्यन्त कठिन कार्य है क्योकि अत्यधिक अभाव और कष्ट की स्थिति मे मनुष्य का धर्म-पालन करना अत्यन्त कठिन है। कोई विरल आत्मा ही ऐसा कर सकती है। मै ऐसे व्यक्ति को योगी कहता हूँ। सभी व्यक्ति योगी नही बन सकते। अतएव आत्मा की पवित्रता के लिए शरीर की पवित्रता भी आवश्यक है। पवित्र आत्मा केवल पवित्र शरीर मे वास करती है। . .

—पूना, ८।८।१९१९। मूल गुजराती। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गांधी, खण्ड १६, पृ० २०।]

● पवित्र आत्मा केवल पवित्र शरीर में वास करती है।

३३. शास्त्रों का कथन

प्रत्येक शास्त्र कहता है कि केवल हमारा अपना धर्म हमारी रक्षा कर सकता है।

—बम्बई, ७।९।१९१९, गुजराती से। गुजरात मित्र अणे गुजरात दर्पण, १४।९।१९१९। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गांधी, खण्ड १६, पृ० ११२।]

३४. भारत में धर्म

भारत मे धर्म उदार भावना से साँस लेते हैं।

—२८।९।१९१९। मूल गुजराती। 'गुजराती', १२।१०।१९१९। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गांधी, खण्ड १६, पृ० १८८।]

३५. मुक्ति का मार्ग

स्वर्ग जाने के लिए आपको गीता, कुरान, और जेन्दअवेस्ता पढना पडेगा।

—दिल्ली, २४।११।१९१९। 'बाम्बे क्रानिकल', ६।१२।१९१९। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गांधी, खण्ड १६, पृ० ३११।]

३६. ईसाई आश्रमवासी को धर्म-निर्देश

[सुश्री एस्थर फेरिंग को लिखे गये पत्र से]

जैसा कि मैं पहिले ही तुमसे कह चुका हूँ, तुम आश्रम मे ईसाइयत छोडने नही वल्कि उसे पूर्ण करने आई हो।

यदि तुम प्रार्थना-सभाओ मे प्रभु की उपस्थिति का अनुभव नही करती, तो स्मरण करो कि राम और कृष्ण के नाम का वही महत्व है जैसा तुम्हारे लिए ईसा का है।

तुम्हे दृढ निश्चय के साथ इन सभाओ मे सम्मिलित नही होना चाहिए और अपने निजी कक्ष मे प्रार्थना करनी चाहिए। प्रार्थना-सभाओ का उद्देश्य किसी को वलात् एक स्थिति मे लाना नही है। वे स्वतन्त्र स्त्री-पुरुषो के लिए हैं। वच्चो को इनमे अवश्य जाना चाहिए। जो केवल आलस्य के कारण इससे कतराते हैं उन्हे इसमे अवश्य शामिल होना चाहिए। लेकिन तुम्हारी अनुपस्थिति को कोई गलत नही समझ सकता। इसलिए तुम कृपया वही करो जो तुम्हे महत् शान्ति दे सके। यदि आश्रम तुम्हे दिनानुदिन प्रभु की अविकाधिक अनुभूति करने मे समर्थ नही वनाता, तो वह कुछ नही है। यदि तुम रविवार या अन्य दिनो को चर्च जाना चाहो तो तुम अवश्य वहाँ जा सकती हो।

सत्य समस्त धर्मों मे समान है, यद्यपि किरण वक्रता के कारण कुछ देर के लिए यह विभिन्न रग का लगता है, जिस प्रकार घनप्रिज्म पर प्रकाश पडने (इन्द्र-धनुष) से होता है।

— लाहौर, ७।१२।१९१९। अग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गाधी, खण्ड १६, पृ० ३३३]

३७. सत्याचरण धर्म है

यदि सत्य का आचरण लोगो की भावनाओ को ठेस पहुँचाता है, तो यह धर्म है कि उन्हे ठेस पहुँचाई जाय। मैं या कोई अन्य इस धर्म से विमुख कैसे हो सकते है ?

—मूल गुजराती। म० जी०, २५।१।१९२०। अग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गाधी, खण्ड १६, पृ० ५०५।]

३८. बुद्धिहीन धार्मिक सिद्धान्त

मैं उन धार्मिक सिद्धान्तो को अस्वीकार करता हूँ जो बुद्धि को अपील नही करते और जो नैतिकता के विरोधी है। मै उस धार्मिक भावना को जो तर्कसगत नही हैं, अनैतिक न होने पर सहन कर लेता हूँ।
—यं० इ०, २१।७।१९२० । मूल अग्रेजी से अनूदित।]

३९. गोरक्षा का उपाय

['भारतमित्र' के प्रतिनिधि और गांधी जी के बीच हुआ प्रश्नोत्तर।—सम्पा०]

प्रश्न—गोरक्षा इस समय कैसे हो सकती है और गोरक्षा-धर्म पालन करने के लिए हिन्दुओ को क्या करना चाहिए ?

उत्तर—गोरक्षा करने के लिए मुसलमान भाइयो से मुहब्बत करनी चाहिए और मुहब्बत तभी हो सकती है कि जब जिसके साथ हम मुहब्बत करना चाहते हैं उसके लिए कुर्बानी करें। और कुर्बानी का अर्थ यह है कि जिसके लिए हम कुर्बानी करते है उससे कुछ नही माँगना। अगरचे हम बदला नही माँगते है उसका अर्थ यह नही है कि हमको बदला नही मिलेगा। लेकिन उस बदले की आशा हम इसान के पास से नही रखते, ईश्वर से रखते हैं। इसको ही मैं निष्काम कर्म कहता हूँ। इसी सबब से मैं कुछ भी शर्त्त न करता हुआ मुसलमानो को मदद देता हूँ। इस तरह से मदद देना निष्काम कर्म करना है । इसमे एक दूसरी शर्त्त का भी स्वीकार आ जाता है कि जैसा हमारा ध्येय, वैसे ही हमारे साधन पवित्र होने चाहिए। मुसलमानो का ध्येय शान्तियुक्त असहयोग पवित्र है। इसलिए हम अन्तकाल तक उनका साथ दे सकते हैं। और स्वार्थदृष्टि से भी उनका सहाय होना हमारा कर्त्तव्य है।

प्रश्न—गो-वंश पर जो इस समय संकट है वह हमारे धर्म पर संकट है और इस धर्म-संकट मे हमारा क्या कर्तव्य है ?

उत्तर—गोरक्षा का जो अर्थ आजकल हम करते हैं उमको ही सोचकर मैंने उत्तर दिया है, क्योकि मुसलमानो के हाथ से गौओ को बचाना इसी को प्राय' हमने अपना ध्येय मान लिया है। मेरी दृष्टि से तो हिन्दू ही अत्याचार कर रहे हैं। हिन्दू के हाथो गो की और गो के वश की जितनी हत्या हो रही है उतनी दूमरो से नही होती और मेरा मन्तव्य है कि जबतक हिन्दुओ ने गो का पालन करना शुरू नही किया है तबतक मैं हिन्दुस्तान की सच्ची उन्नति को असम्भवित समझता

हूँ। और हिन्दू के ही हाथ से गो को बचाने मे हम किससे सहायता की आशा रख सकते है? हिन्दू ही गाय अमेरिका भेज रहे है। हिन्दू ही गाय और उसके वंश को पूरा खाना नही देते है। हिन्दू ही फूके मे जितना दूध मिल सकता है उतना दूध खून मे भी मिश्रित खीच लेते है। हिन्दू ही बैल से असह्य बोझ खिचवाते है और जब बैल नही चलता तब हिन्दू ही उनके शरीर मे कीले भोकते है। इन सब अत्याचारो का मै साक्षी हूँ, यह कहते हुए भी मुझको शर्म आती है। यदि हम हिन्दू धर्म की रक्षा करना चाहते है तो हमारा प्रथम कर्त्तव्य अपने ही सहधर्मियो से गो की रक्षा करना है। उसके पश्चात् या उसके साथ-साथ अग्रेजो से गो की रक्षा करनी चाहिए। जबतक अग्रेज अमलदार और वायसराय भी गोमास खाते है तबतक गो की रक्षा के नाम से मुसलमानो पर टूट पडना मै द्विगुणित पाप समझता हूँ।

प्रश्न—इसका कार्यत प्रतिकार करने का ठीक उपाय क्या है?

उत्तर—पहली बात इसमे यही है कि हमारी दृष्टि गोरक्षा की तरफ पूरे तौर पर खिच जानी चाहिए और जब हम इसी बात को अपना प्रथम कर्त्तव्य मानेंगे तब हमको क्रिया करने का ढग भी मालूम हो जायगा।

—१०।९।१९२०, महात्मा गाधी सकलन]

४०. स्वतन्त्रता, ब्रिटिश शासन और धर्म

जिसने स्वतन्त्रता खो दी उसने धर्म-सहित सभी चीजे खो दी। मुझे विश्वास नही है कि ब्रिटिश शासन मे हम अपने धर्म का पालन पूर्ण स्वतन्त्रता से कर सकते है और मुसलमानो के शासन मे भी ऐसा नही था। मैं जानता हूँ कि मुस्लिम शासन दमनकारी था और वह अभिमानपूर्ण था। किन्तु ब्रिटिश शासन ईश्वर का इन्कार करता है। यह धर्म के प्रति सम्मान नही रखता। यह हमारे धर्म के अस्तित्व के लिए खतरा है।

—अहमदाबाद, २९।९।१९२०। गुजराती। न० जी०, ३।१०।१९२०। अग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गाधी, खण्ड १८, पृ० ३१४]

४१. धर्म की मूलभूत आवश्यकताएँ

सत्य और अहिंसा का आचरण धर्म की प्रारम्भिक आवश्यकताएँ है। यहाँ तक कि पारिवारिक जीवन स्वीकार करनेवालो के लिए भी ब्रह्मचर्य धर्म है। ब्रह्मचर्य पाँचो इन्द्रियो—श्रवण, दृश्य, गन्ध, स्वाद और स्पर्श के नियन्त्रण मे है।

यह धर्म केवल सन्यासियो के लिए नही, वल्कि सभी सद्गृहस्थो के लिए है। वह व्यक्ति जो इन सामान्य नियमो का पालन नही करता वैसा नही है। अतएव यदि हम ठीक तरह से रहना चाहते है, स्वतन्त्र रहना चाहते है और किसी के गुलाम नही होना चाहते तो चाहे हम हिन्दू समाज मे हो या मुसलमान समाज मे, यह हमारा पहिला कर्त्तव्य है।

— डाकोर, २७।१०।१९२०। गुजराती। न० जी०, ३।११।१९२०। अग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गाधी, खण्ड १८, पृ० ३८५]

४२. धर्म बनाम देश

मैं धर्म के लिए देश का भी वलिदान करने को प्रस्तुत रहूँगा, मेरी देशभक्ति मेरे धर्म के प्रति लगाव के अन्तर्गत है। इसलिए यदि देश-हित धर्म-हित से टकराता है तो मैं पहिले के बलिदान के लिए प्रस्तुत रहूँगा।

— मूल गुजराती। न० जी०, १९।१२।१९२०। अग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गाधी, खण्ड १९, पृ० १४२]

४३. धर्म-राज्य की स्थापना

हर एक को यह अनुभव करना चाहिए कि पश्चिम की नकल करके हम भारत मे धर्मराज्य की स्थापना नही कर सकते। पश्चिम मे आचरित आत्मनियन्त्रण सामयिक आवश्यकता या नीति पर आधारित है। पूर्व मे आत्मनियन्त्रण स्वय मे एक उद्देश्य है। धर्म की शिक्षा यह नही है कि कोई सत्य इसलिए बोले कि यह लाभदायक है। प्रत्येक धर्म मे अपने विश्वास की घोषणा है कि सत्य स्वय ईश्वर है। नमाज से एक व्यक्ति का व्यायाम होता है, पर कोई भी मुसलमान व्यायाम के लिए नमाज़ नही पढता। वे सब इसे धार्मिक कर्त्तव्य के रूप मे पढते है।

— मूल गुजराती। न० जी०, २७।१।१९२१। अग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गांधी, खण्ड १९, पृ० २८६]

- पूर्व मे आत्म-नियन्त्रण स्वय मे एक उद्देश्य है।

४४. आध्यात्मिक विधियों का पालन

जो व्यक्ति उचित भावना से प्रतिदिन नमाज पढ़ता है या गायत्री जप करता है उसे कभी बीमार नही पडना चाहिए। पवित्र आत्मा शरीर को अवश्य पवित्र

करती है। मैं आश्वस्त हूँ कि धार्मिक आचरण के मुख्य नियम आत्मा और शरीर दोनो की रक्षा करते हैं।

—दिल्ली, १३।२।१९२१। दि बाम्बे क्रानिकल, १५।२।१९२१। अंग्रेजी से अनूदित। कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गांधी, खण्ड १९, पृ० ३५७।]

४५. ईश्वर का दर्शन

ईश्वर की इच्छा का मुझे कोई साक्षात्कार नही हुआ है। मेरा यह दृढ विश्वास है कि ईश्वर प्रत्येक मानव को दिन-रात अपना साक्षात्कार कराया ही करता है, परन्तु हम अपनी अन्तरात्मा की सूक्ष्म आवाज के लिए अपने कान बन्द कर लेते हैं। हम अपने सामने दिखाई देने वाले स्पष्ट ईश्वरीय सकेत के प्रति अपनी आँख बन्द कर लेते है। मैं सर्वत्र ईश्वर की सर्वव्यापकता का अनुभव करता हूँ।

—य० इ०, २५।५।१९२१]

४६. धर्म-त्याग

दूसरो ने अपना धर्म छोड दिया, इसलिए (अपना) धर्म छोड देने से क्या शान्ति मिल सकती है ?

—न० जी०। हि० न० जी०, ३०।३।१९२४]

४७. ब्रह्मचर्य

इस विषय पर लिखना आसान नही। पर मेरा वैयक्तिक अनुभव इतना विशाल है कि उसके कुछ बिन्दु पाठको को अर्पण करने की इच्छा बनी रहती है। मेरे नाम आये अनेक पत्रो ने इस इच्छा को और बढा दिया है।

एक सज्जन पूछते है, ब्रह्मचर्य का अर्थ क्या है। क्या उसका पूर्णतया पालन सम्भव है ? यदि (यह) सच है तो क्या आप उसका पालन करते हैं ?

ब्रह्मचर्य का पूरा और वास्तविक अर्थ है ब्रह्म की खोज। ब्रह्म सब मे व्याप्त है। अतएव उसकी खोज अन्तर्ध्यान और उससे उत्पन्न अन्तर्ज्ञान से होती है। यह अन्तर्ज्ञान इन्द्रियो के पूर्ण सयम के बिना अशक्य है। अतएव समस्त इन्द्रियो के तन-मन और वचन मे सब समय और सभी क्षेत्र मे सयम करने को ब्रह्मचर्य कहते हैं।

ऐसे ब्रह्मचर्य का पूर्ण रूप से पालन करनेवाली स्त्री या पुरुष बिल्कुल निर्विकार होता है। इस कारण ऐसे निर्विकार स्त्री-पुरुष ईश्वर के निकट रहते है। वे ईश्वरवत् है।

ऐसे ब्रह्मचर्य का तन, मन और वचन से पालन किया जा सकता है। इसमे मुझे तनिक भी सन्देह नही है। मुझे कहते हुए दु ख होता है कि मै अभी ब्रह्मचर्य की इस पूर्ण अवस्था तक नही पहुँच पाया हूँ, पहुँचने का प्रयत्न निरन्तर कर रहा हूँ। मैने इसी शरीर-द्वारा इस स्थिति तक पहुँचने की आशा छोड नही दी है। मैने शरीर पर अपना नियन्त्रण कर लिया है और जागरित अवस्था मे सावधान रह सकता हूँ। मै वाचा के सयम का पालन करना भी ठीक-ठीक जान गया हूँ। विचार पर नियन्त्रण करने के सम्बन्ध मे मुझे अब भी बहुत कुछ करना बाकी है। जिस समय, जिस बात का विचार करना हो, उस समय उसके अलावा दूसरे विचार भी आते हैं। इसलिए विचारो मे परस्पर द्वन्द्व हुआ करता है।

फिर भी मै जाग्रत अवस्था मे विचारो के परस्पर टकराव को रोक सकता हूँ। गन्दे विचार नही आ सकते। मेरी यह स्थिति कही जा सकती है। परन्तु निद्रावस्था मे विचारो पर मेरा नियन्त्रण कम रहता है। नीद मे अनेक प्रकार के विचार आते हैं, अकल्पित सपने भी आते हैं और कभी इसी देह मे की हुई बातो की वासना भी जागरित होती है। जब विचार गन्दे होते हैं, तब स्वप्नदोष भी होता है। यह स्थिति विकारवान जीव की ही हो सकती है। पर मेरे वैचारिक विकार क्षीण होते जा रहे हैं। हाँ, उनका नाश नही हो पाया है। यदि मै विचारो पर भी साम्राज्य स्थापित कर सका होता तो पिछले दस वर्षो मे जो तीन रोग पसली की सूजन, पेचिश और अपेण्डिक्स की सूजन हुए, वे कभी न होते। मै मानता हूँ कि नीरोग आत्मा का शरीर भी नीरोग होता है। अर्थात् जैसे-जैसे आत्मा नीरोग निर्विकार होती जाती है वैसे ही शरीर भी नीरोग होता जाता है। इसका अर्थ यह नही कि नीरोग-शरीर का अर्थ बलवान शरीर है। बलवान आत्मा क्षीण शरीर मे ही वास करती है। ज्यो-ज्यो आत्मबल बढता है त्यो-त्यो शरीर-क्षीणता बढती है। पूर्ण नीरोगी शरीर बहुत क्षीण हो सकता है। बलवान शरीर मे अनेकाश मे रोग रहते है, रोग न हो तो भी वह शरीर सक्रामक रोगो का शिकार तुरन्त हो जाता है, परन्तु पूर्ण नीरोग शरीर पर उसका प्रभाव नही हो सकता। शुद्ध रक्त मे ऐसे कीटाणुओ को दूर रखने का गुण होता है।

---

१ आन्त्रपुच्छ।

ऐसी अद्भुत अवस्था दुर्लभ अवश्य है। अन्यथा मैं अब तक वहां पहुँच गया होता। मेरी आत्मा कहती है कि ऐसी स्थिति प्राप्त करने के लिए जिन उपायो मे काम लेने की आवश्यकता है उनमे मैं मुँह नही मोडता। ऐसी कोई बाह्य वस्तु नहीं है जो मुझे उससे दूर रखने मे समर्थ हो। परन्तु पूर्व सस्कारो को धोना सबके लिए सरल नही होता। इसलिए देर हो रही है। फिर भी मैं बिल्कुल निराश नही हुआ हूँ क्योकि मैं निर्विकार अवस्था की कल्पना कर सकता हूँ, उसकी धुंधली झलक देख सकता हूँ और मैंने अब तक जो प्रगति की है वह मुझे निराश करने के बजाय आशावान बनाती है। यदि मेरी आशा पूर्ण हुए बिना ही मेरा शरीरपात हो जाय तो मैं अपने को विफल नही मानूंगा। मुझे जितना विश्वास इस देह के अस्तित्व पर है, उतना ही पुनर्जन्म पर है। अतएव मैं जानता हूँ कि थोडा भी प्रयत्न व्यर्थ नही जाता।

इतने आत्मानुभव के वर्णन का कारण यह है कि जिन लोगो ने मुझे पत्र लिखे है, उनको तथा उनके समान दूसरो को धैर्य रहे और आत्मविश्वास बढे। सबकी आत्मा एक है, आत्मशक्ति एक-सी है। बहुत-से लोगो की शक्ति प्रकट हो गई है, बहुतो की शेष है। प्रयत्न करने से उन्हे भी यह अनुभव अवश्य प्राप्त होगा।

अभी तक मैंने व्यापक अर्थ मे ब्रह्मचर्य का विवेचन किया। ब्रह्मचर्य का लौकिक अथवा प्रचलित अर्थ तो विषयेन्द्रिय का मन, वचन और शरीर के द्वारा सयम ही माना जाता है। यह अर्थ वास्तविक है। क्योकि इसका पालन बहुत कठिन माना गया है। स्वादेन्द्रिय के सयम पर उतना जोर नही दिया गया है। इसीलिए विषयेन्द्रिय का सयम इतना मुश्किल, प्राय अशक्य हो गया है। रोग से अशक्त शरीर मे हमेशा विषय-वासना अधिक रहती है, यह वैद्यो का अनुभव है, इसलिए इस रोगग्रस्त समाज को ब्रह्मचर्य कठिन मालूम होता है।

ऊपर मैं क्षीण किन्तु नीरोग शरीर के विषय मे लिख चुका हूँ। उसका अर्थ यह न करना चाहिए कि शरीर-बल प्राप्त न किया जाय। मैंने सूक्ष्मतम ब्रह्मचर्य की बात अति-प्राकृत भाषा मे लिखी है। इससे शायद गलतफहमी हो। जो समस्त इन्द्रियो के पूर्ण सयम का पालन करना चाहता है उसे अन्त मे शरीर-क्षीणता का अभिनन्दन अवश्य करना पडेगा। जब शरीर का मोह और ममत्व क्षीण हो जायगा तब शरीर-बल की इच्छा नही रह सकती। परन्तु विषयेन्द्रिय को जीतनेवाले ब्रह्मचारी का शरीर अतीव तेजस्वी और बलवान होना ही उचित है। यह ब्रह्मचर्य लौकिक है। जिसकी विषयेन्द्रिय को स्वप्नावस्था मे भी विकार न हो, वह जगद्वन्द-नीय है। निस्सन्देह, उसके लिए दूसरा सयम सहज है।

इस ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध मे एक महाशय लिखते हैं—"मेरी दशा दयाजनक है। दफ्तर मे, रास्ते मे, रात को, पढने समय, काम करते समय, ईश्वर का नाम लेते समय वही विचार आते है। मन के विकारो को किस तरह नियन्त्रण मे रखें, स्त्रियो के प्रति मातृभाव कैसे उत्पन्न हो, आँख से शुद्ध वात्सल्य की ही किरणें किस प्रकार निकले, दुष्ट विचार किस प्रकार निर्मूल हो ? मैंने ब्रह्मचर्य-विषयक आपका लेख अपने पास रख छोडा है, परन्तु इस जगह वह विल्कुल उपयोगी नही होता।"

स्थिति हृदय-द्रावक है। यह स्थिति बहुतो की होती है। परन्तु जबतक मन उन विचारो के साथ लडता रहता है, तवतक भयभीत होने का कोई कारण नही। आँख यदि बुरा काम करती हो तो उसे वन्द कर लेना चाहिए, कान यदि बुरे विचार सुनते हो तो उनमे रूई भर लेनी चाहिए। आँख को हमेशा नीची रख-कर चलने की रीति अच्छी है। इससे उसे दूसरी बातें देखने का अवसर नही मिलता। जहाँ गन्दी वाते की जाती हो अथवा गन्दा गाना गाया जाता हो, वहाँ से उठ जाना चाहिए। स्वादेन्द्रिय पर बहुत नियन्त्रण रखना चाहिए।

मेरा अनुभव यह है कि जिसने स्वाद को नही जीता वह विषय को नही जीत सकता। स्वाद को जीतना बहुत कठिन है। परन्तु इस विजय के साथ ही दूसरी विजय की सम्भावना है।

विषय जीतने का सुवर्ण नियम राम-नाम अथवा इसी प्रकार का दूसरा कोई मन्त्र है। द्वादश मन्त्र भी यही काम देता है। अपनी-अपनी भावना के अनुसार मन्त्र का जप करना चाहिए। मन्त्र जपते समय दूसरे विचार आयें तो चिन्ता नही, यदि श्रद्धा रख कर मन्त्र का जप करते रहेंगे तो अन्त मे सफलता अवश्य प्राप्त होगी। मुझे तनिक भी सन्देह नही। यह मन्त्र उसका जीवन-डोर होगा, उसे समस्त सकटो से बचायेगा। ऐसे पवित्र मन्त्र का उपयोग किसी को आर्थिक लाभ के लिए कदापि नही करना चाहिए। मन्त्र का चमत्कार हमारी नीति को सुरक्षित रखने मे है, यह अनुभव साधक को थोडे ही समय मे प्राप्त होगा। हाँ, इतना स्मरण रखें कि तोते की तरह मन्त्र न पढें। इसमे अपनी आत्मा लगा देनी चाहिए। तोते यन्त्र की तरह ऐसे मन्त्र पढते हैं, हमे ज्ञानपूर्वक अवाछनीय विचारो के निवारण की भावना रख कर और ऐसा करने की मन्त्र-शक्ति मे विश्वास रख कर इन्हे पढना चाहिए।
—न० जी०। हि० न० जी०, २५।५।१९२४]

- ब्रह्मचर्य का अर्थ है, ब्रह्म की खोज।
- अन्तर्ज्ञान इन्द्रियो के पूर्ण संयम के बिना अशक्य है।
- नीरोग आत्मा का शरीर भी नीरोग होता है।
- बलवान आत्मा क्षीण शरीर मे ही वास करती है।

- पूर्व सस्कारो को धोना सबके लिए सरल नहीं होता।
- मुझे जितना विश्वास इस देह के अस्तित्व पर है, उतना ही पुनर्जन्म पर है।
- सबकी आत्मा एक है, आत्म-शक्ति एक-सी है।
- ब्रह्मचर्य का लौकिक अर्थ मन, वचन और शरीर के द्वारा सयम माना जाता है।
- अशक्त शरीर मे विषय-वासना अधिक रहती है।
- रोगग्रस्त समाज को ब्रह्मचर्य कठिन मालूम होता है।
- जो समस्त इन्द्रियो के पूर्ण सयम का पालन करना चाहता है, उसे अन्त मे शरीर-क्षीणता का अभिनन्दन अवश्य करना पडेगा।
- जिसने स्वाद को नहीं जीता वह विषय को नहीं जीत सकता।
- विषय जीतने का सुवर्ण नियम राम-नाम अथवा इसी प्रकार का दूसरा कोई मन्त्र है।
- तोते की तरह मन्त्र न पढ़ें।

४८. सभी धर्मों में सत्य है

मेरी हिन्दू प्रकृति मुझे बताती है कि थोडे-बहुत, सब धर्म सच्चे हैं। सबका स्रोत एक ही ईश्वर है। परन्तु सब अपूर्ण हैं, क्योकि वे हमारे पास मानव के अपूर्ण माध्यम-द्वारा आये हैं।

—य० इ०, २९।५।१९२४]

४९. फल का अधिकार

[श्री घनश्यामदास बिड़ला को लिखे पत्र से]

फल का अधिकार हमको नही है, यह ईश्वर के ही हाथ मे है।

— २०।७।१९२४। 'गाधी जी की छत्रछाया में', पृ० ३३]

५०. एक धर्म होना सम्भव नहीं

मै इस विश्वास से सहमत नही हूँ कि पृथिवी पर एक धर्म हो सकता है या होगा। इसलिए विविध धर्मों मे पाया जानेवाला सहिष्णुता का भाव रखे। इस बात को पैदा करने की मै कोशिश कर रहा हूँ।

—य० इ०, ३१।७।१९२४]

५१. मेरी श्रद्धा

मुझे तो, अपने धर्म पर इतनी श्रद्धा है कि मुझे उसी मे जीना और उसी मे मरना है

—हि० न० जी०, ७।९।१९२४]

५२. धर्म-परिवर्तन क्यों नहीं ?

एक मुसलमान भाई लिखते है —"आपका दावा है कि आप सत्य-प्रेमी, सत्य-शोधक और सत्य-ग्राहक हैं। साथ ही आपने यह भी लिखा है कि इस्लाम मिथ्या धर्म नही है। खुदा का ख़ास फरमान है कि दुनिया के हर शख्स को इस्लाम कबूल करना चाहिए। फिर भी आप मुसलमान क्यो नही होते ? मैंने जब हिन्दू नेता का ध्यान इस ओर खीचा तो उन्होने कहा कि यह तो गाधी जी ने मुसलमानो को खुश करने के लिए लिख दिया है। गाधी जी के दिल मे इस्लामी मुहब्बत नही है।"

इन भाई ने आग्रहपूर्वक जवाब माँगा है। (मैंने) यह धर्म कही नही सुना कि जितनी बाते मिथ्या न हो, उन्हे हर आदमी को करना चाहिए। मैं जिस तरह इस्लाम को मिथ्या नही मानता, उसी तरह ईसाई, पारसी और यहूदी धर्म को भी मिथ्या नही मानता। तो मैं किस धर्म को स्वीकार करूँ ? फिर मैं हिन्दू धर्म को भी मिथ्या नही मानता। ऐसी अवस्था मे मेरे-जैसे सत्य-शोधक को क्या करना चाहिए ? मुझे तो इस्लाम मे खूबियाँ दिखाई दी, इसलिए मैंने कहा कि वह धर्म मिथ्या नही है। यह कहने की जरूरत इसलिए हुई कि इस्लाम पर हमले होते हैं और मैं मुसलमान भाइयो के साथ मित्रता रखना चाहता हूँ, अतएव मैंने उनके धर्म का बचाव किया। सबको अपना-अपना धर्म दूसरो (के धर्म) से श्रेष्ठ मालूम होता है। इसीलिए वे उसमे (स्थित) रहते हैं। इसी न्याय के अनुसार मुझे हिन्दू धर्म मिथ्या नही मालूम होता। इतना ही नही, बल्कि सबसे श्रेष्ठ मालूम होता है। इसलिए मैं हिन्दू धर्म का पल्ला पकड कर बैठा हूँ—जिस तरह बालक माँ के साथ रहते हैं। परन्तु बालक जिस प्रकार पर-माता का तिरस्कार नही करता, उसी प्रकार मैं भी पर-धर्म का तिरस्कार नही करता। अपने धर्म के प्रति मेरा जो प्रेम है, वह मुझे शिक्षा देता है कि दूसरो का अपने धर्म के प्रति जो प्रेम है, उसकी भी कद्र करनी चाहिए। और मेरी यह प्रार्थना ईश्वर के दरबार मे हमेशा पहुँचती रहती है कि यह बात हर एक हिन्दू-मुसलमान सीख ले।

—न० जी०। हि० न० जी०, २१।९।१९२४]

- सबको अपना-अपना धर्म दूसरो (के धर्म) से श्रेष्ठ मालूम होता है।
- बालक जिस प्रकार पर-माता का तिरस्कार नहीं करता, उसी प्रकार मैं भी पर-धर्म का तिरस्कार नहीं करता।

५३. यह धर्म-विमुखता, ईश्वर-विमुखता है

एक दूसरे के धर्म को गालियाँ देना, अन्धाधुन्ध वक्तव्य प्रकाशित करना, असत्य बोलना, निर्दोष लोगो के सिर फोडना, मन्दिरो या मस्जिदो को तोडना अवश्य ईश्वर को न मानता है। धर्म का लक्षण, फिर उसे आप किसी भी नाम से पुकारिए, यह नही है।
—य० इ०। हि० न० जी०, २८।९।१९२४]

५४. धर्मद्रोह

हम लोग यदि केवल अपने धर्म के मूलतत्वो के अनुसार ही काम करे तो हम समझ जायँगे कि हममे से कितने ही लोग धर्मद्रोही और ईश्वरद्रोही बने हैं। एक दूसरे पर अधिकार करने के लिए बलात्कार करके हम स्वय अपनी आत्मा के साथ जबर्दस्ती कर रहे हैं। दोनो कौमे अपना कर्तव्य करने के बजाय, अपने कर्त्तव्य का पालन करके अधिकार प्राप्त करने के बजाय, केवल अधिकार पर ही जोर दे रही है। वे कर्त्तव्य करना भूल गई है।

भारतवर्ष एक पक्षी है। हिन्दू और मुसलमान उसके दो पख है। आज ये दोनो पख अपग हो गये है और पक्षी आसमान मे उड कर स्वतन्त्रता की आरोग्यप्रद शुद्ध हवा लेने मे असमर्थ है। इस प्रकार देश को अशक्त-असमर्थ बना देना न हिन्दुत्व का सिद्धान्त है, न इस्लाम का। क्या मुसलमानो को दुर्बल बना देना हिन्दुओ का धर्म है ? क्या हिन्दुओ को दुर्बल बना देना मुसलमानो का धर्म है ? क्या हिन्दुओ की मदद न करना मुसलमानो का और मुसलमानो की मदद न करना हिन्दुओ का धर्म है ? क्या धर्म प्राणपालक होकर प्राणनाशक, स्वातन्त्र्यनाशक और मनुष्यत्वनाशक बनेगा ?
—मौलाना मुहम्मद अली द्वारा प्रकाशित कामरेड पत्र से। हि० न० जी०, २।११।१९२४]

- भारतवर्ष एक पक्षी है। हिन्दू और मुसलमान उसके दो पख हैं।

५५. धर्म और राजनीति

मै देश की आँख मे धूल न झोकूँगा। मेरे नजदीक धर्म-विहीन राजनीति कोई चीज नही है। धर्म का अर्थ वहम और गतानुगतिकत्व का धर्म नही, द्वेष करनेवाला और लडनेवाला धर्म नही, वलिक विश्वव्यापी सहिष्णुता का धर्म है। नीति-शून्य राजनीति सर्वथा त्याज्य है।

— साबरमती, २६।११।१९२४। य० इ०। हि० न० जी०, ३०।११।१९२४]

● नीति-शून्य राजनीति सर्वथा त्याज्य है।

५६. पैगम्बरों का प्रमाण

ससार के वडे पैगम्वरो या धर्म-प्रचारको का उदाहरण पेश करने मे सदा जोखिम रहता है।

— य० इ०। हि० न० जी०, ७।१२।१९२४]

५७. धर्म के लिए युद्ध कब और कैसे ?

पाण्डवो ने क्या किया था ? उन्होने हस्तिनापुरी न माँगी, इन्द्रप्रस्थ न माँगा, सिर्फ पाँच गाँव ही माँगे थे। दुर्योधन ने कहा कि ये भी न मिलेंगे, इनके लिए भी लडना पडेगा, इसलिए वे (पाण्डव) लडे। अगर लडने की बात है तो आपका धर्म है अपनी बहिनो की रक्षा करना। आपकी क्षत्रियता है न दैन्य न पलायनम्। क्षत्रियत्व का अर्थ मारने की शक्ति नही, पीठ न दिखाने की शक्ति है। यदि मुसलमान कहे कि तुम लोग गो-पूजा नही कर सकोगे। हम उस पूजा मे रुकावट डालेंगे। यदि वे कहे, काशी विश्वनाथ एक पत्थर का टुकडा है और तुम बुतपरस्तो से हमे नफरत होती है। तो आप उनसे दिल खोल कर लडे। आप उनसे कहे कि गो तो हमारे लिए पूज्य है, पत्थर की मूर्ति मे हमे ईश्वर के दर्शन होते हैं, हमारी कौम ने हजारो वर्ष से इसी के सामने अपने पापो का प्रायश्चित्त किया है, हमे उसके प्रति उतना ही आदर है जितना आपको कावा शरीफ के प्रति है। ये बातें ऐसी हैं कि इन्हे (हम) छोड नही सकते।

— रावलपिण्डी, १०।१२।२४। न० जी०। हि० न० जी०, २१।१२।१९२४]

५८. ईश्वर ही नियन्ता है

मैं भविष्य को नही जानना चाहता। वर्तमान को सम्हाल लूं, इतना ही मैं अपना कर्त्तव्य मानता हूं। भगवान ने मुझे दूसरे क्षण का भी नियन्त्रण करने की शक्ति कहाँ दी है?

—य० इ०, २६।१२।१९२४]

५९. रामराज्य

राम ने एक धोबी की बात सुनकर प्रजा को सन्तुष्ट करने के लिए प्राण के समान प्रिय जगद्वन्द्य सती-शिरोमणि, साक्षात् करुणामूर्ति सीता जी का त्याग किया। राम ने कुत्ते के साथ भी न्याय किया। उन्होने सत्य-पालन के लिए राज-पाट छोडकर वनवास भोगा और ससार के तमाम राजाओ को उच्च कोटि के सदाचार-पालन का पदार्थ-पाठ पढाया। राम ने अखण्ड एक-पत्नीव्रत का पालन करके राजा-प्रजा सब को यह दिखाया कि गृहस्थाश्रम मे भी सयम-धर्म का पालन किस तरह किया जा सकता है। उन्होने राज्यासन को सुशोभित करके राज्य-पद्धति को लोक-प्रिय बनाकर यह सिद्ध कर दिया कि रामराज्य स्वराज्य की परि-सीमा है। राम को लोकमत जानने के लिए आधुनिक अति-अधूरे साधनो की जरूरत न थी, क्योकि वे प्रजा के हृदय के स्वामी बन बैठे थे। राजा प्रजा-मत को आँख के इशारे से समझ लेता था। प्रजा रामराज्य मे आनन्द-सागर मे हिलोरे लेती थी।

ऐसा रामराज्य आज भी हो सकता है। राम का वश लुप्त नही हुआ है। यह कह सकते हैं कि आधुनिक युग मे पहिले खलीफाओ ने भी रामराज्य स्थापित किया था। हज़रत अबूबकर और हज़रत उमर करोडो से कर वसूल करते थे, फिर भी खुद फकीर थे। वे सार्वजनिक कोष से एक कौडी भी नही लेते थे। वे यह देखने को सदा जागरूक रहते थे कि प्रजा के साथ न्याय होता है या नही। उनका सिद्धान्त था कि दुश्मन को भी दगा न देनी चाहिए, उसके साथ भी शुद्ध न्याय करना चाहिए।

—हि० न० जी०, ८।१।१९२५]

● **रामराज्य स्वराज्य की परिसीमा है।**

६०. ईश्वरीय विधान

हम शरीर-रूपी अद्वितीय यन्त्र को छोड मूढ यन्त्र से काम लेकर (उस शरीर-यन्त्र) का नाश कर रहे हैं। शरीर से पूरा-पूरा काम लेना ईश्वरीय कानून है। इसे हम भूल नही सकते।
—हि० न० जी०, ८।१।१९२५]

६१. मेरी ब्रह्मचर्य की कल्पना

मुझे सेवा-धर्म प्रिय है। मै सच्चा सन्यासी हूँ या नही, यह भी नही जानता। पर सन्यास मुझे पसन्द है। ब्रह्मचर्य मुझे प्रिय है, पर मैं नही जानता कि मै सच्चा ब्रह्मचारी हूँ या नही। क्योकि ब्रह्मचारी के मन मे यदि दूषित विचार आते हो, वह सपने मे भी व्यभिचार करने का विचार करता हो तो मै कहूँगा कि वह ब्रह्मचारी नही। मेरे मुँह से यदि गुस्से मे एक भी शब्द निकले, द्वेष से प्रेरित होकर कोई काम हो, जिसे लोग मेरा कट्टर-से-कट्टर दुश्मन मानते हो, उसके खिलाफ भी यदि क्रोध मे कोई वचन कहूँ, तो मै अपने को ब्रह्मचारी नही कह सकता। इसलिए मै पूर्ण सन्यासी हूँ कि नही, यह नही जानता। पर हाँ, मै इतना अवश्य कहूँगा कि मेरे जीवन का प्रवाह इसी दिशा मे बह रहा है।
—हि० न० जी०, १५।१।१९२५]

६२. आध्यात्मिक ऐकान्तिकता उचित नहीं

वह आध्यात्मिक स्थिति, जिसकी रक्षा के लिए चारो ओर से बन्द रहना पडता है, बडी कमजोर होनी चाहिए। इसके अलावा वे दिन भी गये जब मनुष्य सदा एकान्त मे रहकर अपने गुणो की रक्षा करता था।
—यं० इं०। हि० न० जी०, ५।२।१९२५]

६३. राम का न्याय

राम का न्याय यह है कि जो राम का सेवक है, उसका दास है, उसे वह दुःख दिया ही करता है और इस तरह उसकी परीक्षा लेता है।
—न० जी०। हि० न० जी०, ५।२।१९२५]

६४. ब्रह्मचर्य

[भादरण मुक़ाम पर एक अभिनन्दन-पत्र का उत्तर देते हुए लोगो के अनुरोध से गाधी जी ने ब्रह्मचर्य पर लम्बा प्रवचन किया। उसका सार यहाँ दिया जाता है।—सम्पा०]

आप चाहते है कि ब्रह्मचर्य के विषय पर कुछ कहूँ। कितने ही विषय ऐसे है कि जिन पर मै 'नवजीवन' मे प्रसगोपात्त ही लिखता हूँ और उन पर व्याख्यान तो शायद ही देता हूँ। क्योकि यह विषय ही ऐसा है कि कहकर नही समझाया जा सकता। आप तो मामूली ब्रह्मचर्य के विषय मे सुनना चाहते है, समस्त इन्द्रियो का सयम, यह विस्तृत व्याख्या जिस ब्रह्मचर्य की है उसके विषय मे नही। इस साधारण ब्रह्मचर्य को भी शास्त्रकारो ने बडा कठिन बताया है। यह बात ९९ फीसदी सच है, एक फीसदी इसमे कमी है। इसका पालन इसलिए कठिन मालूम होता है कि हम इन्द्रियो को सयम मे नही रखते। उनमे मुख्य है रसनेन्द्रिय। जो अपनी जिह्वा को कब्जे मे रख सकता है उसके लिए ब्रह्मचर्य सुगम हो जाता है। प्राणिशास्त्र के ज्ञाताओ का कथन है कि पशु जिस दरजे तक ब्रह्मचर्य का पालन करता है उस दरजे तक मनुष्य नही करता। यह सच है। इसका कारण देखने पर मालूम होगा कि पशु अपनी जिह्वेन्द्रिय पर पूरा-पूरा निग्रह रखते है—इच्छापूर्वक नही, स्वभावत ही। वे केवल चारे पर अपनी गुजर करते है, सो भी महज पेट भरने लायक ही खाते है। वे जीने के लिए खाते है, खाने के लिए नही जीते है। पर हम तो इसके बिलकुल विपरीत करते है। माँ बच्चे को तरह-तरह के सुस्वादु भोजन कराती है। वह मानती है कि बालक के साथ प्रेम दिखाने का यही सर्वोत्तम रास्ता है। ऐसा करते हुए हम उन चीजो मे स्वाद डालते नही, बल्कि ले लेते है। स्वाद तो रहता है भूख मे। भूख के वक्त सखी रोटी भी मीठी लगती है और बिना भूख आदमी को लड्डू भी फीके और अस्वादु मालूम होगे। पर हम तो अनेक चीजो को खा-खाकर पेट को ठसाठस भरते हैं और फिर कहते हैं कि ब्रह्मचर्य का पालन नही हो पाता। जो आँखें हमे ईश्वर ने देखने के लिए दी है उनको हम मलिन करते है और देखने की वस्तुओ को देखना नही सीखते। माता को क्यो गायत्री न पढना चाहिए और बालको को वह क्यो गायत्री न सिखाये? इसकी छानबीन करने की अपेक्षा उसके तत्त्व—सूर्योपासना—को समझकर सूर्योपासना कराये तो क्या अच्छा हो! सूर्य की उपासना तो सनातनी और आर्यसमाजी, दोनो कर सकते है। यह तो मैंने स्थूल अर्थ आपके सामने उपस्थित किया। इस उपासना के मानी क्या है? अपना सिर ऊँचा रख कर, सूर्यनारायण के दर्शन करके, आँख की शुद्धि करना। गायत्री

के रचयिता ऋषि थे, द्रष्टा थे। उन्होने कहा कि सूर्योदय मे जो नाटक है, जो सौन्दर्य है, जो लीला है, वह और कही नही दिखाई दे सकती। ईश्वर के जैसा सुन्दर सूत्रधार अन्यत्र नही मिल सकता, और आकाश से बढकर भव्य रग-भूमि कही पर नही मिल सकती। पर कौन माता आज बालक की आँखें धो कर उसे आकाश-दर्शन कराती है ? बल्कि माता के भावो मे तो अनेक प्रपच रहते है। बडे-बडे घरो मे जो शिक्षा मिलती है उसके फलस्वरूप तो लडका शायद बडा अधिकारी होगा, पर इस बात का कौन विचार करता है कि घर मे जाने-बे-जाने जो शिक्षा बच्चो को मिलती है उससे कितनी बातें वह ग्रहण कर लेता है। माँ-बाप हमारे शरीर को ढकते है, सजाते हैं, पर इससे कही शोभा बढ सकती है ? कपडे बदन को ढकने के लिए हैं, सर्दी-गर्मी से रक्षा करने के लिए हैं, सजाने के लिए नही। जाडे से ठिठुरते हुए लडके को जब हम अगीठी के पास धकेलेंगे, अथवा मुहल्ले मे खेलने-कूदने भेज देंगे अथवा खेत मे काम पर छोड देंगे, तभी उसका शरीर वज्र की तरह होगा। जिसने ब्रह्मचर्य का पालन किया है उसका शरीर वज्र की तरह ज़रूर होना चाहिए। हम तो बच्चो के शरीर का नाश कर डालते हैं। हम उसे घर मे रखकर गरमाना चाहते हैं। उससे तो उसकी चमडी मे इस तरह की गर्मी आती है जिसे हम छाजन की उपमा दे सकते हैं। हमने शरीर को दुलरा कर उसे बिगाड डाला है।

यह तो हुई कपडे की बात। फिर घर मे तरह-तरह की बातें करके हम उनके मन पर बुरा प्रभाव डालते हैं। उसकी शादी की बाते किया करते हैं, और इसी किस्म की चीजें और दृश्य भी उसे दिखाये जाते हैं। मुझे तो आश्चर्य होता है कि हम केवल जगली ही क्यो न हो गये ? मर्यादा तोडने के अनेक साधनो के होते हुए भी मर्यादा की रक्षा हो जाती है। ईश्वर ने मनुष्य की रचना इस तरह से की है कि पतन के अनेक अवसर आते हुए भी वह बच जाता है। उसकी लीला ऐसी गहन है। यदि ब्रह्मचर्य के रास्ते से सब विघ्न हम दूर कर दें तो उसका पालन बहुत आसान हो जाय।

ऐसी हालत होते हुए भी हम दुनिया के साथ शारीरिक मुकाबला करना चाहते हैं। उसके दो रास्ते हैं : एक आसुरी और दूसरा दैवी। आसुरी मार्ग है—शरीर-बल प्राप्त करने के लिए हर किस्म के उपायो से काम लेना, हर तरह की चीजें खाना, शारीरिक मुकाबले करना, गो-मास खाना इत्यादि। मेरे लडकपन मे मेरा एक मित्र मुझसे कहा करता कि मासाहार हमे अवश्य करना चाहिए, नही तो अग्रेजो की तरह हट्टे-कट्टे हम न हो सकेंगे। जपान को भी जब दूसरे देश के साथ मुकाबला करने का समय आया तब वहाँ गो-मास-भक्षण को स्थान मिला। सो यदि आसुरी प्रकार से शरीर को तैयार करने की इच्छा हो तो इन चीजो का सेवन करना होगा।

परन्तु यदि दैवी साधन से शरीर तैयार करना हो तो ब्रह्मचर्य ही उसका एक उपाय है। जब मुझे कोई नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहता है तब मुझे अपने पर दया आती है। इस अभिनन्दन-पत्र मे मुझे नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहा गया है। सो मुझे कहना चाहिए कि जिन्होने इस अभिनन्दन-पत्र का मजमून तैयार किया है उन्हे पता नही कि नैष्ठिक ब्रह्मचर्य किस चीज का नाम है। और जिसके बाल-बच्चे हुए हैं उसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी कैसे कह सकते हैं? नैष्ठिक ब्रह्मचारी को न तो कभी बुखार आता है, न कभी सिर दर्द करता है, न कभी खाँसी होती है, न कभी अपेंडिसाइटिस होता है। डाक्टर लोग कहते हैं कि नारगी का बीज आँत मे रह जाने से भी अपेंडिसाइटिस होता है। परन्तु जिसका शरीर स्वच्छ और नीरोग होता है उस मे ये बीज टिक ही नही सकते। जब आँतें शिथिल पड जाती है तब वे ऐसी चीजो को अपने-आप बाहर नही निकाल सकती। मेरी भी आँते शिथिल हो गई होगी। इसी से मैं ऐसी कोई चीज हजम न कर सका हूँगा। बच्चे ऐसी अनेक चीजे खा जाते है। माता इसका कहाँ ध्यान रखती है? पर उसकी आँत मे इतनी शक्ति स्वाभाविक तौर पर ही होती है। इसीलिए मै चाहता हूँ कि मुझपर नैष्ठिक ब्रह्मचर्य के पालन का आरोपण करके कोई मिथ्यावादी न हो। नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का तेज तो मुझ से अनेकगुना अधिक होना चाहिए। मैं आदर्श ब्रह्मचारी नही। हाँ, यह सच है कि मै वैसा बनना चाहता हूँ। मैने तो आपके सामने अपने अनुभव की कुछ बाते पेश की हैं, जो ब्रह्मचर्य की सीमा बताती हैं। ब्रह्मचारी रहने का अर्थ यह नही कि मै किसी स्त्री को स्पर्श न करूँ, अपनी बहिन का स्पर्श न करूँ। पर ब्रह्मचारी होने का अर्थ यह है कि स्त्री का स्पर्श करने से किसी प्रकार का विकार न उत्पन्न हो, जिस तरह कि कागज को स्पर्श करने से नही होता। मेरी बहिन बीमार हो और उसकी सेवा करते हुए, उसका स्पर्श करते हुए ब्रह्मचर्य के कारण मुझे हिचकना पडे तो वह ब्रह्मचर्य तीन कौडी का है। जिस निर्विकार दशा का अनुभव हम मृत शरीर को स्पर्श करके करते है उसी का अनुभव जब हम किसी बडी सुन्दरी युवती का स्पर्श करके कर सकें तभी हम ब्रह्मचारी हैं। यदि आप यह चाहते हो कि बालक ऐसे ब्रह्मचर्य को प्राप्त करे, तो इसका अभ्यास-क्रम आप नही बना सकते, मुझ-जैसा अधूरा भी क्यो न हो, पर ब्रह्मचारी ही बना सकता है।

ब्रह्मचारी स्वाभाविक सन्यासी होता है। ब्रह्मचर्याश्रम सन्यासाश्रम से भी बढकर है। पर उसे हमने गिरा दिया है। इससे हमारा गृहस्थाश्रम भी बिगडा है, वानप्रस्थाश्रम भी बिगडा है और सन्यास का तो नाम भी नही रह गया है। ऐसी हमारी असहाय अवस्था हो गई है।

ऊपर जो आसुरी मार्ग बताया गया है उसका अनुकरण करके तो आप पाँच सौ वर्षों तक भी पठानो का मुकाबला न कर सकेंगे। दैवी मार्ग का अनुकरण

के रचयिता ऋषि थे, द्रष्टा थे। उन्होने कहा कि सूर्योदय मे जो नाटक है, जो सौन्दर्य है, जो लीला है, वह और कही नही दिखाई दे सकती। ईश्वर के जैसा सुन्दर सूत्रधार अन्यत्र नही मिल सकता, और आकाश से वढकर भव्य रग-भूमि कही पर नही मिल सकती। पर कौन माता आज वालक की आँखें धो कर उसे आकाश-दर्शन कराती है? बल्कि माता के भावो मे तो अनेक प्रपच रहते है। वडे-वडे घरो मे जो शिक्षा मिलती है उसके फलस्वरूप तो लडका शायद वडा अधिकारी होगा, पर इस बात का कौन विचार करता है कि घर मे जाने-वे-जाने जो शिक्षा बच्चो को मिलती है उससे कितनी वाते वह ग्रहण कर लेता है। माँ-वाप हमारे शरीर को ढकते है, सजाते है, पर इससे कही शोभा वढ सकती है? कपडे बदन को ढकने के लिए हैं, सर्दी-गर्मी से रक्षा करने के लिए है, सजाने के लिए नही। जाडे से ठिठुरते हुए लडके को जब हम अगीठी के पास धकेलेंगे, अथवा मुहल्ले मे खेलने-कूदने भेज देंगे अथवा खेत मे काम पर छोड देंगे, तभी उसका शरीर वज्र की तरह होगा। जिसने ब्रह्मचर्य का पालन किया है उसका शरीर वज्र की तरह ज़रूर होना चाहिए। हम तो बच्चो के शरीर का नाश कर डालते है। हम उसे घर मे रखकर गरमाना चाहते हैं। उससे तो उसकी चमडी मे इस तरह की गर्मी आती है जिसे हम छाजन की उपमा दे सकते हैं। हमने शरीर को दुलरा कर उसे बिगाड डाला है।

यह तो हुई कपडे की बात। फिर घर मे तरह-तरह की बातें करके हम उनके मन पर बुरा प्रभाव डालते हैं। उसकी शादी की बाते किया करते हैं, और इसी किस्म की चीजे और दृश्य भी उसे दिखाये जाते हैं। मुझे तो आश्चर्य होता है कि हम केवल जगली ही क्यो न हो गये? मर्यादा तोडने के अनेक साधनो के होते हुए भी मर्यादा की रक्षा हो जाती है। ईश्वर ने मनुष्य की रचना इस तरह से की है कि पतन के अनेक अवसर आते हुए भी वह बच जाता है। उसकी लीला ऐसी गहन है। यदि ब्रह्मचर्य के रास्ते से सब विघ्न हम दूर कर दें तो उसका पालन बहुत आसान हो जाय।

ऐसी हालत होते हुए भी हम दुनिया के साथ शारीरिक मुकाबला करना चाहते हैं। उसके दो रास्ते हैं : एक आसुरी और दूसरा दैवी। आसुरी मार्ग है—शरीर-वल प्राप्त करने के लिए हर किस्म के उपायो से काम लेना, हर तरह की चीजे खाना, शारीरिक मुकावले करना, गो-मास खाना इत्यादि। मेरे लडकपन मे मेरा एक मित्र मुझसे कहा करता कि मासाहार हमे अवश्य करना चाहिए, नही तो अग्रेजो की तरह हट्टे-कट्टे हम न हो सकेंगे। जपान को भी जव दूसरे देश के साथ मुकावला करने का समय आया तव वहाँ गो-मास-भक्षण को स्थान मिला। सो यदि आसुरी प्रकार से शरीर को तैयार करने की इच्छा हो तो इन चीजो का सेवन करना होगा।

परन्तु यदि दैवी साधन से शरीर तैयार करना हो तो ब्रह्मचर्य ही उसका एक उपाय है। जब मुझे कोई नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहता है तब मुझे अपने पर दया आती है। इस अभिनन्दन-पत्र में मुझे नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहा गया है। सो मुझे कहना चाहिए कि जिन्होंने इस अभिनन्दन-पत्र का मजमून तैयार किया है उन्हें पता नहीं कि नैष्ठिक ब्रह्मचर्य किस चीज का नाम है। और जिसके बाल-बच्चे हुए हैं उसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी कैसे कह सकते हैं? नैष्ठिक ब्रह्मचारी को न तो कभी बुखार आता है, न कभी सिर दर्द करता है, न कभी खाँसी होती है, न कभी अपेंडिसाइटिस होता है। डाक्टर लोग कहते हैं कि नारंगी का बीज आँत में रह जाने से भी अपेंडिसाइटिस होता है। परन्तु जिसका शरीर स्वच्छ और नीरोग होता है उस में ये बीज टिक ही नहीं सकते। जब आँतें शिथिल पड़ जाती हैं तब वे ऐसी चीजों को अपने-आप बाहर नहीं निकाल सकतीं। मेरी भी आँतें शिथिल हो गई होंगी। इसी से मैं ऐसी कोई चीज हजम न कर सका हूँगा। बच्चे ऐसी अनेक चीजें खा जाते हैं। माता इसका कहाँ ध्यान रखती है? पर उसकी आँत में इतनी शक्ति स्वाभाविक तौर पर ही होती है। इसीलिए मैं चाहता हूँ कि मुझ पर नैष्ठिक ब्रह्मचर्य के पालन का आरोपण करके कोई मिथ्यावादी न हो। नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का तेज तो मुझ में अनेकगुना अधिक होना चाहिए। मैं आदर्श ब्रह्मचारी नहीं। हाँ, यह सच है कि मैं वैसा बनना चाहता हूँ। मैंने तो आपके सामने अपने अनुभव की कुछ बातें पेश की हैं, जो ब्रह्मचर्य की सीमा बताती हैं। ब्रह्मचारी रहने का अर्थ यह नहीं कि मैं किसी स्त्री को स्पर्श न करूँ, अपनी बहिन का स्पर्श न करूँ। पर ब्रह्मचारी होने का अर्थ यह है कि स्त्री का स्पर्श करने से किसी प्रकार का विकार न उत्पन्न हो, जिस तरह कि कागज को स्पर्श करने से नहीं होता। मेरी बहिन बीमार हो और उसकी सेवा करते हुए, उसका स्पर्श करते हुए ब्रह्मचर्य के कारण मुझे हिचकना पड़े तो वह ब्रह्मचर्य तीन कौड़ी का है। जिस निर्विकार दशा का अनुभव हम मृत शरीर को स्पर्श करके करते हैं उसी का अनुभव जब हम किसी बड़ी सुन्दरी युवती का स्पर्श करके कर सकें तभी हम ब्रह्मचारी हैं। यदि आप यह चाहते हों कि बालक ऐसे ब्रह्मचर्य को प्राप्त करें, तो इसका अभ्यास-क्रम आप नहीं बना सकते, मुझ-जैसा अधूरा भी क्यों न हो, पर ब्रह्मचारी ही बना सकता है।

ब्रह्मचारी स्वाभाविक सन्यासी होता है। ब्रह्मचर्याश्रम सन्यासाश्रम से भी बढ़कर है। पर उसे हमने गिरा दिया है। इससे हमारा गृहस्थाश्रम भी बिगड़ा है, वानप्रस्थाश्रम भी बिगड़ा है और सन्यास का तो नाम भी नहीं रह गया है। ऐसी हमारी असहाय अवस्था हो गई है।

ऊपर जो आसुरी मार्ग बताया गया है उसका अनुकरण करके तो आप पाँच सौ वर्षों तक भी पठानों का मुकाबला न कर सकेंगे। दैवी मार्ग का अनुकरण

यदि आज हो तो आज ही पठानो का मुकावला हो सकता है। क्योकि दैवी साधन से आवश्यक मानसिक परिवर्तन एक क्षण मे हो सकता है। पर शारीरिक परिवर्तन करते हुए युग बीत जाते है। इस दैवी मार्ग का अनुकरण तभी हमसे होगा जब हमारे पल्ले पूर्व जन्म का पुण्य होगा, और माता-पिता हमारे लिए उचित सामग्री पैदा करेगे।

—हि० न० जी०, २६।२।१९२५]

- वे (पशु) जीने के लिए खाते हैं, खाने के लिए नहीं जीते हैं।
- स्वाद तो रहता है भूख में।
- सूर्योदय मे जो नाटक है, जो सौन्दर्य है, जो लीला है, वह और कहीं नहीं दिखाई दे सकती।
- जिस निर्विकार दशा का अनुभव हम मृत शरीर का स्पर्श कर करते हैं उसी का अनुभव जब हम बड़ी सुन्दरी युवती का स्पर्श करके कर सकें तभी हम ब्रह्मचारी हैं।
- ब्रह्मचारी स्वाभाविक सन्यासी होता है।

६५. महासभा और ईश्वर

[एक मित्र ने गांधी जी को पत्र लिखकर सूचित किया था कि महासभा के स्वयसेवको के लिए जो प्रतिज्ञापत्र निर्धारित किया गया है, वह उपयुक्त नहीं है। उसमे जो प्रतिज्ञा करनी पड़ती है उसका प्रारम्भ 'ईश्वर को साक्षी रख कर ....' ऐसे वाक्य-विन्यास से होता है। जैन, बौद्ध या ऐसे लोग जो ईश्वर को नहीं मानते, यह प्रतिज्ञा कैसे ले सकते हैं? ईश्वर और धर्म के नाम पर अतीत काल से ही मानवता और प्राणि-जगत् को अनेक कष्ट दिये गये हैं। फिर गाधी जी ने स्वय एक बार आश्वासन दिया था कि इस राष्ट्रीय कार्य-कलाप मे लोगो-द्वारा अपने धार्मिक विश्वास व्यक्त करना जरूरी नहीं है।

मित्र महोदय ने अनुरोध किया था कि चूंकि गांधी जी महासभा के प्रमुख और इस प्रतिज्ञा-पत्र के रचयिता हैं, इसलिए वे इसमे वांछित सुधार कर दें। वे ईश्वर के नाम से प्रतिज्ञा कराने के बजाय अन्तरात्मा को साक्षी रखकर प्रतिज्ञा का विधान कर दें। ईश्वर के नाम के बिना भी प्रतिज्ञा ली जा सके, ऐसी व्यवस्था वहुत जरूरी है।

गांधी जी ने मित्र को उत्तर देने के लिए जो लेख लिखा, वह यहां दिया जा रहा है।—सम्पा०]

जहाँ तक अन्त करण के उज्र से सम्वन्ध है, यदि ज़रूरत हुई तो महासभा के प्रतिज्ञा-पत्र मे से, जिसे तैयार करने का मुझे अभिमान है, ईश्वर का नाम निकाल दिया जा सकता है। यदि उज्र उसी समय पेश किया गया होता तो मै फौरन स्वीकार कर लेता। हिन्दुस्तान-जैसे स्थान मे ऐसे उज्र के लिए मै ज़रा भी तैयार न था। यद्यपि शास्त्रो मे "चार्वाक" मत भी मान लिया गया है, तथापि मै यह नही जानता कि उसके माननेवाले भी हैं। मै यह नही मानता कि बौद्ध और जैन लोग अज्ञेयवादी या नास्तिक हैं। वे अज्ञेयवादी तो हरगिज नही हो सकते। जो लोग आत्मा को शरीर से भिन्न मानते है और शरीर के नष्ट हो जाने पर भी उसकी स्वतन्त्र हस्ती रहना स्वीकार करते हैं वे नास्तिक नही कहे जा सकते। हम सब ईश्वर की जुदी-जुदी व्याख्याएँ करते है। हम सब यदि ईश्वर की व्याख्याएँ अपनी मरजी के मुताबिक करे तो उसकी उतनी ही व्याख्याएँ होगी जितने कि स्त्री या पुरुष होगे। लेकिन इन जुदी-जुदी व्याख्याओ के मूल मे भी एक किस्म का अभ्रान्त सादृश्य होगा, क्योकि मूल तो सब का एक ही है। ईश्वर तो वह अनिर्वचनीय (ला-कलाम) वस्तु है कि जिसका हम सब अनुभव तो करते हैं, लेकिन जिसे हम जानते नही। वेशक चार्ल्स ब्रेडला ने अपने को नास्तिक कहा है, लेकिन बहुतेरे ईसाइयो ने उन्हे ऐसा नही माना है। मुख से अपने को ईसाई कहनेवाले बहुत-से लोगो के मुकाबले मे उन्हे ब्रेडला मे अपने तईं अधिक समानता मालूम हुई थी। भारतवर्ष के उस भले मित्र की अन्त्येष्ठि-क्रिया के समय मौजूद रहने का मुझे भी सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उस समय मैने बहुत-से पादरियो को वहाँ देखा। उनके जनाजे के साथ मुसलमान और बहुतेरे हिन्दू भी थे। वे सब ईश्वर को माननेवाले थे। ब्रेडला ने वैसे ईश्वर के अस्तित्व से इन्कार किया था जैसा कि वे जानते थे कि उसका वर्णन किया जाता है। उस समय जो शास्त्रीय विचार प्रचलित थे उनके तथा आचार और विचार के भयकर भेद के खिलाफ उनका पाण्डित्यपूर्ण और तेज विरोध था। मेरा ईश्वर तो मेरा सत्य और प्रेम है। नीति और सदाचार ईश्वर है। निर्भयता ईश्वर है। ईश्वर जीवन और प्रकाश का मूल है। और फिर भी वह इन सबसे परे है। ईश्वर अन्तरात्मा ही है। वह तो नास्तिको की नास्तिकता भी है। क्योकि वह अपने अमर्यादित प्रेम से उन्हे भी जिन्दा रहने देता है। वह हृदय को देखनेवाला है। वह बुद्धि और वाणी से परे है। हम स्वय जितना अपने को जानते हैं उससे कही अधिक वह हमे और हमारे दिलो को जानता है। जैसा हम कहते हैं वैसा ही वह हमे नही समझता। क्योकि वह जानता है कि जो हम जबान से कहते हैं अक्सर वही हमारा भाव नही होता और यह कुछ लोग तो जानकर करते है तो कुछ अनजान मे। ईश्वर उन लोगो के लिए एक व्यक्ति ही है जो उसे व्यक्ति-रूप मे

हाजिर देखना चाहते है। जो उसका स्पर्श करना चाहते है उनके लिए वह शरीर धारण करता है। वह पवित्र-से-पवित्र तत्त्व है। जिन्हे उसमे श्रद्धा है उन्ही के लिए उसका अस्तित्त्व है। सब लोगो के लिए वह सभी चीज है। वह हममे व्याप्त है और फिर भी हम से परे है। ईश्वर शब्द महासभा के प्रतिज्ञा-पत्र से निकाल दिया जा सकता है, लेकिन खुद ईश्वर को तो कोई कही से नही निकाल सकता। ईश्वर के नाम पर ली गई प्रतिज्ञा और केवल प्रतिज्ञा यदि एक वस्तु नही है तो फिर प्रतिज्ञा होगी क्या चीज ? अन्तरात्मा तो निश्चय ही ईश्वर शब्द का ही एक खीचातानी अर्थ है। उसके नाम पर भयकर अनीतियुक्त काम किये गये हैं और अमानुष अत्याचार भी हुए है, लेकिन इससे कुछ उसका अस्तित्व नही मिट सकता। वह बडा सहनशील है, वह बडा धैर्यवान् है, लेकिन वह बडा भयकर भी है। उसका व्यक्तित्त्व इस दुनिया मे और भविष्य की दुनिया मे भी सबसे अधिक काम करानेवाली ताकत है। जैसा हम अपने पडोसी—मनुष्य और पशु दोनो—के साथ बर्ताव करते है वैसा ही बर्ताव वह हमारे साथ भी करता है। उसके सामने अज्ञान की दलील नही चल सकती। लेकिन यह सब होने पर भी वह बडा रहमदिल है, क्योकि वह हमे पश्चात्ताप करने के लिए मौका देता है। दुनिया मे सबसे बडा प्रजातन्त्रवादी वही है, क्योकि वह बुरे-भले को पसन्द करने के लिए हमे स्वतन्त्र छोड देता है। वह सब से बडा जालिम है, क्योकि वह अक्सर हमारे मुँह तक आये हुए कौर को छीन लेता है और इच्छा-स्वातन्त्र्य की ओट मे हमे इतनी कम छूट देता है कि हमारी मजबूरी के कारण उससे सिर्फ उसी को आनन्द मिलता है। यह सब हिन्दू-धर्म के अनुसार उसकी *लीला* है, उसकी *माया* है। हम कुछ नही है, सिर्फ वही है। अगर हम हो, तो हमे सदा उसके गुणो का गान करना चाहिए और उसकी इच्छा के अनुसार चलना चाहिए। आइए, उसकी वशी के नाम पर हम नाचें, सब अच्छा ही होगा।

लेखक ने मेरी एक पुस्तिका 'नीति-धर्म' का भी जिक्र किया है। सो पाठको का ध्यान इस बात की ओर खीचना जरूरी है कि लेखक ने जिसका उल्लेख किया है वह अग्रेजी पुस्तक है। मूल पुस्तक गुजराती मे लिखी गई है। और गुजराती पुस्तिका की भूमिका मे यह बात साफ तौर पर कही गई है कि यह मौलिक पुस्तक नही है। बल्कि अमेरिका मे प्रकाशित 'नैतिक धर्म' नामक एक पुस्तक के आधार पर लिखी गई है। यह अनुवाद यरवदा जेल मे मेरी नजरो से गुजरा और मुझे यह देखकर अफसोस हुआ कि उसमे मूल पुस्तक का कही उल्लेख नही है। मुझे मालूम हुआ है कि खुद अनुवादक ने भी गुजराती नही, बल्कि उसके हिन्दी-अनुवाद का अनुवाद किया है। इस तरह अग्रेजी-अनुवाद को एक द्राविडी प्राणायाम ही समझिए। उस मूल अमेरिकन पुस्तक के प्रति यह खुलासा देना मुझे जरूरी था। और खुशी

की बात है कि इन पत्र-लेखक ने मुझे उसकी याद दिलाकर उसके ऋण को अदा करने का अवसर दिया।
—य० इ०, ५।३।१९२५]

- ईश्वर तो वह अनिर्वचनीय वस्तु है जिसका हम सब अनुभव तो करते हैं, लेकिन जिसे हम जानते नहीं।
- मेरा ईश्वर तो मेरा सत्य और प्रेम है। नीति और सदाचार ईश्वर है। निर्भयता ईश्वर है। ईश्वर जीवन और प्रकाश का मूल है। और फिर भी वह इन सबसे परे है।

६६. धर्मान्तर का प्रश्न

मैं स्वय तो यही पसन्द करूँगा कि धर्म-परिवर्तन और शुद्धि सब बन्द कर दिये जायँ। किसी भी व्यक्ति के धर्म का सम्बन्ध स्वय उसी के साथ होता है। वयस्क अवस्था के स्त्री-पुरुष जब या जितनी बार चाहे अपना धर्म बदल सकते हैं। यदि मेरा बस चलता तो मैं इसके अतिरिक्त कि मनुष्य अपने चरित्र से दूसरे पर प्रभाव डाले, और सब प्रकार के (धर्म) प्रचार-कार्य बन्द करा देता। धर्मान्तर का सम्बन्ध हृदय और विवेक-बुद्धि से है और चारित्र्य से ही उन पर प्रभाव डाला जा सकता है।
—हि० न० जी०, २६।३।१९२५]

६७. संन्यास-धर्म और राजनीति

[एक सज्जन ने गाधी जी को पत्र लिखकर पूछा था कि उनके विचार से वह सन्यास-धर्म का उपदेश करते हैं, किन्तु दूसरी ओर वह भारत की राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। सन्यासी प्रवृत्ति से आत्ममार्गी, निवृत्ति-मार्गी और मोक्षमार्गी होता है, इसलिए उसे सासारिक सघर्षों मे नहीं पडना चाहिए। इस प्रकार गाधी जी के आदर्शों मे विरोधाभास लक्षित होता है। गाधी-जी ने इन सज्जन को जो उत्तर दिया, उसके आवश्यक अश सकलित किये जा रहे हैं।—सम्पा०]

मुझे पता नही कि मैंने मनुष्य के सामने सन्यासी का आदर्श रखा है। मैंने तो भारतवर्ष के सामने स्वराज्य का आदर्श रखा है। हाँ, ऐसा करते हुए मैंने सादगी का उपदेश जरूर किया है। मैंने सदाचर का भी उपदेश किया है। किन्तु

सादगी, सदाचार और ऐसे गुण केवल सन्यासियो की सम्पत्ति या सौभाग्य नही है। फिर मै तनिक देर के लिए भी यह नही मानता कि सन्यासी एकान्तवासी हो, जिसे ससार की कोई चिन्ता न हो। सन्यासी तो वह है जो अपने लिए किसी बात की चिन्ता न करता हो, चौबीसो घण्टे दूसरो की चिन्ता करता हो। वह सभी स्वार्थो से मुक्त हो जाता है, पर नि स्वार्थ कामो मे लगा रहता है, जिस प्रकार ईश्वर नि स्वार्थ भाव से लगा रहता है, सोता तक नही। इसलिए सन्यासी तभी सच्चा त्यागी, विरक्त कहा जायगा, जब वह अपने लिए नही, (क्योक उसे तो वह प्राप्त ही है) वल्कि दूसरो के लिए वह स्वराज्य की चिन्ता करे। उसे अपने लिए कोई सासारिक महत्वाकाक्षा नही होती। पर इसका यह अर्थ नही कि वह दूसरो को ससार मे उनका स्थान जानने मे सहायता न दे। यदि प्राचीन काल के सन्यासी समाज के राजनीतिक जीवन मे दिमाग लडाते हुए नही देखे गये, तो उसका कारण यह है कि उस काल की समाज-रचना भिन्न प्रकार की थी। सन्यासी के नैतिक जीवन पर राज्य का प्रभाव पडा है। इसलिए समाज का सबसे बडा हितैषी होने के कारण सन्यासी का सम्बन्ध राजा-प्रजा—सम्बन्ध से हुए बिना नही रह सकता।

सन्यासी तो स्वय स्वराज्य-प्राप्त होता है, इसलिए उसका मार्ग दिखाने के लिए वही सबसे योग्य पुरुष होता है। सन्यासी ससार मे रहता है, पर वह सासारिक नही होता। जीवन के तमाम महत्त्वपूर्ण कार्यो मे उसका आचरण साधारण मनुष्यो-जैसा होता है, केवल उसकी दृष्टि भिन्न होती है। जिन बातो को हम राग के साथ करते हैं, उन्हे वह विराग के साथ करता है। हम सबो के लिए विराग प्राप्त करना ईश्वरीय प्रसाद है। निश्चय ही यह हर व्यक्ति के लिए एक उच्च आकाक्षा है।

—यं० इ०। हि० न० जी०, २१।५।१९२५]

- **सादगी, सदाचार और ऐसे गुण केवल सन्यासियो की सम्पत्ति या सौभाग्य नहीं हैं।**
- **संन्यासी ससार मे रहता है, पर वह सासारिक नहीं होता।**
- **विराग प्राप्त करना ईश्वरीय प्रसाद है। यह हर व्यक्ति के लिए एक उच्च आकांक्षा है।**

६८. धर्म की अभिवृद्धि

धर्म का पालन जितना कठिन है उतना ही सरल है। जिस प्रकार हर एक सघ (जाति) धर्म की वृद्धि कर सकता है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति भी कर सकता है।

—न० जी०। हि० न० जी०, ११।६।१९२५]

६९. अर्थ का अविरोधी-धर्म

मै ऐसा मानता हूँ कि धर्म-मात्र मे धार्मिक, राजनीतिक आदि बातो का समावेश है। जो धर्म शुद्ध अर्थ का विरोधी है, वह धर्म नही है, जो धर्म शुद्ध राजनीति का विरोधी है वह धर्म नही है। धर्म-रहित अर्थ त्याज्य है, धर्म-रहित राजसत्ता राक्षसी है। अर्थ आदि से निराली धर्म नाम की कोई वस्तु नही है। व्यक्ति अथवा समाज धर्म से जीवित रहते है और अधर्म मे नष्ट होते हैं।

—न० जी०। हि० न० जी०, १०।९।१९२५]

● धर्म-रहित अर्थ त्याज्य है, धर्म रहित राजसत्ता राक्षसी है।

७०. राम-नाम का प्रचार

एक पुराने 'जोगी' इस प्रकार लिखते हें —

"आपका कार्य राम-नाम के प्रचार बिना अपूर्ण और रूखा मालूम होता है। स्वराज्य की अपेक्षा राम-नाम पर ही अधिक जोर देना चाहिए। तुलसीदास जी की रामायण मे बालकाण्ड की आरम्भिक प्रस्तावना, कथा-भाग का पूर्व-भाग बार-बार पढने पर मुझे यह विश्वास हो गया है कि बिना जप किये मन की शुद्धि होना कठिन है। बहुत-से लोग जब प्रेम मे विभोर हो एक साथ मिलकर राम-नाम का शोर करते हैं तब जो शक्ति उत्पन्न होती है उसके सामने कोई दूसरी शक्ति ठहर नहीं सकती। अर्थशास्त्र के द्वारा खादी का प्रचार नहीं हो सकता। उससे न स्वराज्य मिल सकता है और न ऐक्य हो सकता है।

"विद्वानो को ससार मे कोई नहीं समझा सका है। भक्तों को समझा सकते हैं। आपको तो मोह हो गया है। श्रीराम और श्रीकृष्ण ने विद्वानो के साथ माथा-पच्ची नहीं की थी। विद्वान लोग तो जो घटनाएँ होती हैं, उन पर चर्चा करते हैं और उस घटना मे कौन-से कारण सहायक थे, इसका ही निर्णय करते हैं। लेकिन घटनाओ के घटित कराने मे भगवान और उनके भक्तो (गोपी और वानरो) का ही हाथ होता है। अर्जुन विद्वत्ता दिखाने चला, इसलिए उसे अनार्य, अस्वर्ग्य, अकीर्तिकर, क्लीब, क्षुद्र और दुर्बल-हृदय का कहा गया, लेकिन जब वह भक्त बना तब उसका मोह नष्ट हो गया। भगवान स्वय ही अपने भक्त हैं और ससार को भक्ति करना सिखाते हैं। आप भी अब शान्ति से एक जगह बैठें, भटकना छोड दें और जो कर्तव्य है उसे ही करें, अर्थात् राम-नाम का जप और कर्त्तव्य-कर्म की स्थापना करें।

"लिखने का दिल बहुत होता है और बहुत दिनो से हो रहा है। मेरा यह पत्र आपके पास पहुँचे या शायद न पहुँचे। आपके पास पहुँचने से पहिले वह आपके बहुत-से पार्षदो के हाथ से गुजरेगा। फिर भी इस बार यह पत्र लिखा है। इसमे दोष न निकालिएगा। इसमे से जो ग्रहण करने योग्य हो उसे ग्रहण कर लीजिएगा।"

यह पत्र दो महीने से मेरे पास पडा हुआ है। मैने सोचा था कि कुछ अवकाश मिलने पर मै उसे 'नवजीवन' के पाठको के सामने पेश करूँगा। आज वह फुर्सत मिली है अथवा यह कहे कि मैने ही उसके लिए थोडा अवकाश निकाला है।

पत्र-लेखक ने मुझे दोष न देखने की सलाह दी है। आज मै यदि उनके पत्र पर टीका कर रहा हूँ तो इसका अर्थ यह नही है कि मै उसके दोषो को ही देख रहा हू। इसका हेतु तो उस पत्र को 'नवजीवन' मे कही-न-कही स्थान देकर राम-नाम की महिमा प्रकट करना है। पत्र-लेखक महाशय और दूसरे लोग भी इस बात का यकीन रखे कि जो ग्रहण करने योग्य है, उसे मै अवश्य ही ग्रहण करता हूँ। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि राम-नाम-महिमा के सम्बन्ध मे मुझे अब कुछ नया सीखना बाकी नही है, क्योकि मुझे उसका अनुभव-ज्ञान है। और इसीलिए मेरा अभिप्राय यह है कि खादी और स्वराज्य के प्रचार की तरह राम-नाम का प्रचार नही हो सकता। इस कठिन समय मे राम-नाम का उल्टा जाप होता है। अर्थात् बहुत-से स्थानो मे केवल आडम्बर के लिए, कुछ स्थानो मे स्वार्थ के लिए और कुछ जगहो मे व्यभिचार के लिए मैने इसका जप होते देखा है। यदि केवल इसके अक्षरो का उल्टा जप हो तो इसमे मुझे कुछ नही कहना है। हमने यह पढा है कि शुद्ध हृदय लोगो ने उल्टा जप करके मुक्ति प्राप्त की है और इसे हम मान भी सकते हैं। लेकिन यदि शुद्ध उच्चारण करनेवाले पापी पाप की पुष्टि के लिए राम-नाम मन्त्र का जप करें तो इसे क्या कहेगे? इसीलिए मैं राम-नाम-प्रचार से डरता हूँ। जो लोग यह मानते हैं कि भजन-मण्डली मे बैठकर नाम की रट लगाने, शोर करने से ही भूत, भविष्य और वर्तमान के सब पाप नष्ट हो जायँगे और कुछ करना बच नही रहेगा, उन्हे तो दूर से ही नमस्कार करना चाहिए। उनका अनुकरण नही किया जा सकता। राम-नाम जपने की योग्यता प्राप्त करने के लिए मै तो पहिले खादी-प्रचार आदि की योग्यता की ही अपेक्षा रखूँगा। राम-नाम-जप से ही खादी-प्रचार के लिए वायु-मण्डल तैयार होगा, ऐसा मुझे कही भी नही दिखाई दे रहा है।

विद्वानो को ससार मे कोई भी नही समझ सका है—यह वाक्य जो राम के दास है वे किस प्रकार लिख सकते हैं? मुझे यह नही मालूम होता कि मुझको तनिक भी मोह हुआ है। विद्वान भी तो राम के ससार मे ही रहते है। बहुत-से विद्वान राम का नाम लेकर तर भी गये है। सच बात तो यह है कि विद्वानो को भक्त के अतिरिक्त

दूसरा कोई समझा नही सकता। भक्त होने की अभिलाषा रखनेवाला मै विद्वानो को समझाने का प्रयत्न भी कर रहा हूँ। मुझे मोह नही है, इसलिए जो लोग नही समझते, उन पर मुझे क्रोध नही होता, परन्तु अपनी भक्ति मे ही न्यूनता होने के कारण मुझे स्वय पर ही क्रोध होता है। मेरे हृदय मे राम सर्वदा निवास करे, इसके लिए अधिक हृदय-शुद्धि की आवश्यकता है—यह उपदेश पाने के लिए मै सदा लालायित रहता हूँ और मै अपने को सदा यही उपदेश देता रहता हूँ। यदि भक्ति मे रस न पैदा कर सके तो यह भक्त का दोष है, श्रोता का नही। रस होगा तो श्रोता उसे अवश्य ही लूटेंगे। लेकिन यदि रस ही न हो तो श्रोताओ का क्या दोष? कृष्ण की वशी फूटी होती, उससे कर्कश शब्द निकलता होता और उसे सुनकर भयभीत हो गोपियाँ भाग जाती तो उससे गोपियो की नही, कृष्ण की ही निन्दा होती। बेचारा अर्जुन यह थोडे ही जानता था कि वह पढा हुआ मूर्ख है और अपनी विद्वत्ता दिखाने मे गडबडी कर रहा है। लेकिन कृष्ण की शुद्धता ने अर्जुन को शुद्ध कर दिया और उसका मोह दूर कर दिया। इसलिए जो राम-नाम का प्रचार करना चाहता है, उसे स्वय अपने हृदय मे ही उसका प्रचार करके उसे शुद्ध कर लेना चाहिए। उस पर राम का साम्राज्य स्थापित करके उसका प्रचार करना चाहिए। तब उसे ससार भी ग्रहण करेगा और लोग भी राम-नाम का जप करने लगेंगे। लेकिन चाहे जिस स्थान पर राम-नाम का जैसा-तैसा जप कराना पाखड की वृद्धि करना और नास्तिकता के प्रवाह का वेग बढाना है।

एक जगह बैठने से मनुष्य स्थिर नही हो सकता। जिसका मन सदा करोडो योजन की यात्रा करता है और जो शरीर को बाँध कर बैठता है, उसके पास राम भी कैसे पहुँच सकेंगे। लेकिन जो दमयन्ती की तरह जगल-जगल भटकता है और पेडो, वन्य-पशुओ से भी राम-रूपी नल का समाचार पूछता रहता है, उसे भटकता कहेगे या स्थिर? यह क्यो न कहे कि जो बैठे हुए को भटकता हुआ देखता है और भटकते हुए को स्थिर देखता है, वही ठीक देखता है। कर्त्तव्य-कर्म की स्थापना कैसे की जा सकती है? यह तो कर्म करने से ही होगी। यदि ऐसा है तो मैं ससार जीत चुका हूँ, क्योकि मै जिसे न करूँगा उसे कभी न कहूँगा।

—न० जी०। हि० न० जी०, १९।११।१९२५]

- **मुझे इस (राम-नाम) का अनुभव-ज्ञान है।**
- **राम-नाम का प्रचार नहीं हो सकता।**
- **विद्वानो को भक्त के अतिरिक्त दूसरा कोई समझा नहीं सकता।**
- **यदि भक्ति मे रस न पैदा कर सके तो यह भक्त का दोष है, श्रोता का नहीं।**

- **राम-नाम का जैसा-तैसा जप करना पाखण्ड की वृद्धि करना ..है।**
- **कर्तव्य-कर्म की स्थापना कैसे की जा सकती है ? यह तो कर्म करने से ही होगी।**

७१. भूत-प्रेतादि

एक गृहस्थ ने एक लम्बा पत्र लिखकर उसका सार दिया है। उस सार का भी सार इस प्रकार है —

(१) यदि आप प्रेतादिक को मानते हों तो उनके निवारण का उपाय क्या है ?

(२) यदि आप उन्हें असत्य मानते हो तो जो दृष्टान्त मैंने दिये हैं उसका जवाब देकर आप मेरे मन का समाधान करेंगे ?

मै एक सुधरा हुआ मनुष्य हूँ। प्रेतादिक को नहीं मानता। लेकिन मेरे घर मे ही बहुत वर्षो से उसका उपद्रव हो रहा है, इसलिए आखिर थककर, सच बात क्या है, यह जानने के लिए आपको लिखा है।

फिर इस लेखक ने अपने को और अपने लोगो को हुई पीडा के कई दृष्टन्त दिये हैं, लेकिन उन्हे यहाँ प्रकाशित करने की आवश्यकता नही मालूम होती।

भूत-प्रेतादिक है या नही, इसका निर्णय मै नही दे सकता। मैं यही कह सकता हूँ कि कितने ही वर्ष हुए, वे नही हैं, यह मानकर ही मै अपना जीवन व्यतीत कर रहा हूँ। जो लोग उसकी हस्ती को नही मानते उन्हे उससे कुछ भी हानि हुई हो, यह मैंने कभी नही सुना। मैने यह भी अनुभव किया है कि जो लोग उसकी हस्ती को मानते हैं उन्हे इससे पीडा पहुँचती है, ही इसलिए 'मशा भूत और शका डाकिन' की कहावत का आदर करना ही उचित है।

लेकिन थोडी देर के लिए यही मान ले कि भूत-प्रेतादिक हैं, तो भी वे सब ईश्वर की ही माया हैं। जिस ईश्वर के कब्जे मे हम लोग है उसी ने भूत-प्रेतादि को भी उत्पन्न किया है। और एक ईश्वर को माननेवाला कभी दूसरे की आराधना न करेगा। जो ईश्वर का बन्दा बनता है वह दूसरे की गुलामी कभी नही करेगा। इसलिए जैसे मनुष्यो की तरफ से दु ख प्राप्त होने पर ईश्वरवादी के लिए राम ही रामबाण औषधि है उसी प्रकार भूतादि के सम्बन्ध मे भी है। लिखनेवाले और उसके सगे-सम्बन्धी यदि श्रद्धापूर्वक राम-नाम का जप करेंगे तो भूतादिक भाग जायगे। ससार मे करोडो मनुष्य भूत-प्रेतादिक को नही मानते और उनका वे कुछ भी नहीं कर सकते। लेखक अपना अनुभव लिखते हुए यह लिखते है कि भूतादि उनके पिताजी

को बड़ी पीड़ा देते हैं, लेकिन जब वे स्वयं पिताजी से दूर रहते हैं उस समय उन्हें कोई पीड़ा नहीं होती। उपाय भी इसी में छिपा है। उनके पिताजी भूत-प्रेतादि से डरते हैं, इसलिए उन्हें वे डराते हैं, जैसे दण्ड से डरनेवाले को ही राजा दण्ड दे सकता है, उसी प्रकार। जो दण्ड से डरता ही नहीं उसके सम्बन्ध में राजदण्ड का क्या उपयोग होगा? जो भूत से डरे ही नहीं, उसका भूत क्या करेगा?
—न० जी०। हि० न० जी०, १४।१।१९२६]

- एक ईश्वर को माननेवाला कभी दूसरे की आराधना न करेगा।
- ईश्वरवादी के लिए राम ही रामबाण औषधि है।
- जो भूत से डरे ही नहीं, भूत उसका क्या करेगा?

७२. ब्रह्मचर्य का दावा

[श्री महादेव ह० देसाई को पत्र लिखते हुए एक मित्र ने विचार व्यक्त किया कि गांधी जी की इस स्वीकारोक्ति से उनके ब्रह्मचर्य-व्रत पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है कि उन्हें अबतक स्वप्नदोष होते हैं। वह इस बात से निराश हुए हैं कि यदि गांधी-जी जैसे ब्रह्मचर्य के एकनिष्ठ साधक पूर्णत्व को प्राप्त नहीं कर सके तो उन-जैसे सामान्य साधक का क्या भविष्य होगा? गांधी जी ने उक्त सज्जन को जो उत्तर दिया, उसके आवश्यक अंश संकलित किये जा रहे हैं।—सम्पा०]

मुझसे गलती हो और यदि वह मालूम हो जाय तो उससे लोगों को हानि के बदले लाभ ही होगा। मेरा तो यह दृढ़ विश्वास है कि गलतियों के सम्बन्ध में मेरे शीघ्र स्वीकार कर लेने से जनता को लाभ ही हुआ है। मैंने अपने सम्बन्ध में तो यह अनुभव किया है कि उससे अवश्य लाभ हुआ है।

मेरे दूषित स्वप्नों के सम्बन्ध में भी यही समझना चाहिए। यदि मैं पूर्ण ब्रह्मचारी न होने पर भी, वैसा होने का दावा करूँ तो उससे ब्रह्मचर्य कलंकित होगा, सत्य का सूर्य म्लान हो जायगा। मैं ब्रह्मचर्य का मिथ्या दावा करके उसका मूल्य क्यों घटा दूं? आज तो मैं यह स्पष्ट देख सकता हूँ कि ब्रह्मचर्य-पालन के लिए मैं जो उपाय बतलाता हूँ वे सम्पूर्ण नहीं हैं। वे सब लोगों के लिए पूर्णतया सफल नहीं होते, क्योंकि मैं स्वयं पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं हूँ। यदि संसार यह माने कि मैं पूर्ण ब्रह्मचारी हूँ और मैं उसको जड़ी-बूटी न दिखा सकूँ तो कितनी बड़ी त्रुटि गिनी जायगी?

मैं सच्चा साधक हूँ, सदा जागरित रहता हूँ। मेरा प्रयत्न दृढ़ है, इतना ही पर्याप्त क्यों न माना जाय? इसी बात से दूसरों को मदद क्यों न मिले? यदि मैं

स्वय वैचारिक विकारो से दूर नही रह सकता तो दूसरो का कहना ही क्या, ऐसा गलत हिसाब करने के बदले यह सीधा हिसाब क्यो न किया जाय कि जो व्यक्ति एक समय व्यभिचारी और विकारी था वह यदि आज अपनी पत्नी के साथ भी अविकारी मित्रता रख सकता है और रम्भा-जैसी युवती के साथ भी अपनी लडकी या बहिन-जैसा भाव रखकर रह सकता है, तो हम लोग भी इतना क्यो न करेंगे ? हमारे स्वप्नदोषो को, विचार-विकारो को तो ईश्वर अवश्य दूर करेगा। यह सीधा हिसाब है।

लेखक के वे मित्र जो मेरे स्वप्नदोष की स्वीकृति के बाद पीछे हटे हैं, कभी आगे बढे ही न थे। उन्हे झूठा नशा था, वह उतर गया। ब्रह्मचर्य आदि महाव्रतो की सत्यता या सिद्धि मुझ-जैसे किसी भी व्यक्ति पर अवलम्बन नही रखती। उसके पीछे लाखो मनुष्यो ने तेजस्वी तपश्चर्या की है और कुछ लोगो ने तो पूर्ण विजय भी प्राप्त की है।

जब मुझे उन चक्रवर्तियो की पक्ति मे खडे होने का अधिकार प्राप्त होगा, तब मेरी भाषा मे आज की अपेक्षा अधिक निश्चय दीख पडेगा। जिसके विचार मे विकार नही है, जिसकी निद्रा का भग नही होता, जो निद्रित होने पर भी जागरित रह सकता है, वह नीरोग होता है। उसे कुनैन के सेवन की आवश्यकता नही होती। उसके निर्विकार रक्त मे ऐसी शुद्धि होती है कि मलेरिया आदि के कीटाणु उसे कभी दु ख नही पहुँचा सकते। मै यह स्थिति प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा हूँ। इसमे हारने की कोई बात नही है। इस प्रयत्न मे लेखक को, उनके श्रद्धाहीन मित्रो को और अन्य पाठको को मै अपना साथ देने के लिए निमन्त्रित करता हूँ और चाहता हूँ कि वे मुझसे भी अधिक तीव्र वेग से आगे बढे। जो पीछे रह गये हो, वे मुझ-जैसो के दृष्टान्त से आत्म-विश्वासी बने। मुझे जो कुछ सफलता प्राप्त हो सकी है उसे मैं निर्बल होने पर भी, विकारवश होने पर भी, प्रयत्न करने से, श्रद्धा से और ईश्वर-कृपा से प्राप्त कर सका हूँ।

इसलिए किसी के निराश होने का कोई कारण नही है। मेरा माहात्म्य मिथ्या उच्चार है। वह तो मुझे मेरी बाह्य प्रवृत्ति के, मेरे राजनीतिक कार्य के कारण प्राप्त है। वह क्षणिक है। मेरा सत्य का, हिसा का और ब्रह्मचर्यादि का आग्रह ही मेरा अविभाज्य और सबसे अधिक मूल्यवान अग है। मुझे उसमे जो कुछ ईश्वर-दत्त प्राप्त हुआ है, उसकी कोई भूल कर भी अवज्ञा न करे। उसमे मेरा सर्वस्व है। उसमे दीख पडनेवाली निष्फलता सफलता की सीढियाँ हैं। इसलिए मुझे निष्फलता भी प्रिय है।

—न० जी०। हि० न० जी०, १८।२।१९२६]

- मेरा माहात्म्य मिथ्या उच्चार है। ..वह क्षणिक है। मेरा सत्य का, अहिंसा का और ब्रह्मचर्यादि का आग्रह ही मेरा अविभाज्य और सबसे अधिक मूल्यवान अग है।. उसमे मेरा सर्वस्व है।

७३. मांसाहार : एक धर्म-संकट

[प्रश्नोत्तर]

प्रश्न—एक मुसलमान युवक है। सस्कार-बल से उसे मासाहार के प्रति बडी अरुचि है। उसने स्वाद के बिना बहुत दिनो तक मासाहार किया, परन्तु अब उसका त्याग कर दिया है। परन्तु माता, जिसका प्रेम अगाध है, उसके मास-त्याग को सहन नहीं कर सकती और उसे बडी चिन्ता होती है। माता को नाराज करने मे बड़ा पाप मालूम होता है और मास खाने से आत्मा दुखी होती है। उसे अब क्या करना चाहिए?

उत्तर—आपको जो धर्म-सकट है, उसका आप ही निर्णय कर सकते हैं। यदि आपको मासाहार का त्याग धर्म-रूप मालूम होता हो तो (आपको) दृढतापूर्वक माता के प्रेम के वश नही होना चाहिए और मासाहार-त्याग केवल एक प्रयोग हो, तो माता को दुखी करना पाप गिना जा सकता है।

—न० जी०। हि० न० जी०, ८।४।१९२६]

७४. गुरु की शोध

सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा के भाग २ के प्रथम अध्याय मे लिखे मेरे इस वाक्य के उत्तर मे कि मै अब भी गुरु की तलाश मे हूँ, कई हिन्दू, मुसलमान, ईसाई महाशयो ने मुझे बहुत लम्बे पत्र लिखे हैं और मुझे यह बताने का प्रयत्न किया है कि गुरु की प्राप्ति कैसे हो? और भी पत्र आ रहे हैं। कुछ लोगो ने तो मुझे कहाँ जाना चाहिए और किससे मिलना चाहिए, इत्यादि बाते भी लिखी हैं। कुछ लोग मुझे अमुक किताबें पढने के लिए लिखते हैं। मै इन पत्र-लेखको का, जिन्हे मेरे श्रेय के लिए इतनी चिन्ता है, बडा ही उपकार मानता हूँ। परन्तु उन्हे और दूसरे लोगो को भी यह जान लेना चाहिए कि मेरी कठिनाई तो सैद्धान्तिक है। उसका मुझे दु ख भी नही है। वह सैद्धान्तिक है, क्योकि गुरु के सम्बन्ध मे मेरा आदर्श कोई साधारण आदर्श नही है। बिना सम्पूर्णता के मुझे किसी मे भी सन्तोष न होगा। मै तो ऐसे गुरु की तलाश मे हूँ जो देहधारी होने पर भी अविकारी है; जो विकारो

से निर्लिप्त है, स्त्री-पुरुष-भाव से मुक्त है और जो सत्य और अहिंसा का पूर्ण अवतार है और इसलिए वह न किसी से डरता है और न कोई उससे ही डरता है। प्रत्येक मनुष्य को, जैसे गुरु के लिए वह प्रयत्न करता है और जिसके कि वह योग्य है, वैसा गुरु मिलता है। मुझे जैसे गुरु की चाह है वैसा गुरु प्राप्त करने की कठिनाई तो स्पष्ट ही है। परन्तु उसकी मुझे कोई चिन्ता नही है क्योकि मैंने ऊपर जो बात कही है, उसका स्वाभाविक परिणाम यही हो सकता है कि मुझे देहधारी गुरु प्राप्त करने के लिए खुद सम्पूर्ण बनने का प्रयत्न करना चाहिए। अभी तो मुझे केवल ऐसे गुरु के आदर्श की ही चिन्ता करनी चाहिए। सत्य के लिए सतत और नम्र प्रयत्न करने मे ही मुझे मेरी सफलता दिखाई देती है। मैं अपना मार्ग जानता हूँ। वह मार्ग सीधा और सँकरा है। वह तलवार की धार के समान है। मुझे उस पर चलने मे आनन्द मिलता है। मैं कभी यदि उस पर से फिसल जाता हूँ तो रोता हूँ। जो प्रयत्न करता है उसका कभी नाश नही होता, इस वचन पर मुझे अटल श्रद्धा है। इसलिए अपनी दुर्बलता के कारण मै चाहे हजार बार असफल क्यो न होऊँ, मैं अपनी इस श्रद्धा का त्याग न करूँगा। परन्तु मै यही आशा करूँगा कि जब मेरी देह का सम्पूर्ण दमन होगा, जैसा कि एक दिन उसे होना ही चाहिए, तब मुझे प्रकाश के दर्शन होगे। क्या अब मेरे कृपालु पत्र-लेखक महाशय मेरी स्थिति को समझ जायँगे और मेरी कुछ भी चिन्ता न करेंगे, परन्तु उसे ढूँढने मे तबतक मेरा साथ देंगे जबतक कि उन्हे यह सन्तोष न हो कि वह प्राप्त हो गया?

—हि० न० जी०, १७।६।१९२६]

- **गुरु के सम्बन्ध मे मेरा आदर्श कोई साधारण आदर्श नहीं है। बिना सम्पूर्णता के मुझे किसी से भी सन्तोष न होगा।**
- **जो प्रयत्न करता है उसका कभी नाश नहीं होता, इस वचन पर मुझे अटल श्रद्धा है।**

७५. सहवर्ती धर्मों का अध्ययन

[कई पत्र-प्रेषको ने गांधी जी से प्रश्न किया था कि वह गुजरात विद्यापीठ मे विद्यार्थियों को बाइबिल पढ़ाकर क्या उन्हें प्रकारान्तर से ईसाई हो जाने की ओर आकृष्ट नहीं कर रहे हैं? इसका उत्तर गाधी जी ने 'बाइबिल पढ़ने का गुनाह' शीर्षक लेख मे दिया। इसके आवश्यक अश यहाँ दिये जाते हैं।—सम्पा०]

मेरा विश्वास है कि प्रत्येक सुशिक्षित स्त्री-पुरुष का यह कर्त्तव्य है सारे ससार के धर्म-ग्रन्थो को सहानुभूति के साथ पढ डाले। यदि हम दूसरो के धर्मों

का उतना ही आदर करना चाहते हैं, जितना कि हम कहते हैं कि वे हमारे धर्म का करें, तो संसार के सभी मतो का प्रेम भाव से अध्ययन कर लेना एक पवित्र कर्त्तव्य हो जाता है। हमको इस बात से तनिक भी डरने की जरूरत नही है कि दूसरे धर्म हमारे सयाने बालको पर अपना प्रभाव डाल देंगे।

संसार मे जो कुछ स्वच्छ है, उसका अध्ययन भेदभाव बिना करने के लिए बालको को उत्साहित करके हम जीवन के प्रति उनके भावो को उदार बनाते है। हाँ, भय का अवसर तब है, जब वे (धर्म-शिक्षक) नवयुवको को अपने ही धर्म की पुस्तके गुप्त या प्रकट रूप से अपने धर्म मे मिला लेने की नीयत से सुनाये। ऐसी स्थिति मे उनके हृदय मे अपने धर्म के लिए पक्षपात अवश्य होगा। मेरी बात तो यह है कि मै बाइबिल, कुरान या किसी दूसरे धर्म-ग्रन्थ का अध्ययन करना या उसके प्रति श्रद्धा रखना अपने पक्के सनातनी हिन्दू होने के साथ संगत मानता हूँ।

जो मनुष्य संकुचित विचारोवाला तथा धर्मान्ध है और जो किसी बुरी बात को केवल इसलिए अच्छी ठहराता है कि वह प्राचीन काल से चली आ रही है या उसका समर्थन किसी संस्कृत पुस्तक मे किया गया है, वह कदापि सनातनी हिन्दू नही है। मैं पक्का सनातनी हिन्दू होने का दावा इसलिए करता हूँ कि यद्यपि मै उन बातो को, जो मेरी नैतिक भावना के प्रतिकूल होती है, नही मानता, तथापि मुझे हिन्दू धर्म-ग्रन्थो मे आत्मा की प्रत्येक आवश्यकता पूरी करने का सामान मिल जाता है। मैंने दूसरे धर्मों का आदरपूर्वक अध्ययन कर लिया है, इसका अर्थ यह नही कि हिन्दू-धर्मग्रन्थो के प्रति मेरी श्रद्धा कम हो गई है या विश्वास घट गया है। अवश्य ही, मेरे हिन्दू धर्मग्रन्थो के समझने मे उनका बडा हाथ है। उन्होने जीवन के प्रति मेरी दृष्टि व्यापक बना दी है। उनकी सहायता से मै हिन्दू धर्म-ग्रन्थो के गूढ अंश को कही-कही अधिक अच्छी तरह समझ सका हूँ।

मेरे गुप्त रूप से ईसाई होने का आरोप कुछ नया नही है। वह अपकीर्ति के रूप मे है और अभिवादन के रूप मे भी। अपकीर्ति इसलिए कि कुछ लोग ऐसे हैं, जो समझते है कि मै गुप्त रूप से कुछ भी हो सकता हूँ, यानी वह हो सकता हूँ, जिसे प्रकट रूप से होने मे मैं डरता हूँ। जिस क्षण ईसाई या अन्य किसी धर्म की सत्यता मेरी समझ मे आ जाय, मुझे जिस धर्म की आवश्यकता प्रतीत हो जाय, उसी क्षण उसको अंगीकार करने मे बाधा डाल सकनेवाली कोई भी वस्तु संसार मे नही है। यह अभिवादन-सूचक इसलिए है कि मेरी ईसाई मत की खूबियो को समझने की क्षमता को लोग (अनिच्छा से ही) स्वीकार करते है। हाँ, एक बात मै स्वीकार करता हूँ। यदि मै बाइबिल या कुरान को अपने मन के अनुसार समझकर स्वयं को ईसाई या मुसलमान कह सकता हूँ तो मुझे इसमे तनिक भी संकोच न होगा क्योंकि

उस स्थिति मे हिन्दू, ईसाई और मुसलमान शब्द पर्याय हो जायगे। मेरा यह विश्वास तो है ही कि परलोक मे कोई हिन्दू, ईसाई या मुसलमान नही है; वहाँ सब लोग अपने कृत्यो से ही जाँचे जाते है, पेशो या नाम से नही। जबतक हम इस ससार मे रहते है, तबतक हमारे नाम आदि अवश्य रहेगे। इसलिए मुझे यह पसन्द है कि जहाँतक मेरे पूर्वजो का मत मेरी उन्नति को नही रोकता और जहाँतक वह मुझे अन्यत्र से अच्छी चीजे अगीभूत करने मे रुकावट नही डालता, वहाँतक मैं अपने पूर्वजो का ही धर्म मानता रहूँ।.....

—य० इ०। हि० न० जी०, २।९।१९२६]

- **ससार के सभी मतों का प्रेम-भाव से अध्ययन कर लेना एक पवित्र कर्त्तव्य हो जाता है।**
- **मुझे हिन्दू धर्मग्रन्थो मे आत्मा की प्रत्येक आवश्यकता पूरी करने का सामान मिल जाता है।**
- **परलोक में कोई हिन्दू, ईसाई या मुसलमान नहीं है।**
- **वहाँ (परलोक मे) सब लोग अपने कृत्यो से ही जाँचे जाते हैं, पेशों या नाम से नहीं।**

७६. प्रभु की साक्षी

मैं छाती पर हाथ रख कर कह सकता हूँ कि मैं भगवान को एक मिनट के लिए नही भूलता। गत बीस वर्षो से मैंने सभी काम उसी प्रकार किये हैं जैसे मेरे समक्ष साक्षात् ईश्वर खडे हो।.....चूंकि परमात्मा मे मेरा विश्वास है, एक क्षण के लिए भी उसमे मेरी श्रद्धा कम नही होती; मेरे लिए वह जो दु ख या सुख लिखता है, उसी मे सन्तोष मानता हूँ, इसलिए मैं विवश भले हुआ होऊँ, किन्तु निराश नही होता।

—य० ई०। हि० न० जी०, १०।२।१९२७]

७७. मेरा धर्म

मैं एक अपूर्ण मनुष्य हूँ। समग्र सर्वशक्तिमान तो केवल ईश्वर है। . भगवान श्रीकृष्ण की गीता के उपदेशानुसार चलने का प्रयत्न करनेवाला मैं एक अल्प मनुष्य हूँ। मैं समझता हूँ कि मेरा अपना धर्म थोडे-से-थोडे मे क्या है —

श्रेयान्स्वधर्मो विगुण. परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधन श्रेय· परधर्मो भयावह ॥१॥

दूसरा धर्म चाहे जितना अच्छा लगता हो, पर मेरे लिए मेरा मर्यादित धर्म ही श्रेष्ठ है, दूसरा भयावह है।
—न० जी० । हि० न० जी०, ३।३।१९२७]

७८. प्रार्थना की विधि

[वगलौर मे किये गये प्रवचन का अश।—सम्पा०]

आप चाहे किसी धर्म के अनुयायी हो, यहाँ आकर प्रार्थना मे सम्मिलित हो सकते है। पर इसके लिए एक-दो शर्तें है। पहिली शर्त यह कि आपको ऐसी वृत्ति, ऐसा हृदय और ऐसी मनोदशा लेकर यहाँ आना चाहिए जो प्रार्थनामय हो, प्रार्थना के योग्य हो। प्रत्येक हिन्दू, मुसलमान, ईसाई या अन्य किसी भी धर्म का अनुयायी प्रार्थना मे शामिल हो सकता है। गीता के श्लोक बोलने के बाद 'रघुपति राघव राजाराम, पतित पावन सीताराम' कहते है। इसमे भी वे सब शामिल हो सकते है जिनकी आवाज़ अच्छी है, ताकि हमारी प्रार्थना मे शक्ति उत्पन्न हो और वह परमात्मा के कानो तक—अगर हमारी प्रार्थनाओ को सुननेवाला परमात्मा कही हो—तो पहुँच सके। एक शर्त और है। क्या आप जानते है कि पतित-पावन सीताराम का अर्थ क्या है ? इन शब्दो-द्वारा हम उस परमात्मा को याद करते है, जो पतित और दलित का उद्धार करता है।

यह ऐसी प्रार्थना है, जिसमे हिन्दू, मुसलमान ईसाई आदि सब शामिल हो सकते हैं, क्योकि यह किसी राजा की नही, राजाधिराज की, देवाधिदेव की प्रार्थना है, जिसकी हम सब पूजा करते है।
—ह० से०, २३।६।१९२७]

७९. राम-नाम

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

और राम-नाम ! अगर वह तुम्हारे लिए जीवित सत्य बन गया है, तो बेशक बडी बात हुई।
—१२।९।१९२७। बापू के पत्र . मीरा के नाम, न० जी० प्र० म०]

८०. धर्म का आदेश

धर्म तो यह कहता है कि जबतक मनुष्य अपने मैल को जमा करता है तबतक वह अपवित्र है, ईश्वर के पास खडा होने लायक नही है। इसलिए तुम्हारा पहिला काम तो यह है कि जिसमे मैल हो, वह उसे प्रकट करके धो डाले।

— २६।९।१९२७। क्वार सुदी १ सम्वत् १९८३। बापू के पत्र : आश्रम की बहिनों को, न० जी० प्र० मं०]

८१. धर्मग्रन्थ पढ़ने की शर्तें

धार्मिक अध्ययन के लिए हिन्दू-धर्म मे कुछ खास शर्ते रखी गई हैं। वे सभी धर्मों पर लागू है। जो मनुष्य धार्मिक अध्ययन करना चाहता था, उसे इन शर्तो के अनुसार पाँच यमो का पहिले पालन करना पडता था। वे पाँच यम हैं आत्मसयम के पाँच नियम। पहला यम है ब्रह्मचर्य, दूसरा है सत्य, तीसरा है अहिसा यानी बिल्कुल निर्दोषता, एक चीटी को भी कष्ट नही पहुँचाना, चौथा है अस्तेय या चोरी न करना, पर इसका अर्थ केवल सासारिक अर्थ मे चोरी से बचना मात्र नही है बल्कि वह है दूसरे की चीजो पर लालच की नजर भी नही डालना। और पाँचवाँ है अपरिग्रह। जो आदमी सासारिक धन-दौलत की आकाक्षा रखता है वह कभी बुद्ध भगवान की शिक्षाएँ समझने के योग्य नही हो सकता। जबतक आप खुद इन यमो का पालन करके उनकी शिक्षा को समझने का प्रयत्न नही करते उसे नही समझ पायेंगे।

. . हिन्दू धर्म के आलोचको ने क्या उसकी मिट्टी कम पलीद की है? ईसाई धर्म का कितने ही हिन्दुओ ने बहुत-सा गलत अर्थ नही लगाया? हिन्दुओ ने ही क्यो, अग्रेजो ने ही क्या नास्तिकता के जोश मे बाइबिल का उल्टा अर्थ लगाकर बहुत खराबी नही की है? इसलिए मैं चाहता हूँ कि आप धर्म का अध्ययन करके ससार के आगे नया जीवन्त धर्म रखिए, न कि वही पुराना धर्म, जिसे ससार स्वीकार करने को तैयार नही है।

—हि० न० जी०, १५।१२।१९२७]

८२. जीवन-कण

[गाधी जी के अंग्रेजी, और गुजराती लेखो और भाषणो मे से चुने हुए उद्गारो के कुछ सारानुवाद।—सम्पा०]

वसुधैव कुटुम्बकम्

मै चाहता हूँ कि सिर्फ हिन्दुस्तान के ही नही वल्कि मारे दुनिया के भिन्न-भिन्न धर्मो के माननेवाले पारस्परिक सम्पर्क से अच्छे वने और जव यह हो जायगा तव दुनिया आज से कही अच्छी, रहने योग्य जगह, वन जायगी। मै अत्यन्त उदार, सहिष्णुता का आचार चाहता हूँ और इसके लिए काम कर रहा हूँ कि मेरे स्वप्न के आदर्श भारत मे केवल एक ही धर्म नही रहेगा, यानी वह सम्पूर्णत हिन्दू, ईसाई या मुसलमान नही वन जायगा वल्कि मै तो चाहता हूँ कि वह सम्पूर्णत उदार और सहिष्णु वने, और ये धर्म साथ चले।

गीता और वाइविल

मुझे वाइविल मे 'गिरि-शिखर प्रवचन' पढने पर उसमे कोई नई वात नही मालूम हुई थी। मैने वचपन मे जो सीखा था वही उसमे साफ-साफ कहा गया था—उपकारी के प्रति उपकार करने मे, पानी पिलानेवाले को पानी पिलाने मे कोई खास खूवी नही है। परन्तु पुण्य तो है अपकारी का उपकार करने मे, अपना वुरा चेतनेवाले का भला चेतने मे। मैं तो वाइविल मे गिरि-शिखर के इन उपदेशो और गीता मे कोई फर्क नही देखता। गिरि-शिखर-प्रवचन मे जो कुछ सुन्दर भाषा मे कहा गया है, वही वात शास्त्रीय या वैज्ञानिक सिद्धान्त के रूप मे गीता मे प्रतिपादित हुई है। वैज्ञानिक रीति के आज के सर्वमान्य अर्थ मे गीता भले ही वैज्ञानिक ग्रन्थ न हो, लेकिन उसमे प्रेम के नियम का, त्याग के नियम का वैज्ञानिक रीति से विवेचन किया गया है। वही वात आश्चर्यजनक भाषा मे गिरि-शिखर-प्रवचन मे कही गई है। आज यदि मान लें कि मेरे पास से गीता छीन ली जाय और मै उसे सारी-की-सारी भूल जाऊँ, परन्तु मेरे पास गिरि-शिखर-प्रवचन की एक प्रति रहे, तो मुझे उससे वही सान्त्वना मिलेगी जो गीता से मिल सकती थी। आप जानते होगे कि मेरी आदत है कि मैं हर एक वस्तु की सुन्दरता ही देखना चाहता हूँ, कदर्यता नही। इसलिए मै किसी धर्म के किसी महान् ग्रन्थ से सान्त्वना पा सकता हूँ। शायद मैं गीता का एक भी श्लोक, गिरि-शिखर-प्रवचन का एक भी वाक्य न दुहरा सकूँ और हिन्दू या ईसाई लडको को गीता और वाइविल मेरी अपेक्षा अधिक अच्छी तरह याद हो, मगर इस कारण श्री गीता जी के और गिरि-शिखर पर उपदेश के अध्ययन और मनन से मैने जो सीखा है, वह मुझसे कोई नही छीन सकता।

वकालत का पेशा

आपने यह सवाल पूछकर वहुत अच्छा किया कि वकालत को कैसे धार्मिक वनाया जा सकता है? अगर मैं इस सवाल पर भी प्रामाणिकता से न वोल सकूँ

तो और किस पर बोलूंगा ? अपनी सारी वकालत के दौरान मैं एक बार भी सत्य और ईमानदारी के सीधे और सँकरे रास्ते से अलग नही गया। अब अगर आप कानून या वकालत के पेशे को धार्मिक बनाना चाहते है तो आपके लिए यह आवश्यक है कि आप अपने इस पेशे को धन बटोरने का नही, बल्कि देश-सेवा का एक साधन मानिए। सभी देशो मे ऐसे बहुत ही योग्य वकीलो के उदाहरण मिलेगे जिन्होने बहुत बडे स्वार्थ-त्याग का जीवन बिताया, अपने कानून-ज्ञान को देश-सेवा मे लगाया यद्यपि इससे उनके पल्ले गरीबी ही गरीबी पडी। दूसरे देशो मे क्यो जायँ, अपने हिन्दुस्तान मे ही स्वर्गीय श्रीयुत् मनमोहन घोष का उदाहरण है। उन्होने अपने मुवक्किलो के लिए निलहे गोरो से लोहा लिया और इसमे मेहनत की। उनका स्वास्थ्य खराब हुआ सो हुआ, मगर उनकी जान का भी खतरा था। और इस पर भी उन्होने फीस मे एक फूटी कौडी न ली। ऐसे ही उदाहरण आपको अपने सामने रखने चाहिए। रस्किन ने कहा है—'कोई वकील क्यो दो-दो सौ रुपये अपना मेहनताना लेगा जब कि बढई को उतने पैसे भी नही मिलते ?' वकीलो की फीस उनके काम के हिसाब से नही होती। मैंने भी बडी-बडी फीसे ली है। मगर इतना तो कहना ही चाहिए कि वकालत करते समय भी उसके कारण मेरा कोई सार्वजनिक काम नही रुका।

मगर एक बात और है। दक्षिण अफ्रिका मे, इगलैण्ड मे, बल्कि सभी जगह, मैंने देखा कि चाहे जानबूझ कर या अनजाने वकीलो को अपने मुवक्किलो की खातिर झूठ बोलना पडता है। एक प्रसिद्ध अग्रेज वकील ने तो यहाँ तक लिख मारा है कि अपने मुवक्किल को अपराधी जान कर भी उसका बचाव करना वकील का धर्म है, कर्त्तव्य है। मेरा मत दूसरा है। वकील का काम यह है कि वह हमेशा जजो के आगे सच्ची बातें रख दे, सच की तह मे पहुँचने मे मदद करे। मगर अपराधी को निर्दोष साबित करना उसका काम कभी नही है। अगर आप अपने कर्त्तव्यो मे चूके तो दूसरे पेशो का क्या हाल होगा ? तुम नवयुवको का दावा है कि कल देश के कर्त्ता-धर्त्ता हमी होगे। अब तुम्हे तो देश का सार पदार्थ, देश का रत्न होना चाहिए। लेकिन अगर रत्नो की ही चमक जाती रहे, तो फिर उन्हे कौन चमकायेगा ?

—हि० न० जी० २९।१२।१९२७]

८३. धर्म का रहस्य और धर्म-परिवर्तन

[१२ जनवरी से १९ जनवरी १९२८ के बीच आश्रम मे 'इण्टरनेशनल फेलोशिप के सभ्यों ने अपना वार्षिकोत्सव मनाया। उनके बीच दिये गये गाधी जी के भाषण के कुछ अंश ये हैं।—सम्पा०]

अगर इस सघ को सफल बनना है तो इसके सदस्यो का प्रत्येक कार्य धार्मिक और त्यागपूर्ण होना चाहिए। मै इस निष्कर्ष पर बहुत दिनो पहिले ही, पर्याप्त विचार, मनन और जितने लोगो से मिला सब के साथ बाते करके, पहुँच गया था कि सभी धर्म सच्चे है, साथ ही सभी मे कुछ-न-कुछ दोष या त्रुटियाँ अवश्य है। मुझे अपने धर्म पर दृढ रहते हुए भी अन्य धर्मो को हिन्दू धर्म-जैसा ही प्रिय मानना चाहिए। अगर हम हिन्दू है तो हमे यह प्रार्थना नही करनी चाहिए कि कोई ईसाई हिन्दू हो जाय। अगर हम मुसलमान है तो हमे यह दुआ नही करनी चाहिए कि हिन्दू लोग मुसलमान हो जाय। हमे तो एकान्त मे भी यह प्रार्थना नही करनी चाहिए कि किसी का धर्म-परिवर्तन हो, बल्कि हमारी आन्तरिक प्रार्थना यह होनी चाहिए कि जो हिन्दू है वह और अच्छा, और सच्चा हिन्दू बने, जो ईसाई है वह और सच्चा ईसाई बने, जो जिस धर्म मे है वह उसी धर्म का और भी अच्छा अनुयायी बने। बन्धुता का यही मूल मन्त्र है। अगर आपके मन मे यह शका हो कि केवल एक ही धर्म सच्चा हो सकता है और दूसरे सब झूठे ही होगे तो आपको मेरे बतलाये बन्धुता के आदर्श का त्याग करना पडेगा। तब तो हमे निरन्तर एक दूसरे को छाँटते ही जाना पडेगा, हमारी बन्धुता की नीव परस्पर बहिष्कार पर रखी जायगी। इसका अर्थ यह नही कि हर बुरे मनवाले को आप अपने पास बुलाया करें या झूठे धर्म को सहन करें। मै सच्चा धर्म उसे कहता हूँ, जिसकी समस्त शक्तियो का सारा प्रभाव उसके अनुयायियो के लिए हितकर हो। और झूठा धर्म वह है जिसमे अधिकाश झूठ-ही-झूठ भरा हो। इसलिए अगर आपको यह लगे कि कुल मिलाकर हिन्दू धर्म से हिन्दुओ का और ससार का अहित ही हुआ है तो आपको उसे झूठा धर्म मानकर अवश्य ही छोडना पडेगा।

[गाधी जी ने इस बात पर जोर दिया कि सघ का कोई सदस्य धर्मान्तर की प्रवृत्ति न रखे। इस पर वाद-विवाद छिड़ गया। तब गाधी जी ने अपनी स्थिति और स्पष्ट करते हुए निम्नलिखित विचार व्यक्त किये।]

मै केवल दूसरे का धर्म-परिवर्तन न करने की कोशिश ही न करूँगा, बल्कि गुप्त रूप से भी यह नही कहूँगा कि वह अपना धर्म छोडकर मेरा धर्म स्वीकार करे। मेरी परमात्मा से सदैव यही प्रार्थना रहेगी कि इमाम साहब अच्छे मुसलमान बनें या श्रेष्ठतम मनुष्य बनें। अहिसा के सन्देश से परिपूर्ण हिन्दू धर्म मेरी दृष्टि मे सबसे सुन्दर, सबसे बडा, सबसे महिमामय धर्म है, जैसे मेरी दृष्टि मे मेरी धर्मपत्नी सबसे सुन्दर रमणी है। पर दूसरो को भी अपने धर्म के विषय मे यही गर्व हो सकता है। वास्तविक धर्म-परिवर्तन के भी उदाहरण मिलने सम्भव हैं। अगर कुछ लोग अपने आन्तरिक सन्तोष और विकास के लिए धर्म-परिवर्तन करना चाहे, तो वे भले

ही करे। मुझे जगलियो और आदिम निवासियो के पास अपने धर्म का सन्देश पहुँचाने का शौक नही है। धर्म-परिवर्तन और सेवा, दोनो, का साथ भली प्रकार नही निभता।

[दूसरे दिन वड़े तड़के सघ के सदस्य गांधी जी से मिले। इस दौरान धर्म के सम्बन्ध मे कुछ प्रश्नोत्तर हुए, जिनके आवश्यक अश सकलित किये जा रहे हैं। --सम्पा०]

प्रश्न—क्या धर्म-प्रचार की इच्छा परमात्मा की प्रेरणा नहीं है?

उत्तर—मुझे इसमे शका है। कुछ हिन्दुओ का विश्वास है कि सभी इच्छाएँ परमात्मा की ही प्रेरणा होती हैं, परन्तु उन्होने हमे भले-वुरे को समझने की शक्ति, उसका विवेक भी तो दिया है। भगवान कहेगे कि मैंने तुम्हे वहुत-सी प्राकृतिक स्फुरणाएँ दी है, ताकि प्रलोभन का सामना करने की तुम्हारी शक्ति की परीक्षा हो जाय।

प्रश्न—मगर आप आर्थिक सगठन के बारे मे उपदेश देने को अवश्य ही अच्छा समझते होगे।

उत्तर—हाँ, उसी प्रकार जिस प्रकार मै स्वास्थ्य के नियमो को वतलाना अच्छा समझता हूँ।

प्रश्न—तब यही नियम धार्मिक मामलो मे भी क्यो न काम मे लाया जाय?

उत्तर—यह सवाल ठीक है। मगर आप यह न भूले कि यह चर्चा इस सिद्धान्त को मान कर की गई है कि सभी धर्म सच्चे हैं। अगर भिन्न-भिन्न समाजो के लिए अलग-अलग परन्तु स्वास्थ्य के सच्चे नियम प्रचलित होते तो मैं कुछ को सही और कुछ को गलत कहने मे हिचकता।

फिर, आध्यात्मिक विषयो मे सस्कारिक या भौतिक दृष्टान्त भी बहुत दूर तक काम मे नही लाये जा सकते। जब आप बाह्य प्रकृति से कोई दृष्टान्त चुनते हैं, तब उसका उपयोग भी किसी विशेष सीमा तक ही हो सकता है। मै एक प्रकृति-सम्बन्धी उदाहरण देकर अपनी बात समझाने की कोशिश करूँगा। अगर मैं आपको गुलाब का एक फूल दूँ तो उसके लिए मुझे अपना हाथ हिलाना ही पडेगा, लेकिन उसकी सुगन्ध देने के लिए मुझे कुछ नही करना पडेगा। वह स्वय ही आपके पास पहुँच जाती है। हम एक कदम और आगे बढें तब समझ सकेंगे कि आध्यात्मिक अनुभवो का असर स्वय ही होने लगता है। इसलिए स्वच्छता आदि नियम सिखलाने का दृष्टान्त यहाँ काम नही देगा। अगर हमे अध्यात्मज्ञान है तो वह स्वय ही दूसरो तक पहुँच जायगा। आप आध्यात्मिक अनुभवो के परमानन्द की वात करते हैं और कहते हैं कि उसमे दूसरो को भी हिस्सा दिये विना नही रह सकते। अगर यह सच्चा

आनन्द है, परमानन्द है तो स्वय ही, बोले विना, फैल जायगा। आध्यात्मिक विपयो मे हमे सिर्फ रास्ते से तनिक-सा हट जाना पडता है। हम रास्ता नही रोकते। परमात्मा को अपना काम करने दीजिए। अगर हम बीच मे हस्तक्षेप करते हैं, तो उससे हानि भी हो सकती है। परमात्मा का प्रभाव स्वय होता है। पाप के अपना पैर नही होता, पर पुण्य के होता है। पाप तो नास्ति मात्र है। उसे पहिले पुण्य का वेश मिलना चाहिए, तब कही वह आगे बढ सकता है।

प्रश्न—खुद ईसा ने क्या लोगो को सिखलाया नहीं था, उपदेश नहीं दिया था?

उत्तर—यहाँ बहुत बडी सावधानी चाहिए। आप चाहते है कि मैं बतलाऊँ कि ईसा के जीवन का मै क्या स्वरूप समझता हूँ। खैर, मै इतना तो कहूँगा कि बाइबिल के हर शब्द को मै ऐतिहासिक सत्य नही मानता, यह नही मानता कि उसमे लिखी एक-एक बात किसी समय अवश्य घटी होगी, फिर यह भी याद रखना चाहिए कि वे अपने देशबन्धुओ के बीच काम कर रहे थे। वे नाश करने नही, पूरा करने आये थे।

—य० इ०। हि० न० जी०, २६।१।१९२८]

- सभी धर्म सच्चे हैं, साथ ही सभी मे कुछ-न-कुछ दोष या त्रुटियाँ अवश्य हैं।
- अहिंसा के सन्देश से परिपूर्ण हिन्दू धर्म मेरी दृष्टि मे सबसे सुन्दर, सबसे बडा, सबसे महिमामय धर्म है।
- धर्म-परिवर्तन और सेवा, दोनो, का साथ भली प्रकार नहीं निभता।
- आध्यात्मिक अनुभवों का असर स्वय ही होने लगता है।
- पाप के . .पैर नहीं होता पुण्य के होता है।
- पाप तो नास्ति मात्र है।
- बाइबिल के हर शब्द को मै ऐतिहासिक सत्य नहीं मानता।

८४. धर्म-परिवर्तन या आत्म-परिवर्तन

[श्री आयरलैण्ड नामक कैम्ब्रिज मिशन के पादरी कुछ दिन पहिले आश्रम मे आये थे। आश्रम मे अन्तर्राष्ट्रीय बन्धुत्व सघ की बैठक हुई तो उन्होने य० इ० में उसके विवरण पढ़े। गाधी जी के धर्म-परिवर्तन-सम्बन्धी विचारो पर उन्होने अनेक शकाएँ प्रस्तुत करते हुए एक लम्बा पत्र लिखा। उस पत्र का साराश और गाधी जी का उत्तर यहाँ सकलित किया जा रहा है।—सम्पा०]

१. "सभी धर्म सच्चे हैं और सभी धर्मों मे सत्य है, इन दो बातों में अन्तर है। सत्य सभी धर्मों मे होता है सही, मगर क्या वहम और भूत-प्रेत की पूजा के आधार पर बने धर्म और हिन्दू, मुसलमान तथा ईसाई धर्म-जैसे महाधर्म, सभी अच्छे हैं? मुझे तो लगता है कि धर्म की बात अलग कर दें तब भी वनवासी जनता के हित के लिए हम उन्हें उनकी वर्तमान स्थिति मे नहीं छोड़ सकते।

२. "इसलिए सच्ची बात तो यह है कि सभी धर्मों मे सत्य है और उसके साथ असत्य भी मिला हुआ है। हममें से हर एक को प्रभु के बतलाये रास्ते पर, असत्य को अलग कर सत्य के मार्ग पर चलने का प्रयत्न करना चाहिए। और अगर हम ऐसा कर सकें तो दूसरों को भी ऐसा करने का अधिकार होना चाहिए।

३. "आपने गुलाब के फूल का जो सुन्दर दृष्टान्त दिया है, वह मुझे बहुत पसन्द है। जिस तरह गुलाब की सुगन्ध अपने-आप ही फैलती है, उसी तरह हर आदमी की धार्मिकता की सुवास अपने-आप ही फैलनी चाहिए। मगर इससे क्या यह सच साबित होता है कि किसी दूसरे तरीके से हम अपनी सुवास नहीं फैला सकते?

४. "ईसाई धर्म का अर्थ आज कुछ खास प्रथाएँ और मान्यताएँ हो गया है। और ईसाई बनाना भी तबलीग या शुद्धि-जैसी चीज माना जाता है। किन्तु अगर किसी आदमी को ईसा की जीवन-लीला में सत्य और प्रेम का ऐसा दर्शन हो जैसा दूसरी किसी जगह न हो, और उस दर्शन के कारण वह ईसा का बन्दा बन जाय तो वह क्या उसे प्रकट किये बिना रह सकता है या उसका लाभ लूटने के लिए दूसरो को भी निमन्त्रण दिये बिना रह सकता है?

५. "ईसा की शरणागति स्वीकार करने से कुटुम्ब और परिजन से अलग होना ही पड़ता है और यह सब को अत्यन्त दु:खद लगता है। किन्तु इस दुःख के कारण मुख्यतः वे कुटुम्बीजन ही होते हैं।

"ईसा तो सब की भवपीर हरने की, हमारा भार उठाने और अपने पन्थ पर चलने की पुकार करते हैं। आप जिस तरह यह हो सके, करें। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम अपना संघ बढ़ाने, अपने अधिकारो को बढाने के प्रयत्न करें। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि हम अपने आसपास अपनी सुवास फैलायें। यह तो आप जानते ही हैं, और हम भी जानते हैं कि ऐसा करने मे हमे कितनी कम सफलता मिली है। किन्तु इसमें शका नहीं कि ईसा हमसे इसी प्रकार का धर्म-प्रचार चाहते हैं।"

मैंने बन्धुत्वप्रचारको की परिषद् मे स्पष्ट किया ही था कि मैं जगत् के मुख्य धर्मों की बात करता हूँ। और मेरे कहने का अर्थ यह था कि ये सभी मुख्य धर्म थोड़े-बहुत सच्चे हैं किन्तु अपूर्ण तो सभी हैं। इसलिए इस बात मे और मि०

आयरलैण्ड के कथन मे कोई भेद नही है। किन्तु मि० आयरलैण्ड के पत्र से यह छाप पडती है कि धर्म-परिवर्तन के बारे मे उनके और मेरे विचारो मे तात्विक भेद है। यो तो रूपक मात्र सदोष होते है किन्तु हम गुलाब की सुवास के रूपक को जरा और आगे ले चले। गुलाब अपनी सुवास अनेक तरह से नही, एक ही तरह से फैलाता है। जिसे नाक ही न हो, उसे यह सुगन्ध मिलने से रही। यह सुवास जीभ, कान, त्वचा से तो नही ली जा सकती। इसके लिए केवल घ्राणेन्द्रिय चाहिए। आध्यात्मिकता की सुवास भी आध्यात्मिक इन्द्रिय के द्वारा ही ली जा सकती है। इसलिए सभी धर्मों ने इस इन्द्रिय को जागरित करने की आवश्यकता स्वीकार की है। यह जागृति एक तरह का पुनर्जन्म है। अतिशय आध्यात्मिकता-वाला ऐसे आदमी के भी हृदय को बिना हिले-डुले, बिना एक शब्द भी कहे, इशारा किये या कुछ भी किये स्पर्श कर सकता है, जिसे न उसने कभी देखा हो, और जिसने भी उसे कभी न देखा हो, जब कि आध्यात्मिकतारहित किन्तु अत्यन्त वाक्‌पटु प्रचारक उसके हृदय को स्पर्श नही कर सकेगा। इसलिए मेरी नम्र मान्यता है कि आजकल के बहुत से मिशनो का प्रयत्न व्यर्थ है, बल्कि अनेक बार तो हानिकारक भी होता है।

इसके अलावा इन मिशनो के मूल मे एक दूसरी वस्तु भी गृहीत होती है। वह यह कि मेरी मान्यता महज मेरे ही लिए नही बल्कि सारे संसार के लिए सच्ची है। जब कि सच्ची बात यह है कि परमात्मा हजारो-लाखो अदृश्य और अज्ञात कलाओ से हमारे पास आया करता है। इसलिए मिशनरियो के प्रयत्न मे सच्ची नम्रता, सच्चा विनय नही होता। सच्चा विनय उसे कहते है, जिसमे मानव-मर्यादाए सहज ही स्वीकार की जायँ और ईश्वर की अमर्याद शक्ति का भान हो। मुझे यह ख्याल कभी नही होता कि मै जगली कहे जानेवाले लोगो से आध्यात्मिकता मे अवश्य ही बढा-चढा हूँ। और ऐसा विचार खतरनाक भी होता है। आध्यात्मिक-कता इन्द्रियग्राह्य, पृथक्करणीय और सिद्ध की जाने योग्य वस्तु नही है। अगर वह मुझ मे वर्त्तमान हो तो दुनिया मे ऐसी कोई शक्ति नही है जो उसे मुझ से छीन सके। और उसका असर अपने समय पर हुए बिना नही रह सकता।

इससे उलटा वैद्यक या दूसरे शास्त्रो का ज्ञान ऐसी वस्तु है जिनमे मैं दूसरो से अधिक जानकार हो सकता हूँ और अगर मुझे अपने मानव बन्धुओ से प्रेम हो तो उन्हे इसका लाभ दे सकता हूँ। किन्तु आध्यात्मिक बाते तो ईश्वरपर ही छोडूँगा और ऐसा करके ही अपने मानव-बन्धुओ तथा अपने बीच का सम्बन्ध पवित्र,सच्चा और मर्यादित रखूँगा। किन्तु मै इस तर्क को और आगे बढाने मे कोई सार नही देखता। यह वस्तु ही ऐसी है कि जिसका अन्तिम निर्णय तर्क से नही हो सकता।

खासकर अपनी जो वृत्ति मैंने यहाँ प्रकट की है, उसको ध्यान मे रखते हुए, मेरी ओर से तो हो ही नही सकता।

— य० इं०। हि० न० नी०, २९।३।१९२८]

- सभी मुख्य धर्म थोडे-बहुत सच्चे हैं, पर अपूर्ण तो सभी हैं।
- आध्यात्मिकता की सुवास आध्यात्मिक इन्द्रिय द्वारा ही ली जा सकती है।
- परमात्मा हजारों-लाखो अदृश्य और अज्ञात कलाओ से हमारे पास आया करता है।
- सच्चा विनय उसे कहते हैं, जिसमें मानव-मर्यादाएँ सहज ही स्वीकार की जायं और ईश्वर की अमर्याद शक्ति का भान हो।
- आध्यात्मिकता इन्द्रियग्राह्य, पृथक्करणीय और सिद्ध की जाने योग्य वस्तु नहीं है।

८५. धार्मिक शिक्षण का पाठ्यक्रम

धार्मिक शिक्षण के पाठ्यक्रम मे अपने निजी धार्मिक विश्वासो के अतिरिक्त अन्य धर्मों के सिद्धान्तो के अध्ययन का समावेश होना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए विद्यार्थियो को आदरपूर्ण भावना तथा उदार सहिष्णुता की दृष्टि से ससार के विभिन्न महान् धर्मों के सिद्धान्तो को समझने तथा उनका मूल्याकन करने के हेतु प्रशिक्षण-द्वारा उनके स्वभाव का सस्कार किया जाना चाहिए।

—मूल अग्रेजी से अनूदित। य० इ० १२।१२।१९२८]

८६. श्रद्धा

श्रद्धा का काम तो वही पडेगा न, जहाँ बुद्धि काम न दे।

—यरवदा मन्दिर, १२।९।१९३०। बापू के पत्र : कुसुम बहिन देसाई के नाम, न० जी० प्र० म०]

८७. रामनाम हर समय चलता रहे

वास्तव मे राम-नाम जाने-अनजाने हमेशा ही होना चाहिए, जैसे सगीत मे तम्बूरा। पर हाथ जो काम करते हो उसमे हम एक ध्यान न हो सके तो भी रामनाम का इच्छापूर्वक रटन होना चाहिए।

—१३।१०।१९३०। गीता-बोध, पृ० ३५ स० सा० म०, संस्करण १९५४]

८८. कर्मयोग : आचरण की वस्तु

इस योग पर अमल करनेवाले को कभी नुकसान नही होता। इसमे तर्क की बात नही है, आचरण की है, करके अनुभव पाने की बात है। और यह तो प्रसिद्ध अनुभव है कि हजारो मन तर्क की अपेक्षा तोला भर आचरण की कीमत अधिक है। इस आचरण मे भी यदि अच्छे-बुरे परिणाम का तर्क आ घुसे तो फिर वह दूषित हो जाता है। परिणाम के विचार से ही बुद्धि मलिन हो जाती है। वास्तव मे मनुष्य का धर्म फल का विचार छोडकर कर्त्तव्य-कर्म करते रहना है।

—सोमप्रभात, १७।११।१९३०। गीता-बोध स० सा० म०, सस्करण, १९५४]

८९. श्लोक-स्मरण

श्लोक हमारी प्रार्थना के अग हैं, इसलिए उनका स्मरण करना चाहिए। श्रद्धा उत्पन्न हो तो हम प्रयत्न से उनमे तल्लीन हो सकते हैं। न हो सके तो उससे हारना नही है। जो लोग गाते है वे सब तल्लीन नही होते। परन्तु श्रद्धा से गाते-गाते किसी दिन तल्लीनता अपने-आप आ जाती है। श्लोको के अर्थ मे जो रहस्य भरा है वह तो है ही। उसका मनन करने से भी तल्लीनता पैदा होने मे मदद मिलती है।

— २२।११।१९३०। बापू के पत्र . कुसुम बहिन देसाई के नाम, पृ० ४०, न० जी० प्र० म०]

९०. संन्यासी और योगी

कर्मफल त्याग कर कर्त्तव्य-कर्म करनेवाला मनुष्य सन्यासी कहलाता है और योगी भी कहलाता है।

—मगल प्रभात, १६।१२।१९३०। गीता-बोध स० सा० मं०, दसवाँ सस्करण १९५४]

९१. योगी

योगी उसका नाम है, जिसे ज्ञान है, अनुभव है, जो अविचल है, जिसने इन्द्रियो पर विजय पाई और जिसके लिए सोना, मिट्टी या पत्थर समान है। वह शत्रु-मित्र, साधु-असाधु इत्यादि के प्रति समभाव रखता है।

योगी तो सदैव स्थिरचित्त होता है और वह कामना मात्र का अनायास त्याग किये रहता है। ऐसे योगी की स्थिति निर्वात स्थान के दीपक की भाँति स्थिर रहती है। उसे ससार के खेल अथवा अपने मन मे उठनेवाले विकारो की लहरें डाँवाडोल नही कर सकती। धीरे-धीरे किन्तु दृढतापूर्वक प्रयत्न करने से यह योग सध सकता है।

—मगल प्रभात, १६।१२।१९३०। गीता-बोध, स० सा० म०, सस्करण १९५४]

९२. अन्ते मतिः सा गतिः

मनुष्य को पहिले ही तैयारी करनी चाहिए कि मृत्यु के समय मन चलायमान न हो, भक्ति मे लीन रहे, प्राण को स्थिर रखे और सर्वज्ञ, पुरातन, नियन्ता, सूक्ष्म होते हुए भी सबके पालन की शक्ति रखनेवाले सूर्य के समान अन्धकार-अज्ञान मिटानेवाले परमात्मा का ही स्मरण करे।

—सोमप्रभात, २९।१२।१९३०। गीता-बोध, स० सा० मं०, दसवां संस्करण १९५४]

९३. ईश्वर ही रक्षक है

मेरी रक्षा करने की कोशिश न करें। महाप्रभु सदा हम सबको बचाने के लिए मौजूद है। विश्वास रखिए कि जब मेरा समय पूरा हो जायगा, तो ससार का बडे-से-बडा पुरुष भी मेरे और उसके बीच मे खडा नही रह सकेगा।

—य० इ०, २।४।१९३१]

९४. दैव-चिन्तन

सोचा हुआ तो ईश्वर का ही होता है और इसी मे भलाई है।

—न० जी। हि० न० जी०, २०।८।१९३१]

९५. ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण करें

मुझे तो ईश्वर को ही अपना एकमात्र, पथप्रदर्शक मानकर चलना होगा। वह ईर्ष्यालु प्रभु है; वह किसी को अपनी सत्ता मे हिस्सेदार नही बनने देता।

इसलिए हमे उसके सामने अपनी सारी दुर्बलताओ के साथ, खाली हाथ और सम्पूर्ण समर्पण की भावना से, खडे होना चाहिए। हम ऐसा करें तभी वह हमे सारे ससार के सामने खडे होने की शक्ति देगा और तमाम आपत्तियो से बचायेगा।
—य० इ०, ३।९।१९३१]

९६. तपश्चर्या और पवित्रता

तपश्चर्या मे तो बाहरी त्याग, सहनशीलता और आडम्बर भी हो सकता है। मगर पवित्रता तो भीतरी गुण है। मेरी माता के आन्तरिक जीवन की परछाई उसकी तपश्चर्या मे पडती थी। मुझमे जो कुछ भी पवित्रता देखते हो, वह मेरे पिता की नही, किन्तु मेरी मा की है।
— ३१।३।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ६६]

९७. आध्यात्मिक चिकित्सा

[एक अमरीकी भाई के पत्र के लिखित उत्तर से]

मैने बचपन से ही यह सीखा है और मुझे अनुभव से इस सचाई का विश्वास हुआ है कि आध्यात्मिक शक्तियो या सिद्धियो का उपयोग शारीरिक रोग मिटाने के लिए नही करना चाहिए। वैसे मैं यह भी मानता हूँ कि दवाओ वगैरह से इसान को परहेज रखना चाहिए। मगर यह बात सिर्फ आरोग्य-रक्षा की दृष्टि से है। और फिर मैं भगवान पर पूरी तरह निर्भर रहने मे विश्वास करता हूँ। इस आशा से नही कि वह मुझे अच्छा करे, बल्कि, उसकी इच्छा के अधीन होने और गरीबो के दु ख मे भागीदार बनने के लिए ही—उन गरीबो के दु ख मे जिन्हे बहुत इच्छा होने पर भी शास्त्रीय-डाक्टरी सहायता नही मिल सकती। मगर मुझे अफसोस के साथ कहना चाहिए कि मैं अपने इस विश्वास पर सदा अमल नही कर पाता। बेशक मेरा प्रयत्न हमेशा इसी तरफ रहता है, मगर अनेक लालचो के मारे मैं पूरी तरह उस पर अमल नही कर सकता।
—४।४।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ७१]

९८. उपनिषदों का अर्थ

[प्रेमा बहिन को लिखे पत्र से]

उपनिषद् मुझे पसन्द हैं। उनका अर्थ लिखने जितनी मैं अपनी योग्यता नही मानता।
—४।४।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ७२]

९९. प्रेम

[प्रेमा बहिन को लिखे पत्र से]

जो प्रेमीजनो से अपने दोष पूछे, परिणाम मे उसे तारीफ सुननी पडती है, क्योकि प्रेम दोप पर पर्दा डाल देता है या दोप को गुण के रूप मे देखता है। प्रसगोपात्त दोष बताये, यह प्रेम का स्वभाव है और वह सम्पूर्णता देखने के लिए होता है।...

—४।४।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ७२]

१००. अन्त समय राम-नाम

अन्त समय मुह से राम-नाम निकलने के लिए और मरते वक्त खुश होने के लिए जीवन भी तो वैसा ही होना चाहिए। वह कहा से लाया जाय ?

— ६।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १३६]

१०१. धर्म-द्वेष

[सुश्री रेहाना तय्यब जी को लिखे पत्र से]

मै समझ ही नही सकता कि धर्म के नाम पर इसान इसान के साथ कैसे लड सकता है।

— २१।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १६४]

१०२. ईश्वर पर श्रद्धा

[श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार ने गांधी जी को पत्र लिखा। इसमें पूछा गया था कि गांधी जी के जीवन में ऐसे कौन से प्रसंग आये जब उनकी श्रद्धा ईश्वर पर बहुत बढ़ गई। इस पत्र के उत्तर में लिखे गाधी जी के पत्र का अंश।—सम्पा०]

मुझे ऐसा कोई प्रसग याद नही, जब ईश्वर के लिए श्रद्धा खास तौर पर बढ गई हो। एक समय श्रद्धा न थी, लेकिन धर्म-विचार और चिन्तन से आने लगी और तब से बढती ही गई। ज्यो-ज्यो यह ज्ञान बढता गया कि ईश्वर का निवास हृदय मे है त्यो-त्यो श्रद्धा बढती गई। मगर ये सवाल तुम क्यो पूछ रहे हो ? क्या आगे चल कर 'कल्याण'[1] मे छापने के लिए ? तो यह बेकार है। और अगर खुद अपने लिए पूछते

---

१. गीता प्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित सुप्रसिद्ध सांस्कृतिक, धार्मिक मासिक पत्र। श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार बहुत समय से इसका सम्पादन कर रहे हैं।

हो, तो मुझे कहना चाहिए कि इस मामले मे पराया अनुभव काम नही देता। ईश्वर के लिए श्रद्धा के साथ लगातार कोशिश करने पर ही श्रद्धा बढती है।

—२३।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १६७]

१०३. धर्म : मेरी मान्यता

मै धर्म को इसान की अनेक प्रवृत्तियो मे से एक नही मानता। एक ही प्रवृत्ति धर्म-वृत्ति से भी हो सकती है और अधर्म से भी हो सकती है। मेरा तो हर काम, छोटी से छोटी प्रवृत्ति भी, जिसे मै अपना धर्म मानता हूँ, उसी से नियन्त्रित होती है।

—३०।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १८५-१८६]

१०४. ईश्वर

[कुमारी पीटर्सन को लिखे गये पत्र से]

अगर ईश्वर है तो मुझे क्यो चिन्ता हो? हमारी अचूक सम्हाल करनेवाला वह बैठा है। उसे हमारी इतनी फिक्र होते हुए भी जो चिन्ता करता है, वह मूर्ख है।

—४।६।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० १९८]

१०५. जनसाधारण और आध्यात्मिक प्रश्न

[श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार ने गाधी जी से पूछा था कि वह अपने जीवन की कोई खास घटना बतायें, जब उनकी आस्था एव श्रद्धा ईश्वर पर विशेष रूप से बढ़ गई हो। इस पर गाधी जी ने अपने पत्र मे पूछा था कि श्री पोद्दार यह प्रश्न वैयक्तिक जिज्ञासा के कारण पूछ रहे हैं या 'कल्याण' मे प्रकाशनार्थ। श्री पोद्दार ने इसका उत्तर दिया कि वे 'कल्याण' मे प्रकाशनार्थ प्रश्न पूछ रहे थे। इस पर गाधी जी ने उन्हें निम्नलिखित उत्तर दिया।—सम्पा०]

किसी व्यक्ति को सामने रख कर तो आध्यात्मिक प्रश्नो का उत्तर देने मे मुझे सुविधा रहती है। अखबारो के लिए लिखने मे कष्ट होता है। अब यह ज्ञात हुआ कि जो प्रश्न मुझे (मुझसे) पूछे (गये) थे वह (वे) 'कल्याण' के लिए ही थे, तो ऐसा समझो कि मेरी बुद्धि जड-सी बन गई है। इसका यह मतलब नही है कि

अखबारो मे कुछ लिखा जाय, तो उससे जनता को लाभ नही होता। मै तो अपनी प्रकृति का खयाल दे रहा हूँ। इसी कारण मैने य० इ० मे बहुत बार लिखा है। मेरी दृष्टि से वह कोई अखबार नही था, परन्तु मित्रो को मेरा साप्ताहिक पत्र था। और जो कुछ आध्यात्मिक बाते (विवेचन) उसमे और 'नवजीवन' मे पाई जाती है, वे करीब-करीब किसी-न-किसी व्यक्ति को सामने रख कर ही लिखी गई है। इसका कारण भी है। मै शास्त्रज्ञ नही हूँ, तो भी मै बुद्धि का काफी उपयोग कर लेता हूँ। परन्तु जो कुछ (मै) बोलता और लिखता हूँ, वह बुद्धि से नही पैदा होता। उसका मूल हृदय मे रहता है और हृदय की बात निबन्ध के रूप मे नही आ सकती।

—२१।६।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० २३७]

● हृदय की बात निबन्ध के रूप मे नहीं आ सकती।

१०६. पापी

[एक पत्रांश]

पापी मनुष्य पाप को ही पुण्य मान लेता है, क्योकि उसका हृदय मलिन है।

—१४।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ३५६]

१०७. जप-यज्ञ का अर्थ

[एक पत्रांश]

जहा तक मै समझ पाया हू, जप-यज्ञ का अर्थ नाम-स्मरण है।

—१५।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ३६०]

१०८. क्रोध

[सुश्री मदालसा को लिखे पत्र से]

जैसे हम हैं, वैसे ही सब हैं। सब मे एक ही जीव-आत्मा है। इसलिए किसी और पर क्रोध करना अपने ऊपर ही क्रोध करने के समान है . . जिसके अन्दर जीवमात्र की सेवा-वृत्ति की लगन पैदा होती है, उसमे दोष रह ही नही सकते।

—यरवदा मन्दिर, २०।८।१९३२। बापू के पत्र: बजाज परिवार के नाम, पृ० ३३२, अ० भा० स० से० सं०]

१०९. भगवान का स्ववर्णन अहंकार नहीं

गीता मे भगवान ने अपना वर्णन किया है, यानी गीताकार ने भगवान के मुँह मे ऐसा वर्णन रख दिया है। वैसे, भगवान तो अरूप है, बोलते चालते नही। तब यह प्रश्न रह जाता है कि भगवान के मुँह मे ऐसे वचन रखे जा सकते है या नही ? मेरा खयाल है जरूर रखे जा सकते हैं। भगवान का अर्थ है सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ। सर्वज्ञ के मुह से जो बात निकलती है, वह केवल सत्य ही होती है, इसलिए वह बडाई मे शुमार नही होती। मनुष्य अपनी शक्ति का हिसाब नही लगा सकता, इसलिए उसके मुह से वह बात शोभा नही देती। मगर सवाल पैदा होने पर कोई आदमी अपनी ऊचाई सच-सच बता दे तो इसमे बडप्पन नही, सचाई है। पाँच गज ऊचा अपने को चार गज बताये तो इसमे नम्रता नही, घोर अज्ञान है या फिर दभ है।
—२८।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृ० ३८२–३८३]

● भगवान का अर्थ है सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ।

११०. प्राणायाम : एक योग-क्रिया

[श्री मथुरादास को लिखे पत्र से]

सगीत मे जैसे पद-पद पर समय का ध्यान रखना पडता है, वैसे ही प्राणायाम मे भी है। श्वास की गति नियमबद्ध चलनी ही चाहिए। इसका अभ्यास हो जाने पर फेफडो को बहुत कम काम करना पडता है और वे बाहर से प्राणवायु ज्यादा खीचते है। और जैसे-जैसे प्राणवायु ज्यादा खीचते है वैसे ही अपानवायु भी ज्यादा निकालते है।
—८।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १२]

१११. पूर्ण ब्रह्मचारी

[एक पत्रांश]

सब इन्द्रिया जिसके वश मे हैं, वह पूर्ण ब्रह्मचारी है। यह स्थिति शरीर रहते हुए सम्भावित है। खुराक का सयम आवश्यक है। ब्रह्मचर्य-पालन मे उसका हिस्सा कम है। असयम अवश्य घातक है। दूध-घी औषधि की मात्रा मे लेने से हानिकर नही है—ऐसी कुछ मेरी प्रतीति है।
—११।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १६]

● असयम अवश्य घातक है।

११२. प्रार्थना में विश्वास

[श्रीमती कामकोटी नटराजन को लिखे पत्र से]

...प्रार्थना मे तुम्हारा विश्वास क्यो नही ? विश्वास या तो प्राप्त किया जाता है या अन्दर से पैदा होता है। हर एक देश मे और हर एक काल मे जो सन्त और ऋषि-मुनि हो गये हैं, उन्होने निरपवाद रूप से जिस बात की गवाही दी है, उससे तुम्हे यह विश्वास मिलना चाहिए। सच्ची प्रार्थना केवल मुह के वचनो से नही होती। वह कभी झूठी नही पडती। नि स्वार्थ सेवा भी प्रार्थना ही है। तुम्हे यह तो हर्गिज न कहना चाहिए कि—'मुझे प्रार्थना मे श्रद्धा नही है।'

— १४।९।१९३२। म० भा० डा, भाग २, पृ० २४।]

- **सच्ची प्रार्थना केवल.....वचनो से नहीं होती।**
- **वह (प्रार्थना) कभी झूठी नहीं पड़ती।**
- **निःस्वार्थ सेवा भी प्रार्थना ही है।**

११३. उपवास : आध्यात्मिक प्रयोजन

प्रकाश और प्रायश्चित्त के लिए उपवास करने की प्रथा बहुत पुरानी है। मैंने उसे ईसाई-धर्म मे और इस्लाम मे भी देखा है।

शुद्धि और प्रायश्चित्त के लिए किये गये उपवास के उदाहरण तो हिन्दू धर्म मे अपार है। वह जिस तरह कर्त्तव्य है, उसी तरह अधिकार भी है। और अपनी समझ के अनुसार तो मैंने उसका शास्त्र बना दिया है।

— १५।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग २ (परिशिष्ट), पृ० ३५७]

११४. यज्ञ का प्रारम्भ

[सुश्री नानी बहिन ज़वेरी को लिखे पत्र से]

...यज्ञ का आरम्भ करते समय तो वडे-से-वडे वैरी को भी माफी दी जाय, तभी यज्ञ सफल होता है।

— १९।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० ४४]

११५. निष्काम भाव

[श्री रामेश्वरदास को लिखे पत्र से]

मेरे यज्ञ[1] का सुनकर नाचो और राम-नाम पर अधिक विश्वास रखो। देखो वह क्या करता है। अनशन मेरा नही, राम का है। चिन्ता मुझे नही, उसको है। यदि निष्फल हुआ तो निन्दा उसकी होगी, मेरी नही। सफल हुआ तो, उसे स्तुति नही चाहिए, इसलिए उसके द्वार पर पड़ा हुआ भिखारी, मैं ले लूंगा।

—१९।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० ४७]

११६. मूर्ति और मन्दिर

[श्री हरिभाऊ फाटक को लिखे पत्र से]

हम सब किसी न किसी तरह की मूर्तियो को मानते हैं। मैं तो मानता ही हूँ। साधारण मन्दिर का मुझे स्वय कोई आकर्षण नही है। लेकिन उसका आध्यात्मिक मूल्य बहुत है।

—६।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० ९४]

११७. मन्दिर और मूर्तिपूजा

[एक पत्राश]

मूर्तिपूजा को हम प्रोत्साहन नही देते। मगर हम उसकी मनाही भी नही करते। जब तक हिन्दू-धर्म है, किसी-न-किसी तरह मे मन्दिर रहेगे।

—१०।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १०७]

११८. राम-नाम

[श्री बालकोबा भावे को लिखे पत्र से]

राम-नाम का उपयोग तो जाने-अनजाने रोज ही होता है। लेकिन हर सकट के समय वह ज्ञानपूर्वक होता है और मेरी याद के मुताबिक मुझे उससे हमेशा शान्ति मिली है।

—१५।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १२०]

---

१ साम्प्रदायिक निर्णय के विरुद्ध अनशन

११९. बौद्ध धर्म और हिन्दू-धर्म

[डा० हरिसिंह गौड ने गाधी जी को लिखे पत्र मे ये विचार व्यक्त किये थे कि बौद्ध धर्म ही हिन्दू-धर्म का शुद्ध स्वरूप है। शकराचार्य ने ब्राह्मण की उच्चता के खयाल पर बनाया हुआ धर्म चलाया और हिन्दू-धर्म पर होनेवाले अनेक हमलों को अवकाश दिया। अब एकीकरण के लिए बौद्ध सिद्धान्त पर बनाये हुए हिन्दू-धर्म के पुनर्जीवन की जरूरत हे। इस कथन पर विचार व्यक्त करते हुए गांधी जी ने डा० गौड़ को निम्नलिखित उत्तर भेजा।—सम्पा०]

मैं स्वीकार करता हूँ कि आपको जैसी प्रेरणा होती है, वैसी मुझे नही होती। क्योकि ब्राह्मणो के प्रभाव के बारे मे आपके जो विचार है, उनसे मैं सहमत नही हूँ। बहुत-सी बातो के लिए ब्राह्मणो को जरूर ही जिम्मेदार माना जा सकता है मगर मुझे विश्वास है कि वे जितने दोषपात्र है, उससे कही अधिक दोष उन्हे दिये गये हैं। हर एक धर्म ने अपने-अपने ब्राह्मण पैदा किये है। वे इस नाम से पुकारे नही गये, इससे कोई फर्क नही पडता। मेरे विचार से दूसरे धर्मो के ब्राह्मणो के मुकाबले मे हिन्दू-धर्म के ब्राह्मण अच्छे है। इसके साथ ही मुझे कहना चाहिए कि तरह-तरह के अज्ञानमय बन्धनोवाली जाति-व्यवस्था पर मैं फिदा नही हूँ। वर्णाश्रम को मैं जरूर मानता हूँ।. .विवेकानन्द की तरह मैं मानता हूँ कि शकराचार्य ने हिन्दुस्तान से बौद्ध धर्म को नही खदेडा क्योकि शकराचार्य खुद प्रच्छन्न बौद्ध थे। उन्होने तो सिर्फ उसमे प्रविष्ट भ्रष्टाचार को दूर किया और उसे हिन्दू-धर्म से अलग पड जाने से रोका। मेरी राय यह है कि बुद्ध के उपदेशो का स्थायी प्रभाव हिन्दुस्तान के समान और कही नही पडा। इतना होने पर भी यह कहने मे मैं आपसे पूरी तरह सहमत हूँ कि हिन्दू-धर्म मे हमे जड-मूल से सफाई करने की जरूरत है।

—२७।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, १५१-१५२]

- वे (ब्राह्मण) जितने दोषपात्र हैं, उससे कहीं अधिक दोष उन्हें दिये गये हैं।
- हर धर्म ने अपने-अपने ब्राह्मण पैदा किये हैं।
- अज्ञानमय बन्धनोंवाली जाति-व्यवस्था पर मैं फिदा नहीं हूँ।
- हिन्दू-धर्म में हमे जड़-मूल से सफाई करने की जरूरत है।

१२०. गुप्त विद्या

[स्विटजरलैण्ड-निवासिनी एक अंग्रेज महिला के प्रश्न के उत्तर मे व्यक्त विचार]

गुप्त विद्याओ के बारे मे आपने मेरी राय पूछी है। मुझे उनमे दिलचस्पी नही। जीवन की पुस्तक सादी से सादी बुद्धि के लिए भी खुली है, और ऐसा ही होना भी चाहिए। ईश्वर की योजना मे कुछ भी गुह्य या गुप्त नही। गुह्य और गुप्त चीजो से मुझे कभी आकर्षण नही हुआ। सत्य के लिए कुछ भी गुप्त नही है। सत्य ही ईश्वर है।

— ३०।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १५७]

- जीवन की पुस्तक सादी से सादी बुद्धि के लिए भी खुली है।
- ईश्वर की योजना मे कुछ भी गुह्य या गुप्त नहीं।
- सत्य के लिए कुछ भी गुप्त नहीं है।

१२१. भजन का गान मधुर हो

दूसरो के लिए यह सच हो तो कौन जाने, मगर मेरे बारे मे तो यह सही है कि अच्छी तरह न गाया जाय, तो कितना ही अच्छा भजन या काव्य क्यो न हो, मेरे लिए निरर्थक हो जाता है।

— ३०।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १५७-१५८]

१२२. उपवास : ईश्वरेच्छा

[एक पत्रांश]

उपवास करना या न करना मेरे हाथ मे नही है। ईश्वर ने जो सोचा वही होगा।

— १।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १६२]

१२३. धर्म में ऊंच-नीच नहीं होते

[श्री सतीश बाबू को लिखे पत्र से]

धर्म मे कोई ऊच या कोई नीच नही।

— ५।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १७२]

१२४. धर्म-त्याग

किसी की धमकी के कारण मनुष्य धर्म नही छोड सकता।
— १०।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १८६]

१२५. पूजागृहों का प्रयोजन

[श्री चमन को लिखे पत्र से]

जहा मस्जिद, मन्दिर और गिरजे का सैकडो पाखण्डियो ने अवश्य दुरुपयोग किया है, वहा करोडो ने उनका सदुपयोग भी किया है। इस कथन की सचाई की परीक्षा करनी हो, तो अपनी सुन्दर कल्पना-शक्ति का उपयोग करो और कल्पना मे यह चित्र खीचो एक-एक गिरजे, एक-एक मन्दिर और एक-एक मस्जिद को कोई सुधारक एक दिन के अन्दर जमीदोज कर दे, तो विचार करो कि उन करोडो भोले-भाले मनुष्यो का, जिन्हे इस ससार मे रोज इन मन्दिरो और मस्जिदो से सन्तोष मिलता था, यह जानकर क्या हाल होगा कि वे एकदम बन्द हो गये हैं? मैं तो इस चीज का रोज अनुभव करता हूँ। अपवित्र से अपवित्र मन्दिरो मे भी पवित्र हृदय से जानेवाले भावुको को ईश्वर के दर्शन जरूर होते हैं। यही उसकी अजीब कुदरत है, या यो कहिए कि यही उसकी माया है।
— १५।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २०७,-२०८]

- **अपवित्र से अपवित्र मन्दिरो मे भी पवित्र हृदय से जानेवाले भावुकों को ईश्वर के दर्शन जरूर होते हैं।**

१२६. धर्म-परिवर्तन

[श्री थार्नबर्ग नामक अमरीकी के माध्यम से अमरीका के नाम दिये गये सन्देश से।—सम्पा०]

अमरीका के धर्म-परायण व्यक्तियो को अगर यह समझाया जाय कि हिन्दू-धर्म, इस्लाम और दुनिया के दूसरे बडे धर्म भी ईसाई-धर्म के समान ही सच्चे हैं, इसलिए उन धर्मों का नाश करने की नही, बल्कि जहा जरूरत हो वहा सुधार करने की आवश्यकता है, तो धर्म-परिवर्तन हेतु रखे बिना वे यह मदद दे सकते हैं।
— २०।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २१७]

१२७. दैवी उपचार

[एक अमरीकी स्त्री को लिखे पत्र से]

ईश्वर के अस्तित्व या प्रार्थना के प्रभाव को सिद्ध करने के लिए दैवी उपचार का प्रयोग करने का विचार मुझे पसन्द नही है। आज अगर ईसा मसीह पृथिवी पर लौट आयें, तो जिस रोगमुक्त करने की शक्ति और दूसरे चमत्कारो का उनके सम्वन्ध मे आरोपण किया जाता है, उनका आज जो उपयोग हो रहा है उसे देखकर वे क्या सोचेंगे, यह कहना मुश्किल है।

—२४।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २३०]

१२८. ईश्वर : परीक्षक

जो ईश्वर को अविक चाहता है, उसकी वह ज्यादा-से-ज्यादा कसौटी करता है।

—यरवदा मन्दिर, २५।११।१९३२। बापू के पत्र मणि बहिन पटेल के नाम, पृ० ९५, न० जी० प्र० म०]

१२९. मन्दिर

[एक पत्रांश]

कोई सस्था ऐसी नही जिसमे कोई-न-कोई बुराई न घुसी हुई हो। परन्तु मेरी राय यह है कि मन्दिरो मे इन्कार न की जा सकने लायक कितनी ही बुराइयो के होने पर भी वहा जो करोडो मनुष्य जाते हैं, उन पर इन बुराइयो का कोई असर नही होता और उन्हे इन मन्दिरो से आवश्यक आश्वासन मिल जाता है।

—२९।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २४२]

१३०. ईश्वरप्रेरित उपवास

उपवास यदि ईश्वर-प्रेरित होगा, तो वह लाखो आदमियो के हृदय हिला देगा। ऐसा नही होगा तो वह बेकार जायगा।

—३०।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २४६]

१३१. उपवास : ईश्वरीय प्रेरणा

उपवास मैं नही करता। वे भगवान की प्रेरणा से होते हैं, इसलिए वही करता है, यह कह सकते हैं। उसका शोक न करना चाहिए, परन्तु कुछ हो जाय तो हर्ष होना चाहिए कि मैं इतना धर्म पालन करता हूँ। इसी के साथ यह भी याद रखना चाहिए कि मेरी होड मे कोई उपवास न करे।

—६।१२।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २५८]

१३२. मेरा धर्म

.. एक आदमी मुझसे कहता है कि आप शकराचार्य की तरह दिग्विजय क्यो नही करते ? मैं उससे कहता हूँ कि यह मेरी शक्ति नही। मेरी शक्ति दूसरी तरह की है। उसका उपयोग मैं कर रहा हू। मैं अपना धर्म दूसरो के मतो के अनुसार कैसे बदल सकता हूँ ?

—११।१२।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २६९]

१३३. श्रद्धा का अभाव

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

हृदय बुद्धि का अनुसरण नही कर सकता या बुद्धि के साथ सहयोग नही कर सकता, इसका क्या कारण ? श्रद्धा का अभाव हो सकता है ? यद्यपि मैं किसी आखिरी निर्णय पर नही पहुँचा हूँ, मगर मेरी राय उसी दिशा मे बनती जा रही है। अगर मुझमे प्रेम भरा है, तो मेरी बुद्धि कहती है कि मुझे सांप से भागना नही चाहिए। फिर भी मुझमे इतनी श्रद्धा नही होगी, इसीलिए मैं सांप को अपने पास नही आने देता। ऐसे उदाहरण बहुत दिये जा सकते हैं। मैं चाहता हूँ कि तू इस दिशा मे खोज कर और हृदय और बुद्धि के बीच विरोध के बारे मे जितनी मिसालें याद आयें उनकी खोज करने की कोशिश कर। ऐसा करने से तेरे लिए बुद्धि और हृदय का मेल बैठना सम्भव होगा। मैं जो उपवास करता हूँ वह मेरे लिए और दूसरे सबके लिए अच्छा हो, तो फिर उससे दिल को खुश होने से क्यो इन्कार करना चाहिए ? मैं तन्दुरुस्त होता हूँ तो हृदय को आनन्द होता है, मगर किसी खास मामले मे मेरे तन्दुरुस्त रहने के बजाय मेरा उपवास करना ज्यादा अच्छा हो सकता है। बुद्धि यही कहती है, फिर भी बुद्धि की स्पष्ट गवाही से हृदय इन्कार

करता है। क्या हृदय के अभाव मे ऐसा करता है? या इसमे आत्मवचना होती है? वस्तुत क्या वुद्धि ने शरीर की रक्षा करने लायक उपवास की आवश्यकता स्वीकार की ही नही है? मैंने यह प्रश्न कोई निर्णय करने का प्रयत्न किये विना तेरे सामने रखा है। मैं चाहू, तो भी निर्णय करने लायक सामग्री मेरे पास नही हो सकती।

—१५।१२।१९३२। म० भा० डा०, भाग २ पृ० २८८]

१३४. बौद्ध-धर्म और हिन्दू-धर्म

मैं यह नही मानता कि बौद्ध धर्म हिन्दू-धर्म पर आक्रमणकारी के रूप मे आया। मैं तो मानता हूँ कि बौद्ध धर्म न आया होता, तो हिन्दू धर्म बहुत पहिले नष्ट हो गया होता। आज हिन्दू-धर्म मृतप्राय है। वह हमारे जीवन को स्पर्श नही करता। ईश्वर, आत्मा और पुनर्जन्म, इन तीनो पर श्रद्धा होना हिन्दू-धर्म का मुख्य लक्ष्य है।

——१९।१२।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० ३०४

१३५. आत्मज्ञान

आत्मज्ञान का सत्य कोई हिन्दू-धर्म का ही ठेका नही हो सकता। हमारे पास जो ग्रन्थ है वही वेद है, यह अर्थ नही। किन्तु वेद का अर्थ है अशरीरी वाणी यानी पवित्र मनुष्यो का अनुभव ज्ञान। इसीलिए महाभारत मे कहा है कि शास्त्र पवित्र मनुष्यो के जीवन मे मूर्तिमन्त होते है। ..

— १९।१२।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० ३०६]

१३६. आध्यात्मिक उपवास

[सुश्री खुरशेद को लिखे पत्र से]

तुम यह क्यो मानती हो कि मेरा उपवास निराशा के कारण है? उलटे यह तो अमर आशा से उत्पन्न हुआ है। जीने के लिए खाना जितना जरूरी है, उतना ही उपवास भी जरूरी है। प्रार्थना का यह एक आवश्यक अग है। हम जी-कर जितनी सेवा करते हैं, उतनी ही मरकर भी कर सकते हैं। मगर उपवास करने का अधिकार बहुत थोडो को होता है। यहा मैं आध्यात्मिक उपवास की ही बात

कर रहा हूँ। मैं जानता हूँ कि मनुष्य निराशा से भी उपवास करने का विचार करता है। यह तो साफ आत्मघात कहा जायगा। मुझ पर कोई ऐसा आक्षेप करे तो मैं उसकी सफाई दे सकता हूँ। मेरे लिए तो उपवास सदा ही तपस्या और आत्म-शुद्धि है। १९२१ का उपवास निराशा के कारण नही हुआ था। तपस्या के रूप से होने वाले उपवास का आधार हमेशा मानव-जाति के ऊपर, ईश्वर के ऊपर और अपने आपके ऊपर श्रद्धा होती है। इससे आन्तरिक आनन्द मिलता है और उसी से आदमी टिक सकता है। इसलिए मैं तुम्हे इस आनन्द मे शरीक होने को कहता हूँ। मुझे आशा है, कि मेरी दलील तुम समझ गई होगी।

—२२।१२।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० २१३]

१३७. आध्यात्मिक उपवास

आध्यात्मिक असर तो लोग जितना समझते है उससे कही अधिक होता है। उपवास बहुत अदृश्य रूप मे काम करता है। लोगो मे वह खलबली मचा देता और अक्सर लोगो मे उसके कारण भारी जागरण आ जाता है। ऐसा होने का कारण उसके पीछे निहित तपस्या होती है।

—२८।१२।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० ३२५]

१३८. मैं राजनीतिक नहीं, धार्मिक मनुष्य हूँ।

[यरवदा जेल से प्रकाशित गांधी जी के सोलहवें वक्तव्य का अंश।]

मैं आपके सामने कुछ तथ्य रखूंगा[1]। जिस व्याख्या को लोग समझ सकें उसके अनुसार सनातन धर्म ऐसा सदाचार है, जिसका लोग पालन कर सकें। इसमे दुराचार और बुरी आदतो का निषेध है, फिर भले वे कितनी ही प्रचलित हो। धर्म वह है, जो धारण करता है। दुराचार और बुरी आदतें धारण नही कर सकती इसलिए वे दोनो कभी धर्म नही हो सकती। सारे मुद्दे तटस्थ भाव से लोगो के सामने रख दिये जायें। उसके बाद वे ऐसा मार्ग पसन्द करे, जो तत्वत अनिष्ट न हो, तो क्या यह सनातन धर्म नही? जो सिद्धान्त और सदाचार के नियम सनातन धर्म के नाम से पहिचाने जाते है, क्या उनकी इसी तरह वृद्धि नही होती

---

१. गांधी जी ने यहां अस्पृश्यता-समर्थक पण्डितो एव जनसमुदाय को सम्बोधित किया है।—सम्पा०

रही है ? सनातन धर्म का सदा विकास होते रहने के लिए क्या यह क्रम अनिवार्य नही ?

यहा तक मैं अपनी वात आपको समझा सका होऊ, तो आप इतना जान लीजिए कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ, उसमे जो मार्ग मुझे अच्छा लगता है उस मार्ग पर लोग मेरे साथ कहा तक आ सकेंगे, इसे खोज निकालने से ज्यादा यह और कुछ नही है। इसमे कुछ पण्डित भी, जिन्होने शास्त्रो के मूल ग्रन्थो का अध्ययन किया है, मेरे साथ हैं। वे कहते हैं कि उनके अर्थ के अनुसार मेरे मार्ग के लिए शास्त्रो का आधार है। किन्तु आप यह आपत्ति करते हैं कि वे शास्त्रो का गलत अर्थ करते है। ठीक, तो फिर ये दो अलग-अलग अर्थ हम लोगो के सामने रखें और उनसे पूछे कि उन्हे कौन सा अर्थ मजूर है। यदि वे मेरा अर्थ स्वीकार करें, तो वह सनातन धर्म कहलायेगा या नही ? मैं तो कहता हूँ कि आप इसके वाद भी मेरा अर्थ स्वीकार न कीजिए। आप अपने अर्थ पर कायम रहिए। पर ऐसा करेंगे तो आप उसे सनातन धर्म नही कह सकेंगे। आप तो कहते हैं कि आप जो अर्थ करते हैं वही सनातन धर्म है, क्योकि आप यह मानकर चलते है कि देहातियो का वडा वहुमत आपका अर्थ स्वीकार करेगा। आप मेरा सनातनी होने का दावा नही मानते, क्योकि आप मानते हैं कि लोगो के सामने उसे रखा जाय, तो लोग उसे मजूर नही करेंगे। लेकिन सनातनी होने का दावा मैं कोई अनुभूति-हीन स्थिति मे नही करता। मैं करोडो लोगो के वीच वर्षों से भटकता रहा हूँ। उनके सामने राजनीतिक मनुष्य के रूप मे नही, वल्कि एक धर्म-परायण पुरुष के रूप मे गया हूँ, और उन्होने भी मुझ धर्म-परायण पुरुष के रूप मे ही स्वीकार किया है। आज आप इतने आवेश के साथ जो मेरा इन्कार कर रहे है, यह वात ही साबित करती है कि आपने स्वय मुझे अवतक राजनीतिक मनुष्य नही, बल्कि धार्मिक मनुष्य माना था। आप लोग इतना भी नही देख सके कि राजनीतिक मनुष्य तो मुझे कुछ समझते ही नही। वे तो मुझे अपने काम मे दखल देनेवाला और अव्यावहारिक सपने देखनेवाला मानते हैं। हा, धार्मिक सभाओ मे मेरा दिल से ही स्वागत किया गया है। १९१५ मे जव मुझे लगभग अनजान रहने का सौभाग्य प्राप्त था, तव भी यही होता था।

—४।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग २ (परिशिष्ट-१)। पृ० ३७४-३७५]

- सनातनधर्म ऐसा सदाचार है, जिसका लोग पालन कर सकें।
- धर्म वह है जो धारण करता है।
- दुराचार और बुरी आदतें धारण नहीं कर सकतीं, इसलिए वे दोनो कभी धर्म नहीं हो सकतीं।

१३९. भिक्षुक वृत्ति

...परमेश्वर के सामने तो भिखारी के रूप मे ही जाना है, पर मनुष्य के सामने नही।

—५।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० १५]

१४०. धर्म-त्याग

अपना धर्म कोई आदमी छोड नही सकता।

—६।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० १९]

१४१. रजस्वला धर्म

[श्री रणछोड़दास पटवारी से वार्ता के मध्य व्यक्त विचार]

श्री पटवारी—आप रजस्वला-धर्म को मानते हैं या नही ?

गांधीजी—मानता हूँ। परन्तु इसका स्पष्टीकरण कर दूँ। कोई ब्रह्मचारिणी स्त्री हो और वह रजस्वला होती हो, तो भी उसे अस्पृश्या मानकर उसके रजस्वलापन की याद दिलाना मैं ठीक नही समझता। और मैं रजस्वलाधर्म न पालनेवाली को पतित नही मानता। मान लीजिए कोई वेश्या रजस्वला-धर्म पालती हो और कोई गृहस्थ धर्म पालनेवाली पवित्र स्त्री रजस्वला-धर्म न पालती हो, तो क्या वह वेश्या उससे वढकर है ?

—७।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० २५-२६]

१४२. अवतार नहीं हूँ

[दो सिन्धी भाइयों से बातचीत के दौरान व्यक्त विचार]

मैं पैगम्बर नही हूँ या हिन्दू-धर्म मे जो अवतार माने जाते हैं वैसा अवतार भी नही हू। या आप जितने अवतार हैं, उससे ज्यादा अवतार मैं नही हूँ।

—९।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० ३०]

१४३. धर्म

जो रोटी दिला दे वही धर्म है, दूसरा कोई धर्म नहीं है, यह कहने के बजाय यह कहे कि रोटी भी सत्य-अहिंसा और धर्म से मिलती होगी तो खायेंगे, नहीं तो भूखों मर जायगे किन्तु सत्य, अहिंसा या धर्म का त्याग नही करेंगे। मैं तो कहता हू जो धर्म सत्य और अहिंसा का विरोधी है वह धर्म ही नही। सत्य और अहिंसा को ही मैंने अपना धर्म बनाया है और शास्त्र मात्र की परीक्षा मै इसी से करता हूँ। इस प्रकार मेरा अपना शास्त्र सादा और आसान हो गया है। मुझे किसी झगडे मे नही पडना पडता।

— २०।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० ७१-७२]

● जो धर्म सत्य और अहिंसा का विरोधी है वह धर्म ही नहीं।

१४४. क्या मन्दिर आवश्यक है?

[एक अमरीकी ने गाधी जी को लम्बा पत्र भेजा, जिसमे उन्होंने उपासना-गृहों, पुजारियो और धर्माध्यक्षो को धर्म के लिए घातक बताया। उनके शब्दो मे "मन्दिरो, मस्जिदो और गिर्जाघरो को मैं धर्म का दुरुपयोग समझता हूँ . मन्दिरो मे सत्य और सदाचार की दुर्दशा हुई है।.. जब धर्म को पुजारी जाति अपना इजारा बना लेती है और मन्दिरो पर किसी का स्वत्वाधिकार हो जाता है, तब बडा मानव समुदाय सत्य से बिल्कुल अलग हो जाता है।"

और इस विचार-सरणि के अनुसार अमरीकी भाई ने हरिजनो के मन्दिर-प्रवेश को व्यर्थ सिद्ध किया था। उनके पत्र का उत्तर देते हुए गाधी जी ने जो विचारोत्तेजक लेख लिखा, वह यहा दिया जा रहा है।—सम्पा०]

. कुछ पुजारी खराब है। मन्दिरो, मस्जिदो और गिर्जाघरो मे बहुधा खराबी देखी जाती है, दुर्दशा और ज्यादा है। इसके बावजूद यह सिद्ध करना असम्भव होगा कि सभी मन्दिर, मस्जिद, और गिरजे खराबियो और अन्धविश्वासो के लिए उपजाऊ भूमि हैं। इस वहम मे इस मूल बात पर ध्यान नहीं दिया गया है कि आज तक किसी धर्म का काम आवास-बिना नही चला है। मैं तो इससे आगे बढकर कहूंगा मनुष्य स्वभाव जैसा बना है, वैसा ही बना रहा तो आवास के बिना चल ही नही सकता। मनुष्य का शरीर ही, औचित्यपूर्वक, परमात्मा का मन्दिर कहा गया है, यद्यपि असख्य मन्दिर इस बात को झुठलाते हैं और वे भ्रष्टाचार की उर्वर भूमि है, व्यभिचार के लिए प्रयुक्त होते हैं। मैं समझता हू कि इस जल्दबाजी

मे किये गये इशारे का , कि बहुत से शरीरो के व्यभिचार के लिए सभी शरीरो को नष्ट कर दिया जाय, यह सिद्ध करना निर्णायक उत्तर होगा और यह सिद्ध किया जा सकता है कि कुछ शरीर ऐसे है जो परमात्मा के मन्दिर है। बहुत-से शरीरो के भ्रष्टाचार का कारण अन्यत्र खोजना होगा। चूने और पत्थर के मन्दिर इन्ही शरीर-मन्दिरो के स्वाभाविक विस्तार के सिवा और कुछ नही हैं। यद्यपि इनकी कल्पना भी निश्चय ही शरीर-मन्दिरो की तरह ईश्वर के आवास के लिए हुई थी, तथापि ये भी उन्ही की तरह जरामरण के नियम के अधीन रहे है।

मैं किसी ऐसे धर्म या सम्प्रदाय को नही जानता जिसका काम बिना अपने ईश्वरावास के चलता आया हो या चल रहा हो, फिर वह किसी मन्दिर, मस्जिद, गिरजा, हैकल या अगियारी किसी नाम-भेद से क्यो न प्रसिद्ध हो। इसका भी निश्चय नही कि ईसा-सहित बडे-बडे सुधारको मे से किसी ने मन्दिरो को एकदम नष्ट या निषिद्ध कर दिया हो। उनमे से प्रत्येक का उद्देश्य यही था कि मन्दिर और समाज दोनो से खराबिया दूर हो जाय। सब नही तो उनमे से कुछ ने अवश्य मन्दिरो से ही उपदेश किया है। अनेक वर्ष हुए मैंने मन्दिरो मे जाना छोड दिया है। परन्तु इस कारण मैं ऐसा नही समझता कि मैं स्वय पहिले की अपेक्षा अच्छा हो गया हूँ। मेरी माता जबतक मन्दिर मे जाने योग्य थी, तबतक उन्होने मन्दिर जाने मे एक भी अनुपस्थिति नही की। शायद उनकी श्रद्धा मेरी (श्रद्धा) से कही अधिक अच्छी थी। यद्यपि मैं मन्दिरो मे नही जाता पर लाखो व्यक्ति ऐसे है, जिनकी श्रद्धा इन्ही मन्दिरो, मस्जिदो और गिरजो के कारण दृढ बनी रहती है। वे सब के सब किसी मूढ विश्वास के अन्ध अनुयायी नही हैं, न धर्म के पीछे पागल हैं। उन्होने धर्मान्धता और मूढ विश्वास का ठीका नही ले रखा है। इन बुराइयो की जड तो हमारे दिलो और दिमागो मे है।

यह बात तो माननी ही पडेगी कि मन्दिरो और मन्दिर-द्वारा उपासना की विधियो मे आमूल सुधार की आवश्यकता है। परन्तु मन्दिर-प्रवेश का प्रश्न छोड दे तो सभी तरह के सुधार पर जोर देना रोग के साथ व्यर्थ का हस्तक्षेप होगा। मुझे मालूम है कि अमरीकी मित्र की आपत्ति इस बात पर नही है कि मन्दिरो मे अपवित्रता है या खराबिया हैं। उनकी आपत्ति तो इससे कही अधिक गहरे जाती है। उन्हे मन्दिरो मे तनिक भी विश्वास नही है। मैंने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि दिनानुदिन के अनुभव से जो बातें जाँची जा सकती हैं उन पर विचार करें तो उनकी धारणा टिकने योग्य नही रह जाती। मन्दिरो की आवश्यकता से इन्कार

करना व्यक्त धर्म मानने और ससार मे रहने की आवश्यकता से इन्कार करना है।
—ह० से०, १७।३।१९३३]

- **मनुष्य का शरीर. . .औचित्यपूर्वक परमात्मा का मन्दिर कहा गया है।**
- **कुछ शरीर ऐसे हैं जो परमात्मा के मन्दिर हैं।**
- **मन्दिरो और मन्दिर-द्वारा उपासना की विधियो मे आमूल सुधार की आवश्यकता है।**
- **मन्दिरो की आवश्यकता से इन्कार करना व्यक्त धर्म मानने और ससार मे रहने की आवश्यकता से इन्कार करना है।**

१४५. अन्तर्नाद

जहा तक मैं जानता हूँ किसी ने किसी पर प्रकट होने वाले अन्तर्नाद की सभावना पर आपत्ति नही की है। यदि एक व्यक्ति का भी यह दावा सचमुच सिद्ध हो सके कि वह अन्तर्नाद सुनकर उसके अनुरूप आचरण करता है तो ससार का इससे लाभ ही है। बहुत-से लोग इसका दावा कर सकते हैं। परन्तु वे सब अपने दावे को सिद्ध नही कर सकेंगे। लेकिन इस प्रकार झूठा दावा करनेवालो की रोक के लिए भी इस अन्तर्नाद को न दबाया जा सकता है न दबाना चाहिए। यदि बहु-सख्यक लोग सत्यतापूर्वक अन्तर्नाद व्यक्त कर सके तो इसमे कोई भय नही। लेकिन दुर्भाग्य यह है कि पाखण्ड का कोई इलाज नही। इस विचार से कि बहुतेरे लोग उसकी नकल करेंगे, सत्यता को दबाया न जाना चाहिए। अन्तर्नाद को सुन-कर आचरण करने का दावा करनेवाले लोग समस्त ससार मे रहे हैं। लेकिन उनके अल्पजीवी कार्यकलापो से अब तक ससार की कोई हानि नही हुई है। इस नाद को सुन सकने के पहिले व्यक्ति को दीर्घ और कठोर तपस्या से गुजरना पडता है और जब यह अन्तर्नाद सुनाई पडने लगता है, वह अचूक होता है।
—ह० ज०। ह० से०, २४।३।१९३३]

१४६. ईश्वरेच्छा

मनुष्य कुछ और सोचता है, ईश्वर कुछ और करता है। कहना ही पडता है, ईश्वरेच्छा बलीयसी। ईश्वर सब कुछ करता हुआ भी कर्त्ता का दायित्व अपने सिर नही लेता।
—ह० ज०। ह० से०, २८।४।१९३३]

१४७. कठोर स्वामी का दास हूँ

मैं इस अत्यन्त कठोर स्वामी (ईश्वर) का आधी शताब्दी से अधिक स्वेच्छा-प्रेरित दास रहा हूँ। जैसे-जैसे समय बीतता गया है वैसे-वैसे उसकी आवाज़ मुझे अधिकाधिक स्पष्ट सुनाई पडती गई है। मेरी अत्यन्त अन्धकारपूर्ण घडियो मे भी उसने कभी मेरा साथ नही छोडा। उसने अक्सर स्वय मुझसे मेरी रक्षा की है और मेरे पास जरा भी स्वाधीनता नही रहने दी। मैंने उसके प्रति जितना अधिक समर्पण किया उतना ही अधिक आनन्द मुझे प्राप्त हुआ है।

—ह० ज०, ६।५।१९३३]

१४८. शरीर रखने से धर्म-रक्षा नहीं

धर्म का आचरण कोई आसान चीज़ नही है। शरीर को रखने से धर्म की रक्षा नही होती, पर शरीर को छोडने से ही धर्म की रक्षा होती है। यह शरीर कहा चिरस्थायी है ?

— १९।८।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० ३६२]

१४९. गुण की उपेक्षा

धर्म मे गुण की उपेक्षा करने से विनाश तक की सम्भावना हो सकती है।

—ह० ज०। ह० से०, २५।८।१९३३]

१५०. धार्मिक आन्दोलन

धार्मिक आन्दोलन मे श्रद्धा का स्थान बडे महत्व का होता है। अत कई बातें अज्ञात ही रहती हैं और उनका प्रभाव प्राय नही जाना जा सकता। धार्मिक आन्दोलन की समय-समय पर माप नही की जा सकती, जिस प्रकार साधारण व्यवहार के आन्दोलनो की माप की जा सकती है, कारण कि इनके तत्व अधिकाशत अपने जाने हुए और नियन्त्रण मे होते हैं।

—ह० ज०। ह० से०, २५।८।१९३३]

१५१. धर्म की रक्षा

इस युग मे धर्म के लिए तलवार की लडाई नही होती, धर्म की जागृति, धर्म की रक्षा तलवार के बल पर नही की जाती, न की जानी चाहिए। किन्तु आज बुद्धि से और हृदय मे धर्म की तुलना हो रही है।
—ह० व०, ह० से०, २०।१०।१९३३]

१५२. स्त्री-द्वारा धर्म-रक्षा

यदि इस बुद्धि-प्रधान युग मे स्त्री धर्म की रक्षा करना चाहती है तो उसे दरिद्र-नारायण की सेवा करनी होगी, शिक्षण लेना होगा।
—वर्धा, २५।१०।१९३३। बापू के पत्र बजाज परिवार के नाम, पृ० १०२]

१५३. मेरे धर्म की शिक्षा

मेरे धर्म ने यह नही सिखाया कि मैं किसी को अपना शत्रु समझूं।
—नागपुर ८।११।१९३३। ह० से०, २४।११।१९३३]

१५४. धार्मिक प्रवृत्ति का प्रभाव

ऐसी एक भी धार्मिक प्रवृत्ति कभी देखने मे नही आई जिसका असर सामाजिक जीवन के अनेक पहलुओ पर न पडा हो, और शायद इसी कसौटी से हम महान धर्म-प्रवृत्ति की धार्मिकता को पहिचानते हैं।
—नागपुर ८।११।१९३३। ह० से०, २४।११।१९३३]

१५५. मेरा प्रेरणा-स्रोत

मेरा जीवन धर्म के सहारे चल रहा है। मै कह चुका हूं कि मेरी राजनीति का उद्‌गम-स्थल भी धर्म ही है। मेरी राजनीति और धर्मनीति मे कोई अन्तर नही। जहा मुझे राजनीति मे मायापच्ची करनी पडी, वहा भी मैंने अपने जीवनाधार धर्म-तत्व की कभी उपेक्षा नही की।
—नागपुर ९।११।१९३३। ह० से०, २४।११।१९३३]

१५६. धर्म और राजनीति

ससार मे ऐसी एक भी धार्मिक प्रवृत्ति नही आई, जिसका राजनीतिक परिणाम न हुआ हो। धर्म की यह विशेषता है कि उससे अन्य परिणाम निकलते ही है।
—अमरावती, १६।११।१९३३। ह० से०, १।१२।१९३३]

१५७. धर्म और कानून

मैं धर्म मे कानूनी हस्तक्षेप नही चाहता।
—ह० से०, ८।१२।१९३३]

१५८. धर्म-पालन

सभी लोग मेरा त्याग कर दे, फिर भी मुझे धर्म का पालन अवश्य करना है। शास्त्र कहता है कि धर्म-पालन के लिए अन्य किसी के सग-साथ की जरूरत नही, केवल ईश्वर के साथ की जरूरत है। धर्म रूपी रत्न का करोडो आदमी उपयोग कर सकते हैं। जितना ही अधिक उसका उपयोग किया जायगा, उतना ही उसका जौहर चमकेगा।
— रायपुर। ह० से०, २२।१२।१९३३]

१५९. ईश्वर

हम सब एक ही परमपिता की सन्तान हैं। हम अलग-अलग नाम से उसका भजन करते है। ईश्वर तो एक ही है, भेद केवल इतना है कि हम उसे अनेक नामो से पहिचानते हैं।
— दिल्ली (महिला सभा के भाषण से)। ह० से० २९।१२।१९३३]

१६०. अन्तर्नाद

मैंने आत्मशुद्धि करने के लिए अथक प्रयत्न किया हे, इसलिए मुझमे अन्तर्नाद को सही और स्पष्ट रूप मे सुनने की थोडी सी शक्ति आ गई है।
—'दि एपिक फास्ट' १९३३, पृ० ३४]

१६१. सभी धर्म समान हैं

मैं संसार के सभी बड़े धर्म—मजहबों को सत्य मानता हूँ। मेरा विश्वास है कि वे सब ईश्वर की देन हैं। मेरा यह भी विश्वास है कि जिन कौमों में वे प्रकट हुए हैं, उनके लिए वे जरूरी थे। मैं मानता हूँ कि अगर हम विभिन्न धर्मों के महान ग्रन्थों को उसी दृष्टि से पढ़ें, जिस दृष्टि से उन्हें उन धर्मों के अनुयायी पढ़ते हैं, तो हमें मालूम होगा कि सब का मूल एक ही है और वे तमाम धर्म-मजहब एक दूसरे के पूरक हैं।

— त्रिचनापल्ली, १०।२।१९३४। ह० से०, २।३।१९३४]

१६२. हमारी हर एक प्रवृत्ति का आधार

धार्मिक मनुष्य के प्रत्येक कर्म का स्रोत उसका धर्म होता है, क्योंकि धर्म का अर्थ है ईश्वर के साथ बन्धन। कहने का मतलब यह है कि हमारी हर एक साँस का नियन्त्रण ईश्वर करता है।

— ह० ज०, २।३।१९३४]

१६३. धर्मों का उद्देश्य

सब धर्म—मजहब एक ही सृजनकर्त्ता को पहिचानने के लिए इस दुनिया में आये हैं।

— ह० से०, ९।३।१९३४]

१६४. सर्वधर्म-समन्वयी प्रार्थना

मेरे लिए संसार के समस्त मुख्य धर्म समान हैं, क्योंकि वे सभी सच्चे हैं। मानव जाति की आध्यात्मिक उन्नति में जो कमी अनुभव की जाती है, उसे ये सारे धर्म—मजहब पूरी करते हैं। इसलिए मुझे सौंपे हुए मुसलमान, पारसी और ईसाई बालकों का उन्हीं के धर्मानुसार पालन करने में मुझे कभी कोई कठिनाई नहीं हुई। उनके विशिष्ट धर्मशास्त्रों के अनुसार उन्हें विशेष पूजा-पद्धति सिखलाने को उनके माँ-बाप ने कहा, इसलिए मुझे उनके धर्म का कुछ साहित्य भी देखना पड़ा। किसी मनुष्य का अभिप्राय जानना हो तो सम्भवतः सरलतम मार्ग यह है

कि उसकी प्रार्थना का पता लगाया जाय। नीचे मैं प्रार्थना के दो प्रकार देता हूँ।

१. हे प्रभो, तू अपने सिरजे हुए सब लोगो को सद्‌बुद्धि प्रदान कर, जिसके द्वारा प्रत्येक मनुष्य अपने प्रकाश के अनुसार तेरी उपासना करे और अपने धर्म मे रहकर विकास को प्राप्त हो।

२ हे प्रभो, तू अपने सिरजे हुए सब लोगो को सद्‌बुद्धि दे, जिसके द्वारा प्रत्येक मनुष्य उसी के अनुसार तुझे पूजे और तेरा अनुसरण करे, जिसके अनुसार पूजने और अनुसरण करने का मैं प्रयत्न करता हूँ।

स्पष्ट है कि पहिली प्रार्थना ऐसी है, जिसे सभी कर सकते है। वह सर्वग्राही है। इसलिए इस प्रकार की प्रार्थना, जो व्यक्ति या सस्था स्वीकार करेगी, वह हिन्दू बालक का हिन्दू-रूप मे, मुसलमान बालक का मुसलमान रूप मे, ईसाई बालक का ईसाई-रूप मे अन्त करणपूर्वक पालन-पोषण कर सकेगी। किन्तु प्रार्थना के दूसरे पन्थ पर चलनेवाला व्यक्ति अन्त करणपूर्वक तो अपने सम्प्रदाय वालो को ही ले सकता है। वह दूसरे सम्प्रदाय वालो को अपनी स्पष्ट इच्छा प्रकट करके, अपने धर्म मे धर्मान्तरित किये बिना, नही ले सकता।

—ह० ज० । ह० से०, १३।४।१९३४]

● संसार के सभी मुख्य धर्म समान हैं, क्योंकि सभी सच्चे हैं।

१६५. सर्वधर्म-समादर

. .ईश्वर ने विभिन्न धर्मों की सृष्टि की है और उसके भक्त भी भिन्न-भिन्न धर्मों मे हुए हैं। मैं इस विचार को अपने हृदय मे छिपाकर भी कैसे स्थान दे सकता हूँ कि मेरे पडोसी का धर्म मेरे धर्म से घटिया है, इसलिए वह अपना धर्म छोडकर मेरा धर्म स्वीकार कर ले। एक सच्चे और विश्वसनीय मित्र की हैसियत से मैं केवल यह इच्छा कर सकता, यही प्रार्थना कर सकता हूँ कि मेरा पडोसी अपना ही धर्म पालन करते हुए पूर्णता प्राप्त करे। उस साईं के अनेक घर हैं और वे सब एक समान पवित्र है। ससार के सभी बडे-बडे धर्म-मजहब मानव जाति की समता, बन्धुता और पारस्परिक सहिष्णुता की शिक्षा देते हैं।

—सीतामढी । ह० ज० २०।४।१९३४, ह० से०, ४।५।१९३४]

१६६. धर्म-सेवक

. जो धर्म की सेवा करना चाहते हैं, उन्हे मानापमान की .छोटी बातो पर ध्यान नही देना चाहिए।

—ह० से० ४।५।१९३४]

१६७. धर्म-परिवर्तन

[एक ईसाई मिशनरी से वातचीत के मध्य व्यक्त किये गये विचार]

मैं मनुष्य द्वारा किये गये धर्म-परिवर्तन मे विश्वास नही करता। हमारे यहा एक दृष्टान्त प्रचलित है। कुछ अन्धे आदमी हाथी देखने चले। किसी ने (उसकी) सूंड टटोली और किसी ने पूंछ, किसी ने पैरो को पकडा और किसी ने कानो को टटोला। प्रत्येक ने अपने भिन्न-भिन्न स्पर्श-ज्ञान से अपने मन मे हाथी के रूप की कल्पना कर ली। सत्य के विषय मे भी यही वात है। सत्यशोधक अपने परिमित ज्ञान से उसकी थाह लेना चाहते है। जिसे उसका जितना ज्ञान होता है, उतने को ही वह पूर्ण समझ वैठता है। सभी अपनी परिमित दृष्टि से सत्य के दर्शन का प्रयत्न करते है। इसलिए यह तो स्पष्ट ही अभिमान है कि दूसरो को अपने धर्म मे मिलाने का प्रयत्न किया जाय। प्रभु के पास जाने के उतने ही मार्ग हैं, जितने इस पृथिवी पर मानव प्राणी हैं।

—ह० से० ४।५।१९३४]

१६८. अवतार बनाम इतिहास-पुरुष

इतिहास का ईसा वही नही है, जिसे ईसाई मानते-पूजते हैं। ईसाइयो की दृष्टि मे वह साक्षात् ईश्वर है। इसी प्रकार मैं अपने स्वकल्पित कृष्ण को मानता हूँ। मैं अपने कृष्ण को ईश्वरवत् मानता हूँ। मुझे ऐतिहासिक कृष्ण से कुछ लेना-देना नही है। ऐतिहासिक पुरुष कभी के चल वसे, पर रहस्यपूर्ण अवतार, जीवित आदर्श तो अमर हैं। वे पार्थिव अस्तित्व से भी अधिक यथार्थ हैं। धर्म इतिहास पर कदापि निर्भर नही हो सकता। यदि ऐसा होता तो धर्म कभी का नष्ट हो गया होता। सन्त तुलसीदास ने ठीक ही कहा है कि राम का नाम राम से भी वडा है।

कहउ नाम वड राम तें निज विचार अनुसार।

—ह० से० ,४।५।१९३४]

- **धर्म इतिहास पर कदापि निर्भर नहीं हो सकता।**

१६९. आदर्श मन्दिर

जिस समाज के लिए मन्दिर वनवाये जाते हैं वे उस समाज के प्रतिविम्व-रूप होते है। मन्दिरो के आसपास का वातावरण ऐसा होना चाहिए, जिससे कुछ समय

के लिए, तो उनमे पूजा करनेवाले अपनी कुत्सित भावनाओ से ऊपर उठकर स्वय को थोडा ऊचा उठता अनुभव करे। मन्दिर की भूमि पर बालक-बालिकाओ के लिए प्रारम्भिक पाठशाला होती थी। मन्दिर के साथ ऐसे विद्वान् पण्डितो का सम्बन्ध होता था जो जिज्ञासुओ को सस्कृत साहित्य पढाते थे। मन्दिर गरीबो के आश्रय-स्थान हैं, इसलिए उन्हे रात-बिरात वहा शरण मिलती थी। वहा सत्सग के लिए बहुत बडे कमरे या खुली जगह होती थी। हमारे प्राचीन मन्दिरो का यह आदर्श था। मैंने अपनी भ्रमण-यात्राओ मे ऐसे अनेक मन्दिर देखे है। अगर मन्दिरो के ट्रस्टी इस सरल आदर्श को कार्यरूप मे परिणत करने का यथासाध्य प्रयत्न करे, तो जैसा मैंने ऊपर कहा है, उसकी पूर्ति होने मे कठिनाई नही आयेगी।

—बालियाता (उडीसा) । ह० से०, १।६।१९३४]

● **मन्दिर. . . .समाज के प्रतिबिम्ब होते हैं ।**

१७०. धर्म में काट-छाँट अवाञ्छनीय है

धर्म का अग-भग करके क्या हम उसे चला सकते है? धर्म का प्रत्येक अग उसका अविभाज्य अग होता है। डाट मे से एक ईंट निकाल ली जाय, तो वह ढह जाती है। इसी प्रकार धर्म के एक अग का उच्छेद हो गया, एक ईंट निकाल ली गई, तो धर्म की सारी इमारत को गिरी समझिए।

—भावनगर, १।७।१९३४ । ह० से०, २०।७।१९३४]

१७१. अध्यात्म-बल

याद रखिए कि हमारे सब अस्त्र-शस्त्र आध्यात्मिक है। हममे एक बार आध्यात्मिक शक्ति आई कि फिर कोई उसे रोक नही सकता। मैं यह बात अनेक वर्षों के अनुभव-सिद्ध विश्वास के आधार पर कह रहा हूँ। यह आध्यात्मिक शक्ति चर्म-चक्षु से प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाली कोई साकार वस्तु नही है, फिर भी मै कहता हूँ कि मुझे तो वह प्रत्यक्ष दीख पडनेवाली-जैसी ही चीज़ लगती है।

—ह० से०, ७।९।१९३४]

१७२. धर्म-परिवर्तन सौदा नहीं

धर्म सौदे की चीज़ नही। कौन किस धर्म मे रहे, यह निश्चय करना प्रत्येक व्यक्ति का अपना काम है।

धर्म मे किसी भी रूप मे कोई सौदा नही किया जा सकता। और आध्यात्मिक बातो के लिए अगर इस तरह की कोई बात कही जा सकती हो, तो हम यही कह सकते है कि धर्म का सौदा अपने रक्त से ही किया जा सकता है।

—ह० ज० । ह० से०, २१।३।१९३६]

१७३. धर्म-परिवर्तन

धर्म-परिवर्तन, निश्चय ही मनुष्य और उसके सृजनकर्त्ता के बीच का मामला है। केवल सृजनकर्त्ता ही अपने सिरजे हुए (व्यक्ति) के हृदय को जानता है। अगर हृदय शुद्ध नही है तो धर्म-परिवर्तन का अर्थ मेरी राय मे ईश्वर और धर्म मे इन्कार करना है। हृदय-शुद्धि बिना धर्म-परिवर्तन मे ईश्वर-भीरु मनुष्य को दुःख ही होता है, आनन्द नही।

—ह० ज० । ह० से०, ६।६।१९३६]

१७४. श्रद्धा का अर्थ धर्म-परिवर्तन नही

अगर कोई बाइबिल पर श्रद्धा रखना चाहता है तो भले ही रखे। पर उसे अपना धर्म क्यो छोडना चाहिए ? क्या इस धर्म-परिवर्तन से ससार को शान्ति प्राप्त होगी ? धर्म तो व्यक्तिगत वस्तु है। सच्चा धर्म यह है कि हमे जितना प्रकाश मिला है, उसी के अनुसार अपने जीवन को उच्चतम बनाये, अपने पास जो अच्छी से अच्छी चीज हो उसे दूसरो को दे और इस तरह मानव जाति—जो ईश्वर के पास पहुँचने की कोशिश कर रही है—उसके सम्मिलित प्रयत्न मे हम भी हाथ बटाये।

—ह० ज० । ह० से०, २८।११।१९३६]

१७५. मेरी आस्था

मुझे गीता पर जितनी आस्था है, उतनी ही बाइबिल पर है। मैं मानता हूँ कि दुनिया के सारे महान धर्म उतने ही सच्चे है, जितना कि मेरा अपना धर्म है। पर इन धर्मो के अनुयायी जब आज खुद अपने ही हाथो अपने धर्म को उपहासास्पद बनाते है तब मेरे दल को चोट पहुँचती है।

—ह० ज० । ह० से० , २।१।१९३७]

१७६. प्रभु के कार्य

परमात्मा दयालु है। उसके हर काम मे अनन्त बुद्धि ने द्रव्य भरा है। वह ऐसी कोई चीज नही बनाता, जिसका कोई प्रयोजन न हो। हमे अपने अज्ञान को दूर करके बुद्धि से काम लेना चाहिए और इस श्रद्धा से सोचना चाहिए कि प्रत्येक प्राणी की सृष्टि किसी विशेष प्रयोजन से हुई है। हमे धैर्य के साथ उस प्रयोजन को ढूढ निकालना चाहिए।

—ह० ज०। ह० से०, ९।१।१९३७]

१७७. मन्दिर हों तो ऐसे

[त्रावणकोर-यात्रा के दौरान पन्दलाई गाँव में दिये गये भाषण का अंश।]

. मन्दिरो मे नवीन आध्यात्मिक प्राणो का सचार होना चाहिए। और एक समय उनमे जो शक्ति और पवित्रता थी वह फिर आ जानी चाहिए। मैं मानता हूँ कि यह तभी हो सकता है जब कि ये मन्दिर ऐसे पुजारियो के हाथ मे हो, जो अपने कर्त्तव्य को पहिचानते हो, जिन्हे मन्दिरो की पवित्रता कैसे सुरक्षित रह सकती है, इस बात का ज्ञान हो, जिन्हे यह बुद्धि हो कि उन्हे खुद अपने कर्त्तव्य का पालन करना है। दूसरे शब्दो मे कहूँ तो ये लोग केवल आजीविका के लिए पूजा-अर्चा का व्यवसाय करनेवाले अज्ञानी मनुष्य न हो। उन्हे मन्दिर मे जानेवालो को ईश्वर का सन्देश पहुँचाने के लाभ मे स्वगौरव माननेवाला होना चाहिए। वे अपने आचरण से यह बता दें कि ये मन्दिर के धाम हैं।

इन मन्दिरो मे शुद्ध धर्मज्ञान देने का प्रबन्ध होना चाहिए। मन्दिर सोने या चाँदी की मूर्तियो के वासस्थान ही नही, बल्कि जीवन्त ईश्वर के धाम बनने चाहिए। इसके बाद मैं यह चाहता हूं कि मन्दिरो का इतिहास ऐसी भाषा मे लिखा हुआ हो, जिसे सामान्य लोग समझ सकें। वे इन मन्दिरो के सम्बन्ध मे जो जानकारी प्राप्त करना चाहे उन्हे वह मुफ्त मे या सस्ती कीमत मे मिलनी चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि योग्य धर्म-शिक्षको की शिक्षा के लिए एक विद्यालय होना चाहिए और उन धर्म-शिक्षको के हाथ लोगो को धर्मशिक्षण देने का काम सौंपना चाहिए।

—ह० ज०। ह० से०, २०।२।१९३७]

१७८. दूसरे क्या कहते है ?

एक लम्बा पत्र मेरी फाइल मे कुछ अर्से से पडा हुआ था। उसका भाव यह है—

"धर्मान्तर के विषय मे आपका रुख प्रसिद्ध है। दलित जातियो के लिए आपको हिन्दू-धर्म से जो आशा है वह भी हम जानते हैं। पर उससे पता चलता है कि प्रचलित हिन्दू-धर्म की अनेक रूढ़ियो का आपको खयाल नहीं है। स्वामी विवेकानन्द और सर एस० राधाकृष्णन ने जिस तरह इसका वर्णन किया है उसे देखते हुए हिन्दू-धर्म की विशेषताओ और दिव्यता को कौन स्वीकार नहीं करेगा ? पर क्या सर्व-साधारण हिन्दुओ को यह धर्म इस तरह समझाया जाता है ? अथवा धर्मधिकारियो द्वारा उस पर इस प्रकार अमल भी होता है ? वे लाखो-करोडों लोग क्या चाहते हैं ? आज तो उन्हे पेट भर रोटी, रहने को मकान और शरीर पर कपडो की जरूरत है। मन्दिर-प्रवेश तो बहुत आगे की बात है।

"प्रत्येक धर्म उसके फल से पहिचाना जाता है। ईसाई-धर्म और हिन्दू-धर्म की तुलना कीजिए। ईसाई लोग जो दान पाते हैं उसका ठीक-ठीक हिसाब रखते हैं, और सेवा के रूप मे उसका बदला देते हैं। पूजाधिकार सबको एक-सा है। वे कितनी लोकसेवक सस्थाए चलाते हैं। उनकी श्रद्धा का यही सबसे बडा प्रमाण है। अब आपके मन्दिरो और मठो को देखिए। उनको दिये गये दान और सम्पत्ति का वहा किस प्रकार उपयोग होता है ? प्राय एक ओर तो धार्मिक अन्धविश्वासों को बढ़ाने और दूसरी ओर इन मठाधीशो के वैभव-विलास मे ही वह बरबाद होता है। अपने शिष्यो और जनता पर इनके कुछ विशेष अधिकार होते हैं, जिनसे बलात् भी धन वसूल किया जाता है। क्या यह अत्याचार नहीं है ? और फिर इस तरह एकत्र किये गये धन का कभी हिसाब नहीं रखा जाता। आज तो हिन्दू-धर्म का व्यावहारिक रूप यही रह गया है। तब दलित जातिया क्यो उसके खिलाफ बगावत का झण्डा खडा न करें ? एक तरफ तो जमीन का लगान बढ़ाकर राज्य उनसे अपनी उपज का बडा हिस्सा ले लेता है और दूसरी तरफ ये धर्माधिकारी उन्हे लूटते रहते हैं। तब क्यो न जनता दाने-दाने के लिए मुहताज हो ? आज उन्हे अधिक काम और इन अनेक गृह-उद्योगो की जरूरत नहीं है। उन्हे तो औद्योगिक शिक्षा, औषधालय, अच्छे-अच्छे मातृ-मन्दिर और अच्छे खाने की जरूरत है। इसके लिए कीमत भी उन्होंने राज्यकर और विविध दानो के रूप मे दे दी है, पर उन्हे धोखा दिया जा रहा है। उसका उन्हें बदला नहीं मिल रहा है। राज्य से तो फिर भी कुछ मिलता है, पर धर्म से कुछ भी नहीं मिलता।

"यहा हिन्दुस्तान मे और अन्य देशो मे भी लोग ईसाई धर्म-प्रचारको की चाहे जितनी कडी आलोचनाए करें, पर मैं तो कहूगा कि इसके बावजूद उनसे जितनी सेवाए हो रही हैं उनके मुकाबिले मे कोई खडा नहीं रह सकता। आज तो उन्हें पहिले जैसे दान भी नहीं मिल रहे हैं। दाता लोग कहने लगे हैं कि

हिन्दू-धर्म महान है, वह खुद ही अपने समाज की सेवा क्यों न कर लें। पर अगर आप यह मानते हैं कि ईसाइयों-द्वारा कुछ अच्छी सेवा हो रही है, तो क्या यह अच्छा न होगा कि इन मन्दिरों और मठो के अपार धन-सग्रह मे से कुछ हिस्सा इन ईसाइयो को दे दिया जाय, जिससे उसका सदुपयोग तो हो? उनके पास सुन्दर सगठन है और ईमानदार काम करनेवाले हैं। हिन्दू-धर्म गरीब देहातियों के लिए क्या कर रहा है? कुछ भी नहीं। सरकार अपने ढग से कुछ करती है, पर उसके नौकरो को भी यहां भत्ता चाहिए। आप ईसाइयो की सेवा की तो कद्र करते हैं, पर इस तरफ ध्यान ही नहीं देते कि इन मन्दिरो और मठों मे पड़े हुए धन का कैसे लोक-हित के लिए उपयोग किया जाय? जब इन धार्मिक सस्थाओं का सेवा के लिए उपयोग होगा तभी हिन्दूधर्म का भला होगा।"

दूसरो की आँखो से अपने को देखना अच्छा ही है। हम चाहे जितनी कोशिश करें, हम अपने आपको और खासतौर पर अपनी खामियो को पूरी और अच्छी तरह कभी नही देख सकते। यह तो हम अपने आलोचको की आँखो से ही देख सकते हैं, बशर्ते कि उनकी टीका से हम नाराज़ न हो, बल्कि उसे अच्छे भाव मे ग्रहण करे। जो हो, मैं इस टीका पर जितना भी समतापूर्वक हो सकेगा विचार करना चाहता हूँ। हिन्दूधर्म के आज के व्यावहारिक रूप मे जो गम्भीर त्रुटिया है उन्हे हमे स्वीकार करना ही पडेगा। बहुत-से मठ तथा उनकी व्यवस्था हिन्दू-धर्म के लिए कलक की बात है। दान के रूप मे वहा जो धन दिया जाता है उसका बदला दाताओ को सेवा के रूप मे नही मिलता। यह स्थिति तो ऐसी है जिसका या तो सुधार होना चाहिए या समूल नाश कर देना चाहिए।

हम यह भी स्वीकार करते है कि ईसाई मिशनो के द्वारा दया-धर्म का थोडा-बहुत काम होता है।

पर मेरी इन स्वीकृतियो का अर्थ यह न समझ लिया जाय कि उपर्युक्त पत्र के लेखक ने जो परिणाम निकाले हैं, उनसे मैं सहमत हूँ। हरिजनो के साथ-साथ आर्थिक और शिक्षा-सम्बन्धी सहायता की जरूरत तो अधिकाश अन्य हिन्दुओ को भी है। पर हरिजनो के मार्ग मे कुछ विशेष रुकावटे है। सवाल यह नही है कि किन रुकावटो पर उन्हे रोष है। उच्च कहलाने वाले हिन्दुओ का यह धर्म है कि वे हरिजनो के पैरो मे पडी हुई उन तमाम बेडियो को तोड दें, चाहे हरिजनो को वे (बेडिया) प्रिय भी क्यो न हो। लेखक यह तो स्वीकार करता है कि विवेका-नन्द और राधाकृष्णन-द्वारा प्रतिपादित हिन्दू-धर्म दिव्य है। तब उसे यह भी पता चल जाना चाहिए था कि वही तो छनछन कर हिन्दू जनता मे फैला हुआ है। मैं तो यह भी कहने का साहस करता हूँ कि एक वर्ग की हैसियत से साधारणतया

हिन्दुस्तान की देहाती जनता भले ही असस्कृत नजर आवे, मगर मनुष्य-स्वभाव की स्वाभाविक गुण-सम्पत्ति मे वह किसी भी देश की ग्रामीण जनता की तुलना मे कम नही उतरेगी। इसकी साक्षी तो वे अधिकाश विदेशी यात्री दे सकते है जो ह्युनत्साग के समय से आज तक यहा आये है और जिन्होने अपने प्रवासो के वर्णन लिख रखे हैं। हिन्दुस्तान के देहातियो की स्वाभाविक सस्कृति, उनके मकानो मे दिखाई देनेवाली कला, उनके आचार-व्यवहार और सयम, ये सब उस धर्म की देन है जो अनादि काल से उन्हे एक सूत्र मे बाँधे हुए हैं।

हिन्दू-धर्म को तुच्छ दिखाने के अपने उत्साह मे लेखक केवल इस बात को भूल रहा है कि हिन्दू-धर्म ने सुधारको की एक फौज-की-फौज पैदा की है, जिन्होंने अन्ध-विश्वास, पूर्वग्रह और अन्य बुराइयो के खिलाफ सफलतापूर्वक युद्ध किया है। हिन्दू-धर्म ने गरीबो की सहायता करने की ऐसी पद्धति को ढूढ निकाला है, जो अनेक विदेशी प्रशासको के लिए एक ईर्ष्या की वस्तु बन गई है। और फिर भी उसने अपना ढोल नही पीटा है। मैं स्वय अनुभव करता हू कि अब भी बहुत कुछ करने के लिए बाकी है। उसका कृष्ण-पक्ष भी है ही। परन्तु परोपकार की दृष्टि से उसने अपनी उपयोगिता सिद्ध करके दिखा ही दी है। हिन्दुस्तानी लोगो को रिपोर्ट वगैरह छापकर अपने दानो का ढिढोरा पीटने की आदत नही है। पर जिसके आँखे है, वह देश मे फैले हुए असख्य अन्नसत्रो, लगरो और धर्मार्थ औषधालयो को, जो हिन्दुस्तानी ढग से चल रहे है, देख सकता है।

—ह० ज०। ह० से०, ६।३।१९३७।]

१७९. अन्य धर्मो के प्रति मेरी दृष्टि

दूसरो के धर्मग्रन्थो की आलोचना करना या उनके दोष बताना मेरा काम नही है, परन्तु उनमे जो सत्य है उसे घोषित और कार्यान्वित करना मेरा सौभाग्य है और होना चाहिए। इसलिए कुरान या पैगम्बर के जीवन की जिन बातो को मैं समझ नही सकता, उनकी मैं आलोचना या निन्दा नही कर सकता परन्तु उनके जीवन के जिन पहलुओ को मैं जान और समझ सका हू, उनके लिए अपनी प्रशसा व्यक्त करने के हर मौके का मैं स्वागत करता हूँ। जिन बातो को समझने मे कठि-नाइयाँ सामने आती है उन्हे मैं भक्त मुसलमानो की दृष्टि से देखकर सन्तोष कर लेता हूँ और इस्लाम के प्रमुख मुसलमान व्याख्याकारो की रचनाओ की सहायता मे उन्हे समझने की कोशिश करता हू। अपने धर्म से भिन्न धर्मो के प्रति ऐसी आदर की दृष्टि रखकर ही मैं सब धर्मो की समानता का नियम सिद्ध कर सकता हूँ।

परन्तु हिन्दू-धर्म को शुद्ध करने और शुद्ध रखने के लिए उसके दोष बताना मेरा अधिकार भी है और कर्त्तव्य भी। परन्तु जब अहिन्दू आलोचक हिन्दू धर्म की टीका-टिप्पणी करते और उसके दोषो की सूची बनाने लगते है, तब वे हिन्दू-धर्म के विषय मे अपना ही अज्ञान और उसे हिन्दू-दृष्टिकोण से देखने की अपनी असमर्थता ही घोषित करते हैं। इससे उनकी दृष्टि दूषित और निर्णय-शक्ति विकृत हो जाती है। इस प्रकार हिन्दू-धर्म के गैर-हिन्दू आलोचको का मुझे स्वय जो अनुभव है, वह मुझे मेरी मर्यादाओ का भान कराता है और यह सिखलाता है कि इस्लाम या ईसाई धर्म और उसके प्रवर्त्तको की आलोचना करने मे मुझे सावधान रहना चाहिए।

—ह० ज०, १३।३।१९३७]

१८०. धर्म की सहायता

[मि० कीथन नामक एक भाई गाधी जी से मिलने आये थे। उनकी समझ में गांधी जी के इस कथन का आशय ठीक से नहीं आ रहा था कि न केवल सब धर्म सच्चे हैं, बल्कि समान भी हैं; उन्हे लगा कि वैज्ञानिक दृष्टि से यह कथन सत्य नहीं हो सकता कि सब धर्म समान हैं। लोग प्रकृति-पूजकों और ईश्वर-वादियो के बीच तुलना करने लगेंगे। इसलिए मि० कीथन ने कहा, धर्मों की तुलना करने से कोई लाभ नहीं। ये तो जुदा-जुदा रास्ते हैं। आपका क्या ख्याल है? क्या हम दूसरे शब्दो से इस बात को समझ सकते हैं? उपर्युक्त प्रश्न का गांधी जी ने जो उत्तर दिया और इस प्रसग पर आगे जो वार्ता चली वह यहां दी जा रही है।—सम्पा०]

गाधी जी—आपका यह कथन ठीक है कि धर्मों की तुलना नही हो सकती। पर इसका यह अर्थ निकलता है कि वे समान हैं। उदाहरण लीजिए। जन्मत सभी लोग स्वतन्त्र और समान होते हैं। पर हम देखते हैं कि शरीर और मन से भी कई दूसरो की अपेक्षा खूब बलवान या बहुत कमजोर होते है इसलिए ऊपर से देखने मे दोनो के बीच कोई समानता नही होती। फिर भी मूलत दोनो मे समानता अवश्य है। इन कलेवरो को छोड दें तो ईश्वर कही आपको कीथन और मुझ गाधी के रूप मे थोडे ही देख रहा है। और इस अनन्त विश्व मे हमारे अस्तित्व की क्या गणना है? हम अणु-रेणुओ से भी नगण्य हैं। उन अणु-रेणुओ के बीच जिस प्रकार कोई छोटा या बडा नही कहा जा सकता, उसी तरह हमारा भी हाल है। असल मे, हम सब एक ही हैं। जाति, वर्ण (रग) शिक्षा, शरीर, आबोहवा और

राष्ट्रीयता के भेद तो क्षणिक है। इसी प्रकार सब धर्म भी मूलत समान है। अगर आप कुरान पढे तो आपको उसे मुसलमानो के दृष्टिकोण से पढना चाहिए। अगर बाइबिल पढना चाहे तो ईसाइयो के दृष्टिकोण से पढे और गीता पढने की इच्छा हो तो उसका ठीक तरीका हिन्दू-दृष्टिकोण से पढना है। एक धर्म के कुछ भाग को लेकर उनकी नुक्ताचीनी करके खिल्ली उडाने से क्या लाभ हो सकता है? मैथ्यू या जैनेसिस के पहले अध्याय को लीजिए। हम एक लम्बी वंशावली पढते है और उसके अन्त मे ईसा का एक कुमारी से जन्म होने का हाल पढते है। लीजिए, सामने एक दीवार खडी कर दी गई। पर मुझे यह सब एक ईसाई की दृष्टि से पढना चाहिए।

मि० कीगन—बाइबिल मे हम मूसा और ईसा का किस्सा पढते हैं। क्या हमे उन्हें समान ही समझना चाहिए?

गाधी जी—हा, जरूर। इसीलिए तो कहता हूँ कि सब पैगम्बर समान है। यह तो एक समस्तल है।

आइनस्टीन[1] की रिलेटिविटी[2] की परिभाषा मे हम सोचने लगें तो हमे सब समान दिखाई देंगे। पर मैं इस समानता का ठीक तरह से वर्णन नही कर सकता।

इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि वे सब सामान्यत बराबर और अपूर्ण भी है। यूक्लिड[3] की बताई सरल रेखा एक आदर्श वस्तु है। आप जितनी बडी रेखा खीचेंगे वह इस परिभाषा के उतनी ही निकट होगी। पर वह सच्ची सरल रेखा कभी नही कही जायगी। धर्मवृक्ष तो एक ही है, पर उसकी शाखाओ मे वह स्थूल या जड समानता आपको नही दिखाई देगी। वे सब बढ रही है। पर बढती हुई शाखा पर बैठनेवाला यह न कहे कि मेरी शाखा बडी और श्रेष्ठ है। कोई किसी से बढकर और घटिया नही है।

—ह० से० १३।३।१९३७]

● धर्म-वृक्ष तो एक ही है।

---

१. बीसवीं सदी के प्रसिद्ध वैज्ञानिक स्व० अल्बर्ट आइनस्टीन। वे यहूदी थे और जर्मन मे रहते थे। हिटलर की यहूदी-उत्पीडन नीति से त्रस्त होकर वे सयुक्त राज्य अमेरिका चले आये और यहीं उनकी मृत्यु हुई।

२ सापेक्ष्यवाद, भौतिक शास्त्र का युगान्तरकारी सिद्धान्त।

३ प्रसिद्ध ग्रीक भूमिति-शास्त्री।

१८१. धर्म-हेतु त्याग

धर्म के लिए लोगो ने अनेक सकट सहे हैं और मृत्यु का भी आलिगन किया है।
—ह० से० २०।३।१९३७]

१८२. अनुचित धर्म-परिवर्तन

जब किसी को धर्म-परिवर्तन के उद्देश्य से उसके धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्म का महत्व समझाया जाय, तो ऐसा उसकी बुद्धि या पेट अथवा दोनो को अपील करके ही किया जा सकता है।
—ह० ज०। ह० से० १२।६। १९३७]

१८३. ब्रह्मचर्य

[श्री बलवन्त सिंह को लिखे पत्र से]

ब्रह्मचर्य मे एक वस्तु यह है कि वीर्य निष्फल न होना चाहिए। जब उसकी ऊर्ध्व गति होती है तब माना जाता है कि वह निष्फल नही जाता। बात सही नही है। जो मनुष्य क्रोध करता है, वह वीर्य का दुर्व्यय करता है, अथवा नाश करता है, इसलिए वह निष्फल हुआ। उसी कारण ब्रह्मचर्य का इतने अश मे नाश हुआ। इसी कारण जो मनुष्य भोग-वृत्ति से स्त्री-प्रसग करता है उसके वीर्य का नाश होता है, क्योकि वह निष्फल जाता है। जब मनुष्य को किसी प्रकार की विषय-वासना नही है, स्त्री-पुरुष दोनो सन्तान चाहते हैं और इसी कारण मिलन होता है, तव वीर्य सम्पूर्णतया सफल होता है। इसलिए ऐसे दम्पति सम्पूर्णतया ब्रह्मचारी हैं। ऐसे दम्पति शायद करोडो मे मिलें।..
—सेगांव, ८।७।१९३८। 'बापू की छाया में' : बलवन्त सिंह, सस्करण, १९५७, न० जी० प्र० मं०]

१८४. ईश्वर-निर्भरता

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

मेरी कोई चिन्ता न करो। जबतक ईश्वर को मेरी ज़रूरत है वह मुझे पृथिवी पर रखेगा। मैं यहाँ होऊ या और कही, दोनो ठीक हैं। हमारी नही, उसकी इच्छा पूरी हो।
—सेगांव, वर्धा, ३।२।१९३९। बापू के पत्र : मीरा के नाम, पृ० २६८ न० जी० प्र० मं०]

१८५. आत्मघात का अधिकार

[युरोपीय बौद्ध डा० फाब्री से प्रश्नोत्तर]

डा० फाब्री—बुद्ध ने आत्महत्या करने वाले भिक्षुओं को माफ किया है। अपना जीवन खत्म कर देने के मनुष्य के अधिकार के बारे मे आप क्या कहेंगे? मैं तो जीवन को जीवन की दृष्टि से बहुत कम महत्व देता हूं।

गाधी जी—कुछ परिस्थितियो मे अपना जीवन खत्म कर देने का मनुष्य को पूरा अधिकार है। मेरे एक साथी को कोढ की बीमारी है। यह जानकर कि यह रोग असाध्य है और उनका जीवन जितना उनके लिए उतना ही उनकी सेवा-सुश्रूषा करनेवालो के लिए भी एक झझट है, हाल मे उन्होने भूखे-प्यासे रहकर प्राण त्याग देने का निश्चय किया। मैंने उनके इस विचार की सराहना की। उनसे मैंने कहा—अगर सचमुच आप ऐसा समझते हैं कि आप इस कष्ट को सहन कर लेंगे, तो आप ऐसा कर सकते है। मैंने यह इसलिए कहा, क्योंकि डूबकर या जहर खाकर एकाएक मर जाने से इस तरह धीरे-धीरे घुल-घुलकर मरना कितना भिन्न है। और मेरी यह चेतावनी पूरी तरह ठीक निकली, क्योकि किसी ने उन्हे यह आशा दिलाई की एक आदमी कोढ का इलाज कर सकता है, और अब मैं सुनता हू कि उन्होंने फिर खाना-पीना और उस आदमी का इलाज शुरू कर दिया है।

डा० फाब्री—मुझे लगता है कि कसौटी यह होनी चाहिए कि आदमी तकलीफ की बिल्कुल परवा न करे, और सबसे अच्छा यह है कि निर्वाण का प्रयत्न करे। इसके लिए यह भी जरूरी नहीं कि वह बीमार ही हो, वह जीवन के सघर्ष से थक कर भी ऐसा कर सकता है।

गाधी जी—नही, नही, मेरा मन आत्महत्या की बात स्वीकार नही करता। कसौटी यह नही है कि आदमी जीवन के सघर्ष से थक गया हो, बल्कि उसे ऐसा लगना चाहिए कि वह दूसरो पर भार-रूप है और इसलिए ससार का त्याग करना चाहता है, किसी तकलीफ से नही, बल्कि दूसरो पर अवलम्बित हो जाने के कारण भागना चाहता है। नही तो अपनी वेदना का उग्ररूप मे अन्त करने के लिए वह उससे भी ज्यादा तकलीफ बर्दाश्त करता है। लेकिन मान लीजिए कि मुझे नासूर हो गया है, और मेरी मृत्यु निकट है, तो मैं अपने डाक्टर से ऐसी कोई दवा देने के लिए भी कहूंगा जिससे मैं हमेशा के लिए सो जाऊं।

—ह० ज०। ह० से० २६।८।१९३९]

१८६. तत्त्व और आचार

एक मित्र ने यह पत्र भेजा है—

"३० सितम्बर के 'हरिजन' में 'क्या हिन्दुस्तान फौजी मुल्क है?' शीर्षक लेख के अन्त में आपने लिखा है—गति जीवन का अन्तिम ध्येय नहीं। मनुष्य तो अपने कर्तव्य से पैदल चलते हुए ही अधिक-से-अधिक दूर देखता और अधिक सच्चा जीवन व्यतीत करता है। और इसके नीचे आपने लिखा है: 'शिमला जाते हुए गाड़ी में'। मुझे आश्चर्य होता है कि आप में इतनी अधिक विनोदवृत्ति होते हुए भी आप यह क्यों नहीं देख सके कि 'शिमला जाते हुए गाड़ी में' यह वाक्य मनुष्य तो अपने कर्तव्य से पैदल चलते हुए अधिकाधिक देखता और अधिक सच्चा जीवन व्यतीत करता है, को उपहासास्पद बना देता है।"

एक जमाना था, जब इन मित्र को मेरी कार्यपद्धति पर आस्था थी, और इनका बहुमूल्य सहारा मुझे मिलता था। पर न जाने कैसे मैं अब उनकी कृपादृष्टि से वचित हो गया हूँ। उन्होने मेरे जिस लेख का मजाक उडाया है उसके पीछे जो सुन्दर विनोद था उसे समझने मे उन्हे कठिनाई नही होनी चाहिए थी, पर मुझे उनके मजाक का डक निकाल कर फेक देना चाहिए। और इसलिए मैं अपने मित्र को यह बतला दूँ कि मैंने जब यह लेख लिखा तब मेरा दिमाग ठिकाने था। जिस जगह यह लिखा गया था उस जगह को आसानी से बचाया जा सकता था। पर मुझे अपने उक्त वचन मे ज्यादा असर डालना था, और मेरे तथा मेरे आदर्श के बीच जो विशाल समुद्र पडा हुआ है, पाठको को उसका दर्शन कराना था। जिनके पैर डगमगाते हो, वे इस तथ्य को हृदय मे अकित कर लें कि यद्यपि मेरे आदर्श का स्पष्ट विरोध प्रदर्शित करनेवाले मेरी टिप्पणी ने इन मित्र को एक विनोद का कारण दिया है, तो भी मैंने ऐसी साख हासिल कर ली है कि जिन आदर्शों का मैं दावा करता हूँ, उन्हे आचार मे उतारने का जहाँ तक शक्य है, पूरा प्रयत्न करता हूँ। मुझे यदि अपने आदर्श के समीप पहुँचने का दिन-दूना, रात-चौगुना प्रयत्न करना है, तो मुझे चाहिए कि ससार को अपनी निर्बलताएँ और निष्फलताएँ भी देखने दूं, ताकि मैं दभ से बच जाऊँ और शरम के मारे भी इस आदर्श को प्राप्त करने की यथाशक्ति साधना करूँ। इन मित्र ने जो विरोध बताया है उससे यह भी जाहिर होता है कि आदर्श और आचार के बीच ऐसा कुछ अन्तर हमेशा ही रहता है, जो मिलाया नहीं जा सकता। आदर्श को प्राप्त करना यदि शक्य हो जाय, तो वह आदर्श नही रहेगा। स्वाद तो साधना मे है, सिद्धि मे नही। क्योकि ज्यो-ज्यो हम अपने ध्येय की यात्रा मे आगे बढते जाते हैं, त्यो-त्यो अधिकाधिक मनोरम दृश्य दृष्टिगोचर होते जाते हैं।

पर अब अपने-पत्र-लेखक मित्र की नानाज़नी का लेना है। उनसे तथा अपने पाठकों से मैं यह कहना चाहता हूँ कि मैं जो उन पंक्तियों को लिख सका उसका कारण यह है कि मुझे मोटर, या रेल अथवा बैलगाड़ी में भी बैठकर मुसाफिरी करने में कोई आनन्द नहीं आता। आनन्द तो हमेशा पैदल चलने में ही आता है। रेल की एक-एक पटरी उखाड़ ली जाय, और मरीजों और अपगों के सिवा सबको अपने-अपने काम पर पैदल जाना पड़े, तो मुझे इसका ज़रा भी दुःख न हो। मैं ऐसी सभ्यता की कल्पना कर सकता हूँ, जिसमें मोटर का मालिक होना कोई सद्गुण नहीं गिना जायगा, और जिसमें रेल के लिए कोई स्थान नहीं होगा। इतना ही नहीं, बल्कि उसकी स्थापना के लिए मैं प्रयत्न कर रहा हूँ। संसार एक समय जितना विशाल था, उतना विशाल वह यदि फिर से बन जाय, तो मेरे लिए यह कोई दुःखद घटना नहीं होगी। 'हिन्द-स्वराज्य' १९०८ में लिखा गया था। उसके बाद उसके बहुत-से संस्करण हुए हैं और संसार की अनेक भाषाओं में उसके अनुवाद भी हुए हैं। गत वर्ष श्रीमती सोफिया वाडिया ने 'आर्यन पाथ' मासिक पत्रिका का हिन्द-स्वराज्य अंक प्रकाशित किया था, और उसके लिए मुझसे सन्देश माँगा था। मैंने उसे फिर से दिलचस्पी और ध्यान के साथ पढ़ा। पाठकों को मालूम होना चाहिए कि मैं उसके एक भी विचार में परिवर्तन नहीं कर सका। उसकी भाषा में हेर-फेर करने की मेरी इच्छा नहीं हुई। इतनी सादी (कि शायद मूर्खतापूर्ण समझी जा सकती है) छोटी सी पुस्तक के रहस्य की कुंजी प्राप्त करने के लिए इतना समझना आवश्यक है कि यह अज्ञान से पूर्ण और तिमिराच्छन्न कहे जानेवाले युग में पीछे लौटाने का प्रयत्न नहीं है, बल्कि यह ऐच्छिक सादगी, गरीबी और धीमी प्रगति में सौन्दर्य देखने का प्रयत्न है। मैंने इसे अपना आदर्श चित्रित किया है। मैं खुद इस आदर्श तक कभी पहुँचने का नहीं, और इसलिए देश इस तक पहुँचे, यह अपेक्षा मैं नहीं रख सकता। पर नित-नई विविधता, आकाशी उड़ान, और आवश्यकताओं की वृद्धि के लिए आधुनिक युग के पागलपन का मुझे कोई मोह नहीं। यह सब हमारी अन्तरात्मा का हनन करता है। मनुष्य की चतुराई, जो इतना ऊँचे उड़ने का प्रयत्न करती है जहाँ चक्कर आता है, हमें हमारे सृजनकर्ता से दूर खींच ले जाती है। नाखून उँगली के जितने समीप है हमारा सृजनकर्ता उसकी अपेक्षा हमारे उससे भी अधिक निकट है।

इसलिए, जब मैं घण्टे में चालीस मील की रफ्तार से सफर करता हूँ, तब भी मेरे मन में यह भान होता है कि यह एक ऐसी बुराई है, जो आवश्यक हो गई है, और मेरा सर्वोत्तम काम तो ७०० आदमियों की बस्तीवाले छोटे-से गाँव में, और ऐसे पास-पड़ोस के देहात में है, जहाँ मैं वहाँ से पैदल चलकर जा सकूँ। पर मैं

बहुत व्यावहारिक रहा हूँ, इसलिए केवल यह बताने की ज़िद पकडकर कि मेरा आचार एकरस है, मैंने रेल या मोटर पर यात्रा करना नही छोडा। पाठको को मालूम होना चाहिए कि १९३३-३४ मे ठक्कर बापा-द्वारा आयोजित पवन-वेग से की हुई हरिजन-यात्रा के समय मैंने उनसे कहा था कि मैं तो यह सारी यात्रा पैंदल ही करना चाहूँगा, पर उन्होने मेरी बात सुनी नही। और उस यात्रा मे कई जगह हमारे विरोध मे हिंसात्मक प्रदर्शन हुए। दो या तीन बार गम्भीर वारो से हम बाल-बाल वचे, और शायद मृत्यु भी हो जाती। हम लोग पुरी पहुँचे, तो वहाँ हमने खून-खच्चर होने का भय देखा। इसलिए मैंने निश्चय कर लिया और शेष यात्रा पैंदल ही करने का आग्रह रखा। ठक्कर बापा ने तुरन्त ही सम्मति दे दी। विरोध-प्रदर्शक, जो रेल और मोटर की मुसाफिरी करके प्रदर्शन करने के लिए तैयार थे, पैंदल चलनेवाले यात्रियो का पीछा न कर सके, क्योकि ये पैंदल यात्री रोज़-सुबह शाम दो मजिल तय करके सिर्फ आठ-दस मील का रास्ता काटते थे। हमारी यात्रा का यह सबसे अधिक प्रभावकारी भाग था। इसके परिणामस्वरूप जो जागरण हुआ वह ठोस था। हमे सुन्दर और विविध अनुभव प्राप्त हुए। और विरोध-प्रदर्शको के लिए उत्तेजना का कोई साधन नही रहा। उनकी इच्छा मुझे बिना वजह मार डालने की नही थी। उन्हे तो हो-हल्ला और सनसनी-भर चाहिए थी। जो अहिंसक स्त्री-पुरुष, मनुष्य का कोई भय रखे बिना, ईश्वर को अपना निश्चित मार्गदर्शक और रक्षक मानकर अपना काम करते हुए जा रहे हो, उनका विरोध करनेवालो को हो-हल्ला मचाने का अवसर कहाँ मिलेगा ?

——ह० ज०। ह० से० २१।१०।१९३९]

● स्वाद तो साधना में है, सिद्धि मे नहीं।

१८७. ईश्वरेच्छा

[प्रश्नोत्तर]

प्रश्न—साधारण मनुष्य अपनी इच्छा और ईश्वर की इच्छा का भेद किस तरह पहिचाने ?

उत्तर—ईश्वर की इच्छा पहिचानना बहुत कठिन बात है। इसके लिए उचित शिक्षा की आवश्यकता है। इसलिए सिवा इसके कि पक्का सबूत हो, जो इच्छा पैदा होती है, उसे मनुष्य अपनी ही समझे, ईश्वर की नही।

—ह० से०। २७।४।१९४०]

१८८. नास्तिकता दूर कैसे हो ?

[प्रश्नोत्तर]

प्रश्न—नास्तिक का ईश्वर और धर्म के प्रति कैसे विश्वास बैठाया जाय ?

प्रश्न—इसका एक ही उपाय है। ईश्वर-भक्त अपनी पवित्रता और अपने कर्मों के प्रभाव से नास्तिक भाई-बहिनो को आस्तिक बना सकता है। यह काम बहस से नही हो सकता। अगर ऐसा हो सकता तो जगत् मे एक भी नास्तिक न रहता, क्योकि ईश्वर के अस्तित्व पर एक नही, अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं, इसलिए आज एक भी नास्तिक नही होना चाहिए। लेकिन हम इसका उल्टा देखते हैं। पुस्तकें भी बढ रही हैं और नास्तिको की सख्या भी बढती जाती है। वास्तव मे जो नास्तिक माने जाते हैं या अपने को मनवाते है वे नास्तिक नही हैं। और जो आस्तिक माने जाते हैं वे आस्तिक नही है। नास्तिक कहते हैं, अगर तुम आस्तिक हो तो हम नास्तिक है। ऐसा कहना ठीक भी है क्योकि अपने को आस्तिक माननेवाले सब सचमुच आस्तिक नही होते। वे ईश्वर का नाम या तो रूढिवश होकर या जगत् को धोखा देने के लिए लेते हैं। ऐसे लोगो का प्रभाव नास्तिको पर कैसे पड सकता है ? इसलिए आस्तिक विश्वास रखें कि यदि वे सच्चे हैं तो उनके निकट नास्तिक नही होंगे। वे सारे ससार की चिन्ता न करें। यदि ससार मे कोई नास्तिक है, तो भी ईश्वर की दया से ही है। ईश्वर चाहता तो जगत् मे कोई नास्तिक न होता। कहा गया है कि ईश्वर का नाम लेनेवाले नही, उसका काम करनेनाले आस्तिक है।

—सेवाग्राम, २६।८।१९४०। ह० से० ३१।८।१९४०]

● **ईश्वर का नाम लेने वाले नहीं, उसका काम करनेवाले आस्तिक हैं।**

१८९. आश्रम की प्रार्थना

आश्रम की प्रार्थना का काफी प्रचार हुआ है, उसका विकास अपने-आप होता रहा है। आश्रम-भजनावली के अनेक सस्करण निकल चुके हैं। उसकी माँग बढ रही है। प्रार्थना की उत्पत्ति कृत्रिम रूप से नही हुई। उसमे जिन श्लोको और भजनो को स्थान प्राप्त हुआ है, उन सबका अपना एक इतिहास है।

भजनो मे सभी धर्मों को अनायास ही स्थान मिला है। उनमे मुस्लिम सूफियो और फकीरो के भजन हैं, गुरु नानक और ईसाइयो के भजन भी हैं।

आश्रम मे चीनवाले रह चुके हैं, ब्रह्मदेश के साधु और लका के गृहस्थ भी रह चुके हैं, मुसलमान, पारसी, यहूदी, अग्रेज आदि भी रहे हैं। इसी तरह सन् १९३५ मे कुछ जपानी साधु मेरे पास मगनवाडी (वर्धा) मे आकर रहने लगे थे।

उनमे से एक अभी कुछ दिन पहिले तक मेरे पास ही थे। जपान के साथ लडाई की घोषणा होने पर वे गिरफ्तार कर लिये गये। वे रोज़ सुबह-शाम अपनी प्रार्थना, ढोल की आवाज के साथ चलते-फिरते किया करते थे। सेवाग्राम के वे एक आदर्श व्यक्ति थे, आश्रम के दैनिक कार्यों मे उत्साहपूर्वक हाथ वँटाते थे। मुझे याद नही पडता कि कभी किसी के साथ उनका झगडा हुआ हो। मैंने उन्हे बेमतलब किसी से बातें करते नही देखा, उन्होने यथाशक्ति हिन्दी का अभ्यास किया। व्रत-पालन मे वे सदा जाग्रत रहे। आश्रम की शाम की प्रार्थना उनके नित्य जप के मन्त्र से शुरू हुआ करती थी। मन्त्र यह था—

'नम्यो हो रेंगे क्यो'

अर्थात्, 'सद्धर्म के प्रवर्तक भगवान बुद्ध को नमस्कार हो।'

जब पुलिस उन्हे गिरफ्तार करने आई, तो वे जिस व्यवस्था, शीघ्रता और तटस्थता से तैयारी करके मुझसे मिलने आये, उसे मैं भूल नही सकता। विदाई के समय अपने ढोल के साथ वे मेरे सामने आ खडे हुए, अपने प्रिय मन्त्र का उच्चारण किया और विदा चाही। मैंने सहज भाव से उनसे कह दिया, आप जा रहे हैं, किन्तु आपका मन्त्र आश्रम की प्रार्थना का एक अविभाज्य अग रहेगा। तब से उनकी गैरहाज़िरी मे आश्रम की प्रार्थना इसी मन्त्र से शुरू होती है। मेरे लिए यह मन्त्र साधु केशो की पवित्रता और एकनिष्ठा का स्मारक है। अत इसमे विशेष शक्ति है।

जिन दिनो साधु केशो यहाँ थे, बीबी रेहाना तैयब जी कुछ दिनो के लिए रहने आईं। वह चुस्त मुसलमान हैं। मुझे पता न था कि वह कुरान-शरीफ की अच्छी जानकार हैं। जिस वक्त गुजरातरत्न अब्बास तैयब जी साहब का इन्तकाल हुआ, उनके कमरे से रोने की आवाज़ न उठी, बल्कि बीबी रेहाना के कुरान-शरीफ के पाठ की गूज से कमरा भर गया। तैयब जी साहब मरे ही कब थे? वे तो अपने कामो के रूप मे हमेशा ही ज़िन्दा हैं।

अब रेहाना बहिन आ गई, तो मैंने मज़ाक मे कहा, तुम आश्रमवालो को मुस्लिम बनाओ, मैं तुम्हे हिन्दू बनाऊगा। सगीत तो उनका उत्कृष्ट है ही, उनके पास सब प्रकार के भजनो का भण्डार भी है, वे हमे नित नये भजन सुनाती थी। कुरान की मीठी-मीठी, ऊचे अर्थोवाली आयतें भी सुनाया करती थी। मैंने कहा, यहाँ जो सीखना चाहे, उन्हे कुछ आयतें सिखाती जाओ। उन्होने सिखाना शुरू कर दिया। फिर क्या पूछना था? वे सबके साथ समरस हो गईं। भक्तो ने जो आयतें सीखी, उनमे सबसे मशहूर 'फातेहा' है। इस प्रकार यह आयत भी प्रार्थना मे दाखिल हुई। रेहाना अपने काम पर चली गई, मगर अपनी याद छोड गई। इस आयत का मतलब है—

"मैं पापात्मा शैतान से बचने के लिए परमात्मा की शरण में जाता हूँ।

"ईश्वर एक है; वह सनातन है; निरालम्ब है, अज है, अद्वितीय है, वह सबको पैदा करता है; उसे कोई पैदा नहीं करता।

"प्रभो, मैं तेरे ही नाम से सब शुरू करता हूँ। तू दया का सागर है, तू मेहरबान है; तू सारे विश्व का सिरजनहार है; मालिक है। हम तेरी ही आराधना करते हैं; तेरी ही मदद माँगते हैं; तू ही अन्त में न्याय करेगा। तू हमें सीधा रास्ता दिखा—लोगों का रास्ता, जो तेरी कृपादृष्टि के पात्र बने हैं; उनका नहीं, जो तेरी अप्रसन्नता के पात्र बने हैं और मार्ग भूले हैं।"

एक मित्र, जो खुद कट्टर हिन्दू हैं, और मेरे हिन्दू होने के दावे से इन्कार भी नहीं करते, मीठा उलाहना देते हुए कहते हैं, अब तो आपने आश्रम में कलमा भी शुरू करा दिया। अब बाकी क्या रहा? यह लेख उन्हीं की इस शंका के उत्तर में लिखा गया है। साबू के ख्याली मत और कुरान की आयत से मेरा और आश्रम के हिन्दुओं का हिन्दुत्व ऊपर उठा है। आश्रम के हिन्दुत्व में सब धर्मों के प्रति समानता का भाव रहा है। जब खानसाहब मेरे पास आते हैं, तो रोज प्रार्थना में भावपूर्वक शरीक होते हैं। रामायण (पाठ) का सुस्वर उन्हें मीठा लगता है। गीता का अर्थ वे ध्यान से सुनते हैं। उनकी इस्लामियत इससे कम नहीं हुई। क्या मैं कुरान को उतनी ही इज्जत से न पढ़ूँ, न सुनूँ? विनोबा और प्यारेलाल ने जेल में स्वयं बड़ी मेहनत और मुहब्बत के साथ कुरान सीखी, अरबी का अध्ययन किया। उन्होंने कुछ गँवाया नहीं, भारी कमाया है। हिन्दू-मुस्लिम एकता ऐसी ही कोशिशों से होगी। और किसी तरह कभी नहीं। राम के नाम हजारों नहीं, लाखों हैं, अगणित हैं। अल्लाह कहो, खुदा कहो, रहीम कहो, रहमान कहो, रज्जाक कहो, रोटी देनेवाला कहो; ये सब उसी के नाम हैं।

—सेवाग्राम २।२।१९४२। ह० से० ८।२।१९४२]

१९०. श्रद्धारहित धर्म-परिवर्तन

प्रश्न—आप श्रद्धारहित धर्म-परिवर्तन का विरोध करते हैं, साथ ही सब धर्मों के प्रति समभाव का दावा भी करते हैं। तो फिर किसी भी तरह के धर्म-परिवर्तन में हानि ही क्या है? क्या आपकी दोनों बातें परस्पर-विरोधी नहीं?

उत्तर—आपके लम्बे देखने में जोरदार दलीलोंवाले और चतुराई से लिखे गये पत्र से मैंने यह सवाल निकाला है। श्रद्धारहित धर्म-परिवर्तन निरा वेश-परिवर्तन है। जिस धर्म-परिवर्तन से मनुष्य का समूचा जीवन ही बदल जाता है, वह यह चीज नहीं। सर्व-धर्म-समभाव का मतलब है, जितना आदर आपके या

पडोसी के धर्म के प्रति है, उतना ही अपने धर्म के प्रति भी है। आप इसे भूल जाते हैं। अपने धर्म के लिए मेरे दिल मे जो आदर है, उसके कारण मैं अपने बालको के श्रद्धारहित धर्म-परिवर्तन के सम्बन्ध मे निरपेक्ष नही रह सकता, यानी, अगर वे बिना प्रतीति के ही अपने माता-पिता के धर्म का त्याग करते है, तो मैं इस सम्बन्ध मे लापरवाही नही दिखा सकता, और अगर आप जिन दुनियावी लालचो का आध्यात्मिक उन्नति के साथ कोई सम्बन्ध नही है, उनसे फँसाकर मेरे बालको को गुमराह करना चाहते हैं, तो मेरे दिल मे आपके लिए कोई इज्जत नही रह सकती।
—सेवाग्राम, २३।३।१९४२। ह० ज०। ह० से० २९।३।१९४२]

● श्रद्धा-रहित धर्म-परिवर्तन निरा वेश-परिवर्तन है।

१९१. धर्म : कुछ समाधान

मैंने कभी स्वय को धर्मगुरु नही माना, न कभी अहिंसा को या अपने उपदेश को स्वीकार करने के लिए किसी से स्वधर्म त्यागने को कहा है। मैं ऐसे किसी धर्म को नही जानता, जिसमे हिंसा को धर्म माना गया हो। बहुत-से धर्मों ने जहाँ अहिंसा को अशक्य पाया है, वहाँ हिंसा के लिए छूट दे दी है। लेकिन मुझे दूसरे धर्मों का न्याय करने का कोई अधिकार नही। मेरे मन में सब धर्मों के लिए समान आदर है। अगर मैं यह आशा रखता हूँ कि दूसरे लोग मेरे धर्म का आदर करें, तो मुझे भी उनके धर्म का आदर करना चहिए।
—सेवाग्राम, २७।६।१९४२। ह० ज०। ह० से०, ५।७।१९४२]

१९२. ईश्वर ही ज्ञाता है

ईश्वर के सिवा किसे मालूम कि कब क्या हो जाय ?
—बम्बई, ७।४।१९४५। बापू के पत्र : मीरा के नाम, पृ० ३००, न० जी० प्र० मं०]

१९३. धर्म एवं रोग

अगर धार्मिक माना जानेवाला मनुष्य रोग से दुःखी हो, तो समझना चाहिए कि उसमे किसी-न-किसी चीज की कमी है।
—सेवाग्राम २२।४।१९४५। 'रामनाम' सकलन; पृ० ६७; न० जी० प्र० मं०]

१९४. मूर्ति

जनता यह न समझे कि मैं पत्थर या सोने-चाँदी की मूर्ति मे किसी प्रकार का

विश्वास रखता हूँ। मूर्त्ति को भक्त जैसी बनाता है वह वैसी ही बन जाती है।
—पलनी से मद्रास जाते हुए गाडी मे। ४।२।१९४६। ह० ज०। ह० से० १०।२।१९४६]

१९५. समूह-प्रार्थना और राम-धुन

सामूहिक प्रार्थना मे रामधुन गाया जाना प्रार्थना का सबसे महत्वपूर्ण अग है। लाखो-करोडो के लिए गीता के श्लोको, कुरान की आयतो और ज़ेन्दअवेस्ता के मन्त्रो को समझना और उनका सही-सही पाठ करना कठिन हो सकता है, लेकिन राम-नाम या भगवान का नाम गाने मे हर एक शामिल हो सकता है। राम-नाम जितना उपयोगी है उतना ही सादा भी। शर्त यह है कि उसे दिल मे निकलना चाहिए। इस सादगी मे ही उसकी महानता और विश्वव्यापकता का रहस्य समाया हुआ है। जिस काम को करोडो लोग एक साथ कर सकते है, उसमे एक बेजोड ताकत पैदा हो जाती है।

मै आपसे कहूँगा कि जब रामधुन स्वर और ताल के साथ गाई जाती है, तो स्वर, ताल और विचार तीनो का मेल, मिठास और शक्ति का ऐसा अमिट वातावरण पैदा करता है, जिसका वर्णन शब्दो-द्वारा नही किया जा सकता।
—उरूली, २४।३।१९४६। ह० ज०। ह० से० ७।४।१९४६]

१९६. राम-नाम

रामनाम उन्ही की मदद करता है, जो उसे जपने की शर्तें पूरी करते हैं।
—नई दिल्ली, ८।४।१९४६। 'रामनाम' सकलन, पृष्ठ ६८; न० जी० प्र० म०]

१९७. उपवास-धर्म त्याज्य है

हँसी आने योग्य उपवास होते रहे, महामारी की तरह उपवास का रोग फैल जाय, तो भी जहाँ वह धर्म है वहाँ उसका त्याग नही किया जा सकता।
—नई दिल्ली, १३।४।१९४६। ह० ब०। ह० से०, २१।४।१९४६]

१९८. नाम-जप और सेवा

रामनाम-जप के साथ-साथ राम के योग्य सेवा न की जाय, तो वह व्यर्थ जाता है।
—नई दिल्ली, २२।४।१९४६, 'रामनाम' सकलन, पृष्ठ ६८, न० जी० प्र० म०]

१९९. ईश्वर पर आस्था

आपको ईश्वर पर भरोसा रखना चाहिए। वही आपकी रक्षा करेगा। जो आदमी डर कर अपने पास शस्त्र रखता है वह ईश्वर का अस्तित्व नही मानता और शस्त्रो को ही अपना ईश्वर मान लेता है।

—नई दिल्ली, १।५।१९४६। ह० ज०। ह० से०, ५।५।१९४६]

२००. राम और प्रार्थना

. .प्रार्थना केवल आध्यात्मिक मुक्ति पाने का साधन नही है, बल्कि इन सासारिक बन्धनो से छूटने का भी जरिया है। बडे मे छोटे का समावेश हो जाता है।

. . . . .स्थितप्रज्ञ की विशेषताएँ क्या है ? स्थितप्रज्ञ वह है जो अपनी इन्द्रियो को इन्द्रियार्थों से हटा कर उन्हे आत्मा की ढाल के नीचे छुपा लेता है, जिस तरह कछुआ अपने अगो को अपनी ढाल (कडे आवरण) के नीचे छिपाता है।

जिस आदमी की बुद्धि स्थिर नही होती, उसके लिए यह डर रहता है कि वह क्रोध का, विकारो और बुरे विचारो का या गाली-गलौज का शिकार बन जायगा। इसके विपरीत जिस आदमी की बुद्धि स्थिर होती है, वह स्तुति और निन्दा दोनो को समान भाव से सह लेगा। वह समझ जायगा कि गाली से गाली देनेवाले की ही जबान गन्दी होती है, जिसको गाली दी जाती है, उसका कुछ नही बिगडता। इसलिए स्थिर बुद्धिवाला आदमी कभी किसी का बुरा नही चाहेगा, बल्कि आखिरी दम तक अपने शत्रु के कल्याण के लिए भगवान से प्रार्थना करता रहेगा। क्या इस आदर्श का पालन करना बहुत कठिन है ? नही, इसके विरुद्ध इसमे जो नियम बताये गये हैं, वे ही मनुष्य की सच्ची प्रतिष्ठा के अनुरूप हैं।

. . . जब कोई यह आपत्ति उठाता है कि राम-नाम लेना या राम-धुन गाना तो सिर्फ हिन्दुओ के लिए है, तब मुझे मन ही मन हँसी आती है। हाँ, ऐसी हालत मे मुसलमान उसमे किस तरह सम्मिलित हो सकते हैं ? क्या मुसलमानो का भगवान हिन्दुओ, पारसियो या ईसाइयो के भगवान से अलग है ? नही, सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी ईश्वर तो एक ही है। उसके कई नाम हैं और उसका जो नाम हमे सबसे अधिक प्रिय होता है, उस नाम से हम उसको याद करते है।

मेरा राम, हमारी प्रार्थना के समय का राम, वह ऐतिहासिक राम नही है, जो दशरथ का पुत्र और अयोध्या का राजा था। वह तो सनातन, अजन्मा और अद्वितीय राम है। मैं उसी की पूजा करता हूँ, उसी की सहायता चाहता हूँ। आपको भी यही करना चाहिए। वह (राम) सबका है। इसलिए मेरी समझ मे नही आता

कि किसी मुसलमान को या अन्य किसी को उसका नाम लेने मे आपत्ति क्यों होनी चाहिए। लेकिन यह कुछ जरूरी नही कि वह राम-नाम के रूप मे ही भगवान को पहिचाने, उसका नाम ले। वह मन ही मन अल्लाह या खुदा का नाम भी इस तरह जप सकता है जिससे उसमे बेसुरापन न आये।

प्रार्थना के प्रारम्भ मे प्रति दिन ईशोपनिषद् का जो पहिला श्लोक पढा जाता है, उसमे हमसे यही कहा गया है कि हम अपना सब कुछ भगवान को समर्पित कर दें और फिर अपनी आवश्यकता के अनुसार उसका उपयोग करें। इसमे खास शर्त यह है कि हमें दूसरों की चीज़ को लालच की निगाह से नही देखना चाहिए। इन दो आदेशों मे हिन्दू-धर्म का सारा निचोड आ गया है।

सुबह की प्रार्थना मे पढे जानेवाले एक अन्य श्लोक मे कहा गया है, मैं राज्य नही चाहता, स्वर्ग भी नही चहता, न मैं मोक्ष या निर्वाण चाहता हूँ। मैं तो केवल यही चाहता हूँ कि जो दु ख-ताप से तपे हुए हैं, उनका दु ख दूर कर सकूँ। यह दु ख शरीर का भी हो सकता है और हृदय या आत्मा का भी। अपने विचारों की दासता के कारण होनेवाला आत्मा का दु ख कभी-कभी शारीरिक दु ख से भी अधिक होता है।

लेकिन भगवान स्वय दु ख मिटाने के लिए नही आता। वह किसी व्यक्ति को अपना निमित्त बनाता है। इसलिए भगवान से दूसरो के दु खो को दूर करने की शक्ति माँगने का अर्थ यह होना चाहिए कि हम स्वय उसके लिए परिश्रम करने को हर प्रकार से प्रस्तुत रहे।

आप देखेंगे कि यह प्रार्थना सबके लिए है। यह किसी जाति या फिर्के तक सीमित नही। इसमे सब कोई सम्मिलित हो सकते है। यह सारी मनुष्य-जाति के लिए है। इसलिए जिस दिन यह पूरी होगी, उस दिन ससार मे स्वर्ग का राज्य स्थापित हो जायगा।

सच्ची सस्कृति का यह तकाजा है कि प्रार्थना के समय प्रार्थना-स्थल पर पूरी शान्ति रहनी चाहिए। वहाँ का वातावरण मन्दिर, मस्जिद या गिरजे की तरह शान्त, गम्भीर होना चाहिए। . . .

हम मन्दिरो मे धातु या पत्थर की मूर्ति को नही, बल्कि उसमे रहनेवाले भगवान को पूजने जाते है। मूर्ति तो आदमी जैसी बनाता है, वैसी बन जाती है। मूर्ति मे पुजारी जिस पवित्रता की प्रतिष्ठा करता है, उसके सिवा उसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नही होती। इसलिए प्रार्थना के समय बच्चो-समेत सभी को पूरी शान्ति रखनी चाहिए।

—नई दिल्ली, २२।४।१९४६। ह० ज०। ह० से०, ५।५।१९४६]

२०१ प्रार्थना में शान्त रहें

लोग प्रार्थना मे शान्ति पाने के विचार से और भगवान का नाम सुनने-रटने की इच्छा से जाते हैं। इसलिए प्रार्थना मे सम्मिलित होने वालो को घर से चलते समय ही अपने मन की लय प्रार्थना की लय मे मिला देनी चाहिए। वे चुपचाप आये और चलते समय भी अपना मन प्रार्थना के ही विचारो मे लगाये रहे। अगर यह सब नही होता तो प्रार्थना मे आना व्यर्थ है।

—शिमला के प्रार्थना-प्रवचनों पर लिखे गये विवरण से। दिल्ली, १५।५।-१९४६। ह० ज०। ह० से०, १९।५।१९४६]

२०२. प्रार्थना का प्रयोजन

प्रार्थना का आशय ईश्वर को प्रसन्न करना नही है क्योकि उसे हमारी प्रार्थना या प्रशसा की कोई ज़रूरत नही। प्रार्थना तो हम स्वय को पवित्र बनाने के लिए करते हैं। ईश्वर सर्वत्र है। वह विश्व के कण-कण मे मौजूद है। आत्मशुद्धि का अपने अन्दर गहराई से अनुभव करें। इस तरह हमे जो शक्ति मिलती है, उससे बढकर अन्य कोई शक्ति नही है।

—प्रार्थना-सभा १९।५।१९४६। नई दिल्ली, २१।५।१९४६। ह० ज०। ह० से०, २६।५।१९४६]

२०३. अनेकता में एकता

अपने धर्म को बडा और दूसरो के धर्म को छोटा मानना सच्चे धर्म को गलत रूप मे पेश करना है, उसका मजाक उडाना है। सभी धर्मों मे सर्वव्यापक एक ही ईश्वर की पूजा करने की बात कही गई है। ईश्वर तो पानी की एक बूंद मे या धूल के एक कण मे भी मौजूद है। जो लोग मूर्ति-पूजा करते है, वे मूर्त्ति के पत्थर की पूजा नही करते, बल्कि वे उसमे रहनेवाले ईश्वर को देखने की कोशिश करते है। इसी प्रकार पारसियो को आग की या सूर्य की पूजा करनेवाला कहना उनको बद-नाम करना है। विभिन्न धर्म एक ही पेड के अलग-अलग पत्तो की तरह है। कोई दो पत्ते एक से नही होते, फिर भी उनमे या जिन डालो मे वे लगते हैं उनके बीच कोई शत्रुता नही होती। इसी प्रकार हमे ईश्वर की सृष्टि मे जो अनेकता दीख पडती है उसके अन्दर एकता निहित है।

—रिंग रोड, प्रार्थना-सभा। नई दिल्ली, २१।५।१९४६। ह० ज०। ह० से० २६।५।१९४६]

२०४. ईश्वर-श्रद्धा

हमे ईश्वर मे श्रद्धा रखनी चाहिए और निश्चिन्त हो जाना चाहिए।
—नई दिल्ली, २१।५।१९४६। ह० ज०। ह० से०, २६।५।१९४६]

२०५. रामनाम में जागृति आवश्यक है

राम-नाम-जैसी राम-वाण औषधि लेने मे सतत जागृति न हो, तो राम-नाम व्यर्थ जाय और अनेक भ्रमो मे एक भ्रम और वढा दे।
—नई दिल्ली, २५।५।१९४६। ह० से०, २।६।१९४६]

२०६. राम कौन है?

जिस राम-नाम को मैं सव वीमारियो की रामवाण दवा कहता हूँ, वह राम न तो ऐतिहासिक राम है और न उन लोगो का राम है, जो उसका इस्तेमाल जादू-टोने के लिए करते है। सव रोगो की रामवाण दवा के रूप मे मैं जिस राम का नाम सुझाता हूँ, वह तो खुद ईश्वर ही है, जिसके नाम का जप करके भक्तो ने शुद्धि और शान्ति पाई है। और मेरा यह दावा है कि राम-नाम सभी वीमारियो की, फिर वे तन की हो, मन की या आत्मिक हो, एक ही अचूक दवा है। इसमे शक नही कि डाक्टरो या वैद्यो से शरीर की वीमारियो का इलाज कराया जा सकता है। लेकिन राम-नाम तो आदमी को खुद ही अपना वैद्य या डाक्टर वना देता है, और उसे अपने को अन्दर से नीरोग वनाने की सजीवनी प्राप्त करा देता है। जव कोई वीमारी इस हद तक पहुँच जाती है कि उसे मिटाना सभव नही रहता, उस वक्त भी राम-नाम व्यक्ति को उसे शान्त और स्वस्थ भाव से सह लेने की शक्ति देता है। जिस आदमी को राम-नाम मे श्रद्धा है, वह जैसे-तैसे अपनी जिन्दगी के दिन वढाने के लिए नामी-गरामी डक्टरो और वैद्यो के दर की ख़ाक नही छानेगा और यहाँ-से-वहाँ मारा-मारा नही फिरेगा। राम-नाम डाक्टरो और वैद्यो के हाथ टेक देने के वाद लेने की चीज़ भी नही। वह तो आदमी को डाक्टरो और वैद्यो के विना भी अपना काम चला सकनेवाला वनाने की चीज़ है। राम-नाम मे श्रद्धा रखनेवाले के लिए वही उसकी पहिली और आखिरी दवा है।

सबके साथ मिलकर सामूहिक रूप मे, प्रार्थना करने का रहस्य यह है कि उसका एक-दूसरे पर जो शान्त प्रभाव पडता है, वह आध्यात्मिक उन्नति की राह मे सहायक हो सकता है।

—नई दिल्ली, २७।५।१९४६। ह० ज०। ह० से० २।६।१९४६]

२०७. रामनाम का मजाक

[प्रश्नोत्तर]

प्रश्न—बनारस का रामनाम बैंक, और रामनाम छपा कपड़ा पहिनना, या शरीर पर रामनाम लिखकर घूमना रामनाम का मजाक और हमारा पतन नहीं तो क्या है? ऐसी हालत में सारे रोगो के रामबाण इलाज के रूप मे रामनाम का प्रचार करके क्या आप इन ढोंगियो के हाथ में पत्थर नहीं दे रहे हैं? अन्त.-प्रेरणा से निकला हुआ रामनाम ही रामबाण हो सकता है। और मैं मानता हूँ कि ऐसी अन्त.प्रेरणा सच्ची धार्मिक शिक्षा से ही मिलेगी।

उत्तर—आपने ठीक कहा है। आजकल हमारे अन्दर इतना वहम फैला हुआ है और इतना दभ चलता है कि सही चीज करने मे भी डरना पडता है। लेकिन इस तरह डरते रहने से तो सत्य को भी छिपाना पड सकता है। इसलिए सुनहला कानून तो यही है जिसे हम सही समझें, उसे निडर होकर करें। दभ और झूठ जगत् मे चलता ही रहेगा। हमारे सही चीज करने से वह कुछ कम ही होगा, बढ कभी नही सकता। यह ध्यान रहे कि जब चारो ओर झूठ चलता हो, तब हम भी उसी मे फँसकर अपने को धोखा न दें। अपनी शिथिलता और अज्ञान के कारण हम अनजाने भी ऐसी गलती न करें। हर हालत मे सावधान रहना तो हमारा कर्तव्य है ही। सत्य का पुजारी दूसरा कुछ कर ही नही सकता। रामनाम-जैसी रामबाण औषध लेने मे सतत जागृति न हो, तो रामनाम व्यर्थ जाय और हम बहुत से वहमो मे एक और वहम बढा दें।

—ह० से० २।६।१९४६]

२०८. फिर राम-नाम

कुछ दिन हुए, एक मित्र का एक पत्र मिला। उन्होंने उसे मेरे पास भेजा है और जवाब माँगा है। पत्र लम्बा है, इसीलिए सिर्फ मतलब की बातें यहाँ देता हूँ।

"वह (गाधी जी) हिन्दुस्तान-प्रेमी हैं। पर यह बात समझ मे नहीं आती कि हररोज खुले मे प्रार्थना करके और राम-नाम (राम से मतलब हिन्दू देवता) की धुन लगा कर अपने मुल्क के दूसरे मजहबवालो का दिल वे क्यो दुखाते है? उन्हें यह समझना चाहिए कि हिन्दुस्तान मे बहुत से मजहब हैं और, अगर वह जनता (अवाम) मे हिन्दू देवताओं का हवाला देकर बोलेंगे, तो पुराने खयाल के लोगों को गलतफहमी होगी। मुस्लिम लीग की यह भी शिकायत है—राम-राज (राम का राज्य) क़ायम करना उनका एक प्रिय जुमला है। एक सच्चे मुसलमान को यह कैसा लगेगा?"

हजारवी बार दुहराना पडता है कि राम-नाम परमात्मा के कई नामो मे से एक है। उसी प्रार्थना मे कुरानशरीफ की आयतें और जेन्दअवेस्ता के श्लोक भी गाये जाते हैं। सच्चे मुसलमानो ने तो चूंकि वे सच्चे है, राम-नाम लेने को कभी बुरा नही माना। राम-नाम कोई व्यर्थ की रट नही है। मेरे और लाखो हिन्दुओ के नजदीक तो वह सर्वव्यापी परमात्मा को पुकारने का एक ढग बनाया गया है। राम के पीछे जो नाम है, वह सबसे ज्यादा महत्व का हिस्सा है। उसका मतलब है, ऐतिहासिक राम के बिना नाम। कुछ भी हो, मेरे इस खुल्लमखुल्ला कहने से कि मैं इस धर्म का हूँ, किसी को दु ख क्यो हो? खासकर मुस्लिम लीग को? इन सभाओ मे आने के लिए किसी को मजबूर नही किया जाता और, अगर कोई आ भी गया तो अनिवार्य नही कि वह रामधुन मे शामिल हो। आनेवालो से तो सिर्फ यही आशा की जाती है कि वे प्रार्थना की शान्ति भग न करें और अगर उसके किसी हिस्से को वे नही मानते, तो भी उसे बरदाश्त करें।

रामराज शब्द के बारे मे। मैं इसका मतलब कई दफा बता चुका हूँ। उसके बाद किसी को इसके इस्तेमाल से दु ख नही होना चाहिए। यह एक सरल और अर्थपूर्ण वाक्य है और इसका मतलब दूसरा कोई भी वाक्य करोडो को नही समझा सकता। जब मैं सीमाप्रान्त मे जाता हूँ और मेरे सुननेवाले ज्यादा मुसलमान होते हैं, तो मैं इसे 'खुदाई राज' कहता हूँ। ईसाई सुननेवाले हो तो मै उसे दुनिया मे 'गाड' की हुकूमत कहूँगा। अगर मैं कोई दूसरा तरीका अपनाऊँ तो वह अपने-आपको दबाना होगा और धोकेबाजी होगी।

—सेवाग्राम, ८।८।१९४६। ह० ज०। ह० से०। १८।८।१९४६]

२०९. सम्मिलित प्रार्थना

प्रश्न—क्या आप सम्मिलित प्रार्थना मे विश्वास रखते हैं? आजकल जैसी सम्मिलित प्रार्थना की जाती है, क्या यह सच्ची प्रार्थना है? मैं समझता हूँ कि

यह नीचे गिरानेवाली चीज है, और इसलिए खतरनाक है। हजरत ईसा ने कहा है—जब तुम प्रार्थना करो, तो पाखण्डियों की तरह न करो, बल्कि अपने कमरे मे किवाड बन्द करके और छिपकर अपने पिता के आगे प्रार्थना करो। भीड में लोग अधिकतर बेध्यान रहते हैं और मन को स्थिर नहीं कर पाते। उस हालत में प्रार्थना पाखण्ड बन जाती है। योगी इसे खूब जानता है। तो क्या जनता को अन्तर्मुखी होने यानी अपने अन्दर नजर डालने की शिक्षा नहीं दी जानी चाहिए? सच्ची प्रार्थना तो वही है।

उत्तर—मेरा मत है कि मैं जो सामूहिक प्रार्थना कराता हूँ, वह जन-समूह के लिए सच्ची प्रार्थना है। उसका सचालक आस्तिक है, पाखण्डी नही। अगर वह पाखण्डी होता, तो प्रार्थना शुरू से ही अपवित्र हो जाती। जो स्त्री-पुरुष उसमे शामिल होते है, वे किसी पुरानी रीति के प्रार्थना-मन्दिर मे नही जाते, जहाँ उन्हे कोई सांसारिक लाभ हो। उनमे ज्यादातर ऐसे होते हैं, जिनका प्रार्थना के सचालक के साथ कोई निजी सम्बन्ध नही। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि वे दिखावे के लिए नही आते। चूँकि वे मानते है कि सामूहिक प्रार्थना से उन्हे किसी-न-किसी तरह का पुण्य मिलता है, इसीलिए वे उसमे आते हैं। यह बिल्कुल सच है कि कुछ लोग, शायद, ज्यादातर लोग प्रार्थना मे ध्यान नही देते, या मन को स्थिर नही कर पाते। इसका मतलब यही है कि वे अनाडी हैं। मन को स्थिर या एकाग्र न कर सकना, या ध्यान न लगा सकना, असत्य या पाखण्ड नही। अगर वे ध्यान न करते हुए भी यह दिखाने की कोशिश करें कि वे ध्यान कर रहे हैं, तो उन पर पाखण्ड का इल्जाम लग सकता है। लेकिन इसके खिलाफ बहुतो ने मुझसे पूछा है कि जब वे अपना चित्त स्थिर न कर सकें, तो क्या करें?

ऊपर के सवाल मे हजरत ईसा का जो उद्धरण दिया गया है, वह यहाँ लागू नही होता। हजरत ईसा उन लोगो का जिक्र कर रहे थे, जो दिखावे के लिए प्रार्थना करने का ढोग रचते थे। उनके उस वचन मे सामूहिक प्रार्थना के विरुद्ध कुछ भी नही कहा गया है। मैं कई दफा कह चुका हूँ कि निजी प्रार्थना के बिना आम प्रार्थना का लाभ नाम के लिए ही होता है। मेरा विश्वास है कि व्यक्तिगत प्रार्थना सामूहिक प्रार्थना की तैयारी है। इसलिए सामूहिक प्रार्थना तभी सफल मानी जानी चाहिए, जब वह हरएक को अपनी तौर पर प्रार्थना करना सिखाये। दूसरे शब्दो मे, जब इसान दिल से प्रार्थना करना सीख जाता है, तो फिर वह अकेले मे प्रार्थना करे या दूसरो के साथ मिलकर करे, हमेशा सच्चे दिल से प्रार्थना करता है।

मैं नही जानता कि इन भाई ने जिस योगी का जिक्र किया है, वह क्या करता है, और क्या नही करता। लेकिन इतना मैं जानता हूँ कि जब जनता परमात्मा के साथ-

एकतार हो जाती है, तो वह खुद-ब-खुद अपने भीतर नज़र डालने लगती है। यही सब प्रार्थनाओं का परिणाम होना चाहिए।

—नई दिल्ली, १४।९।१९४६। ह० ज०। ह० से०, २२।९।१९४६]

● व्यक्तिगत प्रार्थना सामूहिक प्रार्थना की तैयारी है।

२१०. धर्म और राज्य

यदि मैं तानाशाह होऊँ तो धर्म और राज्य, दोनो को, एक दूसरे से अलग रखूं। मुझे अपने धर्म पर पूरी श्रद्धा है। मैं उसके लिए अपनी जान दे देने मे आगा-पीछा नही सोचूंगा। लेकिन मेरा धर्म मेरी निजी चीज़ है। राज्य से उसका कोई सम्बन्ध नही। राज्य आपके अमन-चैन, स्वास्थ्य, यातायात-साधन और वैदेशिक सम्बन्धो और सिक्को के चलन आदि की देख-भाल करेगा, आपके या मेरे धर्म की नही। यह तो प्रत्येक (व्यक्ति) का निजी मामला है। आप मेरे सारे जीवन को गौर से देखिए—मैं कैसे रहता हूं, खाता हूँ, बैठता हूं, बातचीत करता हूं और आम तौर पर मेरा व्यवहार कैसा रहता है, यह सब पूरी तरह से देखिए। इन सब को मिला कर आपके ऊपर जो छाप पड़े, वही मेरा धर्म है।

भावी युग पर सबसे अधिक धर्म का प्रभाव पड़ेगा। आज भी उसका ऐसा ही प्रभाव पड़ सकता है और पड़ना चाहिए लेकिन पड़ता नही, क्योंकि वह शनिवार और रविवार की छुट्टी के दिनो मे फुरसत से याद करने की चीज़ बन गया है। सच पूछा जाय तो धर्म जीवन की प्रत्येक साँस के साथ आचरण करने की चीज़ है। जब ऐसा धर्म प्रकट होगा तो सारी दुनिया मे उसका बोलबाला हो जायगा।

—नई दिल्ली, १६।९।१९४६। ह० से० ६।१०।१९४६]

● मुझे अपने धर्म पर पूरी श्रद्धा है।
● मेरा धर्म मेरी निजी चीज है।
● भावी युग पर सबसे अधिक धर्म का प्रभाव पड़ेगा।
● धर्म जीवन की प्रत्येक सांस के साथ आचरण करने की चीज़ है।

२११. कर्म पूजा नहीं ?

[प्रश्नोत्तर]

प्रश्न—मनुष्य ईश्वर-भजन मे जितना समय लगाता है, अगर अपना उतना ही समय वह किसी ग़रीब की सेवा मे लगाये, तो क्या यह भजन से अच्छा न होगा ?

जो मनुष्य ऐसा करता है, क्या उसके लिए ईश्वर-भक्ति जरूरी है ?

उत्तर—ऐसे सवाल मे मुझे आलस्य की बू आती है। नास्तिकता की भी। बडे कर्मयोगी कभी भजन या भक्ति नही छोडते। हाँ, सिद्धान्त रूप से यह कहा जा सकता है कि पारमार्थिक कर्म ही भक्ति है, और ऐसे लोगो को भजन की जरूरत नही। मगर वास्तव मे भजन आदि ऐसे कर्म के सहायक बनते हैं, और ईश्वर की याद ताजा रखते है।

—नई दिल्ली, ५।१०।१९४६। ह० से० १३।१०।१९४६]

२१२. हमारी सभ्यता की माँग

हमारी सभ्यता और कुल-शील का तकाज़ा है कि दूसरो की प्रार्थना के समय हम शान्त रहे। हमे एक-दूसरे के धर्म का आदर करना चाहिए। सभी धर्मवाले एक ही भगवान की पूजा करते है।

—काजीरखिल, २४।११।१९४६ ह० ज०। ह० से०, ८।१२।१९४६]

२१३. प्रार्थना का विकास

[श्रीरामपुर (पूर्वी बंगाल) की दो प्रार्थना-सभाओं में गांधी जी ने आश्रम की प्रार्थना मे सम्मिलित किये गये विभिन्न धर्मग्रन्थो के अंशों की कहानी बताई। सुविधा के लिए हम दोनों प्रवचनों को यहां एक साथ दे रहे हैं।—सम्पा०]

जब मैं सन् १९१४ मे हिन्दुस्तान आया था, उस समय स्व० गुरुदेव ने स्व० दीनबन्धु एण्ड्रयूज़ के ज़रिये, मुझे अपने फीनिक्स आश्रम के साथियो सहित शान्तिनिकेतन मे रहने के लिए बुलाया था। काकासाहब कालेलकर और हरिहर शर्मा पहिले से वहा थे। स्व० दीनबन्धु एण्ड्रयूज़ और पियर्सन भी वही रहते थे। इन दोस्तो ने शान्तिनिकेतन मे दक्षिणी अफ्रीका के लोगो का एक दल-सा बना लिया था। यह छोटा-सा दल वहा रोज जो प्रार्थना करता था, जहा तक प्रार्थना के संस्कृत श्लोकोवाले हिस्से का ताल्लुक है, वह प्रार्थना आज भी प्राय उसी तरह की जाती है।

जब मैं त्रावणकोर मे हरिजनो के लिए दौरा कर रहा था, तब इस प्रार्थना मे

ईशोपनिषद् का पहिला श्लोक जोड़ा गया था। मेरी राय मे यह श्लोक हिन्दूधर्म के आध्यात्मिक विचारो का निचोड़ है। बाद मे स्वर्गीय अब्बास तैयबजी की लड़की रेहाना तैयबजी ने, जो अपनी सगीतकला के लिए मशहूर है, सुझाया कि प्रार्थना मे कुरानशरीफ की एक आयत जोड़ दी जाय, और वह जोड़ी गई। आखिर मे, आगाखाँ के महल मे कस्तूरबा के गुजर जानेपर डा० गिल्डर ने पारसियो के धर्मग्रन्थ जेन्दा अवेस्ता का एक मन्त्र पढा था। तब से वह भी आश्रम की प्रार्थना का एक हिस्सा बन गया है। इनके अलावा प्रार्थना मे हिन्दुस्तान की किसी भाषा का या अग्रेजी का कोई एक भजन और रामधुन भी गाई जाती है।

जो प्रार्थना इस तरह तैयार हुई है, वह किसी एक जाति या धर्म की प्रार्थना किसी तरह नही मानी जा सकती। वह दुनिया के हर आदमी को अपील करनेवाली है, और किसी भी जाति या मजहब वाले को इसमे शामिल होने मे हिचकिचाना न चाहिए।

एक जपानी बौद्धभिक्षु सेवाग्राम मे दो या तीन साल तक रहे थे। उन्ही की वजह से आश्रम की प्रार्थना मे यह बौद्ध[1]-मन्त्र शामिल किया गया था। वे हिन्दुस्तान मे पैदा हुए बौद्ध धर्म की गुप्त बातो को अच्छी तरह समझने के विचार से यहा आये थे। उनका स्वभाव मीठा था, और अपनी मिलनसारी, खामोशी और दिखावे से दूर रहने के अपने गुण की वजह से वे सेवाग्राम आश्रम मे सबके प्रिय बन गये थे। रोज सुबह वे पूरे एक घण्टे तक आश्रम के मैदानो पर ढोल बजाते और गहरी, सुरील आवाज मे यह बौद्ध मन्त्र गाते हुए घूमा करते थे। जो कोई भी उनकी इस आवाज को सुनता था, वह पुलकित हुए बिना न रहता था। वे प्रार्थना सभा मे भी इस मन्त्र को गाया करते थे। जपान से, लड़ाई छिड़ जाने के बाद जब सरकार ने उन्हे गिरफ्तार कर लिया, तब भी आश्रम की प्रार्थना मे यह मन्त्र पढा जाता रहा।

—श्रीरामपुर, २८।११।१९४६। ३०।११।१९४६। ह० से० १२।१।१९४७]

२१४. प्रार्थना अव्यर्थ है

सच्ची प्रार्थना कभी खाली नही जाती। इसका अर्थ यह नही कि हम जो भी छोटी-मोटी चीजे भगवान से माँगते है, वे सब हमे फौरन मिल जाती है। जब हम सच्चे हृदय से स्वार्थ को भुला देते है और पूरी नम्रता के साथ भगवान की शरण जाते है, तभी हमारी प्रार्थना सुनी जाती है।

---

1 नम्यो होरेंगे क्यो—इस मन्त्र का अर्थ है सभी बुद्धों को नमस्कार।—सम्पा०

आश्रम की प्रार्थना मे भगवान से कुछ नही माँगा जाता। उसमे भगवान से यही प्रार्थना की जाती है कि वह हमे अच्छा पुरुष और अच्छी स्त्री बनाये। जब यहप्रार्थना सच्चे हृदय से की जाती है तब भगवान हम पर अवश्य ही कृपा करते हैं। भगवान की इच्छा के बिना एक तिनका भी नही हिलता। कोई श्रेष्ठ विचार ऐसा नही जो हमारी चाल-चलन पर अपनी छाप न छोड जाता हो। इसलिए प्रतिदिन प्रार्थना करने की आदत डालना अच्छा है।

—श्रीरामपुर, ६।१२।१९४६। ह० ज० ह० से०, १२।१।१९४७]

२१५. धर्म : प्रश्नोत्तर

[प्रार्थना-सभा में किये गये प्रश्न और उनके उत्तर]

प्रश्न—आपने कहा है कि जात-पांत टूट जानी चाहिए। ऐसा होने पर क्या हिन्दुत्व क़ायम रहेगा। आप हिन्दुत्व को ईसाई या इस्लाम-जैसे आगे बढ़नेवाले धर्मों के साथ क्यों मिलाते हैं ?

उत्तर—अगर हिन्दुत्व को जीना है तो जात-पाँत, वह जिस रूप मे समझी जाती है, जानी ही चाहिए। मेरा यह विश्वास नही है कि ईसाई-धर्म या इस्लाम आगे बढनेवाले है और हिन्दू-धर्म स्थिर या पीछे जानेवाला है। वस्तुत मुझे किसी धर्म मे कोई निश्चित उन्नति दिखाई नही पडती। यदि ससार के धर्म प्रगतिशील होते तो वह आज जो कसाईखाना बन गया है, वह न बनता। वर्ण के बँटवारे मे चार बडी जातियो के लिए कर्त्तव्य-निर्वाह को स्थान था। यह बात सब धर्मों मे सच थी, नाम भले ही वर्ण के अतिरिक्त कुछ दूसरा रहा हो। अगर मुस्लिम मौलवी और ईसाई पादरी रुपये के लिए नही, बल्कि इसलिए कि उसमे समझाने की देन है, अपने लोगो को उनका सच्चा कर्त्तव्य सिखाता हो, तो वह ब्राह्मण के सिवा और क्या है ? यही बात दूसरे हिस्सो या वर्णों के बारे मे भी थी।

प्रश्न—अगर ईश्वर या खुदा एक ही है तो क्या धर्म या मजहब भी एक ही नहीं होना चाहिए ?

उत्तर—यह एक अजीब सवाल है। जिस तरह पेड मे लाखो पत्तिया होती है, उसी तरह ईश्वर या खुदा के एक होने पर भी दुनिया मे उतने ही धर्म है, जितने कि पुरुष और स्त्रिया, यद्यपि इन सबका सहारा वही एक ईश्वर है। वे यह सीधी-सादी बात पहिचान नही सकते क्योकि वे भिन्न-भिन्न पैगम्बरो को माननेवाले हैं और उतने ही धर्मो का दावा करते हैं, जितने कि पैगम्बर है। मैं खुद अपने को हिन्दू मानता हूँ, मगर जानता हूँ कि वास्तव मे मैं ठीक उसी तरह पूजा नही करता, जिस तरह दूसरे करते हैं।

प्रश्न—क्या धार्मिक शिक्षा सरकार-द्वारा स्वीकृत पाठ्यक्रम का हिस्सा होनी चाहिए ? क्या आप मजहबी शिक्षा की सुविधा के विचार से भिन्न-भिन्न धर्म के विद्यार्थियो के लिए अलग-अलग स्कूलो के पक्षपाती हैं, या मजहबी शिक्षा वैयक्तिक सस्थाओं के हाथ मे छोड दी जानी चाहिए ? अगर हाँ, तो क्या सरकार को ऐसी वैयक्तिक सस्थाओ की सहायता करनी चाहिए ?

उत्तर—अगर सारी कौम का एक ही धर्म हो तो भी मैं राजकीय धर्म पर विश्वास नही करता। शायद सरकारी हस्तक्षेप सदा ही अनुचित होगा। धर्म शुद्ध रूप से व्यक्तिगत विषय है। वस्तुत जितने मन है, उतने ही धर्म है। परमात्मा की कल्पना प्रत्येक मन मे एक दूसरे से भिन्न होती है।

मैं धार्मिक सस्थाओ को आशिक या पूरी सरकारी सहायता मिलने के भी विरुद्ध हूँ। यह इसलिए कि जो सस्था अपनी मजहबी शिक्षा के व्यय का प्रबन्ध नही कर सकती, वह सच्चे मजहब को नही जानती। इसका यह अर्थ नही कि सरकारी स्कूलो मे चारित्रिक शिक्षा नही दी जानी चाहिए। आचरण के सिद्धान्त सब धर्मों मे एक-से है।

—२२।२।१९४७। ह० ज०। ह० से०, १६।३।१९४७]

२१६. धर्म, नीति और धार्मिक शिक्षा

[श्री इ० डब्ल्यू० आर्यनायकम को लिखे गये पत्र से]

मैं नही मानता कि सरकार धार्मिक शिक्षा से सम्बन्ध रख सकती है या उसे निभा सकती है। मेरा विश्वास है कि मजहबी शिक्षा पूरी तरह से सिर्फ मजहबी सस्थाओ का ही विषय होना चाहिए।

धर्म और नीति को मिलाना नही चाहिए। मेरे विश्वास के अनुसार सब धर्मों मे मौलिक नीति एक ही है। मौलिक नीति की शिक्षा देना निस्सन्देह सरकार का काम है। धर्म या मजहब से मेरा मतलब बुनियादी नीति नही, बल्कि जिसकी छाप से भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय बनाये जाते है।

हमने सरकारी सहायताप्राप्त धर्म और राजकीय धर्म के बहुत-से परिणाम सहे है। जो समाज अपने धर्म की रक्षा हेतु आशिक या पूर्णरूप से सरकारी सहायता पर निर्भर रहता है, वह उसके योग्य नही होता और इससे भी बढकर बात यह कि उसका धर्म वास्तव मे धर्म कहे जाने-योग्य नही होता। मेरे सामने यह सचाई बिल्कुल स्पष्ट है और इसके समर्थन मे उदाहरण देने की आवश्यकता नही।

—काजिरखिल, २१।२।१९४७। ह० ज०। ह० से०, २३।३।१९४७]

२१७. मेरा विश्वास

मेरा अपने धर्म पर जीवन्त विश्वास है। मैं हिन्दू होकर भी एक अच्छा मुसलमान, ईसाई, पारसी या यहूदी हूँ इसलिए मेरा दावा है कि मैं अधिक अच्छा हिन्दू हूँ।

—८।३।१९४७। ह० ज०। ह० से०, ३०।३।१९४७]

२१८. मेरा धर्म

चूँकि मैं सनातनी हिन्दू हूँ, इसलिए मेरा दावा है कि मैं ईसाई, बौद्ध और मुस्लिम भी हूँ। कुछ मुसलमान मित्र भी यह मानते है कि मुझे कुरान की आयतें पढने का कोई हक नही है। लेकिन ऐसे लोग यह नही जानते कि सच्चा धर्म भाषा और धर्मग्रन्थो की सीमा से बाहर की चीज है। मुझे इसका कोई कारण नही दीखता कि मैं कलमा क्यो न पढू, अल्लाह की स्तुति क्यो न करू और मुहम्मद साहब को अपना पैगम्बर मानकर उनका आदर क्यो न करू? हर धर्म के महान पैगम्बरो और साधु-सन्तो मे मेरा विश्वास है। मेरा दावा है कि हिन्दू-धर्म मे सब धर्म समाये हुए हैं। मुझे विश्वास है कि अगर मैं अपने पक्के विश्वासो के अनुसार जीवन बिता सकू, तो मैं हिन्दू-धर्म की ही नहीं, इस्लाम की भी सेवा करूगा।

—दिल्ली, प्रार्थना-सभा, ७।४।१९४७। ह० से० २७।४।१९४७]

२१९. धर्मो का उपहास उचित नहीं

हमे किसी के धर्म की हँसी न उडानी चाहिए, नही तो लोग हमारे धर्म की भी हँसी उडायेंगे और इससे झगडा पैदा होगा।

—प्रार्थना-सभा १७।४।१९४७। बिहार समाचार से। ह० से० ४।५।१९४७]

२२०. धर्म-ग्रन्थ : एक दृष्टि

यह तर्क गलत है कि चूँकि कुछ धर्मान्धता के शिकार मुसलमानो ने बगाल और पजाब मे हिन्दुओ पर अत्याचार किये हैं इसलिए कुरान शरीफ बुरा है। बिहार मे हिन्दू पागल बन गये थे, लेकिन इससे गीता की महिमा नही घटी। चूँकि आपके दिल मे इस्लाम के अनुयायियो के प्रति घृणा भरी है इसलिए उनके

किमी वर्म-ग्रन्थ मे कोई आयत पढने की इच्छा न ग्खना मच्चे वर्म के खिलाफ है। आपका यह तरीका हिन्दू-वर्म को वचाने के वदले उमे मिटा देगा।

—दिल्ली, प्रार्थना-सभा, ७।५।१९४७। ह० ज०। ह० से०, १८।५।१९४७]

२२१. धर्म-ग्रन्थो का पठन

प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह अपने वर्म-ग्रन्थो के अतिरिक्त दूमरो के वर्म-ग्रन्थो को भी पढे। इमसे वह अपने वम को पाक-माफ ग्ख मकेगा और अपने दोप दूर कर मकेगा। इसके मिवा ईमाई, मुमलमान, पारमी और दूमरे मज़हवो के मानने वाले हमारे वीच है। यदि हिन्दू उन मवको अपना भाई ममझते है, तो उन्हे चाहिए कि वे उनके वर्म-ग्रन्थो को भी पढे।

—प्रार्थना-सभा, १३।५।१९४७। ह० ज०। ह० से०, २५।५।१९४७]

२२२. धर्म और राष्ट्रीयता

वर्म मे किमी की राष्ट्रीयता नही परग्वी जाती। वह तो इमान और उसके भगवान के वीच की व्यक्तिगत वात है। राष्ट्रीयता के नाते यूनियन[1] के लोग हिन्दुस्तानी के मिवा और कुछ नही हैं—भले ही वे किमी वर्म के अनुयायी हो।

—नई दिल्ली, २२।६।१९४७। ह० ज०। ह० से०, २९।६।१९४७]

२२३. भगवान का प्रत्यक्ष दर्शन

[प्रार्थना-सभा मे किसी भाई ने गाधी जी के पास एक कागज लिख कर पहुँचाया। इसमे लेखक ने प्रश्न किया था, क्या आपने भगवान को अपनी आँखो देखा है? इसके उत्तर मे व्यक्त गांधी जी के उद्गार यहाँ दिये जा रहे हैं।—सम्पा०]

मैंने भगवान का प्रत्यक्ष दर्शन नही किया है। अगर मैंने उमे देखा होता तो मुझे आपके मामने वोलने की जरूरत न रह जाती। मेरे विचारो मे ही इतनी शक्ति होती कि मुझे वोलने और काम करने की ज़रूरत न पडती किन्तु भगवान के अस्तित्व मे मेरी अटल श्रद्धा है। वडे-मे-वडे विद्वान् भी करोडो अनपढ लोगो

---

१ भारतीय सघ।

की इस श्रद्धा को नही डिगा सकते। आज की प्रार्थना मे गाया गया भजन भगवान के दर्शन का मार्ग बताता है। कवि भगवान के दर्शन के इच्छुक से कहता है कि तुम क्रोध और वासना छोड दो। अगर तुम परमानन्द को पाना चाहते हो तो स्तुति और निन्दा की परवाह मत करो।...

—नई दिल्ली, प्रार्थना-सभा, २३।७।१९४७। ह० ज०। ह० से०, ३।८।-१९४७]

२२४. कुछ आध्यात्मिक प्रश्नोत्तर

प्रश्न—आपके सुझाव के अनुसार रामनाम का—सच्चिदानन्द के नाम का—मेरा जप चालू है। और उससे मेरी क्षय की बीमारी में सुधार भी होने लगा है। यह सही है कि साथ मे डाक्टरी इलाज भी चल रहा है। लेकिन आप कहते हैं कि युक्ताहार और मिताहार से इसान बीमारियो से दूर रहकर अपनी उम्र बढ़ा सकता है। मैं तो पिछले २५ वर्ष से मिताहारी रहता आया हूँ, फिर भी आज ऐसी बीमारी का भोग बना हुआ हूँ। इसे क्या पूर्वजन्म का या इस जन्म का दुर्भाग्य कहा जाय? आप यह भी कहते हैं कि मनुष्य १२५वर्ष जी सकता है। स्वर्गीय महादेव भाई को आपको बडी जरूरत थी, यह जानते हुए भी भगवान ने उन्हें उठा लिया। युक्ताहारी और मिताहारी महादेव भाई आपको ईश्वर-स्वरूप मानकर जीते थे, फिर भी वे खून के दबाव की बीमारी (ब्लड प्रेशर) के शिकार बनकर सदा के लिए चल बसे। भगवान का अवतार माने जाने वाले रामकृष्ण परमहंस क्षय-जैसी कैंसर की खतरनाक बीमारी के शिकार होकर कैसे मर गये? वे भी कैंसर का सामना क्यो न कर सके?

उत्तर—मैं तो स्वास्थ्य की रक्षा के जो नियम स्वय जानता हूँ, वही बताता हूँ। लेकिन मिताहार या युक्ताहार किसे माना जाय, यह हर आदमी को जानना चाहिए। इस बारे मे जिसने बहुत-सा साहित्य पढा हो और बहुत विचार किया हो वह खुद भी इसे जान सकता है। लेकिन इसका यह अर्थ नही कि ऐसा ज्ञान शुद्ध और पूर्ण है। इसलिए कुछ लोग जीवन को प्रयोगशाला कहते हैं। कई लोगो के अनुभवो को एकत्र करना चाहिए और उनमे से जानने योग्य बात को लेकर आगे बढना चाहिए। लेकिन ऐसा करते हुए अगर सफलता न मिले, तो भी किसी को दोष नही दिया जा सकता। स्वय को भी दोषी नही कहा जा सकता। नियम गलत है, यह कहने की भी एकदम हिम्मत न करनी चाहिए। लेकिन अगर हमारी बुद्धि को कोई नियम गलत मालूम हो, तो सही नियम कौन-सा है, यह बताने की

शक्ति अपने मे पैदा करके उसका प्रचार करना चाहिए। आपकी क्षय की बीमारी के कई कारण हो सकते हैं। यह भी कौन कह सकता है कि पचमहाभूतो का आपने जरूरत के अनुसार उपयोग किया या नही ? इसलिए जहा तक मैं प्रकृति के नियमो को जानता हूँ और उन्हे सही मानता हूँ, वहा तक मैं तो आपसे यही कहूगा कि कही-न-कही पचमहाभूतो का उपयोग करने मे आपने भूल की है। महादेव और रामकृष्ण परमहस के बारे मे आपने जो शका उठाई, उसका जवाब भी मेरी ऊपर की बात मे आ जाता है । प्रकृति के नियम को गलत कहने के बजाय यह कहना ज्यादा युक्ति-सगत मालूम होता है कि इन्होने भी कही-न-कही भूल की होगी। नियम कोई मेरा बनाया हुआ नही है, वह तो प्रकृति का नियम है,, कई अनुभवी लोगो ने इसे कहा है। और, इसी बात को मानकर मैं चलने की कोशिश करता हूँ। वास्तव मे बात यही है और कोई, अपूर्ण मनुष्य इसे कसे जान सकता है ? डाक्टर इसे नही मानते। *मानते भी हैं, तो उसका दूसरा अर्थ करते हैं, इसका मुझपर कोई असर नही होता।* नियम का समर्थन करने पर भी मेरे कहने का यह मतलब नही होता, न निकाला जाना चाहिए, कि इससे ऊपर के किसी व्यक्ति का महत्व कम होता है।

प्रश्न—१४।४।१९४६। के ह० ब० मे आपने लिखा है 'ईश्वर खुद नीति और नीतिकार है।' यह ठीक-ठीक समझ मे नहीं आता। नीति तो मनुष्य की बनाई हुई है। अपूर्ण मनुष्य की नीति मे समय-समय पर फेर-बदल होते रहते हैं। एक उदाहरण यहा देता हूं। द्रौपदी ने पाँच पति पसन्द किये, फिर भी वह अपने समय मे सती मानी गई। आज कोई औरत ऐसा करे, तो हम उसे व्यभि-चारिणी कहेंगे।

उत्तर—नीति का मतलब यहा नियम किया जाना चाहिए। यह नियम मनुष्य का बनाया हुआ नही। उसने तो ईश्वर के नियम के बारे मे सिर्फ कल्पना की है। जैसे-जैसे मनुष्य की जानकारी बढती गई, उसका पिछला अनुमान ग़लत साबित हुआ। पृथिवी घूमती है, यह प्रकृति का नियम है, उसकी नीति है, ऐसा हम अब छाती ठोक कर कहते हैं। लेकिन गैलीलियो[1] के पहिले जो खगोलवेत्ता हो चुके थे, उन्होने इससे भिन्न कल्पना की थी। द्रौपदी का जो उदाहरण आपने दिया है, वैसी मैं न दूंगा। महाभारत को मैं एक बडा रूपक मानता हूँ। द्रौपदी यानी आत्मा और पाँच इन्द्रिया उसके पाँच पति।

प्रश्न—ईश्वर का अस्तित्व बुद्धि से परे है। श्रद्धा से ही वह समझा जा सकता है। लेकिन क्या पुनर्जन्म की घटना सत्य है ? पाप और पुण्य का अन्तर

---

१ इतालवी वैज्ञानिक और खगोलवेत्ता।

समझ कर मनुष्य अपना काम करते हुए सान्त्वना पाता रहे, इसके लिए अकेले हिन्दू धर्म ने ही तो यह खोज नहीं की है न ?

उत्तर—ईश्वर का अस्तित्व बुद्धि से नही समझा जा सकता, इसका अर्थ यह हुआ कि बुद्धि अमुक सीमा तक ही समझ सकती है, उससे आगे नही। यह श्रद्धा की और उससे पैदा होनेवाले अनुभव की ही बात है। या तो आप पुराने लोगो का अनुभव मानिए या फिर स्वय अनुभव करके सन्तोष कीजिए। लेकिन जो श्रद्धा अनुभव की भी अपेक्षा नही रखती, वही सच्ची श्रद्धा है। पाप और पुण्य का अन्तर मनुष्य की सन्तुष्टि के लिए नही है, ऐसा मैं नही कहता। मगर सच्चा परितोष तो ईश्वर पर श्रद्धा रखने से ही मिलता है। यह है, पुनर्जन्म भी है, ऐसा बहुत से ज्ञानियो ने कहा है। और मैं मानता हूँ कि ये सारी बाते अमुक सीमा तक बुद्धि से समझ मे आ सकती है।

—पंचगनी, २५।७।१९४७। ह० ब०। ह० से० ४।८।१९४७]

- **जो श्रद्धा अनुभव की भी अपेक्षा नहीं रखती, वही सच्ची श्रद्धा है।**
- **सच्चा परितोष तो ईश्वर पर सच्ची श्रद्धा रखने से ही मिलता है।**

२२५. रामधुन की शक्ति

मैं बिना किसी हिचकचाहट यह कह सकता हूँ कि लाखो आदमियो-द्वारा सच्चे हृदय और एक ताल एकलय से गाई जानेवाली रामधुन की शक्ति सैनिक शक्ति के दिखावे से बिल्कुल अलग और कई गुना श्रेष्ठ होती है।

—देशबन्धु पार्क, कलकत्ता, २२।८।१९४७। ह० ज०। ह० से० ३१।८।-१९४७]

२२६. धर्म

धर्म हर एक की व्यक्तिगत वस्तु है और अगर हम उसे वैयक्तिक वस्तु बनाये रखने मे सफल हुए, तो हमारे राजनीतिक जीवन मे किसी प्रकार की गडबडी नही पैदा होगी। सरकारी अधिकारी और जनता धर्म-निरपेक्ष राज्य स्थापित करने का दायित्व लें और उसके लिए पूरी लगन से काम करें, तभी हम नये हिन्दुस्तान को जन्म दे सकेंगे, जो संसार का गौरव होगा।

—देशबन्धु पार्क, कलकत्ता, २२।८।१९४७। ह० ज०। ह० से०, ३१।८।-१९४७]

२२७. अल्लाहो-अकबर

मेरी राय मे दुनिया ने शायद इस (अल्लाहो अकवर) से वडे नारे को कभी जन्म नही दिया। यह आत्मा को ऊँचा उठाने वाला धार्मिक नारा है, जिसका अर्थ है--केवल भगवान ही वडा है। यह अर्थ अत्यन्त ऊँची भावना वाला है। भगवान कई नामो और कई गुणो से पहिचाना जाता है। राम, रहीम, कृष्ण, करीम सव एक ही भगवान के नाम हैं। सिखो का मत् श्री अकाल भी उतना ही शक्तिशाली नारा है। क्या किसी भी हिन्दू या मुसलमान को उसे पुकारने मे हिच-किचाना चाहिए ? उसका अर्थ है भगवान है, अन्य कुछ नही है। रामधुन की भी यही विशेपता है।

—वुडलैण्डर्स, अलीपुर, २३।८।१९४७। ह० ज०। ह० से० ३१।८।१९४७]

२२८. प्रार्थना की शर्त

मैंने कभी किसी पर कोई चीज जवरन नही लादी। फिर प्रार्थना-जैसी ऊची आध्यात्मिक वस्तु मैं कैसे लाद सकता हूँ ? प्रार्थना करने, न करने का उत्तर हृदय के अन्दर से मिलना चाहिए। इसमे मुझे खुश करने का कोई सवाल नही उठ सकता। मेरी प्रार्थना-सभाए सचमुच जनप्रिय वन गई हैं। मालूम होता है कि उनमे लाखो मनुष्यो को लाभ हुआ है। मेरी प्रार्थना करने की शर्त यही है कि उसका जो भाग किसी को आपत्तिजनक मालूम हो, उसे छोडने की मुझसे आशा न रखी जाय। या तो प्रार्थना जैसी है वैसी ही हृदय से स्वीकार की जाय या उसे अस्वीकार कर दिया जाय। मेरे लिए कुरान की आयत पढना प्रार्थना का ऐसा अश है, जिसे छोडा नही जा सकता।

—गणेश लाइस, दिल्ली, १७।९।१९४७। ह० ज०। ह० से०, २८।९।१९४७]

२२९. प्रार्थना अखण्ड है

प्रार्थना का उद्देश्य किसी की भावनाओ को चोट पहुँचाना नही है। साथ ही मैं प्रार्थनाओ का कोई अश छोड भी नही सकता, जिन्हे मैंने वडी सावधानी और सोच-विचार के वाद चुना है।

—विडला भवन, नई दिल्ली, १८।९।१९४७। ह० ज०। ह० से० २८।९-१९४७]

२३०. ज्ञान के रत्न

गीता, कुरान, बाइबिल, गुरुग्रन्थ साहब और जेन्द-अवेस्ता मे ज्ञान के रत्न भरे पडे है, यद्यपि उनके अनुयायी इनके उपदेशो को झूठ सिद्ध कर देते है।
—बिडला भवन, नई दिल्ली, २२।९।१९४७। ह० ज०। ह० से०, ५।१०।-
१९४७]

२३१. धर्म की विजय

लका की लडाई दो बराबर दलो के बीच की लडाई नही थी। उसमे एक ओर प्रबल राजा रावण था और दूसरी ओर देश-निकाला पाये हुए राम थे। लेकिन राम की जीत इसलिए हुई कि वे अपने धर्म का कडाई से पालन कर रहे थे। अगर दोनो ही दल अधर्म करने लगते तो कौन किसकी तरफ उगली उठा सकता था?
—बिड़ला भवन, नई दिल्ली, २५।९।१९४७। ह० ज०। ह० से०, ५।१०-
१९४७]

२३२. धर्म-परिवर्तन

जो लोग खुद सोच-समझ कर अपना धर्म बदलते हैं, उनकी मुझे चिन्ता नही है। लेकिन जो अछूत या शूद्र मुसलमान बने हैं, वे इस प्रकार सोच-विचार कर नही बने हैं।
—बिड़ला भवन, नई दिल्ली, ३०।९।१९४७। ह० ज०। ह० से०, १२।१०-
१९४७]

२३३. हिन्दू काफ़िर है?

बम्बई के एक दोस्त ने, जिनके बहुत से मुस्लिम दोस्त है, एक पहेली मेरे सामने रखी है—काफिरो के बारे मे पैगम्बर साहब की क्या सीख है? क्या कुरान के अनुसार हिन्दू काफिर नही है? मैं तो बहुत पहिले से इस नतीजे पर पहुँच चुका हूँ कि कुरान के अनुसार हिन्दू काफिर नही है। इस बारे मे मैंने अपने मुसलमान मित्रो से बात की है। उन्होने अपने ज्ञान के आधार पर मुझे विश्वास

दिलाया कि कुरान मे काफिर का अर्थ ईश्वर मे विश्वास न रखनेवाला है। उन्होने मुझसे कहा कि हिन्दू काफिर नही है क्योकि वे एक ईश्वर मे विश्वास करते हैं।

अगर आपने विरोधी टीकाकारो की बात मानी तो आप कुरान और पैगम्बर साहब की उसी तरह निन्दा करेंगे, जिस तरह भगवान कृष्ण की करेंगे, जिन्हे कुछ लोगो ने सोलह हजार गोपिया रखनेवाला, लम्पट और विलासी पुरुप बताया है। मैं अपने टीकाकारो को यह कह कर चुप कर दूंगा कि मेरा कृष्ण पवित्र और बेदाग है। मैं लम्पट और दुराचारी के सामने अपना सिर नही झुका सकता।

आप प्रतिदिन मेरे साथ जिस भगवान की आराधना और प्रार्थना करते हैं वह सब मे मौजूद और सर्वशक्तिमान है। इसलिए आप न तो किसी से शत्रुता रख सकते है, न किसी से डर सकते हैं। क्योकि भगवान हर समय आपके अन्दर और आपके साथ मौजूद हैं। सबके साथ मिलकर की जाने वाली प्रार्थना ऐसी ही होती है। इसलिए अगर आप सम्पूर्ण हृदय से और बिना किसी शर्त्त के प्रार्थना मे सम्मिलित नही हो सकते तो मैं भगवान की ऐसी उपासना न करना ही ज्यादा पसन्द करूगा। अगर आप सम्पूर्ण हृदय से इसमे शामिल हो सके, तो आपको मालूम होगा कि आपके अन्दर अपने आस-पास घिरे अन्धकार को दूर करने की शक्ति दिनानुदिन बढती जा रही है।

—बिडला भवन, नई दिल्ली, १।११।१९४७। ह० ज०। ह० से०, ९।११-१९४७]

२३४. बहुनामधारी ईश्वर

भगवान को कई नामो से पहिचाना जाता है। गहरी छानबीन की जाय तो अन्त मे ज्ञात होगा कि ससार मे जितने आदमी हैं उतने ही भगवान के नाम हैं। यह ठीक कहा गया है कि पशु, पक्षी और पत्थर भी भगवान की पूजा करते है। प्रार्थना के किसी अश का इसलिए विरोध करना कि वह कुरान या अन्य धर्म-ग्रन्थ से चुना गया है, नादानी है।

—बिडला भवन, नई दिल्ली, २।११।१९४७। ह० ज०। ह० से०, ९।११।-१९४७]

२३५. देश और धर्म

एक मन्त्री ने कुछ दिनो पहिले मुझसे पूछा था, मैंने कई बार सुना है कि धर्म, स्वाभिमान और स्वदेशाभिमान की तुलना करें तो स्वदेशाभिमान ऊँचा ठहरता है। क्या इसे आप मानते है ?

मैंने जवाब दिया, मै नही मानता। एक ही जाति की चीजो के बीच तुलना की जा सकती है। अलग-अलग जाति की चीजो की तुलना करना असम्भव है। हर चीज अपनी जगह पर रहते हुए दूसरी चीज़ो के बराबर ही मूल्य रखती है। मनुष्य को अपना धर्म और अपना देश, दोनो ही, प्रिय हैं। वह एक को देकर दूसरा नही लेगा। उसे दोनो समान रूप से प्रिय है। वह रावण की चीज़ रावण को देगा और राम की राम को। अगर रावण अपनी मर्यादा तोड दे तो राम का भक्त दूसरा रावण ढूंढने नही जायगा। लेकिन वह मर्यादा तोडनेवाले रावण से ही निबट लेगा।

—नई दिल्ली, २९।११।१९४७। ह० ब०। ह० से०। ७।१२।१९४७]

२३६. शुद्ध उपवास

शुद्ध उपवास भी शुद्ध धर्मपालन की तरह है।

—बिड़ला भवन, नई दिल्ली, १२।१।१९४८। ह० से०, १८।१।१९४८]

२३७. सभी धर्म एक हैं

सारे धर्म मूल मे एक ही हैं, यद्यपि वे पेड के पत्तो की तरह विस्तार और बाह्य रूप मे एक दूसरे से अलग है। हर पत्ते का अपना अलग अस्तित्व है, लेकिन वे सब एक ही तने से फूटते है और उसी से उनका सम्बन्ध होता है। इसके अलावा कोई भी दो पत्ते एक-से नही होते। फिर भी वे आपस मे कभी नही लडते। इसके बजाय वे उसी हवा मे खुशी से नाचते हैं और एक साथ मीठा स्वर निकालते हैं।

—महरौली दरगाह (दिल्ली) २४।१।१९४८। ह० से०, २२।२।१९४८]

२३८. विविध धर्म : एक लक्ष्य

विविध धर्म एक ही जगह पहुँचानेवाले अलग-अलग रास्ते हैं। एक ही जगह पहुँचने के लिए हम अलग-अलग रास्ते अपनायें तो इसमे दु ख का कोई कारण नही है। सच पूछो तो जितने मनुष्य हैं, उतने ही धर्म भी हैं।

—हिन्द स्वराज्य, सस्करण १९५९]

२३९. आध्यात्मिक राष्ट्र बनने की शर्त

हमारा राष्ट्र वास्तव मे आध्यात्मिक राष्ट्र तभी बनेगा जब हम स्वर्ण से सत्य का, मत्ता और धन के दिखावे से निर्भयता का, और स्वार्थ से उदारता का अधिक परिचय देंगे। यदि हम केवल अपने महलो और मन्दिरो मे धन का वैभव प्रकट करने वाले चिह्न माफ कर दे और उनमे सदाचार की महिमा बतानेवाले गुणो को प्रकट करें तो हम भारी सैनिक खर्च का भार वहन किये विना ही विरोधी शक्तियो के किसी भी गुट से लोहा ले सकते हैं। पहिले हमे ईश्वरीय राज्य और उसकी पवित्रता की खोज करनी चाहिए फिर तो उसका अटल वचन है कि और सब चीजें हमे मिल जायगी। यह सच्चा अर्थशास्त्र है। भगवान करे कि आप और मैं उसकी कद्र करे और उसे अपने दैनिक जीवन मे चरितार्थ करें।

—स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स आफ महात्मा गाधी। नवजीवन प्रकाशन मन्दिर-द्वारा प्रकाशित 'विद्यार्थियो से' सकलन का अश।]

२४०. ईश्वर : एक कठोर परीक्षक

ससार मे मैंने ईश्वर को सबसे अधिक कठोर मालिक पाया है और वह आपकी कडी परीक्षा लेता रहता है। और जब आप यह पाते हैं कि आपकी श्रद्धा आपका साथ छोड रही है या आपका शरीर आपका साथ नही दे रहा है और आप गिर रहे है, तब वह किसी-न-किसी तरह आपकी मदद को पहुँच जाता है और यह साबित कर देता है कि आपको अपनी श्रद्धा नही छोडनी चाहिए। वह सदा आपकी पुकार पर आने को तैयार है, परन्तु अपनी शर्तों पर, न कि आपकी शर्तों पर।

—स्पीचेज ऐण्ड राइटिंग्स आफ महात्मा गाधी, चौथा सस्करण]

२४१. ईश्वरेच्छा ही प्रधान है

जबतक ईश्वर मुझे उस शरीर मे रखना चाहता है, तबतक वह मेरी रक्षा करता है। जिस क्षण उसकी ज़रूरत पूरी हो जायगी, उस क्षण मेरी कोई सावधानी मुझे बचा नही सकेगी।

—बापू के पत्र · मीरा के नाम, सस्करण १९५१]

२४२. निर्विकार की पुत्र-कामना : भोग और वासना

[श्री बलवन्त सिंह से हुए प्रश्नोत्तर]

प्रश्न—आप कहते हैं कि सन्तान के लिए स्त्रीसंग धर्म है, बाकी व्यभिचार है, और निर्विकार मनुष्य भी सन्तान पैदा कर सकता है। वह ब्रह्मचारी ही है। लेकिन जिसने विकार के ऊपर काबू पाया है वह क्या सन्तान की इच्छा करेगा?

उत्तर—हा, यह अलग सवाल है। लेकिन ऐसे भी लोग हो सकते है जो निर्विकार होने पर भी पुत्र की इच्छा रखते है।

प्रश्न—अधिकतर तो सन्तान की आड़ मे काम की ही तृप्ति करते हैं।

उत्तर—हा, यह तो ठीक है। आजकल धर्मज सन्तान कहा है? मनु की भाषा मे एक ही सन्तान धर्मज है, बाकी सब पापज है।

प्रश्न—कुछ लोग वासना का क्षय करने के लिए विवाह की आवश्यकता मानते हैं। क्या भोग से वासना का क्षय हो सकता है?

उत्तर—हर्गिज नही।

—बापू की छाया में बलवन्त सिंह, सस्करण १९५७, न० जी० प्र० मं०]

२४३. जड़ भरत बन जाओ

[श्री बलवन्त सिंह को दी गई सलाह]

तुम मेरे पास मौन धारण करके रहो। जड भरत जैसे बन जाओ। जगत मे अपने आपको सबसे बुरा समझो। मेरा मार्ग जगल मे भाग जाने का नही है।

आज सच्चे सन्यासी तो गृहस्थो की तरह घरो मे रहते हैं और सबकी सेवा करते हैं।

—बापू की छाया मे . बलवन्त सिंह, संस्करण १९५७, न० जी० प्र० म०]

२४४. आध्यात्मिक उन्नति : व्यक्तिगत और सार्वजनिक

मेरा यह विश्वास ही नही है कि जब उसके पडोसी दु ख मे डूबे हुए हैं किसी एक व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति हो सकती है। मनुष्य मात्र की—अतएव प्राणिमात्र की—मूलभूत एकता मे मेरा विश्वास है। इसलिए मैं तो यह मानता हूँ कि अगर एक मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति होती है तो उसके साथ सारी दुनिया की उन्नति होती है और एक व्यक्ति का पतन होता है तो उस अश मे ससार का भी पतन

होता है। सारी मनुष्य जाति एक है। ईश्वर की दृष्टि मे सभी मनुष्य समान है।
—सर्वोदय, वर्ष १, अक १]

२४५. मेरा धार्मिक अनुशीलन

मैं तो यात्रा करने, काठियावाड के षड्यन्त्रो से बचने और रोजी कमाने के लिए दक्षिण अफ्रीका गया था, पर पड गया ईश्वर की खोज मे—आत्मदर्शन के प्रयत्न मे। ईसाई भाइयो ने मेरी जिज्ञासा को बहुत उभार दिया। वह किसी भी तरह शान्त होनेवाली न थी। मैं शान्त होना चाहता तो भी ईसाई भाई-बहिन मुझे शान्त न होने देते।

मेरा पत्र-व्यवहार जारी था। रायचन्द भाई मुझे रास्ता दिखा रहे थे। किसी मित्र ने मुझे नर्मदाशकर की धर्म-विचार पुस्तक भेजी। उसकी प्रस्तावना मेरे लिए सहायक सिद्ध हुई। नर्मदाशकर के विलासमय जीवन की बात मैंने सुनी थी। प्रस्तावना मे उनके जीवन मे हुए परिवर्तनो का वर्णन किया गया था। उसने मेरे मन को अपनी ओर खीचा और इससे उस पुस्तक के लिए मेरे मन मे आदर उत्पन्न हुआ। मैंने उसे ध्यान देकर पढा। मैक्समूलर (भारत क्या सिखाता[1] है?) की पुस्तक मैंने बडी दिलचस्पी से पढी। थियासोफिकल सोसायटी-द्वारा प्रकाशित उपनिषदो का भाषान्तर मैंने पढा। इससे हिन्दू-धर्म के प्रति मेरा आदर बढा। मैं उसकी खूबिया समझने लगा। पर दूसरे धर्म के प्रति मेरे मन मे अनादर उत्पन्न नही हुआ। वाशिंगटन इर्विंग-कृत मुहम्मद का चरित्र[2] और कार्लाइल की मुहम्मद स्तुति पढी। पैगम्बर के प्रति मेरा सम्मान बढा। जरथुस्त्र[3] के वचन नामक पुस्तक भी पढी।

इस प्रकार मैंने भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो का थोडा-बहुत ज्ञान प्राप्त किया। मेरा आत्म-निरीक्षण बढा। जो पढा और रुचा उस पर अमल करने की आदत पक्की हुई। अतएव हिन्दू-धर्म मे बताई गई प्राणायाम-सम्बन्धी कुछ क्रियाए, पुस्तक के सहारे, जितनी समझ सका, उतनी मैंने शुरू की ? पर वे मुझसे सधी नही। इस साधना मे मैं आगे न बढ सका। सोचा था कि हिन्दुस्तान वापस आने पर उनका अभ्यास किसी शिक्षक की देखरेख मे करूगा। पर यह विचार कभी पूरा नही हो सका।

---

१ इण्डिया ह्वाट कैन इट टीच अस?

२ लाइफ आफ मुहम्मद ऐण्ड हिज सक्सेसर्स।

३ सेइग्स आफ जरथुस्त्र।

मैने तालसताय की पुस्तको का अध्ययन बढा दिया। उनका गास्पेल इन ब्रीफ (नवविधान का सार), व्हाट टु डू ? (क्या करे) आदि पुस्तको ने मेरे हृदय पर गहरा असर डाला। विश्व-प्रेम मनुष्य को कहा तक ले जा सकता है, इसे मैं अधिकाधिक समझने लगा। .

—आत्मकथा, भाग २ अध्याय २२]

२४६. सर्वोदय नीति का अन्तर्मन्थन

.मैं नेटाल के लिए रवाना हुआ। पोलक तो मेरी सब बाते जान ही गये थे। वे मुझे छोडने स्टेशन तक आये और यह कहकर कि यह किताब पढने योग्य है, इसे पढ जाइए, आपको पसन्द आयेगी। उन्होने रस्किन की 'अटु दिस लास्ट' पुस्तक मेरे हाथ मे रख दी।

इस पुस्तक को हाथ मे लेकर मैं छोड न सका। उसने मुझे पकड लिया। जोहानिसबर्ग से नेटाल चौबीस घण्टे का रास्ता था। ट्रेन शाम को डरबन पहुंचती थी। पहुंचने के बाद सारी रात नीद न आई। पुस्तक मे प्रकट किये हुए विचारो को अमल मे लाने का इरादा किया।.

मेरा यह विश्वास है कि जो चीज़ मेरे अन्दर गहराई से भरी हुई थी रस्किन के ग्रन्थरत्न मे मैंने उसका स्पष्ट प्रतिबिम्ब देखा। और इस कारण उसने मुझपर अपना साम्राज्य जमा लिया और मुझसे उसमे दिये गये विचारो पर अमल करवाया। जो मनुष्य हममे सोई हुई उत्तम भावनाओ को जाग्रत करने की शक्ति रखता है वह कवि है। सब कवियो का सब लोगो पर समान प्रभाव नही पडता, क्योकि सबके अन्दर सारी सद्भावनाए समान मात्रा मे नही होती।

मैं सर्वोदय के सिद्धान्त को इस प्रकार समझ पाया हूं।

१ सबके भले मे अपना भला समाया हुआ है।

२ वकील और नाई दोनो के काम की कीमत एक-सी होनी चाहिए, क्योकि आजीविका का अधिकार सबको बराबर है।

३. सादा, मेहनत-मजदूरी का, किसान का जीवन ही सच्चा जीवन है।

पहिली चीज मैं जानता था। दूसरी की मैं झलक पा रहा था। तीसरी को मैंने सोचा ही नही था। पहिली मे बाद की दो बातें समाई हुई हैं। यह मुझे सर्वोदय ने दीपक की भाति स्पष्ट कर दिया। सवेरा हुआ और मैं उस पर अमल करने के प्रयत्न मे लग गया।

—आत्मकथा, भाग ४, अध्याय १८]

२४७. दक्षिण अफ्रीका में धार्मिक सत्संग

मेरे भविष्य के बारे मे मि० बेकर[1] की चिन्ता बढ़ती जा रही थी। वे मुझे वेलिंग्टन कन्वेंशन मे ले गये। प्रोटेस्टेण्ट ईसाइयो मे कुछ वर्षों के अन्तर से धर्म-जागृति अर्थात् आत्म-शुद्धि के लिए विशेष प्रयत्न किये जाते हैं। इसे धर्म की पुन प्रतिष्ठा अथवा धर्म का पुनरुद्धार कह सकते है। ऐसा एक सम्मेलन वेलिंग्टन मे था। मि० बेकर को यह आशा थी कि इस सम्मेलन में होनेवाली जागृति, यहा आनेवाले लोगो के धार्मिक उत्साह और उनकी शुद्धता की मेरे हृदय पर ऐसी गहरी छाप पडेगी कि मैं ईसाई हुए बिना न रह सकूगा।

सम्मेलन मे श्रद्धालु ईसाइयो का मिलन हुआ। उनकी श्रद्धा देखकर मुझे खुशी हुई। मैंने देखा कि कई लोग मेरे लिए प्रार्थना कर रहे है। उनके अनेक भजन मुझे मधुर लगे।

सम्मेलन तीन दिन चला। मैं सम्मेलन मे आनेवालो की धार्मिकता को समझ सका, उसकी सराहना कर सका। पर मुझे अपने विश्वास मे, अपने धर्म मे परिवर्तन करने का कारण न मिला। मुझे यह प्रतीति न हुई कि ईसाई बनकर ही मैं स्वर्ग जा सकता हूँ अथवा मोक्ष पा सकता हूँ। जब मैंने यह बात अपने भले ईसाई मित्रो को बताई तो उनके दिल को चोट लगी। पर मै लाचार था।

मेरी कठिनाइयाँ गम्भीर थी। एक ईसामसीह ही ईश्वर के पुत्र हैं। उन्हे जो मानता वह तर जाता है, यह बात मेरे गले न उतरती थी। यदि ईश्वर के पुत्र हो सकते है, तो हम सब उसके पुत्र है। यदि ईसा ईश्वर-तुल्य है, ईश्वर ही है—तो मनुष्य मात्र ईश्वर के समान है, ईश्वर बन सकता है। ईसा की मृत्यु से और उनके रक्त से ससार के पाप धुलते है, इसे अक्षरश सच मानने के लिए बुद्धि तैयार नही होती थी। रूपक के नाते भले ही उसमे कुछ सत्य हो। इसके सिवा ईसाइयो का यह विश्वास है कि मनुष्य के ही आत्मा है, दूसरे जीवो के नही और देह-नाश के साथ उसका सम्पूर्ण नाश हो जाता है, जब कि मेरा विश्वास इसके विरुद्ध था। मैं ईसा को एक त्यागी महात्मा, दैवी शिक्षक के रूप मे स्वीकार कर सकता था,

---

१. दक्षिण अफ्रीका के एक वकील। गाधी जी जिस मुकदमे मे पैरवी करने दक्षिण अफ्रीका गये थे उसमे उनके मुवक्किल श्री अब्दुल्ला सेठ के प्रमुख वकील। यह एक आस्थावान ईसाई थे और धर्म के प्रति अत्यन्त श्रद्धा रखते थे। यह साउथ अफ्रीका जनरल मिशन के एक डाइरेक्टर थे। गाधी जी की धर्म-जिज्ञासा से प्रभावित हो वह उन्हें ईसाई बना लेने का प्रयत्न करते रहे।

पर उन्हे अद्वितीय पुरुष के रूप मे स्वीकार करना मेरे लिए सम्भव न था। ईसा की मृत्यु से ससार को एक महान उदाहरण प्राप्त हुआ। पर उनकी मृत्यु मे कोई गूढ चमत्कार-पूर्ण प्रभाव था, इसे मेरा हृदय स्वीकार नही कर सकता था। ईसाइयो के पवित्र जीवन में मुझे ऐसी कोई चीज नही मिली जो दूसरे धर्मानुयायियो के के जीवन मे न मिली हो। उनमे होनेवाले परिवर्तनो के समान ही परिवर्तन मैंने दूसरो के जीवन में भी होते देखे थे। सिद्धान्त की दृष्टि से ईसाई-सिद्धान्तो मे मुझे कोई अलौकिकता नही दिखाई पडी। त्याग की दृष्टि से हिन्दू धर्म माननेवालो का त्याग मुझे अधिक ऊचा मालूम हुआ। मैं ईसाई धर्म को सम्पूर्ण अथवा सर्वोपरि धर्म के रूप मे स्वीकार न कर सका।

अपना यह हृदय-मन्थन मैंने अवसर आने पर ईसाई मित्रो के सामने रखा। वे मुझे इसका कोई सन्तोषजनक उत्तर नही दे सके।

पर जिस तरह मैं ईसाई धर्म को स्वीकार न कर सका, उसी तरह हिन्दू धर्म की सम्पूर्णता के विषय मे अथवा उसकी सर्वोपरिता के विषय मे भी मैं उस समय निश्चय न कर सका। हिन्दू-धर्म की त्रुटिया मेरी आँखो के सामने फिरा करती थी। यदि अस्पृश्यता हिन्दू-धर्म का अग है, तो वह सडा हुआ और बाद मे जुडा हुआ अग जान पडा। अनेक सम्प्रदायो, अनेक जात-पाँतो की हस्ती को मैं न समझ सका। केवल वेदो के ईश्वर-प्रणीत होने का अर्थ क्या है ? यदि वेद ईश्वर-प्रणीत हैं, तो बाइबिल और कुरान क्यो नही ?

जिस तरह ईसाई मित्र मुझे प्रभावित करने के लिए प्रयत्नशील थे, उसी तरह मुसलमान मित्र भी प्रयत्न करते रहते थे। अब्दुल्ला सेठ मुझे इस्लाम का अध्ययन करने के लिए ललचा रहे थे। उसकी खूबियो की चर्चा तो वे करते ही रहते थे।

मैंने अपनी कठिनाइया रायचन्द भाई के सामने रखी। हिन्दुस्तान के दूसरे धर्मशास्त्रियो के साथ भी पत्र-व्यवहार शुरू किया। उनकी ओर से उत्तर भी मिले। रायचन्द भाई के पत्र से मुझे बडी शान्ति मिली। उन्होने मुझे धीरज रखने और हिन्दू-धर्म का गहरा अध्ययन करने की सलाह दी। उनके एक वाक्य का भावार्थ था—"निष्पक्ष भाव से विचार करते हुए मुझे यह प्रतीति हुई है कि हिन्दू-धर्म मे जो सूक्ष्म और गूढ विचार है, आत्मा का निरीक्षण है, दया है, वह दूसरे धर्मों मे नही है।

इस प्रकार यद्यपि मैंने ईसाई मित्रो की धारणा से भिन्न मार्ग, पकड लिया था, फिर भी उनके समागम ने मुझमे जो धर्म-जिज्ञासा जागरित की, उसके लिए तो मैं उनका सदा के लिए ऋणी बन गया। अपना यह सम्बन्ध मुझे हमेशा याद रहेगा।

—आत्मकथा, भाग २, अध्याय १५]

२४८. मेरे परिवार में धार्मिक वातावरण

मेरे पिता कुटुम्ब-प्रेमी, सत्यप्रिय, शूर, उदार, किन्तु क्रोधी थे। उनकी धार्मिक शिक्षा नही के बराबर थी, पर मन्दिरो मे जाने और कथा आदि सुनने से हिन्दुओ को जो धर्मज्ञान सहज भाव से मिलता रहता है, वह उनमे था। उन्होने अन्तिम साल परिवार के एक मित्र की सलाह से गीता-पाठ शुरू किया था और वे रोज पूजा के समय थोडे-बहुत श्लोक ऊचे स्वर से पाठ किया करते थे।

मेरे मन पर यह छाप रही है कि मेरी माता साध्वी स्त्री थी। वे बहुत श्रद्धालु थी, बिना पूजा-पाठ के कभी भोजन न करती थी, हमेशा हवेली[1] जाती थी। मैंने जब से होश सम्हाला तब से मुझे याद नही पडता कि उन्होने कभी चातुर्मास का व्रत छोडा हो। वे कठिन-से-कठिन व्रत शुरू करती और उन्हे निर्विघ्न पूरा करती, लिये हुए व्रतो को बीमार होने पर भी कभी न छोडती। मुझे ऐसा एक समय याद है जब उन्होने चान्द्रायण का व्रत लिया था। व्रत के दिनो मे वे बीमार पडी, पर उन्होने व्रत नही छोडा। चातुर्मास मे एक बार खाना तो उनकी सामान्य बात थी। इतने से सन्तोष न करके उन्होने एक चौमासे मे तीसरे दिन भोजन करने का व्रत लिया था। उनके लिए लगातार दो-तीन उपवास तो मामूली बात थी। एक चातुर्मास मे उन्होने यह व्रत लिया था कि सूर्य नारायण के दर्शन करके ही भोजन करेंगी। उस चौमासे मे हम बच्चे बादलो के सामने देखा करते कि कब सूर्य के दर्शन हो और कब मा भोजन करे। यह तो सब जानते हैं कि चौमासे मे अक्सर सूर्य के दर्शन दुर्लभ हो जाते है। मुझे ऐसे दिन याद है, जब हम सूर्य को देखते और कहते, मा-मा सूरज दीखा, और मा उतावली होकर आती। इतने मे सूर्य छिप जाता और मा यह कहती हुई लौट जाती, कोई बात नही, आज भाग्य मे भोजन नही है, और अपने काम मे डूब जाती।

—आत्मकथा, सस्करण १९५७]

२४९. मेरा शिक्षाकाल और धार्मिक परिवेश

मैंने छ या सात साल से लेकर सोलह साल की उम्र तक पढाई की, पर स्कूल मे मुझे कही भी धर्म की शिक्षा नही मिली। ऐसा कह सकते है कि शिक्षको से जो आसानी से मिलना चाहिए था वह नही मिला। फिर भी वातावरण से कुछ-

---

१. वैष्णव मन्दिर।

न-कुछ तो मिलता ही रहा। यहा धर्म का उदार अर्थ करना चाहिए। धर्म का अर्थ है आत्मबोध, आत्मज्ञान।

मैं वैष्णव सम्प्रदाय मे जन्मा था, इसलिए हवेली मे जाने के प्रसग बार-बार आते थे। पर उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न नही हुई। हवेली का वैभव मुझे अच्छा नही लगा। हवेली मे होनेवाली अनीति की बातें सुनकर मन उसके प्रति उदासीन बन गया। वहा से मुझे कुछ भी न मिला।

पर जो हवेली से न मिला, वह मुझे अपनी धाय रम्भा से मिला। रम्भा हमारे परिवार की पुरानी नौकरानी थी। उसका प्रेम मुझे आज भी याद है। मैं . . कह चुका हूँ कि मुझे भूत-प्रेत आदि का डर लगता था। रम्भा ने मुझे समझाया कि इसकी दवा रामनाम है। मुझे रामनाम से भी अधिक श्रद्धा रम्भा पर थी, इसलिए बचपन मे भूतप्रेतादि के भय से बचने के लिए मैंने रामनाम जपना शुरू किया। यह जप बहुत समय तक नही चला। पर बचपन मे जो बीज बोया गया वह नष्ट नही हुआ। आज रामनाम मेरे लिए अमोघ शक्ति है। मैं मानता हू कि उसके मूल मे रम्भाबाई का बोया हुआ बीज है।

. . पर जिस चीज़ का मेरे मन पर गहरा असर पडा, वह था रामायण का पारायण। पिताजी की बीमारी का थोडा समय पोरबन्दर मे बीता था। वहा वे रामजी के मन्दिर मे रोज रात के समय रामायण सुनते थे। सुनानेवाले थे रायचन्द जी के एक परम भक्त, बीलेश्वर के लाधा महाराज। उनके विषय मे कहा जाता था कि उन्हे कोढ हो गया था। उसकी दवा करने के बजाय उन्होने बीलेश्वर के बिल्वपत्र जो महादेव जी पर से उतरते थे, कोढवाले अग पर बाँधे और केवल राम-नाम का जप चलाया। इससे उनका कोढ जड से जाता रहा। यह बात सच हो या न हो, हम सुननेवालो ने उसे सच माना लाधा महाराज का कण्ठ मधुर था। वे दोहा-चौपाई गाते थे और अर्थ समझाते थे। वे स्वय उसके रस मे लीन हो जाते थे और श्रोताओ को भी लीन कर देते थे। उस समय मेरी उम्र तेरह साल की रही होगी, पर याद पडता है कि उनके पाठ मे मुझे खूब रस मिलता था। वह रामायण-श्रवण रामायण के प्रति मेरे अत्यधिक प्रेम की बुनियाद है। आज मैं तुलसीदास की रामायण को भक्तिमार्ग का सर्वोत्तम ग्रन्थ मानता हूँ।

कुछ महीनो के बाद हम राजकोट आये। वहा रामायण का पाठ नही होता था। एकादशी के दिन भागवत ज़रूर पढी जाती थी। मैं कभी-कभी उसे सुनने बैठता था। पर भट्टी जी रस उत्पन्न नही कर सके। आज मैं देख सकता हूँ कि भागवत एक ऐसा ग्रन्थ है, जिस के पाठ से धर्म-रस उत्पन्न किया जा सकता है. राजकोट मे मुझे अनायास सब सम्प्रदायो के प्रति समान भाव रखने की शिक्षा

मिली। हिन्दू-धर्म के हर एक सम्प्रदाय के प्रति आदर-भाव रखना सीखा, क्योंकि माता-पिता हवेली जाते, शिवालय जाते और राममन्दिर भी जाते। साथ हम भाइयो को भी ले जाते या भेजा करते थे।

इसके अलावा पिताजी के पास जैन धर्माचार्यों मे से कोई-न-कोई हमेशा आते रहते। पिता जी उन्हे भिक्षा देकर सत्कार करते थे। वे पिताजी से धर्म-सम्बन्धी तथा व्यावहारिक चर्चा किया करते थे। इसके सिवा पिताजी के मुसलमान और पारसी मित्र भी थे जो अपने-अपने धर्म के विषय मे चर्चा किया करते थे। पिताजी उनकी बातें आदर से और अक्सर रुचिपूर्वक सुनते थे। इन चर्चाओ के समय 'नर्स' होने के कारण मैं अक्सर मौजूद रहता था। इस सारे वातावरण का असर मेरे ऊपर यह हुआ कि सब धर्मों के प्रति मेरे मन मे समभाव उत्पन्न हो गया।

एक ईसाई-धर्म अपवाद था। उसके प्रति कुछ अरुचि पैदा हुई। उन दिनो कुछ ईसाई हाईस्कूल के कोने पर खडे होकर व्याख्यान दिया करते थे। वे हिन्दू देवताओ की और हिन्दू-धर्म माननेवालो की बुराई किया करते थे। मुझे यह असह्य लगा। मैं एकाध बार ही व्याख्यान सुनने के लिए वहा खडा हुआ होऊंगा, दुबारा वहा खडे होने की इच्छा ही न हुई। इन्ही दिनो एक प्रसिद्ध हिन्दू के ईसाई होने की बात सुनी। गाव मे यह चर्चा थी कि उसे ईसाई धर्म मे प्रवेश कराते समय गोमास खिलाया गया और शराब पिलाई गई। उसकी पोशाक भी बदलवा दी गई और वह भाई क्रिस्तान होने के बाद, कोट, पतलून और टोप पहिनने लगा। ये बातें मुझे चुभी। मन ने कहा कि जिस धर्म के लिए गोमास खाना पडे, शराब पीनी पडे और अपना पहिनावा बदलना पडे, वह धर्म कैसे माना जा सकता है ? इसके अलावा यह भी सुना कि जो भाई ईसाई हो गये है, वे अपने पूर्वजो के धर्म, रीति-रिवाज और देश की निन्दा करने लगे हैं। इन बातो से मेरे मन मे ईसाई-धर्म के प्रति अरुचि पैदा हो गई।

इस तरह यद्यपि दूसरे धर्मों के प्रति मन मे समभाव जागा, फिर भी यह नही कहा जा सकता कि मुझमे ईश्वर के प्रति कुछ आस्था थी। इसी समय पिताजी की पुस्तको मे मुझे मनुस्मृति का अनुवाद मिल गया। इसमे जगत् की उत्पत्ति आदि की बातें पढ़ी। उन पर श्रद्धा नही जमी, उल्टे कुछ नास्तिकता आई।

पर एक बात ने मन मे जड जमा ली—यह ससार नीति पर टिका हुआ है। नीतिमात्र का समावेश सत्य मे होता है। सत्य को खोजना ही होगा।

नीति-विषयक एक छप्पय भी दिल मे बस गया। अपकार का बदला अपकार नही, बल्कि उपकार ही हो सकता है, यह बात जीवन-सूत्र बन गई। उसने मन पर राज्य करना शुरू कर दिया। अपकारी का भला चाहना और करना, इसका मैं

न-कुछ तो मिलता ही रहा। यहा धर्म का उदार अर्थ करना चाहिए। धर्म का अर्थ है आत्मबोध, आत्मज्ञान।

मैं वैष्णव सम्प्रदाय मे जन्मा था, इसलिए हवेली मे जाने के प्रसग बार-बार आते थे। पर उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न नही हुई। हवेली का वैभव मुझे अच्छा नही लगा। हवेली मे होनेवाली अनीति की बातें सुनकर मन उसके प्रति उदासीन बन गया। वहा से मुझे कुछ भी न मिला।

पर जो हवेली से न मिला, वह मुझे अपनी धाय रम्भा से मिला। रम्भा हमारे परिवार की पुरानी नौकरानी थी। उसका प्रेम मुझे आज भी याद है। मैं. . कह चुका हूँ कि मुझे भूत-प्रेत आदि का डर लगता था। रम्भा ने मुझे समझाया कि इसकी दवा रामनाम है। मुझे रामनाम से भी अधिक श्रद्धा रम्भा पर थी, इसलिए बचपन मे भूतप्रेतादि के भय से बचने के लिए मैंने रामनाम जपना शुरू किया। यह जप बहुत समय तक नही चला। पर बचपन मे जो बीज बोया गया वह नष्ट नही हुआ। आज रामनाम मेरे लिए अमोघ शक्ति है। मैं मानता हू कि उसके मूल मे रम्भाबाई का बोया हुआ बीज है।

. , पर जिस चीज का मेरे मन पर गहरा असर पडा, वह था रामायण का पारायण। पिताजी की बीमारी का थोडा समय पोरबन्दर मे बीता था। वहा वे रामजी के मन्दिर मे रोज रात के समय रामायण सुनते थे। सुनानेवाले थे रायचन्द जी के एक परम भक्त, बीलेश्वर के लाधा महाराज। उनके विषय मे कहा जाता था कि उन्हे कोढ हो गया था। उसकी दवा करने के बजाय उन्होने बीलेश्वर के बिल्वपत्र जो महादेव जी पर से उतरते थे, कोढवाले अग पर बाँधे और केवल राम-नाम का जप चलाया। इससे उनका कोढ जड से जाता रहा। यह बात सच हो या न हो, हम सुननेवालो ने उसे सच माना लाधा महाराज का कण्ठ मधुर था। वे दोहा-चौपाई गाते थे और अर्थ समझाते थे। वे स्वय उसके रस मे लीन हो जाते थे और श्रोताओ को भी लीन कर देते थे। उस समय मेरी उम्र तेरह साल की रही होगी, पर याद पडता है कि उनके पाठ मे मुझे खूब रस मिलता था। वह रामायण-श्रवण रामायण के प्रति मेरे अत्यधिक प्रेम की बुनियाद है। आज मैं तुलसीदास की रामायण को भक्तिमार्ग का सर्वोत्तम ग्रन्थ मानता हूँ।

कुछ महीनो के बाद हम राजकोट आये। वहा रामायण का पाठ नही होता था। एकादशी के दिन भागवत जरूर पढी जाती थी। मैं कभी-कभी उसे सुनने बैठता था। पर भट्टी जी रस उत्पन्न नही कर सके। आज मैं देख सकता हूँ कि भागवत एक ऐसा ग्रन्थ है, जिस के पाठ से धर्म-रस उत्पन्न किया जा सकता है

राजकोट मे मुझे अनायास सब सम्प्रदायो के प्रति समान भाव रखने की शिक्षा

मिली। हिन्दू-धर्म के हर एक सम्प्रदाय के प्रति आदर-भाव रखना सीखा, क्योकि माता-पिता हवेली जाते, शिवालय जाते और राममन्दिर भी जाते। साथ हम भाइयो को भी ले जाते या भेजा करते थे।

इसके अलावा पिताजी के पास जैन धर्माचार्यों मे से कोई-न-कोई हमेशा आते रहते। पिता जी उन्हे भिक्षा देकर सत्कार करते थे। वे पिताजी से धर्म-सम्बन्धी तथा व्यावहारिक चर्चा किया करते थे। इसके सिवा पिताजी के मुसलमान और पारसी मित्र भी थे जो अपने-अपने धर्म के विषय मे चर्चा किया करते थे। पिताजी उनकी बातें आदर से और अक्सर रुचिपूर्वक सुनते थे। इन चर्चाओ के समय 'नर्स' होने के कारण मै अक्सर मौजूद रहता था। इस सारे वातावरण का असर मेरे ऊपर यह हुआ कि सब धर्मो के प्रति मेरे मन मे समभाव उत्पन्न हो गया।

एक ईसाई-धर्म अपवाद था। उसके प्रति कुछ अरुचि पैदा हुई। उन दिनो कुछ ईसाई हाईस्कूल के कोने पर खडे होकर व्याख्यान दिया करते थे। वे हिन्दू देवताओ की और हिन्दू-धर्म माननेवालो की बुराई किया करते थे। मुझे यह असह्य लगा। मैं एकाध बार ही व्याख्यान सुनने के लिए वहा खडा हुआ होऊगा, दुबारा वहा खडे होने की इच्छा ही न हुई। इन्ही दिनो एक प्रसिद्ध हिन्दू के ईसाई होने की बात सुनी। गाव मे यह चर्चा थी कि उसे ईसाई धर्म मे प्रवेश कराते समय गोमास खिलाया गया और शराब पिलाई गई। उसकी पोशाक भी बदलवा दी गई और वह भाई क्रिस्तान होने के बाद, कोट, पतलून और टोप पहिनने लगा। ये बातें मुझे चुभी। मन ने कहा कि जिस धर्म के लिए गोमास खाना पडे, शराब पीनी पडे और अपना पहिनावा बदलना पडे, वह धर्म कैसे माना जा सकता है? इसके अलावा यह भी सुना कि जो भाई ईसाई हो गये है, वे अपने पूर्वजो के धर्म, रीति-रिवाज और देश की निन्दा करने लगे है। इन बातो से मेरे मन मे ईसाई-धर्म के प्रति अरुचि पैदा हो गई।

इस तरह यद्यपि दूसरे धर्मो के प्रति मन मे समभाव जागा, फिर भी यह नही कहा जा सकता कि मुझमे ईश्वर के प्रति कुछ आस्था थी। इसी समय पिताजी की पुस्तको मे मुझे मनुस्मृति का अनुवाद मिल गया। इसमे जगत् की उत्पत्ति आदि की बातें पढी। उन पर श्रद्धा नही जमी, उल्टे कुछ नास्तिकता आई।

पर एक बात ने मन मे जड जमा ली—यह ससार नीति पर टिका हुआ है। नीतिमात्र का समावेश सत्य मे होता है। सत्य को खोजना ही होगा।

नीति-विषयक एक छप्पय भी दिल मे बस गया। अपकार का बदला अपकार नही, बल्कि उपकार ही हो सकता है, यह बात जीवन-सूत्र बन गई। उसने मन पर राज्य करना शुरु कर दिया। अपकारी का भला चाहना और करना, इसका मैं

अनुरागी बन गया। मैंने इसके अनगिनत प्रयोग किये। वह चमत्कारी छप्पय यह है—

पाणी आपने पाय, भलु भोजन तो दीजे,
आवी नमावे शीश, दण्डवत कोडे कीजे।
आपण घासे दाम, काम महोरो नुं करीए,
आप उगारे प्राण, ते तणा दुःखमां मरीए।
गुण केडे तो गुण दश गणो, मन, वाचा, कर्मेकरी,
अवगुण केडे जे गुण करे, ते जगमां जीत्यो सही[1]।

—आत्मकथा, भाग १, अध्याय १०।]

- धर्म का अर्थ है आत्मबोध, आत्मज्ञान।
- रामनाम मेरे लिए अमोघ शक्ति है।
- मैं तुलसीदास की रामायण को भक्तिमार्ग का सर्वोत्तम ग्रन्थ मानता हूं।
- भागवत...पाठ से धर्म-रस उत्पन्न किया जा सकता है।
- यह संसार नीति पर टिका हुआ है।
- नीतिमात्र का समावेश सत्य में होता है।
- अपकार का बदला अपकार नहीं, बल्कि उपकार ही हो सकता है।

२५०. मेरे धर्मदीप : रायचन्द[2] भाई

रायचन्द भाई हजारो का व्यापार करते, हीरे-मोती की परख करते, व्यापार की समस्याएं सुलझाते, पर यह सव उनका विषय नही था। उनका विषय, उनका पुरुषार्थ तो था आत्म-परिचय—हरि-दर्शन। उनकी गद्दी पर और कोई चीज

---

१. जो पानी पिलाये, उसे भोजन दीजिए; जो सिर नवाये उसे दण्डवत् कीजिए। जो पाई उपकार करे उसके लिए मोहर का उपहार दीजिए, जो आपका प्राण उबारे उसके दु.ख हर लीजिए। गुण के बदले मन, वचन और कर्म से दस गुना गुण कीजिए। जो अवगुण के बदले भी गुण करता है, वही ससार को धर्म से जीतता है।

२. गांधी जी के मित्र डाक्टर मेहता के बड़े भाई के दामाद। ये रत्नों का व्यवसाय करते थे। साथ ही एक कवि, शतावधानी और धर्मचिन्तक सन्त के रूप में प्रसिद्ध थे। ये जैन धर्म के अनुयायी थे और श्रीमद्राजचन्द्र के नाम से भी जाने जाते थे।

हो या न हो, पर कोई-न-कोई पुस्तक और डायरी तो अवश्य रहती थी। व्यापार की वात खत्म होते ही धर्म-पुस्तक खुलती अथवा उनकी डायरी खुलती थी। उनके लेखो का जो सग्रह प्रकाशित हुआ है, उसका अधिकाश इस डायरी से लिया गया है। जो मनुष्य लाखो के लेन-देन की वात करके तुरन्त ही आत्मज्ञान की गूढ वातें लिखने वैठ जाय, उसकी जाति व्यापारी की नही, वल्कि शुद्ध ज्ञानी की है। उनका ऐसा अनुभव मुझे एक वार नही, कई वार हुआ था। मैंने उन्हे मूर्च्छा की स्थिति मे कभी नही पाया। मेरे साथ उनका कोई स्वार्थ नही था। मै उनके वहुत निकट सम्पर्क मे रहा हूँ। उस समय मै एक भिखारी वैरिस्टर था। पर जव भी मै उनकी दूकान पर पहुँचता, वे मेरे साथ धर्म-चर्चा के सिवा दूसरी कोई वात ही न करते थे। यद्यपि मै उस समय अपनी दिशा स्पष्ट नही कर पाया था, यह भी नही कह सकता कि साधारणत मुझे धर्म-चर्चा मे रुचि थी, फिर भी रायचन्द भाई की धर्म-चर्चा मैं रुचिपूर्वक सुनता था। उसके वाद मै, अनेक धर्माचार्यों के सम्पर्क मे आया हूँ। मैंने हर एक धर्म के आचार्यों से मिलने का प्रयत्न किया है। लेकिन मुझ पर जो छाप रायचन्द भाई ने डाली, वैसी दूसरा कोई न डाल सका। उनके अनेक वचन मेरे हृदय मे सीधे उतर जाते थे। मै उनकी वुद्धि का सम्मान करता था। उनकी प्रामाणिकता के लिए भी मेरे मन मे उतना ही आदर था। इसलिए मै जानता था कि वे मुझे जान-वूझकर गलत रास्ते नही ले जायगे और जो उनके मन मे होगा वही कहेगे। इस कारण अपने आध्यात्मिक सकट के समय मै उनका आश्रय लिया करता था।

रायचन्द भाई के लिए इतना आदर रखते हुए भी उन्हे मै अपने धर्म-गुरु के रूप मे हृदय मे स्थान न दे सका। मेरी वह खोज तो आज भी चल रही है।

हिन्दू-धर्म मे गुरु को जो महत्व दिया गया है, उसे मै मानता हूँ। 'गुरु विन होय न ज्ञान'—यह वचन वहुत अशो मे सही है। अक्षर-ज्ञान देनेवाले अधकचरे शिक्षक से काम चलाया जा सकता है, पर आत्मदर्शन करानेवाले अपूर्ण शिक्षक से काम नही चलाया जा सकता। गुरुपद तो सम्पूर्ण ज्ञानी को ही दिया जा सकता है। गुरु की खोज मे ही सफलता समाई हुई है, क्योकि शिष्य की योग्यता के अनुसार ही गुरु मिलता है। इसका अर्थ यह है कि योग्यता के लिए पूर्ण प्रयत्न का प्रत्येक साधक को अधिकार है। इस प्रयत्न का फल ईश्वर के अधीन है।

मेरे जीवन पर गहरी छाप डालनेवाले आधुनिक मनुष्य तीन है—रायचन्द भाई ने अपने सजीव सम्पर्क से, टाल्सटाय ने अपनी 'वैकुण्ठ तेरे हृदय मे है' नामक पुस्तक से और रस्किन ने 'अनटु दिस लास्ट' (सर्वोदय) नामक पुस्तक से मुझे मोह लिया।

—आत्मकथा, भाग २, अध्याय १]

१. गो-रक्षा

मैं स्वयं गाय की पूजा करता हूँ, अर्थात् उसे सम्मान देता हूँ। गाय भारत की रक्षक है, क्योंकि उसकी सन्तान पर भारत का, जो एक कृषि-प्रधान देश है, आधार है। गाय सैकड़ों दृष्टियों से उपयोगी प्राणी है। यह तो मुसलमान भाई भी स्वीकार करेंगे कि वह उपयोगी प्राणी है।

किन्तु मैं जिस प्रकार गाय को पूजता हूँ, उसी प्रकार मनुष्य को भी पूजता हूँ। जैसे गाय उपयोगी है, उसी प्रकार मनुष्य भी उपयोगी है—चाहे वह मुसलमान हो, चाहे हिन्दू। तब क्या मैं गाय को बचाने के लिए मुसलमान से लड़ूं? मैं उसे मारूँ? यदि ऐसा करूँ तो मैं मुसलमान और गाय का दुश्मन बन जाऊंगा। इसलिए अपने विचार के अनुसार तो मैं कहता हूं कि गाय की रक्षा का उपाय एक ही है कि मैं अपने मुसलमान भाइयों से प्रार्थना करूँ और देश के लिए उसे गाय की रक्षा करने की बात समझाऊं। यदि वह न समझे तो मुझे गाय को जाने देना चाहिए। क्योंकि (तब) वह मेरे वश की बात नहीं है। यदि मुझे गाय पर अत्यन्त दया आती हो, तो मैं उसके लिए अपने प्राण दे दूं, किन्तु किसी मुसलमान का प्राण न लूं। मैं तो मानता हूँ कि यह धार्मिक नियम है।

'हाँ' में और 'नहीं' में हमेशा का वैर है। यदि मैं वहस करूँ, तो मुसलमान भी वहस करेगा। अगर मैं टेढ़ा बनूं, तो वह भी टेढ़ा बनेगा। यदि मैं बित्ता भर झुकूं तो वह हाथ भर झुकेगा। और यदि वह न झुके तो भी मेरा झुकना गलत नहीं कहलायगा। जब हम लोगों ने हुज्जत की तब गो-वध बढ़ा। मेरा कहना है कि गोरक्षा-प्रचारिणी सभा को गोवध-प्रचारिणी सभा समझना चाहिए। ऐसी सभा का होना हमारे लिए लज्जा की बात है। जब हम गाय की रक्षा करना भूल गये, तभी हमें ऐसी सभा की जरूरत पड़ी होगी।

यदि मेरा भाई गाय को मारने के लिए दौड़े तो मैं उसके साथ क्या बर्ताव करूँ। उसे मारूँ या उसके पाँव पड़ूं? यदि आप कहें कि पाँव पड़ना चाहिए, तो फिर मुसलमान भाई के भी पाँव ही पड़ना चाहिए।

हिन्दू गाय को दुख देकर उसका नाश करते हैं, तब उसे कौन छुड़ाता है? गाय की सन्तान बैल को हिन्दू आरे से छेदता है। कौन हिन्दू उसे

समझाने जाता है ? इसके कारण हमारे एक राष्ट्र होने मे कोई अडचन नही आई।

अन्त मे, यदि यह बात सही हो कि हिन्दू अहिंसक और मुसलमान हिंसक है, तो अहिंसक का कर्त्तव्य क्या है ? ऐसा कही नही लिखा कि अहिंसक किसी मनुष्य की हत्या करे। अहिंसक का रास्ता तो सीधा है। एक को बचाने के लिए उसे दूसरे की हिंसा तो कदापि नही करनी हे। उसके पास तो एक ही उपाय है—पाँव मे झुकना। उसी मे उसका पुरुषार्थ है।

क्या हिन्दू-मात्र अहिंसक है ? गहरा विचार करें तो अहिंसक कोई भी नहीं है क्योकि हम जीवहानि तो करते ही है। किन्तु हम उससे ऊपर उठना चाहते हैं, इसलिए अहिंसक (कहे जाते) है। साधारण विचार करें, तो देखते है कि बहुत-से हिन्दू मासाहारी है, इसलिए वे अहिंसक नही कहे जा सकते। खीच-तान कर कोई अलग अर्थ करना हो तो मुझे कुछ नही कहना है। जब परिस्थिति ऐसी है, तो एक हिंसक है और दूसरा अहिंसक है, इसलिए उनमे बन नही सकती, ऐसा कहना एकदम गलत है।

यह विचार स्वार्थी धर्मोपदेशक पण्डितो और मुल्लाओ ने फैलाया है। और जो कुछ बच गया था, उसे अग्रेजो ने पूरा कर दिया। उन्हे इतिहास लिखने की आदत रही है। वे हर एक जाति के रीति-रिवाज जानने का दिखावा करते हैं। ईश्वर ने मन तो छोटा दिया है, किन्तु वे बडे-बडे ईश्वरीय दावे करते है और तरह-तरह के प्रयोग करते है। वे स्वय अपना ढोल बजाते हैं और हमारे मन मे अपने बडप्पन का विश्वास जगाते रहते है। हम भोलेपन मे उस सब पर भरोसा कर लेतेहैं।

जो उल्टा नही देखना चाहते, वे देख सकते है कि कुरानशरीफ मे ऐसे सैकडो वचन है जो हिन्दुओ को मान्य होगे, (इसी तरह) भागवद्गीता मे (बहुत कुछ) ऐसा लिखा हुआ है, जिसके विरोध मे मुसलमानो को कहने के लिए कुछ नही रहता। कुरानशरीफ की कुछ बाते मेरी समझ मे न आये अथवा मुझे पसन्द न हो तो क्या इसलिए मै उसके मानने वालो का तिरस्कार करूँ ? झगडा तो दो के बीच ही हो सकता है। यदि मुझे न झगडना हो, तो मुसलमान क्या कर सकता है ? और यदि मुसलमान को न झगडना हो तो मैं क्या कर सकता हूँ ? हवा मे घूँसा मारने वाले का हाथ झटका खा जाता है। यदि सब अपने-अपने धर्म का स्वरूप समझें और उसका पालन करे तथा पण्डितो और मुल्लाओ को बीच मे न आने दें, तो झगडे का मुह काला हो जायगा।

—हिन्द स्वराज्य, अध्याय १०, भारत की दशा : हिन्दू-मुसलमान। इ० ओ०, ११।१२।१९०९। स० गां० वा०, खण्ड १०, पृ० २८, २९, ३०]

२. कुरान शरीफ और उसकी आलोचना

मुझे भी कुरान और इस्लाम के इतिहास का इतना ज्ञान अवश्य है जिसके द्वारा मैं जानता हूँ कि कुरान के ऐसे कितने ही भाष्यकार है, जिन्होंने अपने पूर्व-कल्पित विचारों के अनुकूल उसका अर्थ घटाया है।

मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि स्वयं कुरान की शिक्षाएँ आलोचना से बरी नहीं रह सकती। आलोचना से तो प्रत्येक सच्चे धर्मग्रन्थ को लाभ ही होना है। अपने तर्क के बल के अतिरिक्त हमारे पास अन्य कोई पथ-प्रदर्शक नहीं है, जो हमें बताये कि कौन वस्तु अपौरुषेय है और कौन नहीं ? शुरू से जिन मुसलमानों ने इस्लाम को स्वीकार किया, वह इसलिए नहीं कि वे इसे अपौरुषेय समझते थे, बल्कि इसलिए कि यह उनकी ताजी बुद्धि को जँच गया।

—य० इ०। हि० न० जी०, ५।३।१९२५]

३. गुरु गोविन्दसिंह और सिख-धर्म

सिख गुरुओं के सम्बन्ध मे मेरा विश्वास है कि वे गहरे धार्मिक नेता और सुधारक थे। वे सब हिन्दू थे और गुरु गोविन्दसिंह हिन्दू-धर्म के प्रबल रक्षकों मे एक थे। मेरा यह भी विश्वास है कि उन्होंने हिन्दू-धर्म की रक्षा के लिए ही तलवार उठाई।

मैं सिख-धर्म को हिन्दू-धर्म से भिन्न नहीं मानता। मैं उसे हिन्दू-धर्म का अंग तथा वैष्णव-धर्म की तरह एक सुधारक पन्थ समझता हूँ। सिखों से सम्बन्ध रखने वाले जितने ग्रन्थ मेरे हाथ आ पाये, मैंने यरवदा जेल में पढे थे। ग्रन्थ साहब के भी कुछ अंश मैंने पढे है। मुझे उसका आध्यात्मिक तथा नैतिक स्वरूप ऊँचा उठाने-वाला मालूम हुआ। आश्रम भजनावलि मे हमने गुरु नानक के भी कुछ भजन रखे है। फिर भी यदि सिख लोग सिख पन्थ को हिन्दू धर्म से बिल्कुल भिन्न समझें तो इसमें भी मेरा कोई झगडा नहीं है। जब मैं पहिले-पहल पंजाब गया तो मेरे कुछ सिख मित्रों को मेरा सिख पन्थ को हिन्दू-धर्म मानना बुरा मालूम हुआ। यह देख कर मैंने ऐसा कहना बन्द कर दिया। किन्तु पूछे जाने पर अपना विश्वास प्रकट करने के लिए सिख भाई मुझे क्षमा करें। मैंने सिख गुरुओं को ऐतिहासिक व्यक्ति माना है, क्योंकि इसके लिए हमारे पास ऐतिहासिक प्रमाण मौजूद हैं।

—य० इ०। हि० न० जी०, ८।१०।१९२५]

४. ईसाई मिशनरी

[अमरीका मे अध्ययन करने वाले एक विद्यार्थी का प्रश्न और उसका उत्तर।]

प्रश्न—मैं हिन्दुस्तान मे ईसाई मिशनरियो के कार्य के मूल्य के सम्बन्ध मे आपकी स्पष्ट राय जानना चाहता हूँ। क्या अपने देशवासियो का जीवन बनाने में ईसाई धर्म ने कुछ हिस्सा लिया है? क्या हम ईसाई धर्म के बिना (काम) चला सकते है?

उत्तर—मेरी राय मे ईसाई मिशनरियो ने हमे प्रकारान्तर से लाभ पहुँचाया है। सीधी तौर पर तो उनसे लाभ के बजाय हानि ही हुई है। मैं धर्मान्तर करने के वर्तमान तरीके के खिलाफ हूँ। दक्षिण अफ्रीका और हिन्दुस्तान के धर्मान्तर करने वाले मनुष्यो का अनुभव पाने के बाद मुझे विश्वास हो गया है कि उससे नये ईसाइयो की, जिन्होने यूरोपीय सभ्यता का बाह्य रूप ही समझा है और जो ईसामसीह के उपदेश का तत्व नही समझते हैं, कोई नैतिक उन्नति नही होती। मेरे इस कथन का सम्बन्ध सामान्य लोगो की मनोवृत्ति से ही है; उत्तम अपवादो से नही। लेकिन प्रकारान्तर से तो ईसाई मिशनरियो के प्रयत्न से हिन्दुस्तान को बहुत-कुछ लाभ हुआ है। उसने हिन्दू और मुसलमानो को अपने-अपने धर्म की शोध करने के लिए प्रोत्साहित किया है। मैं मिशनरियो के शिक्षामन्दिर और अस्पताल इत्यादि को भी ऐसे ही लाभो मे गिनता हूँ क्योकि वे शिक्षा देने या अस्पताल बनाने के उद्देश्य से नही, बल्कि धर्मान्तर करने के उद्देश्य से ही स्थापित किये जाते हैं।

ससार जिस प्रकार मुहम्मद या उपनिषद् के उपदेश बिना काम नही चला सकता उसी प्रकार ईसामसीह के उपदेश बिना भी नही चला सकता। इसलिए हम भी उसके बिना नही चला सकते। मैं तो उन सबको एक दूसरे का पूरक ही मानता हूँ और वे किसी प्रकार भी एक दूसरे से अलग नही है। उसका सच्चा अर्थ परस्पर अन्तरसम्बन्ध और परस्परावलम्बन है, लेकिन अभी-अभी हमे यह समझना बाकी है। हम लोग अपने धर्म के केवल उदासीन प्रतिनिधि हैं और अक्सर हम उसका उपहास ही कराते हैं।

—यं० इं०। हि० न० जी०, १७।१२।१९२५]

५. स्त्रियों का धर्म

[सन् १९२६ में गाधी जी क्षेत्र-संन्यास लेकर एक वर्ष साबरमती आश्रम मे ही रहे थे। उस वक्त उन्होने आश्रम की बहिनों को सगठित करके किसी-न-

किसी सार्वजनिक कार्य मे लगा देने की कोशिश की थी। इसके लिए उन्होने आश्रम की वहिनो की एक अलग प्रार्थना सवेरे सात वजे शुरू की थी, क्योकि सुवह चार वजे की प्रार्थना मे सब वहिनें आ नहीं सकती थीं। और शाम की प्रार्थना लगभग सार्वजनिक स्वरूप की थी। आश्रमवासियो के लिए खास तौर पर कुछ कहना होता, तो वापू सवेरे चार वजे की प्रार्थना मे कहते। उसका लाभ वहुत-सी वहिनो को नहीं मिलता था। इसलिए वहिनो से कहने का काम उन्होंने उनकी इस सात वजे की प्रार्थना मे रखा था। वाद मे जव-जव वे वाहर जाते, तव अपने मौनवार को आश्रम की वहिनो को विशेष पत्र लिखकर उनसे सम्वन्ध वनाये रखते। सन् १९२६ के मध्य मणिवहन (पटेल) भी ज्यादातर आश्रम मे ही रहती थीं। उन्होने वहिनो के सामने दिये गये वापू के प्रवचनो के नोट ले रखे थे। यद्यपि वे वहुत छुटपुट और सक्षिप्त हैं, फिर भी जितने हैं उतने अत्यन्त वोधप्रद हैं। उनके आवश्यक अश यहा सकलित किये जा रहे है।—सम्पा०]

द्रौपदी की रक्षा

[वहिनो की प्रार्थना के पहिले तीन श्लोक द्रौपदी के चीर-हरण के समय उसने श्रीकृष्ण की जो प्रार्थना की थी उसके हैं। वे इस प्रकार हैं—

गोविन्द, द्वारिकावासिन्, कृष्ण, गोपीजनप्रिय।
कौरवैं परिभूता मा किं न जानासि केशव॥
हे नाथ, हे रमानाथ, व्रजनाथार्तिनाशन।
कौरवार्णवमग्ना मा उद्धरस्व जनार्दन॥
कृष्ण, कृष्ण, महायोगिन्, विश्वात्मन् विश्वभावन।
प्रपन्ना पाहि गोविन्द, कुरुमध्ये वसीदतीम्॥

इन पर विवेचन करते हुए गाधीजी ने निम्नलिखित विचार प्रकट किये।]

मेरा आदर्श यह है कि पुरुष पुरुष रहते हुए स्त्री वने और स्त्री स्त्री रहते हुए पुरुष वने। पुरुष के स्त्री वनने का अर्थ यह है कि वह स्त्री की नम्रता और विवेक सीखे और स्त्री के पुरुष वनने का मतलव यह है कि वह अपनी भीरुता छोडकर हिम्मतवाली और वहादुर वन जाय।

यह कहा जाता है कि स्त्रियो मे ईर्ष्या-द्वेष वहुत होता है। परन्तु पुरुषो मे ईर्ष्या नही होती, सो वात नही। इसी तरह तमाम स्त्रिया ईर्ष्यालु होती ही है सो वात भी नही। वात इतनी ही है कि स्त्री को घर मे ही चौवीसो घण्टे रहना पडता है, इसलिए उसकी ईर्ष्या अधिक जाहिर होती है।

पुरुष और स्त्री दोनो निर्भय हो सकते हैं। पुरुष यह मानता है कि वह निर्भय रह सकता है, मगर यह हमेशा सच नही होता। इसी तरह स्त्रिया अपने को निर्बल मानकर जो अबला कहलाती है वह भी ठीक नही। उन्हे भयभीत रहने की जरा भी जरूरत नही। मीराबाई की एक बात मैंने परसो सुनी सो कहता हूँ। मीरा बाई वृन्दावन गईं और एक साधु का दरवाजा खटखटाया। साधु ने कहा कि मैं किसी भी स्त्री का मुह नही देखता। इस पर मीराबाई ने उत्तर दिया कि आप कौन हैं? मैं तो एक ही पुरुष को जानती हूँ, और वह ईश्वर (कृष्ण) है। यह सुनकर उस साधु ने दरवाजा खोल दिया और मीराबाई को साष्टाग नमस्कार करके कहा कि आज मेरी आखें खुली है। मैं अन्धकूप से बाहर निकला हूँ।

द्रौपदी की कथा एक रूपक

स्त्री और पुरुष दोनो जबतक विकारवश है, तबतक दोनो को भय है।

द्रौपदी ने उतना ही भय दिखाया, जितना युधिष्ठिर ने दिखाया।

द्रौपदी ने पाच पतियो से शादी की, तो भी वह सती कहलाती है। उसे सती कहने का कारण यह है कि उस जमाने मे पुरुष जैसे कई स्त्रियो से विवाह कर सकते थे, वैसे ही (अमुक प्रदेश मे) स्त्रिया एक से अधिक पुरुषो से विवाह कर सकती थी। विवाह-सम्बन्धी नीति युग-युग और देश-देश मे बदलती रहती है।

(दूसरी तरह से देखे तो) द्रौपदी बुद्धि का रूपक है, और पाचो पाण्डव वश मे आई हुई पाचो इन्द्रिया है। इन्द्रिया वश मे आ जाय यह तो अच्छा ही है। पाचो इन्द्रिया वश मे आ गईं और सस्कृत हो गईं, यानी बुद्धि ने इन्द्रियो से शादी कर ली।

द्रौपदी ने जो शक्ति दिखाई है वह अगाध शक्ति है। भीम भी द्रौपदी से डरता था। युधिष्ठिर-जैसे धर्मराज भी उससे डरते थे।

इस वक्त द्रौपदी ने जो प्रार्थना की थी, वह जब मैंने जेल मे महाभारत मे पढी तो मैं खूब रोया था।

मेरी दृष्टि से द्रौपदी की इस प्रार्थना की शक्ति अपूर्व है। उत्तर हिन्दुस्तान मे असख्य पुरुष यह प्रार्थना गाते है।

शब्दशक्ति और ॐकार

शब्दो की शक्ति भी उनके पीछे निहित तपश्चर्या के हिसाब से घटती-बढती है। ॐ शब्द क्या है? केवल अ, उ और म तीन अक्षर इकट्ठे करके एक शब्द पैदा किया, मगर उसकी कीमत तो उसके पीछे की जानेवाली तपश्चर्या मे समाई

हुई है। ज्यो-ज्यो तपश्चर्या वढती है, त्यो-त्यो उसकी कीमत वढती है। इसी तरह यह द्रौपदी है। यह भी व्यास जी का एक कल्पित पात्र माना जा सकता है। ऐसी स्त्री हुई हो या न भी हुई हो। एक तो व्यास जी की तपश्चर्या, और उन्होने द्रौपदी से जो प्रार्थना कराई है वह बाद मे करोडो मनुष्यो ने की, इसलिए भी इस प्रार्थना की कीमत वढ गई।

गोविन्द

गो-विन्द का अर्थ है इन्द्रियो का स्वामी। गोपी का अर्थ है हजारो इन्द्रिया। गोपी-जन-प्रिय अर्थात् वडे समुदाय को प्रिय, या यो कहिए कि निर्वलमात्र को प्रिय। द्रौपदी कौरवो मे घिरी हुई थी। कौरव यानी हमारी तमाम दुष्ट वासनाए। वह कहती है—केशव, तू मुझे कैसे नही जानता? यह आर्त्तनाद है। दुखियो की आवाज है। हम सब मे दुष्ट वासनाए कहा नही होती? किस समय विकार नही होता? द्रौपदी कहती है कि कौरवो ने मेरे चारो ओर घेरा डाल रखा है। यहा कौरवो का अर्थ दुष्ट पुरुष भी हो सकता है। परन्तु दुष्ट पुरुषो की अपेक्षा हम दुष्ट वासनाओ मे अधिक घिरे हुए हैं। इसलिए कौरवो का अर्थ दुष्ट वासना ही करना अच्छा है।

द्रौपदी

द्रौपदी ईश्वर की दासी है। और दासी को ईश्वर के साथ भी लडने का हक है। इसलिए वह कहती है हे नाथ, हे प्रभु, हे रमानाथ, यानी हे लक्ष्मीपति अर्थात् सारे जगत के पति, मोक्ष देनेवाले, आत्मदर्शन करानेवाले, मैं कौरवरूपी समुद्र मे डूब गई हूँ, यानी अनेक विकारो मे डूब गई हूँ, दुष्ट वासनाओ से भरी हूँ, मेरा उद्धार कर।

कृष्ण, कृष्ण इस प्रकार दो वार द्रौपदी ने कहा। मनुष्य को खूब खुशी हो तव, या वहुत दुख हो तव, वह दो वार वोलता है। मैं तेरी शरण आई हूँ, मेरी रक्षा कर, दुष्ट वासनाओ से घिरकर मैं शिथिल हो गई हूँ। मेरे गात्र ढीले पड गये है। मेरा उद्धार कर।

सतीत्वरक्षा-धर्म

वम्बई मे एक जानकी वाई नाम की महिला है। सन् १९१५ मे जव मैं रेवाशकर भाई के यहा था, उस वक्त वह मुझसे मिलने के लिए वहा आई और कहने लगी मैं यह करती हूँ, वह करती हूँ। मुझे उस समय उस पर विश्वास नही हुआ।

बाद मे जब मै द्वारका गया, तब वह भी वहाँ पहुँची। इसलिए मैंने उसके बारे मे ज्यादा जाँच की तो मालूम हुआ कि वह दुष्ट-से-दुष्ट मनुष्यो के बीच भी निर्भय होकर घूमती रहती है। बस उसे यह ख्याल हो गया है कि मैं दुष्ट-से-दुष्ट मनुष्यो के बीच रहकर भी अपना सतीत्व कायम रखूगी। और होता भी यही है कि कोई गुस्से मे भी उसे तू नही कहता। वह दुष्ट मनुष्यो के बीच मे सिंहिनी की तरह घूमती है।

हम द्रौपदी की तरह गरीब है, क्योकि हममे अनेक प्रकार की वासनाए, अनेक तरह की गन्दगिया भरी है। हमारे गरीब होने का सबूत यह है कि हम सब साँप वगैरा से डरते हैं। आश्रम मे मैं सबसे बडा माना जाता हूँ, मतलब यह कि मैं भी द्रौपदी से गरीब हूँ।

द्वारका का अर्थ है सारा जगत् या हम खुद—काठियावाड मे पोरबन्दर के पास का छोटा गन्दा गाव नही।..

आत्मा का उद्धार

आत्मा का उद्धार आत्मा ही कर सकती है। आत्मा का बन्धु आत्मा ही है। स्त्रियो का उद्धार स्त्रिया ही कर सकती है। इसके लिए तपस्या की जरूरत है। यह बात सच है कि पुरुषो से स्त्रियो मे ज्यादा तपस्या है, मगर तपस्या ज्ञानपूर्वक होनी चाहिए। अभी तो वे मजदूरो की तरह लाचारी से काम करती हैं।

स्त्रियो की प्रार्थना

ससार मे प्रार्थना एक ही हो सकती है। अगर हम वह प्रार्थना रोज करेंगे और उसे समझकर करेंगे, तो वह मन के भीतर रम ही जायगी। केशव तो हमारे पास ही है। वह कोई द्वारका मे नही रहता। यह तो कवि की भाषा है। द्रौपदी भूल गई कि केशव उसके पास है। मगर कृष्ण ने तो वहा बैठे-बैठे उसका चीर बढाया था। हमारे मन मे भी बुरी वासनाएँ उठती हो, दुष्ट विचार आये, तो हमे ऐसा लगना चाहिए कि अरे, ऐसे विचार क्यो आते है? उस समय हम इस श्लोक को याद करे।

चरित्र-रक्षण

हमे मा-बाप के चरित्र की जो विरासत मिले, वही सच्ची विरासत है। वह आध्यात्मिक विरासत कहलाती है। उसमे वृद्धि करना हमारा धर्म है। बाप एक लाख रुपये छोड गया हो और लडका उसके दस लाख कर ले, तो क्या वह यह

कहेगा कि कैसा बाप था जो एक लाख ही जमा किया, जब कि मैं कैसा होशयार हूँ कि दस लाख इकट्ठा कर लिये ? ऐसा कहनेवाला कपूत कहलाता है। इसमे अभिमान है । हमे तो मा-बाप के धन की विरासत मे नही, बल्कि चरित्र की विरासत मे—आध्यात्मिक विरासत मे वृद्धि करनी है। फिर भी हमे अभिमान नही करना चाहिए। नम्रता के बिना आध्यात्मिक विरासत मिलती ही नही।

जो चीज हम जन्म से ही न करते हो, जैसे कि हम लोग मास नही खाते, उसमे हमारा त्याग नही कहा जा सकता। यह तो हमारे लिए स्वाभाविक ही था। इसमे हमने पुरुषार्थ नही किया।

अर्चना

मै मिट्टी का पुतला बनाकर जरूर पूजा करू, अगर उससे मेरा मन हलका होता हो। मेरा जीवन सार्थक होता हो तभी बालकृष्ण की मूर्ति की हुई पूजा काम की है। पत्थर देवता नही है, मगर पत्थर मे देवता का निवास है। मैं अगर मूर्ति को चन्दन चढाकर, चावल चढाकर उससे कहू कि आज इतनो के सिर उतार लेने की शक्ति मुझे दे, तो तुम मे से जो लडकी काबिल होगी वह तो उस मूर्ति को उठाकर कुए मे डाल देगी या तोडकर चूर-चूर कर डालेगी।

समदर्शिता

अगर हम समदर्शी बनना चाहते हो, तो हमे ऐसा हिसाब बैठाना चाहिए कि जो सारी दुनिया को मिले सो मुझे मिले। अगर तमाम जगत् को दूध मिले, तो हमे भी दूध मिले। ईश्वर से हम कह दें कि अगर मुझे दूध पिलाना हो तो सारे ससार को दूध पिला। मगर ऐसा कौन कह सकता है ? जिसमे इतनी करुणा हो, जो दूसरो के लिए मेहनत-मजदूरी करता हो। हम इस कानून को नही निभा सकते, परन्तु उसे समझ तो जरूर सकते हैं। हम अभी तो ईश्वर से इतना ही मांगें कि हम इतने ज्यादा गिरे हुए हैं कि जो कुछ हम करें उसे वह निभा ले। हम आगे न बढें, परन्तु हमारे पास जो परिग्रह है उसे घटाने की शक्ति दे। अगर हम अपने पापो का प्रायश्चित्त करें, तो उनका आगे विस्तार न हो। एक भी चीज अपनी समझकर न रखनी चाहिए। और यथाशक्ति परिग्रह छोडने की कोशिश करनी चाहिए।

उन्नति का आधार

जिसके मन मे कभी कोई सवाल नही उठता, वह कैसे ऊचा उठ सकता है ?

आश्रम अगर इसी तरह बराबर चलता रहे और उसमे दुष्ट मनुष्य पैदा न हो, तो वह तीर्थक्षेत्र बन जाय।

नर्मदा के जितने ककर हैं, उतने सब शकर कहलाते है। नर्मदा का अर्थ वही नदी नही है, जो भडौच के पास है, बल्कि सभी नदिया है। नदी के ककर को धोकर जहा बिल्वपत्र चढाया कि वह शकर हो गया। इससे आगे बढकर यदि साफ मिट्टी लेकर उसका शिवलिंग-जैसा आकार बनायें और उस पर बिल्वपत्र चढायें, तो वह भी शकर बन जायगा। इससे भी आगे बढकर विचार करे, तो हमारे हृदय मे ही शकर विराजमान है।

हम तो मूर्तिपूजक भी हैं और मूर्तिभजक भी। मूर्ति के भीतर समाई हुई पाषाणता के हम भजक है, परन्तु उसके अन्दर समाई हुई ईश्वर की भावना के पूजक हैं।

धर्म-विरोधी कानून

जिन-जिन कानूनो से धर्म का लोप होता हो, उन कानूनो को हमे जरूर मिटाना चाहिए। ऐसे कानूनो को न माने इतना ही नही, बल्कि उसका सक्रिय विरोध करे। विरोध करने के दो मार्ग हैं मार-काट करने का और सत्याग्रह का। हमे तो सत्याग्रह का मार्ग ही लेना चाहिए। हमे धर्म के नाम पर डाका नही डालना है। हम तो धर्म के नाम पर फाँसी पर चढ जाय, मर मिटे, मगर दूसरो को न मारें।

— १९२६। बापू के पत्र आश्रम की बहिनो को, न० जी० प्र० म०]

६. शुद्धि और तबलीग

मै नही मानता कि आज के जैसी तबलीग, शुद्धि या धर्म-परिवर्तन करने की आज्ञा इस्लाम, हिन्दू धर्म या ईसाई धर्म मे है। तब मैं शुद्धि मे किस प्रकार हाथ बँटा सकता हूं? तुलसीदास और गीता मुझे सिखलाते है कि जब तुम्हारे ऊपर या तुम्हारे धर्म पर आक्रमण हो तो तुम आत्मशुद्धि कर लेना। जो पिण्ड मे है, वह ब्रह्माण्ड मे है। आत्मशुद्धि—तपश्चर्या करने का मेरा प्रयत्न चौबीसो घण्टे चल रहा है। पार्वती के भाग्य मे अशुभ लक्षणोवाले पति थे। ऐसे लक्षण होने पर भी शुभकर तो शिव जी ही थे। पार्वती ने उन्हे तपोबल से पाया। सकट के समय ऐसा ही तप हिन्दू धर्म सिखलाता है। इस धर्म-ज्ञान का साक्षी हिमालय है —वही हिमालय, जिस पर हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए लाखो ऋषि-मुनियो ने अपने शरीर गला डाले हैं। वेद कागज पर लिखे अक्षर नही है। वेद तो अन्तर्यामी है। अन्तर्यामी ने मुझे बतलाया

आत्महत्या

. बहिन ने आत्महत्या की, इससे यह सबक लेना है कि इसान को अपने मन के भीतर ही भीतर दु ख या चिन्ता को घोटते नही रहना चाहिए, मन ही मन जलते नही रहना चाहिए। जिसकी तरफ से दु ख हुआ हो, उससे तुरन्त कह देना चाहिए। तभी वह दु ख हमारे मन मे नही रहेगा। मन के अन्दर ही अन्दर मसोसते रहना भी एक प्रकार की आत्महत्या है।

आत्मनिन्दा कहा तक ठीक है ? अपने बारे मे अपने मन मे असन्तोष का रहना एक तरह से अच्छा है। मगर वह असन्तोष हद से ज्यादा न होना चाहिए। एक हद तक असन्तोष रहे, तो मनुष्य ऊपर उठता है। मगर यदि वह व्यर्थ ही अपने आप मे हमेशा दोष निकालता रहे कि मुझे यह नही आता, वह नही आता, तो सचमुच ही वह उसे आयेगा भी नही और वह मूर्ख बन जायगा। हमे मन के अन्दर प्रसन्नता रखनी चाहिए और उसके साथ-साथ एक तरह का असन्तोष भी रखना चाहिए। तभी हमारी उन्नति होगी।

ज्ञान

जिस ज्ञान मे नम्रता नही, कोमलता नही, उस ज्ञान को क्या करे ? कौशिक मुनि ने अपने ऊपर पक्षी की बीट पड गई तो क्रोध किया। उससे पक्षी जलकर भस्म हो गया। अपने तप की यह शक्ति देखकर मुनि के मन मे जरा अभिमान हो आया। बाद मे वे एक आदमी के यहा अतिथि बनकर जाते हैं। घर की मालकिन अपने पति की सेवा मे लगी होती है, इसलिए अतिथि को खडा रखती है। पति की सेवा पूरी होने के बाद मुनि के पास भोजन लेकर जाती है और देर होने का कारण बताकर मुनि से माफी माँगती है। इस पर मुनि को गुस्सा आ गया। उस स्त्री ने कहा, मै कोई वह चिडिया नही हूँ जो आपके क्रोध से जल जाऊगी, और आपका इस तरह क्रोध करना ज्ञान नही कहला सकता। इस पर कौशिक मुनि को ज्ञान हुआ और उन्होने उस स्त्री से कहा, तूने तो मुझे दो प्रकार .का भोजन दे दिया एक भोजनान्न और दूसरा ज्ञानान्न।

हमारा मन्दिर

हम सबका मन्दिर आश्रम मे है। आश्रम मे भी नही, वह तो हमारे हृदय मे है। दो-चार पत्थर जमा करके बनाया हुआ मन्दिर किसी काम का नही। हम अपने हृदय मे मन्दिर बना सके तो वह काम का है।

आश्रम अगर इसी तरह बराबर चलता रहे और उसमे दुष्ट मनुष्य पैदा न हो, तो वह तीर्थक्षेत्र बन जाय।

नर्मदा के जितने ककर हैं, उतने सब शकर कहलाते है। नर्मदा का अर्थ वही नदी नही है, जो भडौच के पास है, बल्कि सभी नदिया हैं। नदी के ककर को धोकर जहा बिल्वपत्र चढाया कि वह शकर हो गया। इससे आगे बढकर यदि साफ मिट्टी लेकर उसका शिवलिंग-जैसा आकार बनायें और उस पर बिल्वपत्र चढायें, तो वह भी शकर बन जायगा। इससे भी आगे बढकर विचार करे, तो हमारे हृदय मे ही शकर विराजमान है।

हम तो मूर्तिपूजक भी है और मूर्तिभजक भी। मूर्ति के भीतर समाई हुई पाषाणता के हम भजक है, परन्तु उसके अन्दर समाई हुई ईश्वर की भावना के पूजक है।

धर्म-विरोधी कानून

जिन-जिन कानूनो से धर्म का लोप होता हो, उन कानूनो को हमे जरूर मिटाना चाहिए। ऐसे कानूनो को न माने इतना ही नही, बल्कि उसका सक्रिय विरोध करे। विरोध करने के दो मार्ग हैं मार-काट करने का और सत्याग्रह का। हमे तो सत्याग्रह का मार्ग ही लेना चाहिए। हमे धर्म के नाम पर डाका नही डालना है। हम तो धर्म के नाम पर फाँसी पर चढ जाय, मर मिटें, मगर दूसरो को न मारें।

—— १९२६। बापू के पत्र आश्रम की बहिनो को, न० जी० प्र० म०]

६. शुद्धि और तबलीग

मैं नही मानता कि आज के जैसी तबलीग, शुद्धि या धर्म-परिवर्तन करने की आज्ञा इस्लाम, हिन्दू धर्म या ईसाई धर्म मे है। तब मैं शुद्धि मे किस प्रकार हाथ बँटा सकता हूँ? तुलसीदास और गीता मुझे सिखलाते है कि जब तुम्हारे ऊपर या तुम्हारे धर्म पर आक्रमण हो तो तुम आत्मशुद्धि कर लेना। जो पिण्ड मे है, वह ब्रह्माण्ड मे है। आत्मशुद्धि—तपश्चर्या करने का मेरा प्रयत्न चौबीसो घण्टे चल रहा है। पार्वती के भाग्य मे अशुभ लक्षणोवाले पति थे। ऐसे लक्षण होने पर भी शुभकर तो शिव जी ही थे। पार्वती ने उन्हे तपोबल से पाया। सकट के समय ऐसा ही तप हिन्दू धर्म सिखलाता है। इस धर्म-ज्ञान का साक्षी हिमालय है —वही हिमालय, जिस पर हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए लाखो ऋषि-मुनियो ने अपने शरीर गला डाले हैं। वेद कागज पर लिखे अक्षर नही है। वेद तो अन्तर्यामी है। अन्तर्यामी ने मुझे बतलाया

है कि यम-नियमादि का पालन कर और कृष्ण का नाम ले। मैं विनय के साथ किन्तु सत्यतापूर्वक कहता हूँ कि हिन्दू धर्म की सेवा, हिन्दू धर्म की रक्षा के सिवा मेरी दूसरी प्रवृत्ति नही है। हा, उसे करने की मेरी रीति अवश्य ही निराली है।

—न० जी०। हि० न० जी०, ३।३।१९२७]

- **जो पिण्ड मे है, वह ब्रह्माण्ड मे है।**
- **वेद कागज पर लिखे अक्षर नहीं हैं।**
- **वेद. .अन्तर्यामी है।**
- **हिन्दू धर्म की सेवा, हिन्दू धर्म की रक्षा के सिवा मेरी दूसरी प्रवृत्ति नहीं है।**

७. पश्चिम और पूर्व में दृष्टि-भेद

बुद्ध भगवान ने कहा है कि यह जीवन एक छाया भर है, तुरत ही मिट जानेवाली वस्तु है। अगर आप दृश्य जगत् की शून्यता को समझ जाय, अगर आपके दिल मे यह पैठ जाय कि हमारी देह का कोई मूल्य नही है तो फिर आप के लिए ऊपर अक्षय भाण्डार रखा है और नीचे वह शान्ति और सुख जिसका आज हम स्वप्न भी नही देख पाते। मगर इसके लिए अत्यन्त श्रद्धा चाहिए, अपने सर्वस्व का त्याग करना होगा। बुद्ध ने क्या किया था? ईसा और मुहम्मद ने भी क्या किया था? उनके जीवन आत्मत्याग और स्वार्थत्याग के जीवन थे। बुद्ध ने अपने सासारिक वैभव-विलास इसलिए छोड दिये जिससे सत्य की शोध मे त्याग करने और कष्ट सहनेवालो का परम सुख सारे ससार को सुलभ हो। अगर गौरीशकर की चोटी पर चढकर थोडे-से सामान्य ज्ञान के लिए कई जानें दी जा सकती हैं, अगर दोनो ध्रुवो मे जाकर एक झण्डा गाड देने के लिए कई आदमियो का प्राणोत्सर्ग करना समुचित है तो फिर अमर, अविनश्वर, शाश्वत सत्य की खोज मे एक नही, दो नही, लाखो नही बल्कि करोडो, अरबो जीवनो का उत्सर्ग क्या महान् कार्य नही है? इसलिए आप निराधार मत हो जाइए, अपने पूर्वजो की सादगी को छोडकर मत भागिए। वह समय आनेवाला है जब वे पीछे लौट कर कहेगे कि आह, हमने यह क्या किया, जो आज अपनी आवश्यकताए बढाने मे ही अपने को धन्य मानते है। सभ्यताए आई और गई। हमारी उन्नति से क्या होना है? डारविन के समसामयिक प्रसिद्ध वैज्ञानिक वालेस ने भी यही बात कही थी। उसने कहा था कि ५० वर्षो के महान आविष्कारो मे मनुष्यो के सदाचार मे जौ-बराबर भी उन्नति नही हुई है। उस स्वप्नद्रष्टा और भविष्यद्रष्टा टाल्सटाय ने भी यही कहा था। यही राग ईसा, मुहम्मद और बुद्ध ने भी अलापा

था—और आज उन्ही के धर्मों का नाम ले लेकर, उनमे उलटा आचरण हमारे ही देश मे हो रहा है।

—हि० न० जी०, १५।१२।१९२७]

८. मृत्यु : संस्मरण और दर्शन

आश्रम मे अब तक नीचे लिखी मौतें होने की बात मुझे याद है

फकीरी, व्रजलाल, मगनलाल, गीता, मेघजी, वसन्त, इमाम साहब, गगादेवी (इन सबकी तारीखें लिख रखना अच्छा होगा)।

फकीरी की मौत तो ऐसी हुई जो आश्रम को शोभा देनेवाली नही कही जा सकती। आश्रम अभी नया था। फकीरी पर आश्रम के संस्कार न पडे थे। फिर भी फकीरी बहादुर लडका था। मेरी टीका है कि वह अपने खाऊपन की बलि हो गया। उसकी मृत्यु मेरी परीक्षा थी। मुझे ऐसा याद है कि आखिरी दिन उसकी बगल मे सारी रात मैं बैठा रहा। सवेरे मुझे गुरुकुल जाने के लिए ट्रेन पकडनी थी। उसे अरथी पर सुलाकर, पत्थर का कलेजा करके मैंने स्टेशन का रास्ता लिया। फकीरी के बाप ने फकीरी और उसके तीन भाइयो को यह समझकर मुझे सौंपा था कि मैं फकीरी और दूसरो के बीच भेद न करूगा। फकीरी गया तो उसके तीन भाइयो को भी मैं खो बैठा।

व्रजलाल बडी उम्र मे शुद्ध सेवाभाव से आश्रम मे आये थे और सेवा करते हुए ही मृत्यु का आलिगन करके अमर हो गये और आश्रम के लिए शोभारूप हुए। एक लडके का घडा कुए से निकालते हुए डोर मे फँसकर फिसल गये और उन्होने प्राण तजे।

गीता गीता का पाठ शान्ति से सुनती हुई चली गई। मेघजी नटखट लडका माना जाता था, पर बीमारी मे उसने अद्भुत शान्ति रखी। बच्चे अक्सर बीमारी मे बहुत हैरान होते है और पास रहनेवालो को हैरान करते हैं। मेघ जी को लगभग आदर्श रोगी कह सकते है। वसन्त ने बिल्कुल सेवा ली ही नही। प्राणघातक चेचक ने एक या दो दिन मे ही जान ले ली। वसन्त की मृत्यु पण्डित जी और लक्ष्मीबहिन की कठिन परीक्षा थी, उसमे वे पास हुए।

मगनलाल के विषय मे क्या कहू ? सच पूछिए तो यह गिनती आश्रम मे हुई मौतो की है, इसलिए मगनलाल का नाम यहा न होना चाहिए। पर यह नाम कैसे छोडा जा सकता है ? उन्होंने आश्रम के लिए जन्म लिया था। सोना जैसे अग्नि मे तपता है वैसे मगनलाल सेवाग्नि मे तपे और कसौटी पर सौ फीसदी खरे उतर

कर दुनिया से कूच कर गये। आश्रम मे जो कोई भी है वह मगनलाल की सेवा की गवाही देता है।

इमामसाहब का अकेला ही मुसलमान-कुटुम्ब अनन्य भक्ति से आश्रम मे बसा। उन्होने मृत्यु से हमारे और मुसलमानो के बीच न टूटनेवाली गाँठ बाँध दी है। इमाम साहब अपने आपको इस्लाम का प्रतिनिधि मानते थे और इसी रूप मे आश्रम मे आये। (यहा अमीना के दो बच्चे याद आते हैं। वे बहुत छोटे थे, इसलिए उनके बारे मे कोई कहने लायक बात नही। उनकी मृत्यु हमे सयम की आवश्यकता का पाठ अवश्य पढाती है)।

गगादेवी का चेहरा अब भी मेरी आँखो के सामने फिरा करता है, उनकी बोली की भनक मेरे कानो मे पडती है। उनके स्मरणो को याद करते अब भी मैं थका नही। उनके जीवन से हम सबको और बहिनो को खास तौर से बहुत सबक सीखने है। यह लगभग निरक्षर होने पर भी ज्ञानी थी। हवा, पानी बदलने के लिए जाने लायक होने पर भी स्वेच्छा से जाने से अन्त तक इन्कार करती रहनेवाली वह अकेली ही थी। जो बच्चे उन्हे मिले, उनकी सम्हाल उन्होने अपने बच्चे मान कर की। उन्होने किसी दिन किसी के साथ तकरार की हो या किसी पर खफा हुई हो, इसकी जानकारी मुझे नही है। उनको जीने का उल्लास न था, मरने का भय न था। उन्होने हँसते हुए मृत्यु को गले लगाया। उन्होने मरने की कला हस्तगत कर ली थी। जैसे जीने की कला है, वैसे ही मरने की भी कला है।

इन सभी मृत्युओ का स्मरण अपनी जागृति के लिए कर गया हूँ। पृथिवी इस विशाल-मण्डल मे कण-समान है। उस कण के ऊपर हम देहरूप मे तुच्छ कण है। हम एक बिल मे रहनेवाली चीटियो को गिनने मे असमर्थ हैं। चीटी से छोटे जन्तुओ को तो हम देख भी नही सकते। विराट पुरुष के सामने तो हम अदृश्य जन्तु से भी अधिक छोटे हैं। इससे इस देह को जो क्षणभगुर कहा है वह अक्षरश सत्य है। उसका मोह क्या ? उसके लिए एक भी प्राणी को हम क्यो दु ख दे ? काँच से भी कमजोर, जरा-सी चोट से टूट जानेवाली देह को बनाये रखने के लिए इतना उपद्रव क्यो मनायें ? मौत का अर्थ है इस देह से जीव का उड जाना। इस मौत का डर किसलिए ? उसका क्षण दूर रखने के लिए यह महा प्रपच क्यो ? इन बातो पर फिर-फिर विचार कर छोटे-बडे दिल से मौत का डर निकाल दें। और देह मे रह कर, जबतक वह रहे तबतक, सेवा के कार्य मे उसे घिस डालें। ऐसी तैयारी करने की शक्ति हममे आये, इस के लिए नित्य गीता के दूसरे अध्याय के अन्तिम उन्नीस श्लोक हमे रटने चाहिए। उनकी रटन दिल से हो तो जो चाहिए वह उसमे मौजूद हैं।

पुनश्च—यह लेख लिखा जा चुकने के बाद महादेव ने फातिमा काकी और वालजी की माता जी के सस्मरण दिये है, पर मुझे जो सार खीचना था उसमे कोई फर्क नही पडता, इसलिए यह लेख जैसा है वैसा ही रहने देता हूं। बाकी की तीनो मौतो के बारे मे जो कुछ मैने सुना है वह सब पुण्यस्मरण ही है।
—यरवदा मन्दिर, ३०।५।१९३२]

- जैसे जीने की कला है, वैसे ही मरने की भी कला है।
- मौत का अर्थ है इस देह से जीव का उड जाना।

९. जीवमात्र की समानता और अहिसा-धर्म

गत मास मैं सात आठ दिन के लिए बोरसद गया था। वहा मैने अपने कई भाषणो मे कहा था कि यद्यपि मैं यह मानता हूं कि प्लेग के कीटाणुवाले चूहे और पिस्सू भी मेरे लिए सहोदर के समान है और जीने का जितना अधिकार मुझे है उतना ही उन्हे भी है, फिर भी डा० पटेल के चूहे और पिस्सू मारने के प्रयत्न का मैं बिना सकोच समर्थन करता हू।

एक पत्र-रिपोर्टर ने, जिसे मेरी यह चूहो और पिस्सुओ के सहोदरत्व की बात सुनकर आश्चर्य हुआ किन्तु जिसने यह चिन्ता नही की, कि मैने किस प्रसग पर यह कहा था, फौरन मेरी वह बात तार-द्वारा अखबार को भेज दी। सरदार पटेल की तीक्ष्ण दृष्टि उस पैराग्राफ पर जा पडी और उससे जो हानि होने की सम्भावना थी उसे सुधारने के लिए उन्होने मुझसे कहा। मगर उन्होने जो काम मुझे सौप रखा था, उससे मुझे अवकाश नही था, इसलिए मैने यह कहकर लिखने की बात टाल दी कि जिन लोगो का इस बात से सम्बन्ध है, वे कभी मेरे कहने का गलत अर्थ नही लगायेंगे।

लेकिन सरदार का कहना ठीक निकला। वह अर्धसत्य वाली खबर तार से लन्दन भेज दी गई। वहा जो लोग युरोप मे मेरी ख्याति बढाने के विषय मे चिन्तित रहते है, उन्हे यह पैरा पढ कर क्षोभ हुआ, यद्यपि इतना तो वे समझते थे कि इस सहोदरत्व के दावे मे, मैने बहुत-सी मर्यादाए तो रखी ही होगी। उन्होने मेरे पास उस पैरे की कटिंग लेकर भेज दी। अब उन मित्रो के लिए भी मैं बाध्य हू कि अपनी स्थिति को साफ कर दूं। यद्यपि जो अर्द्धसत्य एक बार चल निकला, वह कैसे रोका जा सकता है ?

मै जिन लोगो के समक्ष वहा भाषण दे रहा था, वे उन जगली जानवरो को भी नही मारते, जो नित्य ही उनकी खेती का नाश करते रहते है। सरदार ने जब

अपने प्रचण्ड प्रभाव का पूरा उपयोग किया, तब कही चूहो का सहार वहा हो सका। इसके पहिले बोरसद तालुका मे कभी भी एक चूहा या पिस्सू नही मारा गया था। लेकिन सरदार का उन लोगो पर बहुत बडा उपकार था, इसलिए उनकी बात का विरोध वे नही कर सकते थे और उन्होने डा० भास्कर पटेल को चूहो और पिस्सुओ का सहार निर्बाध रीति से करने दिया। बोरसद मे जो काम हो रहा था उसका समाचार मुझे दिन-प्रतिदिन मिलता रहता था।

जो काम वहा हुआ था, उस पर मेरी स्वीकृति लेने के लिए ही सरदार ने मुझे बुलाया था। कारण कि, यह काम अब भी जारी रहना था, हालाकि लोगो को अब खुद अपने स्वतन्त्र प्रयत्न से यह काम करना था, इसलिए अपनी सम्मति पर जोर देने के लिए मैंने अहिंसा अर्थात् जीवमात्र की अवध्यता तथा एकता-विषयक अपनी अटल श्रद्धा अत्यन्त स्पष्ट शब्दो मे सुना दी।

किन्तु श्रद्धा और क्रिया के बीच यह विरोध किसलिए ? विरोध तो अवश्य है ही। जीवन एक अभिलाषा है। उसका ध्येय पूर्णता अर्थात् आत्म-साक्षात्कार के लिए प्रयत्न करना है। अपनी निर्बलताओ या अपूर्णताओ के कारण हमे आदर्श नीचा नही करना चाहिए। मुझ मे निर्बलता और अपूर्णता दोनो ही है। यह नही कि मुझे उनका दु खद भान न हो। अपनी उन निर्बलताओ और अपूर्णताओ को दूर करने मे सहायता देने के लिए सत्य के समक्ष मेरे हृदय से मूक पुकार प्रतिक्षण उठती रहती है। मैं यह मानता हूँ कि साप, बिच्छू, बाघ और प्लेग के चूहो तथा पिस्सुओ से मुझे डर लगता है। मुझे यह भी स्वीकार करना चाहिए कि खतरनाक दिखाई देने वाले डाकुओ और हत्यारो से भी मुझे डर लगता है। मै यह जानता हूँ कि मुझे इनमे से किसी से भी नही डरना चाहिए। पर यह कोई बुद्धि की बहादुरी का काम नही है। यह तो हृदय का व्यापार है। ईश्वर के अतिरिक्त और सबका भय त्याग देने के लिए वज्र-सा कठोर हृदय चाहिए। अपनी निर्बलताओ के कारण बोरसद के लोगो को मैं यह सलाह तो नही दे सकता था कि आप लोग हत्यारे चूहो और पिस्सुओ को न मारें। पर मैं यह जानता था कि यह छूट मानवी निर्बलता का ही परिणाम है।

तो भी अहिंसा और हिंसा-सम्बन्धी विश्वासो मे उतना ही अन्तर है, जितना कि उत्तर दिशा मे और दक्षिण दिशा मे है। अथवा जितना अन्तर जीवन और मृत्यु के बीच मे है। मनुष्य जब अहिंसा अर्थात् प्रेमधर्म के समुद्र मे अपने भाग्य की नौका छोड़ देता है तो उतने अश मे जीवन और प्रेम का क्षेत्र बढाता जाता है; जो मनुष्य हिंसा अर्थत् द्वेष का आलिंगन करता है, वह क्षण-क्षण अपने विनाश का क्षेत्र विस्तृत करता जाता है और उतने अश मे मृत्यु तथा घृणा को बढाता है।

यद्यपि बोरसद-वासियो के समक्ष मैंने अपने सहोदरवत् चूहो और पिस्सुओं के विनाश का समर्थन किया तो भी मैंने उन्हे जीवमात्र के प्रति अमर प्रेम का महान् सिद्धान्त शुद्ध रूप मे बतलाया। यद्यपि इस जन्म मे उस सिद्धान्त का पालन मैं पूर्णतया नही कर सकता, तो भी उस पर मेरी अटल श्रद्धा तो रहेगी ही। मेरी प्रत्येक असफलता मुझे उसके साक्षात्कार के अधिक से अधिक समीप ले जाती है।
—ह० ज०। ह० से० २८।५।१९३५]

१०. गांधी-मन्दिर

एक भाई ने मुझे अखबार की एक कतरन भेजी है। उसमे खबर है कि मेरे नाम का एक मन्दिर बनवाया गया है। और उसमे मेरी मूर्ति की पूजा की जाती है। इसे मैं मूर्तिपूजा का बेढगा रूप मानता हूँ। जिसने यह मन्दिर बनवाया, उसने अपने पैसे बरबाद किये, गाव के भोले लोगो को गलत रास्ता दिखाया और मेरे जीवन का गलत खाका खीचकर मेरा अपमान किया। इससे पूजा का अर्थ सिद्ध नही होता, उलटे अनर्थ होता है। तोते की तरह गीता का पारायण करने के बदले उसके उपदेश के अनुसार आचरण करना सच्ची गीता-पूजा है। गीतापाठ भी उसी सीमा तक उचित माना जायगा, जिस सीमा तक वह गीता के उपदेश के अनुसार आचरण करने मे सहायक हो। मनुष्य की कमजोरी का नही बल्कि उसके गुणो का अनुकरण ही उसकी सच्ची पूजा है। जीवित व्यक्ति की मूर्ति बनाकर उसकी पूजा करने से हम हिन्दू-धर्म को पतन की आखिरी पीढी पर पहुँचा देते हैं। मौत से पहिले किसी आदमी को पूरी तरह अच्छा नही कहा जा सकता, और मौत के बाद भी जिसे उस आदमी मे आरोपित गुणो मे विश्वास होगा, वही उसे अच्छा कहेगा। सच तो यह है कि केवल एक ईश्वर ही मनुष्य के हृदय को जानता है। इसलिए किसी जीवित या मृत व्यक्ति को पूजने के बदले, जो पूर्ण है और सत्य-स्वरूप है, उस ईश्वर को पूजने और उसी का भजन करने मे सुरक्षा है। यहा यह सवाल ज़रूर उठ सकता है कि फोटो रखना भी पूजा का ही एक प्रकार है या नही ? इसके बारे मे मैं पहिले लिख चुका हूँ। फोटो रखने का रिवाज भी खर्चीला तो है, मगर उसे निर्दोष समझ कर मैं अब तक उसको बर्दाश्त करता आया हूँ। अगर उसकी वजह से मैं प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से मूर्तिपूजा को तनिक भी बढावा देता होऊ, तो उसे भी हास्यास्पद और हानिकारक समझ-कर छोड दूगा। मन्दिर के मालिक मूर्ति को हटाकर उस मकान मे खादी का केन्द्र खोले, तो वह सब तरह इष्ट होगा और फिलहाल जो पाप वह कर रहे है उसमे

बच जायेंगे। उस मकान मे गरीब लोग मजदूरी के लिए धुने और कातें। दूसरे यज्ञ के लिये धुनें और कातें। सब खादी पहनने लगें। यही गीता का कर्मयोग है। जीवन मे इसका आचरण करने से गीता की और मेरी सच्ची पूजा की जा सकेगी। दूसरी पूजा हानिकारक है इसलिए छोडने योग्य है।

—बम्बई, १५।३।१९४६। ह० ब०। ह० से० २४।३।१९४६]

११. ईश्वर व्यक्ति है या शक्ति ?

एक दोस्त बड़ौदा से अंग्रेजी में लिखते हैं :—

"आप हमें भगवान से यह प्रार्थना करने के लिए कहते हैं कि वह दक्षिण अफ्रीका के गोरो को सद्बुद्धि दे और वहां के हिन्दुस्तानियों को अपने लक्ष्य पर डटे रहने का साहस और शक्ति दे। इस तरह की प्रार्थना तो किसी व्यक्ति से ही की जा सकती है। अगर भगवान् सर्वव्यापी और सबसे बड़ी शक्ति है, तो उससे प्रार्थना करने से क्या लाभ ? वह तो अपना काम करता ही रहता है।"

इस विषय पर मैं पहिले लिख चुका हू। लेकिन किसी-न-किसी भाषा मे यह सवाल बार-बार दुहराया जाता है। इसलिए इसको और अधिक समझाने से, सम्भव है किसी को सहायता मिले। मेरे विचार से राम, रहमान, अहुरमज्द, ईश्वर या कृष्ण ये सब मनुष्य के रखे हुए उसी एक शक्ति के नाम हैं, जो सबसे बडी है। अधूरा होते हुए भी आदमी पूर्णता के लिए लगातार कोशिश करे, यह उसके लिए सहज बात है। इस कोशिश मे वह खयाली-पुलाव भी पकाने लगता है। और, जिस तरह एक बच्चा उठने की कोशिश करता है, बार-बार गिरता है और आखिरकार चलना सीख जाता है, उसी तरह आदमी, अपनी सारी बुद्धि के बावजूद, अनादि और अनन्त ईश्वर की तुलना मे एक बच्चा ही है। ऊपर से यह बात बेसिर-पैर की लगे, लेकिन वस्तुत वह बिल्कुल सच है। आदमी अपनी टूटी-फूटी भाषा मे ही ईश्वर का बखान कर सकता है। सच पूछा जाय तो उस शक्ति का, जिसे हम ईश्वर कहते हैं, बखान नही किया जा सकता, न उस शक्ति को आदमी से अपना बखान कराने की कोई जरूरत है। आदमी को कोई ऐसा साधन चाहिए, जिससे वह समुद्र से भी बडी उस शक्ति का बखान कर सके। अगर यह तर्क ठीक है, तो यह पूछना जरूरी नही कि हम उसकी प्रार्थना क्यो करें ? आदमी अपनी बुद्धि के दायरे मे ही ईश्वर की कल्पना कर सकता है। अगर ईश्वर समुद्र के समान बडा और निस्सीम है, तो आदमी-जैसी एक छोटी-सी बूंद उसकी कल्पना कैसे कर सकती है ? समुद्र मे डूबकर ही आदमी उसकी जान-

कारी पा सकता है। लेकिन यह अनुभव वर्णन के बाहर की बात है। मैडम ब्लावाट्स्की की भाषा में प्रार्थना में मनुष्य अपनी महान् शक्ति की ही पूजा करता है। सच्ची प्रार्थना वही कर सकता है, जिसे यह विश्वास हो कि ईश्वर उसके अन्दर मौजूद है। जिसे यह विश्वास नहीं, उसे प्रार्थना करने की जरूरत नहीं। भगवान उससे नाराज न होगा। लेकिन मैं अपने व्यक्तिगत अनुभव से यह कह सकता हूँ कि जो प्रार्थना नहीं करता, वह घाटे में रहता है। ऐसी स्थिति में यह सवाल तो उठता ही नहीं कि एक आदमी ईश्वर को व्यक्ति मानकर उसकी पूजा करता है और दूसरा उसे शक्ति मानकर पूजता है। दोनों अपनी-अपनी दृष्टि से ठीक ही करते हैं। यह कोई नहीं जानता, शायद कभी जान भी न सके, कि प्रार्थना करने का सबसे अच्छा तरीका क्या है? आदर्श हमेशा आदर्श ही बना रहेगा। हमें सिर्फ यही याद रखना चाहिए कि ईश्वर सारी शक्तियों की एक शक्ति है। दूसरी सब शक्तियां जड़ है। लेकिन ईश्वर एक जीती-जागती शक्ति या स्पिरिट है जो सब जगह मौजूद है, सबको अपने में समाहित किये हुए है और, इसलिए आदमी की समझ से परे है।

—सेवाग्राम, ९।८।१९४६। ह० ब०। ह० से० २५।८।१९४६]

● **प्रार्थना में मनुष्य अपनी महान् शक्ति की ही पूजा करता है।**

१२. सच्चा डाक्टर राम ही है

नोआखाली में आमकी नाम का एक गांव है। वहां बापू जी के लिए बकरी का दूध कहीं न मिल सका। सब तरफ तलाश करते-करते जब मैं थक गई, तब आखिर मैंने बापू को यह बात बताई। बापू जी कहने लगे तो इसमें क्या हुआ? नारियल का दूध बकरी के दूध की जगह अच्छी तरह काम दे सकता है। और बकरी के घी के बजाय हम नारियल का ताजा तेल निकालकर खायेंगे।

इसके बाद नारियल का दूध और तेल निकालने का तरीका बापू ने मुझे बताया। मैंने निकालकर उन्हें दिया। बापू जी बकरी का दूध हमेशा आठ औंस लेते थे, उसी तरह नारियल का दूध भी आठ औंस लिया। लेकिन हजम करने में बहुत भारी पड़ा और उससे उन्हें दस्त होने लगे। इससे शाम तक बापू को इतनी कमजोरी आ गई कि बाहर से झोपड़ी में आते-आते उन्हें चक्कर आ गये।

जब-जब बापू को चक्कर आने वाले होते, तब-तब उनके चिह्न पहिले ही दिखाई देने लगते थे। उन्हें बहुत ज्यादा जंभाइयां आतीं, पसीना आता, और कभी-कभी वे आंखें भी फेर लेते थे। इस तरह उनके जंभाइयां लेने से चक्कर आने

की सूचना तो मुझे पहिले ही मिल चुकी थी। मगर मैं सोच रही थी कि अव बिछौना चार ही फुट तो रहा, वहा तक तो वापू जी पहुंच ही जायेंगे। लेकिन मेरा अन्दाज गलत निकला। और मेरे सहारे चलते-चलते ही वापू जी लडखडाने लगे। मैंने सावधानी से उनका सिर सम्हाल रखा और निर्मल[1] बाबू को जोर से पुकारा। वह आये और हम दोनो ने मिलकर उन्हे बिछौने पर सुला दिया। फिर मैंने सोचा—कही बापू ज्यादा बीमार हो गये, तो लोग मुझे मूर्ख कहेगे। पास के देहात मे ही सुशीला बहिन हैं। उन्हे न बुलवा लू। मैंने चिट्ठी लिखी और भिजवाने के लिए निर्मलबाबू के हाथ मे दी ही थी कि इतने मे वापू को होश आया और उन्होने मुझे पुकारा, मनुडी। (बापू जी जब लाड से बुलाते थे, तो मुझे मनुडी कहते थे) मैं पास गई तो कहने लगे—तुमने निर्मल बाबू को आवाज लगाकर बुलाया, यह मुझे बिल्कुल नही रुचा। तुम अभी वच्ची हो, इसलिए मै तुम्हे माफ तो कर सकता हूँ। परन्तु तुमसे मेरी उम्मीद तो यही है कि तुम और कुछ न करके सिर्फ सच्चे दिल से रामनाम लेती रहो। मैं अपने मन मे तो रामनाम ले ही रहा था। पर तुम भी निर्मलबाबू को बुलाने के बजाय रामनाम शुरू कर देती, तो मुझे बहुत अच्छा लगता। अब देखो यह बात सुशीला से न कहना, और न उसे चिट्ठी लिखकर बुलाना। क्योकि मेरा सच्चा डाक्टर तो राम ही है। जहा तक उसे मुझसे काम लेना होगा, वहा तक मुझे जिलायेगा और नही तो उठा लेगा।

'सुशीला को न बुलाना' यह सुनते ही मैं कांप उठी और मैंने तुरन्त निर्मल-बाबू के हाथ से चिट्ठी छीन ली। चिट्ठी फट गई। वापू ने पूछा—"क्यो, तुमने चिट्ठी लिख भी डाली थी न ?" मैंने लाचारी से मजूर किया। तव कहने लगे—"आज तुम्हे और मुझे ईश्वर ने बचा लिया। यह चिट्ठी पढकर सुशीला अपना काम छोडकर मेरे पास दौडी आती, वह मुझे विल्कुल पसन्द न आता। मुझे तुमसे और अपने आप से चिढ होती। आज मेरी कसौटी हुई। अगर राम-नाम का मन्त्र मेरे दिल मे पूरा-पूरा रम जायगा, तो मैं कभी वीमार होकर नही मरूगा। यह नियम सिर्फ मेरे लिए ही नही, सवके लिए है। हरएक आदमी को अपनी भूल का नतीजा भोगना ही पडता है। मुझे जो दुःख भोगना पडा, वह मेरी भूल का ही परिणाम होगा। फिर भी आखिरी दम तक राम-नाम का ही

---

१. नोआखाली-यात्रा के दौरान गांधी जी के सहायक श्री निर्मलकुमार वसु। इन्होंने गाधी जी की ऐतिहासिक यात्रा पर संस्मरण-कृति 'माई डेज़ विद गाधी' लिखी है।

स्मरण होना चाहिए। वह भी तोते की तरह नही, वल्कि सच्चे दिल मे लिया जाना चाहिए। रामायण मे एक कथा है कि हनुमान जी को जब सीता जी ने मोती की माला दी, तो उन्होंने उसे तोड डाला, क्योकि उन्हे देखना था कि उसमे राम का नाम है या नही। यह बात सच है या नही, उसकी फिक्र हम क्या करे ? हमे तो इतना ही सीखना है कि हनुमान जी-जैसा पहाडी शरीर हम अपना न भी बना सके, फिर भी उनके जैसी आत्मा तो जरूर बना सकते है। इस उदाहरण को यदि आदमी चाहे तो सिद्ध कर सकता है। हो सकता है कि वह न भी सिद्ध कर पाये। लेकिन यदि सिद्ध करने की कोशिश ही करे, तो भी काफी है। गीता माता ने कहा ही है कि मनुष्य को कोशिश करनी चाहिए और फल ईश्वर के हाथ मे छोड देना चाहिए। इसलिए तुम्हे, मुझे और सबको कोशिश तो करनी ही चाहिए। अब तुम समझी न कि मेरी, तुम्हारी या किसी की बीमारी के विषय मे मेरी क्या धारणा है ?"

उसी दिन एक बीमार बहिन को पत्र लिखते हुए भी बापू ने यही बात लिखी—ससार मे अगर कोई अचूक दवाई हो तो वह रामनाम है। इस नाम के रटनेवालो को इसका अधिकार प्राप्त करने के लिए जिन-जिन नियमो का पालन करना चाहिए, उन सबका वे पालन करे। मगर यह रामबाण इलाज करने की हम सब मे योग्यता कहा है ?

(मेरी रोज की नोआखाली की डायरी से)

ऊपर की घटना ३० जनवरी, १९४७ के दिन घटी थी। बापू की मृत्यु से ठीक एक साल पहिले।

रामनाम पर उनकी यह श्रद्धा आखिरी क्षण तक अचल रही। १९४७ की ३०वी जनवरी को यह मधुर घटना घटी, और १९४८ की ३०वी जनवरी को बापू ने मुझसे कहा कि आखिरी दम तक हमे रामनाम रटते रहना चाहिए। इस तरह आखिर वक्त भी दो बार बापू के मुह से रा म। रा म। सुनना मेरे ही भाग्य मे बदा होगा, इसकी मुझे क्या कल्पना थी ? ईश्वर की गति कैसी गहन है।

— ३०।१।१९४७ 'बापू मेरी मा' से लेखिका—श्रीमनु बहिन]

१३. राम ! राम !

[गोस्वामी तुलसीदास की उक्ति है, 'जनम जनम मुनि जतन कराहीं, अन्त राम कहि आवत नाहीं।' मृत्यु के समय एकनिष्ठ, दृढ़ भाव से नामोच्चारण

व्यक्ति के जीवन मे तपस्या और उसके मरणोपरान्त मुक्ति का परिचायक है। ३० जनवरी १९४८ की संध्या को गांधी जी के वलिदान का यह मर्मस्पर्शी विवरण, उनकी धर्म-श्रद्धा की साक्षी है।—सम्पा०]

जब गाधी जी प्रार्थना-सभा के बीच से रस्सियो से घिरे रास्ते मे चलने लगे तो उन्होने प्रार्थना मे शामिल होने वाले लोगो के नमस्कारो का जवाव देने के लिए लडकियो के कन्धो से अपने हाथ उठा लिये। एकाएक भीड मे से कोई दाहिनी ओर से भीड को चीरता हुआ उस रास्ते पर आया। छोटी मनु ने यह सोचा कि वह आदमी वापू के पाव छूने को आगे वढ रहा है। इसलिए उसने उसे ऐसा करने के लिए झिडका, क्योकि प्रार्थना के लिए पहिले ही देर हो चुकी थी। उसने रास्ते मे आने-वाले आदमी का हाथ पकड कर उसे रोकने की कोशिश की। लेकिन उसने जोर से मनु को धक्का दिया, जिससे उसके हाथ की आश्रम-भजनावली, माला और वापू का पीकदान नीचे गिर गये। ज्योही वह विखरी हुई चीज़ो को उठाने के लिए झुकी, वह आदमी वापू के सामने खडा हो गया—इतना नजदीक खडा था कि पिस्तौल से निकली हुई गोली का खोल वाद मे वापू के कपडो की पर्त मे उलझा हुआ मिला। सात कारतूसो वाली आटोमेटिक पिस्तौल से जल्दी-जल्दी तीन गोलिया छूटी। पहिली गोली नाभि से ढाई इच ऊपर और मध्य रेखा से साढे तीन इच दाहिनी तरफ पेट की दाहनी वाजू मे लगी। दूसरी गोली मध्यरेखा से एक इच की दूरी पर दाहिनी तरफ घुसी और तीसरी गोली छाती की दाहिनी तरफ लगी। पहिली और दूसरी गोली शरीर को पार करके पीठ पर वाहर निकल आई। तीसरी गोली उनके फेफडे मे ही रुकी रही। पहिले वार मे उनका पाव, जो गोली लगने के वक्त आगे वढ रहा था, नीचे आ गया। दूसरी गोली छोडी गई, तव तक वे अपने पावो पर ही खडे थे। और उसके वाद वे गिर गये। उनके मुह से आखिरी शब्द 'राम! राम!' निकले।

—ह० से० १५।२।१९४८]

१४. बापू का जीवन-सार

[श्री बलवन्त सिंह गाधी जी के निकटस्थ अनुयायी और आश्रमवासी रहे हैं। उन्होने अपनी संस्मरण-कृति 'वापू की छाया मे' लिखी है, जिसके उपसहार में उन्होंने गाधी जी को श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए उनके जीवन-दर्शन की व्याख्या की है। यह महत्वपूर्ण अंश प्रस्तुत किया जा रहा है।—सम्पा०]

मैं काफी लिख गया तो भी मेरा हृदय बापू जी के सत्सग के और अपने २५ वर्ष के आश्रम-जीवन के सस्मरणो से अभी और छलाछल भरा हुआ है, जिन्हे लेखनी-बद्ध करना कठिन है। इस सस्मरणो के जरिये बापू जी के पावन चरित्र का महज एक छोटा सा अग ही स्पर्श हुआ है। उनका चरित्र इतना महान और इतना विशाल था कि मेरा यह प्रयास कुछ-कुछ उस हाथी जैसी बात सिद्ध होगा, जिसे अनेक अन्धो ने स्पर्श-द्वारा पहिचान कर अनेक भिन्न-भिन्न आकृतियो का बताया था। अपने-अपने कथन मे सब सच्चे थे, लेकिन पूर्ण सत्य से सब कितने दूर थे।

मैं नही जानता मेरा यह अल्प-सा प्रयास पाठको के लिए कितना उपयोगी सिद्ध होगा। परन्तु स्वय अपने लिए कहू तो इन पक्तियो को लिखते हुए मुझे भगवत् नामस्मरण के पावन प्रभाव का सच्चा महत्व समझ मे आया है। कहा जा सकता है कि इस प्रयास मे मानसिक जप और ध्यान की महिमा की झाँकी भी मुझे हुई है। व्यास भगवान को श्रीमद्भागवत लिखकर जैसी शान्ति का अनुभव हुआ था, वैसी ही शान्ति का अनुभव मुझे बापू जी के इन पवित्र और मधुर सस्मरणो को लिखकर हुआ है। इस प्रयत्न मे अपने आध्यात्मिक पिता बापू जी के बहुत बडे ऋण से यत्किंचित् उऋण होने का सन्तोष भी मेरी आत्मा को हुआ है, जिनका हृदय राम के निवास के योग्य था, जो राममय थे। यह वस्तु उनके जीवन और मृत्यु से सिद्ध हो चुकी है। बापू जी के जीवन का सार हमे इन पक्तियों मे मिलता है।

काम कोह मद मान न मोहा। लोभ न छोभ न राग न द्रोहा॥
जिनके कपट दभ नहिं माया। तिन्ह के हृदय बसहु रघुराया॥
सबके प्रिय सब के हितकारी। दुख सुख सरिस प्रशसा गारी॥
कहहिं सत्य प्रिय वचन विचारी। जागत सोवत सरन तुम्हारी॥
तुम्हहि छोडि गति दूसरि नाहीं। राम बसहु तिन के मन माहीं॥
जननी सम जानहिं परनारी। धनु पराव विष तें विष भारी॥
जे हरषहिं पर सम्पति देखी। दुखित होहिं पर विपति विसेखी॥
जिनहि राम तुम प्रानपिआरे। तिन्ह के मन सुभ सदन तुम्हारे॥

इन सस्मरणो को लिखते समय जहा आध्यात्मिक आनन्द और आध्यात्मिक खुराक मिली है, वहा मैं बापू जी के प्यार और ममता का स्मरण करके रोया भी खूब हूँ। मुझे तो ऐसा ही प्रतीत होता है

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्त हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेद मया प्रमादात् प्रणयेन वापि॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहार शय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाऽप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥

ये सब अपराध मैने बापू जी के साथ के अपने व्यवहार मे अज्ञानवश किये थे जिसके लिए मेरा हृदय निरन्तर बापू से क्षमा-याचना करता ही रहता है।

अधिक क्या कहू ? जड चेतन गुणदोष मय, विश्व कीन्ह करतार। सत हस गुण गहहि पय, परिहरि वारि विकार॥ इस नियम के अनुसार मेरे आत्मवत् पाठक वृन्द मेरे दोषो की तरफ ध्यान न देकर इसमे से बापू जी के गुणरूपी दूध को ग्रहण करके सन्तोष मानेंगे। और मेरी त्रुटियो के लिए मुझे उदारतापूर्वक क्षमा करेंगे।

जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी॥

१५. गांधी जी के समय आश्रम-प्रार्थना

न म्यो हो रे गे क्यो।
न म्यो हो रे गे क्यो।
न म्यो हो रें गे क्यो।
न म्यो हो रें गे क्यो।

नित्यपाठ

हरि ॐ।
ईशावास्य इदम् सर्वम् यत् कि च जगत्या जगत्।
तेन त्यक्तेन भुजीथा मा गृध कस्यस्विद् धनम्॥

प्रातःस्मरणम्

प्रात स्मरामि हृदि सस्फुरद् आत्मतत्वम्।
सत् - चित्-सुख परमहस-गति तुरीयम्।
यत् स्वप्न-जागर-सुषुप्तम् अवैति नित्यम्
तद् ब्रह्म निष्कलम् अह न च भूत-सघ॥१॥
प्रातर् भजामि मनसो वचसाम् अगम्यम्
वाचो विभान्ति निखिला यद् अनुग्रहेण।
यन् नेति नेति वचनैर् निगमा अवोचुस्
त देव-देवम् अजम् अच्युतम् आहुर् अग्र्यम्॥२॥

प्रातर् नमामि तमस परम् अर्कवर्णम्
पूर्णं सनातन-पद पुरुषोत्तमाख्यम्।
यस्मिन् इदम् जगद् अशेषम् अशेषमूर्तौ
रज्ज्वा भुजगम इव प्रतिभासित वै ॥३॥

समुद्रवसने ! देवि ! पर्वत - स्तन- मण्डले।
विष्णु-पत्नि ! नमस् तुभ्यम् पादस्पर्शं क्षमस्व मे ॥४॥

या कुन्देन्दु-तुषार-हार-धवला या शुभ्र-वस्त्रावृता
या वीणा-वरदण्ड-मण्डित-करा या श्वेतपद्मासना।
या ब्रह्माच्युत-शकर-प्रभतिभिर् देवै सदा वदिता
सा मा पातु सरस्वती भगवती नि शेषजाड्यापहा ॥५॥

वक्रतुण्ड ! महाकाय ! सूर्य-कोटि-सम-प्रभ।
निर्विघ्न कुरु मे देव ! शुभ-कार्येषु सर्वदा ॥६॥

गुरुर् ब्रह्मा, गुरुर् विष्णुर्, गुरुर् देवो महेश्वर ।
गुरु साक्षात् परब्रह्म, तस्मै श्रीगुरवे नम ॥८॥

शान्ताकार भुजग-शयन पद्मनाभ सुरेशम्।
विश्वाधार गगन-सदृश मेघवर्णं शुभागम्।
लक्ष्मीकान्त कमलनयन योगिभिर् ध्यान-गम्यम्।
वन्दे विष्णु भव-भय हर सर्वलोकैकनाथम् ॥८॥

करचरणकृत वाक्कायज कर्मज वा
श्रवणनयनज वा मानस वापराधम्।
विहितम् अविहित वा सर्वम् एतत् क्षमस्व
जय जय करुणाब्धे ! श्री महादेव !' शम्भो ! ॥९॥

नत्वह कामये राज्यम् न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुख-तप्तानाम् प्राणिनाम् आर्तिनाशनम् ॥१०॥

स्वस्ति प्रजाभ्य परिपालयन्ताम्
न्याय्येन मार्गेण मही महीशा ।
गो-ब्राह्मणेभ्य शुभम् अस्तु नित्यम्।
लोका समस्ता सुखिनो भवन्तु ॥११॥

नमस् ते सते ते जगत्कारणाय
नमस् ते चिते सर्वलोकाश्रयाय ॥
नमो द्वैत-तत्वाय मुक्तिप्रदाय
नमो ब्रह्मणे व्यापिने शाश्वताय ॥१२॥

त्वम् एक शरण्य त्वम् एक वरेण्यम्
त्वम् एक जगत्पालक स्वप्रकाशम्।
त्वम् एक जगत् कर्तृ-पातृ-प्रहर्तृ
त्वम् एक पर निश्चल निर्विकल्पम्॥१३॥
भयाना भय भीषण भीषणानाम्
गति प्राणिना, पावन पावनानाम्।
महोच्चै पदाना नियतृ त्वम् एकम्
परेषा पर, रक्षण रक्षणानाम्॥१४॥
वय त्वा स्मरामो, वय त्वा भजामो
वय त्वा जगत्-साक्षि-रूप नमाम।
सद् एक निधान निरालम्बम् ईशम्
भवाम्भोधि-पोत शरण्य व्रजाम॥१५॥

एकादश व्रत

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असग्रह।
शरीरश्रम, अस्वाद, सर्वत्र भयवर्जन॥
सर्वधर्मी समानत्व, स्वदेशी, स्पर्शभावना।
ही एकादश सेवावी नम्रत्वे व्रतनिश्चये॥

कुरान से प्रार्थना

अऊजु विल्लाहि मिनश् शैत्वानिर् रजीम्
बिस्मिल्लाहिर् रहमानिर् रहीम।
अल् हम्दु लिल्लाहि रब्बुल् आलमीन।
अर् रहमानिर् रहीम, मालिके यौमिद् दीन।
ईयाक न अबुदु व ईयाक नस्तईन।
इहिदिनसु सिरातल् मुस्तकीम।
सिरातल् लज़ीन् अन् अम्त अलैहिम,
गैरिल् मग जूबे अलैहिम वल्लज्जु आललीन॥
विस्मिल्लाहिर् रहमानिर् रहीम। आमीन
कुल हुवल्लाहु अहद्। अल्लाहुस्समद्।

लम् यलिद्, वलम्, यूलद्,
वलम् यकुल्लुह कुफवन् अहद ॥

जरथोस्त्री गाथा

(पारसी प्रार्थना)

मज़्दा अत मोइ वहिश्ता
स्रवा ओस्चा श्योथनाचाव ओचा।
ता-तू वहु मनघहा
अशाचा इषुदेव स्तुतो
क्षमा का श्रश्रा अहूरा फेरषेम
वस्ना श्येम् दाओ अहूम् ॥

(नोट इसके बाद भजन, धुन और साप्ताहिक गीता-पारायण होता था)

सायकाल की प्रार्थना

य ब्रह्मावरुणेन्द्ररुद्रमरुत स्तुन्वन्ति दिव्यै स्तवै-
र्वेदै सागपदक्रमोपनिषदैर् गयन्ति य सामगा।
ध्यानावस्थित्तद्गतेन मनसा पश्यन्ति य योगिनो
यस्यान्त न विदु सुरासुरगणा देवाय तस्मै नम ॥

स्थितप्रज्ञ-लक्षणानि

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधी किं प्रभाषेत किम् आसीत व्रजेत किम् ॥१॥

श्री भगवान् उवाच

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्ट स्थितप्रज्ञम् तदोच्यते ॥२॥
दुःखेष्वनुद्विग्न-मना सुखेषु विगतस्पृह।
वीत-राग-भय-क्रोध स्थितधीर् मुनिर् उच्यते ॥३॥
य सर्वत्रानभिस्नेहम् तत् तत् प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥४॥
यदा सहरते चाय कूर्मोङ्गानीव सर्वश।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस् तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५॥
विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिन. ।
रसवर्जं रसोप्यस्य पर दृष्ट्वा निवर्तते ॥६॥
यततो ह्यपि कौन्तेय ! पुरुषस्य विपश्चित ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभ मन· ॥७॥
तानि सर्वाणि सयम्य युक्त आसीत मत्पर ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥८॥
घ्यायतो विषयान् पुस सगस् तेषूपजायते ।
सगात् सजायते काम कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥९॥
क्रोधाद् भवति समोह समोहात् स्मृति-विभ्रम ।
स्मृतिभ्रशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥१०॥
राग-द्वेष-वियुक्तैस् तु विषयान् इन्द्रियैश् चरन् ।
आत्मवश्यैर् विधेयात्मा प्रसादम् अधिगच्छति ॥११॥
प्रसादे सर्वदु खानाम् हानिर् अस्योपजायते ।
प्रसन्न चेतसो ह्याशु बुद्धि पर्यवतिष्ठते ॥१२॥
नास्ति बुद्धिर् अयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयत शान्तिर् अशान्तस्य कुत सुखम् ॥१३॥
इन्द्रियाणा हि चरताम् यन् मनो नुविधीयते ।
तद् अस्य हरति प्रज्ञाम् वायुर् नावम् इवाम्भसि ॥१४॥
तस्माद् यस्य महाबाहो ! निगृहीतानि सर्वश ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस् तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥१५॥
या निशा सर्वभूताना तस्या जागर्ति सयमी ।
यस्या जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने ॥१६॥

आपूर्यमाणम् अचल- प्रतिष्ठ
समुद्रम् आप प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामा य प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिम् आप्नोति न कामकामी ॥१७॥

विहाय कामन् य सर्वान् पुमाश् चरति नि स्पृह ।
निर्ममो निरहकार स शान्तिम् अधिगच्छति ॥१८॥
एपा ब्राह्मी स्थिति पार्थ नैना प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वा स्याम् अन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥१९॥

(भगवद्गीता, २ ५४-७२)

(नोट प्रार्थना के अन्त मे भजन, धुन और रामायण का पाठ होता था।)

१६. स्त्रियों की प्रार्थना

गोविन्द, द्वारिकामाविन् , कृष्ण, गोपीजनप्रिय।
कौरवै परिभूता मा किं न जानामि केशव॥

हे केशव, हे द्वारिकावासी गोविन्द, हे गोपियो के प्रिय कृष्ण, कौरवो से—दुष्ट वासनाओ से—घिरी हुई मुझे तू कैसे नही जानता।

हे नाथ! हे रमानाथ! व्रजनाथार्तिनाशन्।
कौरवार्णवमग्ना माम् उद्धरस्व जनार्दन॥

हे नाथ, हे रमा के नाथ, व्रजनाथ, दु खो का नाश करनेवाले जनार्दन! मेरा, कौरवरूपी समुद्र मे डूबी हुई का, तू उद्धार कर।

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन।
प्रपन्ना पाहि गोविन्द कुरुमध्ये वसीदतीम्॥

हे विश्वात्मा! विश्व के उत्पन्न करनेवाले महायोगी कृष्ण! कौरवो के बीच हताश बनी और तेरी शरण आई हुई मुझे बचा।

धर्मं चरत मा धर्मं, सत्य वदत नानृतम्।
दीर्घं पश्यत मा ह्रस्व, पर पश्यत् मा परम्।

अधर्म का नही, धर्म का आचरण करो, असत्य नही सत्य बोलो, छोटी नही, लम्बी दृष्टि रखो, नीची नही, ऊची दृष्टि रखो।

अहिंसा सत्यम् अस्तेयम् शौचम् इन्द्रियनिग्रह।
एत मामासिक धर्मम् चातुर्वर्ण्ये ऽब्रवीन् मनु॥

हिंसा न करना, मत्य बोलना, चोरी न करना, पवित्रता का पालन करना, इन्द्रियो को वश मे रखना, मनु ने मक्षेप मे चारो वर्णो का यह धर्म बताया है।

अहिंसा सत्यम् अस्तेयम् अकाम-क्रोध-लोभता।
भूत-प्रिय-हितेहा च धर्मोऽय सार्ववर्णिक॥

हिसा न करना, सत्य बोलना, चोरी न करना, विषयेच्छा न करना, क्रोध न करना, लोभ न करना, परन्तु ससार मे प्राणियो का प्रिय और हित करना, यह सभी वर्णों का धर्म है।

विद्वद्भि सेवित सद्भिर् नित्यम् अद्वेष-रागिभि.।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्त निबोधत॥

विद्वानो ने जिसका सेवन किया हो, सन्तो ने जिसका सेवन किया हो, राग-द्वेष से नित्य मुक्त वीतरागी पुरुषो ने जिसका सेवन किया हो और जिसको अपने हृदय ने स्वीकार किया हो, ऐसे धर्म को तू जान।

श्रूयता धर्मसर्वस्वम्, श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मन. प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्॥

धर्म का रहस्य सुनो और सुनकर हृदय मे उतारो। वह यह कि जो अपने लिए प्रतिकूल हो वह दूसरो के प्रति न करो।

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यद् उक्त ग्रन्थकोटिभि ।
परोपकार पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

जो करोडो श्लोको मे कहा गया है वह मैं आधे श्लोक मे कहूँगा। वह यह कि दूसरे पर उपकार करना पुण्य है और दूसरे को पीडा पहुँचाना ही पाप है।

आदित्य-चन्द्रौ अनिलोऽनलश्च
द्यौर् भूमिर् आपो हृदय यमश्च।
अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये
धर्मोपि जानाति नरस्य वृत्तम्॥

सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, आकाश, पृथिवी, जल, हृदय, यम, दिन और रात, शाम और सुबह, और धर्म खुद मनुष्य का आचरण जानता है, इसलिए मनुष्य अपनी कोई चीज छिपा नही सकता।

१७. प्रेम-पन्थ

[कुमारी प्रेमा बहिन कटक का नाम गांधी जी के अनुयायियो की अग्र पक्ति में आता है। वे एक विदुषी महिला हैं, जिनका समस्त जीवन चिन्तन और उदात्त प्रवृत्तियो से ओत-प्रोत है।

'प्रेम-पन्थ' शीर्षक महत्वपूर्ण लेख मे कुमारी प्रेमा वहिन ने अनेक ऐसे सस्मरणो, प्रसगो की झांकी प्रस्तुत की है, जो गाधी जी के आध्यात्मिक प्रभाव का आकलन करने के लिए अत्यन्त उपयोगी है। यहा हम इस महत्वपूर्ण लेख के कुछ अश प्रस्तुत कर रहे हैं।—सम्पा०]

प्रेमपन्थ पावकनी ज्वाला, भाली पाछा भागे जोने,
माही पड्या ते महासुख माणे, देखनारा दाझे जोने।
हरिनो मारग छे शूरानो'॥

मेरे जीवन मे प्रार्थना ने वहुत वडा अभिनय किया है। मैं विल्कुल वच्ची थी तव मुझे किमी ने व्यक्तिगत या मार्वजनिक प्रार्थना के वारे कुछ कहा हो या सस्कार दिये हो, ऐमा मुझे याद नही है। लेकिन ननसाल मे मैं रहती थी तव मेरे नाना कभी-कभी पोथी पढकर सुनाते थे। उनकी कथाएँ मैं सुनती थी। छोटी या वडी सभी आयु के भक्तो को भगवान मकट से वचाते हैं, ऐमे किस्से अनेक वार सुनने मे मेरे मन मे श्रद्धा जागी और यह विश्वास पैदा हुआ कि उन भक्तो की तरह मैं भी भगवान से प्रार्थना करू तो वह मेरी भी सहायता करेगा। वाद मे मैंने इसका अनुभव किया। वचपन मे सकट भला कितने वडे हो मकते है। फिर भी समय-समय पर उन दिनो की मेरी भावना के अनुमार मुझे जव परिस्थिति सकट-भरी लगती तव मैं चुपचाप मन मे भगवान की करुणा के लिए याचना करती, पोथी मे से सुने हुए भक्तो के करुण वचनो का उपयोग करती। सकट के प्रसग ऐसे होते थे वीमारी, परीक्षा, अधेरे मे जाने के प्रमग, अच्छा न लगनेवाला काम, अनिच्छा से करने के प्रसग, स्कूल जाते समय चिलविले आदमियो-द्वारा सताये जाने के प्रसग। लेकिन अनुभव ऐमा हुआ कि प्रार्थना से या तो सकट दूर हो जाते हैं, या मदद अथवा वल मिलता है। इसलिए मेरी श्रद्धा वढती ही गई।

पूज्य महात्मा जी के आश्रम मे जाकर मावना करने की मेरी इच्छा सव तरह से अनुकूलता प्राप्त करके आखिर मे मफल हुई। यह भी प्रार्थना का ही फल है, ऐसी मेरी श्रद्धा है। वहा चारेक वर्ष विताने के वाद और जेल मे ग्यारह महीने रहने के वाद फिर निर्णय की मुसीवत आकर खडी हुई तव भी प्रार्थना काम आई। जेल से छूटने के पहिले भविष्य के मार्गदर्शन के लिए भगवान मे प्रार्थना की, तव उमकी कृपा से वह काम मरल हो गया।

---

१ अर्थ प्रेम का मार्ग आग की ज्वाला के समान है। लोग उसे देख कर वापस भाग जाते हैं। जो उसके भीतर प्रवेश करते हैं, वे महासुख भोगते हैं। और वाहर से देखनेवाले जल जाते हैं। हरि का मार्ग शूरो का है।

प्रार्थना के साथ मेरे जीवन से जुडी हुई एक गूढ घटना सूचक स्वप्नो की है। बुद्धिनिष्ठ विद्वान् इसे हँसकर टाल देंगे । लेकिन मैं तो अपने अनुभव के आधार पर कहती हूँ। जब-जब मेरे जीवन मे कोई खास परिवर्तन होने का समय आया है, अथवा मार्गदर्शन की अपेक्षा होती है, अथवा अपेक्षा न होने पर भी मेरे हाथ से कोई काम होने की अपेक्षा नियति रखती है, तब-तब मुझे सूचक स्वप्न आये हैं। सत्याग्रह आश्रम मे आने के बाद मुझे एक ऐसा स्वप्न आया था, जिसका स्पष्टीकरण पूज्य महात्मा जी ने अपने ढग से किया था। सासवड[1] आने के बाद फिर से (वह) स्वप्न आया।

सासवड आने के बाद मेरे मन मे दो विचार -प्रवाह बहने लगे। एक मन मे ऐसी चिन्ता बनी रहती थी कि जिस क्षेत्र मे अभी तक कोई कार्य नही हुआ है उसमे नया प्रयोग करते समय ज्ञान और अनुभव न होने से कार्य-शक्ति मे उतनी कमी रहेगी। साथी नये, क्षेत्र नया, अपनी बुद्धि तथा शक्ति के माप का कोई अन्दाज नही। इसके सिवा यहा का वातावरण भी सत्याग्रह-आश्रम के वातावरण से मिलता नही था। महाराष्ट्र मे रचनात्मक कार्यकर्त्ता भी राजनीति मे पूरा रस लेते हैं। विद्वत्ता को प्रथम आदर मिलता है और चर्चा तथा वाद-विवाद पूरे जोश से चलते हैं। दो महाराष्ट्री मिले कि वाद-विवाद आरम्भ हुआ ही समझिए। ये सब बाते मेरे स्वभाव के विरुद्ध थी। इस वातावरण मे अपने ढग का सेवा-कार्य कैसे होगा इसकी चिन्ता मन मे बनी रहती थी।

दूसरा विचार पूज्य महात्मा जी के बारे मे था। सत्याग्रह-आश्रम मे थी, तब वे भले ही दूर रहे तो भी पास ही लगते थे। पत्रव्यवहार-द्वारा उनके साथ सान्निध्य कायम रहता था। बीच-बीच मे मिलना भी हो जाता था, उनके साथ रहने का अवसर भी मिलता था। अब मैं दूर आ पडी थी। वह भी बहुत दूर थे। पत्र-व्यवहार नियमित चलेगा या नही, उनके मन मे मेरा स्थान रहेगा या नही, ऐसी-ऐसी चिन्ताए मन मे हुआ करती थी। सूर्यमाला मे अपने कक्ष मे घूमने वाले ग्रह जिस प्रकार सूर्य से प्रकाश और शक्ति प्राप्त करते है, वैसे ही दूर रहते हुए भी पूज्य महात्माजी से स्नेह, सहानुभूति तथा बल प्राप्त करने की आशा मैं रखती थी। इस प्रकार दो तरह की चिन्ताओ मे मन व्यग्र हो गया था। और भविष्य अन्धकारमय लगता था।

ऐसी स्थिति मे रात को यह स्वप्न आया —

मैंने देखा कि एक विशाल मैदान मे मैं बैठी हूँ। मैदान इतना विस्तीर्ण था कि दूर गोल घूमता हुआ आकाश क्षितिज के पास उससे मिलता हुआ दिखाई

---

१. सासवड़ महाराष्ट्र मे एक स्थान है जहां आश्रम है।

देता था। पेड़, मकान, रास्ता कुछ भी नही दीखता था। मनुष्य भी नही थे। सर्वत्र हरी घास उगी हुई थी और मैदान मे मध्यबिन्दु के रूप मे एक कुर्सी पर मैं बैठी हुई थी। थी तो अकेली ही, लेकिन ऐसी प्रतीति होती थी कि मेरे पीछे ही एक व्यक्ति खडा है। मुझे वह व्यक्ति दिखाई नही पडता था, दृष्टि से ओझल था, लेकिन वह पुरुष था, मेरा रक्षक कहो या तारनहार कहो, लेकिन वह साथ देनेवाला था, इस बारे मे मुझे शका नही थी। इस स्थिति मे मैं बैठी थी तभी अचानक सामने से चार-पाँच सुन्दर बालक, सुन्दर पोशाक पहने हुए, हाथ मे फूलो के गुच्छे लिए दौडते आये और पास आकर उन्होने वे गुच्छे मुझे दे दिये। मै उनके साथ बाते करने लगी, इतने मे वैसे ही दूसरे बच्चे दौडते हुए आये और उन्होने भी मुझे गुच्छे दिये। इसी तरह बालको के झुण्ड वहा आते गये और सभी मुझे गुच्छे देने लगे। आखिर मे बालक ठहर गये और चारो दिशाओ से और ऊपर आसमान से पुष्पगुच्छोकी वृष्टि मेरे ऊपरहोने लगी, इससे मैढँक गई और चौककर नीदमे जाग गई।

जागने के बाद स्वप्न का विचार आया। मैंने जाना कि स्वप्न मे जो पुरुष मेरे पीछे अदृश्य रूप मे खडा था वे पूज्य महात्मा जी ही थे। उनके आशीर्वाद मेरे साथ हमेशा से है, इसलिए उनका असर मेरे सेवाकार्य मे दृश्य फल दिये बिना नही रहेगा, —ऐसा विश्वास मन मे दृढ हो गया।

यह स्वप्न मैंने पू० महात्मा जी को नही बताया, क्योकि एक पत्र मे उन्होने मुझे लिखा था कि सपनो को महत्व नही देना चाहिए। यहा मुझे एक सुख-सवाद याद आता है।

दाँडीकूच से पहिले पू० महात्मा जी का निवास सत्याग्रह-आश्रम मे था, तब की यह घटना है। शायद लाहौर काग्रेस से पहिले की हो। शाम की प्रार्थना के बाद पूज्य महात्मा जी हृदय-कुज के आँगन मे अपनी खाट पर बैठे थे। सामने बेंच पर दो अमेरिकन मित्र बैठे थे। उनमे से एक अमेरिका के लेखक श्री शेरवुड एड्डी थे, ऐसा स्मरण है। मै पास खडी ध्यानपूर्वक उनकी बाते सुन रही थी। ऐसी मुलाकातो से मुझे बहुत सीखने को मिलता था।

वे लेखक पू० महात्मा जी से पूछ रहे थे, जब आपके सामने कोई कठिन समस्या खडी होती है, तब आप उसे किस तरह हल करते है? अर्थात् जब आपको मार्ग स्पष्ट नही दीखता तब आप क्या करते है?

पू० महात्मा जी बोले—"मै घटो तक उस पर विचार और मनन करता हूँ, और जब मुझे प्रकाश नहीं दीखता तब मै कहता हूँ कि, अभी इस बात को छोडो। और एक रात नींद निकाल लेता हूं। लेकिन सुबह मैं उठता हूँ तो अचानक हल सामने आकर उपस्थित हो जाता है।"

लेखक ने पूछा:—"आपके कहने का क्या यह अर्थ है कि चमत्कार की तरह स्वप्न मे आपको हल मिल जाता है?"

पूज्य महात्मा जी बोले:—"नहीं, चमत्कार नहीं। यह तो गणितज्ञ के जैसी बात है। वह घण्टों तक अपनी समस्या पर विचार करता रहता है। और खूब एकाग्रता और प्रयत्न के बाद एकाएक उसे उसका हल मिल जाता है और वह बोल उठता है: अहा, हल मिल गया। मेरे बारे मे ठीक ऐसा ही है।"

श्री विनोबा जी से मैंने एक बार स्वप्नो के बारे मे पूछा था। मेरी स्मरण-शक्ति ठीक काम करती हो तो मुझे स्वप्न आते ही नही, ऐसा उत्तर उन्होने दिया था। अत. उनके लिए स्वप्न की बात विचार करने योग्य थी ही नही।

इस तरह इस युग के दो महान आध्यात्मिक शक्ति वाले पुरुषो के मत मैंने जान लिये। लेकिन प्रत्येक व्यक्ति अपने अनुभव से ही चलता है। मुझे स्वप्नो के सूचक और सच होने की प्रतीति कई बार हुई है। मेरे पिता जी कारवार मे अचानक नीद मे गुजर गये। उसी रात को लगभग उसी समय मुझे भयसूचक स्वप्न आया था। तब मैं सफर मे थी। दो दिन बाद पूना पहुँची और तार मिला। और मुझे राजा दशरथ की मृत्यु के बारे मे भरत को आये रामायण के स्वप्न का वर्णन याद आ गया।

दिसम्बर पूरा हुआ। जनवरी का महीना आया। चौदहवी तारीख की सक्राति थी। हमेशा की तरह मैंने पूज्य महात्मा जी को पत्र के साथ तिल-गुड भेजा। उसके बाद अखबारो मे पढा कि उन्होंने उपवास शुरू किया है। हृदय को एक आघात लगा। मन मे डर पैदा हुआ कि इस सकट के समय मे अहिंसा-मूर्ति की आहुति तो नही पडेगी। लेकिन मैंने देखा कि भारत का हृदय अविचल है, बलवान है। ऊपर दिखाई देने वाली हिंसा के पर्दे के नीचे पूज्य महात्मा जी के प्रति प्रेम और निष्ठा की तहे है। उनकी टेक को पूरा करके जनता ने आत्मा के प्रति द्रोह करने से इन्कार कर दिया है।

वातावरण कुछ पलटता-सा लगा। उपवास मे अपमृत्यु टल गई। फिर बम-सकट से भी पूज्य महात्मा जी बच गये। मुझे लगा कि भगवान भक्तो के रक्षक हैं। हम व्यर्थ ही डरते थे। जितना महान पुरुष उतनी ही महान उसकी कसौटी। उसके लिए सकट भी महान ही आयगे। महान सकटो मे से पार हुए बिना महापुरुष की महानता भी कैसे सिद्ध हो सकती है? भगवान अपनी लीला दिखाते हैं। महात्मा जी की महानता तो शिखर पर पहुँच गई है, ऐसा कुछ मन को लगा और हृदय अत्यन्त प्रसन्न हो गया।

उस समय श्री शकरराव जी काग्रेस के महामन्त्री थे। वे काग्रेस सस्था मे आई हुई शिथिलता को दूर करके उसको मजबूत बनाने का प्रयास कर रहे थे। वे सर्वोदय की बुनियाद पर देश मे आर्थिक नियोजन का विचार रखते थे। इस-लिए रचनात्मक कार्यकर्त्ताओ का एक सघ सगठित करने की आवश्यकता उन्हे महसूस होती थी। पूज्य महात्मा जी ने गाधी-सेवा-सघ को पुनरुज्जीवित करना अस्वीकार कर दिया था, फिर भी रचनात्मक कार्यकर्त्ताओ को मार्गदर्शन देने की तैयारी बताई थी। स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद उद्यम और पुरुषार्थ करने का समय आ गया था। देश से दारिद्रय के रोग की जड काटने के लिए रचनात्मक शक्ति की बुनियाद पर भगीरथ प्रयास करने की जरूरत थी। इसलिए शकररावजी के प्रयत्न से ८, ९ और १० फरवरी को सेवाग्राम मे रचनात्मक कार्यकर्त्ताओ का सम्मेलन करने का निश्चय हुआ था। पूज्य महात्मा जी फरवरी के शुरू मे नई दिल्ली से सेवाग्राम जानेवाले थे।

उस सम्मेलन मे शरीक होने की मेरी भी इच्छा थी। इसलिए २६ जन-वरी को मैंने सासवड छोडा। दूसरे दिन कुलाबा जिले के पेण गाव मे महाराष्ट्र काग्रेस स्त्री-सगठन समिति की कार्यसमिति की बैठक थी। वह दो दिन मे पूरी हुई। फिर तीसरे दिन दूर के एक गाव मे कस्तूरबा ट्रस्ट के ग्रामसेवा केन्द्र को देखने गई। और ३० जनवरी को दोपहर १२ बजे मैं बम्बई पहुँची। अपनी मौसी के यहा ठहरी थी।

शाम तक सारे काम पूरे करके मैं साढे पाच बजे फलाहार करने बैठी थी। बम्बई से वर्धा जाना चाहती थी। इसी के विचार मन मे घुल रहे थे। एकाएक किसी ने बाहर का दरवाजा धडाम से खोला। मौसी देखने गई तो उनका छोटा लडका रेडियो सुनकर हाँफता हुआ दौडकर आया और चीख उठा—"मा, गाधी जी गये ।"

मेरी छाती मे दो बार दर्द उठा। मुझे ठीक याद नही कि मैं कब उठी और मुँह धोकर बाहर आरामकुर्सी पर बैठ गई। दिमाग बिल्कुल जड हो गया था। मैं जीवित हूँ या मृत, इसकी भी कल्पना नही थी।

मौसी पास आकर सिर पर हाथ रखकर मुझे समझाने लगी, "शान्त रह बेटी, वह कमबख्त गलत खबर लाया होगा। मैं मालूम करती हूँ।" मालूम करने के बाद तो तीन गोली लगने के ही समाचार मिले।

आँख से आंसू भी नही बह रहे थे, मैं स्थिर बैठी थी। बहुत देर बाद भान हुआ। किसन आकर मुझसे लिपट कर रोने लगी। उसके बाद मुझे भी रोना आया, ऐसा याद है। सारी रात वह मेरे पास ही सोई। सुबह जल्दी उठकर

मैंने सिर धोकर स्नान किया और चौपाटी पर सार्वजनिक प्रार्थना के लिए जाने की तैयारी की। इतने मे फोन आया। सुशीला सुबह सफर करके बम्बई पहुँची थी। एक स्नेही के मार्फत उसने मुझे हवाई जहाज द्वारा दिल्ली चलने का सन्देश दिया था। वह स्वय हवाई मार्ग से रवाना हुई, फिर किसन और मैं दोनो विमान से दिल्ली पहुँची। उस सारे समय की मन स्थिति का वर्णन करना कठिन है। तब तक अखबार हाथ मे आया और सारे समाचार विस्तार से जानने को मिले। एक तो उस भीषण मृत्यु का आघात। हमारा और देश का जीवन अब शून्य हो गया, ऐसी भावना से पैदा हुई घोर निराशा। और फिर हत्यारा महाराष्ट्री कुलागार निकला। (उसका नाम भी उस समय तक मैने नही सुना था, यद्यपि वह पूना का रहनेवाला था और कांग्रेस-विरोधी के रूप मे प्रख्यात था।) महाराष्ट्र मे बुद्धिमान, नेता कहे जानेवाले वर्ग मे से कुछ व्यक्तियो ने वर्षों तक पूज्य महात्मा जी के विरुद्ध जो व्यक्तिगत जहरीला प्रचार किया था उसी का यह पका फल था। उस समय हवाई जहाज मे हमारे साथ श्री खेरसाहब, उनकी पत्नी और लीलावती बहिन आसर थी। लीलावती बहिन क्रोधावेश मे बोली—'मुझे लगा कि हत्यारा कोई निर्वासित (शरणार्थी) होगा। लेकिन बाद मे मालूम हुआ कि वह तो मुआ घाटिया था' इन शब्दो ने मुझे सावधान कर दिया। ईसा की मृत्यु को लेकर यहूदियो ईसाइयो के बीच सदियो तक बैर बना रहा था। अब ऐसी ही बात क्या भारत मे भी होगी? गुजराती-महाराष्ट्रियो के बीच क्या स्थायी अहि-नकुल का बैर पैदा होगा? ऐसे दु सह विचार मन मे आने लगे। मन जड और बधिर हो गया।

जुलूस मे शामिल होकर मैं अश्रुमोचन करती हुई सुशीला के साथ चलने लगी। वह खूब शान्त थी और मुझसे विवेक की बातें करने लगी। राजघाट पर श्रीदेह लाई गई तब श्री मणिबहन पटेल की मदद से मै उस जर्जर किन्तु पावन देह को देख सकी। मैंने मस्तक पर हाथ रखा। बरफ जैसा ठडा लगा। मेरे शरीर मे कँपकँपी छूटी। जब चिता प्रकट हुई और शरीर भस्म होने लगा उस समय के आक्रन्द का वर्णन कैसे करू? जो शरीर हम सबको प्रियदर्शी और प्रिय लगता था, जिसकी सेवा को हम सब साक्षात् भगवान की ही सेवा मानते थे, वह शरीर आखिर भस्मान्तम् हुआ। । कैसी विचित्र लीला है!

जिसको तूने जग मे जिलाया वो ही तुझे जलाये।

किसन और मैं श्री मावलकर जी के यहा गई। शकररावजी को मालूम हुआ तो वे आकर हमे अपने घर ले गये। उस दिन तो किसी को खाना-पीना सूझा ही नही। दूसरे दिन अखबार मे खबर आई। महाराष्ट्र मे, खास तौर पर पूना-

कोल्हापुर-सतारा मे काग्रेस-विरोधी तथा गाधी-विरोधी लोगो पर बहुसख्यक समाज टूट पडा है। उनके मकान जलाये जा रहे है। अत्याचार हो रहे हैं। आदि आदि।

हृदय मे क्रोध और सताप भरा था, आवेश मे मैं बोल उठी—"मुझे उन लोगो पर जरा भी दया नही आती।"

शकररावजी शान्ति से मुझे समझाने लगे—"हमे उदार होना चाहिए, प्रेमाबाई, इस तरह नही बोलना चाहिए।"

तीन दिन बाद किसन के साथ मैं दिल्ली से रवाना हुई। अन्त मे वैराग्य की आग जलने लगी। मैंने अपने बाहरी वेश मे परिवर्तन कर डाला। देखनेवालो को आघात लगा। लेकिन मुझसे कुछ कहने की किसी की हिम्मत नही हुई। एक दो बहिनो ने सहज प्रयत्न किया, लेकिन मैंने उन्हे रोक दिया। पूना से आचार्य भागवत मेरे साथ हुए। मासवड पहुँचने के बाद मेरी वेदना और क्लेश बढ गये और अब परमात्मा के साथ झगडा शुरू हुआ।

मैं भगवान से कहने लगी—"तू दयामय नही है। कोई क्रूर राक्षस-जैसा है। अपने भक्तो की भी तू रक्षा नही करता। तू वचन का झूठा है। 'न मे भक्त प्रणश्यति'—इस आश्वासन को तू ने झूठा सिद्ध किया है। सुकरात, ईसा और महात्मा जी, तेरे इन भक्तो को अपना बलिदान देना पडा। अहिंसा का पूर्ण पालन करनेवाले व्रतियो को भी तू भीषण मृत्यु देता है। दुनिया मे भले का नतीजा भला, बुरे का बुरा—यह नीति अब तेरे पास नही रही। इसलिए पूज्य महात्मा जी का ऐसा भयानक अन्त देखकर लोगो की श्रद्धा टूट गई और कानून को हाथ मे लेकर वे तोडफोड और मारकाट करने लगे, इसमे आश्चर्य क्या ! अन्तिम उपवास के दिनो मे पूज्य महात्मा जी का असाधारण धर्मतेज प्रकट हुआ, तब मुझे श्रद्धा हुई थी कि इस पुण्यभूमि मे सन्त की हत्या नही होगी। लेकिन तूने तो मेरी आँखें खोलने मे जरा भी देर नही लगाई।" इस तरह जैसे-जैसे झगडा चलता गया वैसे-वैसे मन मे निराशा फैलती गई। आन्तरिक श्रद्धा का सारा बल तो भगवान मे था। उसके ऊपर रही श्रद्धा टूट जाय, तब तो जीवन का दिवाला ही निकलेगा न।

फिर भी प्रार्थना और सन्तवाणी का परिशीलन मैंने नही छोडा। मन तो रातदिन सतप्त रहता था। अन्तर मे कही बडी रिक्तता आ गई थी।

१२ फरवरी को राष्ट्रीय पैमाने पर अशौच की निवृत्ति हुई। उस दिन मैंने पूरा उपवास किया था। तेरहवी को शुक्रवार था। उस दिन एक बार खाया और हर सप्ताह ऐसा करने का सकल्प किया।

शुक्रवार को कुछ मानसिक ग्लानि बढ गई थी। इस दुनिया मे अब अपना कोई नही है, भगवान भी नही हैं, ऐसी कुछ विचित्र शून्यावस्था चित्त मे पैदा हो गई थी। पूज्य महात्मा जी के अवसान से पहिले मर जाने की इच्छा पूरी नहीं हुई। मैं जीवित हूँ। निराश और निरुत्साहित हूँ। अब जीवन कैसे बिताऊ ? सेवाकार्य मे मेरा पथदर्शक कौन होगा ? हृदय का दुख और भूलो का भार किसके सामने हलका करूगी ? ऐसे विचारो से मन उद्विग्न हो गया था।

हमारे मकान की दूसरी मजिल पर एक छत थी। बरसात नही होती तब आठ महीने से ज्यादा समय मे वही सोती थी। मुझे कमरे मे सोना कभी अच्छा नही लगता था, खुले मे सोना ही अच्छा लगता था। आज भी यही स्थिति है।

तेरहवी फरवरी को माघ शुक्ल तृतीया थी। रात को साढे ग्यारह बजे मैं छत पर गई। आचार्य भागवत को क्षय का ससर्ग हो गया था, इसलिए वे पहिली मजिल पर कमरे मे ही सोते थे। आश्रम-माता वृद्ध माई और एक छात्रा दोनों नीचे के एक कमरे मे सोती थी। मकान गाव के एक किनारे होने से चारो ओर एकान्त था। फिर आधी रात हो चली थी। चारो ओर शान्ति विराज रही थी। मैं थकी हुई थी। क्योकि मन मे वेदना होने के बावजूद काम तो बराबर चलता ही था। मन को खाली रखने से उद्वेग बढ जाता था, इसलिए काम मे लगे रहना ही लाभप्रद मालूम होता था।

छत पर बिस्तर बिछाकर मैं लेटी। चारो तरफ अन्धकार था। आकाश मे नक्षत्र चमक रहे थे। यामिनी नि शब्द थी। पूज्य महात्मा जी का चिन्तन करती हुई मैं पडी थी। फिर सो गई। नीद मे कभी स्वप्न आया, उससे जाग उठी। उसके बाद कुछ देर तक नीद नही आई। फिर पावन स्मरण, फिर अश्रुमोचन, इस तरह चलता रहा। अचानक जोर से हवा चलने लगी। मुझे ठड-सी मालूम हुई। ओढने का खेस ओढकर मैं पडी रही। इतने मे मेरे सिर पर अगुलियो का स्पर्श हुआ। धीरे-धीले बालो मे अगुलिया घूमने लगी। मेरे तकिये के पास कोई बैठा है, ऐसा मुझे लगा। और मन मे डर पैदा हुआ। मैंने आँखें मीच ली। कुछ सेकण्ड बीते होंगे। स्पर्श लुप्त हो गया। तो भी मैं वैसे ही पडी रही। एकाध मिनट बाद हिम्मत करके मैंने सिर ऊचा करके देखा। कोई नही था। सर्वत्र शान्ति थी और आकाश के तारे पृथिवी पर प्रकाश-किरणें फेंक रहे थे।

मेरे तकिये के पास घडी थी। देखा पौने तीन बजे थे।

बाद मे तो मैं फिर सो गई। सुबह आचार्य भागवत से मिली तब रात का अनुभव मैंने कह सुनाया। वह कहने लगे—"आपने, स्पर्श हुआ तभी तुरन्त सिर ऊचा करके देखा क्यो नही ? डर क्यो लगा? डर नहीं लगना चाहिए था।"

मैंने कहा—"लेकिन पता नही क्यो देखने की इच्छा होते हुए भी मेरी हिम्मत नही हुई।"

हृदय की शान्ति भग हुई। लेकिन श्रद्धा भग हो जाती तो जीवन मे रहा मागल्य भी चला जाता। फिर भी लगभग एक वर्ष तक भगवान के साथ मेरा झगडा चलता ही रहा। पूज्य महात्मा जी की मृत्यु का गूढ रहस्य मैं समझ नही पाती थी। अनेक लोगो ने अनेक प्रकार से मीमासा की। मार्च मे सेवाग्राम मे गाधी-अनुयायियो की एक वडी परिषद् हुई। वहा लम्बा-चौडा वार्तालाप हुआ। उसमे से सर्वोदय समाज का जन्म हुआ। उन दिनो मे मैं श्री विनोबा जी के काफी सम्पर्क मे आई। मेरी सान्त्वना के लिए उन्होने खास समय दिया। उनके साथ रहने मे अच्छा तो लगता था, लेकिन अन्तिम समाधान तो अन्तर मे से प्राप्त करना चाहिए, ऐसा लगा।

यह समाधान या शान्ति प्राप्त करने का मार्ग तो सूझता नही था। पूज्य महात्मा जी गये, लेकिन उनका मुझे सौंपा हुआ काम (कस्तूरवा ट्रस्ट का) तो मेरे पास ही था। उसमे तथा दूसरे कामो मे मन लगाने का मैंने बहुत प्रयत्न किया। गाधी-स्मारक-निधि की स्थापना होते ही महाराष्ट्र मे एक कामचलाऊ शाखा-समिति स्थापित हुई। उसके चार मन्त्री नियुक्त हुए। उनमे से एक मैं भी थी। कोप इकट्ठा करने के लिए तीनो मन्त्रियो ने अपने-अपने जिले चुन लिये। तीनो द्वारा त्यक्त दो जिले मेरे हिस्से मे आये। वे थे रत्नागिरी और कुलावा। कगाली और यात्रा के साधनो की असुविधा के लिए ये दोनो जिले महाराष्ट्र मे प्रसिद्ध है। लेकिन मुझे यह बात अच्छी लगी। क्योकि दोनो मे, विशेषत रत्नागिरि मे, उच्चकोटि का सृष्टि-सौन्दर्य है। इसलिए यह जिला मुझे बहुत पसन्द है। फिर तपस्वी श्री अप्पासाहव पटवर्धन इस जिले के प्राण कहे जा सकते हैं। वरसात के मौसम मे मैं रत्नागिरि जिले मे घूमी। छोटे-बडे वृक्षो से ढके हुए सह्याद्रि के पहाड, उनमे से कल-कल-नाद करते हुए नीचे उतरते हुए झरने, दूर अनन्त तक जाते मालूम होने वाले लालमिट्टी से रजित रास्ते, सहस्रधाराओ मे वरसती वर्षा, चारो ओर विराजती शान्ति और आसपास की सुन्दर प्रकृति के साथ एकरूप होने से प्राप्त होनेवाला अद्वैतानन्द। यह रत्नागिरि की ही विशेषता है।

पूज्य महात्मा जी के स्मारक के लिए मैं कोप इकट्ठा करने गयी थी। उनका पावन स्मरण पग-पग पर होता था। चौमासे मे सृष्टि भले ही रमणीय लगती हो, लेकिन ऐसा प्रतीत हुआ कि एकान्त वनश्री और मेघ-गर्जना मन के वियोग-दु ख को भी तीव्रतर बना देती हैं। पूज्य महात्मा जी को मीरावाई के दो भजन बहुत प्रिय थे। एक 'म्हाने चाकर राखोजी' और दूसरा 'तोहरे कारन सब सुख छोडिया'

शुक्रवार को कुछ मानसिक ग्लानि बढ गई थी। इस दुनिया मे अब अपना कोई नही है, भगवान भी नही हैं, ऐसी कुछ विचित्र शून्यावस्था चित्त मे पैदा हो गई थी। पूज्य महात्मा जी के अवसान से पहिले मर जाने की इच्छा पूरी नही हुई। मैं जीवित हूँ। निराश और निरुत्साहित हूँ। अब जीवन कैसे बिताऊ? सेवाकार्य मे मेरा पथदर्शक कौन होगा? हृदय का दुख और भूलो का भार किसके सामने हलका करूगी? ऐसे विचारो से मन उद्विग्न हो गया था।

हमारे मकान की दूसरी मजिल पर एक छत थी। बरसात नही होती तब आठ महीने से ज्यादा समय मे वही सोती थी। मुझे कमरे मे सोना कभी अच्छा नही लगता था, खुले मे सोना ही अच्छा लगता था। आज भी यही स्थिति है।

तेरहवी फरवरी को माघ शुक्ल तृतीया थी। रात को साढे ग्यारह बजे मैं छत पर गई। आचार्य भागवत को क्षय का ससर्ग हो गया था, इसलिए वे पहिली मजिल पर कमरे मे ही सोते थे। आश्रम-माता वृद्ध माई और एक छात्रा दोनो नीचे के एक कमरे मे सोती थी। मकान गाव के एक किनारे होने से चारो ओर एकान्त था। फिर आधी रात हो चली थी। चारो ओर शान्ति विराज रही थी। मैं थकी हुई थी। क्योकि मन मे वेदना होने के बावजूद काम तो बराबर चलता ही था। मन को खाली रखने से उद्वेग बढ जाता था, इसलिए काम मे लगे रहना ही लाभप्रद मालूम होता था।

छत पर बिस्तर बिछाकर मैं लेटी। चारो तरफ अन्धकार था। आकाश मे नक्षत्र चमक रहे थे। यामिनी नि शब्द थी। पूज्य महात्मा जी का चिन्तन करती हुई मैं पडी थी। फिर सो गई। नीद मे कभी स्वप्न आया, उससे जाग उठी। उसके बाद कुछ देर तक नीद नही आई। फिर पावन स्मरण, फिर अश्रुमोचन, इस तरह चलता रहा। अचानक जोर से हवा चलने लगी। मुझे ठड-सी मालूम हुई। ओढने का खेस ओढकर मैं पडी रही। इतने मे मेरे सिर पर अगुलियो का स्पर्श हुआ। धीरे-धीले बालो मे अगुलिया घूमने लगी। मेरे तकिये के पास कोई बैठा है, ऐसा मुझे लगा। और मन मे डर पैदा हुआ। मैंने आँखें मीच ली। कुछ सेकण्ड बीते होगे। स्पर्श लुप्त हो गया। तो भी मैं वैसे ही पडी रही। एकाध मिनट बाद हिम्मत करके मैंने सिर ऊचा करके देखा। कोई नही था। सर्वत्र शान्ति थी और आकाश के तारे पृथिवी पर प्रकाश-किरणें फेंक रहे थे।

मेरे तकिये के पास घडी थी। देखा पौने तीन बजे थे।

बाद मे तो मैं फिर सो गई। सुबह आचार्य भागवत से मिली तब रात का अनुभव मैंने कह सुनाया। वह कहने लगे—"आपने, स्पर्श हुआ तभी तुरन्त सिर ऊचा करके देखा क्यो नही? डर क्यो लगा? डर नही लगना चाहिए था।"

मैंने कहा—"लेकिन पता नही क्यो देखने की इच्छा होते हुए भी मेरी हिम्मत नही हुई।"

हृदय की शान्ति भग हुई। लेकिन श्रद्धा भग हो जाती तो जीवन मे रहा मागल्य भी चला जाता। फिर भी लगभग एक वर्ष तक भगवान के साथ मेरा झगडा चलता ही रहा। पूज्य महात्मा जी की मृत्यु का गूढ रहस्य मैं समझ नही पाती थी। अनेक लोगो ने अनेक प्रकार से मीमासा की। मार्च मे सेवाग्राम मे गाधी-अनुयायियो की एक वडी परिषद् हुई। वहा लम्बा-चौडा वार्तालाप हुआ। उसमे से सर्वोदय समाज का जन्म हुआ। उन दिनो मे मैं श्री विनोवा जी के काफी सम्पर्क मे आई। मेरी सान्त्वना के लिए उन्होने खास समय दिया। उनके साथ रहने मे अच्छा तो लगता था, लेकिन अन्तिम समाधान तो अन्तर मे से प्राप्त करना चाहिए, ऐसा लगा।

यह समाधान या शान्ति प्राप्त करने का मार्ग तो सूझता नही था। पूज्य महात्मा जी गये, लेकिन उनका मुझे सौपा हुआ काम (कस्तूरवा ट्रस्ट का) तो मेरे पास ही था। उसमे तथा दूसरे कामो मे मन लगाने का मैंने बहुत प्रयत्न किया। गाधी-स्मारक-निधि की स्थापना होते ही महाराष्ट्र मे एक कामचलाऊ शाखा-समिति स्थापित हुई। उसके चार मन्त्री नियुक्त हुए। उनमे से एक मैं भी थी। कोप इकट्ठा करने के लिए तीनो मन्त्रियो ने अपने-अपने जिले चुन लिये। तीनो द्वारा त्यक्त दो जिले मेरे हिस्से मे आये। वे थे रत्नागिरी और कुलावा। कगाली और यात्रा के साधनो की असुविधा के लिए ये दोनो जिले महाराष्ट्र मे प्रसिद्ध हैं। लेकिन मुझे यह बात अच्छी लगी। क्योकि दोनो मे, विशेषत रत्नागिरि मे, उच्चकोटि का सृष्टि-सौन्दर्य है। इसलिए यह जिला मुझे बहुत पसन्द है। फिर तपस्वी श्री अप्पासाहब पटवर्धन इस जिले के प्राण कहे जा सकते हैं। बरसात के मौसम मे मैं रत्नागिरि जिले मे घूमी। छोटे-बडे वृक्षो से ढके हुए सह्याद्रि के पहाड, उनमे से कल-कल-नाद करते हुए नीचे उतरते हुए झरने, दूर अनन्त तक जाते मालूम होने वाले लालमिट्टी से रजित रास्ते, सहस्रधाराओ मे बरसती वर्षा, चारो ओर विराजती शान्ति और आसपास की सुन्दर प्रकृति के साथ एकरूप होने से प्राप्त होनेवाला अद्वैतानन्द। यह रत्नागिरि की ही विशेपता है।

पूज्य महात्मा जी के स्मारक के लिए मैं कोष इकट्ठा करने गयी थी। उनका पावन स्मरण पग-पग पर होता था। चौमासे मे सृष्टि भले ही रमणीय लगती हो, लेकिन ऐसा प्रतीत हुआ कि एकान्त वनश्री और मेघ-गर्जना मन के वियोग-दु ख को भी तीव्रतर बना देती हैं। पूज्य महात्मा जी को मीरावाई के दो भजन बहुत प्रिय थे। एक 'म्हाने चाकर राखोजी' और दूसरा 'तोहरे कारन सब सुख छोडिया'

जब मैं उनके पास थोडे समय रहने जाती, तब वे हमेशा मुझे प्रार्थना मे ये गीत गाने को कहते थे। रत्नागिरि के प्रवास मे मुझे दूसरा भजन बराबर याद आता था—

तोहरे कारन सब सुख छोड़िया अब क्यों तरसाओ ? प्रभु जी ।।
अब छोड़िया नहिं बने प्रभुजी, तव चरण के पास बुलाओ ।।१।।
विरहव्यथा लागी उर अन्दर, सो तुम आय बुझाओ ।।२।।
मीरा दासी जनम-जनम की, तव चित्तसु चित्त लगाओ ।।३।।

रत्नागिरि के बाद कुलाबा की बारी आई। तब दीवाली का त्यौहार पास आ गया था। पूज्य महात्मा जी के अवसान के बाद राष्ट्र मे शोक व्याप्त हो गया था, इसलिए उत्सव मामूली-सा मनाया गया था। फिर भी बच्चो के और ग्रामीणो के रसिक मन को दुःख भी क्षणजीवी ही लगता है। अच्छा हुआ कि यात्रा के मेरे अधिकाश दिन मुसलमानो की बस्तीवाले प्रदेश मे बीते। भाईदूज के दिन काम नही था। यात्रा करके मैं ठहरने के लिए हाड नाम के गाव मे पहुँची। रात के १० बजे थे। छत पर सोने गई। प्रार्थना और नाम-जप करके लेटी, लेकिन पडोस मे रेडियो और उत्सव की धूमधाम चालू थी, इसलिए थकी होने पर भी जल्दी नीद नही आई। नीद कब आई, यह पता नही चला।

नीद मे स्वप्न आया। विह्वल होकर मैं बैठी थी और पूज्य महात्मा जी का स्मरण कर रही थी। तभी अन्तर्नाद होते सुना —'मैं यही हूं, पास ही हूं।' चौक कर मैं देखने लगी तो पूज्य महात्मा जी सामने हँसते हुए खडे थे और मुझे आश्वासन दे रहे थे। खुशी मे मैं लोगो को आवाज देकर बुलाने लगी—'आओ यहा, दौडकर आओ। ये रहे महात्मा जी।' लोग दौडते आये, लेकिन पूछने लगे, —"कहा है ? कहा हैं ?" मै बताने लगी, लेकिन लोगो को वह दिखाई नही देते थे। केवल मैं ही उन्हे देख सकती थी। फिर तो मैं जोर से रोने लगी और महात्मा जी से कहने लगी—"आप मुझे छोड कर चले गये। ऐसा क्यो किया ? अब मै कैसे जीऊंगी ? मुझे तो सब ओर शून्य ही शून्य लगता है।" वह कहने लगे—"पगली, रोती क्यो है ? शोक मत कर ? मैं तो तेरे पास ही हूँ। कही नही गया। आँख खोलकर देख।" और भी कुछ कहा, लेकिन रुदन मे मैंने सुना नही। रुदन की तीव्रता इतनी बढ गई कि धक्का लगने से मैं जाग पडी। देखा तो चारो ओर अधेरा और शान्ति।

पूज्य महात्मा जी, अवसान के बाद पहिली बार ही मुझे स्वप्न मे दिखाई दिये थे। जीवित थे तब अनेक बार स्वप्न मे आते थे। लेकिन अवसान के बाद नौ महीनो तक उनका दर्शन नही हुआ। इस स्वप्न मे आश्वासन मिला, जिससे हृदय को कुछ शान्ति हुई। मन मे विचार आया कि मृत्यु को मित्र मानने की सीख वे हमे अनेक बार देते थे। राम का दर्शन न हो तो भी उसका काम करते रहना

चाहिए, उसी मे राम का ध्यान और दर्शन आ जाता है, ऐसा उनका मानना था। हमे भी इसी पाठ का अनुसरण करने का प्रयत्न करना चाहिए।

बाद मे तो मैं काम मे डूब गई। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद करने के लिए अनेक काम पडे थे। अपनी शक्ति के अनुसार मैं भी करने लगी। नवम्बर के आखिरी सप्ताह मे मैं वर्धा गई थी। वहा श्री रेहाना बहन तैयब जी मिली। उन श्रद्धालु बहिन का मानस भक्त का है। अपने स्वप्न की बात मैंने उनसे कही। वे खुश होकर कहने लगी कि यह एक सूचक स्वप्न है। बापू ने आपको सन्देश दिया है। उनका काम करके काम मे ही उन्हे देखने का प्रयत्न करिये। उसी मे आपको शान्ति मिलेगी। फिर उन्होने अपने एक स्वप्न का वर्णन किया, जिसमे उन्हे भी पूज्य कस्तूरबा के साथ पूज्य महात्मा जी के दर्शन हुए थे और उनका सन्देश मिला था।

महाराष्ट्र मे कस्तूरबा ट्रस्ट का काम बढता गया। शिविर चले और बाद मे ग्रामसेविका विद्यालय की स्थापना हुई। १९४९ के जून मे सासवड का आश्रम गाँव के मकान से हटकर गाँव से बाहर एक रमणीय स्थान पर चला गया। पर्वत, नदी, मन्दिर, झरने और प्रकृति-सौन्दर्य के लिए यह स्थान प्रसिद्ध था। इसके सिवा वह सिद्धस्थान माना जाता था। वहा आश्रम के पक्के मकान बने। बाग-बगीचे लगे। आश्रम वहाँ गया इसलिए कस्तूरबा ट्रस्ट का प्रान्तीय कार्यालय भी वहा गया। अत आश्रम के पास ही ग्रामसेविका-विद्यालय के लिए मकान बने। खेती-बाडी शुरू हुई, गोशाला खुली, बैलगाडी आई, कर्घा आया, अनेक प्रवृत्तिया चलने लगी। ट्रस्ट के अध्यक्ष स्व० श्री दादासाहब मावलकर हरसाल आकर आश्रम मे एक-दो दिन रह जाते थे। आश्रम मे एक हिरनी भी पाली गई थी। ग्रामसेवा केन्द्र बढ गये। स्त्री-सगठन-समिति का काम व्यापक होने लगा। काग्रेस का काम, फिर भूदान-यज्ञ-सम्बन्धी प्रवृत्तिया, साहित्य-सेवा और दूसरी अनेक प्रवृत्तिया —इन सब मे मैं डूब गई। पढने या चिन्तन करने की फुरसत ही नही मिलती थी। श्री शकरराव जी वहा बार-बार आते थे, इसलिए कार्यकर्त्ताओ की भीड लगी रहती और तरह-तरह की चर्चाए भी होती। बाद मे नेता, मन्त्री और सरकारी अधिकारी सभी आने लगे। मेरी यात्रा और भ्रमण भी चलता था। श्री मुरार जी देसाई हर साल एक बार आकर आश्रम मे रह जाते थे। मेरे सेवा-कार्य मे उन्होने अपनी मर्यादा मे रहकर बहुत मदद की। मुझे बिना खर्च किये लोकसभा मे भेजने के लिए वह तैयार हो गये थे, लेकिन मैंने मना कर दिया। फिर उनके आग्रह से मैंने दो-तीन सरकारी कमेटियो मे काम किया। ऐसे काम मेरी प्रवृत्ति के अनुकूल न होने के कारण आगे ऐसा न करने की मैंने उनसे प्रार्थना की और वे मान गये। विदेश जाने के मौके भी मैंने टाल दिये। सस्या अन्न-वस्त्र

के बारे मे स्वावलम्बी होनी चाहिए, यह आदर्श पूज्य महात्मा जी ने हमारे सामने रखा था। उस आदर्श तक पहुँचने का मैं महाप्रयत्न करती रही।

इस प्रकार महात्मा जी के अवसान के बाद सात वर्ष बीते। १८ नवम्बर, १९५४ को राष्ट्रपति श्री राजेन्द्रप्रसाद आश्रम मे पधारे। तब राज्य के बडे-बडे शासक, बहिने, सेवकगण और आमलोग हाजिर थे। राष्ट्रपति ने सब जगह घूमकर सन्तोष व्यक्त किया और कहा—"सचमुच यह जगल मे मगल हो गया है। यहा फिर से आने की मेरी इच्छा है।"

किसी भी सेवक या सेविका के लिए उसकी सेवा कृतार्थ हुई, ऐसा अनुभव करने का यह धन्य क्षण था। लेकिन ऐहिक वैभव से मेरा मन अपने को कृतार्थ मान ले ऐसी मेरी मन स्थिति या मनोरचना नही है।

मैं समाज के प्रति कृतज्ञ थी, क्योकि हजारो हाथो से वह मुझे सहायता देता था। सामाजिक सेवा-कार्य मे अनेक कठिनाइयाँ आती हैं। लेकिन मेरे कार्य मे कभी भी बडी कठिनाइया खडी हुई हो, ऐसा मुझे याद नही है, हमेशा अनुकूलता ही मिली है। सहयोग और स्नेह का अभाव भी मैंने कभी अनुभव नही किया। जो काम हाथ मे लिया उसमे लोगो की सहायता और पूज्य महात्मा जी के आशीर्वाद दोनो के फलस्वरूप मुझे सफलता ही मिली है।

लेकिन इतना वरदान मिलता गया, इस कारण उत्तरदायित्व का भार मन पर बढता गया। समाज के अनन्त हाथ हैं, जब कि मेरे दो ही हाथ हैं, इसका मुझे सतत् स्मरण रहा है। दिया, उससे अधिक लिया—यह वस्तुस्थिति मुझे नम्रता का पाठ सिखाती आई है। इसके सिवा, सेवा को मैंने कभी भी अपनी भौतिक उन्नति का साधन नही माना, मैं उसे चित्तशुद्धि का साधन मानती आई हूँ। सेवा से अन्त -करण का मैल धुलना चाहिए, योग सधना चाहिए, परमात्म-दर्शन का मार्ग सुलभ होना चाहिए ऐसी मेरी मान्यता थी। लेकिन मैंने देखा कि मेरी यह इच्छा सफल नही हुई। काम का क्षेत्र जैसे-जैसे बढता गया, वैसे-वैसे सन्ताप भी बढता गया। अपने काम से मुझे ही असन्तोष होने लगा। ऊपर से वैभव दिखाई देता था, लेकिन दीपक से दीपक प्रकट होता है उसी तरह सेवा के द्वारा सेवाभावी चरित्रवान सेविकाओ का सघ तैयार करने की मेरी अभिलाषा सफल नहीं हुई। बाहरी शिक्षा और चरित्र के सस्कार ये दो चीजे भिन्न हैं। सस्कार की दृष्टि से शिक्षा देने का काम सरल नही है, ऐसा अनुभव मुझे हुआ। अलबत्ता, इसमे मुझे अपनी ही कमी नजर आई। और अपने प्रति मेरा असन्तोष बढने लगा।

मैं आत्म-निरीक्षण करने लगी। मेरी कितनी प्रगति हुई है? अपने क्रोध को मैं जीत सकी हूँ या नही? मानव के मन मे षड् विकार तो रहते ही हैं। लेकिन

मुझे क्रोध के विकार को जीतने के लिए सतत प्रयत्न करना पडा है। दूसरे विकार साधारणत सुप्त अवस्था मे ही रहते है। कभी एकाध विकार जाग्रत हो जाय, तो सामान्य विवेक की वाणी ही उन्हे शान्त करने के लिए काफी होती है। लेकिन क्रोध को जीतना मुझे कठिन लगा है। वर्षों के प्रयत्न से मैने निग्रह-शक्ति थोडी मात्रा मे प्राप्त की है। लेकिन सेवाकार्य मे क्रोध-विकार ने बार-बार मुझे खूब सताया है।

मैने देखा कि आज के यत्रयुग का असर सेवा पर भी पडा है। आजकल सेवा किसी सस्था या सगठन के मार्फत ही होती है और सेवा को यत्र की गति मिल गई है। परिणामस्वरूप सेवा करनेवाला व्यक्ति जडयन्त्र जैसा बन जाता है। आत्मा के विकास के लिए उसमे अवकाश नही रहता। सेवाकार्य मे आवेश के आने से शक्ति नही आती। तलवार को तपाने से उसकी धार भोथरी हो जाती है।

इसके सिवा, मन को सबसे खराब लगनेवाला काम है सेवा के विवरण तैयार करके छपाना। सेवा का हिसाब करने बैठे तो उसकी कीमत पैसो मे आँकनी पडती है। लोगो से पैसे लेते हैं इसलिए पैसो का हिसाब तो देना ही पडता है। लेकिन सेवा का भी हिसाब देना पडे, यह बात मुझे पसन्द नही थी। मुझे लगता कि इसमे सेवा की पवित्रता भ्रष्ट होती है। ऐसी कार्य-पद्धति से मन मे अहकार बढता जाय, तो इसमे आश्चर्य क्या ?

मुझे मानसिक शान्ति भी नही थी। हृदय मे गहरा घाव हो चुका था। उसे व्यापक सेवाकार्य की पट्टी बाँधकर मैने ढँक दिया था। जीवन मे या सेवाकार्य मे होनेवाली भूलें, आचार-दोष, विचार-दोष, दु ख—सभी पाप जिसमे अर्पण करने से मन को मुक्ति और शान्ति मिलती थी, वह महातीर्थ तो दृष्टि मे ओझल हो गया था। अब मन को पावन करनेवाली और शान्ति देनेवाली कोई महाशक्ति मौजूद नही थी। इससे मेरी अकुलाहट बढने लगी। सात वर्ष मे जो सचय हुआ था, उसका भार मुझसे सहन नही हुआ। मुक्ति की अभिलाषा रहने लगी। समाज से दूर कही एकान्त मे भाग जाने की व्याकुलता मन मे बढने लगी।

मैने यह भी अनुभव किया कि सामाजिक या व्यक्तिगत स्नेह की मर्यादा होती है। दो या अनेक व्यक्ति मिलकर एक सामान्य ध्येय या आदर्श के लिए सह-प्रयत्न करते है और व्यक्तिगत जीवन मे अनेक अपेक्षाएँ भी रखते हैं। इसलिए सेवाक्षेत्र मे भी हिसाबी व्यवहार हो जाता है। बहुत बार यह अपेक्षा अहकार की पोषक होती है। इसलिए वह पूरी न हो तो क्लेश पैदा होता है। जगत् की इस मर्यादा को समझकर ही साधु-सन्तो ने लिखा होगा —

"जगत मे कोई नहीं अपना। मेरा श्रीराम प्यारा है॥

के बारे मे स्वावलम्बी होनी चाहिए, यह आदर्श पूज्य महात्मा जी ने हमारे सामने रखा था। उस आदर्श तक पहुँचने का मैं महाप्रयत्न करती रही।

इस प्रकार महात्मा जी के अवसान के बाद सात वर्ष बीते। १८ नवम्बर, १९५४ को राष्ट्रपति श्री राजेन्द्रप्रसाद आश्रम मे पधारे। तब राज्य के बडे-बडे शासक, बहिनें, सेवकगण और आमलोग हाजिर थे। राष्ट्रपति ने सब जगह घूमकर सन्तोष व्यक्त किया और कहा—"सचमुच यह जगल मे मगल हो गया है। यहा फिर से आने की मेरी इच्छा है।"

किसी भी सेवक या सेविका के लिए उसकी सेवा कृतार्थ हुई, ऐसा अनुभव करने का यह धन्य क्षण था। लेकिन ऐहिक वैभव से मेरा मन अपने को कृतार्थ मान ले ऐसी मेरी मन स्थिति या मनोरचना नही है।

मैं समाज के प्रति कृतज्ञ थी, क्योकि हजारो हाथो से वह मुझे सहायता देता था। सामाजिक सेवा-कार्य मे अनेक कठिनाइयाँ आती हैं। लेकिन मेरे कार्य मे कभी भी बडी कठिनाइया खडी हुई हो, ऐसा मुझे याद नही है, हमेशा अनुकूलता ही मिली है। सहयोग और स्नेह का अभाव भी मैंने कभी अनुभव नही किया। जो काम हाथ मे लिया उसमे लोगो की सहायता और पूज्य महात्मा जी के आशीर्वाद दोनो के फलस्वरूप मुझे सफलता ही मिली है।

लेकिन इतना वरदान मिलता गया, इस कारण उत्तरदायित्व का भार मन पर बढता गया। समाज के अनन्त हाथ हैं, जब कि मेरे दो ही हाथ हैं, इसका मुझे सतत् स्मरण रहा है। दिया, उससे अधिक लिया—यह वस्तुस्थिति मुझे नम्रता का पाठ सिखाती आई है। इसके सिवा, सेवा को मैंने कभी भी अपनी भौतिक उन्नति का साधन नही माना, मैं उसे चित्तशुद्धि का साधन मानती आई हूँ। सेवा से अन्त -करण का मैल धुलना चाहिए, योग सधना चाहिए, परमात्म-दर्शन का मार्ग सुलभ होना चाहिए. ऐसी मेरी मान्यता थी। लेकिन मैंने देखा कि मेरी यह इच्छा सफल नही हुई। काम का क्षेत्र जैसे-जैसे बढता गया, वैसे-वैसे सन्ताप भी बढता गया। अपने काम से मुझे ही असन्तोष होने लगा। ऊपर से वैभव दिखाई देता था, लेकिन दीपक से दीपक प्रकट होता है उसी तरह सेवा के द्वारा सेवाभावी चरित्रवान सेविकाओ का सघ तैयार करने की मेरी अभिलाषा सफल नही हुई। बाहरी शिक्षा और चरित्र के सस्कार ये दो चीजें भिन्न हैं। सस्कार की दृष्टि से शिक्षा देने का काम सरल नही है, ऐसा अनुभव मुझे हुआ। अलबत्ता, इसमे मुझे अपनी ही कमी नजर आई। और अपने प्रति मेरा असन्तोष बढने लगा।

मैं आत्म-निरीक्षण करने लगी। मेरी कितनी प्रगति हुई है? अपने क्रोध को मैं जीत मकी हूँ या नही? मानव के मन मे षड् विकार तो रहते ही है। लेकिन

मुझे क्रोध के विकार को जीतने के लिए सतत प्रयत्न करना पड़ा है। दूसरे विकार साधारणत सुप्त अवस्था मे ही रहते है। कभी एकाध विकार जाग्रत हो जाय, तो सामान्य विवेक की वाणी ही उन्हे शान्त करने के लिए काफी होती है। लेकिन क्रोध को जीतना मुझे कठिन लगा है। वर्षों के प्रयत्न से मैंने निग्रह-शक्ति थोड़ी मात्रा मे प्राप्त की है। लेकिन सेवाकार्य मे क्रोध-विकार ने बार-बार मुझे खूब सताया है।

मैंने देखा कि आज के यत्रयुग का असर सेवा पर भी पड़ा है। आजकल सेवा किसी सस्था या सगठन के मार्फत ही होती है और सेवा को यत्र की गति मिल गई है। परिणामस्वरूप सेवा करनेवाला व्यक्ति जडयन्त्र जैसा बन जाता है। आत्मा के विकास के लिए उसमे अवकाश नही रहता। सेवाकार्य मे आवेश के आने मे शक्ति नही आती। तलवार को तपाने से उसकी धार भोथरी हो जाती है।

इसके सिवा, मन को सबसे खराब लगनेवाला काम है सेवा के विवरण तैयार करके छपाना। सेवा का हिसाब करने बैठे तो उसकी कीमत पैसो मे आँकनी पड़ती है। लोगो से पैसे लेते है इसलिए पैसो का हिसाब तो देना ही पडता है। लेकिन सेवा का भी हिसाब देना पडे, यह बात मुझे पसन्द नही थी। मुझे लगता कि इससे सेवा की पवित्रता भ्रष्ट होती है। ऐसी कार्य-पद्धति से मन मे अहकार बढता जाय, तो इसमे आश्चर्य क्या ?

मुझे मानसिक शान्ति भी नही थी। हृदय मे गहरा घाव हो चुका था। उसे व्यापक सेवाकार्य की पट्टी बाँधकर मैंने ढँक दिया था। जीवन मे या सेवाकार्य मे होनेवाली भूलें, आचार-दोष, विचार-दोष, दु:ख—सभी पाप जिसमे अर्पण करने मे मन को मुक्ति और शान्ति मिलती थी, वह महातीर्थ तो दृष्टि मे ओझल हो गया था। अब मन को पावन करनेवाली और शान्ति देनेवाली कोई महाशक्ति मौजूद नही थी। इससे मेरी अकुलाहट बढने लगी। सात वर्ष मे जो सचय हुआ था, उसका भार मुझसे सहन नही हुआ। मुक्ति की अभिलाषा रहने लगी। समाज से दूर कही एकान्त मे भाग जाने की व्याकुलता मन मे बढने लगी।

मैंने यह भी अनुभव किया कि सामाजिक या व्यक्तिगत स्नेह की मर्यादा होती है। दो या अनेक व्यक्ति मिलकर एक सामान्य ध्येय या आदर्श के लिए सह-प्रयत्न करते हैं और व्यक्तिगत जीवन मे अनेक अपेक्षाएँ भी रखते हैं। इसलिए सेवाक्षेत्र मे भी हिसाबी व्यवहार हो जाता है। बहुत बार यह अपेक्षा अहकार की पोषक होती है। इसलिए वह पूरी न हो तो क्लेश पैदा होता है। जगत् की इस मर्यादा को समझकर ही साधु-सन्तो ने लिखा होगा —

"जगत मे कोई नहीं अपना। मेरा श्रीराम प्यारा है॥

के बारे मे स्वावलम्बी होनी चाहिए, यह आदर्श पूज्य महात्मा जी ने हमारे सामने रखा था। उस आदर्श तक पहुँचने का मैं महाप्रयत्न करती रही।

इस प्रकार महात्मा जी के अवसान के बाद सात वर्ष बीते। १८ नवम्बर, १९५४ को राष्ट्रपति श्री राजेन्द्रप्रसाद आश्रम मे पधारे। तब राज्य के बडे-बडे शासक, बहिनें, सेवकगण और आमलोग हाजिर थे। राष्ट्रपति ने सब जगह घूमकर सन्तोष व्यक्त किया और कहा—"सचमुच यह जगल मे मगल हो गया है। यहा फिर से आने की मेरी इच्छा है।"

किसी भी सेवक या सेविका के लिए उसकी सेवा कृतार्थ हुई, ऐसा अनुभव करने का यह धन्य क्षण था। लेकिन ऐहिक वैभव से मेरा मन अपने को कृतार्थ मान ले ऐसी मेरी मन स्थिति या मनोरचना नही है।

मैं समाज के प्रति कृतज्ञ थी, क्योकि हजारो हाथो से वह मुझे सहायता देता था। सामाजिक सेवा-कार्य मे अनेक कठिनाइयाँ आती हैं। लेकिन मेरे कार्य मे कभी भी बडी कठिनाइया खडी हुई हो, ऐसा मुझे याद नही है, हमेशा अनुकूलता ही मिली है। सहयोग और स्नेह का अभाव भी मैंने कभी अनुभव नही किया। जो काम हाथ मे लिया उसमे लोगो की सहायता और पूज्य महात्मा जी के आशीर्वाद दोनो के फलस्वरूप मुझे सफलता ही मिली है।

लेकिन इतना वरदान मिलता गया, इस कारण उत्तरदायित्व का भार मन पर बढता गया। समाज के अनन्त हाथ हैं, जब कि मेरे दो ही हाथ हैं, इसका मुझे सतत् स्मरण रहा है। दिया, उससे अधिक लिया—यह वस्तुस्थिति मुझे नम्रता का पाठ सिखाती आई है। इसके सिवा, सेवा को मैंने कभी भी अपनी भौतिक उन्नति का साधन नही माना, मैं उसे चित्तशुद्धि का साधन मानती आई हूँ। सेवा से अन्त-करण का मैल धुलना चाहिए, योग सधना चाहिए, परमात्म-दर्शन का मार्ग सुलभ होना चाहिए. ऐसी मेरी मान्यता थी। लेकिन मैंने देखा कि मेरी यह इच्छा सफल नही हुई। काम का क्षेत्र जैसे-जैसे बढता गया, वैसे-वैसे सन्ताप भी बढता गया। अपने काम से मुझे ही असन्तोष होने लगा। ऊपर से वैभव दिखाई देता था, लेकिन दीपक से दीपक प्रकट होता है उसी तरह सेवा के द्वारा सेवाभावी चरित्रवान सेविकाओ का सघ तैयार करने की मेरी अभिलाषा सफल नही हुई। बाहरी शिक्षा और चरित्र के सस्कार ये दो चीजे भिन्न हैं। सस्कार की दृष्टि से शिक्षा देने का काम सरल नही है, ऐसा अनुभव मुझे हुआ। अलबत्ता, इसमे मुझे अपनी ही कमी नजर आई। और अपने प्रति मेरा असन्तोष बढने लगा।

मैं आत्म-निरीक्षण करने लगी। मेरी कितनी प्रगति हुई है? अपने क्रोध को मैं जीत सकी हूँ या नही? मानव के मन मे षड् विकार तो रहते ही है। लेकिन

मुझे क्रोध के विकार को जीतने के लिए सतत प्रयत्न करना पडा है। दूसरे विकार साधारणत सुप्त अवस्था मे ही रहते है। कभी एकाध विकार जाग्रत हो जाय, तो सामान्य विवेक की वाणी ही उन्हे शान्त करने के लिए काफी होती है। लेकिन क्रोध को जीतना मुझे कठिन लगा है। वर्षो के प्रयत्न से मैंने निग्रह-शक्ति थोडी मात्रा मे प्राप्त की है। लेकिन सेवाकार्य मे क्रोध-विकार ने बार-बार मुझे खूब सताया है।

मैंने देखा कि आज के यत्रयुग का असर सेवा पर भी पडा है। आजकल सेवा किसी सस्था या सगठन के मार्फत ही होती है और सेवा को यत्र की गति मिल गई है। परिणामस्वरूप सेवा करनेवाला व्यक्ति जडयन्त्र जैसा बन जाता है। आत्मा के विकास के लिए उसमे अवकाश नही रहता। सेवाकार्य मे आवेग के आने से शक्ति नही आती। तलवार को तपाने से उसकी धार भोथरी हो जाती है।

इसके सिवा, मन को सबसे खराब लगनेवाला काम है सेवा के विवरण तैयार करके छपाना। सेवा का हिसाब करने बैठे तो उसकी कीमत पैसो मे आँकनी पडती है। लोगो से पैसे लेते है इसलिए पैसो का हिसाब तो देना ही पडता है। लेकिन सेवा का भी हिसाब देना पडे, यह बात मुझे पसन्द नही थी। मुझे लगता कि इससे सेवा की पवित्रता भ्रष्ट होती है। ऐसी कार्य-पद्धति से मन मे अहकार बढता जाय, तो इसमे आश्चर्य क्या?

मुझे मानसिक शान्ति भी नही थी। हृदय मे गहरा घाव हो चुका था। उसे व्यापक सेवाकार्य की पट्टी बाँधकर मैंने ढँक दिया था। जीवन मे या सेवाकार्य मे होनेवाली भूलें, आचार-दोष, विचार-दोष, दुख—सभी पाप जिसमे अर्पण करने से मन को मुक्ति और शान्ति मिलती थी, वह महातीर्थ तो दृष्टि से ओझल हो गया था। अब मन को पावन करनेवाली और शान्ति देनेवाली कोई महाशक्ति मौजूद नही थी। इससे मेरी अकुलाहट बढने लगी। सात वर्ष मे जो सचय हुआ था, उसका भार मुझसे सहन नही हुआ। मुक्ति की अभिलाषा रहने लगी। समाज से दूर कही एकान्त मे भाग जाने की व्याकुलता मन मे बढने लगी।

मैंने यह भी अनुभव किया कि सामाजिक या व्यक्तिगत स्नेह की मर्यादा होती है। दो या अनेक व्यक्ति मिलकर एक सामान्य ध्येय या आदर्श के लिए सह-प्रयत्न करते है और व्यक्तिगत जीवन मे अनेक अपेक्षाएँ भी रखते है। इसलिए सेवाक्षेत्र मे भी हिसाबी व्यवहार हो जाता है। बहुत बार यह अपेक्षा अहकार की पोषक होती है। इसलिए वह पूरी न हो तो क्लेश पैदा होता है। जगत् की इस मर्यादा को समझकर ही साधु-सन्तो ने लिखा होगा —

"जगत मे कोई नहीं अपना। मेरा श्रीराम प्यारा है॥

मैं पूना गई। मेरे साथ मेरे एक वृद्ध स्नेही श्री हरिभाई मोहनी थे। श्री हरिभाई नागपुर के बहुत पुराने कांग्रेसी कार्यकर्त्ता और पूज्य महात्मा जी के पुजारी हैं। वर्षों से मुझे जानते और मुझपर स्नेह रखते थे। मेरे भावी जीवन के बारे मे उन्हे चिन्ता थी। इसलिए वह मेरे साथ गये।

श्री गुलवणी से मुलाकात हुई तब उनकी आयु ७३ वर्ष की होगी। कद के छोटे लेकिन प्रसन्न-गम्भीर दिखते थे। उन्हे देखकर मुझे सन्तोष हुआ। हम पास बैठे और हमारे बीच बातचीत शुरू हुई। वे योग के अभ्यासी और अनुभवी थे इसलिए बातो मे रस आया। योग के बारे मे जिज्ञासा बताते हुए मैंने अपनी जीवन-कथा सक्षेप मे उन्हे सुनाई। बातो ही बातो मे अपने जीवन के चार आश्चर्य-जनक अनुभव मैंने उनसे कह सुनाये।

पहिला अनुभव : मैं बहुत छोटी थी। पाचवा वर्ष पूरा होने के बाद स्कूल जाने लगी उससे पहिले का यह अनुभव है। स्कूल जाने से पहिले ही मैंने अक्षरो की पहिचान कर ली थी और रोज सुबह स्नान से पहिले एक जगह बैठकर पट्टी पर सारी बारह-खडी और पहाडे लिखकर पूरे करने की मेरी आदत थी। इसी के अनुसार मैं लिखने बैठी थी। लिखते-लिखते मुझे एक विचित्र अनुभव हुआ। लिखना बन्द करके मैं विचार करने लगी—मुझे ज्ञान हुआ ऐसा भी कहा जा सकता है—कि, मैं एक जीवित मनुष्य हूँ, । मेरे शरीर है। हाथ-पैर है। मैं लिखती हूँ। विचार करती हूँ। मेरा अस्तित्व है। छोटे मस्तिष्क मे इससे अधिक स्फुरित नही हुआ। लेकिन मैं सिर ऊचा करके इधर-उधर देखने लगी। वे मनुष्य घूमते हैं। मेरी तरह वे भी जीवित हैं। मनुष्य हैं। बोलते हैं। मैं भी बडी होऊँगी। लेकिन मैं हूँ, मैं हूँ, मैं भी कोई हूँ। उसी समय मुझे अपने अस्तित्व की प्रथम बार प्रतीति हुई और उसके बाद यह अनुभव सतत याद रहा।

मैं बडी होती गई वैसे-वैसे मुझे लगता गया कि और लोगो को भी मेरी तरह जीवन मे कभी-न-कभी अपने अस्तित्व की स्वतन्त्रता की प्रतीति जरूर हुई होगी। लेकिन मैंने बहुतो से पूछा (काफी बडी उमर मे) तब प्रत्येक ने कहा—ऐसा अनुभव तो मुझे कभी नही हुआ। इससे मुझे आश्चर्य हुआ।

दूसरा अनुभव : मैं कालेज मे पढती थी तब का यह अनुभव है। गरमी की छुट्टियो मे मैं कभी-कभी अपने पूर्वजो के गाँव कारवार जाती थी। समुद्री मार्ग से कम समय लगता है। लेकिन १५ मई के बाद जहाज चलने बन्द हो जाते हैं, इसलिए रेलमार्ग से जाना पडता है। कारवार से बस मे हुबली जाना होता था और वहा से रेलगाडी मे बैठकर बम्बई आना होता था। उस समय हुबली मे एक प्रसिद्ध सिद्ध योगी का निवास था। लोग उन्हे श्री सिद्धारूढ स्वामी के रूप मे पहिचानते

थे। हमारे सम्बन्धियो मे बहुत से उनके पुजारी थे। पिताजी के साथ मैं भी दो बार उनके दर्शन करने गई थी। लेकिन उनकी कन्नड भाषा मुझे नही आती थी, इसलिए मैं कुछ बातचीत नही कर सकी।

एक बार बम्बई मे पिता जी के यहा थी तब रात को एक अद्भुत स्वप्न देखा। एक सिद्ध पुरुष मेरे सामने खडे थे। वे वही सिद्धारूढ स्वामी थे या और कोई, यह याद नही है। लेकिन उन्होने मुझसे पूछा —"बेटी, तेरी क्या कामना है?" स्वप्न मे भी मुझे कैसे प्रेरणा हुई यह भगवान ही जाने। मैंने कहा—"स्वामिन्, मुझे समाधि का अनुभव लेना है।" इस पर कुछ हँसकर वे सिद्धपुरुष बोले—"इसमे कितनी देर है?" और उन्होने अपना हाथ मेरे मस्तक पर रखा। हाथ रखते ही मुझे बिजली के जैसा धक्का लगा और ऐसा मालूम हुआ मानो एकदम मेरा शरीर नीचे गिर गया हो। जो सच्ची मैं थी (अर्थात् मेरी जीवात्मा) वह उस शरीर से बाहर आकर दौडने लगी। चारो ओर सारा विश्व लुप्त हो गया और जहा देखती वहा प्रकाश ही प्रकाश दिखाई देता। वह भी सूर्य के प्रकाश-जैसा नही, कुछ अनोखा, अद्भुत। प्रकाश के ढेर बादलो-जैसे या लहरो-जैसे दिखाई देते थे और मैं हल्की होकर बडी तेजी से दौडती थी। मेरे भारी शरीर के गिर जाने का मुझे भान आया और मैं चिल्लाने लगी,—"मेरा शरीर! अरे, मेरा शरीर कहा गया?" लेकिन ये शब्द मुँह से निकले तब तक तो मैं सैकडो योजन आगे बढ गई थी। ऐसी अजस्र गति से (पवन वेग से कही अधिक गति मे) मैं दौड रही थी। सामने दूर क्षितिज के पास प्रकाश का केन्द्र दिखाई देता था, जिसमे से विश्व मे फैला हुआ वह प्रकाश निकल रहा था। उस केन्द्र की ओर मैं दौड रही थी। वह केन्द्र पास आने लगा था, लेकिन मेरी वासना मेरे शरीर से जुडी होने के कारण उस शरीर का स्मरण मुझे आगे नही जाने देता था। फिर एकाएक मैं चौंक उठी—'मेरा शरीर कहा खो गया।' और उसी डर के कारण मैं जाग पडी। तब अपने बिस्तर पर ही शरीर मे आबद्ध मैंने अपने को देखा।

तीसरा अनुभव मैं सत्याग्रह-आश्रम मे थी तब दांडी-कूच से पहिले चौमासे मे एक रात को यह अनुभव आया। हृदय कुज के आँगन मे पूज्य महात्मा जी और मैं खाटें डालकर सो रहे थे। हमारे बीच ६-७ फुट का अन्तर होगा। बरसात नही हो रही थी, इसलिए बाहर खुले मे सोये थे। कुछ बहिनें बरामदे मे सोई थी। आधी रात को मैं गहरी नीद मे थी। स्वप्न था ही नही। एकाएक किसी ने मुझे तमाचा लगाकर ऊची आवाज मे कहा—"उठ उठ, बरसात होने लगी है। महात्मा जी भी भीग जायेंगे।" हडबडाकर मैं जागी, उठकर बैठी और देखने लगी। कोई दिखाई नही दिया। मुझे तमाचा किसने मारा? कौन बोला? सब कोई

निरपेक्ष प्रेम करनेवाला या तो भगवान है या सद्गुरु। जगत् का प्रेम व्यावहारिक ही रहता है। यह कहकर मैं जगत् की निन्दा नही करती, बल्कि उसकी मर्यादा बताती हूँ। क्योकि हम भी जगत् के ही अश हैं, इसलिए उसकी मर्यादा से परे नही हैं।

इस तरह इस जजाल मे से छूटने के लिए मन तडप रहा था, तभी हमेशा की तरह दृष्टि से अगोचर रहनेवाले परन्तु अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड तक वस्तुमात्र का कल्याण करनेवाले, मेरे सर्जनहार और तारनहार भगवान ने फिर मेरी मदद की। एक-एक चिन्ता दूर होने लगी। सन् १९५२ मे स्त्री-सगठन-समिति का विसर्जन हुआ। लगभग उसी समय मैंने काग्रेस की सदस्यता छोड दी। अलग-अलग कमेटियो से मुक्त हुई। रहा कस्तूरबा ट्रस्ट का काम। उसके लिए भी योग्य व्यक्ति मिल जाने से सन् १९५४ के आखिर मे उसकी सारी जिम्मेदारी भी मैंने सौंप दी और सचमुच मैं मुक्त हो गई।

इन सात वर्षों मे मुझे भारी श्रम करना पडा था। नीद कम मिलती थी, वाचन-चिन्तन के लिए पूरा समय नही मिलता था। सफर के समय गाडी मे हिलती-डुलती कुछ पढती थी। मन मे हमेशा कामनाएँ और मनोरथ उत्पद्यन्ते विलीयन्ते किया करते थे, इसलिए गम्भीर चिन्तन तो होता ही कैसे ? मेरी अवस्था शराबी-जैसी हो गई थी। इसे कर्मयोग कैसे कहा जाय ? कर्मयोग हो, भक्तियोग हो अथवा ज्ञानयोग हो—चाहे जो योग हो, परन्तु योग का अर्थ है जोडना। हमारा मन ईश्वर के साथ सतत जुडा हुआ रहना चाहिए, बडे से बडे काम मे भी यह अवस्था कायम रहनी चाहिए। तभी योग सधा, ऐसा कहा जा सकता है। नही तो वह कर्म-जजाल हो जाता है। जैसे बुनियादी शिक्षा मे शिक्षा का प्रत्येक प्रकार जीवन के साथ जुडा हुआ होना ही चाहिए, तभी उसे जीवन-शिक्षण कहा जा सकता है, वैसे ही योग मे चित्त का सम्बन्ध भगवान के साथ जुडा रहना चाहिए, तभी कर्म मे अनासक्ति आती है और मन को शान्ति मिलती है।

भविष्य का कोई खास विचार इस समय मन मे पैदा नही हुआ था। ऐसा निश्चय किया था कि एक वर्ष तक आश्रम मे शान्ति से बैठकर वाचन, चिन्तन लेखन और थोडा भूदान-यज्ञ का काम करूगी। एक वर्ष बाद आगे का विचार, होगा। लेकिन मैंने देखा कि मेरा जीवन मेरे हाथ मे था ही नही। वर्षो पहिले मैंने यह जीवन पूज्य महात्मा जी को अर्पण किया था। वे देहधारी थे। तब मेरा मार्ग-दर्शन करते थे। उनके अवसान के बाद उनके साथ मेरा जीवन भगवान के हाथ मे गया। अब भगवान मार्गदर्शन करने लगे। उनकी इच्छा थी उतना सार्वजनिक सेवाकार्य उन्होंने मेरे हाथ से करा लिया। अब उन्होंने मेरे लिए कुछ और ही योजना

बनाई थी। वह भी उनकी इच्छा के अनुसार हुआ। एक ऐसी विलक्षण घटना घटी कि मेरा जीवन बिल्कुल दूसरी ही दिशा मे मुड गया।

पूना मे एक तत्वज्ञानी और विद्वान् भक्त रहते है, जिनका नाम महाराष्ट्र मे प्रख्यात है प्रो० शकर वामन उर्फ सोनोपत दाडेकर। कुछ वर्ष तक वे पूना के सर परशुराम भाई कॉलेज के प्रिंसिपल थे। ब्रह्मचारी है। महाराष्ट्र के सत-शिरोमणि श्री ज्ञानदेव महाराज और श्री तुकाराम महाराज के परमभक्त है। पढरी के वारकरी (महाराष्ट्र के एक भक्ति -सप्रदाय के अनुयायी) है। सुन्दर प्रवचन करते है। मैं कस्तूरवा ट्रस्ट का काम करती थी, तव दो बार उन्हे विद्यालय मे आमन्त्रित करके छात्राओ के सामने उनके अनेक प्रवचन कराये थे। पहली वार वह आये तव मैने उनसे पूछा था—"ज्ञानेश्वरी के छठे अध्याय मे ध्यानयोग का जो अनुपम वर्णन है, वह वास्तविक है या काव्य है ?" वह वोले—"वह सत्य है।" मैंने कहा—"आज योगशास्त्र को जाननेवाला कोई अधिकारी व्यक्ति है क्या ? मुझे उस शास्त्र मे रस है। कोई अधिकारी व्यक्ति मिले तो उसे सीख लेने की मेरी इच्छा है।" उन्होने कहा—"हा, ऐसे अधिकारी पुरुष को मैं जानता हूँ। उनका नाम श्री गुलवणी है।" फिर मैंने कहा—"मुझे उनका पता दीजिए। मै उनसे मिलूँगी।" उन्होने कहा—"वह यात्रा मे रहते हैं। पूना आयेंगे तव आपको लिखकर वताऊगा।"

उसके वाद लगभग दो वर्ष वीत गये। मैं पूछती तव—श्री गुलवणी यात्रा मे हैं, यही उत्तर मिलता। सन् १९५४ के दिसम्बर मे मैंने प्रो० दाडेकर को विद्यालय मे दूसरी बार बुलाया तब उनसे मिलना हुआ। मैंने श्री गुलवणी के वारे मे पूछा तो वे कहने लगे—"आप सच्चे दिल से पूछती थी क्या ? आपको सचमुच ही श्री गुलवणी से मिलना है ? मुझे लगा कि आप शिष्टाचार के लिए ही पूछती होगी, इसलिए मैंने आपकी वात पर कोई खास ध्यान नही दिया।" तब मैंने उनसे कहा—"मैं सच्चे दिल से ही पूछती थी। मुझे योग के वारे मे जिज्ञासा है और अव मैं काम से मुक्त हो जानेवाली हूँ।" तब उन्होने उत्तर दिया—"मुझे विश्वास हो गया। अव मैं पूना जाऊँगा तव मालूम करके आपको लिखूगा।"

जनवरी मे प्रो० दाडेकर का कार्ड मिला कि "श्री गुलवणी पूना मे है। मैंने आपके वारे मे उनसे कह रखा है। उनके साथ पत्र-व्यवहार करके आप उनसे मिल लीजिए।"

मुझे आनन्द हुआ। १४ जनवरी को सक्रान्ति थी। उस मुहूर्त पर मैंने कस्तूर-बा ट्रस्ट की जिम्मेदारी नये प्रतिनिधि को सौंप दी और हर्षयुक्त अन्त करण से श्री गुलवणी को लिखकर पूछा—"१८ तारीख को आपसे मिलने आऊ ?" उनका उत्तर आया —"आ जाइए।"

मैं पूना गई। मेरे साथ मेरे एक वृद्ध स्नेही श्री हरिभाई मोहनी थे। श्री हरिभाई नागपुर के बहुत पुराने काग्रेसी कार्यकर्त्ता और पूज्य महात्मा जी के पुजारी हैं। वर्षों से मुझे जानते और मुझपर स्नेह रखते थे। मेरे भावी जीवन के बारे मे उन्हे चिन्ता थी। इसलिए वह मेरे साथ गये।

श्री गुलवणी से मुलाकात हुई तब उनकी आयु ७२ वर्ष की होगी। कद के छोटे लेकिन प्रसन्न-गम्भीर दिखते थे। उन्हे देखकर मुझे सन्तोष हुआ। हम पास बैठे और हमारे बीच बातचीत शुरू हुई। वे योग के अभ्यासी और अनुभवी थे इसलिए बातो मे रस आया। योग के बारे मे जिज्ञासा बताते हुए मैंने अपनी जीवन-कथा सक्षेप मे उन्हे सुनाई। बातो ही बातो मे अपने जीवन के चार आश्चर्य-जनक अनुभव मैंने उनसे कह सुनाये।

पहिला अनुभव : मैं बहुत छोटी थी। पाचवा वर्ष पूरा होने के बाद स्कूल जाने लगी उससे पहिले का यह अनुभव है। स्कूल जाने से पहिले ही मैंने अक्षरो की पहिचान कर ली थी और रोज सुबह स्नान से पहिले एक जगह बैठकर पट्टी पर सारी बारह-खडी और पहाडे लिखकर पूरे करने की मेरी आदत थी। इसी के अनुसार मैं लिखने बैठी थी। लिखते-लिखते मुझे एक विचित्र अनुभव हुआ। लिखना बन्द करके मैं विचार करने लगी—मुझे ज्ञान हुआ ऐसा भी कहा जा सकता है—कि, मैं एक जीवित मनुष्य हूँ, । मेरे शरीर है। हाथ-पैर है। मैं लिखती हूँ। विचार करती हूँ। मेरा अस्तित्व है। छोटे मस्तिष्क मे इससे अधिक स्फुरित नही हुआ। लेकिन मैं सिर ऊचा करके इधर-उधर देखने लगी। वे मनुष्य घूमते हैं। मेरी तरह वे भी जीवित हैं। मनुष्य है। बोलते है। मैं भी बडी होऊँगी। लेकिन मैं हूँ, मैं हूँ, मै भी कोई हूँ। उसी समय मुझे अपने अस्तित्व की प्रथम बार प्रतीति हुई और उसके बाद यह अनुभव सतत याद रहा।

मैं बडी होती गई वैसे-वैसे मुझे लगता गया कि और लोगो को भी मेरी तरह जीवन मे कभी-न-कभी अपने अस्तित्व की स्वतन्त्रता की प्रतीति जरूर हुई होगी। लेकिन मैंने बहुतो से पूछा (काफी बडी उमर मे) तब प्रत्येक ने कहा—ऐसा अनुभव तो मुझे कभी नही हुआ। इससे मुझे आश्चर्य हुआ।

दूसरा अनुभव : मैं कालेज मे पढती थी तब का यह अनुभव है। गरमी की छुट्टियो मे मैं कभी-कभी अपने पूर्वजो के गाँव कारवार जाती थी। समुद्री मार्ग से कम समय लगता है। लेकिन १५ मई के बाद जहाज चलने बन्द हो जाते हैं, इसलिए रेलमार्ग से जाना पडता है। कारवार से बस मे हुबली जाना होता था और वहा से रेलगाडी मे बैठकर बम्बई आना होता था। उस समय हुबली मे एक प्रसिद्ध सिद्ध योगी का निवास था। लोग उन्हे श्री सिद्धारूढ स्वामी के रूप मे पहिचानते

थे। हमारे सम्वन्धियो मे वहुत से उनके पुजारी थे। पिताजी के साथ मैं भी दो वार उनके दर्शन करने गई थी। लेकिन उनकी कन्नड भापा मुझे नही आती थी, इसलिए मैं कुछ वातचीत नही कर सकी।

एक वार वम्वई मे पिता जी के यहा थी तव रात को एक अद्‌भुत स्वप्न देखा। एक सिद्ध पुरुष मेरे सामने खडे थे। वे वही सिद्धारूढ स्वामी थे या और कोई, यह याद नही है। लेकिन उन्होने मुझसे पूछा —"वेटी, तेरी क्या कामना है?" स्वप्न मे भी मुझे कैसे प्रेरणा हुई यह भगवान ही जाने। मैंने कहा—"स्वामिन्, मुझे समाधि का अनुभव लेना है।" इस पर कुछ हँसकर वे सिद्धपुरुप वोले—"इसमे कितनी देर है?" और उन्होने अपना हाथ मेरे मस्तक पर रखा। हाथ रखते ही मुझे विजली के जैसा धक्का लगा और ऐसा मालूम हुआ मानो एकदम मेरा शरीर नीचे गिर गया हो। जो सच्ची मैं थी (अर्थात् मेरी जीवात्मा) वह उस शरीर से वाहर आकर दौडने लगी। चारो ओर सारा विश्व लुप्त हो गया और जहा देखती वहा प्रकाश ही प्रकाश दिखाई देता। वह भी सूर्य के प्रकाश-जैसा नही, कुछ अनोखा, अद्‌भुत। प्रकाश के ढेर वादलो-जैसे या लहरो-जैसे दिखाई देते थे और मैं हलकी होकर वडी तेजी से दौडती थी। मेरे भारी शरीर के गिर जाने का मुझे भान आया और मैं चिल्लाने लगी,—"मेरा शरीर! अरे, मेरा शरीर कहा गया?" लेकिन ये शब्द मुँह से निकले तव तक तो मै सैकडो योजन आगे वढ गई थी। ऐसी अजस्र गति से (पवन वेग से कही अधिक गति से) मैं दौड रही थी। सामने दूर क्षितिज के पास प्रकाश का केन्द्र दिखाई देता था, जिसमे से विश्व मे फैला हुआ वह प्रकाश निकल रहा था। उस केन्द्र की ओर मै दौड रही थी। वह केन्द्र पास आने लगा था, लेकिन मेरी वासना मेरे शरीर से जुडी होने के कारण उस शरीर का स्मरण मुझे आगे नही जाने देता था। फिर एकाएक मैं चौंक उठी—'मेरा शरीर कहा खो गया।' और उसी डर के कारण मैं जाग पडी। तव अपने विस्तर पर ही शरीर मे आवद्ध मैंने अपने को देखा।

तीसरा अनुभव मैं सत्याग्रह-आश्रम मे थी तव दाँडी-कूच से पहिले चौमासे मे एक रात को यह अनुभव आया। हृदय कुज के आँगन मे पूज्य महात्मा जी और मैं खाटें डालकर सो रहे थे। हमारे वीच ६-७ फुट का अन्तर होगा। वरसात नही हो रही थी, इसलिए वाहर खुले मे सोये थे। कुछ वहिनें वरामदे मे सोई थी। आधी रात को मैं गहरी नीद मे थी। स्वप्न था ही नही। एकाएक किसी ने मुझे तमाचा लगाकर ऊची आवाज से कहा—"उठ उठ, वरसात होने लगी है। महात्मा जी भी भीग जायेंगे।" हडवडाकर मैं जागी, उठकर वैठी और देखने लगी। कोई दिखाई नही दिया। मुझे तमाचा किसने मारा? कौन वोला? सव कोई

सोये हुए थे। पास या दूर कोई नही था। सिर्फ भरभर भरभर पानी बरसने लगा था और पूज्य महात्मा जी पर पानी की बूंदे गिरने लगी थी। मैंने तुरन्त बरामदे मे सोई हुई कुसुम बहन देसाई को जगाया और हम दोनो ने महात्मा जी की खाट अन्दर कर दी। फिर मैंने अपनी खाट भी अन्दर की। फिर भी मुझे आश्चर्य होता रहा कि यह चेतावनी मुझे किसने दी होगी ? स्वप्न तो था ही नही। मुझे तमाचा लगा था और शब्द भी मैंने साफ सुने थे।

चौथा अनुभव : आश्रम मे आने के बाद पूज्य महात्मा जी ने मुझे ग्यारह व्रतो की दीक्षा दी। उसमे ब्रह्मचर्य का सहायक अस्वाद-व्रत भी लेने के लिए उन्होने कहा। शुरू मे मैं सिर्फ आश्रम मे ही इस व्रत का पालन करती थी, बाहर नही। लेकिन १९३३ मे आश्रम का विसर्जन करके पूज्य महात्मा जी ने हम आश्रमवासियो से कहा, अब से तुम लोग अपने-अपने साथ जगम आश्रम लेकर ही घूमना और आश्रम-व्रतो को कभी न छोडना। तब मैंने देश के आजाद होने तक सारे व्रत पालने की प्रतिज्ञा की, और आजादी के बाद वे व्रत मेरा स्वभाव बन गये इसलिए आगे चलाये। अनुभव के आधार पर मुझे कहना है कि किसी भी व्रत की अपेक्षा अस्वाद-व्रत मुझे अधिक सरल लगा। पीढियो से चला आया अपना आहार छोडकर अस्वाद व्रत का आहार स्वीकार करने मे मुझे जरा भी कठिनाई मालूम नही हुई। शरीर, वाणी और मन से मुझे जरा भी क्लेश नही हुआ और न कोई विशेष प्रयत्न करने की जरूरत मालूम हुई। पूज्य महात्मा जी को भी यह देखकर अचरज होता था और उन्होने अनेक बार मेरे सामने और दूसरे आश्रमवासियो के सामने उसे व्यक्त किया था। शुरू मे कभी-कभी स्वप्न मे मैं मिठाई वगैरा खाती थी। लेकिन ऐसा एक-दो बार होने के बाद स्वप्न मे भी मुझे इसका भान रहने लगा कि क्या चीज खानी चाहिए और क्या नही खानी चाहिए। मुझे स्वय भी आश्चर्य-सा लगा करता था कि यह व्रत मेरे लिए इतना सहज कैसे बन गया।

इस तरह अपने ये चार अनुभव मैंने श्री गुलवणी को कह सुनाये।

श्री गुलवणी बोले—"आपको समाधि का जो स्वप्न आया वह स्वप्न नही, सच्चा अनुभव है। समाधि ऐसी ही होती है। उस अनुभव को और आपके दूसरे अनुभवो को देखते हुए यह स्पष्ट दिखाई देता है कि अपने पूर्वजन्म मे आपने योगाभ्यास किया होगा। वह अधूरा रहा, इमलिए इस जन्म मे आपको उसे पूरा करना होगा। आप प्रवृत्ति-मार्ग मे इतनी फँस गई है कि आपमे रजोगुण की बहुत वृद्धि हो गई है। इसलिए आपका अब प्रवृत्ति-मार्ग से निवृत्त होना आवश्यक है। अब एकान्त स्थल पर जाइए और दो-तीन घटे तक पलथी मारकर स्थिर बैठना सीख लीजिए। यही आपका पहिला पाठ है। उस समय कुछ भी नहीं करना चाहिए।

केवल शान्त और स्थिर बैठी रहे। इस तरह दो-तीन घण्टे तक बैठ सकेंगी तो आपका आसन स्थिर हो जायगा। मन को स्थिर करने के लिए प्राणायाम कीजिए। लेकिन अभी लम्बे समय तक नही। आरम्भ मे थोडे मिनट तक करे और फिर धीरे-धीरे समय बढाये।" ऐसा कहकर उन्होने मुझे प्राणायाम करने का तरीका बताया।

श्री गुलवणी-द्वारा किया हुआ अपने अनुभवो का स्पष्टीकरण मुझे जँचा। अस्वाद-व्रत के बारे मे मुझे भी कभी-कभी लगता था कि, बहुत सम्भव है कि अपने पिछले जन्म मे मैंने उसका अभ्यास किया होगा, जो इस जन्म मे सफल हुआ दिखता है। मेरे दूसरे अनुभवो के बारे मे तो उनका बताया हुआ कारण ही सन्तोष देने जैसा था।

मुझे एकान्त स्थान पर जाकर योग-साधना करने के लिए श्री गुलवणी ने कहा। परन्तु ऐसा स्थान कहा मिले? सासवड के आश्रम मे एकान्त असम्भव ही था। पास ही विद्यालय था और उससे सम्बन्धित प्रवृत्तिया थी, जिसके साथ मेरा ९ वर्ष का निकट सम्बन्ध था। इसके सिवा, आश्रम मे शकरराव जी आते तब वह भी अपने साथ बहुत-सी प्रवृत्तिया ले आते थे। मेरा आज तक का जीवन सार्वजनिक था और आसपास के सब लोग उसके आदी हो गये थे। इसलिए वहा शान्ति और एकान्त मिल नही सकता था। तब ऐसा स्थान कहाँ खोजूं?

और, वर्षो से अन्तर मे रही एक उत्कट इच्छा ऊपर आई, उसने उत्तर दिया—हिमालय की गोद मे।

उस पवित्र स्मरण से मन मे उल्लास पैदा हुआ और मैंने श्री गुलवणी से पूछा—"मैं हिमालय मे जाकर रहूँ और अभ्यास करू तो?"

"तब तो अत्यन्त सुन्दर। योगाभ्यास के लिए हिमालय से अधिक अनुकूल जगह और कही है ही नही। फिर, आप अपने कार्यक्षेत्र से जितनी दूर चली जाय उतना ही आपको लाभ होगा।

व्याधाहातोनि सुटला। विहगम जैसा॥

"व्याध के हाथ से छूटा हुआ पक्षी जैसे पूरा जोर लगाकर दौडता है, उड जाता है, वैसे ही हमे भी करना चाहिए।"

फिर हिमालय की सुविधाओ के बारे मे तथा अन्य इधर-उधर की बाते हुई और मैं उनसे विदा लेकर वापस सासवड आई।

श्री हरिभाऊ को यह बात अच्छी नही लगी। प्रौढ उम्र मे मेरे जीवन मे ऐसा मोड आये यह उन्हे कुछ भयावह लगा। वे मुझे समझाने लगे, लेकिन मेरा तो निश्चय ही हो गया था। इसलिए मैं उनकी दलीलें सुनने को तैयार नही हुई।

मैं सासवड वापस आई तब कस्तूरबा ट्रस्ट से जुडा हुआ एक काम बाकी था। विद्यालय की एक छात्रा ने गम्भीर भूले की थी। सच बता देगी तो अपराध माफ कर दिये जायेगे, नही तो मुझे प्रायश्चित्त करना पडेगा—ऐसा मैंने उससे कहा था, फिर भी वह तीन बार झूठ बोली। इसलिए मुझे त्यागपत्र देने से पहिले प्रायश्चित्त करना था। लेकिन प्रतिनिधियो का वार्षिक सम्मेलन पास आ गया था, इसलिए उस मौके पर उपवास स्थगित कर दिया था। अब पूना से आने के बाद प्रायश्चित्त के लिए मैंने चार दिन का उपवास किया। इस बीच मैंने हिमालय जाने के बारे मे चिन्तन भी खूब किया।

मुझे लगा कि मेरा किया हुआ निश्चय पूज्य महात्मा जी के उपदेश से अलग जाता है। उन्हे हिमालय जाकर तपस्या करने की कल्पना पसन्द नही थी। वे जनसेवा पर ही जोर देते थे। उनका उपदेश अमल मे लाने मे मैंने कभी आलस्य नही किया था। अपनी सारी शक्ति लगाकर जनसेवा करने का प्रयत्न किया था। लेकिन मैं असफल रही, उसका क्या हो ? सत्याग्रह आश्रम मे जो हुआ वही सासवड मे हुआ। सस्था के सचालन के लिए मैं अयोग्य हूँ। फिर बूते से बाहर काम क्यो करना चाहिए ? अथवा मेरी कार्यपद्धति मे दोष होगा। प्रत्येक काम निर्दोष हो, ऐसा आग्रह मैं रखती हूँ। उससे भी काम मे दोष पैदा होता होगा। चाहे जो हो, लेकिन यदि ऐसे ही चलाती जाऊ तो मेरा कचूमर निकले विना न रहेगा।

पूज्य महात्मा जी के पास मैं पहिली बार आई थी, तब मन मे निश्चय किया था कि देश की आजादी के लिए यही सेवा की पद्धति उचित है। वह तो अपना कार्य करके गये। अब देश के विकास का काम शुरू हुआ है। इस काम का कभी अन्त ही नही आने वाला है। तब मैं कब तक इस काम का एक अग बन कर रहू ? फिर, आज जिस दिशा मे चक्र घूम रहे हैं, वह पूज्य महात्मा जी की बताई हुई दिशा तो नही है। उल्टे अधिकतर बातो मे उनके दिये हुए मार्गदर्शन से उलटी दिशा मे ही सरकार और उसकी प्रेरणा से लोग चलते हैं। मैं तो तुच्छ मानव ठहरी। इस धाँधली मे मुझे नही पडना है। अब मार्गदर्शन के लिए पूज्य महात्मा जी नही हैं। मैंने अपना जीवन उन्हे अर्पण किया था और उन्होने अन्त तक वह ऐसा ही रहे, यह आशीर्वाद दिया था। अब मार्गदर्शन करने की जिम्मेदारी उनकी है। मैं तो अब भगवान की शरण मे ही जाऊँगी, जिनके पास वह पहुँचे है। भगवान की इच्छा होगी, वैसा होगा।

इस तरह चिन्तन करते हुए चार दिन बीते। २३ को मेरा उपवास छूटा। रात को स्वप्न आया।

पूज्य महात्मा जी का दर्शन हुआ। वह एक कमरे मे बैठे थे। लोगो का आना-जाना चालू था। वह अब जीवित नही हैं, ऐसा भान मुझे स्वप्न मे नही था। पहिले की तरह वह इस दुनिया मे ही हैं, ऐसी मन की भावना थी।

उनके साथ बातचीत करने का मौका मिला तो मैंने पूछा—"महात्मा जी पहिले के और आज के भारत मे आपको क्या फर्क दिखाई देता है?"

उन्होने पूछा—"पहिले के भारत से तुम्हारा क्या मतलब है?"

मैंने कहा—"पहिले का यानी सन् १९३० मे आप दाँडी-कूच पर गये थे उस समय के इस देश के लोगो मे और आज के लोगो मे आपको क्या फर्क दिखाई देता है?"

मुझे स्वप्न मे भी लग रहा था कि अन्तर-राष्ट्रीय शान्ति के लिए भारत-द्वारा किये गये सफल प्रयत्न का और पचवर्षीय योजना जैसे सिद्व किये हुए रचनात्मक कार्यक्रम का विचार करके पूज्य महात्मा जी गौरव-पूर्ण शब्द कहेगे।

लेकिन वे स्मित हास्य करते हुए बोले—"आज के लोगो मे दभ बढ गया है।"

मुझे लगा कि मैंने ठीक से सुना नही होगा। इसलिए दुबारा मैंने वही प्रश्न पूछा। उन्होने फिर वही उत्तर दिया। तीसरी बार वही प्रश्न मैंने किया और तीसरी बार भी वही उत्तर मिला।

मैं जागी तब मुझे विस्मय हुआ। सयोगवश उसी दिन मुझे किसी कारणवश श्री मुरारजी भाई को पत्र लिखना था। उसमे मैंने अपने स्वप्न की बात लिखी।

उत्तर मे उन्होने लिखा—"स्वप्न की बात पर कितना जोर दे, यह कहना मुश्किल है। मनुष्य के अन्तर्मन मे अनेक प्रक्रियाएँ चलती रहती है। उनका प्रतिबिम्ब स्वप्न मे पडना सम्भव है। लेकिन यह प्रतिबिम्ब मनुष्य के सच्चे मन को व्यक्त नही कर सकता। गाधी जी के प्रति आपकी भक्ति के कारण वह आपके स्वप्न मे आये। क्या ऐसा हम नही कह सकते कि आपके प्रश्न का उन्होने जो उत्तर दिया, वह आपके मन के भीतर की ही बात व्यक्त करता है? देश मे और दुनिया मे होने वाले परिवर्तन अनेक कारणो से होते है। जगत् विकास करता है या उसकी अधोगति होती है, यह कहना भी कठिन है। हम शुभदर्शी रहकर समाज के हित के लिए मेहनत करने मे विश्वास करते हैं, इसलिए हमारे लोग ज्यादा हिपोक्रेट हो गये है, ऐसा हम कैसे कह सकते है? अलबत्ता, इस प्रश्न पर पत्र-द्वारा चर्चा करना कठिन है।" आदि।

श्री मुरारजी भाई वस्तुनिष्ठ राजनीतिक पुरुष ठहरे, इसलिए उनकी दृष्टि मे स्वप्न की ज्यादा कीमत नही हो सकती। लेकिन मुझे तो स्वप्न मे सकेत मिला ही करता था। अगर समाज मे दभ बढा हो तो भी मैं उसी समाज का अग हूँ, -

इसलिए मेरे भीतर भी दभ बढा ही होगा, इसमे मुझे शका करने का कारण नही था। इसलिए शुद्धि के लिए तपश्चर्या ही एकमात्र उपाय था और वह उपाय पहिले की तरह मार्वजनिक सेवाकार्यो की जिम्मेदारी सिर पर लेकर नही, लेकिन सर्वथा मुक्त रहकर नतमस्तक होकर, ईश्वर की शरण मे जाकर, ही करने की जरूरत थी। विकास के शिखर पर चढना हो तो सिर पर बोझ रखकर कैसे चढा जा सकता है ? समाज रूपी शिव की सेवा करने के लिए पहिले हमे शिव बनना चाहिए। 'शिवो भ्त्वा शिव यजेत्।' अयोग्य सेवक या सेविका से समाज का भला नही होता, नुकसान होता है। सेविका का भी उससे अध पतन होता है।

ऐसे विचार मन मे आये और एकान्त मे जाकर तपस्या करने का मेरा निश्चय अधिक दृढ हुआ।

जनवरी के अन्तिम सप्ताह मे श्री शकरराव जी की षष्ठिपूर्ति का समारोह था। आश्रम मे ही होने वाला था। वह पूरा हुआ, उसके बाद मैंने अपना भविष्य का कार्यक्रम उन्हे और दूसरे स्नेहियो को बताया, यद्यपि लोगो ने अलग-अलग राय जाहिर की। थोडे लोगो को ही मेरी यह बात पसन्द आई, ज्यादातर को नही आई। शकरराव जी को दु ख हुआ अपनी कर्म-प्रवण वृत्ति को छोडकर मैं सन्यास लू, यह कल्पना ही उन्हे असह्य लगी। फिर महाराष्ट्र से दूर, बिल्कुल देश की सरहद पर जाकर मैं गुफा मे बैठी रहूँ, यह चीज भी उन्हे अच्छी नही लगी। लेकिन मुझे तो इस कर्म-प्रवण जीवन के प्रति प्रबल वैराग्य उत्पन्न हो गया था। वे समझाने लगे—"सासवड के आश्रम मे रहने की इच्छा न हो तो महाराष्ट्र मे ही कोई एकान्त स्थल मैं ढूढ दूंगा, लेकिन आप इतनी दूर मत जाइए। हिमालय जाने की वात करना जितना सरल है उतना वहा बसना सरल नही है।" मेरी उम्र उस समय ४९ वर्ष की थी। ऐसी उम्र मे एकाएक नया ही प्रयोग जीवन मे करने का निश्चय खतरनाक है, हिमालय मे सब कुछ अज्ञात है, वगैरा दलीलें वे देने लगे। लेकिन मैंने उनकी एक भी वात नही मानी। स्वामी रामदास के शब्दो मे कहे तो 'देह पडे का देव जोडे।' (या तो देह नष्ट होगी, या भगवान मिलेगा।) ऐसी टेक पर मन टिका था।

निराश होकर शकरराव जी मुझे स्वामी आनन्द,[1] श्रीनाथ जी और श्री कृष्ण-

---

१. स्वामी आनन्द मूल बम्बई के निवासी हैं। बचपन मे उनकी प्राथमिक शिक्षा मराठी स्कूल मे शुरू हुई। ईश्वर की खोज मे छोटी आयु मे घर छोटकर वह भागे और अनेक बाबा-बैरागियो के सहवास मे ठेठ हिमालय तक पहुँचे। बहुत घूमे, लेकिन ईश्वर-दर्शन की इच्छा पूरी नहीं हुई। फिर सौभाग्य से राम-

मूर्ति[1] से मिलाने ले गये। उन्हे आशा थी कि ये सज्जन मुझे समझायेंगे। श्री कृष्ण-मूर्ति तो त्याग और वैराग्य के विरुद्ध ही हैं। लेकिन स्वामी आनन्द ने कहा—"इन्हे तीव्र उत्कठा हुई है तो इन्हे जाने दीजिए। मैं मानता हूँ कि छ महीने हिमालय मे रहकर इन्हे शान्ति मिलेगी और ये वापस लौट आयेगी। न आये और वही शान्ति मिले तो भले वही रहें। लेकिन जहा तक मैं सोचता हूँ कुछ महीने वाद इन्ह वहा रहने की जरूरत नही होगी।" वहा की जानकारी देते हुए स्वामी ने मुझसे कहा-"मैं हिमालय के पेट मे कौसानी मे रहता हूँ। छ महीने वाद आप मुझसे मिलने आइए। वाद मे हम आगे का कार्यक्रम वनायेंगे।" फिर हम नाथ जी से मिलने गये। उन्होंने भी स्वामी आनन्द की सलाह का समर्थन किया। इस तरह मेरा निश्चय हो गया।

शकरराव जी के आग्रह से १८ मार्च, १९५५ तक मैं आश्रम मे रही। उस दिन सवसे विदा लेकर मैंने आश्रम छोडा। शकरराव जी के साथ मैं पुरी गई। वहा सर्वोदय सम्मेलन मे भाग लिया। फिर नई दिल्ली जाकर पहली अप्रैल को वहा से हरद्वार गई। शकरराव जी साथ ही थे। मेरे मन मे जरा भी शका नही थी कि यह सव भगवान का वरदान है। वहा भी मुझे किसी तरह की कठिनाई नही हुई। सव कुछ इस तरह होता गया जैसे भगवान ने पहिले से योजना वना रखी हो। पुरी मे श्री सुरेन्द्र जी मिले थे। उन्होंने कहा कि ऋषिकेश मे पशुलोक के सचालक हमारे पारनेरकर जी हैं। उनसे आप मिलिए। वहा कुछ मदद मिलेगी।

कृष्ण मिशन के साथ उनका सम्बन्ध हुआ और कलकत्ता के वेलूर मठ मे रहकर उन्होने वंगला और अंग्रेजी भाषाओ का ज्ञान प्राप्त किया, शिक्षा पूरी की और सन्यास की दीक्षा ली तव उन्हे स्वामी आनन्द की उपाधि मिली। युवावस्था मे वह पूज्य महात्मा जी के पास पहुचे और उनके मार्गदर्शन मे सेवाकार्य किया। पिछले कुछ वर्षों से वे वर्ष मे आठ महीने हिमालय के कौसानी गाव मे विताते हैं।

१ स्व० श्री एनी वेसेण्ट के मानस-पुत्र। वे जगद्गुरु होगे, ऐसी भविष्य-वाणी श्रीमती वेसेण्ट ने की थी, इसलिए कृष्णमूर्ति को वचपन मे विलायत भेजकर ऊँची से ऊची शिक्षा देने की व्यवस्था की गई थी। आगे जाकर थियासाफिकल सोसायटी के छ लाख सदस्यो ने उन्हे अपने सद्गुरु के रूप मे स्वीकार किया। लेकिन कृष्णमूर्ति ने स्वय उस पन्थ को तोड डाला और स्वेच्छा से अज्ञात-वास पसन्द किया। आज दुनिया के विरले आध्यात्मिक शिक्षको मे उनकी गिनती होती है।

वैसा ही हुआ। शकरराव जी के साथ मैं पारनेरकर जी से मिलने गई। मेरा मानस देखकर वे कहने लगे,—"मुझे लगता है, आप यहा पशुलोक मे ही रहिए। मैं आपको पूरी मदद दूगा। यहा से आप हिमालय की यात्रा भी कर सकती हैं।" पशुलोक ऋषिकेश से तीन मील दूर है। हिमालय की तलहटी मे है। गगा जी के किनारे बसा हुआ है। एकान्त, शान्ति और अरण्य—इतनी अनुकूलता, उस पर पारनेरकर जी जैसे सत्याग्रह-आश्रम के मेरे पुराने साथी। इससे ज्यादा और क्या चाहिए ?

शकरराव जी को भी यह बात पसन्द आई। परिचितो मे रहने का मौका मिला, इससे वह चिन्तामुक्त हो गये। हम दोनो उत्तरकाशी गये और चार दिन वहा रहकर वापस पशुलोक आये। वहा चार दिन रहकर शकरराव जी १४ अप्रैल की रात को दिल्ली के लिए रवाना हुए। पारनेरकरजी ने मुझे एक सुन्दर झोपडी रहने को दी। उनकी अपनी झोपडी पास ही थी। सुन्दर बगीचे के बीच थोडे-थोडे अन्तर पर दो-चार झोपडिया बनाई गई थी, जिसमे पडोस और एकान्त दोनों का लाभ मिलता था। वहा रहनेवाले कार्यकर्त्ता सारे दिन काम मे व्यस्त रहते थे, सफर मे न हो तब दूर दफ्तर मे काम करने जाते थे। रात को खाने और सोने के लिए झोपडी मे आते थे। मुझे पूर्ण एकान्त मिलता था। रहने के लिए आवश्यक चीजे मिल गई थी। पारनेरकर जी ने मेरी बहुत मदद की। सरकारी काम के लिए वे गगोत्री गये, तब मै भी उनके साथ गई। इसके बाद केदारनाथ, तुगनाथ और बदरीनारायण की यात्रा मैंने स्वतन्त्र रूप मे दो परिचित भाइयो के साथ की।

तप्त और उदास मन को प्रसन्न और शान्त करने के लिए हिमालय जैसा कोई स्थान नही है। उसके भव्य और दिव्य दर्शन से मनुष्य का मानस परिवर्तित हुए बिना रहता ही नही। हिमालय की गोद मे घूमते समय ऐसा अनुभव हुए विना नही रहता कि हम एक नई ही दुनिया मे है। पुरानी दुनिया पीछे रह जाती है। मुझे तो वह याद भी नही आती थी। हिमालय की दुनिया ही सत्य लगती थी। वहा मैं अपना सारा दु ख भूल गई।

गगोत्री का प्रदेश बहुत ही रमणीय और पवित्र है। वहा तपस्या करनेवाले साधक और सिद्ध रहते है, ऐसा मैंने पहिले से सुन रखा था। वहा एक सिद्धयोगी के और तीन चार साधको के दर्शन हुए। उस सिद्ध योगी की आयु ९० वर्ष की होगी, ऐसा लोग कहते थे। लेकिन आश्चर्य की बात यह थी कि १०,००० फुट की ऊँचाई वाले गगोत्री प्रदेश मे वह योगी नग्नावस्था मे रहते थे। कपडे ओढकर उनसे मिलने गये हुए हम लोग सर्दी से काँपते थे, लेकिन उन नग्न योगी के शरीर के रोये भी खडे नही होते थे। वह सीधे तनकर बैठे थे और उनके चेहरे का गाम्भीर्य सहज लगता

था। उनका नाम कृष्णाश्रम था। पास ही एक शिष्या थी। वह तीस वर्ष से उनकी सेवा करती थी। पहाडी होने पर भी सस्कारवान मालूम हुई। स्वामी जी मौन-व्रती है, बोलते नही, लेकिन अगर उत्तर देने का उनका मन हो तो इशारे से या उगली से लिखकर प्रश्नो के उत्तर देते है। कालेलकर जी और दूसरे मित्रो के साथ मैं गई तब वहा इतनी शान्ति थी कि हम भी एकदम शान्त हो गये। कोई बोले नही। उस शिष्या ने ही हमे बिठाया और फिर वही मध्यस्थ बनकर स्वामी के इशारो का अर्थ हमे समझाने लगी।

स्वामी कृष्णाश्रम योग की अन्तिम भूमिका तक पहुँचे है, ऐसी जानकारी वहा के दूसरे साधको ने हमे दी थी। इसलिए उनसे मार्गदर्शन लेने को मै उत्कठित थी। लेकिन वह बोलते नही थे। शिष्या की सम्मति लेकर मैने ही आरम्भ किया। अपनी भूमिका उन्हे बताकर मार्गदर्शन मांगा।

स्वामी ने कहा—"प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो अलग-अलग मार्ग है। प्रवृत्ति-मार्ग मे ईश्वर-प्राप्ति हो सकती है, लेकिन क्रमश होगी, जब कि निवृत्तिमार्ग मे मनुष्य सीधे ईश्वर तक पहुँचता है। तुम्हारा पिण्ड कर्म-प्रवण है। इसलिए तुम कुछ समय निवृत्ति मे बिताना। साधना करना। भगवान की कृपा प्राप्त करना। फिर अपने क्षेत्र मे प्रवेश करना।"

मैंने और भी कई प्रश्न पूछे, जिनका उन्होने उत्तर दिया। उनका अधिकार तो दिखाई देता ही था। गगोत्री मे रहते हुए मैं उनसे दो बार मिली। मुझे खूब आनन्द हुआ। जाते समय उनके चरण-स्पर्श करके मैंने आशीर्वाद की याचना की। उन्होने सिर हिलाया और मैं वापस आई। शिष्या से खबर मिली कि स्व० पण्डित मदनमोहन मालवीय जी स्वामी जी को बहुत मानते थे और उनके आग्रह के वश होकर स्वामी जी एक बार हिन्दू यूनिवर्सिटी मे जाकर तीन दिन रहे थे। इसके बाद वह फिर हिमालय के नीचे नही उतरे और बारहो महीने गगोत्री मे ही रहते हैं।

मेरी साधना के लिए यह शुभ शकुन हुआ, ऐसा मैंने माना।

पशुलोक मे १६ अप्रैल, १९५५ को मेरी साधना शुरू हुई, जो २५ जनवरी, १९५६ तक चली। इस बीच मैं तीन बार यात्रा कर आई, १ गगोत्री, २ केदार-बदरी और ३ कौसानी। साधना मे मार्गदर्शन करनेवाला भगवान ही था। मैंने अष्टाग योग और भक्तियोग का परिशीलन और अभ्यास किया। मैंने देखा कि वाचन, चिन्तन और अभ्यास करते-करते आगे का रास्ता अपने-आप मालूम हो जाता है। इसके सिवा, हमारी कल्पना भी न हो, ऐसी रीति से और ऐसे अवसर पर अतर्क्य रूप से सहायता और मार्गदर्शन भी मिल जाता है। मुझे

वहा साधना मे किसी तरह की मुसीबत नही आई। दयाधन भगवान ने कई दिव्य अनुभव भी कराये, जिससे मेरी श्रद्धा वढ गई।

प्रतीति मिलने से विश्वास हुआ कि योगमार्ग या भक्तिमार्ग मे मिलनेवाले जिन अनुभवो के वर्णन साधको ने लिख रखे हैं, वे सब बिल्कुल सच्चे हैं। दोनो मार्ग सच्चे है। केवल बुद्धि पर आधारित तर्क करने से कुछ भी हाथ नही आता। उस-उस मार्ग का शास्त्रोक्त अभ्यास करने से उसके सत्य की प्रतीति होती है। इसलिए इन प्राचीन मार्गों के बारे मे अब कोई कितना ही विरोधी तर्क करे और बुद्धि युक्ति के नाच करके दिखाये, तो भी मेरे मन पर उसका कोई असर होने वाला नही है। क्योकि अब प्रतीति के बाद का ज्ञान मुझे हुआ है। पहिले तो केवल श्रद्धा ही थी।

सितम्बर मे मैं कौसानी गई। पूज्य महात्मा जी ने वर्षों पहिले वही रहकर अनासक्ति-योग लिखा था। कौसानी मे लक्ष्मी-आश्रम नाम की पहाडी कन्याओ की एक सस्था है। वहा मैं तीन हफ्ते तक रही। स्वामी आनन्द से मिली। मेरी साधना का वर्णन सुन लेने के बाद उन्होने कहा—"मुझे लगता है कि आप योग्य मार्ग पर चल रही है, आपकी प्रगति होती दिखाई देती है।" बाद मे शकरराव जी भी ५-६ दिन वहा आकर रह गये। इसके बाद मैं पशुलोक आई। साधना चालू ही रही। अनुभव होते गये। दिसम्बर मे शकरराव जी कुछ मित्रो के साथ वहा आये। मेरा काम ठीक चल रहा था। अब वापस सासवड जाकर रहूँ और वहा एकान्त की अनुकूलता मिले, तो साधना आगे चलाने मे कठिनाई नही होगी, ऐसा विश्वास मन मे पैदा हुआ और ईश्वर की इच्छानुसार ३० जनवरी, १९५६ को मैं वापस सासवड आश्रम मे आ पहुँची।

हिमालय जाते समय मन मे किये हुए अधिकतर सकल्प पूरे हो गये थे। एक ही वाकी था। वह सासवड आश्रम मे पूरा हो, तवतक एकान्त-सेवन और साधना करने का मैंने निर्णय किया था और शकरराव जी तथा दूसरे स्नेहीजनो से कह रखा था। साधना शुरू हुए अब लगभग साढे चार वर्ष हो चुके थे। यहा भी भगवान की कृपा से कुछ प्रसाद मिल गया, फिर भी सकल्प पूरा नही हुआ, इसलिए साधना चालू रहेगी।

हिमालय मे क्या और यहा क्या, निरपवाद एकान्त तो मिलता ही नही। लोगो के साथ थोडा बहुत सम्बन्ध तो रहा ही है। सहज सेवा जितनी हो जाय उतनी करती हूँ। लेकिन किसी तरह की जिम्मेदारी नही लेती। मन मुक्त रहना चाहिए। तभी वह एकाग्रता साधता है। मन को ठिकाने लाना हो तो उसे क्षोभ हो ऐसी परिस्थिति पैदा न होने देने के लिए जागरित रहना पडता है। इसलिए

स्वाभाविक रूप मे ही जन-सम्बन्ध पर अकुश रखना पडता है। दूसरे, मैने यह भी देखा कि साधक के लिए मौन लाभदायी सिद्ध होता है। बकबक करने से या अधिक समय तक बोलने मे चित्त चचल होता है।

व्यर्थ वलगना बहु न करावो। साधक जीवें॥
जरि म्हणशिल योगी व्हावें॥

साधक मनुष्य को व्यर्थ बकबक नही करनी चाहिए, यदि वह योगी होना चाहता हो।

ध्यानयोग, कर्मयोग या भक्तियोग, सभी तरह के योगो मे यह नियम अनिवार्य है।

पशुलोक मे मैं थी तब श्री गुलवणी के साथ मेरा पत्र-व्यवहार चलता ही था। यहाँ आने के बाद कभी-कभी उनसे मिल भी लेती हूँ, यद्यपि अब लगभग ढाई वर्ष हुए, मैं क्षेत्र-सन्यास लेकर यही बैठी हू। दूर सफर मे जाती ही नही, पूना भी कभी-कभी ही जाती हू।

सन् १९५७ मे श्री गुलवणी ७५ वर्ष के हुए तब पूना मे उनका अमृत-महोत्सव ७ दिन तक चला था। तब मुझे मालूम हुआ कि वह महाराष्ट्र मे प्रसिद्ध हैं और उनका शिष्य-परिवार भी बडा है।

इस साधनामय जीवन से मुझे बहुत शान्ति मिली है, फिर भी अमुक वस्तु मिली है, ऐसा नही कहा जा सकता। छोटे बालक से धीरे-धीरे बडा पुरुष होता है, अकुर मे से वृक्ष बनता है, उसी तरह आध्यात्मिक प्रगति वृद्धि पाती है। वह सहज होनी चाहिए। उसका माप, हिसाब या विवरण नही दिया जा सकता। लेकिन अभ्यास और चिन्तन के बाद मैंने यह देख लिया है कि आध्यात्मिक या दिव्य अनुभव प्राप्त करना एक वस्तु है और अपने स्वभाव-दोष सुधारना दूसरी वस्तु है।

सदृश चेष्टते स्वस्या प्रकृते. ज्ञानवानपि।

ज्ञानी मनुष्य भी प्रकृतिवश होता है। योगी अथवा भक्त एक से स्वभाव के नही होते। सब अपनी-अपनी प्रकृति का अनुसरण करते हैं। तपश्चर्या का बहुत बडा सामर्थ्य रखनेवाले ऋषि-मुनि क्रोध, ईर्ष्या आदि विकारो मे मुक्त नही थे, ऐसा हम पढते हैं। इसलिए अपने स्वभाव-दोष बदलने के लिए विशेष तपस्या की ही जरूरत होती है। रावण किसी भी समय भगवान शकर के दर्शन कर सकता था और तपस्या से उसने तीनो लोको का राज्य प्राप्त किया था। फिर भी उसने पर-स्त्री का हरण किया ही, अपने विकारो को वह वश मे नही रख सका। एक और भी कारण है। आत्म-साक्षात्कार इन सब प्रकार की भावनाओ की अन्तिम

परिणति, अन्तिम फल है। उसके विना अस्मिता—देहभावना नही मिटती। और जबतक देहभावना है तब तक भेद अर्थात् रागद्वेष रहता ही है। अभेद अर्थात् 'वासुदेव सर्वमिति' भावना अन्तर मे दृढ होनी चाहिए। तभी मनुष्य परा शान्ति प्राप्त करता है।

इस अवस्था का जीवन मे क्या उपयोग है? कोई व्यक्ति आत्मसाक्षात्कार या जीवन्मुक्ति प्राप्त करे इससे समाज को क्या लाभ? समाज को मुक्ति न मिले, उसका उद्धार न हो, तब तक व्यक्ति का स्वार्थ साधने मे क्या लाभ? उसकी कीमत भी क्या हो सकती है? इस तरह के अनेक प्रश्न उठेंगे। आजकल समाज के लिए व्यक्ति की पुकार चारो ओर मची हुई है और समाजवादी राज्य स्थापित करने के स्वप्न दुनिया के सभी राज्य देख रहे हैं। उद्धार का अर्थ लोग अलग-अलग तरह से करते होगे। आध्यात्मिक दृष्टि से जगत् का उद्धार तो परमेश्वर ही कर सकता है, मनुष्य नही कर सकते। साधक अथवा सेवक नम्र होकर व्यक्तिमात्र मे तो क्या, भूतमात्र मे रहनेवाले ईश्वर को देखकर उसकी पूजा और सेवा ही करता है और उसके द्वारा अपनी चित्तशुद्धि कर लेता है। समाज का उद्धार करनेवाले अवतारी पुरुषो को भगवान भेजता है। यह काम हमारा नही है। हमे तो भगवान की सेवा ही करनी चाहिए। जिस रूप मे भगवान सामने आता है उसी रूप मे उसे पहिचानकर शक्तिभर उसकी सेवा करनी चाहिए। जब हम अपना ही उद्धार नही कर सकते, तब समाज का उद्धार कैसे कर सकेंगे?

आश्रम के बगीचे मे हरी चपा का एक पेड है। बहुत बार उसमे फूल खिलते हैं। उनकी सुगन्ध से हवा महकती रहती है, लेकिन फूल ढढने जाऊँ तो बहुत प्रयत्न करने पर भी वे नही मिलते। मुझे लगता है कि सच्चे सेवक का यही आदर्श है। कोने मे रहकर सुगन्ध फैलने देना चाहिए। किसी की जानकारी मे नही आना चाहिए। भगवान की भक्ति करना चाहिए। ऐसी सेवा करते हुए ईश्वर को उसके हाथ से ज्यादा सेवा लेनी होगी तो वह लेगा, लेकिन वह सहज रूप मे विकास पायेगी। कली मे मे फूल कैसे खिला, इसकी किसी को जानकारी नही होती, सेवक को तो कभी भी नही होती। माँ के पेट से वालक पैदा होता है तभी से माता उसकी सेवा करती है, वह सेवा बालक बढकर वडा पुरुष होता है तब तक चलती है। वह सेवा सहज होती है। उसकी जानकारी किसी को नही होती—न देनेवाले को होती है, न लेनेवाले को होती है और न आस-पास के लोक-समाज को होती है। समाज-सेवा भी इसी तरीके से होनी चाहिए। मनुष्य स्वाभाविक रूप मे ही समाज मे रहना पसन्द करता है। एकाकी रहना उसके लिए [illegible] बात होती है। समाज की सुव्यवस्था का लाभ वह उठाता है, [illegible] स्य।

समाज के लिए धर्म-प्रतिपालन करनेवाले का यह अधिकार था। आज अलग-अलग मतदान-विभागो मे बहुमत प्राप्त करके लोकसभा अथवा विधानसभा मे चुनकर जानेवाले सैकडो सदस्यो की धर्म-प्रतिपादन या कानून-प्रतिपादन-सम्बन्धी योग्यता का समर्थन कौन कर सकेगा ?

कानून धर्म नही है। कानून मे अधर्म प्रवेश कर सकता है। लेकिन मान लीजिए कि प्रजा के कल्याण के लिए ही सारे कानून बनाये जाते हैं। लेकिन जहा रागद्वेष के लिए अनुकूल क्षेत्र हैं (दलीय राजनीति के सम्बन्ध मे), जहा सत्ता ही सर्वोपरि लक्ष्य है, वहा कानून बनानेवाले खुद ही आपस मे झगडा-फसाद करते है, गाली-गलौज करते हैं, चप्पलो का उपयोग करते हैं, मारपीट करते हैं, वहा ऐसे लोग प्रजा के लिए अनुशासन किस तरह बना सकते है ? अगर काजी स्वयं ही अपराध करने लगे तो वह दूसरो का न्याय कैसे करेगा ? कानून की प्रतिष्ठा की रक्षा उसे पुस्तको मे लिखने से नही होती। पूज्य महात्मा जी की एक बार कही हुई बात सोलह आने सच्ची है—"धर्म के बिना राजनीति भयानक है।"

काम और अर्थ इन दो पुरुषार्थों मे काम की अपेक्षा अर्थ अधिक भयावह लगता है। क्योकि आज की दुनिया मे अर्थ का मूल्य सर्वोपरि माना जाता है। युद्ध भी अर्थ के लिए ही होते हैं। काम का अधिक मूल्य होता तो सीता-हरण के कारण हुए राम-रावण युद्ध की पुनरावृत्ति आज भी कई बार हो जाती। पुराने जमाने मे भी ऐसे युद्ध कभी-कभी ही हुए है। इसीलिए महाभारत मे कहा गया है अर्थस्य पुरुषो दास ।

इस विवेचन का अर्थ इतना ही सिद्ध करना है कि सगठित सस्था, जिसमे स्थूल अनुशासन को स्थान है, धर्म अथवा सेवा के लिए सच्ची पथप्रदर्शक नही हो सकती। उपसहार मे भगवान मनु कहते हैं—

अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।
सहस्रशः समेतानां परिषत्वं न विद्यते॥

ब्रह्मचर्यादि व्रत न पालनेवाले, वेदाध्ययनशून्य, केवल जाति पर निर्वाह करनेवाले (हम ब्राह्मण हैं यह कहकर) हजारो मनुष्य इकट्ठे हो, तो भी उनकी परिषद् नही कहलायेगी।

य वदन्ति तमोभूता मूर्खा धर्मम् अतद्विदः।
तत् पाप शतधा भूत्वा तद्वक्तृन् अनुगच्छति॥

तमोगुण से व्याप्त, धर्म को न जाननेवाले मूर्ख लोग यदि धर्म का निर्णय करने लगेंगे, तो पाप करनेवाले का पाप सौगुना बढकर गलत निर्णय देने वालो के सिर पर आ पडेगा।

मेरा अभिप्राय यह नही है कि आज के जमाने मे राजनीति या दूसरे क्षेत्रो मे सज्जन, धर्मनिष्ठ मनुष्य नही है। लेकिन पद्धति मे और दृष्टि मे दोष है, यह प्रमाण-ग्रन्थ के वचन उद्धृत करके मैने बताया है।

अध्यात्म की दृष्टि व्यवहार की दृष्टि से अलग होती है। जीवन मे देह को अग्र स्थान दिया जाय या आत्मा को—यह प्रश्न है। व्यवहार मे देह को अग्रस्थान दिया जाता है। आत्मा की उपेक्षा न हो तो भी उसे गौण स्थान तो मिलता ही है। परिणामस्वरूप सभी प्रयत्न देह का सुख बढाने के लिए होते है। इसका फल है असुख और असन्तोष। अगर आत्मा को अग्रस्थान मिले तो देह की उपेक्षा हो, परन्तु आत्मा की प्राप्ति के लिए देह साधन बन जायगी, और उसकी मर्यादा मे उसे स्थान मिलेगा। इसलिए सारे व्यवहार, योजना, ध्येय धर्म के स्थान पर खडे होगे। अर्थात् मानव-जाति का कल्याण करने की दृष्टि से होगे। जीवन मे सयम, अहिसा, सत्य, श्रम, दानशीलता, निर्भयता आदि दैवी सम्पत्ति का विकास देखने मे आयगा।

सार्वजनिक सेवाकार्य के बारे मे भी यही नियम लागू होता है। जिस सस्था के मार्गदर्शक धर्मबल और तपोबल रखनेवाले दीर्घदर्शी सत्पुरुष होते हैं, उनके द्वारा काम करनेवाले सेवको की नैतिक उन्नति और चरित्रवृद्धि हुए बिना नही रहेगी। इसके विपरीत, जहा विषमता की भावना, सत्ता का अभिमान और रुपये का महत्व होता है, वहा सेवा भौतिक लाभ का साधन बन जाती है। उससे चित्तशुद्धि नही होती, समाज मे मागल्य उत्पन्न नही होता।

सेवा के द्वारा अपना स्वार्थ या ऐहिक लाभ प्राप्त करने का लोभ महापातक माना जाना चाहिए। अपने लाभ के लिए सेवा करनेवाले का जीवन-विकास नही होता। चित्तशुद्धि का अर्थ यह है कि उससे मनुष्य का मन विशाल होता जाता है। मानव-जाति मे उसे भगवान का साक्षात्कार होता है। उसके भीतर भक्ति की उमग उठती है। समय बीतने पर सेवा उसका सहज स्वभाव हो जाता है। चित्त मे क्लेश का मैल कभी भी पैदा नही होता। उस व्यक्ति के सहवास मे आनेवाले सब लोग प्रसन्न-चित्त हो जाते हैं। उसकी छूत लगने से वे भी भक्ति-परायण और श्रद्धालु बन जाते है।

तुज सगे कोई वैष्णव थाए, तो तु वैष्णव साचो,
तारा सगनो रग न लागे, ताहा लगी तु काचो॥[1]

---

१. तेरे सग मे कोई वैष्णव बन जाय तो तू सच्चा वैष्णव है। तेरे सग का किसी को रग न लगे वहा तक तू कच्चा ही है।

ऐसे विचार मन मे आया करते हैं। नवधा भक्ति मे अन्तिम भक्ति आत्मनिवेदन है। समर्थ रामदास स्वामी लिखते है—

मी भक्त ऐसे म्हणावें। आणि विभक्तपणेचि भजावें॥

मै भक्त हूं यह कहना चाहिए और विभक्त होकर ही भगवान को भजना चाहिए। यह आश्चर्यजनक लगता है, लेकिन अनुभव मे समझ मे आता है।

ऐसी उच्च अवस्था तक पहुँचने के बाद सेवा कोई अलग वस्तु नही रहती। लेकिन हमारे जैसे सामान्य मनुष्यो के लिए भूतमात्र मे भगवान को देखकर भक्तिपूर्वक उनकी सेवा करने का आदर्श ही योग्य है। शुभ सकल्पो का दाता भगवान होता ही है। शान्ति का शाश्वत और एकमात्र स्थान भी वही है। पूज्य महात्मा जी ने एक बार मुझसे कहा था, हमे सेवा की योग्यता प्राप्त करनी चाहिए। भगवान मौका देगा ही। उनके इस कथन का पालन मैंने आज तक यथाशक्ति किया है और इसकी सत्यता अनुभव से जान ली है।

आज गाधी-जयन्ती का पुण्य अवसर है। मन उनके अवतार-कार्य का चिन्तन करता है।

महाराष्ट्र मे चार सौ वर्ष पहिले श्री एकनाथ महाराज नामके महात्मा हुए हैं। श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध पर उन्होने महान टीकाग्रन्थ लिखा है। उसे एकनाथी भागवत कहते हैं। महाराष्ट्र मे ज्ञानेश्वरी के बाद इस ग्रन्थ का महत्व माना जाता है। इस ग्रन्थ मे ३१ अध्याय हैं। अन्तिम अध्याय मे भगवान श्रीकृष्ण के निर्वाण का वर्णन है। उसे पढते समय भक्त-हृदय अश्रुमोचन किये बिना रह ही नही सकता, ऐसा हृदयगम वर्णन वह है। साधना-काल मे इस ग्रन्थ का मैंने तीन बार वाचन और चिन्तन किया और हर बार मुझे उसमे नवीनता ही मालूम हुई है। ग्रन्थ के तीसवे अध्याय के उपसहार मे श्री एकनाथ महाराज भगवान श्रीकृष्ण के अवतार कार्य का सार कहते हैं—

अजन्मा तो जन्म मिरवी। विदेहाअगी देहपदवी।
स्वयें अक्षयी तो मरण दावी। अति लाघवी श्रीकृष्ण॥

जो अजन्मा है वह जन्म दिखाता है, जो विदेह है वह देह की उपाधि लगा लेता है, जो स्वय अक्षय है वह मरण दिखाता है। भगवान श्रीकृष्ण बडे नटवर हैं।

एकादशाचा कलस जाण। श्रीकृष्णाचें निजनिर्याण।
जेय नाहीं देहाभिमान। तें ब्रह्म पूर्ण परिपक्व॥

भगवान श्रीकृष्ण के निज निर्वाण को ग्यारहवे स्कन्ध का कलश मानना चाहिए। जिसमे देहाभिमान नही है वह पूर्ण परिपक्व ब्रह्म है।

भय नाहीं जन्म धरिता। भय नाहीं देहीं वर्तता।
भय नाहीं देह त्यागिता। हे ब्रह्मपरिपूर्णता हरि दावी॥

जन्म लेने मे भय नही है। देह मे रहने मे भय नही है। देह का त्याग करने में भय नही है। ऐसी ब्रह्मपरिपूर्णता भगवान श्रीकृष्ण बताते है।

मुझे लगता है कि यह अन्तिम ओवी पूज्य महात्मा जी के अवतार-कार्य का भी दिग्दर्शन करती है।

भय नाहीं जन्म धरिता। भय नाहीं देहीं वर्तता।
भय नाहीं देह त्यागिता। हे ब्रह्मपरिपूर्णता हरि दावी॥

इकतीसवें अध्याय मे भगवान का स्वेच्छा से किया हुआ निर्वाण वर्णित है। मूल सस्कृत श्लोक यह है—

लोकाभिरामा स्वतनू धारणाध्यानमगलाम्।
योगधारणयाग्नेय्या दग्ध्वा धामाविशत्स्वकम्॥

इस श्लोक पर सन्त एकनाथ महाराज की टीका इस प्रकार है—

घृत थिजलें विघुरलें। तैसें सगुण निर्गुणत्वा आलें।
या नाव योगाग्निधारण बोले। कृष्णें देह दाहिलें हे कदा न घडे॥

जैसे जमा हुआ घी पिघलता है वैसे ही सगुण ब्रह्म ने निर्गुणत्व को प्राप्त किया, इसी को योगाग्नि धारण कहा जाता है। कृष्ण ने अपनी देह जला डाली, यह कभी हो ही नही सकता।

कृष्णें देहो नेला ना त्यागिला। तो लीलाविग्रहे सचला।
भक्तध्यानीं प्रतिष्ठिला। स्वयें गेला निजधामा॥

कृष्ण ने देह न तो धारण की, न उसका त्याग किया। वह लीला-देह सब जगह ओतप्रोत हो गई। भक्तो के ध्यान मे उसकी प्रतिष्ठापना करके भगवान स्वय निजधाम को पधारे।

मेरा मन कहता है—३१ जनवरी, १९४८ की शाम को मैं नई दिल्ली मे राजघाट पर थी। पूज्य महात्मा जी के पार्थिव शरीर को वहा चन्दन-काष्ठ की चिता पर जलकर भस्म होते मैंने अपनी आंखो से देखा। उस पवित्र चिताभस्म का थोडा-सा अश इस आश्रम मे एक डिब्बी मे सुरक्षित रख छोडा है। अब पूज्य महात्मा जी विश्वरूप हो गये हैं।

ऐसे विचार मन मे आया करते हैं। नवधा भक्ति मे अन्तिम भक्ति आत्मनिवे-दन है। समर्थ रामदास स्वामी लिखते है—

मी भक्त ऐसे म्हणावें। आणि विभक्तपणेचि भजावें।।

मैं भक्त हू यह कहना चाहिए और विभक्त होकर ही भगवान को भजना चाहिए। यह आश्चर्यजनक लगता है, लेकिन अनुभव मे समझ मे आता है।

ऐसी उच्च अवस्था तक पहुँचने के बाद सेवा कोई अलग वस्तु नही रहती। लेकिन हमारे जैसे सामान्य मनुष्यो के लिए भूतमात्र मे भगवान को देखकर भक्ति-पूर्वक उनकी सेवा करने का आदर्श ही योग्य है। शुभ सकल्पो का दाता भगवान होता ही है। शान्ति का शाश्वत और एकमात्र स्थान भी वही है। पूज्य महात्मा जी ने एक बार मुझसे कहा था, हमे सेवा की योग्यता प्राप्त करनी चाहिए। भगवान मौका देगा ही। उनके इस कथन का पालन मैंने आज तक यथाशक्ति किया है और इसकी सत्यता अनुभव से जान ली है।

आज गाधी-जयन्ती का पुण्य अवसर है। मन उनके अवतार-कार्य का चिन्तन करता है।

महाराष्ट्र मे चार सौ वर्ष पहिले श्री एकनाथ महाराज नामके महात्मा हुए है। श्रीमद्‌भागवत के ग्यारहवे स्कन्ध पर उन्होने महान टीकाग्रन्थ लिखा है। उसे एकनाथी भागवत कहते हैं। महाराष्ट्र मे ज्ञानेश्वरी के बाद इस ग्रन्थ का महत्व माना जाना है। इस ग्रन्थ मे ३१ अध्याय हैं। अन्तिम अध्याय मे भगवान श्रीकृष्ण के निर्वाण का वर्णन है। उसे पढते समय भक्त-हृदय अश्रुमोचन किये बिना रह ही नही सकता, ऐसा हृदयगम वर्णन वह है। साधना-काल मे इस ग्रन्थ का मैंने तीन बार वाचन और चिन्तन किया और हर बार मुझे उसमे नवीनता ही मालूम हुई है। ग्रन्थ के तीसवे अध्याय के उपसहार मे श्री एकनाथ महाराज भगवान श्रीकृष्ण के अवतार कार्य का सार कहते हैं—

अजन्मा तो जन्म मिरवी। विदेहाअंगी देहपदवी।
स्वयें अक्षयो तो मरण दावी। अति लाघवी श्रीकृष्ण।।

जो अजन्मा है वह जन्म दिखाता है, जो विदेह है वह देह की उपाधि लगा लेता है, जो स्वय अक्षय है वह मरण दिखाता है। भगवान श्रीकृष्ण वडे नटवर है।

एकादशाचा कलस जाण। श्रीकृष्णाचें निजनिर्वाण।
जेय नाहीं देहाभिमान। तें ब्रह्म पूर्ण परिपक्व।।

भगवान श्रीकृष्ण के निज निर्वाण को ग्यारहवे स्कन्ध का कलश मानना चाहिए। जिसमे देहाभिमान नही है वह पूर्ण परिपक्व ब्रह्म है।

भय नाहीं जन्म धरिता। भय नाहीं देहीं वर्तता।
भय नाहीं देह त्यागिता। हे ब्रह्मपरिपूर्णता हरि दावी॥

जन्म लेने मे भय नही है। देह मे रहने मे भय नही है। देह का त्याग करने में भय नही है। ऐमी ब्रह्मपरिपूर्णता भगवान श्रीकृष्ण बताते हैं।

मुझे लगता है कि यह अन्तिम ओवी पूज्य महात्मा जी के अवतार-कार्य का भी दिग्दर्शन करती है।

भय नाहीं जन्म धरिता। भय नाहीं देहीं वर्तता।
भय नाहीं देह त्यागिता। हे ब्रह्मपरिपूर्णता हरि दावी॥

इकतीमवें अध्याय मे भगवान का स्वेच्छा से किया हुआ निर्वाण वर्णित है। मूल सस्कृत श्लोक यह है—

लोकाभिरामा स्वतनू धारणाध्यानमगलाम्।
योगधारणयाग्नेय्या दग्ध्वा धामाविशत्स्वकम्॥

इस श्लोक पर सन्त एकनाथ महाराज की टीका इस प्रकार है—

घृत थिजलें विघुरलें। तैसें सगुण निर्गुणत्वा आलें।
या नाव योगाग्निधारण बोले। कृष्णें देह दाहिलें हें कदा न घडे॥

जैसे जमा हुआ घी पिघलता है वैसे ही मगुण ब्रह्म ने निर्गुणत्व को प्राप्त किया, इमी को योगाग्नि धारण कहा जाता है। कृष्ण ने अपनी देह जला डाली, यह कभी हो ही नही सकता।

कृष्णें देहो नेला ना त्यागिला। तो लीलाविग्रहे सचला।
भक्तध्यानीं प्रतिष्ठिला। स्वयें गेला निजधामा॥

कृष्ण ने देह न तो धारण की, न उसका त्याग किया। वह लीला-देह सब जगह ओतप्रोत हो गई। भक्तो के ध्यान मे उमकी प्रतिष्ठापना करके भगवान स्वय निजधाम को पधारे।

मेरा मन कहता है—३१ जनवरी, १९४८ की शाम को मैं नई दिल्ली मे राजघाट पर थी। पूज्य महात्मा जी के पार्थिव शरीर को वहा चन्दन-काष्ठ की चिता पर जलकर भस्म होते मैंने अपनी आँखो से देखा। उस पवित्र चिताभस्म का थोडा-सा अश इस आश्रम मे एक डिब्बी मे सुरक्षित रख छोडा है। अब पूज्य महात्मा जी विश्वरूप हो गये हैं।

वहा हृदय के एक छोटे मे कोने मे मृदु निनाद गुजन करता है, —'नही, नही, पूज्य महात्मा जी की सगुण विभूति भी अक्षय है, अमर है।'

लेखन मे खण्ड हुआ। परन्तु जीवन-प्रवाह अखण्ड है।

मेरे इस साधना-काल मे बाहर की सारी प्रवृत्तिया मैंने छोड दी है। लेखन-प्रवृत्ति भी वन्द ही थी। एकाग्रता मे विक्षेप डालनेवाला कोई भी काम करने की मेरी इच्छा नही होती थी। लेकिन इस लेखन का निमित्त मेरा हाथ हुआ है, फिर भी प्रेरणा उसकी है। उसकी इच्छानुसार सव हो गया है। एकाग्रता भी वही है; विक्षेप भी वही है। उसे ढककर रखनेवाली उसी की शक्ति माया है। वह प्रकट होती है, तब वही शक्ति उसकी लीला बन जाती है।

सत श्री तुकाराम महाराज ने पवित्र वचन से इसकी समाप्ति करती हूँ—

आपुलिया बले नाहीं मी बोलत।
सखा भगवंत वाचा त्याची॥१॥
सालुकी मजूल बोलत से वाणी।
शिकविता धणी वेगळाची॥२॥
काय म्यां पामरें बोलावीं उत्तरें।
परि त्या विश्वभरें बोलविलें॥३॥
तुका म्हणे त्याची कोण जाणे कला।
चालवी पागला पायाविण॥४॥

"मैं अपनी शक्ति के बल पर नही बोलता। भगवान मेरा सखा है, उसकी यह वाचा है। मैना मजुल वाणी बोलती है, उसे सिखानेवाला स्वामी कोई और ही है। मैं पामर क्या वचन बोलू? लेकिन उस विश्वभर भगवान ने मुझे बोलने को प्रेरित किया। तुकाराम कहता है, उसकी कला को कौन जान सकता है? वह लगडो को बिना पैरो से चलाता है।"

ॐ तत्सत ब्रह्मार्पणमस्तु।
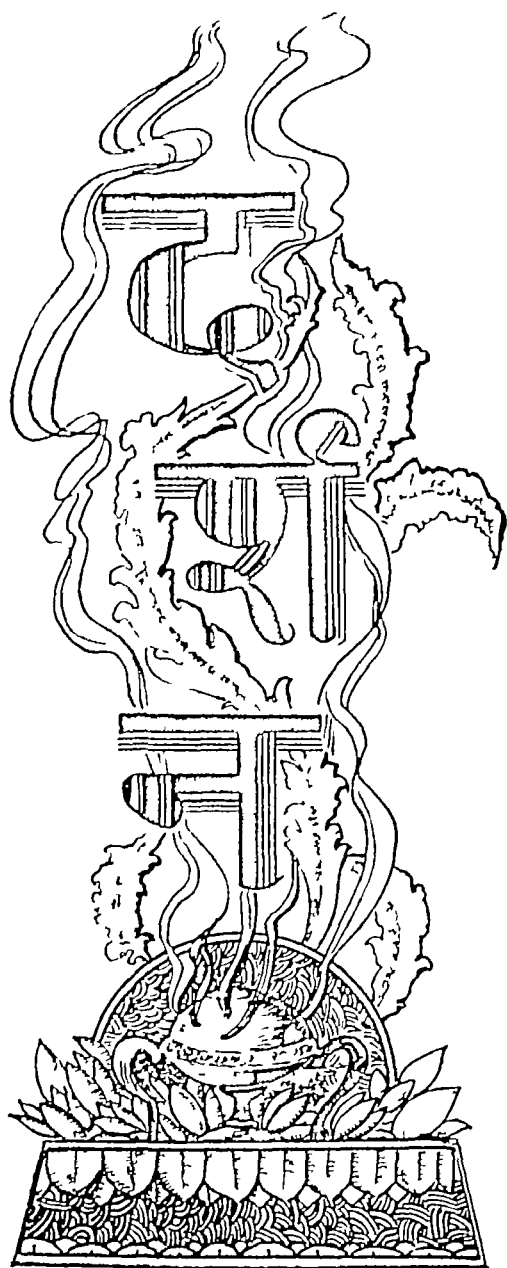
१. ईश्वर का अस्तित्व

वर्तमान से परे जीवन और ईश्वर की सत्ता है। केवल वही वस्तु पाने और विकसित करने योग्य है जिससे हम अपने सृजनकर्ता को पहिचान सकें और अनुभव करें कि हम पृथिवी पर थोडे समय रहने के लिए ही आये हैं।

—इं० ओ०, २०।८।१९०३। 'दुर्घटना' शीर्षक लेख से]

२. दुःखानुभूति

दु ख केवल तभी तक होता है जबतक शरीर के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। जीव जब शरीर के साथ पूरा सम्बन्ध अनुभव करने लगा तभी मुझको दु ख का भान हुआ।

—गुजराती से। इं० ओ०, २२।२।१९०८]

३. आत्मा

आत्मा मरती नही। मारती नही और न किसी को मरवाती है।—मैं तो आत्मा का ही खयाल रखूगा अर्थात् आत्म-बोध प्राप्त करने की भरसक कोशिश करूगा। ऐसा करने मे शरीर का त्याग कर सकने की शक्ति तो हममे आनी ही चाहिए।

—श्री खुशालचन्द गाधी को लिखे पत्र से। जोहानिसबर्ग २६।७।१९०८]

४. साधना-धर्म

जिसने आत्मा को पूरी तरह पहिचाना है, उसका अनुभव किया है उसके सिर पर छप्पर केवल आकाश का है, वह जगल मे रहता हुआ साप और बिच्छू को भी मित्र के समान समझता है। हम जो इस स्थिति तक नही पहुँचते है, सर्दी-गर्मी आदि से डर कर घरो मे रहते है और इसलिए वहा भय उत्पन्न हो जाने

पर उन्हे भी छोड देते है। फिर भी मन मे ऐसी आशा बनाये रखनी चाहिए कि हमे जल्दी-से-जल्दी आत्मा के दर्शन हो । कम-से-कम मैं तो इसी तरह सोचता हूँ।

—श्री नारायणदास गांधी को लिखे पत्र से। ताल्सताय फार्म, माघ सुदी १०। ८।२।१९११। सं० गां० वा०, खण्ड १०, पृष्ठ ४३६]

५. आत्मा का अस्तित्व और मोक्ष

ईश्वर परम-आत्मा हैं। आत्मा का भी अस्तित्व है और उसका मोक्ष भी सम्भव है। पाप और पुण्य होते हैं। मोक्ष इहलोक मे भी सम्भव है। इस सबकी प्रतीति हो जाने पर हमे खोज करते ही जाना चाहिए। यह मानने का रचमात्र भी कारण नही है कि जो कुछ चला जाता है वह परम्परागत होने से ठीक है या कोई काम मात्र इसलिए उचित है कि हमारे पूर्वज उसे करते रहे हैं। यह दृष्टि-कोण आत्मा की स्वतन्त्रता की कल्पना के विरुद्ध है।

—एक पत्रांश। ताल्सताय फार्म, लाली स्टेशन, ट्रांसवाल। २७।११।१९११ के बाद। सं० गां० वां०, खण्ड ११, पृष्ठ १८५]

६. आत्मा के गुण

[श्री मणिलाल गांधी को लिखे पत्र से]

आत्मा के गुण (सर्वत्र) एक से हैं। जिन आवरणो ने आत्मा को ढक रखा है, उनको हटाने पर तुम अपनी शक्ति स्वयं ही देख सकोगे। उसकी कुजी यम-नियम है।

—१८।१।१९१३ से पहिले। सं० गां० वां०, खण्ड ११, पृष्ठ ४३३]

७. त्रिगुणात्मिका सृष्टि

[श्री मणिलाल गाधी को लिखे गये पत्र से]

तमोगुण के सिवा रजोगुण और सतोगुण है। तमोगुण की प्रधानता होने से मनुष्य अन्धा, अज्ञानी और आलसी बना रहता है। रजोगुण उसे अविचारी, साहसी और सासारिक बातो मे उत्साहपूर्ण बनाता है। युरोप के लोगो मे रजो-गुण की प्रधानता है। हमारी भी अधिकाश प्रवृत्तिया रजोगुण-प्रधान हैं। सत्व

गुणवाला व्यक्ति शान्त, स्थिरबुद्धि और विचारवान होता है। वह सासारिक प्रपच मे नही पडता और अपना मन हमेशा ईश्वर की ओर उन्मुख रखता है। उस सात्त्विक वृत्ति को (अग्रेजी मे) 'सूद फास्टनेस' कहा गया है सो ठीक है। 'सूद-फास्ट' यानी शान्त, नेस प्रत्यय जोडने से इस शब्द की सज्ञा बन गई और अर्थ हो गया शान्ति। वृत्तिया शान्त होने पर ही आत्मदर्शन सम्भव होता है। जिस वृत्ति से आत्म-दर्शन सम्भव होता है, वह है सात्विकी वृत्ति। परमात्मा अपने त्रिगुणातीत रूप मे तो भली या बुरी कोई प्रवृत्ति नही करता। किन्तु माया चैतन्य रूप मे है। परमात्मा तो तीनो गुणो से अतीत है। किन्तु वह अर्जुन को ज्ञान देने की प्रवृत्ति का आचरण करता है। उस समय उसकी इस प्रवृत्ति के मूल मे सात्विक वृत्ति होती है। और चूकि प्रवृत्ति मात्र उपाधि है इसलिए उसके इस रूप को सत्वगुण की उपाधि वाला रूप कहा गया है।

—डर्बन, बुधवार, १७।९।१९१३। गुजराती। जीवननु परोढ। स० गा० वा०, खण्ड १२, पृष्ठ १८२]

- हमारी अधिकाश प्रवृत्तिया रजोगुण-प्रधान हैं।
- वृत्तिया शान्त होने पर ही आत्मदर्शन सम्भव होता है।

८. मृत्यु-भय

[श्री रावजी भाई पटेल को लिखे पत्र से]

आत्मतत्व की पहिचानने वाले लोग मौत मे नही घबराते।

—केप टाउन, फाल्गुन सुदी ४, सवत् १९७०। १।३।१९१४। गुजराती] 'जीवननु परोढ'। स० गा० वा०, खण्ड १२, पृष्ठ ३६०]

९. मोक्ष

सक्षेप मे कहे तो मोक्ष ही साध्य है।

—चैत सुदी १२, २८।३।१९१५। स० गा० वा०, खण्ड १३, पृष्ठ ४६]

१०. आत्मा का रसायन

मेरा सिद्धान्त है कि शरीर का जितना ही दमन किया जाता है, आत्मा का बल उतना ही बढता है।

—चरखा द्वादशी, अनशन अष्टमी। न० जी०। हि० न० जी०, २८।९। १९२४]

११. भ्रमात्मक वस्तुएं

शरीर यदि मोक्ष मे बाधक हो तो वह भ्रमात्मक है। इसी प्रकार आत्मा की गति को जितनी चीज़ें रोकती है, वे भ्रमात्मक हैं।

—न० जी०। हि० न० जी०, २।११।१९२४।]

१२. ईश्वर का स्वरूप

मेरी दृष्टि मे ईश्वर सत्य और प्रेम है, ईश्वर नीति और सदाचार है, ईश्वर अभय है। ईश्वर प्रकाश और जीवन का स्रोत है, फिर भी वह इन सबसे ऊपर और परे है। ईश्वर विवेक-शक्ति है। वह नास्तिक की नास्तिकता भी है, क्योकि अपने निःसीम प्रेम के कारण वह नास्तिक को भी जीने देता है। वह हमारे हृदयो को खोजने और टटोलने वाला है। वह वाणी है और बुद्धि से परे है। वह हमे और हमारे हृदयो को खुद हमसे भी अधिक जानता है। वह जो-कुछ हम कहते हैं उसी को नही मान लेता, क्योकि उसे मालूम है कि हममे से कुछ जान-बूझ कर और दूसरे अनजाने अकसर जो कहते हैं वही हमारा आशय नही होता। जिन्हे ईश्वर के साकार रूप की जरूरत है, उनके लिए वह साकाररूप है। जिन्हे उसके स्पर्श की आवश्यकता है, उनके लिए वह साकार है। वह शुद्धतम सारतत्त्व है। जिनमे श्रद्धा है उनके लिए ही वह सत्-स्वरूप है। वह सब मनुष्यो के लिए प्रत्येक की भावना के अनुसार सब-कुछ है। वह हमारे भीतर है और फिर भी हमसे ऊपर और परे है। स्वय ईश्वर को निकाल देने की शक्ति किसी मे नही है। ईश्वर के नाम पर कहना और शपथपूर्वक कहना, इन दोनो मे क्या अन्तर है? और जिसे सदसद्विवेक की सहज शक्ति कहा जाता है, वह सरल तीन अक्षरो के समूह ईश्वर शब्द का ही खीच-तानकर किया गया अपूर्ण अर्थ है। अगर उसके नाम पर बीभत्स दुराचार या अमानुषिक अत्याचार किये जाते हैं, तो इससे ईश्वर का अस्तित्व मिट नही सकता। वह बडा सहनशील है। वह धैर्यवान है। परन्तु भयकर भी है। वह इहलोक मे और परलोक मे सबसे कठोर शक्ति है। वह हमारे साथ वैसा ही बरताव करता है, जैसा हम अपने पडोसियो के साथ—मनुष्य और पशुओ के साथ करते है। उसके सामने अज्ञान का बहाना नही चल सकता। पर साथ ही वह क्षमाशील भी है, क्योकि वह हमे पश्चात्ताप का हमेशा अवसर देता है। वह ससार का सबसे बडा लोकतन्त्रवादी है, क्योकि उसने हमे बुराई और अच्छाई के बीच अपना चुनाव खुद कर लेने की पूरी छूट दे रखी है। वह दुनिया का क्रूर-से-क्रूर

स्वामी है, क्योकि वह कई बार हमारे मुंह तक आये हुए कौर को छीन लेता है, और इच्छा-स्वातन्त्र्य की आड मे हमे इतनी अपर्याप्त छूट देता है कि हमसे कुछ करते-धरते नही बनता, और हमारी इस परेशानी से वह अपने लिए केवल विनोद की सामग्री ही जुटाता है। इसलिए हिन्दू-धर्म इसे उसकी लीला या माया कहता है, हम मिथ्या है, एक वही सत्य है और अगर हम चाहते है कि हमारा अस्तित्व रहे तो हमे सदा उसके गुणगान करने होगे और उसकी इच्छा पर चलना होगा। हम उसकी वशी की तान पर नाचते रहे तो हमारा कल्याण ही कल्याण है।

—य० इ०, ५।३।१९२५]

- ईश्वर सत्य और प्रेम है, ईश्वर नीति और सदाचार है। ईश्वर अभय है।
- ईश्वर प्रकाश और जीवन का स्रोत है।
- ईश्वर विवेक-शक्ति है।
- वह (ईश्वर) धैर्यवान है, परन्तु भयकर भी है।
- वह (ईश्वर) इहलोक मे और परलोक मे भी सबसे कठोर शक्ति है।
- वह (ईश्वर) सबसे बडा लोकतन्त्रवादी है।

१३. अपरिवर्तित नियम

ईश्वर ने अपने नियमो मे सशोधन करने का स्वय अपने हाथ मे भी कोई अधिकार नही रखा है और न उसे ऐसा कोई सशोधन करने की जरूरत है। वह सर्वशक्तिमान है और सर्वज्ञ है। वह एक ही समय मे और बिना किसी प्रयास के भूत, वर्तमान और भविष्य तीनो को जानता है। इसलिए किसी भी विषय में पुनर्विचार, सशोधन, परिवर्तन या सुधार करने का उसके लिए प्रश्न ही नहीं उठता।

—य० इ०, २५।११।१९२६]

१४. जन्म-मरण

हम तो रोज पढते हैं कि जन्म-मरण दोनो एक ही चीज के दो पहलू हैं। जो जन्म लेता है वह मरता है, जो मरता वह जन्म लेता है। इस कोल्हू मे से कोई-कोई निकल जरूर जाते हैं। मगर जो निकलते हैं और जो नही निकलते, उन दोनो के जन्म-मरण से हर्ष-शोक होने का कारण बिल्कुल नही है।

—कराची, ४।२।१९२९। 'बापू के पत्र : आश्रम की बहिनो को', पृष्ठ ७०, न० जी० प्र० म०]

१५. सच्चा हिमालय

सच्चा हिमालय हमारे हृदय मे है। इस हृदयरूपी गुफा मे छिपकर उसमें शिवदर्शन करना ही सच्ची यात्रा है; यही सच्चा पुरुषार्थ है।

—न० जी०। हि० न० जी०, १८।७।१९२९]

१६. आत्मा

देह मरती है, आत्मा नही मरती। देह तो जन्म से ही नाशवान है; देह मे जसे जवानी और बुढापा आता है वैसे ही उसका नाश भी होता है। देह का नाश होने पर भी देही का नाश कभी नही होता। देह का जन्म है, आत्मा का जन्म नही है। वह तो अजन्मा है। उमे (उसमे) घट-बढ नही है। वह तो सदैव था, आज है और आगे भी रहने वाला है।

—सोमप्रभात, १७।११।१९३०। 'गीता-बोध', पृष्ठ ९-१०, स० सा० मं०, दसवां संस्करण १९५४]

१७. स्थितप्रज्ञ

जिस मनुष्य ने अपनी कामना-मात्र का त्याग किया है और जो अपने अन्तर मे से ही सन्तोष प्राप्त करता है, वह स्थिरचित्त, स्थितप्रज्ञ, स्थिर-बुद्धि या समाधि-स्थ कहलाता है। ऐसा मनुष्य न दु ख से दु खी होता है, न सुख से फूल उठता है।...

—सोम प्रभात, १७।११।१९३०। 'गीता-बोध', पृष्ठ, १२। स० सा० मं०, संस्करण १९५४]

१८. प्रिय जनों पर आसक्ति

[सुश्री मीराबहिन को लिखे पत्र से]

अपने प्रियजनो को अधिक-से-अधिक समय तक भौतिक शरीर में देखने की इच्छा स्वार्थपूर्ण इच्छा है और वह कमजोरी से या शरीर के नष्ट हो जाने के बाद आत्मा के अस्तित्व पर श्रद्धा न होने से पैदा होती है। रूप सदा बदलता रहता है, सदा नष्ट होता रहता है, उसके अन्दर रहने वाली आत्मा न कभी बद-लती है, न नष्ट होती है। सच्चा प्रेम वह है जो शरीर के वजाय उमके अन्दर

रहनेवाली आत्मा के प्रति रखा जाय और जो यह जरूरी तौर पर अनुभव करे कि असख्य शरीरो मे रहनेवाली जीवात्माए एक ही हैं।

—बोरसद, ६।७।१९३१। बापू के पत्र मीरा के नाम, पृष्ठ १२८, न० जी० प्र० म०]

१९. कालरूप ईश्वर

सर्वार्पण बिना और सर्वव्यापक प्रेम के बिना भक्ति नही है। ईश्वर के कालरूप का मनन करने से और उसके मुख मे सृष्टि मात्र को समा जाना है—प्रतिक्षण काल का यह काम चलता ही रहता है—इसका भान हो जाने से सर्वार्पण और जीव मात्र के साथ ऐक्य अनायास हो जाता है। चाहे-अनचाहे इस मुख मे हम अकल्पित क्षण पडने वाले है। वहा छोटे-बडे का, नीच-ऊच का स्त्री-पुरुष का, मनुष्य-मनुष्येतर का भेद नही रहता। कालेश्वर के एक कौर है—यह जान करहम क्यो दीन शून्यवत् न बने, क्यो सबके साथ मैत्री न करें ? ऐसा करने वाले को यह काल-स्वरूप भयकर नही, बल्कि शान्तिस्थल लगेगा।

—सोमप्रभात, १२।१।१९३१। 'गीता-बोध', पृष्ठ ६२, स० सा० म०, दसवा सस्करण १९५४]

२०. ब्रह्म

जब कुछ नही था तब भी वह परब्रह्म तो था। वह सत् नही है और असत् भी नही है। उससे भी परे है। अन्य सृष्टि मे उसे सत् कह सकते है, क्योकि वह नित्य है। तथापि उसकी नित्यता को भी मनुष्य नही पहिचान सकता, इसलिए उसे सत् से भी परे कहा, उससे कुछ भी सूना नही है। उसे हजारो हाथ-पांवो वाला कह सकते हैं और इस प्रकार उसके हाथ-पैर आदि हैं—यह जान पडते हुए भी वह इन्द्रिय-रहित है, उसे इन्द्रियो की आवश्यकता नही है, उनसे वह अलिप्त है। इन्द्रिया तो आज है और कल नही हैं। पर ब्रह्म तो नित्य है ही। और यद्यपि वह सबमे व्याप्त है और सबको धारण किये हुए है, इसलिए। गुणो का भोक्ता कहा जा सकता है, तथापि जो उसे नही पहिचानते, उनके हिसाब से तो वह बाहर ही है। प्राणियो के अन्दर तो वह है ही क्योकि सर्वव्यापक है। वैसे ही वह गति करता है और स्थिर भी है। सूक्ष्म है, इसलिए वह ऐसा भी है कि न जान पडे। दूर भी है और नजदीक भी है। नाम-रूप का नाश है तथापि वह तो है ही। इस

प्रकार अविभक्त है, पर असख्य प्राणियो मे है यह भी कहते है, इसलिए वह विभक्त रूप से भासित होता है। वह उत्पन्न करता है, पालता है और वही मारता है, तेजो का तेज है; अन्धकार से परे है, ज्ञान का किनारा उसमे आ गया है। इन सब मे मौजूद परब्रह्म ही जानने योग्य अर्थात् ज्ञेय है। ज्ञान मात्र की प्राप्ति उसकी प्राप्ति के लिए ही है।

—सोमप्रभात, २६।१।१९३२। 'गीता-बोध', पृष्ठ ६९, दसवां संस्करण १९५४]

२१. आत्मा

जो आत्मा के गुण जानता है, वह तो उसे अक्षरश मान सकता है। अगर आत्मा मरती नही, तो फिर उसके घर या कपडे भले ही फटा करें, सडा करें, जला करें, उससे क्या बिगडता है? फिर, आत्मा तो सदा ही पूर्ण है, इसलिए उसे नये घर-बार की कमी नही है। समझे तो उसे इनकी जरूरत ही नही है। लेकिन यह सब अपने लिए है—आत्मा के लिए अपना क्या और पराया क्या?

— ३०।१।१९३२। 'बापू के पत्र : कुमारी प्रेमा बहिन कंटक के नाम,' पृष्ठ ६३, न० जी० प्र० म०]

२२. जगत् : एक ऊर्ध्वमूल वृक्ष

इस ससार को दो तरह से देखा जा सकता है—एक इस तरह जिसकी जड ऊपर है, जिसकी शाखा नीचे है और जिसके वेद-रूपी पत्ते हैं। ऐसे पीपल के रूप मे जो ससार को देखता है वह वेद जानने वाला ज्ञानी है। दूसरी रीति यह है—ससार रूपी वृक्ष की शाखाए ऊपर-नीचे फैली हुई हैं। उसके तीन गुणो से बढे हुए विषय-रूपी अकुर हैं और वे विषय जीव को मनुष्य लोक मे कर्म के बन्धन मे डालते हैं। इस वृक्ष का स्वरूप नही जाना जा सकता, उसका आरम्भ नही है, न अन्त है, न कोई ठिकाना।

वह दूसरे प्रकार का ससार-वृक्ष है। उसने यद्यपि जड गहरी पकडी है, तथापि उसे असहकाररूपी शस्त्र से काटना चाहिए कि जिससे आत्मा को वह लोक प्राप्त हो सके, जहा से उसे वापस चक्कर न करना पडे। ऐसा करने के लिए वह निरन्तर आदि पुरुष को भजे जिसकी माया मे यह पुरानी प्रवृत्ति पसरी हुई है। जिन्होने मान-मोह को छोड दिया है, जिन्होंने सग-दोष को जीत लिया है,

जो आत्मा मे लीन है, जो विषयो मे अलग हो गये है, जिन्हे सुख-दुःख समान है, वे ज्ञानी उस अव्यय पद को पाते हैं।

—रात को, ३१।१।१९३२। 'गीता-बोध', पृष्ठ ७३, स० सा० म०, दसवा सस्करण १९५४]

२३. ईश्वर का अस्तित्व

[श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार की शकाओ के उत्तर मे लिखे गये पत्र से]

१ २ ईश्वर को मानना चाहिए, क्योकि हम अपने को मानते है। जीव की हस्ती है तो जीवमात्र का समुदाय ईश्वर है, यही मेरी दृष्टि मे प्रबल प्रमाण है।

३ ईश्वर को नही मानने मे सबसे बडी हानि वही है, जो हानि अपने को नही मानने से हो सकती है। अर्थात् ईश्वर को न मानना आत्महत्या-जैसा है। बात यह है कि ईश्वर को मानना एक वस्तु है और ईश्वर को हृदयगत करना और उसके अनुकूल आचार रखना दूसरी वस्तु है। सचमुच इस जगत् मे कोई नास्तिक नही है। नास्तिकता आडम्बर मात्र है।

४ ईश्वर का साक्षात्कार रागद्वेषादि से सर्वथा मुक्त होने पर ही हो सकता है, अन्यथा कभी नही। जो मनुष्य ऐसा कहता है कि मुझे साक्षात्कार हुआ है, उसे साक्षात्कार नही हुआ, ऐसा मेरा मत है। यह वस्तु अनुभवगम्य है, परन्तु अनिर्वचनीय है, इसमे मुझे कोई सन्देह नही है।

५ ईश्वर मे विश्वास रखने से ही मैं जिन्दा रह सकता हूँ। ईश्वर की मेरी व्याख्या याद रखनी चाहिए। मेरे समक्ष सत्य से भिन्न ऐसा कोई ईश्वर नही है। सत्य ही ईश्वर है।

—८।४।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ ८१]

- जीवमात्र का समुदाय ईश्वर है।
- ईश्वर को न मानना आत्महत्या-जैसा है।
- नास्तिकता आडम्बर-मात्र है।
- यह वस्तु (ईश्वर-साक्षात्कार) अनुभवगम्य है, परन्तु अनिर्वचनीय है।
- सत्य ही ईश्वर है।

२४. ईश्वर-दर्शन

[सुश्री ताराबाई वाजपेयी को लिखे गये पत्र से]

ईश्वर के दर्शन आँख से नही होते। ईश्वर का शरीर नही है, इसलिए उसके दर्शन श्रद्धा से ही होते है। हमारे दिल मे जब किसी भी तरह के विकारी विचार

नही हो, किसी भी प्रकार का भय न रहे, और नित्य प्रसन्नता रहे, तब यह जाहिर होता है कि हृदय मे भगवान निवास करते हैं। वे तो सदा वहा है ही, मगर हम उन्हे नही देखते क्योकि हममे श्रद्धा नही है। और इसलिए कई तरह के सकट उठाते है। सच्ची श्रद्धा हो जाने पर बाहर से लगनेवाले सकट भी ऐसी श्रद्धावाले को सकट नही लगते।

—१७।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ १५५]

- ईश्वर के दर्शन आँख से नहीं होते,—उसके दर्शन श्रद्धा से ही होते हैं।

२५. आत्मार्पण का आदर्श

[श्री दत्तात्रेय वासुदेव परचुरे को लिखे गये पत्र से]

जिसको असाध्य रोग है, जो दूसरो की सेवा लेकर ही जीता है और जो कुछ भी सेवा नही करता उसे प्राण-त्याग का अधिकार है। डूब कर मरने से पूर्ण अनशन करके प्राणत्याग करना बहुत ज्यादा अच्छा प्रतीत होता है। अनशन मे मनुष्य की दृढता की परीक्षा होती है और अपना विचार बदलने को भी स्थान रहता है; रखना उचित और आवश्यक लगता है। परन्तु जहा तक मनुष्य कुछ भी सेवा कर सकता है, वहा तक उसे प्राणत्याग करना अनुचित है। यद्यपि यज्ञ मे शारीरिक क्रिया एक बडा और आवश्यक अग है, तथापि अशक्ति के कारण शरीर से कुछ भी न बन पडे तो मानसिक यज्ञ सर्वथा निरर्थक नही है। मनुष्य अपने शुद्ध विचार से भी सेवा कर सकता है, सलाह इत्यादि से भी कर सकता है। विशुद्ध चित्त के विचार ही कार्य हैं और महत् परिणाम पैदा करते हैं।

—३।६।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ १९४-१९५]

- जो कुछ भी सेवा नहीं करता उसे प्राण-त्याग का अधिकार है।
- अनशन से मनुष्य की दृढता की परीक्षा होती है।
- मानसिक यज्ञ सर्वथा निरर्थक नहीं है।
- मनुष्य अपने शुद्ध विचार से भी सेवा कर सकता है।
- विशुद्ध चित्त के विचार ही कार्य हैं और महत् परिणाम पैदा करते हैं।

२६. जीवन : मृत्यु की तैयारी

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

सर जेम्स जीस की पुस्तक मे एक भव्य वाक्य है—"जीवन मौत की तरफ प्रगति है।" दूसरा पाठ यह हो सकता है कि जीवन मृत्यु की तैयारी है। मगर कौन

जाने क्यो हम इस अनिवार्य और भव्य अवसर का विचार करते समय कांप उठते हैं। हमारे पिछले जीवन ने ज्यादा अच्छे जीवन की तैयारी के रूप मे भी यह अवसर शानदार है। और जो ईश्वर का डर रख कर चलने की कोशिश करता है, उसके लिए तो वह सदा अच्छे जीवन की तैयारी ही होती है।

—१६।६।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ २१९]

● जीवन मृत्यु की तैयारी है।

२७. आध्यात्मिक प्रश्नोत्तर

[पत्र-द्वारा पूछे गये प्रश्नो का लिखित उत्तर]

प्रश्न —बंधा हुआ कौन ?

उत्तर—जो 'मैं' को मानता है।

प्रश्न —मुक्ति का क्या अर्थ है ?

उत्तर—राग-द्वेष वगैरह से छूटना।

प्रश्न —नरक क्या है ?

उत्तर—असत्य।

प्रश्न —मुक्त दशा कौन-सी है ?

उत्तर—राग-द्वेष वगैरह का सदा अभाव।

प्रश्न —नरक का मुख्य द्वार ?

उत्तर—असत्य आचरण।

—३।७।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ २६६-२६७]

२८. विश्वरूप-दर्शन

[श्री वेदमूर्ति सातवलेकर को लिखे पत्र से]

सारे जगत् को जो मनुष्य वासुदेव-स्वरूप मानेगा, वह विश्वरूप का दर्शन अवश्य करेगा। परन्तु रूप अपनी कल्पना की ही मूर्ति होगा। ईसाई जगत् को ईश्वर-रूप मानता हुआ अपनी कल्पना के अनुकूल मूर्ति देखेगा। जो जैसे भजता है वैसे ईश्वर को देखता है। हिन्दू सभ्यता मे जो पैदा हुआ है और उसी की शिक्षा जिसने पाई है, वह ग्यारहवा अध्याय[1] पढते हुए थकेगा नही, और उसमे

---

१. गीता का ग्यारहवा—विश्वरूप-दर्शन अध्याय।

अगर भक्ति की मात्रा होगी तो उस अध्याय मे जैसा वर्णन है वैसा ही विराट रूप-दर्शन करेगा। परन्तु ऐसी कोई मूर्ति जगत् मे उसकी कल्पना के बाहर नही है। ब्रह्म, आत्मा, वासुदेव—जो कुछ भी विशेषण हम उस शक्ति के लिए इस्तेमाल करे, निराकार ही है। भक्त के लिए वह आकाररूप बनता है। यह उस शक्ति की माया है, यही काव्य है। डाकू मे भी हमको वासुदेव का रूप देखना होगा। और हमारे अन्दर वह शक्ति आजायगी तो डाकू डाकूपन छोड देगा। और जबतक हमारे अन्दर यह शक्ति नही आती, तबतक हमारा सब अभ्यास और सब ज्ञान निरर्थक ही है।

—१९।७।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ ३११-३१२]

- जो जैसा भजता है वैसे ईश्वर को देखता है।
- डाकू में भी हमको वासुदेव का रूप देखना होगा।

२९. आत्मा का ज्ञान

[एक पत्रांश]

आत्मा को जानने का अर्थ है शरीर को भूल जाना यानी शून्य बन जाना। जो शून्य बन गया है, उसने आत्मा को पहिचान लिया है।

—७।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ ३४६]

३०. ब्रह्म एवं जगत्

[बालकृष्ण को लिखे पत्र से]

माया को शकराचार्य किस रूप मे मानते थे, यह मैं निश्चयपूर्वक नही जानता। मैं यह मानता हूँ कि जिस रूप मे हम जगत् को मानते हैं और देखते हैं, वह आभास है, हमारी कल्पना है। मगर जगत् अपने रूप मे तो है ही। वह कैसा है, यह हम नही जानते। ब्रह्म है, यह कहने के साथ ही उसका नेतिरूप मे वर्णन करते है। जगत् भी ब्रह्म है। वह ब्रह्म से अलग नही है। हम जो जुदापन देखते हैं, वह आभास मात्र है।

—२०।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ ३६६]

- जगत् भी ब्रह्म है। वह ब्रह्म से अलग नहीं है।

३१. मायावाद

[सुश्री प्रेमा को लिखे पत्र से]

मायावाद को मैं अपने ढग से मानता हूँ। काल-चक्र मे यह जगत् माया है। लेकिन जिस क्षण तक उसकी हस्ती है, उस क्षण तक तो यह है ही। मैं अनेकान्त-वाद को मानता हूँ। अगर कोई भी वस्तु मनुष्य के लिए प्रत्यक्ष है, तो वह मृत्यु ही है। इतना होने पर भी इस अनिवार्य प्रत्यक्ष वस्तु का बडा डर लगता है। यही आश्चर्य है, यही ममता है, यही नास्तिकता है। उससे पार उतरने का धर्म केवल मनुष्य को ही लभ्य है।

—११।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृष्ठ १८]

- काल-चक्र मे यह जगत् माया है।
- अगर कोई वस्तु मनुष्य के लिए प्रत्यक्ष है, तो वह मृत्यु ही है।

३२. मृत्यु के बाद भोग

[सुश्री प्रेमा को लिखे पत्र से]

पाप-पुण्य मृत्यु के बाद भी जीव के साथ ही जाते हैं। जीव जीवरूप मे उन्हे भोगता है। फिर वह दूसरे दृश्य शरीर मे हो या सूक्ष्म शरीर मे, इसमे हर्ज नही।

—११।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृष्ठ १८]

३३. पुनर्जन्म

[श्री मोहनलाल भट्ट को लिखे पत्र से]

पुनर्जन्म का अर्थ है शरीर का रूपान्तर, आत्मा का, शरीर का नही। इसलिए वैज्ञानिक मान्यता से पुनर्जन्म अलग चीज़ है। आत्मा का रूपान्तर नही, बल्कि स्थानान्तर होता है।

—१२।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृष्ठ २२]

३४. सुख-दुःख और मृत्यु-भय

[श्री बद्रीदत्त पाण्डे को लिखे पत्र से]

सुख और दुःख दोनो ईश्वरदत्त है। इसलिए दोनो को हम शान्तिपूर्वक और एक ही भाव से स्वीकार करें। और मौत का डर क्यो? वह तो सबके लिए

है। जो गये वे गये नही हैं, जो रहे वे रहे नही है। दोनो हैं ही। सिर्फ स्थान-भेद है।

—५।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृष्ठ ९३]

३५. प्रार्थना, शरीर और आत्मा

[श्री शंकरराव घाटगे को लिखे पत्र से]

इस शरीर के नाश के साथ आत्मा का नाश नही है, ऐसी प्रतीति सबको है। ऐसे ही इस शरीर के पहिले भी आत्मा का अस्तित्व था। यदि यह सच है तो आत्मा को दुबारा देह धारण करना नही होगा, या इस देह के पहिले देह धारण नही किया था, ऐसा मानने का कोई कारण नही है। परन्तु आज आत्मा देहधारी है इसलिए भविष्य मे भी देहधारी होगा, ऐसा मानना प्रवाह-पतित है।

—२७।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृष्ठ १५२]

३६. आत्मतत्व और भूततत्व

[सनफील्ड स्कूल के व्यवस्थापक को लिखे पत्र से]

आत्मतत्व के बिना भूततत्व मृत है और भूततत्व के बिना आत्मतत्व हिल नही सकता। जब तक हम 'इसका' नही 'इनका' विचार करते हैं, तबतक एक को दूसरे की जरूरत पडती है।

—२।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृ० १६४]

३७. जन्म-मृत्यु

[श्री जमनालाल बजाज ने गांधी जी को लम्बा पत्र लिख कर उनसे उत्तर लिखने को कहा था, जो श्री बजाज के जन्म-दिवस पर उन्हें मिल जाय। इस अनुरोध के उत्तर में लिखे गये पत्र में व्यक्त गाधी जी के उद्गार—सम्पा०]

जन्म से मृत्यु ज्यादा उत्सव का प्रसंग है। जन्म से पहिले नौ महीने यातनाए भोगनी पडती हैं और जन्म के बाद भी अनेक दु ख हैं, जब कि कुछ को मृत्यु के अवसर पर ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होती है। इस प्रकार की मृत्यु प्राप्त करने के लिए जीवन

अनासक्ति-युक्त कामों में बीतना चाहिए। हम तीनों[1] की यह प्रार्थना है कि तुम्हें ऐसी ही मृत्यु मिले।

—८।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृष्ठ १८३-१८४]

● जन्म से मृत्यु ज्यादा उत्सव का प्रसंग है।

३८. माया

प्रभु और उसकी माया दोनों अनादि से चलते आये हैं। माया में विकार पैदा होते हैं। माया के कारण जीव सुख-दुःख, पाप-पुण्य का भोगनेवाला बनता है।

—सोम प्रभात, २६।११।१९३२। 'गीता-बोध', पृष्ठ ६९, दसवां संस्करण १९५४]

३९. ईश्वर है

[श्री गोपीकृष्ण को लिखे पत्र से]

यदि हम हैं तो ईश्वर है क्योंकि जीवमात्र का समूह ईश्वर है, जैसे किरणों का समूह सूर्य है। इस ईश्वर पर श्रद्धा होने के लिए आत्मश्रद्धा होनी चाहिए और वह श्रद्धा अनासक्तिपूर्वक सेवा करने से आती है। श्रद्धा रखने का दूसरा तरीका यह है कि सारा जगत् श्रद्धा रखता है तो हम भी रखें।

—१९।१२।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृष्ठ ३०२]

४०. ईश्वर का भान और ब्राह्मी स्थिति

[श्री बालकृष्ण को लिखे पत्र से]

ईश्वर का भान कब हुआ, यह मैं नहीं कह सकता।

ब्राह्मी स्थिति में किसी के दुःख से दुखी होने की बात ही नहीं होती, क्योंकि किसी के सुख से सुखी होने की बात भी नहीं होती। जैसे बढ़ई टूटी हुई नाव की

---

1 गांधी जी, सरदार पटेल और श्री महादेव देसाई।

मरम्मत करते समय सुख-दु ख का अनुभव नही करता, वही बात ब्राह्मण की है। ब्राह्मी स्थिति वाला ही ब्राह्मण कहला सकता है।

—१६।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृष्ठ ५७]

● ब्राह्मी स्थितिवाला ही ब्राह्मण कहला सकता है।

४१. गीता का अनुयायी

गीताधर्म का अनुयायी प्रसन्नतापूर्वक बिना चीजो के काम चलाना सीखता है। गीता की भाषा मे इसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं, कारण कि गीता मे वर्णित सुख और दु ख समान है। स्थितप्रज्ञ की अवस्था सुख-दु ख से ऊँची है। गीता का भक्त न सुखी होता है, न दुखी। और जब ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाती है तब पीडा, आनन्द, विजय, पराजय, च्युति, प्राप्ति किसी की भी अनुभूति नही होती।

—४।३।१९३३। 'बापूज लेटर्स टू मीरा']

● स्थितप्रज्ञ की अवस्था सुख-दुःख से ऊची है।

४२. ईश्वर

ईश्वर तो उसी के यहा रहता है, जिसे ससार त्याग देता है। जब दुनिया भाग जाती है, तभी ईश्वर आता है।

—ह० से०, २४।११।१९३३]

४३. मन्दिर और मूर्ति

मन्दिर की मूर्ति ईश्वर नही है। ईश्वर प्रत्येक अणु-परमाणु मे रहता है अत. मूर्ति मे भी बसता है।

—ह० से०, २४।११।१९३३]

४४. वेदों का सन्देश

मेरे विचार से वेदो का सारा सन्देश एकेश्वरवाद तथा सर्वात्म्यैक्य मे ही आ जाता है।

—अन्नमलाई विश्वविद्यालय (मद्रास) १७।२।१९३४। ह० से०, ३०।३। १९३४]

४५. ईश्वर

ईश्वर तो कल्पनातीत है। इसलिए हम जिसका भजन करते हैं वह हमारी कल्पना का ईश्वर है। सच्चे ईश्वर को किसी ने देखा नहीं। जिन्होंने देखा है वे भी उसका वर्णन नहीं कर सके हैं। मुझे कौन-सा स्वरूप विशेष प्रिय है, यह कहना कठिन है। परन्तु जिस स्वरूप को मैं पूजता हूँ उसका नाम सत्य है। वह मूर्त-अमूर्त है। अनेक प्रकार से प्रकट होता है। पूर्ण स्वरूप अपूर्ण मानव को भला कैसे दिखाई दे?

—वोरसद, २८।५।१९३५। बापू के पत्र : कुमारी प्रेमा बहिन कटक के नाम, पृष्ठ २४६–२४७]

४६. परमेश्वर का स्वरूप

परमेश्वर पूर्ण और सर्वशक्तिमान है, फिर भी वह लोकतन्त्र का कितना बड़ा हिमायती है। वह हमारा कितना छल-कपट और कितना अन्याय सहता है। हमारे अन्दर और बाहर प्रत्येक अणु मे वह व्याप्त है। फिर भी उसके ही रचे हुए हम तुच्छ प्राणी उसके अस्तित्व मे शका उठाते हैं और वह हमें ऐसा करने देता है,—ऐसी उसकी सहनशक्ति है। लेकिन उसने जिसे वह चाहे अपना दर्शन देने का अधिकार अपने पास सुरक्षित रखा है। उसके हाथ, पाव या कोई अन्य इन्द्रिया नहीं हैं, किन्तु जिसे वह अपना दर्शन देना चाहे वह मनुष्य उसे देख सकता है।

—ह० ज०, १४।१।१९३६]

४७. जन्म-मृत्यु और ईश्वरेच्छा

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

जन्म और मृत्यु दोनों ही महान रहस्य हैं। यदि मृत्यु दूसरे जीवन की पूर्व-स्थिति नहीं है, तो बीच का समय एक निर्दय उपहास है। हमें यह कला सीखनी चाहिए कि मृत्यु किसी की और कभी भी हो, उस पर हम हर्गिज रज न करें। मेरे ख्याल मे ऐसा तभी होगा, जब हम सचमुच ही अपनी मृत्यु के प्रति उदासीन होना सीखेंगे। और यह उदासीनता तब आयेगी, जब हमें हर क्षण यह भान होगा कि हमें जो काम सौंपा गया है उसे हम कर रहे हैं। लेकिन यह कार्य हमें कैसे मालूम होगा? वह ईश्वर की इच्छा को जानने से मालूम होगा। ईश्वर की इच्छा का

पता कैसे चलेगा ? वह प्रार्थना और सदाचरण से चलेगा। असल मे प्रार्थना का अर्थ ही सदाचरण होना चाहिए। हम रामायण से पहिले हर रोज प्रार्थना मे एक गुजराती भजन गाते है, जिसकी टेक यह है—"हरिने भजता हजी कोईनी लाज जती नथी जाणी रे।" प्रार्थना का अर्थ ईश्वर के साथ एक हो जाना है।

—नन्दी पहाड़ी, १८।५।१९३६। बापू के पत्र मीरा के नाम, पृ० २४५–२४६, न० जी० प्र० मं०]

४८. ईश्वर की पहिचान

मैं और किसी ईश्वर को नही, केवल उस ईश्वर को मानता हूँ, जिसका निवास करोडो मूको के हृदय-धाम मे है। वे लोग ईश्वर की उपस्थिति नही पहिचानते, मैं पहिचानता हूँ। मैं उसी ईश्वर की पूजा करता हूँ जो सत्य है या उस सत्य की जो इन करोडो की सेवा-द्वारा ईश्वर है।

—ह० से०, ११।३।१९३९]

४९. ईश्वर के प्रति श्रद्धा

यदि तुम यह कह सकते हो कि तुममे जीवन्त ईश्वर-श्रद्धा है, तो यह काफी है—फिर ईश्वर की व्याख्या तुम चाहे जिस तरह करो। तुम कहते हो कि तुम किसी एक तत्व को मानते हो, उसे चैतन्य-रूप समझते हो और वह तुम्हारा ईश्वर है, तो मैं इतना काफी समझता हूँ।

—ह० ज०। ह० से०, २४।६।१९३९]

५०. ईश्वर की कृति

[प्रश्नोत्तर]

प्रश्न—ईश्वर आदमी के खयाल का पुतला ही है। ईश्वर ने ही आदमी को नहीं बनाया, आदमी ने ईश्वर को बनाया है। क्या यह ठीक नहीं ?

उत्तर—एक लम्बे खत का यह निचोड है। इसमे सचाई का सिर्फ आभास ही है। बनाना और ईश्वर, इन दो शब्दो के खेल से यह गुमान पैदा किया गया है। ईश्वर स्वय नियम है और नियम बनानेवाला भी। इसलिए उसको बनाने का सवाल, और वह भी क्षुद्र मनुष्य के हाथो, उठता ही नही। आदमी बाँध बना सकता

है, लेकिन नदी नही पैदा कर सकता, कुर्सी बना सकता है, मगर लकड़ी नही। वह ईश्वर की अनेक कल्पनाए कर सकता है। लेकिन जो लकड़ी, नदी वगैरह नही बना सकता, वह ईश्वर को कैसे बनायेगा? इसलिए शुद्ध सत्य तो यह है कि ईश्वर ने आदमी को बनाया है। आदमी ने ईश्वर को पैदा किया है, यह तो सचाई का आभास ही है।

यो तो, जो कहना चाहे, वह कह सकता है कि ईश्वर न तो कुछ करता और न कुछ कराता है। दोनो बाते ईश्वर पर लागू होती है।

—नई दिल्ली ४।४।१९४६। ह० ब०। ह० से० १४।४।१९४६]

५१. ईश्वर और सृष्टि-नियम

यह भी कहा जा सकता है कि जिस नियम के अनुसार सृष्टि चलती है और टिकी हुई है, उसे नियम बनानेवाले से अलग नही किया जा सकता। मानवीय भाषा मे तो यहा तक कहा जा सकता है कि ईश्वर स्वय उस नियम-चक्र के अधीन है। हम लोगो को यह कहावत बताई जाती थी कि "राजा कोई गलती नही कर सकता।" लेकिन ईश्वर की सृष्टि मे इस प्रकार का अन्तर भी सम्भव नही है। केवल इतना कहा जा सकता है कि नियम मे कोई गलती नही हो सकती क्योकि नियम और नियम-निर्माता एक ही है। घास के छोटे-से-छोटे तिनके के भी ईश्वरीय-नियम-चक्र से मुक्त रह जाने की सम्भावना नही है।

—१०।३।१९४७। ह० ज०। ह० से०, ३०।३।१९४७]

५२. आत्मानुकूल देवता

मनुष्य जैसा स्वय होता है, वैसा ही अपना देवता बना लेता है। ईश्वर तो मनुष्य को बनाता ही है, मनुष्य भी ईश्वर को बनाता है। खूनी आदमी के देवता खून करते है।

—बाकीपुर मैदान (बिहार) १९।४।१९४७। बिहार समाचार से। ह० से०, ४।५।१९४७]

५३. परमेश्वर और जीव

परमेश्वर चेतनामय शक्ति है। जीव इसी शक्ति से बना है। यह (जीव) शरीर मे रहता है, लेकिन वह स्वय शरीर नही है। इस महान शक्ति के अस्तित्व

से इन्कार करनेवाला व्यक्ति स्वय मे रहनेवाली इस अटूट शक्ति से वचित रहकर अपग वनता है। वह बिना पतवार के नाव की तरह इधर-उधर टकराता है और अन्त मे कही भी पहुँचे बिना नष्ट हो जाता है। हममे से बहुतो की यह दशा होती है।

ईश्वर-तत्व क्या है, उसमे कितनी शक्ति छुपी हुई है—यह हमेशा खोज का विषय रहा है।

—नई दिल्ली, १३।७।१९४७। ह० ब०। ह० से०, २०।७।१९४७]

५४. भगवान भला ही भला है

भगवान उसी अर्थ मे भला नही है, जिसमे इसान भला है। इसान तुलना मे भला है। वह बुरे की अपेक्षा भला अधिक है। लेकिन भगवान तो भला ही भला है। उसमे बुराई का नाम भी नही है। भगवान ने इसान को अपनी ही तरह बनाया। लेकिन हमारे दुर्भाग्य से इसान ने भगवान को अपने जैसा बना डाला है। इस घमण्ड से मनुष्यजाति दु खो और कठिनाइयो के समद्र मे जा पडी है। भगवान सबसे बडा रसायनशास्त्री है। वह जहा मौजूद रहता है, वहा लोहा और कचरा भी खरा सोना बन जाता है। उसी तरह सारी बुराई भलाई मे बदल जाती है।

फिर भगवान है, लेकिन हमारी तरह नही। उसके प्राणी मरने के लिए ही जीते हैं। लेकिन भगवान स्वय जीवन है। इसलिए भलाई अपने अर्थ मे, भगवान का गुण नही है। भलाई भगवान ही है। भगवान से अलग जिस भलाई की कल्पना की जाती है, वह निर्जीव चीज है। और, वह तभी तक टिकती है जबतक उससे हमे फायदा पहुँचता है। यही बात सारे सदाचारो के बारे मे भी सच है। अगर उन्हे हमारे जीवन मे जिन्दा रहना है, तो हमे यह सोचकर अपने मे उन्हे बढाना होगा कि भगवान से उनका सम्बन्ध है, वे भगवान के दिये हुए हैं। हम भले बनना चाहते हैं, क्योकि हम भगवान को पाना और उसमे मिल जाना चाहते हैं।

ससार के सारे शुष्क नैतिक सिद्धान्त बेकार हैं, क्योकि भगवान से अलग उनका कोई अस्तित्व नही है—वे निर्जीव है। भगवान के प्रसाद के रूप मे वे जीवन्त बनकर आते हैं। वे हमारे जीवन के अग बन जाते है और हमे ऊंचा उठाते है। इसके विरुद्ध, भलाई के बिना भगवान भी निर्जीव है। हम अपनी झूटी कल्पनाओ मे ही उसे जीवित बनाते हैं—उसमे प्राण फूंकने की कोशिश करते है।

—कलकत्ता, १७।८।१९४७। ह० ज०। ह० से०, २४।८।१९४७]

- भगवान सबसे बडा रसायनशास्त्री है, वह जहा मौजूद रहता है वह लोहा और कचरा भी खरा सोना बन जाता है।
- भगवान स्वय जीवन है।
- ससार के सारे शुष्क नैतिक सिद्धान्त बेकार हैं क्योंकि भगवान से अलग उनका कोई अस्तित्व नहीं है—वे निर्जीव हैं।

५५. प्रार्थना जीवनदायी है

जैसे रोटी शरीर का भोजन है, वैसे ही प्रार्थना आत्मा का भोजन है।

—बिडला भवन, नई दिल्ली, १८।९।१९४७। ह० ज०। ह० से०, २८।९।१९४७]

५६. अकर्म में कर्म

एक भाई लिखते है—

"आपने 'मेरा धर्म' लेख मे लिखा है, मै 'अकर्म मे कर्म' देखने की स्थिति मे नहीं पहुँचा हूँ। इस वचन का अर्थ कुछ विस्तार से बतायेंगे तो अच्छा होगा।"

एक स्थिति ऐसी होती है, जब व्यक्ति को विचार प्रकट करने की आवश्यकता नही पडती। उसके विचार ही कर्म बन जाते है। वह सकल्प मे कर्म कर लेता है। जब ऐसी स्थिति आती है, तब व्यक्ति अकर्म मे कर्म देखता है यानी अकर्म से कर्म होता है, ऐसा कहा जा सकता है। मेरे कहने का यही अर्थ था। मै ऐसी स्थिति से दूर हूँ। उस तक पहुँचना चाहता हूँ। मेरा प्रयत्न उसी ओर रहता है।

—नई दिल्ली, १६।१०।१९४७। ह० से०, २६।१०।१९४७]

५७. आत्मा का निवास

आत्मा उस शरीर मे रहती है जो गीता की भाषा मे सच्चे धर्म का घर है, न कि थोडी देर टिकनेवाले काम, क्रोध आदि भावो का। लेकिन इस प्रयास मे तभी सफलता मिल सकती है, जब घर का स्वामी काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि छ प्रसिद्ध शत्रुओ से मुक्त हो।

—बिडला भवन, नई दिल्ली, १।११।१९४७। ह० ज०। ह० से०, ९।११।१९४७]

५८. ज्योतिदाता ईश्वर

भगवान ही हमारी आत्मा को प्रकाश दे सकता है। यही प्रकाश सच्चा प्रकाश है।—राम और रावण भलाई और बुराई की शक्तियो के बीच हमेशा चलनेवाली लड़ाई के प्रतीक है। सच्चा प्रकाश अन्दर से पैदा होता है।

—बिड़ला भवन, नई दिल्ली, ११।११।१९४७। ह० ज०। ह० से०, २३। ११।१९४७]

५९. ईश-प्राप्ति का साधन

ईश्वर केवल प्रेम के द्वारा मिल सकता है। वह प्रेम लौकिक नहीं, अलौकिक होना चाहिए। मीराबाई जो हर वस्तु मे भगवान देखती थी, ऐसे प्रेम का जीवन बिताती थी। उनके लिए भगवान ही सब कुछ था।

—बिड़ला भवन, नई दिल्ली, १५।११।१९४७। ह० ज०। ह० से०। २३। ११।१९४७]

६०. मेरा लक्ष्य : आत्मदर्शन

मुझे जो करना है, तीस वर्षों से मैं जिसकी आतुरभाव से रट लगाये हुए हूँ, वह तो आत्मदर्शन है, ईश्वर का साक्षात्कार है, मोक्ष है। मेरे सारे काम इसी दृष्टि से होते है। मेरा सब लेखन भी इसी दृष्टि से होता है, और राजनीति के क्षेत्र मे मेरा पड़ना भी इसी वस्तु के अधीन होता है।

—आत्मकथा की प्रस्तावना, पृष्ठ ६]

६१. भक्ति

भक्ति का तात्पर्य है ईश्वर मे आसक्ति। अनासक्ति के अभ्यास का भी यह सरल से सरल उपाय है।—भक्ति राजयोग है और सरल मार्ग है। जो हृदय मे बैठ जाय वह सरल है, जो न बैठे वह कठिन है। इसीलिए उसे "सिर का सौदा" भी माना गया है। पर यह ऐसा है कि देखने वाले जलते हैं। कवि लिखता है कि उबलते तेल की कड़ाही मे सुधन्वा हँसता था और बाहर खड़े हुए (लोग) काँपते थे। कथा है कि नन्द अन्त्यज की जब अग्निपरीक्षा हुई तब वह अग्नि मे नाचता

था। इन सब की सचाई की ऐतिहासिकता खोजने की जरूरत नही है। जो किसी भी चीज मे लीन होता है, उसकी ऐसी ही स्थिति होती है। वह अपने को भूल जाता है, पर प्रभु को छोड़कर दूसरे मे लीन कौन होगा ?

—मगलप्रभात, गीता-बोध, पृष्ठ ५६, स० सा० म०, दसवा सस्करण १९५४]

६२. ईश्वर के अस्तित्व की अनुभूति

मैं धुधले तौर पर जरूर यह अनुभव करता हूं कि जब मेरे चारो ओर सब कुछ बदल रहा है, मर रहा है तब भी इन सब परिवर्तनो के नीचे एक जीवित शक्ति है जो कभी नही बदलती, जो सबको एक मे ग्रथित करके रखती है, जो नई सृष्टि करती है, उसका सहार करती है और फिर नये सिरे से पैदा करती है। यही शक्ति ईश्वर है, परमात्मा है। मैं इन्द्रियो से जिनका अनुभव करता हूं उनमे से और कोई वस्तु टिकी नही रह सकती, नही रहेगी इसलिए "तत्सत्"—एक वही है। और यह शक्ति शिव है या अशिव ? मै तो इसे शुद्ध शिव रूप मे देखता हूं क्योकि मैं देखता हूं कि मृत्यु के मध्य मे जीवन कायम रहता है, असत्य के मध्य सत्य पनपता है, अन्धकार के बीच प्रकाश कायम रहता है। इसलिए मैं मानता हूं कि ईश्वर जीवन है, सत्य है, प्रकाश है। वह प्रेम है, वह परम मगल है।

—कोलम्बिया ग्रामोफोन कम्पनी के एक रेकर्ड से। गाधी वाणी, सम्पा०— श्री रामनाथ सुमन, पृष्ठ ६७]

दर्शन
२
शास्त्र
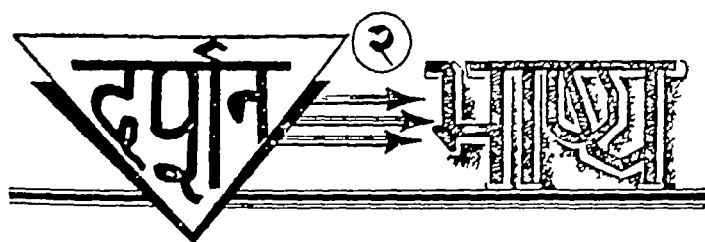
१. कैवल्य

ईसाई पादरियो ने उतावलेपन मे कैवल्य मे हिन्दुओ के महान विश्वास का अर्थ शून्य मे विश्वास किया है। वे कहते है कि 'हिन्दुओ के विश्वास के अनुसार शून्य मे विलीन हो जाना—अस्तित्व खो देना—सबसे बडी चीज है।' इस भाष्य ने ईसाई और हिन्दू धर्मो के बीच एक गहरी खाई का निर्माण कर दिया है जिससे दोनो की हानि हुई है।

सस्कृत के जिस शब्द का अनुवाद शून्य किया गया है उसके अर्थ के सम्बन्ध मे मतैक्य न होने के कारण यह सारी भ्रान्ति उत्पन्न हुई है। साधारण तौर पर वह जिस अर्थ की व्यजना करता है वह इस मान्यता के कारण कि हम इस समय जो है वही सब कुछ हैं, और तब हिन्दू दार्शनिक कहता है, शून्य मेरे लेखे सब-कुछ है, क्योकि तुम जिसे सब-कुछ कहते हो वह तो प्रत्यक्ष ही नश्वर है।

(क्या शरीर और इन्द्रियो का नाश नही होगा और इसी तरह दूसरी सब वस्तुओ का भी जिन्हे हम देखते या अनुभव करते है?) शून्य को इस तरह देखें तो उससे वही विचार व्यक्त होता है जो अन्तिम मोक्ष से होता है—अर्थात् ईश्वर से एकरूप होना। यह ईश्वर स्पेन्सर का महान 'अज्ञेय' तत्व है, किन्तु वह सापेक्ष अज्ञेय है, अर्थात् वह स्पेन्सर-द्वारा वर्णित ज्ञान के साधारण साधनो से ज्ञेय नही है। इतने पर भी यदि आप निरी साधारण बुद्धि से परे किसी उच्चतर साधन की सत्ता स्वीकार करें, जिसे वास्तव मे हिन्दू और ईसाई दोनो ही स्वीकार करते हैं तो 'स' तत्'—वह तत्व—'अज्ञेय' नही हो सकता।

हिन्दू कहते हैं वह जाना जा सकता है। ईसाई भी ऐसा ही कहते हैं—'जिन्होने मुझे जान लिया उन्होने परमपिता को जान लिया।' किन्तु फिर इस उद्धरण का अर्थ क्या है? कदाचित् शब्दो को छोडकर दोनो बातो मे कोई अन्तर नही है। जब कुहरा हट जायेगा तब हम एक दूसरे को अधिक अच्छी तरह पहिचानेंगे। तबतक यदि हम मतभेद की बातो की अपेक्षा एकता की बातो को खोज निकालने की कोशिश करें तो क्या यह सम्भव नही है कि हमे कुछ पहिले उस स्थिति तक पहुंचने मे सहायता मिले?

—अंग्रेजी से। १९०३-१९०४। स० गा० वा०, खण्ड ४, पृष्ठ १०१-१०२]

२. राम और रावण

श्री रामचन्द्र अथवा अन्य महापुरुषो के उदाहरणो का अक्षरश स्थूल अर्थ लेना बहुत उलझन मे पडना है। रावण का दस शीश और बीस भुजावाले शरीर के रूप मे होना मुझे सम्भव नही लगा, परन्तु उसे महाविषयी और जड मान कर रामचन्द्र जी रूपी चैतन्य ने उसका विनाश किया, यह बात समझ मे आ सकती है। तुलसीदास जी ने रामचन्द्र जी को मद, मोह और महा-ममता रूपी रजनी के तमपुज का नाश करने वाले भगवान भास्कर की सेना का रूप दिया है। जब हममे मद, ममता और मोह शेष नही रहेगे, तब क्या तुम समझते हो कि हममे किसी के भी शरीर का नाश करने की कामना लेशमात्र भी रह सकती है? अगर तुम नही कहते हो तो रामचन्द्र जी ,जो अभिमान, ममता, मोह आदि से रहित और दया के निधान थे, रावण का वध किस प्रकार कर सकते थे? फिर भी, जब हम उस विभूति को प्राप्त कर लेंगे और लक्ष्मण की तरह चौदह वर्ष तक निद्रा का त्याग कर देंगे और ब्रह्मचर्य का पालन करेंगे, तब समझ सकेंगे कि शरीर-बल का प्रयोग कहा किया जा सकता है।

—श्री मगनलाल गाधी को लिखे पत्र से: फाल्गुन बदी ७ संवत् १९६६। २।४।-
१९१०। सं० ना० वां०, खण्ड १० पृष्ठ २२०]

३. मोक्ष और ईश्वर

[श्री जमनालाल गांधी को लिखे गये पत्र से]

हम मोक्ष का पूरा अर्थ नही समझ सकते। उसका तो अनुभव ही करना होगा। उसका वर्णन भी नही किया जा सकता। वर्णन करने के लिए हमारे पास उचित इन्द्रियाँ नही हैं। जितना अर्थ समझा जा सकता है, वह है अनेक प्रकार की देहो मे जन्म और उससे उत्पन्न होने वाले क्लेशो से छुटकारा, फिर भी यह कहने की जरूरत नही है कि ईश्वर नही है। ईश्वर का अर्थ हम अपनी ज्ञान की सीमा के अनुसार करते हैं।

ईश्वर न तो फल देने वाला है और न वह कर्त्ता है। किन्तु यदि देहधारी आत्माओं के मुक्त होने के बाद किसी एक ही आत्मा की कल्पना की जा सकती हो तो, वह ईश्वर है। और वह जड नही है, बल्कि शुद्ध चेतन है। अद्वैतवादियो की भी यही मान्यता है। राजा-जैसी, किसी सत्ताधारी ईश्वर की कल्पना किसी भी काल मे और किसी भी स्थिति मे आवश्यक नही मालूम होती। उसकी आवश्यकता मान कर हम आत्मा की अनन्त शक्ति की सीमा बाँधते हैं।

—वैशाख बदी १०, ३०।५।१९१३। सं० गां० वां०, खण्ड १२, पृष्ठ ८९]

४. आध्यात्मिक चर्चा

[श्री रावजी भाई पटेल को लिखा गया पत्र]

आपके पत्र को मैंने वार-वार पढा। शकराचार्य का एक श्लोक है, जिसमे कहा गया है कि समुद्र के किनारे वैठकर कोई घास के तिनके से समुद्र का पानी उलीचना चाहे तो इसके लिए उसे कितना धैर्य और समय चाहिए, ठीक उतना ही समय और धैर्य मन को मारने मे यानी मोक्ष की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। लगता है, आप उतावले हो चले हैं।

वैसे मृत्यु के भय से तो मैं भी मुक्त नही हो पाया हूं—यद्यपि मैंने इस सम्वन्ध मे वहुत चिन्तन किया है। पर तो भी मैं अधीर नही हुआ हूं। मैं सतत प्रयत्न मे हूं और अवश्य ही किसी दिन मुक्त हो जाऊगा। आप प्रयत्न का एक भी सुअवसर हाथ से न जाने दें। हमारा यही कर्त्तव्य है। परिणाम की इच्छा या प्राप्ति तो प्रभु के अधिकार की वात है। और इसलिए यह वखेडा क्यो ? वच्चे को दूध पिलाते समय माता उससे होने वाले परिणाम का विचार नही करती, पर तो भी उसका परिणाम तो होता ही है। मृत्यु के भय को दूर करने के लिए—मनोविकारो को नष्ट करने के लिए—प्रयत्न करना चाहिए और प्रसन्नचित्त रहना चाहिए। ऐसा करने से वे दूर हो जायगे। नही तो वह वात चरितार्थ होगी कि वन्दर का स्मरण न करने के प्रयत्न मे उसका ख्याल वना ही रहा।

हम लोग पाप-योनि से उत्पन्न हुए, और पाप-कर्मों के परिणामस्वरूप ही देहाधीन हुए हैं। आप यह सारा मल पल-भर मे कैसे धो डालने की अपेक्षा करते है ?

सुगम पड़े उस ढव से रहो।
जैसे-तैसे प्रभु को लहो॥

अखाभगत ने ऐसा उपदेश दिया है। तुलसीदास भी कहते है कि सकट हो या न हो पर राम-नाम का जप निरन्तर जारी रखो। ऐसा करने से ही हमारा स्वार्थ सिद्ध होगा। और हमे जो स्वार्थ सिद्ध करना है वह यही (ईश्वर की प्राप्ति) है। अत जप निरन्तर चलता रहे। और राम कौन है, यह तो हमे स्वय सोचकर निर्णय कर लेना है। राम तो निरजन है, निराकार है। राक्षसी वृत्तियो का समूह रूपी जो रावण है, दैवी वृत्तियो के अनेक शस्त्रो द्वारा उसका सहार करने वाली शक्ति ही राम है। इस शक्ति की प्राप्ति के लिए स्वय राम को भी १३ वर्ष की तपश्चर्या करनी पडी। अस्तु, आप मन और तन दोनो को एक क्षण के लिए भी निष्क्रिय न रहने दें। दोनो ही को उत्साहपूर्वक कार्य मे लगाये रहे, इसी से सारे उपद्रव शान्त

हो जायगे। बाकी प्रभु पर तो दृढ विश्वास बनाये ही रहना चाहिए। मुझपर भरोसा करने मे तो कोई साहस नही है। यह तो तभी काम आ सकता है जब आप ऊपर जो-कुछ कहा गया है,उसे जीवन मे उतारे।

हृदय पवित्र होना चाहिए। विकारेन्द्रियो को विकार से बचाने का उपाय यही है। पर हृदय है क्या चीज ? इसे पवित्र कब माना जाय ? हृदय स्वय आत्मा है, या आत्मा का स्थान है। इसका पवित्र हो जाना ही आत्मज्ञान की प्राप्ति है। इसके पवित्र हो जाने पर इन्द्रियो के विकार आदि ठहर ही नही सकते। लेकिन साधारण रूप मे हम ऐसा मानते हैं कि हृदय को पवित्र करने का प्रयत्न करना ही हृदय का पवित्र हो जाना है। मुझे आपसे स्नेह है, इसका मतलब इतना ही हो सकता है कि मैं इस स्नेह को बनाये रखने मे प्रयत्नशील हूँ। यदि प्रेम की वृत्ति अखण्ड हो जाय तब तो मै ज्ञानी ही हो गया। पर मै ज्ञानी तो नही हो पाया हूँ। जिस-किसी व्यक्ति के प्रति मेरा सच्चा प्रेम होगा वह मेरेकथन अथवा हेतु के अर्थ का अनर्थ कदापि नही करेगा। और वह मेरी उपेक्षा तो कर ही नही सकेगा। तो इससे यह सिद्ध हुआ कि यदि कोई मनुष्य हमे अपना शत्रु मानता है तो इसमे सर्वप्रथम दोष तो हमारा ही है। यह बात गोरो के साथ हमारे जो सम्बन्ध हैं, उनपर भी लागू होती है। इसलिए पूर्णरूप से हृदय की पवित्रता तो अन्तिम स्थिति—चरम स्थिति है। इस बीच ज्यो-ज्यो हमारी अन्तर की पवित्रता मे वृद्धि होगी, विकारो का शमन होता जायगा। इन्द्रियो मे तो विकार है ही नही।

'मन एव मनुष्याणा कारणं बंध मोक्षयोः।'

इन्द्रियाँ तो मनोविकार की अभिव्यक्ति के स्थान है, उन्ही के जरिए हम मनोविकारो को पहिचान पाते हैं।

मतलब यह हुआ कि इन्द्रियो का नाश करने से मनोविकार नष्ट नही हो जाते। हिजडो को देखिए, उनमे मनोविकारो की कमी नही होती। जो जन्म से ही नपुसक हैं, वे भी वासनाग्रस्त रहकर अनेक कुकर्म करते हुए देखे जाते हैं। मेरी घ्राणशक्ति मन्द है, परन्तु सुवास के लिए तो मन होता ही है। जब कोई गुलाब आदि किसी फूल की बात करता है तो गधे की तरह यह मन उसी ओर खिच जाता है और तब बडी जोर-जबरदस्ती के बाद काबू मे आ पाता है।

ऐसे मनुष्यो के उदाहरण सुनने मे आये हैं जिनका अपने मन पर काबू नही—पर जिनकी विचारशक्ति बडी तीव्र थी। निदान उन्होने इन्द्रियछेदन कर दिया। सम्भव है ऐसी परिस्थिति मे वही करणीय हो। मेरा मन चचल हो उठे और अपनी बहिन पर ही मै कुदृष्टि डाल दू किन्तु इतना कामदग्ध होकर भी एकदम विमूढ न हो गया होऊ, तो ऐसे प्रसग मे बचने का कोई दूसरा उपाय न होने पर मुझे लगता है, इन्द्रिय-

छेदन कर डालना ही सम्भवत पवित्र कार्य हो । लेकिन धीरे-धीरे प्रगति करने वाले मनुष्य का यह हाल नही होता। यह तो उसी के लिए सम्भव है जिसके मन मे एकाएक तीव्र वैराग्य पैदा हो उठा हो और जिसका पिछला जीवन अच्छा न रहा हो। विकार उत्पन्न ही न हो और न इन्द्रिया चचल बने, इसके लिए किसी तत्काल-परिणामी उपाय की खोज ऐसी ही है जैसे वन्ध्या के द्वारा पुत्र की चाह करना। यह कार्य तो बहुत समय तक धैर्यपूर्वक साधना करने से ही सध सकता है। तत्काल होनेवाली मन शुद्धि तो वैसी ही है जैसे जादू का आम—जो केवल देखने के लिए होता है। हाँ, इतना अवश्य हो सकता है कि मन पवित्र बन जाने की स्थिति मे हो और व्यक्ति सन्तसमागम-रूपी पारसमणि की तलाश मे रहे तो उसका स्पर्श पाते ही उसे अपने पवित्र स्वरूप का दर्शन हो जाय और तब अपवित्रता बीते-स्वप्न की स्मृति-जैसी लगने लगे। पर इसे तत्काल या चटपट हो जाना नही कहा जा सकता। परन्तु जिसे साधारण उपाय कहा जाय और जो सहज यानी तात्कालिक भी माना जा सकता है, वह यह है

एकान्त सेवन, सत्सग की खोज, सत्कीर्तन, सद्‌वाचन, शरीर को लगातार परिश्रम-रत रखना, अल्पाहार फलाहार, अल्पनिद्रा, और भोग-विलास का त्याग। जो व्यक्ति यह सब कर सकता है, उसे मनोराज्य हस्तामलकवत् सहज ही प्राप्त है। इतना करते रहना चाहिए और दूसरे उपायो की तलाश मे रहना चाहिए। जब-जब मनोविकार सिर उठाये तब-तब उपवास आदि व्रतो का पालन करना चाहिए।

का काम तो रावण की प्रवृत्ति का-सा था। उसने तपश्चर्या करके राक्षसी-वृत्ति उपलब्ध की। रामचन्द्र ने तपश्चर्या करके दैवी-वृत्ति का सम्पादन किया। इस प्रकार क्रिया एक सी हो तो भी हेतु की भिन्नता के कारण भिन्न-भिन्न फल प्राप्त होते है।

इसे नही भूलना चाहिए कि हमारी जैसी याचना होगी वैसे ही देव हमे प्राप्त होगे। तुलसीदास ने राम की माग की इसीलिए कृष्ण श्रीराम बने और लक्ष्मी जी सीता ।

--केपटाउन, फाल्गुनी सुदी १०, ७।३।१९१४। गुजराती। महात्मा गाधीना पत्रो और जीवनना स्मरण। स० गा० वा०, खण्ड १२, पृष्ठ ३६८, ६९, ७०]

५. आध्यात्मिक समाधान

[श्री मणिलाल गाधी को लिखा गया पत्र]

श्री कैलेनबैक चाहे जब सोयें, परन्तु तुम्हे तो एक ही नियम रखना चाहिए। खाने के बारे मे भी यही बात है। तुम जिन वाक्यो को न समझ सके उनका

अर्थ यह है 'जो कर्म सिर्फ नियम से (अक्षरार्थ करके) किये जाते हैं उनके लिए तो शाप है, फिर भी ऐसा लिखा हुआ हे कि जो नियम मे बताये हुए कर्म नही करते रहते वे सब शापित है।' भावार्थ यह है कि केवल पुस्तकीय ज्ञान पाने वाले लोग कभी मोक्ष प्राप्त नही कर सकते। ऐसा ही वचन गीता जी मे है, उस पर विचार कर लेना "त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन"—यह वाक्य अर्जुन से श्रीकृष्ण ने कहा था। इसका यह अर्थ नही कि शास्त्रविहित कर्म न किये जाय। परन्तु उन्हे करना ही काफी नही है। अर्थ यह है कि उनका गूढ अर्थ समझकर, उनका हेतु समझ कर हम उससे आगे बढे। जो आदमी विहित कर्म छोडकर शुष्क ब्रह्मवादी बन जाता है, वह न तो इधर का रहता है, न उधर का। वह शास्त्र का सहारा खो बैठता है, और ज्ञान का आधार उसे मिलता नही, इसलिए वह गिरता ही है। इसीलिए गेलेशियनो को सन्त पाल ने कहा था "तुम लोग शास्त्र के अनुसार कर्म तो करो ही, परन्तु ईसा पर श्रद्धा रखकर उनकी शिक्षा का अनुसरण नहीं करोगे तो शापित रहोगे।" यही भावार्थ 'बाण्ड मेड' और 'फ्री वुमॅन' के सम्बन्ध मे है। बाण्ड यानी बन्धन। शास्त्र को स्थूल माता की उपमा दी गई है और कहा गया है कि वह तो गुलामी के दर्जे की है, इसलिए उसकी सन्तान भी गुलाम ही होती है।

श्रद्धा अर्थात् भक्ति को दिव्य माता की उपमा दी गई है। और दिव्य माता की सन्तान देवरूप होती है। यह भावार्थ समझकर आगे-पीछे के वाक्यो पर विचार करना और लिखना कि अच्छी तरह समझ मे आया या नही। पहले कारिन्थियन्स के १५ वे प्रकरण के ५६ वें श्लोक का अर्थ यह है कि 'पाप ही मौत का डक है, यानी पापी मनुष्य के लिए ही मौत डक के रूप मे है।' और दूसरे वाक्य का अर्थ यह है कि पुण्यशील के लिए मृत्यु मोक्ष का साधन है, और शास्त्रो के शुष्क ज्ञान मे शाप का बल होता है। यह हम पग-पग पर देखते हैं। शास्त्रो के नाम पर सैकडो पाप होते हैं। पाचवे रोमन्स के २० वे श्लोक का अर्थ आसान है। उसके सिवा, शास्त्र घुसा और अपराध बढे। लेकिन जब-जब पाप का पुज बढा, तब-तब ईश्वर की कृपा भी बढी। यानी ऐसे कलिकाल के समय भी शुष्क ज्ञान के बन्धन से छूटने वाले आदमी मिल गये। उन्होने भक्तिमार्ग बताकर शास्त्रो का गूढार्थ सिखाया, यह ईश्वर की कृपा है। सेण्ट जान के १५ वें प्रकरण के तीसरे श्लोक का अर्थ यह है 'जो वचन मैंने तुमसे कहे हैं उन वचनो के अनुसार चलने से तुम शुद्ध बनोगे। Are को भविष्य का वाचक समझो और Through का अर्थ 'अनुसार चलने' से करो।

जीवन मे सुधार-सम्बन्धी परिवर्तन करने मे पहिले विचार करना। पर मैं चाह [illegible] न करने के बाद उनसे जोक की तरह चिपटे रहो। श्री कैलेनबैक

के गुणो पर मुग्ध रहो। उनकी कमजोरी दिखाई दे तो उसे समझ कर उससे दूर रहो। तुमने जो नया परिवर्तन किया है, वह विचारपूर्वक नही किया। जितने परिवर्तन श्री कैलेनबैक करे वे सब करने को तुम बंधे हुए नही हो। तुम्हे स्वतन्त्र विचार करना और उसपर दृढ रखना चाहिए। ऐसा करने मे कभी भूल भी होगी, उसकी चिन्ता नही करनी चाहिए। ऐसा निर्मल चित्त मे सूत्र विचार करने के बाद तुम्हे मेरे विचारो का विरोध करने का भी अधिकार है। और जहा ऐसा करने मे नीति दिखाई दे वहा विरोध करना तुम्हारा कर्त्तव्य है। तुम मोक्ष का तत्व समझो और मोक्षेच्छु बनो, यह मेरी तीव्र इच्छा है। और यह तबतक कभी नही होगा जबतक तुममे स्वतन्त्र विचार करने की शक्ति और दृढता नही आयेगी। अभी तो तुम्हारी हालत किसी लता की जैसी है। लता जिस वृक्ष पर चढती है, उसी का रूप ले लेती है। यह दशा आत्मा की नही है। आत्मा तो स्वतन्त्र है और मूल रूप मे सर्व-शक्तिमान है।

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भव।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

जब अर्जुन ने श्रीकृष्ण भगवान से पूछा कि मनुष्य इच्छा के विरुद्ध भी किसलिए पाप करता है, तो भगवान ने उसे उपर्युक्त उत्तर दिया। इसका अर्थ यह है कि पाप का कारण काम है, क्रोध है, वह रजोगुण से उत्पन्न होता है। वह बहुभक्षी है और बहुत पाप करनेवाला है। उसे जरूर अपना वैरी समझो। यह सिद्धान्त है। इसलिए जब भी कैलेनबैक को गुस्सा आया, तुम्हे शान्त रहना चाहिए था। अपने बड़े-बूढ़े क्रोध करें तब हम नम्र रहे, चुप रहे और जवाब देना पडे तो कहे कि मैं अपनी भूल सुधारूगा, अब मुझे माफ कीजिए। इसमे यह स्वीकार करने की बात नही है कि तुमने जान-बूझ कर अपराध किया है। फिर जब बडे लोग शान्त हो तब शका हो वहा विनयपूर्वक उनसे पूछा जाय। श्री कैलेनबैक शान्त हो जाय तब तुम उनसे पूछ सकते हो कि सेब सडे जा रहे थे, अत उनमे से कुछ देने मे क्या दोष हुआ?

डेविड की स्तुति समझने लायक है। उसमे उन्होने दुष्टो का नाश करने की जो इच्छा बताई है उसका रहस्य यह है कि उनसे बुराई सहन नही हो सकती थी। यही विचार रामायण मे है। राक्षसो का सहार देवताओ और मनुष्यो ने भी चाहा है। "जय राम रमा" की स्तुति की यही भावना है। उसका आध्यात्मिक अर्थ यह है कि डेविड (अर्जुन—दैवी सम्पत्ति) अपने शत्रु (दुर्योधन आदि—आसुरी सम्पत्ति) का नाश चाहता है। यह सात्विक वृत्ति है और भक्तिभाव मे यह दशा रहती है।

- पाप ही मौत का डर है।
- आत्मा स्वतन्त्र है और पुरुषार्थ से सर्वशक्तिमान है।

६. वीतराग

[श्री राव जी भाई पटेल को लिखे पत्र से]

स्नेहियो के प्रति वीतराग स्थिति उत्पन्न हो जाय, तभी हृदय सचमुच दयावान बनता है और स्नेहियो की सेवा करता है। वा के प्रति मैं जिस हद तक वीतराग बना हूँ उसी हद तक उसकी सेवा अधिक कर सका हूँ। बुद्ध ने अपने माता-पिता को छोडकर उनका भी उद्धार कर दिया। गोपीचन्द ने वैराग्य लेकर अपनी माता के प्रति अत्यन्त शुद्ध प्रेम सूचित किया।.....जब तुम्हारी आत्मा विशुद्ध होगी तब उसकी परछाई तुम्हारे सब स्नेहियो पर पडे बिना नही रह सकती।

— केपटाउन, बुधवार, ज्येष्ठ बदी ३, १०।६।१९१४। गुजराती से। गांधीजीनी साधना। सं० गां० वां०, खण्ड १२, पृष्ठ ४१३-१४]

७. तप का आदर्श

[श्री मगनलाल गांधी को लिखे पत्र का अंश]

रामचन्द्र जी चाहे जितने वीर क्यो न रहे हो, उन्होंने कैसा ही पराक्रम क्यो न दिखाया हो और लाखो राक्षसो का वध क्यो न किया हो किन्तु यदि उनके पीछे लक्ष्मण और भरत-जैसे भक्त भाई न होते तो आज राम को कोई जानता भी नही। साराश यह है कि रामचन्द्र जी मे केवल असाधारण क्षात्र-तेज ही होता तो उनकी प्रीति कालान्तर मे समाप्त हो जाती। राक्षसो का सहार करने वाले उनके-जैसे अनेक वीर हो गये। उनमे से किसी की कीर्ति आज घर-घर मे नही गाई जाती। रामचन्द्र मे कुछ विशेष तेज था और वे उस तेज को लक्ष्मण और भरत मे उतार

सके थे। इसलिए लक्ष्मण और भरत महान तपस्वी हुए। उनके इसी तप का माहात्म्य गाते हुए तुलसीदास ने कहा है कि महान मुनियो के लिए भी जो तपअगम है, ऐसा तप करने वाले भरत-जैसे तपस्वी न जन्मे होते तो मुझ-जैसे मूढ को राम का दर्शन कौन कराता। उसका अर्थ यह हुआ कि राम के यश अथवा उनकी शिक्षाओ के रक्षक लक्ष्मण और भरत जी हैं। फिर तप ही सब कुछ है। क्योकि आहार और निद्रा का चौदह वर्ष तक त्याग जैसे लक्ष्मण ने किया था वैसे ही इन्द्रजित ने भी किया था किन्तु लक्ष्मण को रामचन्द्र जी से तप का जो मर्म प्राप्त हुआ था इन्द्रजित उमसे वचित था। इतना ही नही उसकी वृत्ति तप का दुरुपयोग करने की ओर थी। इसलिए उसे राक्षस कहा गया और वह भक्त तथा मुमुक्षु लक्ष्मण के हाथो पराजित हुआ। आदर्श को क्रियान्वित करने का मार्ग तप है।

—१४।३।१९१५ के बाद। गुजराती से। गाधीजीनी साधना। महात्मा गाधीजीना पत्रो। स० गा० वा०, खण्ड १३, पृष्ठ ४१-४२]

- आदर्श को क्रियान्वित करने का मार्ग तप है।

८. सत्कार्य और हमारी अभिलाषा

[सुश्री एस्थर फैरिंग को लिखे पत्र से]

"इच्छा से मुक्ति" एक पारिभाषिक व्यजना है और उसका मतलब है सर्वोत्तम से कुछ कम बनने या पाने की कामना करना। अत ईश्वर से प्रेम करना कोई इच्छा नही है। यह तो स्वाभाविक कामना है। किन्तु मैं कुछ भलाई कर सकू इसलिए विशाल धन की उपलब्धि एक इच्छा है और इसका दमन करना चाहिए। हमारे अच्छे कार्य उतने सहज होने चाहिए जितना सहज हमारे पलको का उठना-गिरना है। हमारी इच्छा किये विना ही वे स्वत उठती-गिरती रहती हैं। अच्छे कार्य करना भी उतना ही सहज होना चाहिए।

—अहमदाबाद, ६।९।१९१७। अग्रेजी से। माई डियर चाइल्ड। स० गा० वा०, खण्ड १३, पृष्ठ ५३५]

९. कर्म-गति ईश्वर

[श्री आनन्दशकर ध्रुव को लिखे गये पत्र से]

श्री कृष्ण उद्धव से कहते हैं

"ऊधो कर्मन की गति न्यारी"

सच है कि हम तो यही गा सकते हैं, क्योकि बहुत-सी बातो के बारे मे हमारा अज्ञान असीम है। परन्तु वास्तव मे कर्मों की गति न्यारी नही है। वह तो सर्वथा

जब ज्ञान-दशा उत्पन्न होती है तब दोनो प्रवृत्तिया दब जाती हैं और सिर्फ शुद्ध भाव—केवल ज्ञान रहता है। इस दशा का वर्णन बहुत करके बाइबिल मे नही आता। डेविड दोपयुक्त होने पर भी भक्त थे। और उनकी स्तुति मे उनके जो उद्गार है उनकी भाषा सरल है। वे महान् होने पर भी ईश्वर के सामने दीन बनकर रहते हैं और अपने को तिनके के बराबर समझते हैं।

—फीनिक्स, नेटाल। रविवार, चैत्र बदी, २, १२।४।१९१४। गुजराती से
सं० गा० वा० खण्ड १३, पृष्ठ ३९६, ९७, ९८]

- केवल पुस्तकीय ज्ञान पाने वाले लोग कभी मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकते।
- पाप ही मौत का डंक है।
- आत्मा स्वतन्त्र है और मूलरूप में सर्वशक्तिमान है।

६. वीतराग

[श्री राव जी भाई पटेल को लिखे पत्र से]

स्नेहियो के प्रति वीतराग स्थिति उत्पन्न हो जाय, तभी हृदय सचमुच दयावान बनता है और स्नेहियो की सेवा करता है। बा के प्रति मैं जिस हद तक वीतराग बना हूँ उसी हद तक उसकी सेवा अधिक कर सका हूँ। बुद्ध ने अपने माता-पिता को छोड़कर उनका भी उद्धार कर दिया। गोपीचन्द ने वैराग्य लेकर अपनी माता के प्रति अत्यन्त शुद्ध प्रेम सूचित किया।. . .जब तुम्हारी आत्मा विशुद्ध होगी तब उसकी परछाई तुम्हारे सब स्नेहियो पर पड़े बिना नही रह सकती।

—केपटाउन, बुधवार, ज्येष्ठ बदी ३, १०।६।१९१४। गुजराती से। गांधीजीनी साधना। सं० गा० वां०, खण्ड १२, पृष्ठ ४१३-१४]

७. तप का आदर्श

[श्री मगनलाल गाधी को लिखे पत्र का अंश]

रामचन्द्र जी चाहे जितने वीर क्यो न रहे हो, उन्होने कैसा ही पराक्रम क्यो न दिखाया हो और लाखो राक्षसो का वध क्यो न किया हो किन्तु यदि उनके पीछे लक्ष्मण और भरत-जैसे भक्त भाई न होते तो आज राम को कोई जानता भी नही। सारांश यह है कि रामचन्द्र जी मे केवल असाधारण क्षात्र-तेज ही होता तो उनकी प्रीति कालान्तर मे समाप्त हो जाती। राक्षसो का संहार करने वाले उनके-जैसे अनेक वीर हो गये। उनमे से किसी की कीर्ति आज घर-घर मे नही गाई जाती। रामचन्द्र मे कुछ विशेष तेज था और वे उस तेज को लक्ष्मण और भरत मे उतार

सके थे। इसलिए लक्ष्मण और भरत महान तपस्वी हुए। उनके इसी तप का माहात्म्य गाते हुए तुलसीदास ने कहा है कि महान मुनियो के लिए भी जो तपअगम है, ऐसा तप करने वाले भरत-जैसे तपस्वी न जन्मे होते तो मुझ-जैसे मूढ को राम का दर्शन कौन कराता। उसका अर्थ यह हुआ कि राम के यश अथवा उनकी शिक्षाओ के रक्षक लक्ष्मण और भरत जी है। फिर तप ही सब कुछ है। क्योकि आहार और निद्रा का चौदह वर्ष तक त्याग जैसे लक्ष्मण ने किया था वैसे ही इन्द्रजित ने भी किया था किन्तु लक्ष्मण को रामचन्द्र जी से तप का जो मर्म प्राप्त हुआ था इन्द्रजित उससे वचित था। इतना ही नही उसकी वृत्ति तप का दुरुपयोग करने की ओर थी। इसलिए उसे राक्षस कहा गया और वह भक्त तथा मुमुक्षु लक्ष्मण के हाथो पराजित हुआ। आदर्श को क्रियान्वित करने का मार्ग तप है।

—१४।३।१९१५ के बाद। गुजराती से। गाधीजीनी साधना। महात्मा गाधीजीना पत्रो। स० गा० वा०, खण्ड १३, पृष्ठ ४१-४२]

● आदर्श को क्रियान्वित करने का मार्ग तप है।

८. सत्कार्य और हमारी अभिलाषा

[सुश्री एस्थर फैरिंग को लिखे पत्र से]

"इच्छा से मुक्ति" एक पारिभाषिक व्यजना है और उसका मतलब है सर्वोत्तम से कुछ कम बनने या पाने की कामना करना। अत ईश्वर से प्रेम करना कोई इच्छा नही है। यह तो स्वाभाविक कामना है। किन्तु मैं कुछ भलाई कर सकू इसलिए विशाल बल की उपलब्धि एक इच्छा है और इसका दमन करना चाहिए। हमारे अच्छे कार्य उतने सहज होने चाहिए जितना सहज हमारे पलको का उठना-गिरना है। हमारी इच्छा किये बिना ही वे स्वत उठती-गिरती रहती है। अच्छे कार्य करना भी उतना ही सहज होना चाहिए।

—अहमदाबाद, ६।९।१९१७। अग्रेजी से। माई डियर चाइल्ड। स० गा० वा०, खण्ड १३, पृष्ठ ५३५]

९. कर्म-गति ईश्वर

[श्री आनन्दशकर ध्रुव को लिखे गये पत्र से]

श्री कृष्ण उद्धव से कहते हैं

"ऊधो कर्मन की गति न्यारी"

सच है कि हम तो यही गा सकते है, क्योकि बहुत-सी बातो के बारे मे हमारा अज्ञान असीम है। परन्तु वास्तव मे कर्मों की गति न्यारी नही है। वह तो सर्वथा

सीधी और सरल है। हम जो बोते है, वैसा ही काटते है। जैसा करते हैं, वैसा भरते हैं।

प्रकृति ही ईश्वर है। ईश्वर ही प्रेम है और भूल के लिए प्रेमपूर्ण दण्ड दिये ही जाते हैं।

[—नडियाद, १७।८।१९१८। गुजराती से। महादेवभाई नी डायरी, खण्ड ४। स० गा० वा०, खण्ड १५, पृष्ठ २५]

१०. हमारी नीति

[श्री जमनालाल बजाज को लिखे पत्र से]

मेरी दृष्टि मे 'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या' इस कथन का चमत्कार दिनोदिन बढता जाता है। इसलिए हमे हमेशा धीरज रखना चाहिए। धैर्य-पालन से हमारे अन्दर की कठोरता चली जायगी। कठोरता के न रहने पर हममे सहिष्णुता बढेगी। अपने दोष हमे पहाड-जैसे बडे प्रतीत होगे और ससार के राई-जैसे। शरीर की स्थिति अहंकार को लेकर है। शरीर का आत्यन्तिक नाश मोक्ष है। जिसके अहकार का सर्वथा नाश हुआ है, वह मूर्तिमन्त सत्य बन जाता है। उसे ब्रह्म कहने मे भी कोई बाधा नही हो सकती। इसीलिए परमेश्वर का प्यारा नाम तो दासानुदास है।

[—१६।३।१९२२। बापू के पत्र : बजाज परिवार के नाम, पृष्ठ २७, अ० भा० स० से० स०]

११. प्रार्थना, अन्तःकरण और आत्मा

मैं अपना कोई काम बिना प्रार्थना किये नही करता। मनुष्य स्खलनशील है। वह कभी निर्भ्रान्त नही हो सकता। जिसे वह अपनी प्रार्थना का उत्तर समझता है, सम्भव है कि वह उसके अहकार की प्रतिध्वनि हो। अचूक मार्ग दिखाने के लिए मनुष्य का अन्त करण पूर्ण निर्दोष और दुष्कर्म करने मे असमर्थ होना चाहिए। मैं ऐसा दावा नही करता। मेरी आत्मा तो भूलती-भटकती, गिरती-पडती, उठती और प्रयत्न करती अपूर्ण आत्मा है। मैं ईश्वर के और इसलिए मनुष्य जाति के पूर्ण एकत्व को मानता हूँ। हमारे शरीर यदि भिन्न है, तो क्या हुआ? आत्मा तो हमारे अन्दर एक ही है। सूर्य की किरणें परावर्तन से अनेक दिखाई देती हैं। पर उनका आधार—उद्गम एक ही है। इसलिए मैं अपने को अत्यन्त दुष्टात्मा से

भी अलग नहीं मान सकता (और न सज्जनों के साथ मेरी तद्रूपता से ही इन्कार किया जा सकता है)।

—य० इ०। हि० न० जी०, २८।९।१९२४]

● मनुष्य स्खलनशील है। वह कभी निर्भ्रान्त नहीं हो सकता।

१२. ईश्वर पर श्रद्धा

[ज्ञान की शोध मे रत एक पच्चीस वर्षीय, मातृ-पितृ-विहीन युवक ने गाधी जी को पत्र लिखा था, जिसके कुछ अश यहा उसकी मनोदशा व्यक्त करने के लिए दिये जा रहे हैं—"समुद्र मे बडी-बडी हिलोरें आती हैं, परन्तु आगे-पीछे छोटी-छोटी तरगें रहती हैं। मेरी दो छोटी-छोटी तरगें हैं—बडी तरग है ईश्वर-सम्बन्धी समस्या। राम और रावण के दृष्टान्त से तनिक सन्तोष नहीं होता। राम भी गये, रावण भी चला गया। किसे पता, कहा गये और क्या हुआ? नीति से क्या और अनीति से क्या? दोनो का आचरण करने वाले के लिए मृत्यु निश्चित है। मृत्यु के बाद मोक्ष है, सद्गति है, इस बात पर श्रद्धा नहीं बैठती।

"कर्म कर फल की आशा न रख"—इस आश्वासन से मेरा काम नहीं चलता। इसका अर्थ तो हुआ—मजदूरी, कर पैसा मिलने की आशा न रख। मूर्ति को देखकर मेरा काम नहीं चलता। लोग लकडी की स्त्री और बालबच्चे बनाकर दुनिया नहीं चलाते। नामस्मरण मे भी मुझे इतनी ही अश्रद्धा है। राम नाम जपा करता तो मेरा पता न लगता। अजामिल नारायण नाम से पार हो गया, यह गप मालूम होती है।

जन्मत ब्राह्मण इस युवक मे शुद्ध तर्क-सम्मत किन्तु आस्था-रहित विचार-दर्शन का बाहुल्य प्रतीत होता था। मार्ग-दर्शन के लिए गाधी जी से प्रार्थना की गई थी। इस युवक को गाधी जी ने 'ज्ञान की शोध में' लेख लिख कर उत्तर दिया। यह लेख यहा दिया जा रहा है।—सम्पा०]

इस पत्र के लेखक निर्मल-हृदय हैं। वे ज्ञान की शोध मे हैं। पर ज्यो-ज्यो वह ज्ञान को खोजते है, त्यों-त्यो वह उनसे दूर भागता दिखाई देता है। जो चीज बुद्धि के द्वारा नहीं प्राप्त हो सकती उसके लिए वे बुद्धि का प्रयोग करते है। जिस वस्तु के लिए वे बुद्धि खपा रहे है उसके फल-हेतु वे व्यर्थ ही प्रयत्न कर रहे है। कर्म के फल की आशा न रखने का अर्थ यह नही कि वह नही मिलेगा। आशा न रखने का अर्थ यही है कि कोई कर्म निष्फल नही जाता और ससार की विचित्र रचना मे ऐसा गुम्फन है कि यही पहिचान मे नही आता कि तना कौन सा है और शाखा कौन

सी है। तब जो अनेक मनुष्यो के अनेक कर्म-समुदाय का फल है, उसमे यह कौन जान सकता है कि एक व्यक्ति के कर्म का फल कौन-सा है ? यह जानने का हमे क्या अधिकार है ? एक राजा के सैनिक को भी अपने किये कर्म का फल जानने का अधिकार नही होता, तब फिर हमे—जो इस ससार के सैनिक हैं, अपने कर्म का फल जान कर क्या करना है ? क्या इतना ही ज्ञान पर्याप्त नही है कि कर्म का फल अवश्य मिलता है ?

इन लेखक को न तो राम-नाम मे श्रद्धा है, न ईश्वर मे। मै उनसे सिफारिश करता हूँ कि वे करोडो (व्यक्तियो) के अनुभव पर श्रद्धा रखें। ससार ईश्वर के अस्तित्व पर कायम है। राम-नाम ईश्वर का एक नाम है। राम-नाम से घृणा हो तो वे (उसे) शौक से ईश्वर के नाम से या अपने रचे किसी नाम से पूजें। अजामिल के उदाहरण को गप मानने का कोई कारण नही। प्रश्न यह नही कि अजामिल हुआ था या नही, किन्तु यह है कि वह ईश्वर का नाम लेते हुए तर गया या नही। पुराणकर्त्ताओ ने मनुष्यजाति के अनुभवो का वर्णन किया है। उनकी अवहेलना इतिहास की अवहेलना करना है। माया के साथ युद्ध तो चल ही रहा है। अजामिल-जैसो ने युद्ध करते हुए नारायण नाम का जप किया है। मीराबाई सोते-बैठते, खाते-पीते गिरिधर का नाम जपती थी। यह नाम युद्ध का विकल्प नही, बल्कि युद्ध करते हुए यह नाम लेकर उसे पवित्र बनाने की विधि है। राम नाम, द्वादश मन्त्र जपने वाले माया के साथ युद्ध करते हुए नही थकते, बल्कि उसको थका देते है। इसलिए कवि ने गाया है —

'माया सबको मोहित करती, हरिजन से वह हारी रे।"

राम-रावण का दृष्टान्त तो शाश्वत है। इससे सन्तोष न होने का अर्थ इतना ही है कि असन्तुष्ट होने वाले ने राम-रावण को ऐतिहासिक पात्र मान लिया है। ऐतिहासिक राम-रावण तो चले गये किन्तु मायावी रावण आज भी मौजूद है। और जिनके हृदय मे राम का निवास है वे राम-भक्त आज भी रावण का सहार कर रहे है।

जो बात मृत्यु के बाद ही जानी जाती है उसको आज जान लेने का मोह रखना कितना प्रबल मोह है ? पाँच साल का बालक पचासो साल मे क्या हो जायगा, यह जानने का मोह रखे ता क्या दशा होगी ? परन्तु जिस प्रकार ज्ञानी बालक दूसरो के अनुभव से अपने सम्बन्ध मे कुछ अनुमान कर सकता है, उसी तरह हम भी दूसरो के अनुभव से मृत्यु के बाद की स्थिति का कुछ अनुमान करके सन्तुष्ट रह सकते हैं।

मृत्यू के वाद क्या होगा, यह जानने मे क्या लाभ ? सुकृत का फल मीठा और दुष्कृत का कडवा होता है, यही विश्वास क्या पर्याप्त नही है ? श्रेष्ठतम कृत्य का फल मोक्ष है। मोक्ष की यह व्याख्या मैं पूर्वोक्त लेखक को सूचित करता हूँ।

लेखक मूर्ति का स्थूल अर्थ करके भ्रामक उपमा लेकर खुद ही भुलावे मे पड गये है। मूर्ति परमेश्वर नही, वल्कि उसमे परमेश्वर का आरोप करके लोग तल्लीन होते है।

हम लकडी के मनुष्य वनाकर काठ के पुतलो मे मनुष्य का काम नही ले सकते। परन्तु चित्र के द्वारा अपने मा-वाप की स्मृति ताजी करने के लिए, उसका प्रयोग करके लाखो सुपुत्र और सुपुत्रिया क्या वुरा करते है। परमेश्वर सर्व-व्यापक है। नर्मदा के एक पत्थर मे भी उसका आरोप करके परमेश्वर की भक्ति की जा सकती है।

—न० जी०, हि० न० जी०, १९।३।१९२५]

- ससार ईश्वर के अस्तित्व पर कायम है।
- राम-नाम ईश्वर का एक नाम है।
- पुराणकर्त्ताओ ने मनुष्य-जाति के अनुभवो का वर्णन किया है। उनकी अवहेलना इतिहास की अवहेलना करना है।
- सुकृत का फल मीठा और दुष्कृत का कडवा होता है।
- मूर्ति परमेश्वर नहीं, वल्कि उसमे परमेश्वर का आरोप करके लोग तल्लीन होते हैं।
- परमेश्वर सर्व-व्यापक है।

१३. मूर्ति-पूजा

मुझे मूर्तिपूजक हिन्दू के अज्ञान पर दया नही आई, वल्कि मुझे उसके ज्ञान की विशेष प्रतीति हुई। उसने मूर्तिपूजा का मार्ग दिखाकर एक ईश्वर के अनेक ईश्वर नही वनाये है, वरन् उसने जगत् को यह वस्तु खोज कर दिखा दी है कि मनुष्य एक ईश्वर की पूजा उसके अनेकानेक रूपो-द्वारा कर सकते हैं और वे उसकी ऐसी ही पूजा किया करेंगे। ईसाई और मुसलमान अपने को मूर्ति-पूजक भले ही न मानें लेकिन अपनी कल्पना की पूजा करने वाले भी तो मूर्तिपूजक ही हैं। मस्जिद और गिरजाघर भी एक प्रकार की मूर्तिपूजा है। वही जाकर मैं अधिक पवित्र हो सकूँगा—इस कल्पना मे भी मूर्ति-पूजा है और इसमे कोई दोष नही है। कुरान मे या वाइविल मे ही ईश्वर का साक्षात्कार होता है, इस कल्पना

नी है। तब जो अनेक मनुष्यों के अनेक कर्म-समुदाय का फल है, उसमे यह कौन जान सकता है कि एक व्यक्ति के कर्म का फल कौन-सा है ? यह जानने का हमें क्या अधिकार है ? एक राजा के सैनिक को भी अपने किये कर्म का फल जानने का अधिकार नही होता, तब फिर हमे—जो इस ससार के सैनिक है, अपने कर्म का फल जान कर क्या करना है ? क्या इतना ही ज्ञान पर्याप्त नही है कि कर्म का फल अवश्य मिलता है ?

इन लेखक को न तो राम-नाम मे श्रद्धा है, न ईश्वर मे। मै उनसे सिफारिश करता हूँ कि वे करोडो (व्यक्तियो) के अनुभव पर श्रद्धा रखें। ससार ईश्वर के अस्तित्व पर कायम है। राम-नाम ईश्वर का एक नाम है। राम-नाम से घृणा हो तो वे (उसे) शौक से ईश्वर के नाम से या अपने रचे किसी नाम से पूजें। अजामिल के उदाहरण को गप मानने का कोई कारण नही। प्रश्न यह नही कि अजामिल हुआ था या नही, किन्तु यह है कि वह ईश्वर का नाम लेते हुए तर गया या नही। पुराणकर्त्ताओ ने मनुष्यजाति के अनुभवो का वर्णन किया है। उनकी अवहेलना इतिहास की अवहेलना करना है। माया के साथ युद्ध तो चल ही रहा है। अजामिल-जैसो ने युद्ध करते हुए नारायण नाम का जप किया है। मीराबाई सोते-बैठते, खाते-पीते गिरिधर का नाम जपती थी। यह नाम युद्ध का विकल्प नही, बल्कि युद्ध करते हुए यह नाम लेकर उसे पवित्र बनाने की विधि है। राम नाम, द्वादश मन्त्र जपने वाले माया के साथ युद्ध करते हुए नही थकते, बल्कि उसको थका देते है। इसलिए कवि ने गाया है —

'माया सबको मोहित करती, हरिजन से वह हारी रे।"

राम-रावण का दृष्टान्त तो शाश्वत है। इससे सन्तोष न होने का अर्थ इतना ही है कि असन्तुष्ट होने वाले ने राम-रावण को ऐतिहासिक पात्र मान लिया है। ऐतिहासिक राम-रावण तो चले गये किन्तु मायावी रावण आज भी मौजूद है। और जिनके हृदय मे राम का निवास है वे राम-भक्त आज भी रावण का सहार कर रहे हैं।

जो बात मृत्यु के बाद ही जानी जाती है उसको आज जान लेने का मोह रखना कितना प्रबल मोह है ? पाँच साल का बालक पचासो साल मे क्या हो जायगा, यह जानने का मोह रखे तो क्या दशा होगी ? परन्तु जिस प्रकार ज्ञानी बालक दूसरो के अनुभव मे अपने सम्बन्ध मे कुछ अनुमान कर सकता है, उसी तरह हम भी दूसरो के अनुभव से मृत्यु के बाद की स्थिति का कुछ अनुमान करके सन्तुष्ट रह सकते है।

मृत्यू के वाद क्या होगा, यह जानने से क्या लाभ ? सुकृत का फल मीठा और दुष्कृत का कडवा होता है, यही विश्वास क्या पर्याप्त नही है ? श्रेष्ठतम कृत्य का फल मोक्ष है। मोक्ष की यह व्याख्या मैं पूर्वोक्त लेखक को सूचित करता हूँ।

लेखक मूर्ति का स्थूल अर्थ करके भ्रामक उपमा लेकर खुद ही भुलावे मे पड गये हैं। मूर्ति परमेश्वर नही, वल्कि उसमे परमेश्वर का आरोप करके लोग तल्लीन होते है।

हम लकडी के मनुष्य वनाकर काठ के पुतलो से मनुष्य का काम नही ले सकते। परन्तु चित्र के द्वारा अपने मा-वाप की स्मृति ताजी करने के लिए, उसका प्रयोग करके लाखो सुपुत्र और सुपुत्रिया क्या वुरा करते है। परमेश्वर सर्व-व्यापक है। नर्मदा के एक पत्थर मे भी उसका आरोप करके परमेश्वर की भक्ति की जा सकती है।

—न० जी०, हि० न० जी०, १९।३।१९२५]

- ससार ईश्वर के अस्तित्व पर कायम है।
- राम-नाम ईश्वर का एक नाम है।
- पुराणकर्त्ताओ ने मनुष्य-जाति के अनुभवो का वर्णन किया है। उनकी अवहेलना इतिहास की अवहेलना करना है।
- सुकृत का फल मीठा और दुष्कृत का कडवा होता है।
- मूर्ति परमेश्वर नहीं, बल्कि उसमे परमेश्वर का आरोप करके लोग तल्लीन होते हैं।
- परमेश्वर सर्व-व्यापक है।

१३. मूर्ति-पूजा

मुझे मूर्तिपूजक हिन्दू के अज्ञान पर दया नही आई, वल्कि मुझे उसके ज्ञान की विशेष प्रतीति हुई। उसने मूर्तिपूजा का मार्ग दिखाकर एक ईश्वर के अनेक ईश्वर नही वनाये है, वरन् उसने जगत् को यह वस्तु खोज कर दिखा दी है कि मनुष्य एक ईश्वर की पूजा उसके अनेकानेक रूपो-द्वारा कर सकते हैं और वे उसकी ऐसी ही पूजा किया करेंगे। ईसाई और मुसलमान अपने को मूर्ति-पूजक भले ही न मानें लेकिन अपनी कल्पना की पूजा करने वाले भी तो मूर्तिपूजक ही हैं। मस्जिद और गिरजाघर भी एक प्रकार की मूर्तिपूजा है। वही जाकर मैं अधिक पवित्र हो सकूँगा—इस कल्पना मे भी मूर्ति-पूजा है और इसमे कोई दोष नही है। कुरान मे या वाइविल मे ही ईश्वर का साक्षात्कार होता है, इस कल्पना

मे भी मूर्ति-पूजा है और वह निर्दोष है। हिन्दू इससे भी आगे बढ कर कहते हैं कि जिसे जो रूप पसन्द आये उसी रूप से वह ईश्वर की पूजा करे। पत्थर या सोने-चादी की मूर्ति मे ईश्वर को मान कर, उसका ध्यान कर जो मनुष्य अपनी चित्त-शुद्धि करेगा, उसको भी मोक्ष प्राप्त करने का पूरा अधिकार होगा।

—न० जी०। हि० न० जी०, २।४।१९२५]

१४. ईश्वर-साक्षात्कार

. . . ईश्वर-साक्षात्कार क्या है? यह अनुभव करना कि उसका आसन हमारे हृदय मे है। यह अनुभव हमे उसी तरह होना चाहिए जिस तरह बालक प्रत्यक्ष प्रमाण के बिना माता के वात्सल्य का अनुभव करता है। क्या बालक माता के प्रेम के अस्तित्व—(के सम्बन्ध) मे युक्ति और प्रमाण खोजता है, तर्क-वितर्क करता है, क्या वह उसे दूसरे को सिद्ध करके बता सकता है? वह तो नि शक होकर कहता है—वह (मातृ-स्नेह) अवश्य है। यही स्थिति ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध मे हो जानी चाहिए। ईश्वर तर्क से परे है, पर उसकी प्रतीति अवश्य होनी चाहिए। हमे चाहिए कि हम तुलसीदास, चैतन्य, रामदास तथा अन्य आध्यात्मिक पुरुषो के अनुभव को घता न बताये, जिस तरह कि हम सासारिक पुरुषो के अनुभव को नही बतलाते है।

—य० इ०। हि० न० जी०, ९।७।१९२५]

- **ईश्वर तर्क से परे है।**

१५. गीता के प्रकाश में मृत्यु-रहस्य

[देशबन्धु के श्राद्ध के अवसर पर किये गये प्रवचन से]

गीता मेरे लिए शाश्वत मार्ग-दर्शिका है। अपने प्रत्येक कार्य के लिए मैं गीता से आधार खोजता हूँ। और यदि (वह) नही मिलता तो उस कार्य को करते हुए रुक जाता हूँ या अनिश्चित रहता हूँ। इसलिए मैंने जब हिचकिचाहट के साथ कुछ कहना स्वीकार किया तब सोचा कि मृत्यु और जन्म के रहस्य पर कुछ कहू। जब-जब मेरे कुटुम्बियो या स्नेहियो की मृत्यु का अवसर आया है, मैंने गीता को ही स्मरण किया है। और यह बात गीता मे ही मिलती है कि मृत्यु के लिए शोक नही करना चाहिए। मेरी आँखो से यदि किसी समय आँसू निकले हैं, तो वे अनिच्छा से, और उसका कारण मेरी निर्बलता है। आज हम गीता जी से कुछ आश्वासन प्राप्त करे।

मैंने अनेक बार कहा है कि गीता एक महारूपक है। मैं नही समझता कि इसमे दो पक्षो के युद्ध का वर्णन है और मैंने जब जेल मे महाभारत पढी तब मेरी यह धारणा और सुदृढ हो गई। स्वय महाभारत भी मुझे तो एक महाधर्मग्रन्थ मालूम होता है। उसमे ऐतिहासिक घटनाएँ तो है, पर वह इतिहास नही है। सर्प-सत्र-जैसी कथा को पढकर यदि शब्दार्थ करने लगे, तो कैसे सन्तोष होगा? तब तो भ्रम से हमारा दम घुटने लगेगा। कवि स्वय ही ढिंढोरा पीट कर कहता है कि मैं इतिहासकार नही हूँ। गीता जी मे हमारे हृदय के अन्दर चल रहे युद्ध का वर्णन है और उसका वर्णन करने के लिए लेखक अनेक स्थूल ऐतिहासिक घटनाओ का उपयोग करता है, पर उसका उद्देश्य है हमारे हृदय के अन्दर प्रकाश डाल कर हमारे द्वारा उसका सशोधन करवाना। जब आप दूसरे अध्याय के अन्त मे पहुँचते हैं, तब ऐसी शका तक रखना असम्भव हो जाता है कि ऐतिहासिक युद्ध चल रहा है।

लेकिन मेरा विषय मृत्यु का रहस्य है। यदि आप मुझसे यह बात मानने मे सहमत हो कि गीता एक रूपक है, तो उसके अनुसार मृत्यु का रहस्य भी समझ सकेंगे।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत ।
उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभि ॥

इस श्लोक मे सारा रहस्य भरा हुआ है। अनेक श्लोको मे बार-बार कहा गया है कि शरीर 'असत्' है। 'असत्' का अर्थ 'माया' नही, ऐसी वस्तु नही जो कभी किसी रूप मे उत्पन्न न हुई हो, बल्कि उसका अर्थ है क्षणिक, नाशवान्, परिवर्तनशील। फिर भी हम अपने जीवन का सारा व्यवहार यह मानकर चलाते है मानो हमारा शरीर शाश्वत है। हम शरीर को पूजते हैं, शरीर के पीछे पडे रहते हैं। यह सब हिन्दू-धर्म के विरुद्ध है। हिन्दू धर्म मे यदि कोई बात चाँदनी की तरह स्पष्ट कही गई है, तो वह है शरीर और दृश्य पदार्थों की असत्ता। फिर भी हम जितना मृत्यु से डरते हैं, रोते-पीटते हैं, उतना शायद ही कोई करते हो।

महाभारत मे तो यह कहा गया है कि रुदन से मृत आत्मा को सन्ताप होता है। और गीता इसीलिए लिखी गई है कि लोग मृत्यु को कोई भीषण वस्तु न मानें। मनुष्य का शरीर काम करते-करते थक जाता है। अनेक शरीर तो मृत्यु के द्वारा दुख से मुक्त होते है। मैं ज्यो-ज्यो देशबन्धु के अहर्निश कर्म-मय जीवन पर अधिकाधिक विचार करता हूँ त्यो-त्यो मुझे प्रतीत होता है कि वे आज जीवित है। जब उनका शरीर था तब वे जीवित नही थे, आज पूरी तरह जीवित है। हमने तो स्वार्थ के कारण मान लिया कि उनका शरीर ही महत्व की वस्तु

थी। वह (गीता) हमे सिखाती है और मैं प्रतिदिन इस पाठ को समझता जा रहा हूँ कि अशाश्वत वस्तु के लिए की गई सारी चिन्ता व्यर्थ है, व्यर्थ कालक्षेप है।

'असत् का भाव'—इसका अर्थ है अस्तित्व का न होना। और जो सत् है उसका नाश कभी नही हो सकता। शेक्सपियर ने जहा यह कहा है कि मनुष्य का किया शुभ कर्म उसके साथ मिट्टी मे दब जाता है और अशुभ ही ससार मे जीवित रहता है, वहा उसने भारी भूल की है। ससार भला कर जाने वाली आत्माओ का ही नित्य स्मरण करता है। दुनिया असत् और अशुभ को सरलता से भूल जाती है, शुभ का सग्रह करती है। रामचन्द्र जी को ही लीजिए। राम को मैं अवतार मानता हूँ। पर मैं यह नही मानता कि जब उन्होने शरीर धारण किया होगा, तब एक भी दोष न किया होगा। पर आज हम उन्हे "पूर्ण" मानते हैं। कृष्ण को भी पूर्णावतार जानते हैं। आज लाखो करोडो हिन्दुओ मे एक भी ऐसा नही जो राम या कृष्ण के दोष निकालता हो। यह भी "नासतो विद्यते भावो" श्लोक का रहस्य प्रकट करता है—ससार ने उनके शाश्वत शरीर का सग्रह कर रखा, अशाश्वत-दोष इत्यादि की किसी को खबर नही।

अतएव गीता इस श्लोक मे पुकार-पुकार कर कहती है कि हम अपने जीवन मे सत्य को धारण करके जियें और माया, असत्य, पाखण्ड का त्याग करें। अनेक बार वाणी असत्य हो जाती है, पाखण्ड-रूप हो जाती है। क्रोध असत् है, काम, मोह, मद आदि असत् हैं। हमे इन तमाम सर्पों का सत्र करना है। स्थूल सर्प तो बेचारा केवल शरीर को कष्ट देता है, पर ये सर्प तो हमारी रग-रग मे पहुँच जाते हैं और हमारी आत्मा को भी हानि पहुँचाने की धमकी देते हैं। परन्तु आत्मा को हानि नही पहुँच सकती। वह अविनाशी है। यदि हम इस बात को समझ ले कि सत् क्या है तो जन्म-मृत्यु का रहस्य भी समझ जायगे।

जिस प्रकार रसायनशास्त्री कहते हैं कि जब मोमबत्ती जलती है तब उसकी किसी वस्तु का नाश नही होता, उसी प्रकार जब शरीर मरता है और जलता है तब कोई वस्तु नष्ट नही होती। जन्म और मृत्यु एक ही वस्तु की दो स्थितिया हैं। किसी स्वजन के मरण पर हम जो रोते-चीखते हैं उसका कारण है स्वार्थ।

—हि० न० जी०, ३०।७।१९३५]

- गीता मेरे लिए शाश्वत मार्ग-दर्शिका है।
- गीता एक महारूपक है।
- गीता में हमारे हृदय के अन्दर चल रहे युद्ध का वर्णन है।
- शरीर असत् है...का अर्थ है क्षणिक, नाशवान, परिवर्तनशील।

- अशाश्वत वस्तु के लिए की गई सारी चिन्ता व्यर्थ है, व्यर्थ कालक्षेप है।
- जो सत् है उसका नाश कभी नहीं हो सकता।
- दुनिया असत् और अशुभ को सरलता से भूल जाती है, शुभ का सग्रह करती है।
- हम अपने जीवन मे सत्य को धारण करके जियें और माया, असत्य, पाखण्ड का त्याग करें।
- अनेक बार वाणी असत्य हो जाती है, पाखण्ड-रूप हो जाती है।
- आत्मा को हानि नहीं पहुँच सकती। वह अविनाशी है।
- जन्म और मृत्यु एक ही वस्तु की दो स्थितिया हैं।

१६. कुछ दार्शनिक गुत्थियां

एक महाशय ने अत्यन्त विनम्र भाव मे तीन प्रश्न पूछे हैं। उन्होने प्रश्नो के साथ उनके उत्तर भी लिखे है लेकिन स्थानाभाव के कारण मै उन्हे यहा दे नही रहा हूँ। प्रश्न उन्ही के शब्दो मे दिये गये हैं। वे इस प्रकार है —

"१. आप वर्ण-भेद जन्मजात मानते हैं। किन्तु आपकी यह भी मान्यता है कि किसी भी आदमी को कोई भी काम करने मे हर्ज नहीं और किसी भी व्यक्ति मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि द्विजो के गुण जा सकते हैं। ऐसी दशा मे वर्ण या उपाधि की क्या जरूरत है? सिर्फ जन्म के नाम का आरोपण क्यो, जन्म को इतना महत्व क्यो?

"२. आप अद्वैतवाद मानते हैं और यह भी कहते हैं कि सृष्टि अनादि, अनन्त तथा असत्य है। अद्वैततत्व सृष्टि के अस्तित्व से इन्कार करता है। आप द्वैतवादी भी नहीं, क्योंकि आप जीवात्मा के स्वतन्त्र कर्त्तृत्व पर श्रद्धा रखते हैं। इसलिए आपको अनेकान्तवादी या स्याद्वादी कहना क्यो ठीक नहीं?

"३. आपने कई बार लिखा है कि ईश्वर का अर्थ देह-रहित, वीतरागी स्वतन्त्र और उपाधि-रहित शुद्धात्मा है। अर्थात् ईश्वर ने सृष्टि नहीं पैदा की और वह पाप पुण्य का निकाल (फल) भी नहीं देने बैठता। फिर भी आप बार-बार ईश्वरेच्छा की बात किया करते हैं। उपाधि-रहित ईश्वर को इच्छा कैसे हो सकती है? और आप उसकी इच्छा के अधीन कैसे हो सकते हैं? आपकी आत्मा जो कुछ करना चाहती है, कर सकती है। यदि एकदम न कर सकती हो तो उसी आत्मा का पूर्व-सचित कर्म ही उसका कारण है, ईश्वर नहीं। आप सत्याग्रही

थी। वह (गीता) हमे सिखाती है और मैं प्रतिदिन इस पाठ को समझता जा रहा हूं कि अशाश्वत वस्तु के लिए की गई सारी चिन्ता व्यर्थ है, व्यर्थ कालक्षेप है।

'असत् का भाव'—इसका अर्थ है अस्तित्व का न होना। और जो सत् है उसका नाश कभी नही हो सकता। शेक्सपियर ने जहा यह कहा है कि मनुष्य का किया शुभ कर्म उसके साथ मिट्टी मे दब जाता है और अशुभ ही ससार मे जीवित रहता है, वहा उसने भारी भूल की है। ससार भला कर जाने वाली आत्माओ का ही नित्य स्मरण करता है। दुनिया असत् और अशुभ को सरलता से भूल जाती है, शुभ का सग्रह करती है। रामचन्द्र जी को ही लीजिए। राम को मैं अवतार मानता हूँ। पर मैं यह नही मानता कि जब उन्होने शरीर धारण किया होगा, तब एक भी दोष न किया होगा। पर आज हम उन्हे "पूर्ण" मानते है। कृष्ण को भी पूर्णावतार जानते हैं। आज लाखो करोडो हिन्दुओ मे एक भी ऐसा नही जो राम या कृष्ण के दोष निकालता हो। यह भी "नासतो विद्यते भावो" श्लोक का रहस्य प्रकट करता है—ससार ने उनके शाश्वत शरीर का सग्रह कर रखा, अशाश्वत-दोष इत्यादि की किसी को खबर नही।

अतएव गीता इस श्लोक मे पुकार-पुकार कर कहती है कि हम अपने जीवन मे सत्य को धारण करके जियें और माया, असत्य, पाखण्ड का त्याग करें। अनेक बार वाणी असत्य हो जाती है, पाखण्ड-रूप हो जाती है। क्रोध असत् है, काम, मोह, मद आदि असत् है। हमे इन तमाम सर्पों का सत्र करना है। स्थूल सर्प तो बेचारा केवल शरीर को कष्ट देता है, पर ये सर्प तो हमारी रग-रग मे पहुँच जाते है और हमारी आत्मा को भी हानि पहुंचाने की धमकी देते हैं। परन्तु आत्मा को हानि नही पहुँच सकती।, वह अविनाशी है। यदि हम इस बात को समझ लें कि सत् क्या है तो जन्म-मृत्यु का रहस्य भी समझ जायगे।

जिस प्रकार रसायनशास्त्री कहते हैं कि जब मोमबत्ती जलती है तब उसकी किसी वस्तु का नाश नही होता, उसी प्रकार जब शरीर मरता है और जलता है तब कोई वस्तु नष्ट नही होती। जन्म और मृत्यु एक ही वस्तु की दो स्थितिया हैं। किसी स्वजन के मरण पर हम जो रोते-चीखते हैं उसका कारण है स्वार्थ।

—हि० न० जी०, ३०।७।१९३५]

- गीता मेरे लिए शाश्वत मार्ग-दर्शिका है।
- गीता एक महारूपक है।
- गीता में हमारे हृदय के अन्दर चल रहे युद्ध का वर्णन है।
- शरीर असत् है...का अर्थ है क्षणिक, नाशवान, परिवर्तनशील।

- अशाश्वत वस्तु के लिए की गई सारी चिन्ता व्यर्थ है, व्यर्थ कालक्षेप है।
- जो सत् है उसका नाश कभी नहीं हो सकता।
- दुनिया असत् और अशुभ को सरलता से भूल जाती है, शुभ का सग्रह करती है।
- हम अपने जीवन मे सत्य को धारण करके जियें और माया, असत्य, पाखण्ड का त्याग करें।
- अनेक बार वाणी असत्य हो जाती है, पाखण्ड-रूप हो जाती है।
- आत्मा को हानि नहीं पहुँच सकती। वह अविनाशी है।
- जन्म और मृत्यु एक ही वस्तु की दो स्थितिया हैं।

१६. कुछ दार्शनिक गुत्थिया

एक महाशय ने अत्यन्त विनम्र भाव मे तीन प्रश्न पूछे हैं। उन्होने प्रश्नो के साथ उनके उत्तर भी लिखे है लेकिन स्थानाभाव के कारण मैं उन्हे यहा दे नही रहा हूँ। प्रश्न उन्ही के शब्दो मे दिये गये है। वे इस प्रकार है —

"१. आप वर्ण-भेद जन्मजात मानते हैं। किन्तु आपकी यह भी मान्यता है कि किसी भी आदमी को कोई भी काम करने मे हर्ज नहीं और किसी भी व्यक्ति मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि द्विजो के गुण जा सकते हैं। ऐसी दशा मे वर्ण या उपाधि की क्या जरूरत है? सिर्फ जन्म के नाम का आरोपण क्यो, जन्म को इतना महत्व क्यो?

"२ आप अद्वैतवाद मानते हैं और यह भी कहते हैं कि सृष्टि अनादि, अनन्त तथा असत्य है। अद्वैततत्व सृष्टि के अस्तित्व से इन्कार करता है। आप द्वैतवादी भी नहीं, क्योकि आप जीवात्मा के स्वतन्त्र कर्त्तृत्व पर श्रद्धा रखते हैं। इसलिए आपको अनेकान्तवादी या स्याद्वादी कहना क्यो ठीक नहीं?

"३ आपने कई बार लिखा है कि ईश्वर का अर्थ देह-रहित, वीतरागी स्वतन्त्र और उपाधि-रहित शुद्धात्मा है। अर्थात् ईश्वर ने सृष्टि नहीं पैदा की और वह पाप पुण्य का निकाल (फल) भी नहीं देने बैठता। फिर भी आप बार-बार ईश्वरेच्छा की बात किया करते हैं। उपाधि-रहित ईश्वर को इच्छा कैसे हो सकती है? और आप उसकी इच्छा के अधीन कैसे हो सकते हैं? आपकी आत्मा जो कुछ करना चाहती है, कर सकती है। यदि एकदम न कर सकती हो तो उसी आत्मा का पूर्व-सचित कर्म ही उसका कारण है, ईश्वर नहीं। आप सत्याग्रही

होने के कारण केवल मूढात्माओ को समझाने के लिए यह असत्य बात नहीं कहते होंगे। तो फिर ईश्वरेच्छा का यह दैववाद क्यो ?"

१ मैं वर्ण-भेद मानने मे सृष्टि-नियमो का समर्थन करता हूँ। हम लोग माता-पिता के कुछ गुण-दोषो को जन्म से ही प्राप्त करते हैं। मनुष्य योनि मे मनुष्य ही पैदा होते है। और यही जन्मानुसार वर्णों का सूचक है। और जन्म से प्राप्त गुण-दोषो मे हम लोग कुछ अशो मे परिवर्तन कर सकते है। इसलिए कर्म को भी स्थान है। पूर्व जन्म के फलो को एक ही जन्म मे सर्वथा मिटा देना शक्य नही है। इस अनुभव की दृष्टि से जन्मना ब्राह्मण को ब्राह्मण मानने मे ही सब तरह का लाभ है। यदि ब्राह्मण विपरीत कर्म करने से इसी जन्म मे शूद्र बने, तो भी ससार उसे ब्राह्मण मानता रहे, इससे ससार की कोई हानि न होगी। यह सच है कि आज वर्ण-भेद का उल्टा अर्थ हो रहा है और इसलिए यह भी सच है कि वह छिन्न-भिन्न हो गया है। फिर भी मैं जिस नियम का पग-पग पर अनुभव करता हूँ, उससे मैं कैसे इन्कार कर सकता हूँ। मैं यह समझता हूं कि यदि मैं उससे इन्कार करू तो बहुत-सी मुश्किलो से बच जाऊगा। लेकिन यह दुर्बुद्धि का मार्ग है। मैंने तो यह स्पष्ट पुकार कर कहा है कि वर्ण की स्वीकृति मे मैं ऊच-नीच के भेद को स्वीकार नही करता। जो सच्चा ब्राह्मण है वह तो सेवक का भी सेवक बन कर रहता है। ब्राह्मण मे भी क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के गुण होते हैं। उसमे केवल ब्राह्मण गुण दूसरे गुणो की अपेक्षा अधिक होना चाहिए। लेकिन आज तो वर्ण भी चाक पर चढा हुआ है और उसमे से क्या निकलेगा, यह तो ईश्वर ही या ब्राह्मण जान सकते हैं।

२ यह सच है कि मैं अपने को अद्वैतवादी मानता हूं लेकिन द्वैतवाद का भी समर्थन कर सकता हूं। सृष्टि मे प्रति क्षण परिवर्तन होता है। इसीलिए सृष्टि असत्—अस्तित्व-रहित, कही जाती है। लेकिन परिवर्तन होने पर भी उसका एक रूप ऐसा है, जिसे स्वरूप कह सकते हैं। उस रूप से वह है। उसे भी हम लोग देख सकते हैं। इसलिए वह सत्य भी है। उसे सत्यासत्य कहे तो भी कुछ आपत्ति नही। इसलिए यदि मुझे अनेकान्तवादी या स्याद्वादी माना जाय तो इससे मेरी कोई हानि न होगी। मैं स्याद्वाद को जैसा मानता हूं वैसा ही उसे मानता हूं—पण्डित लोग जैसा मानना चाहे, उस प्रकार मैं शायद नही मानता। वे मुझे वादविवाद के लिए बुलाये तो मैं हार जाऊगा। मैंने अपने अनुभव से देखा है कि अपनी दृष्टि मे मैं सदा ही सच्चा होता हूं और अपने प्रामाणिक टीकाकार की दृष्टि मे बहुत-सी बातो मे गल्ती पर होता हूं। मैं यह जानता हूं कि अपनी-अपनी दृष्टि मे हम दोनो ही सच्चे हैं। इस ज्ञान के कारण मैं किसी को भी सहसा झूठा, कपटी

आदि नही मान सकता। सात अन्धो ने हाथी का सात प्रकार से वर्णन किया था और वे सब अपनी-अपनी दृष्टि मे सच्चे थे, एक-दूसरे की दृष्टि मे गलत थे और ज्ञानी की दृष्टि मे सच्चे भी थे और गलत भी। मुझे यह अनेकान्तवाद बडा ही प्रिय है। उसके द्वारा ही मैंने मुसलमान की दृष्टि से मुसलमान की और ईसाई की दृष्टि से ईसाई की परीक्षा करना सीखा है। पहिले जब कोई मेरे विकारो को गलत समझता था तो मुझे उस पर बडा क्रोध आता था लेकिन अब मैं उसकी आँखो से उसका दृष्टिविन्दु देख सकता हूँ इसलिए मैं उस पर भी प्रेम कर सकता हूँ। क्योकि मै ससार के प्रेम का भूखा हूँ। अनेकान्तवाद का मूल अहिंसा और सत्य का युगल है।

३ मैं ईश्वर के जिस रूप को मानता हूं उसी का वर्णन करता हूँ। लोगो को झूठा समझा कर मैं अपना अध पात क्यो होने दूं ? मुझे उनसे कौन-सा इनाम लेना है ? मैं तो ईश्वर को कर्ताअकर्ता मानता हूँ। इसका भी उद्भव मेरे स्याद्वाद से होता है। जैनो के स्थान पर बैठ कर (मैं) ईश्वर का अकर्तृत्व सिद्ध करता हूँ और रामानुज के स्थान पर बैठ कर उसका कर्तृत्व सिद्ध करता हूं। हम सब अचिन्त्य का चिन्तन करते हैं, अवर्णनीय का वर्णन करते है और अज्ञेय को जानना चाहते हैं इसलिए हमारी भाषा तुतलाती है, अपूर्ण है और कभी-कभी तो वक्र होती है। इसी कारण तो ब्रह्म के लिए वेदो ने अलौकिक शब्दो की रचना की और उसका परिचय 'नेति' के विशेषण से दिया। यद्यपि वह "यह नही है"[1], फिर भी वह है। अस्ति सत्, सत्य ०,१,११ ऐसा कह सकते है। हम लोग है, हमे पैदा करने वाले माता-पिता है और उनके भी पैदा करने वाले है इसलिए एक सबको पैदा करने वाला भी है, ऐसा मानने मे कोई पाप नही वरन् पुण्य है। यह मानना धर्म है। यदि वह नही है तो हम भी नही हो सकते। इसलिए हम उसे एक स्वर से परमात्मा, ईश्वर, शिव, विष्णु, राम, अल्ला, खुदा, दादा होरमज, यहोवा, गाड इत्यादि अनेक और अनन्त नामो से पुकारते है। वह एक है, अनेक है, अणु से भी छोटा और हिमालय से भी वडा है, समुद्र के एक विन्दु मे भी समा सकता है और इतना भारी है कि सात समुद्र मिल कर भी उसे सहन नही कर सकते। उसे जानने के लिए बुद्धिवाद का क्या उपयोग हो सकता है ? वह तो बुद्धि से अतीत है। ईश्वर को मानने के लिए श्रद्धा की आवश्यकता है। मेरी बुद्धि अनेक तर्क-वितर्क कर सकती है। अत्यन्त प्रबल नास्तिक के साथ वाद-विवाद करने मे मैं पराजित हो सकता हूँ। फिर भी मेरी श्रद्धा, बुद्धि से भी

---

१ नेति का शब्दार्थ।

इतनी अधिक आगे दौडती है कि मैं समस्त ससार-द्वारा विरोध होने पर भी यही कहूँगा—'ईश्वर है, वह अवश्य है।'

लेकिन जिसे ईश्वर को अस्वीकार करना है उसे उसको अस्वीकार करने का भी अधिकार है, क्योंकि वह तो बडा दयालु है, रहीम है, रहमान है। वह मिट्टी का बना हुआ कोई राजा तो है नही जो उसे अपनी दुहाई स्वीकार कराने के लिए सिपाही रखने पड़ें। वह हमे स्वतन्त्रता देता हे, फिर भी केवल अपनी दया के बल हम लोगो को नमन करने के लिए मजबूर करता है। लेकिन हम लोगो मे से कोई यदि नमन न करे, तो भी वह कहता है—खुशी से न करो, मेरा सूर्य तो तुम्हारे लिए भी रोशनी देगा, मेरा मेघ तो तुम्हारे लिए भी पानी बरसायेगा, अपना अधिकार चलाने के लिए मुझे तुम्हारे ऊपर बल-प्रयोग करने की कोई आवश्यकता नही है। जो नाराज़ है, वे भले ही उसे न मानें, लेकिन मैं करोडो बुद्धिमानो मे एक हू। इसलिए प्रणाम करने से कभी नही थकता।

—न० जी०। हि० न० जी०, २१।१।१९२६।]

- मैं वर्ण-भेद मानने में सृष्टि-नियमो का समर्थन करता हूं।
- वर्ण की स्वीकृति में मैं उच्च-नीच के भेद को स्वीकार नहीं करता।
- जो सच्चा ब्राह्मण है, वह तो सेवक का भी सेवक बन कर रहता है।
- मुझे...अनेकान्तवाद बड़ा ही प्रिय है।
- अनेकान्तवाद का मूल अहिंसा और सत्य का युगल है।
- मैं....ईश्वर को कर्त्ता-अकर्त्ता मानता हूं।
- हम सब अचिन्त्य का चिन्तन करते हैं, अवर्णनीय का वर्णन करते हैं और अज्ञेय को जानना चाहते हैं।
- वह (ईश्वर) एक है, अनेक है, अणु से भी छोटा और हिमालय से भी बड़ा है।
- ईश्वर को मानने के लिए श्रद्धा की आवश्यकता है।
- मैं समस्त संसार-द्वारा विरोध होने पर भी कहूंगा—ईश्वर है, वह अवश्य है।
- वह (ईश्वर) बड़ा दयालु है, रहमान है।

१७. शरीर से मोह नहीं

[सुश्री मीराबहिन को लिखे पत्र से]

तुम्हे मेरे शरीर से मोह हर्गिज न होना चाहिए। शरीर-रहित आत्मा तो हमेशा तुम्हारे साथ ही है। और वह उस शरीर-बद्ध दुर्बल जीवात्मा से अधिक

है, जिसके साथ शरीर की सारी मर्यादाएँ लगी हुई हैं। शरीर-रहित आत्मा सम्पूर्ण है और उसी की हमे आवश्यकता है। यह हम तभी अनुभव कर सकते हैं, जब हमे अनासक्ति का अभ्यास हो।

— भरतपुर के बाद गाडी मे, २२।३।१९२७। 'बापू के पत्र : मीरा के नाम', पृष्ठ २६, न० जी० प्र० म०]

१८. ईश्वर का अस्तित्व

पत्र-लेखक गण यदा-कदा मुझे इन पृष्ठो मे ईश्वर-सम्बन्धी प्रश्नो के उत्तर देने को कहा करते है। मुझे 'यग इडिया' मे बार-बार ईश्वर का नाम लेने का यही दण्ड सहना पडता है। यद्यपि ऐसे सभी प्रश्नो पर विचार करना असम्भव है, किन्तु निम्नलिखित प्रश्नो का उत्तर देना अनिवार्य है—

"१२।५।२७ की 'यग इडिया' मे आप लिखते हैं कि इस दुनिया मे निश्चय की आशा रखना भूल है। यहा तो परमात्मा यानी सत्य के सिवा सभी कुछ अनिश्चित है।"

"फिर आप दूसरी जगह लिखते हैं—"परमात्मा अत्यन्त सहिष्णु और धर्मशील है। वह अत्याचारी को समय-समय पर गम्भीर चेतावनिया देता है, और उसको अपनी चिता अपने आप ही सजाने देता है।"

"मैं नम्रतापूर्वक कहना चाहता हूँ कि ईश्वर का अस्तित्व कुछ निश्चित बात नहीं है। उसका उद्देश्य होना चाहिए, सर्वत्र सत्य का विस्तार करना। तब वह दुनिया मे तरह-तरह के बुरे आदमियो को क्यो रहने देता है? अपनी विचार-शून्यता को लेकर दुनिया मे सर्वत्र बुरे आदमी फैले हुए हैं जो अपनी छूत फैलाते हैं और इस तरह बदनीयती, और बेईमानी की विरासत आगे आनेवाली पीढ़ियो को देते जाते हैं।

"ईश्वर तो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिशाली कहा जाता है। तब वह अपनी सर्वज्ञता से पाप का पता लगा कर, अपनी सर्वशक्तिमत्ता से सभी शैतानी करने वालो को वहीं का वहीं क्यो नहीं नष्ट कर देता और बुरे आदमियों की उन्नति क्यो नहीं रोक देता?

"फिर ईश्वर इतना सहिष्णु क्यो है? वह इतना धैर्यशील क्यो है? अगर उसका यही स्वभाव है तो फिर उसका क्या प्रभाव रहेगा? दुनिया मे तो, बदमाशी, बेईमानी और अत्याचार फैले ही हुए हैं।

"परमात्मा अगर किसी अत्याचारी को अपनी चिता आपही सजाने देता है तो फिर उसके अत्याचारों के नीचे गरीब लोगो के पिसने के पहिले ही उसे

इतनी अधिक आगे दौडती है कि मैं समस्त ससार-द्वारा विरोध होने पर भी यही कहूँगा—'ईश्वर है, वह अवश्य है।'

लेकिन जिसे ईश्वर को अस्वीकार करना है उसे उसको अस्वीकार करने का भी अधिकार है, क्योकि वह तो बडा दयालु है, रहीम है, रहमान है। वह मिट्टी का बना हुआ कोई राजा तो है नही जो उसे अपनी दुहाई स्वीकार कराने के लिए सिपाही रखने पडें। वह हमे स्वतन्त्रता देता है, फिर भी केवल अपनी दया के बल हम लोगो को नमन करने के लिए मजबूर करता है। लेकिन हम लोगो मे से कोई यदि नमन न करे, तो भी वह कहता है—खुशी से न करो, मेरा सूर्य तो तुम्हारे लिए भी रोशनी देगा, मेरा मेघ तो तुम्हारे लिए भी पानी बरसायेगा, अपना अधिकार चलाने के लिए मुझे तुम्हारे ऊपर बल-प्रयोग करने की कोई आवश्यकता नही है। जो नाराज़ हैं, वे भले ही उसे न मानें, लेकिन मैं करोडो बुद्धिमानो मे एक हू। इसलिए प्रणाम करने से कभी नही थकता।

—न० जी०। हि० न० जी०, २१।१।१९२६।]

- मै वर्ण-भेद मानने में सृष्टि-नियमो का समर्थन करता हूं।
- वर्ण की स्वीकृति मे मैं उच्च-नीच के भेद को स्वीकार नहीं करता।
- जो सच्चा ब्राह्मण है, वह तो सेवक का भी सेवक बन कर रहता है।
- मुझे...अनेकान्तवाद बड़ा ही प्रिय है।
- अनेकान्तवाद का मूल अहिंसा और सत्य का युगल है।
- मैं....ईश्वर को कर्त्ता-अकर्त्ता मानता हूँ।
- हम सब अचिन्त्य का चिन्तन करते हैं, अवर्णनीय का वर्णन करते हैं और अज्ञेय को जानना चाहते हैं।
- वह (ईश्वर) एक है, अनेक है; अणु से भी छोटा और हिमालय से भी बडा है।
- ईश्वर को मानने के लिए श्रद्धा की आवश्यकता है।
- मैं समस्त संसार-द्वारा विरोध होने पर भी कहूंगा—ईश्वर है, वह अवश्य है।
- वह (ईश्वर) बड़ा दयालु है, रहमान है।

१७. शरीर से मोह नहीं

[सुश्री मीराबहिन को लिखे पत्र से]

तुम्हे मेरे शरीर से मोह हर्गिज न होना चाहिए। शरीर-रहित आत्मा तो हमेशा तुम्हारे साथ ही है। और वह उस शरीर-बद्ध दुर्बल जीवात्मा से अधिक

है, जिसके साथ शरीर की सारी मर्यादाएँ लगी हुई है। शरीर-रहित आत्मा सम्पूर्ण है और उसी की हमे आवश्यकता है। यह हम तभी अनुभव कर सकते हैं, जब हमे अनासक्ति का अभ्यास हो।

—भरतपुर के बाद गाड़ी मे, २२।३।१९२७। 'बापू के पत्र : मीरा के नाम', पृष्ठ २६, न० जी० प्र० म०]

१८. ईश्वर का अस्तित्व

पत्र-लेखक गण यदा-कदा मुझे इन पृष्ठो मे ईश्वर-सम्बन्धी प्रश्नो के उत्तर देने को कहा करते है। मुझे 'यग इडिया' मे बार-बार ईश्वर का नाम लेने का यही दण्ड सहना पडता है। यद्यपि ऐसे सभी प्रश्नो पर विचार करना असम्भव है, किन्तु निम्नलिखित प्रश्नो का उत्तर देना अनिवार्य है—

"१२।५।२७ की 'यग इडिया' मे आप लिखते हैं कि इस दुनिया मे निश्चय की आशा रखना भूल है। यहा तो परमात्मा यानी सत्य के सिवा सभी कुछ अनिश्चित है।"

"फिर आप दूसरी जगह लिखते हैं—"परमात्मा अत्यन्त सहिष्णु और धर्मशील है। वह अत्याचारी को समय-समय पर गम्भीर चेतावनिया देता है, और उसको अपनी चिता अपने आप ही सजाने देता है।"

"मै नम्रतापूर्वक कहना चाहता हूं कि ईश्वर का अस्तित्व कुछ निश्चित बात नहीं है। उसका उद्देश्य होना चाहिए, सर्वत्र सत्य का विस्तार करना। तब वह दुनिया मे तरह-तरह के बुरे आदमियो को क्यो रहने देता है? अपनी विचार-शून्यता को लेकर दुनिया मे सर्वत्र बुरे आदमी फैले हुए हैं जो अपनी छूत फैलाते हैं और इस तरह बदनीयती, और बेईमानी की विरासत आगे आनेवाली पीढ़ियो को देते जाते हैं।

"ईश्वर तो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिशाली कहा जाता है। तब वह अपनी सर्वज्ञता से पाप का पता लगा कर, अपनी सर्वशक्तिमत्ता से सभी शैतानी करने वालो को वहीं का वहीं क्यो नहीं नष्ट कर देता और बुरे आदमियो की उन्नति क्यों नहीं रोक देता?

"फिर ईश्वर इतना सहिष्णु क्यो है? वह इतना धैर्यशील क्यो है? अगर उसका यही स्वभाव है तो फिर उसका क्या प्रभाव रहेगा? दुनिया मे तो, बदमाशी, बेईमानी और अत्याचार फैले ही हुए हैं।

"परमात्मा अगर किसी अत्याचारी को अपनी चिता आपही सजाने देता है तो फिर उसके अत्याचारो के नीचे गरीब लोगो के पिसने के पहिले ही उसे

क्यों नहीं मार डालता? क्यों वह किसी अत्याचारी को भरपूर अत्याचार करने देता है और हजारों आदमियों के उसके अत्याचार के कारण सत्यानाश हो चुकने और उनका नीतिधर्म नष्ट हो चुकने के बाद उसे मरने देता है?

"संसार मे आज भी उतनी ही बुराइयाँ है, जितनी कभी थीं। उस ईश्वर मे कोई क्यों विश्वास करे, जो दुनिया को बदलने के लिए, उसे भले और पुण्यात्मा आदमियो के रहने का स्थान बनाने के लिए अपनी शक्तियों का उपयोग नहीं करता?

"मैं देखता हूँ कि दुश्चरित्र लोग बुराई करते हुए भी स्वस्थ और दीर्घायु होते हैं। दुश्चरित्रता की बदौलत वे अल्पायु होकर क्यों नहीं मर जाते?

"मैं ईश्वर में विश्वास करना चाहता हूँ। किन्तु मेरे विश्वास का कोई आधार नहीं है। कृपया मुझे 'यंग इंडिया' के द्वारा सन्मार्ग दिखाइए और मेरे अविश्वास को विश्वास मे परिवर्तित कीजिए।"

यह तर्क सनातन है। मेरे पास इसका कोई नया, मौलिक जवाब नही है। मगर फिर भी मै बतलाऊँगा कि मैं ईश्वर मे क्यो विश्वास करता हूँ। ऐसा कहने की प्रेरणा मुझे इसलिए होती है कि मुझे मालूम है कि ऐसे नौजवान है जो मेरे विचारो और कार्यों मे दिलचस्पी रखते है। एक तरह की अकथनीय, अज्ञात शक्ति का अनुभव होता है, मगर तो भी इसे प्रमाणित नही किया जा सकता क्योंकि जिन सब शक्तियो का ज्ञान मुझे इन्द्रियो से होता है यह उन सबसे परे हैं। यह इन्द्रियो के परे हैं।

मगर मर्यादित क्षेत्र मे ईश्वर का अस्तित्व युक्तियो से भी प्रमाणित किया जा सकता है। साधारण विषयो मे हम जानते है कि लोगो को यह पता नही होता कि कौन, क्यो और कैसे शासन करता है। फिर भी वे जानते हैं कि निश्चय ही ऐसी कोई शक्ति है जो शासन करती है। गत वर्ष अपनी मैसूर की यात्रा मे मैं अनेक गरीब आदमियो से मिला था। पूछने पर मालूम हुआ कि वे यह नही जानते कि उनका राजा कौन है। उन्होने सिर्फ यही कहा कि कोई देवता राज्य करता होगा। जब इन गरीब देहातियो का ज्ञान अपने शासक के विषय मे इतना कम है तब मैं इस पर क्यो आश्चर्य करूँ कि मै राजाओ के राजा परमात्मा के अस्तित्व को नही जानता जो महाराजा मैसूर अपनी प्रजा से जितने बडे है उसकी अपेक्षा वह मुझसे अनन्त गुना अधिक बडा है। मगर फिर भी जिस तरह मैसूर के गरीब देहातियो को अनुभव होता था, मुझे भी ऐसा अवश्य लगता है कि विश्व मे नियमितता है, व्यवस्था है, सभी प्राणियो, सभी वस्तुओ के सम्बन्ध मे जिनका इस ससार मे अस्तित्व है, कोई अपरिवर्तनीय, अटल नियम लागू होता है। यह कोई अन्धा

निष्प्राण नियम नही है क्योकि कोई निष्प्राण नियम सजीव प्राणियो पर शासन नही कर सकता। सर जगदीश चन्द्र बसु की खोजो की बदौलत अब सभी पदार्थों को सजीव कहा जा सकता है। इसलिए जो नियम सभी प्राणियो, सभी जीवो पर शासन करता है, वह परमात्मा है। नियम और नियमकर्त्ता दोनो ही एक है। मैं नियम या नियमकर्त्ता किसी के अस्तित्व से इन्कार नही कर सकता, क्योकि इनके बारे मे मैं बहुत कम जानता हूँ। जैसे किसी सासारिक शक्ति के अस्तित्व को न मानने से मेरा तनिक भी बचाव नही हो सकता, उसी तरह परमात्मा को और उसके नियम को अस्वीकृत करने से मैं उनके प्रभाव से बच नही सकता। इसके विपरीत नम्रतापूर्वक, शान्ति से दैव-बल स्वीकार कर लेने से जीवन-यात्रा सहज हो जाती है जैसे सासारिक शासन को मान लेने से उसके नीचे जीवन सहज हो जाता है।

मैं धुधले तौर पर यह अनुभव जरूर करता हूँ कि जब मेरे चारो ओर सभी कुछ बदल रहा है, इन सब परिवर्तनो के नीचे एक जीवन्त शक्ति है जो कभी नही बदलती, जो सबको एक मे बाँध कर रखती है, जो नई सृष्टि पैदा करती है। यही शक्ति ईश्वर है, परमात्मा है। मैं इन्द्रियो से जिनका अनुभव कर पाता हूँ, उनमे से और कोई वस्तु टिकी नही रह सकती, नही रहेगी इसलिए 'तत्सत्' वही है। और यह शक्ति शिव (कल्याणकारी) है या अशिव (अनिष्ट-चिन्तक) ? मैं तो इसे शुद्ध कल्याणकारी रूप मे ही देखता हू, क्योकि मै देखता हू कि मृत्यु के मध्य मे जीवन स्थित रहता है, असत्य के मध्य मे सत्य का अस्तित्व बना रहता है, इसलिए मैं मानता हू कि ईश्वर जीवन है, सत्य है, प्रकाश है। वह प्रेम है। वही परम मगल है।

मगर जिससे केवल बुद्धि को सन्तोष मिले वह परमात्मा नही है। ईश्वर तो तभी ईश्वर कहा जा सकता है जब उसका साम्राज्य हृदय पर हो। उसके बन्दे के हर एक छोटे काम मे भी उसकी झलक मिलनी चाहिए। यह तो तभी हो सकता है जब उसका सच्चा दर्शन मिले। वह दर्शन पाँच इन्द्रियो के ज्ञान से अधिक सच्चा होना चाहिए। इन्द्रियो का ज्ञान हमे चाहे जितना सच्चा क्यो न मालूम हो, किन्तु वह गलत हो सकता है। अनेक बार इन्द्रिया हमे धोखा देती हैं। जो ज्ञान इन्द्रियो के परे होता है, उसमे भूल नही हो सकती। यह बाहरी प्रमाणो से सिद्ध नही होता किन्तु परमात्मा का साक्षात्कार करने वाले के आचार-व्यवहार तथा चरित्र मे परिवर्तन से सिद्ध होता है।

इस प्रकार की साक्षी सभी देशो तथा जातियो के नबियो और ऋषिमुनियो की अटूट पक्ति के अनुभव मे मिलती है। इस प्रमाण से इन्कार करना मानो अपने अस्तित्व को ही अस्वीकृत करना है।

इस तरह के साक्षात्कार के पहिले अचल विश्वास पैदा होता है। जो आदमी स्वय ही ईश्वर की उपस्थिति की परीक्षा करना चाहे वह जीवन्त श्रद्धा से उसका अनुभव कर सकता है। और चूकि श्रद्धा या विश्वास को बाहरी प्रमाणो से सिद्ध नही किया जा सकता, इसलिए सबसे सुरक्षित मार्ग है ससार के नैतिक शासन मे विश्वास रखना, और इसलिए नैतिक नियम, सत्य और प्रेम के नियम की सर्वोपरिता मे श्रद्धा रखना। जहा सत्य और प्रेम के विरुद्ध हर वस्तु का तुरन्त ही इन्कार कर देना हो, वहा श्रद्धा या विश्वास का सहारा ही सबसे अधिक सुरक्षित है।

मगर इन सब बातो से पत्र-लेखक की दलील का जवाब नही दिया जा सकता। मैं स्वीकार करता हू कि उन्हे युक्तियो से विश्वास नही दिला सकता। श्रद्धा बुद्धि से परे है। मैं उन्हे इतनी ही सलाह दे सकता हू कि आप असम्भव काम करने की कोशिश मत कीजिए, युक्तियो के द्वारा मैं ससार मे बुराइयो के अस्तित्व का कारण नही समझा सकता। ऐसा करने की इच्छा करना तो स्वय ईश्वर की बराबरी करना है। इसलिए मैं बुराई को बुराई ही मान लेने की नम्रता रखता हू। और मैं ईश्वर को बहुत ही सहनशील और धर्मशील इसलिए कहता हूं कि वह ससार मे बुराइयो को भी रहने देता है। मैं जानता हूं कि उसमे कुछ बुराई नही है। उसमे अगर बुराई हो तो वही उसका सृष्टा है, मगर फिर भी उससे अछूता रहता है।

मैं यह भी जानता हूँ कि अगर मैं ठेठ मौत तक का खतरा झेल कर भी बुराइयो के विरुद्ध युद्ध नही करूगा तो मैं परमात्मा को कभी नही जान सकूंगा। मेरी श्रद्धा का कवच तो मेरा अपना ही मर्यादित और नम्र अनुभव है। मैं जितना ही शुद्ध, विकार-रहित बनने का प्रयत्न करता हूँ, मुझे परमात्मा उतना ही निकट जान पडता है। आज तो मेरी श्रद्धा केवल नाम की है। मगर जिस दिन वह हिमालय पहाड के समान अटल हो जायेगी, हिमालय की चोटियो पर जमी बर्फ के समान ही चमकीली और शुभ्र हो जायगी, उस दिन मुझमे और कितनी शक्ति होगी। तब तक मैं पत्र-लेखक को यही कहूँगा कि आप भी न्यूमैन[1] के समान परमात्मा का भजन कीजिए, जिसने अपने अनुभव से गाया था —

चारों ओर फैले हुए अन्धकार मे, हे प्रेमल ज्योति! मुझे रास्ता बता, मुझे रास्ता बता।
रात अँधेरी है और मैं घर में बहुत दूर पड़ा हुआ हूँ।
तू मुझे रास्ता बता।

---

१. कार्डिनल न्यूमैन, अंग्रेजी के सन्त कवि

मेरे रास्ते का हिसाब तूही रखा कर, मैं दूर-दूर-
के दृश्य देखने का लोभ नहीं रखता, मेरे लिए एक
ही पग जाना काफी है।
तू मुझे रास्ता बता।[1]

—य० इ०। हि० न० जी०। ११।१०।१९२८]

- मर्यादित क्षेत्र मे ईश्वर का अस्तित्व युक्तियो से भी प्रमाणित किया जा सकता है।
- कोई निष्प्राण नियम सजीव प्राणियो पर शासन नहीं कर सकता।
- जो नियम सभी प्राणियो, सभी जीवो पर शासन करता है, वह परमात्मा है।
- परमात्मा...को अस्वीकृत करने से मैं उसके प्रभाव से बच नहीं सकता।
- ईश्वर जीवन है, सत्य है, प्रकाश है। वह प्रेम है। वही परम मगल है।
- जिससे केवल बुद्धि को सन्तोष मिले वह परमात्मा नहीं है।
- श्रद्धा या विश्वास को वाहरी प्रमाणो से सिद्ध नहीं किया जा सकता।
- श्रद्धा बुद्धि से परे है।

१९. निराकार-साकार

निराकार निर्गुण है, अत मनुष्य की कल्पना से परे है। अत सब देहधारी जाने-अनजाने साकार के ही भक्त हैं।

—मगल प्रभात, ४।११।१९३०। 'गीता-बोध, ६३।६४', स० सा० म०, दसवा सस्करण १९५४]

---

१. अग्रेजी भजन का अश यह है—
लीड, काइडली लाइट, एमिड दि इनसर्कलिंग ग्लूम लीड दाऊ मी आन।
दि नाइट इज डार्क एण्ड आई ऐम फार फ्राम माई होम, लीड दाऊ मी आन।
कीप दाऊ माई फीट, आई डू नाट आस्क टु सी,
दि डिसटैंट सीन, वन स्टेप इज एनफ फार मी।
लीड दाऊ मी आन।

२०. यज्ञ में अक्षर ब्रह्म

कर्म को ब्रह्म ने पैदा किया। ब्रह्मा की उत्पत्ति अक्षर ब्रह्म से हुई, इसलिए यह समझना चाहिए कि यज्ञ मात्र मे—सेवामात्र मे—अक्षर ब्रह्म, परमेश्वर विराजमान है।

—सोमप्रभात, २४।११।१९३०। 'गीताबोध', पृष्ठ १७, स० सा० म० संस्करण १९५४]

२१. पृथिवी को नमन

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

पृथिवी को नमस्कार[1] करके हम उसकी तरह ही नम्र बनना सीखते हैं या हमें सीखना चाहिए। जो प्राणी उसे रौंदते है, उनका भी यह पालन करती है। इसलिए वह विष्णु की पत्नी होने योग्य ही है। मेरी राय मे यह कल्पना सत्य के विरुद्ध नही है। उलटे वह सुन्दर है और ईश्वर की सर्वव्यापकता के विचार से पूरी तरह सगत है। उसके लिए कोई वस्तु जड नही है। हम तो मिट्टी के ही बने हुए हैं। मिट्टी न हो तो हम भी न हो। मैं ईश्वर को पृथिवी के द्वारा अनुभव करके ईश्वर के साथ अधिक निकटता अनुभव करता हूं। पृथिवी को नमस्कार करने मे मैं ईश्वर के प्रति अपना ऋण फौरन महसूस करता हू। और अगर मैं उस माता का सपूत हू, तो मैं तुरन्त अपने को मिट्टी बना दूगा और न केवल छोटे-से-छोटे मानव-प्राणियो के साथ, बल्कि सृष्टि के निम्नतम जीवो के साथ भी आत्मीयता स्थापित करने मे खुशी मानूगा, क्योंकि मिट्टी मे मिल जाने की जो उनकी गति है वही गति मेरी भी होगी। और अगर इस भौतिक शरीर के बिना केवल जीव का विचार किया जाय, तो मैं अपने को अविनाशी समझता हूं, सृष्टि का निम्नतम प्राणी ठीक उतना ही अविनाशी है, जितनी मेरी आत्मा है।

—७।१।१९३१। 'बापू के पत्र : मीरा के नाम,' पृ० १२०, न० जी० प्र० मं०]

---

१. पृथिवी की स्तुति इस प्रकार की गई है:—

समुद्रवसने देवि, पर्वतस्तन मण्डले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्श क्षमस्व मे॥

२२. त्रिगुणात्मिका सृष्टि

[गांधी जी द्वारा किये गये गीता के अठारहवें अध्याय के भाष्य से]

कितने ही कर्मो मे कामना भरी होती है, अनेक प्रकार की इच्छाओ की पूर्ति के लिए मनुष्य अनेक उद्यम रचता है कि यह काम्य कर्म है। अन्य आवश्यक और स्वाभाविक कर्म है,—जैसे साँस लेना, देह की रक्षा के लिए ही खाना, पीना, पहिनना-ओढना, सोना इत्यादि। और तीसरा कर्म पारमार्थिक है। इनमे से काम्य कर्म का त्याग गीता का सन्यास है और कर्ममात्र के फल का त्याग गीता-मान्य त्याग है।

कह सकते है कि कर्ममात्र मे कुछ दोष तो जरूर ही है, तथापि यज्ञार्थ अर्थात् परोपकार के लिए कर्म का त्याग विहित नही है। यज्ञ मे दान और तप कार्य आ जाते है, पर परमार्थ मे भी आसक्ति, मोह नही होना चाहिए, अन्यथा उसमे बुराई के घुस जाने की सम्भावना है।

मोहवश नियत कर्म का त्याग तामस त्याग है। देह के कष्ट के ख्याल से किया हुआ त्याग राजस है, पर सेवाकार्य करने की भावना से, बिना फल की इच्छा का त्याग सच्चा सात्विक त्याग है। अत यहा कर्ममात्र का त्याग नही है, बल्कि कर्तव्य-कर्म के फल का त्याग है और दूसरे अर्थात् काम्य कर्म का त्याग तो है ही। ऐसे त्यागी को शकाए नही उठती। उसकी भावना शुद्ध होती हैं और वह सुविधा-असुविधा का विचार नही करता।

जो कर्म-फल का त्याग नही करते उन्हे तो अच्छे-बुरे फल भोगने ही पडते हैं। इससे वे बन्धन मे पडे रहते हैं। फलत्यागी बन्धन-मुक्त हो जाता है।

और कर्म के विषय मे मोह क्या ? अपने कर्तापन का अभिमान मिथ्या है। कर्ममात्र की सिद्धि मे पाँच कारण होते हैं—स्थान, कर्ता, साधन, क्रियाए और यह सब होने पर भी अन्तिम दैव है।

यह समझकर मनुष्य को अभिमान का त्याग करना चाहिए। अहन्ता छोडकर कुछ भी करने वाले के बारे मे कहा जा सकता है कि यह करते हुए भी नही करता, क्योकि उसे वह कर्म बन्धनकारी नही होता। ऐसे निरभिमान, शून्यवत् बने हुए मनुष्य के विषय मे कह सकते हैं कि वह मरते हुए भी नही मरता। इसके मानी यह नही होता कि कोई मनुष्य शून्यवत् होते हुए भी हिंसा करता है और अलिप्त रहता है। निरभिमानी को हिंसा करने का प्रयोजन ही क्या है ?

कर्म की प्रेरणा मे तीन वस्तुएं होती है—ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता। और उसे तीन अग होते हैं—इन्द्रियां, क्रिया और कर्ता। जो करता है वह ज्ञेय है। जो

उसकी रीति है वह ज्ञान है और जानने वाला जो है वह परिज्ञाता है। इस प्रकार प्रेरणा होने के बाद कर्म होता है। इसमे इन्द्रियाँ कारण होती है। जो करने को है वह क्रिया और उसका करने वाला जो है वह कर्ता है। इस प्रकार विचार मे से आचार होता है। जिसके द्वारा हम प्राणी मात्र मे एक ही भाव देखें, अर्थात् सब कुछ भिन्न-भिन्न लगते हुए भी गहराई मे उतरने पर एक ही भासित हो तो वह सात्त्विक ज्ञान है।

इससे उल्टा, जो भिन्न दिखाई देता है, वह भिन्न ही भासित हो तो वह राजस ज्ञान है।

और जहा कुछ पता ही नही लगता और सव बिना कारण के गडबड लगता है वह तामस ज्ञान है।

ज्ञान के विभाग की भाति कर्म के भी विभाग है। जहा फलेच्छा नही है, राग-द्वेष नही है, वह कर्म सात्विक है। जहा भोग की इच्छा है, जहा मैं करता हूँ, यह अभिमान है और इससे जहा हो-हल्ला है वह राजस कर्म है। जहा परिणाम की, हानि की या हिंसा की, शक्ति की परवाह नही है और जो मोह के वश होकर होता है वह तामस कर्म है।

कर्म की भाति कर्ता भी तीन तरह के समझने चाहिए। सात्विक कर्त्ता वह है जिसे राग नही है, अहकार नही है, तथापि जिसमें दृढता है, साहस है, और जिसे अच्छे-वुरे फल से हर्ष-शोक नही है। राजस कर्ता मे राग होता है, लोभ होता है, हिंसा होती है, हर्ष-शोक तो जरूर होता ही है, तो फिर कर्म-फल की इच्छा का तो कहना ही क्या ? और तामस कर्ता अव्यवस्थित, दीर्घसूत्री, हठी, शठ, आलसी, सक्षेप मे कहा जाय, तो सस्काररहित होता है।

वुद्धि, धृति और सुख के भी भिन्न-भिन्न प्रकार जानने योग्य है।

सात्विक बुद्धि प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य, भय-अभय और वन्ध-मोक्ष आदि का सही भेद करती और जानती है। राजसी वुद्धि यह भेद करने तो चलती है, पर गलत या विपरीत कर लेती है और तामसी वुद्धि तो धर्म को अधर्म मानती है। सव उलटा ही निहारती है।

धृति अर्थात् धारणा, कुछ भी ग्रहण करके उसमे लगे रहने की शक्ति। यह शक्ति अल्पाधिक प्रमाण मे सवमे है। यदि यह न हो तो जगत् एक क्षण भी न टिक सके। अव जिसमे मन, प्राण और इन्द्रियो की क्रिया की समता है, समानता है और एक निष्ठा है, वहा धृति सात्विक है और जिसके द्वारा मनुष्य धर्म, काम और अर्थ को आसक्तिपूर्वक धारण करता है वह धृति राजसी है। जो धृति मनुष्य को निन्दा, भय, शोक, निराशा, मद वगैरह नही छोडने देती, वह तामसी है।

सात्विक सुख वह है, जिसमे दु ख का अनुभव नही है, जिसमे आत्मा प्रसन्न रहती है, जो शुरू मे जहर-सा लगने पर भी परिणाम मे, अमृत के समान ही है। विपय-भोग, जो शुरू मे मधुर लगता है, पर वाद को जहर के समान हो जाता है, वह राजस सुख है। और जिसमे केवल मूर्च्छा, आलस्य, निद्रा ही है वह तामस सुख है।

इस प्रकार सब वस्तुओ के तीन हिस्से किये जा सकते है। ब्राह्मणादि चार वर्ण भी इन तीन गुणो के अल्पाधिक्य के कारण हुए हैं। ब्राह्मण के कर्म मे शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, अनुभव, आस्तिकता होनी चाहिए। क्षत्रियो मे शौर्य, तेज, वृति, दक्षता, युद्ध मे पीछे न हटना, दान, राज्य चलाने की शक्ति होनी चाहिए। खेती, गो-रक्षा और व्यापार वैश्य का कर्म है और शूद्र का सेवा। इसका यह मतलव नही कि एक के गुण दूसरे मे नही होते अथवा इन गुणो को हासिल करने का उसे हक नही है, पर उपर्युक्त भाति के गुण या कर्म से उस-उस वर्ण की पहिचान हो सकती है। यदि हर-एक वर्ण के गुण-कर्म पहिचाने जाय तो परस्पर द्वेपभाव न हो, स्पर्धा न हो। ऊच-नीच की भावना की यहा कोई गुजाइश नही है, वल्कि सव अपने स्वभाव के अनुसार निष्काम भाव से अपने कर्म करते रहे तो उन कर्मों को करते हुए वे मोक्ष के अधिकारी हो जाते है। इसलिए कहा गया है कि परधर्म चाहे सरल लगता हो, स्वधर्म चाहे खोखला लगता हो तो भी स्वधर्म अच्छा है। स्वभावजन्य कर्म मे पाप न होने की सम्भावना है, क्योकि उसी मे निष्कामता की पावन्दी हो सकती है, दूसरा करने की इच्छा मे ही कामना आ जाती है। वाकी तो जैसे अग्निमात्र मे धुआ है वैसे कर्ममात्र मे दोष तो अवश्य है, पर सहजप्राप्त कर्म फल की इच्छा के विना होते है, इसलिए कर्म का दोष नही लगता।

जो इस प्रकार स्वधर्म का पालन करता हुआ शुद्ध हो गया है, जिसने पाच विपयो को छोड दिया है, जिसने राग-द्वेष को जीत लिया है, जो एकान्तसेवी अर्थात् अन्तरध्यानी रह सकता है, जो अल्पाहार करके मन, वचन, काया को अकुश मे रखता है, ईश्वर का ध्यान जिसे वरावर वना रहता है, जिसने अह-कार, काम क्रोध, परिग्रह इत्यादि तज दिये हैं, वह शान्त योगी ब्रह्मभाव को पाने योग्य है। ऐसा मनुष्य सवके प्रति समभाव रखता है और हर्ष-शोक नही करता, ऐसा भक्त ईश्वर-तत्व को यथार्थ जानता है और ईश्वर मे लीन हो जाता है। इस प्रकार जो भगवान का आश्रय लेता है वह अमृतपद पाता है।

—यरवदा मन्दिर, २१।१।१९३२। 'गीता-बोध' से]

- **काम्य कर्म का त्याग गीता का सन्यास है।**
- **कर्ममात्र के फल का त्याग गीता-मान्य त्याग है।**

- फल-त्यागी बन्धन-मुक्त हो जाता है।
- परधर्म चाहे सरल लगता हो, स्वधर्म चाहे खोखला लगता हो तो भी स्वधर्म अच्छा है।
- जैसे अग्निमात्र में धुआं है, वैसे कर्म मात्र में दोष है।
- जो भगवान का आश्रय लेता है वह अमृतपद पाता है।

२३. ईश्वर और सत्य

सत्य का सकुचित नही, विशाल अर्थ यह है—सत्य यानी होना, जो वस्तु शाश्वत है वह। इस सत्ता के बल पर सब कुछ होता है, यही ईश्वर-श्रद्धा है। ईश्वर शब्द प्रचलित है। इसलिए हमने उसे स्वीकार कर लिया है। नही तो ईश्वर शब्द 'ईश' (यानी 'राज चलाना') धातु से बना है। इसलिए मेरी दृष्टि मे तो यह सत्य से घटिया शब्द है। जो अचल सत्य है उसके बल पर जरूरी सारी प्रवृत्तियाँ चलती हैं और मनुष्यो को प्रेरणा मिलती है। मुशी को भी शका थी। उसने मुझसे पूछा था "ईश्वर-प्रणिधानात् वा' मे ईश्वर का क्या अर्थ है? मैंने उसे लिखा—"ईश्वर यानी सत्य।" इस सूत्र पर टीका लिखने वालो मे से कुछ ने कहा है कि ये शब्द सूत्र मे निरर्थक है और पतजलि ने सिर्फ प्रचलित विश्वास को आघात न पहुँचाने के लिए ही लिखे है। पर मैं हर्गिज ऐसा नही मानता। पतजलि-जैसा समर्थ सूत्रकार एक भी शब्द व्यर्थ इस्तेमाल नही कर सकता। मैं नही कह सकता कि उसने ईश्वर का वही अर्थ किया है या नही, जो मैं करता हूँ। मगर मैं जो अर्थ करता हूँ वह लिया जाय, तो ये शब्द आवश्यक है।

—८।४।१९३२, म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ ८२]

- जो अचल सत्य है उसके बल पर ...सारी प्रवृत्तियां चलती हैं।

२४. ईश्वर : जैन और वैदिक निरूपण

[श्री पुरुषोत्तम ने राजकोट से गाधी जी को पत्र लिखकर तीन प्रश्न पूछे थे :—

१. जैन-दर्शन के निरीश्वरवाद और गीता के ईश्वरवाद का भेद, २. ईश्वर में कर्तृत्व न हो तो कृपा करने वाला कौन है? भक्ति करने वाले के लिए ईश्वर-कृपा के बिना श्रद्धा का आलम्बन और क्या है? मनुष्य की प्रार्थना मनुष्य की शुभेच्छा ही है या इससे अधिक और कुछ? ३. सत्य ही ईश्वर है—गाधी जी की इस व्याख्या का उत्तर।

प्रश्नकर्त्ता को गाधी जी ने विस्तार से जो उत्तर दिया वह सकलित किया जा रहा है।—सम्पा०]

१ जैन-निरूपण और माधारण वैदिक निरूपण के वीच मैने विरोध नही पाया, मगर केवल दृष्टिकोण का ही अन्तर है। वेद का ईश्वर कर्ता-अकर्ता दोनो है। मारा जगत् ईश्वरमय है, इसलिए ईश्वर कर्ता है। मगर वह कर्ता नही है, क्योकि वह अलिप्त है। उमे कर्म का फल भोगना नही पडता। और जिम अर्थ मे हम कर्म शब्द का इस्तेमाल करते है उम अर्थ मे जगत् ईश्वर का कर्म नही है। गीता के जो श्लोक तू ने उद्धृत किये है, उनका मेल इम तरह मे सोचने पर वैठ जाता है। इतना याद रखना (कि) गीता एक काव्य है। ईश्वर न कुछ वोलता है, न करता है। ईश्वर ने अर्जुन से कुछ कहा हो, ऐमी वात नही है। ईश्वर और अर्जुन के वीच का सवाद काल्पनिक है। मै तो ऐमा नही मानता कि ऐतिहामिक कृष्ण और ऐतिहामिक अर्जुन के वीच ऐमा मवाद हुआ था। गीता की शैली मे कुछ भी असत्य है या अयुक्त है, मो भी नही। इम तरह से धर्मग्रन्थ लिखने का रिवाज था। आज भी कोई सस्कारी व्यक्ति लिखे, तो उसमे कोई दोप नही माना जा सकता। जैनो ने केवल न्याय की, काव्य-रहित यानी रूखी वात कह दी और वता दिया कि जगतकर्ता कोई ईश्वर नही है। ऐमा कहने मे कोई दोप नही, मगर जन-समाज रूखे न्याय से नही चलता। उसे काव्य की जरूरत रहती ही है। इसलिए जैनो के वुद्धिवाद को भी मन्दिरो की, मूर्तियो की और ऐसे अनेक साधनो की जरूरत मालूम हुई है। वैसे केवल न्याय की दृष्टि से इनमे से किसी चीज की जरूरत नही।

२ असल मे पहिले प्रश्न के उत्तर के गर्भ मे तेरे दूसरे सवाल का जवाव आ जाता है, जैसे मै यह मानता हू कि तेरा दूमरा प्रश्न भी पहिले के गर्भ मे ही है। "कृपा" शब्द काव्य की भाषा है। भक्ति ही काव्य है। मगर काव्य कोई अनुचित या घटिया चीज या अनावश्यक वस्तु हो सो वात नही है। यह निहायत जरूरी चीज है। पानी दो हिस्मे हाइड्रोजन और एक हिस्सा आक्सीजन से वना है, यह न्याय की वात हुई। मगर पानी ईश्वर की देन है, यह कहना काव्य की वात हो गई। इस काव्य को समझना जीवन का आवश्यक अग है। पानी का न्याय समझना आवश्यक अग नही है। इस तरह यह कहना कि जो कुछ होता है, वह कर्म का फल है—अत्यन्त न्याययुक्त है मगर कर्म की गति गहन है। हम देहधारी इतने अधिक पामर है कि मामूली-से-मामूली परिणाम के लिए भी जितने कर्म जिम्मेदार होते हैं उन मवका ज्ञान हमे नही हो सकता। इसलिए यह कहना कि ईश्वर की कृपा के विना कुछ नही होता, ठीक

है और यही शुद्ध सत्य है। किसी देह मे रहने वाली आत्मा एक घडे मे रहने वाली हवा की तरह कैदी है और उस घडे की हवा जबतक अपने को अलग समझती है तबतक वह अपनी शक्ति का उपयोग नही कर सकती। इसी तरह शरीर मे कैद आत्मा अगर यह माने कि वह खुद कुछ करती है, तो सर्व-शक्तिमान परमात्मा की शक्ति से वचित रहती है। इसलिए भी यह कहना कि जो कुछ होता है, वह ईश्वर ही करता है, वास्तविक है और सत्याग्रही को शोभा देता है। सत्यनिष्ठ आत्मा की इच्छा पुण्य होती है इसलिए वह फलती ही है। इस विचार से जिस प्रार्थना के श्लोक तू ने उद्धृत किये है, वह प्रार्थना हमारी निष्ठा के हिसाब से सारी दुनिया के लिए भी जरूर फलेगी। जगत् हमसे भिन्न नही है न हम जगत् से भिन्न है। सब एक दूसरे मे ओतप्रोत हैं और एक के काम का असर दूसरे पर हुआ करता है। यहा यह समझ लेना चाहिए कि विचार ही कार्य है। इसलिए एक भी विचार व्यर्थ नही जाता। इसलिए हमे हमेशा अच्छे विचार करने की आदत डालनी चाहिए।

३. ईश्वर निराकार है और सत्य भी निराकार है, इसलिए सत्य ईश्वर है, यह मैंने न तो देखा है, न घटाया है। मगर मैंने यह देखा कि ईश्वर का सम्पूर्ण विशेषण तो सत्य ही है, शेष सब अपूर्ण हैं। ईश्वर शब्द भी अनिर्वचनीय और महान तत्व को बताने वाला एक विशेषण है। मगर ईश्वर का धातु-अर्थ ले, तो ईश्वर शब्द फीका लगता है।

ईश्वर को राजा के रूप मे देखने से बुद्धि तृप्त नही होती। उसे राजा के रूप मे देखने से हमारे अन्दर एक प्रकार का भय भले ही पैदा हो जाय और इससे हम पाप करने से डरें और पुण्य करने का प्रोत्साहन मिले। मगर इस तरह भय-वश किया हुआ पुण्य भी लगभग पुण्य नही रहता। पुण्य करे तो, पुण्य के लिए ही करें, इनाम के लिए नही। ऐसे अनेक विचार करते-करते एक दिन ऐसा समझ मे आयगा कि ईश्वर सत्य है—यह कहना भी अधूरा वाक्य है। सत्य ही ईश्वर है, यह जहा तक मनुष्य की वाचा पहुँच सकती है वहा तक का पूर्ण वाक्य है।

—१८।४।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ १०४-१०६]

- **सारा जगत् ईश्वरमय है, इसलिए ईश्वर कर्त्ता है।**
- **जनसमाज रूखे न्याय से नहीं चलता।**
- **भक्ति ही काव्य है।**
- **काव्य को समझना जीवन का आवश्यक अंग है।**
- **कर्म की गति गहन है।**
- **सत्यनिष्ठ आत्मा की इच्छा पुण्य होती है।**

- जगत् हमसे भिन्न नहीं है, न हम जगत् से भिन्न हैं।
- विचार भी कार्य है, इसलिए एक भी विचार व्यर्थ नहीं जाता।
- हमे हमेशा अच्छे विचार करने की आदत डालनी चाहिए।
- ईश्वर का सम्पूर्ण विशेषण तो सत्य ही है।
- भयवश किया हुआ पुण्य भी लगभग पुण्य नहीं रहता।

२५. पिण्ड और ब्रह्माण्ड

पिण्ड का मतलव यह देह है। और ब्रह्माण्ड का अर्थ है यह पृथिवी। अव जो कुछ हमारे शरीर मे है, वह सव पृथिवी मे है, और जो शरीर मे नही वह पृथिवी मे भी नही। शरीर मिट्टी का वना है, तो पृथिवी भी मिट्टी की वनी है। पृथिवी मे पाँच तत्व हैं, शरीर मे भी पाँच तत्व[1] मौजूद है। पृथिवी मे तरह-तरह के जीव है, तो शरीर मे भी हैं। शरीर नष्ट होता है और पैदा होता है, तो पृथिवी का भी इसी तरह रूपान्तर होता रहता है। इस तरह इस विचार का और भी विस्तार किया जा सकता है। मगर इतने के आधार पर हम यह कह सकते है कि हमारे शरीर का हमे सच्चा ज्ञान हो जाय, तो पृथिवी का भी सच्चा ज्ञान हो जाय। इस दृष्टि से हमे ज्ञान प्राप्त करने के लिए वहुत-सी वेकार कोशिशें करने की जरूरत नही है। शरीर तो अपने पास है ही। उसका ज्ञान प्राप्त कर ले तो हमारा वेडा पार लग जाय। पृथिवी का ज्ञान प्राप्त करने का लोभ रखेंगे, तो वह हमेशा अधूरा ही रहेगा और इसलिए ज्ञानी हमे सिखा गये है कि जो पिण्ड मे है, वही ब्रह्माण्ड मे है। और अगर हम आत्मज्ञान कर लेते है, तो उसमे सारा ज्ञान आ जाता है। लेकिन यह आत्मज्ञान जुटाते-जुटाते हमे कितना ही वाहरी ज्ञान भी मिल जाता है। उसमे जो रस मिल सके उसे चखने का हमे अधिकार है। क्योंकि हमे वह रस भी आत्मज्ञान के निमित्त चखना है।

—२८।४।१९३२। म० भा० डा० भाग १, पृष्ठ १२५-१२६]

- जो पिण्ड मे है वही ब्रह्माण्ड मे है।

२६. ईश्वर का अस्तित्व

[श्री इब्राहीम जी राजकोटवाला ने गाधी जी को पत्र लिखा था कि ईश्वर वुद्धि से सिद्ध नहीं हो सकता। उन्हें गाधी जी ने निम्नलिखित उत्तर दिया। —सम्पा०]

---

१. क्षिति, जल, अग्नि, वायु और आकाश।

ईश्वर की हस्ती के लिए बुद्धि से प्रमाण माँगो, तो कहाँ से मिले? कारण, ईश्वर बुद्धि से परे है। अगर ऐसा कहे कि बुद्धि से आगे कुछ नही है, तो जरूर मुश्किल पैदा होती है। बुद्धि को ही सर्वोत्तम पद दे दे, तो हम बडी मुश्किल मे पड जाते है। स्वय हमारा जीव या आत्मा ही बुद्धि से परे है। उसका अस्तित्व सिद्ध करने के लिए बुद्धि के प्रयोग हुए है। यही बात ईश्वर के बारे मे भी कही जा सकती है। मगर जिसने आत्मा और ईश्वर को बुद्धि से ही जाना है, उसने कुछ भी नही जाना। बुद्धि भले ही किसी समय ज्ञान प्राप्त करने मे सहायक हुई हो, मगर जो आदमी वही अटक जाता है, वह आत्मज्ञान का लाभ तो बिल्कुल नही उठा सकता। जिस तरह कोई अनाज खाने के फायदे बुद्धि से जानता हो, तो वह अनाज खाने से होनेवाला फायदा नही उठा सकता। आत्मा या ईश्वर जानने की चीज नही है। वह खुद जाननेवाला है। और इसीलिए वह बुद्धि से परे है। ईश्वर को पहिचानने की दो मजिलें हैं। पहिली मजिल श्रद्धा और दूसरी तथा आखिरी मजिल उससे होनेवाला अनुभव-ज्ञान। दुनिया के बडे-से-बडे शिक्षको ने अपने अनुभवो की गवाही दी है। और जिन्हे दुनिया मे मूर्ख समझ कर अलग निकाल देंगे, उन्होने भी अपनी श्रद्धा का सबुत दिया है। इनकी श्रद्धा पर हम अपनी श्रद्धा-निर्माण करेंगे, तो किसी दिन अनुभव भी मिल जायगा। एक आदमी दूसरे को आँखो से देखे, मगर बहिरा होने के कारण उसकी कुछ भी नही सुने और फिर कहे कि मैंने उसे सुना नही, तो यह ठीक नही है। इसी तरह बुद्धि से ईश्वर को नही पहिचाना जा सकता। यह वाक्य अज्ञानसूचक है। जैसे सुनना आँख का विषय नही है, वैसे ही ईश्वर को पहिचानना इन्द्रियो या बुद्धि का विषय नही है। इसके लिए दूसरी ही शक्ति चाहिए और वह है अचल श्रद्धा। हमने देख लिया कि बुद्धि को क्षण-क्षण मे भरमाया जा सकता है। लेकिन सच्ची श्रद्धा को भरमा सके—,ऐसा माई का लाल आज तक पृथिवी पर देखने मे नही आया।

—५।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १ पृष्ठ १३५]

- जिसने आत्मा और ईश्वर को बुद्धि से ही जाना है, उसने कुछ भी नहीं जाना।
- आत्मा या ईश्वर जानने की चीज नहीं, वह खुद जाननेवाला है।
- बुद्धि से ईश्वर को नहीं पहिचाना जा सकता!

२७. जगत-कर्ता

[श्री भुस्कुटे ने गांधी जी से प्रश्न किया था—"आप सत्य को ईश्वर मानते हैं," जगत् का कोई कर्त्ता नहीं मानते। फिर भी बहुत बार जिस अन्तर्नाद को

सुन कर काम करते हैं, वह क्या है?" इस प्रश्न का उत्तर गाधी जी ने श्री छगनलाल जोशी को लिखे पत्र मे दिया। वह उत्तर सकलित है—सम्पा०]

जगत् का कोई कर्ता नही है, इसका क्या अर्थ हो सकता है? हम कैसे कह सकते हैं कि कोई कर्त्ता नही है। मेरे कथन का इसमे कुछ अनर्थ-सा प्रतीत होता है। मैंने कहा है कि सत्य ही ईश्वर है। इसलिए ऐसा मानो कि वही कर्त्ता है। परन्तु यहा कर्त्ता का जो अर्थ हम करते हैं—वैसा नही है। इसलिए सत्य कर्त्ता-अकर्त्ता दोनो है। परन्तु यह केवल बुद्धिवाद है। जैसा जिसके हृदय मे लगे, वैसा मानने मे इस बारे मे कोई हानि नही है क्योकि हर एक पुरुष ईश्वर के बारे मे न पूरा जानता है, न जितना जानता है उतना बता सकता है। यह बात ठीक है कि किसी भी कार्य के निर्णय के लिए मैं अपनी बुद्धि पर विश्वास नही करता। जबतक हृदय से आवाज न निकले, वहा तक बुद्धि की बात को रोक लेता हूँ। इसे कोई गूढ गणित कहे या क्या कहे, वह मैं नही जानता। इस बारे मे मैंने कभी नही सोचा है। न उसका पृथक्करण किया, करने की आवश्यकता भी नही मालूम हुई। बुद्धि से परे ऐसी यह वस्तु है, इतना मुझमे विश्वास है, और ज्ञान भी है और मेरे लिए काफी है। इससे अधिक स्पष्टीकरण मुझसे हो ही नही सकता, क्योकि इससे अधिक मैं नही जानता।

—२५।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ १७०-१७१]

- सत्य कर्ता-अकर्ता दोनो है।

२८. व्यक्त और अव्यक्त की उपासना

[गीता के सातवें अध्याय मे "अव्यक्त[1] व्यक्तिमापन्न" और बारहवें अध्याय के व्यक्तोपासना पर जोर देने वाले श्लोक के विरोधाभास पर गाधी जी के विचार और उस पर श्री महादेव देसाई से प्रश्नोत्तर।—सम्पा०]

ऐसे विरोध तो गीता मे बहुत जगह है। इसका समन्वय इस तरह समझकर करना है कि एक बार एक बात पर जोर दिया गया है और दूसरी बार दूसरी

---

१ अव्यक्त व्यक्तिमापन्न मन्यन्ते मामबुद्धयः।
पर भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥
—गीता अध्याय ७ श्लोक २४।

मेरे परम अविनाशी और अनुपम स्वरूप को न जानने वाले बुद्धि-हीन लोग इन्द्रियो से अतीत मुझको इन्द्रियगम्य मानते हैं।

बात पर। बारहवें अध्याय मे अव्यक्त उपासना का निषेध तो है ही नही, सिर्फ उसकी कठिनता सुझाई है।

महादेव भाई—आपने भाऊ[1] को जो पत्र लिखा था, उसमे तो उससे कहा था कि तुझे व्यक्त की उपासना के बजाय अव्यक्त की उपासना करनी चाहिए।

गाधी जी—कारण, वह जीवितो का ध्यान धरता है यह ठीक नही है। कोई जीवित मनुष्य सम्पूर्ण नही होता। गीता मे मूर्ति-पूजा का उल्लेख हो तो वह अवतारो की पूजा का है।

महादेव भाई—तो भी, अवतार आखिर कौन ? सच्ची मूर्तियाँ हमारे पास हैं कहाँ ?

गाधी जी—इसीलिए तो मैं कहता हू कि हम अपनी कल्पना के अवतारो को पूज सकते है। मैं यह नही कहूगा कि रविवर्मा के चित्रो का ध्यान धरने का भी निषेध है। भावना मुख्य चीज है।

—२।६।१९३२। म० भा० डा०। भाग १, पृष्ठ १९१-१९२]

- **कोई जीवित मनुष्य सम्पूर्ण नहीं होता।**
- **हम अपनी कल्पना के अवतारों को पूज सकते हैं।**
- **भावना मुख्य चीज है।**

२९. प्रार्थना में साकारोपासना

[सुश्री प्रेमाबहिन कंटक ने अपने पत्र में कटाक्ष करते हुए गांधी जी को लिखा था—"आप साकार मूर्ति का विरोध कैसे करते हैं? ईश्वर-सम्बन्धी भावना हमारी सामाजिक और राजनीतिक स्थिति के साथ-साथ बदलती रही हैं। शकर[2] के जमाने में स्वराज था, इसलिए ईश्वर के साथ बराबरी की बात थी। रामानुज के समय में गुलामी थी, इसलिए मनुष्य ने दासानुदास होना चाहा।

---

१. आचार्य विनोबा भावे के भाई। इनके लिए भेजा गया पत्र अन्यत्र दिया गया है।

२. जगत्गुरु आद्यशकराचार्य संवत् ८४५-८७७, जन्मस्थान कालडी, केरल। अद्वैत वेदान्त के पोषक, ब्रह्मसूत्र पर भाष्य-लेखक, प्रसिद्ध भारतीय धर्मवेत्ता, जिन्होने बौद्धधर्म का खण्डन कर वैदिक धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा की।

आप साकार का निषेध करते हैं, फिर भी तुका[1] ने तो, 'सुन्दर तें ध्यान उभा विटेवरी' मे ही साक्षात्कार किया है।" इस विषय पर कुमारी प्रेमावहिन को लिखे पत्र मे गाधी जी ने निम्नलिखित विचार व्यक्त किये—सम्पा०]

प्रार्थना मे मैने साकार मूर्ति का निषेध नही किया, निराकार को उसमे ऊची जगह दी है। शायद इस तरह का भेद करना ठीक न हो। किसी को कुछ और किसी को कुछ माफिक आ सकता है। इसमे मुकाबले की गुजाइश नही हो सकती। मेरे खयाल मे निराकार ज्यादा अच्छा रहेगा। शकर, रामानुज-सम्बन्धी पृथक्करण मुझे ठीक नही लगा। परिस्थिति से अनुभव का असर ज्यादा होता है। सत्य के पुजारी पर परिस्थिति का प्रभाव नही पडना चाहिए। उसे परिस्थिति को चीर कर निकल जाना चाहिए। हम देखते है कि परिस्थिति की बुनियाद पर बनाई हुई राय अक्सर गलत निकलती है। मशहूर मिसाल आत्मा और शरीर की है। आत्मा का अभी शरीर के साथ निकट सम्बन्ध है, इसलिए शरीर से अलग आत्मा तुरन्त नही दिखाई देती। इस परिस्थिति को चीर कर जिसने पहला वचन कहा—"यह[2] नही," उसकी शक्ति को अभी तक कोई पहुँच ही नही पाया। ऐसे कई उदाहरण तुम्हे सहज ही मिल जायगे। तुकाराम वगैरह सन्तो के वचनो का शब्दार्थ करना बिल्कुल ठीक नही है। उनका एक वचन अभी पढने मे आया है, वह तुम्हारे लिए उद्धृत करता हूँ "केला मातीचा पशुपति"[3] वाला अभग है।

---

१. सन्त तुकाराम १६०९-१६५०, महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध कवि जिनके अभग बहुत प्रचलित हैं।

२. नेति, नेति।

३. केला माती चा पशुपति, परी माती सी काय म्हणती,
शिवपूजा शिवासि पावे, माती मातीमाजी समावे,
केला पाषाणा चा विष्णु, परि पाषाण नव्हे विष्णु,
विष्णु पूजा, विष्णुसि अर्पे, पाषाण राहे पाषाण रूपे,
केली काशाची जगदम्बा, परि कासे नव्हे अम्बा,
तैसे पूजिती आम्हा सन्त, पूजा घेतो भगवत आम्ही किंकर।

मिट्टी का शंकर तो बना दिया, मगर इससे मिट्टी को क्या हुआ? शिव की पूजा शिव को मिलती है और मिट्टी बेचारी मिट्टी मे मिल जाती है पत्थर का विष्णु बनाया मगर पत्थर विष्णु नहीं है। विष्णु की पूजा विष्णु के अर्पण होती है और पत्थर बेचारा पत्थर ही रहता है; कांसे की जगदम्बा बनाई, मगर कांसा कोई माता नहीं है। माता की पूजा माता ले लेती है और कांसा कांसा ही

इससे मैं यह सार निकालता हूँ कि ऐसे साधु-सन्तो की भाषा के पीछे जो कल्पना (निहित) रही है, वह हमे देखनी चाहिए। वे साकार भगवान का चित्र खीचते हो, तो भी निराकार को भजते होगे। हम मामूली आदमी ऐसा नही कर सकते, इसलिए उनका भेद समझ कर न चलेगे तो मर जायगे।

— १७।६।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ २२०-२२१]

- **प्रार्थना में मैने साकार मूर्ति का निषेध नहीं किया।**
- **सत्य के पुजारी पर परिस्थिति का प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए।**
- **सन्तों के वचनो का शब्दार्थ करना बिल्कुल ठीक नहीं है।**
- **सन्तों की भाषा के पीछे जो कल्पना रही है, वह हमें देखनी चाहिए।**

३०. श्वेताश्वतर उपनिषद् : एक अनुचिन्तन

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दु.खस्यान्तो भविष्यति ॥

जिस उपनिषद् के समय यह श्लोक लिखा गया, उस समय की गहन बुद्धिमत्ता की पराकाष्ठा यह बतलाती है कि आत्मज्ञान के बिना दु ख का अन्त नही, यह बात तो है ही। मगर इस बात का असर अच्छी तरह तब पडता है जब आत्मज्ञान के बिना दु ख-नाश की आवश्यकता ऐसी ही किसी दूसरी आवश्यकता से बताई जाय। यह इस तरह कह कर बताई है कि जैसे हम चमडा शरीर पर पहिने हुए है वैसे ही आकाश को पहिन सकते हो या जैसे शरीर पर चमडा, हाड, मास वगैरह को ढके हुए है उसी तरह हम आकाश से ढँके जा सकते हो, तो आत्मज्ञान के बिना दु ख मिटाया जा सकता है। इस श्लोक के और भी बहुत से अर्थ निकल सकते है, मगर क्या यह शब्दार्थ भी अद्‌भुत नही है ?

— १५।७।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ २९१]

- आत्मज्ञान के बिना दु.ख का अन्त नहीं।

३१. ईश्वर का कार्य

[श्री भगवान जी को लिखे पत्र से]

ईशोपनिषद् मे एक मन्त्र है। उसका अर्थ यह भी होता है कि तू अपने सामने रखे हुए काम पर ध्यान दे। ऐसा करते-करते जरूर ईश्वर के दर्शन होगे। ईश्वर

रहता है। इसी तरह हम सन्त की पूजा करते हैं, मगर यह पूजा भगवान को पहुँचती है और हम उसके सेवक ही रहते हैं।

तो सभी जगह है। "मेरे" काम मे भी है। जिसे मैं अपना काम मानता हूँ वह उमी का है। उमके काम का व्यान करूँ तो उमी को मानूगा। जो मालिक का काम करता है, वह मालिक को पाता है।

—३१।७।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ ३३०]

- ईश्वर तो सभी जगह है।
- जो मालिक का काम करता है, वह मालिक को पाता है।

३२. मूर्तिपूजा : विश्लेषण

[मिस मेरी वार को लिखे पत्र से]

यह सच है कि आम तौर पर जो ममझा जाता है, उम अर्थ मे मैं मूर्तिपूजा को नही मानता। मगर यह भी नही कि दूमरे मूर्ति के द्वारा ईश्वर की पूजा करें उमे भी मैं नही मानता। एक अर्थ मे तो हम सव मूर्तिपूजक है। हम अपनी मूर्ति के ईश्वर को पूजते हैं। यह मूर्ति स्थूल की ही होनी चाहिए, सो वात नही। ईश्वर के गुण और ईश्वर की कल्पना हर एक मनुष्य की अलग-अलग होती है। इतने पर भी वास्तव मे ईश्वर निर्गुण है और कल्पनातीत है। इस प्रकार जव हम अपना ईश्वर-सम्वन्वी चित्र वनाते है, तव हम मूर्तिपूजक वन जाते है। इसलिए जो पत्थर या वातु की मूर्ति मे ईश्वर का निवास मानते हैं, मेरा मन उनकी निन्दा नही करता। वे गलत नही है क्योंकि ईश्वर सव जगह और सव चीजो मे है। किसी चीज को हम ईश्वर के रूप मे पूजना चाहते हैं, तो उसमे ईश्वर का अविष्ठान करते है। मगर जव मनुष्य मामुदायिक पूजा मे भाग लेने से अपने साथियो को रोकता है, तव हमे यह कहने का हक है कि उस पूजा मे से ईश्वर भाग जाता है। फिर जव पाश्चात्ताप किया जाता है और अपने साथियो पर से प्रतिवन्ध हटा लिया जाता है, तव वहा ईश्वर की प्रतिप्ठा होती है। आशा है यह स्पष्टीकरण समझ मे आने-जैमा है।...

—२२।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृष्ठ १४०-१४१]

- एक अर्थ मे तो हम सव मूर्तिपूजक हैं।
- ईश्वर के गुण और ईश्वर की कल्पना हरएक मनुष्य की अलग-अलग होती है।
- वास्तव मे ईश्वर निर्गुण है और कल्पनातीत है।
- ईश्वर सव जगह और सव चीजो मे है।

३३. ईशोपनिषद् का आशय

ईशोपनिषद् की विद्या अविद्या का अर्थ है अविद्या से मृत्यु को पार करना और विद्या से अमृत प्राप्त करना यानी हमेशा के लिए मोक्ष पाना।
—२।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृष्ठ १६५]

३४. योग

'योगश्चित्तवृत्ति निरोध' का यह अर्थ नही कि चित्त निष्क्रिय हो जाय। चित्त व्यर्थ प्रवृत्ति करना बन्द कर दे, यही योग है। एक भी विचार ऐसा नही आना चाहिए, जिस पर आचरण न हो सके। यानी शुद्ध-से-शुद्ध मनुष्य तो अधिक-से-अधिक आचरण करनेवाला होगा। जैसे-जैसे मनुष्य ज्यादा पवित्र होगा, वैसे-वैसे वह अधिक प्रवृत्तिमय होगा। अधिक-से-अधिक कर्मशील मनुष्य ज्यादा-से-ज्यादा सयमी होता है। इसे तुम समाधि की हालत भी कह सकते हो। फिर भी जान-बूझकर समाधि प्राप्त करने की कोशिश नही हो सकती। समाधि तो अपने आप प्राप्त होती है। अर्थात् तुम इसका विचार न किया करो, वह अपने आप आयेगी। इसी तरह योग की शारीरिक क्रिया से शरीर की शुद्धि और शारीरिक ब्रह्मचर्य को भी मदद मिलती है, मगर प्रपत्ति प्राप्त नही होती। शारीरिक क्रियाओ से मूल वस्तु नही मिलती। मूल वस्तु तो पूरी तरह प्रपत्ति—अपने आपको शून्य बना देना है।
—३०।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृष्ठ २४६]

३५. आत्मा की निर्लेपता

[श्री कमलनयन बजाज ने पत्र द्वारा गाधी जी से प्रश्न किया था—"आत्मा निर्लेप है, अक्लेद्य है और अदाह्य है, तो फिर उसे अच्छे-बुरे कर्मों का लेप कैसे लगता है?" इस प्रश्न के उत्तर में गाधी जी द्वारा प्रेषित उत्तर—सम्पा०]

आत्मा के विषय मे जो कुछ कहा गया है, वह विशुद्ध आत्मा के बारे मे है। जैसे कोई पानी के गुणो का वर्णन करे, तो विशुद्ध पानी का ही किया जाता है। मैले पानी का वर्णन एक-सा हो ही नही सकता। पानी को ज्ञान हो, तो पानी का हर गढा तेरे-जैसा ही सवाल पूछे। उनमे से कोई शुद्ध पानी के गुण वर्णन करके अपने सब साथियो से शुद्ध बनने की विनती करे। ठीक यही काम शुद्धात्मा को

जानने वाले श्रीकृष्ण ने किया है। आत्मा के गुणों को जानकर उसके जैसा बनने की कोशिश करनी चाहिए। अगर तू यह पूछे कि आत्मा अशुद्ध कैसे हो जाती है, तो वह मैं नहीं जानता। उसे जानने की जरूरत भी नहीं। अशुद्धि है, शुद्धि के गुण कैसे हैं और अशुद्धि कैसे मिट सकती है, इतना हम जानते हैं। यह हमारे काम के लिए काफी होना चाहिए।

—१२।१२।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृष्ठ २७२]

३६. अन्तर का स्वर

[एक सिन्धी सज्जन से हुई वार्ता के अंश]

मेरे अन्तर की आवाज ईश्वर की ही आवाज है, यह मैं सिद्ध नहीं कर सकता। यह तो एक आध्यात्मिक अनुभव है। हरएक मनुष्य के अन्दर से ईश्वर बोलता तो है ही, परन्तु हरएक मनुष्य उसे सुन नहीं सकता। अन्तर की आवाज दो तरह की होती है, ईश्वर की और शैतान की। किसकी है, इसका निर्णय तो परिणाम के आधार पर ही किया जा सकता है।

प्रश्न—किन्तु उस समय मनुष्य यह नहीं कह सकता कि निश्चित रूप में यह ईश्वर की ही आवाज है?

गांधी जी—मैं यह कहूं कि मैंने ईश्वर की आवाज सुनी है, किन्तु मेरी भूल हो सकती है। उसे पहिचानने का हमारे पास इसके सिवाय कोई साधन नहीं है कि शैतान की आवाज दोजख में ले जाती है, जब कि ईश्वर की आवाज हमारी उन्नति करती है।

प्रश्न—इस बारे में आपके दिल में कोई शंका है?

गांधी जी—नहीं। किन्तु इसका आधार भी इस बात पर रहता है कि मनुष्य ने कितना आत्मसमर्पण साधा है। ऐसे मनुष्य का हरएक शब्द और हरएक विचार ईश्वरप्रेरित होता है।

प्रश्न—तो द्वैत नहीं है?

उत्तर—है और नहीं भी है। इसका आधार भी इस बात पर है कि कितना आत्मसमर्पण साधा है। जब-जब मैंने कोई बड़ा कदम उठाया है, तब-तब पूरा विचार किये बिना तो उठाया ही नहीं। किन्तु इसकी एक कसौटी है। जब यह तुम्हारी अपनी बुद्धि का काम हो, तब तुम भविष्य के लिए प्रतिदिन का निश्चित कार्यक्रम दे सकते हो। परन्तु ईश्वरप्रेरित काम के बारे में तुम भविष्य के लिए कुछ नहीं कर सकते। गोलमेज परिषद में ईश्वर ही मेरे द्वारा बोल रहा था।

३३. ईशोपनिषद् का आशय

ईशोपनिषद् की विद्या अविद्या का अर्थ है अविद्या से मृत्यु को पार करना और विद्या से अमृत प्राप्त करना यानी हमेशा के लिए मोक्ष पाना।
—२।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृष्ठ १६५]

३४. योग

'योगश्चित्तवृत्ति निरोध' का यह अर्थ नही कि चित्त निष्क्रिय हो जाय। चित्त व्यर्थ प्रवृत्ति करना बन्द कर दे, यही योग है। एक भी विचार ऐसा नही आना चाहिए, जिस पर आचरण न हो सके। यानी शुद्ध-से-शुद्ध मनुष्य तो अधिक-से-अधिक आचरण करनेवाला होगा। जैसे-जैसे मनुष्य ज्यादा पवित्र होगा, वैसे-वैसे वह अधिक प्रवृत्तिमय होगा। अधिक-से-अधिक कर्मशील मनुष्य ज्यादा-से-ज्यादा सयमी होता है। इसे तुम समाधि की हालत भी कह सकते हो। फिर भी जान-बूझकर समाधि प्राप्त करने की कोशिश नही हो सकती। समाधि तो अपने आप प्राप्त होती है। अर्थात् तुम इसका विचार न किया करो, वह अपने आप आयेगी। इसी तरह योग की शारीरिक क्रिया से शरीर की शुद्धि और शारीरिक ब्रह्मचर्य को भी मदद मिलती है, मगर प्रपत्ति प्राप्त नही होती। शारीरिक क्रियाओ से मूल वस्तु नही मिलती। मूल वस्तु तो पूरी तरह प्रपत्ति—अपने आपको शून्य बना देना है।
—३०।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृष्ठ २४६]

३५. आत्मा की निर्लेपता

[श्री कमलनयन बजाज ने पत्र द्वारा गाधी जी से प्रश्न किया था—"आत्मा निर्लेप है, अक्लेद्य है और अदाह्य है, तो फिर उसे अच्छे-बुरे कर्मों का लेप कैसे लगता है?" इस प्रश्न के उत्तर में गांधी जी द्वारा प्रेषित उत्तर—सम्पा०]

आत्मा के विषय मे जो कुछ कहा गया है, वह विशुद्ध आत्मा के बारे मे है। जैसे कोई पानी के गुणो का वर्णन करे, तो विशुद्ध पानी का ही किया जाता है। मैले पानी का वर्णन एक-सा हो ही नही सकता। पानी को ज्ञान हो, तो पानी का हर गढा तेरे-जैसा ही सवाल पूछे। उनमे से कोई शुद्ध पानी के गुण वर्णन करके अपने सब साथियो से शुद्ध बनने की विनती करे। ठीक यही काम शुद्धात्मा को

जानने वाले श्रीकृष्ण ने किया है। आत्मा के गुणों को जानकर उसके जैसा बनने की कोशिश करनी चाहिए। अगर तू यह पूछे कि आत्मा अशुद्ध कैसे हो जाती है, तो वह मैं नहीं जानता। उसे जानने की जरूरत भी नहीं। अशुद्धि है, शुद्धि के गुण कैसे है और अशुद्धि कैसे मिट सकती है, इतना हम जानते है। यह हमारे काम के लिए काफी होना चाहिए।

—१२।१२।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृष्ठ २७२]

३६. अन्तर का स्वर

[एक सिन्धी सज्जन से हुई वार्ता के अंश]

मेरे अन्तर की आवाज ईश्वर की ही आवाज है, यह मैं सिद्ध नहीं कर सकता। यह तो एक आध्यात्मिक अनुभव है। हरएक मनुष्य के अन्दर से ईश्वर बोलता तो है ही, परन्तु हरएक मनुष्य उसे सुन नहीं सकता। अन्तर की आवाज दो तरह की होती है, ईश्वर की और शैतान की। किसकी है, इसका निर्णय तो परिणाम के आधार पर ही किया जा सकता है।

प्रश्न—किन्तु उस समय मनुष्य यह नहीं कह सकता कि निश्चित रूप में यह ईश्वर की ही आवाज है?

गांधी जी—मैं यह कहूं कि मैंने ईश्वर की आवाज सुनी है, किन्तु मेरी भूल हो सकती है। उसे पहिचानने का हमारे पास इसके सिवाय कोई साधन नहीं है कि शैतान की आवाज दोजख में ले जाती है, जब कि ईश्वर की आवाज हमारी उन्नति करती है।

प्रश्न—इस बारे में आपके दिल में कोई शंका है?

गांधी जी—नहीं। किन्तु इसका आधार भी इस बात पर रहता है कि मनुष्य ने कितना आत्मसमर्पण साधा है। ऐसे मनुष्य का हरएक शब्द और हरएक विचार ईश्वरप्रेरित होता है।

प्रश्न—तो द्वैत नहीं है?

उत्तर—है और नहीं भी है। इसका आधार भी इस बात पर है कि कितना आत्मसमर्पण साधा है। जब-जब मैंने कोई बड़ा कदम उठाया है, तब-तब विचार किये बिना तो उठाया ही नहीं। किन्तु इसकी एक कसौटी है। तुम्हारी अपनी बुद्धि का काम हो, तब तुम भविष्य के लिए प्रतिदिन का कार्यक्रम दे सकते हो। परन्तु ईश्वरप्रेरित काम के [illegible]
कुछ नहीं कर सकते। गोलमेज परिषद में ई[illegible]

मैं वह वाक्य (पृथक निर्वाचिक-मण्डल का मैं प्राणों की बाजी लगाकर विरोध करूंगा) कुछ भी विचार किये बिना ही बोला था। मुझे पता नहीं था कि मैं क्या बोलनेवाला हूं। सहज ही ये वचन मेरे मुंह से निकल पड़े।

— १०।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० ३७-३८]

● **अन्तर की आवाज दो तरह की होती है, ईश्वर की और शैतान की।**

३७. मूर्ति-पूजा

मूर्ति-पूजा न माननेवाले एक शिक्षक ने निम्नलिखित प्रश्न पूछे हैं:—

"१. जो मनुष्य रामचन्द्र जी के जीवन का अनुकरण करता है, क्या उसे राम-मन्दिर में जाने की आवश्यकता रहती है? क्या अनुकरण की अपेक्षा दर्शन अच्छा है?

२. यदि हम किसी व्यक्ति को नमस्कार करें, तो बदले में वह हमें नमस्कार करेगा। प्रतिमा तो हिलती तक नहीं। जो उत्तर देने में असमर्थ है, उसे पत्र लिखने से क्या लाभ?

३. जिसकी प्रतिमा की हम पूजा करते हैं, उसने, सम्भव है, कुछ बुराइयां भी अपने जीवन में की हों। क्या वह पुजारी उसकी प्रतिमा-पूजा से उसकी बुराइयों की नकल नहीं करेगा?"

ऐसे प्रश्न पहिले बहुत बार पूछे जा चुके हैं। मैं यथासम्भव उत्तर दूंगा, यद्यपि मुझे सन्देह है, कि प्रश्नकर्त्ता के समान सन्देह करनेवालों को इससे कहां तक सन्तोष होगा।

ऐसी तो कोई बात नहीं है कि किसी मन्दिर में दर्शनार्थ जाना हिन्दूमात्र का धर्म है। किन्तु जो राम मन्दिर में जाये बिना राम का ध्यान नहीं कर सकता, उसका वहां जाना धर्म है। भले ही कोई इसे बुरा कहे, किन्तु ऐसे लोगों का राम विशेषतया उस मन्दिर में ही रहता है। उस पूजा करने वाले को मन्दिर में जाने से ही शान्ति मिलेगी। मैं उसकी श्रद्धा में कभी विक्षेप नहीं डालूंगा।

पहिले प्रश्न के उपप्रश्न में दर्शन और अनुकरण का मुकाबिला किया गया है। यह ठीक नहीं। क्योंकि दर्शन का हेतु अनुकरण के हेतु से भिन्न है। दर्शन अनुकरण का सहायक है। राम की प्रतिमा का ध्यान करके मैं राम के समान बनना चाहता हूं, इसलिए दर्शन श्रेष्ठ है या अनुकरण, ऐसा प्रश्न नहीं किया जा सकता। लाखों के लिए अनुकरण-हेतु दर्शन आवश्यक है।

दूसरे प्रश्न में शिक्षक महोदय ने मन्दिर के रहस्य को नहीं पहिचाना है। जब हम किसी व्यक्ति को नमस्कार करते हैं तब वह पारस्परिक शिष्टाचार का लक्षण हो सकता है। उसमें और कोई विशेष गुण नहीं है। परन्तु लोग तो आत्म-शुद्धि और आत्मशान्ति के लिए मन्दिर में जाते हैं। मन्दिर में जाने से मनुष्य अपने आन्तरिक गुणों का विकास करता है, पापों को धोता है, हृदय का परिवर्तन करता है। सभी के लिए ऐसा ही होता है, यह कहने का यहां अभिप्राय नहीं। लेकिन मन्दिर जाने में यह सब रहस्य भरा है, और हजारों ने इसका अनुभव किया है। मन्दिर में हजारों भक्तों ने भगवान का दर्शन किया है, जैसे तुलसीदास ने और अन्धे भक्त सूरदास ने। एक मनुष्य को हम पत्र लिखते हैं। उसका भला-बुरा उत्तर मिलता भी है और नहीं भी मिलता। वह पत्र आखिर काग़ज़ का टुकड़ा ही है। ईश्वर को पत्र लिखने के लिए न काग़ज़ चाहिए, न कलम-दावात और न शब्द ही। ईश्वर को जो पत्र लिखा जाता है उसका उत्तर न मिले, यह सम्भव नहीं है। उस पत्र का नाम पत्र नहीं प्रार्थना है; पूजा है। मन्दिर में जाकर ऐसे पत्र करोड़ों लोग प्रतिदिन लिखते हैं और उन्हें श्रद्धा है, कि उनके पत्र का उत्तर भगवान् ने ही दिया है। यह निरपवाद सिद्धान्त है—भक्त भले ही उसका कोई वाह्य प्रमाण न दे सके। उसकी श्रद्धा ही उसका प्रमाण है। उत्तर प्रार्थना में ही सदा से रहा है, ऐसी भगवान की प्रतिज्ञा है। यहां मुझे यह भी कह देना चाहिए कि मैं मन्दिर, मस्जिद और गिरजे में कोई भेद नहीं मानता। भक्त की श्रद्धा जिधर ले जायगी, उधर ही वह अपने सिरजनहार का दर्शन करेगा। जिसकी जैसी श्रद्धा होगी, वैसा ही उसे फल मिलेगा। यही बात गीता ने, कुरान ने, बाइबिल ने भिन्न-भिन्न भाषा और भिन्न-भिन्न शब्दों में कही है। करोड़ों मनुष्य अव्यक्त का दर्शन करने की आशा में जाते हैं और नित्य कुछ-न-कुछ तृप्ति पाकर लौटते हैं।

तीसरा प्रश्न पूछकर प्रश्नकर्त्ता ने अवतार-विषयक रहस्य का अज्ञान प्रकट किया है। उन्हें यह जान लेना चाहिए कि श्रद्धालु भक्त की दृष्टि में अवतार-मात्र निर्दोष रहते हैं। आलोचक का कृष्ण भले ही व्यभिचारी हो, धूर्त हो, किन्तु भक्त के हृदय में तो कृष्ण पूर्णावतार ही हैं। लाखों भक्त कृष्ण-कीर्तन से, कृष्ण-दर्शन से, और कृष्ण-ध्यान से निष्पाप बने हैं और बन रहे हैं। सामान्य अनुभव में भी यही बात आती है। अपने वीरों को हम निर्दोष मानते हैं, भले ही उनके शत्रु उन्हें कैसा ही मानें। हां, यह हो सकता है और होता ही है, कि दोषों को हम गुणरूप मानते हैं। इसमें मन्दिर या मूर्ति का दोष नहीं बल्कि पुजारी का है। निराकार ईश्वर में भी हम गुणों का आरोप करते हैं, किन्तु अनुभव बताता है कि

कई गुण वस्तुतः दोष थे। आज भी निराकार ईश्वर को हिंसक मानकर हिंसा को धर्म माननेवाले लोग कहां नहीं पाये जाते? बात यह है, कि जैसे भगवान् वैसे ही भक्त होते हैं, और ठीक इसी तरह, जैसे भक्त वैसे ही भगवान बने रहते हैं। ऐसा क्यों होता है, यह मैं नहीं जानता। शायद ही कोई जानते हों, ऐसा सन्देह मुझे है। परन्तु ऐसा है, यह तो प्रत्यक्ष है। किन्तु यह विषय ही भिन्न है। मन्दिर और मूर्ति के साथ उसका कोई सम्वन्ध नहीं।

मेरी बुद्धि और हृदय ने बहुत पहिले यह अनुभव कर लिया था, कि भगवान का सर्वोत्तम नाम सत्य है। मैं राम-नाम से सत्य पहिचानता हूँ। अत्यन्त कठोर परीक्षा की घड़ियों में इस एक ही नाम ने मेरी रक्षा की है और अब भी कर रहा है। यह लिखते हुए मुझे अपनी बाल्यावस्था की एक बात याद आती है। हमारे घर के नजदीक रामजी का एक मन्दिर था। मैं बड़े भाव से नित्य वहां जाता था। मुझे विश्वास था, कि वहां जाकर मैं निष्पाप होता था और पाप से बचने की शक्ति का नित्य कुछ-न-कुछ संचय करता था। हो सकता है, कि मन्दिर का पुजारी बुरा रहा हो। पर उसका मुझे कोई ज्ञान न था, न आज भी है। मैं उसकी अथवा मन्दिर वालों में से किसी की बुराई से अपरिचित और अलिप्त था। मेरे लिए वह मन्दिर पवित्र स्थान था; राम से मिलने का धाम था।

—ह० से० ३१।१।१९३३]

- **दर्शन अनुकरण का सहायक है।**
- **ईश्वर को पत्र लिखने के लिए न कागज चाहिए, न कलम-दावात और न शब्द।—उस पत्र का नाम पत्र नहीं प्रार्थना है; पूजा है।**
- **जैसे भगवान वैसे ही भक्त होते हैं, और ठीक इसी तरह जैसे भक्त वैसे भगवान बने रहते हैं।**

३८. आध्यात्मिक शब्दों के नये आयाम

एक सज्जन लिखते हैं :

"आप सदैव शब्दों के नूतन प्रयोग किया करते हैं। इससे अनर्थ का भय है। आपने कहा है हम सब मूर्तिपूजक हैं, मन्दिर हिन्दू धर्म का आवश्यक अंग है।" इसमें आप मूर्तिपूजा और मन्दिर एक अर्थ में लेते हैं और जनता दूसरे अर्थ में। इसलिए आपको स्पष्टीकरण करना चाहिए। क्या आपने इन शब्दों का एक विस्तृत रूप में प्रयोग किया है।"

...लौकिक अर्थ पाषाण को परमेश्वर बना देता है। लेकिन सत्य यह है कि पाषाण स्वतः परमेश्वर नहीं, किन्तु पाषाण में परमेश्वर है। लोग कहेंगे कि

यदि पाषाण में परमेश्वर है तो पाषाण परमेश्वर क्यों नहीं ? शरीर आत्मा नहीं है, शरीर में आत्मा है। फिर भी करोड़ों लोग ऐसा कहते और मानते हैं कि शरीर ही आत्मा है। उनकी दृष्टि से वह भी सत्य है अथवा उनके कथन में भी सत्य का अंश है—अर्थात्—लौकिक अर्थ सर्वथा त्याज्य नहीं है ; विचार के विस्तार के साथ ही शब्दों के अर्थ का भी विस्तार होता जायगा। मैं जो कह रहा हूँ, वह कोई नई बात नहीं है। मेरे विचार में ही कुछ नवीनता-सी दीख पड़ती है। यह अनिवार्य है क्योंकि यही मेरी साधना है। सत्य की खोज में विचार करना ही पड़ता है। संकुचित अर्थ से सन्तोष नहीं होता। विचार करने से उसी शब्द के उसी अर्थ में सन्तोष का बीज दीख पड़ता है।

कहा जाता है कि वेद केवल 'ॐ' का विस्तार है। गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं—"राम ही ॐ है, राम ही वेद है; सब कुछ उसी में है सब वही है; और कुछ नहीं है।" लेकिन लौकिक राम दशरथ-नन्दन हैं। तुलसीदास कहते हैं—"मेरा राम दशरथ-नन्दन है, लेकिन वह उससे भी बहुत अधिक है। वही सच्चिदानन्द पूर्ण परब्रह्म है।" इस कथन में कोई विरोध नहीं; विचार-विस्तार, अर्थ-विस्तार है। राम के परमभक्त तुलसीदास ने ध्यान किया और ध्यान-पथ से निरंजन, निराकार सर्वव्यापक राम को पाया। यहां कोई अनर्थ नहीं हुआ; अच्छा ही हुआ; परिणाम में हम अवतारवाद के रहस्य को और अधिक समझने लगे। इस प्रकार पाषाण-शिला से लेकर परमाणु तक चले आइए, तो मूर्ति ही नजर आती है और परमाणु में भी परमात्मा निहित मिलता है। इस दृष्टि से सारा जगत् प्रतिमा-पूजक है। जगन्नाथ नाम का मकान, जिसमें जगन्नाथ की मूर्ति प्रतिष्ठित है, वह भी मन्दिर है और जिस स्थान पर पाँच आदमी बैठ कर प्रभु का नित्य नाम-स्मरण करते हैं, वह भी मन्दिर है। इसलिए मन्दिर हिन्दू धर्म का ही नहीं, बल्कि संसार के सभी धर्म-मतों का एक आवश्यक अंग है। फिर भले ही कोई गिरजा, मस्जिद, गुरुद्वारा, उपाश्रय इत्यादि नाम से पुकारे। जहां तक शरीर और आत्मा का सम्बन्ध रहेगा, वहां तक मन्दिर और भगवान का भी मेल बना रहेगा। शरीर नरक की खान है और ईश्वर का निवास-स्थान भी है। ठीक इसी तरह मन्दिर नरक की खान भी बन सकता है, भगवान का वासस्थान तो है ही—

जाकी रही भावना जैसी।
प्रभु-मूरति देखी तिन तैसी॥

—ह० से०, १४।४।१९३३]

- पाषाण स्वतः परमेश्वर नहीं किन्तु पाषाण में परमेश्वर है।
- शरीर आत्मा नहीं, शरीर में आत्मा है।
- लौकिक अर्थ सर्वथा त्याज्य नहीं है।
- विचार के विस्तार के साथ ही शब्दों के अर्थ का भी विस्तार होता जायगा।
- शिला से लेकर परमाणु तक—मूर्ति ही नजर आती है।
- परमाणु में भी परमात्मा निहित है।
- सारा जगत् प्रतिमा-पूजक है।
- शरीर नरक की खान है और ईश्वर का निवास-स्थान भी है।

३९. अजन्मा का जन्म कैसे ?

मैंने जिनकी मन्दिर-सम्बन्धी कई उलझनों पर एक लेख लिखा था वही शिक्षक फिर लिखते हैं—

"जो अज है, अमर है, सृष्टिकर्ता है, उसका जन्म कैसा ? हिन्दू धर्म के मूल ग्रन्थ चारों वेदों में तो अवतार शब्द तक नहीं आया है। अवतारवाद को स्पष्ट करनेवाला यदि कोई ग्रन्थ आपकी दृष्टि में हो तो मुझे लिखें। एक सत्य-शोधक की दृष्टि से अवतारवाद का अध्ययन कर लेने की मेरी अवश्य इच्छा है।"

हिन्दू धर्म में बहुत-से धार्मिक सिद्धान्त बुद्धि-ग्राह्य हैं और कई बुद्धि से अतीत हैं। अवतारवाद बुद्धि का विषय है और श्रद्धा का भी। चूंकि वह श्रद्धा का भी विषय है, इसलिए जिस प्रकार भौतिक विषयों को समझानेवाले ग्रन्थ मिलते हैं, उस प्रकार अवतारवाद पर कोई ग्रन्थ है, यह मैं नहीं जानता। इस विषय पर अंग्रेजी में कुछ ग्रन्थ अवश्य लिखे गये हैं। लेकिन वे भी बुद्धि को पूर्ण सन्तोष नहीं देते। सम्भव है, संस्कृत में इस विषय के कुछ ग्रन्थ हों, पर मुझे उनका पता नहीं। अवतार पर मेरी जो श्रद्धा जम गई उसका कारण भक्तवर तुलसीदास जी हैं, ऐसा मैं मानता हूँ। मैं प्रश्नकर्त्ता शिक्षक-जैसे सत्य-शोधकों को तुलसीदास जी के ग्रन्थों का अनुशीलन करने की सलाह दूंगा। कोई सज्जन इस विषय की कोई पुस्तक जानते हों, तो कृपा कर उसका नाम लिख भेजें, मैं उसकी सूचना उक्त शिक्षक को दे दूंगा। पर अवतार-जैसे विषय पर ग्रन्थ की आवश्यकता कम है, मनन की अधिक है।

अब थोड़ा बुद्धिवाद पर विचार कर लेना चाहिए। जो गुण परमात्मा के माने जाते हैं, वही आत्मा के भी माने जाते हैं। जिस प्रकार परमात्मा अज, अजर,

अमर है उसी तरह आत्मा भी है। आत्मा परमात्मा का सनातन अंश है, तभी तो उसमें परमात्मा के गुण हैं। आत्मा अज है, तो भी शरीर-रूप से जन्म लेती है। इस कारण उसे परमात्मा का अंशावतार मानना पड़ेगा। यदि हम ऐसा मानते हैं, तो जिसमें परमात्मा के बहुत-से गुणों का आविर्भाव देखने में आता है, उसे ईश्वरावतार मान लेने में कोई बाधा नहीं आ सकती। पूर्णावतार-जैसी कोई बात बुद्धि से सिद्ध नहीं हो सकती। यह विषय काल्पनिक है और श्रद्धा-मूलक भी। हिन्दू पूर्व जन्म और इस जन्म के संस्कारों के कारण राम, कृष्ण इत्यादि को ईश्वरावतार मानेंगे। जो विश्वमात्र को ईश्वर-रूप मानता है उसे ईश्वर का अवतार मानना पड़ेगा। जैसे, जल के समुदाय को हम समुद्र-रूप से देखते हैं, इसी तरह जीव-समुदाय-रूपी संसार को हम ईश्वरावतार-रूप क्यों न देखें? इसे अवतार का नाम दें अथवा न दें, यह दूसरी बात है। हमें किसी भी नाम से काम नहीं। यह जगत् ईश्वर से अभिव्याप्त है। जहां भी देखते हैं, वहां केवल वही है। जिसका नाम और रूप है वह ईश्वर का अवतार है, इतना हमारे श्रद्धा-चक्षु के सामने स्पष्ट होना चाहिए। यदि हमारे हृदय में इतनी श्रद्धा जम जाय, तो बहुत सम्भव है, कि हम पापों से सदा दूर रहें। हम ईश्वर को घट-घट का साक्षी जानते हुए असत्य पर कैसे चल सकते और कोई पाप कैसे कर सकते हैं?

—ह० से० २१।४।१९३३]

- **अवतारवाद बुद्धि का विषय है और श्रद्धा का भी।**
- **आत्मा परमात्मा का सनातन अंश है।**
- **यह जगत् ईश्वर से अभिव्याप्त है। जहां भी देखते हैं, वहां केवल वही है।**

४०. प्राकृतिक घटनाओं का आध्यात्मिक प्रभाव

...आज से नहीं मेरा यह सदा से विश्वास रहा है कि प्रकृति की किसी घटना के भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही परिणाम निकलते हैं। ठीक इसी प्रकार आध्यात्मिक घटना का भी प्रभाव आत्मा और प्रकृति, दोनों, पर पड़ता है।—हमें ईश्वर के समस्त नियमों का ज्ञान नहीं है और न हमें उन नियमों की क्रियाओं का ही पता है। धुरन्धर वैज्ञानिक या पारंगत दार्शनिक का ज्ञान भी एक 'रेणु कण' के समान है। ईश्वर मेरे लिए मेरे लौकिक पिता की भांति कोई व्यक्ति नहीं है। पर वह उसकी अपेक्षा अनन्तगुना अधिक महान है। वह मेरे जीवन की छोटी-से-छोटी बात पर भी शासन करता है। इसमें मेरा अक्षरशः विश्वास है कि उसकी

मर्जी के विना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। मैं जो प्रत्येक श्वास लेता हूँ, वह वह उसी स्वामी के अधीन है।

ईश्वर और उसका नियम एक है। नियम ही ईश्वर है। हमने भगवान के साथ जो विशेषण लगा रखे हैं वे मात्र विशेषण ही नहीं है। वे विशेषण स्वयं भगवान हैं। सत्य, प्रेम, नियम और बुद्धि से मनुष्य जिन लाखों वस्तुओं की कल्पना कर सकता है, वे सब ईश्वर ही हैं।. . .विश्व-नियति के अनुसार जो कार्य चल रहा है, उसमें ईश्वर स्वयं कोई दखल नहीं देता, क्योंकि ईश्वर ही तो विश्व-नियति है। लेकिन मेरा कहना है कि हम लोग इन नियमों को पूरी तरह नहीं जानते और जो हमें संकट प्रतीत होता है, वह केवल हमारे अज्ञान के कारण ही हमें संकट-रूप मालूम होता है।

यद्यपि दुर्भिक्ष, बाढ़, भूकम्प और ऐसे ही अन्य उत्पात केवल भौतिक कारणों से उत्पन्न जान पड़ते हैं, तो भी इनका मनुष्य के आचरण के साथ भी सम्बन्ध होता है—प्रकृति के नियमों का शासन किस प्रकार चल रहा है, इस विषय में मैं अपना पूर्ण अज्ञान स्वीकार करता हूँ।—मेरा यह विश्वास नहीं है कि हमारे पाप चाहे कितने ही प्रचण्ड हों वे सृष्टि का विध्वंस नहीं कर सकते। मेरा विश्वास तो इसके विपरीत है। हमारे पापों में वह शक्ति है कि वे इस सृष्टि का उससे भी अधिक विध्वंस कर सकते हैं, जितना किसी प्राकृतिक कारण से हो सकता है। प्रकृति और पुरुष के बीच अविच्छिन्न सम्बन्ध है। हमें इस अभेद्य सम्बन्ध के परिणामों का ज्ञान नहीं है, इसीलिए वे हमें गूढ़ लगते हैं और भयभीत कर रहे हैं। पर इससे उस सम्बन्ध का विच्छेद नहीं हो सकता। जिन लोगों को प्रकृति के इस सम्बन्ध का साक्षात्कार हो गया है उन्होंने प्रत्येक भौतिक संकट का उपयोग अपनी नैतिक उन्नति के लिए किया है।

प्राकृतिक विधान और मनुष्य के आचरण में जो सम्बन्ध है—उसमें मेरी कुछ ऐसी प्रगाढ़ श्रद्धा है कि मैं उसके सहारे अपने प्रभु के अधिक समीप पहुँच सकता हूँ; नम्र बन सकता हूँ और उसके दरबार में जाने के लिए अधिक अच्छी तैयारी कर सकता हूँ। यदि मैं अपने अगाध अज्ञान के कारण इस विश्वास को अपने विरोधियों पर प्रहार करने की नीयत से काम में लाऊं तो मेरे लिए यह विश्वास एक नैतिक अन्ध-विश्वास या वहम समझा जायगा।

—ह० ज०। ह० से०, २३।२।१९३४]

- प्रकृति की किसी घटना के भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही परिणाम निकलते हैं।
- आध्यात्मिक घटना का. .प्रभाव आत्मा और प्रकृति दोनों पर पड़ता है।

- हमें ईश्वर के समस्त नियम का ज्ञान नहीं है।
- उस (ईश्वर) की मर्जी के विना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता।
- ईश्वर और उसका नियम एक है। नियम ही ईश्वर है।
- ईश्वर ही . . . विश्व-नियति है।
- प्रकृति और पुरुष के बीच अविच्छिन्न सम्बन्ध है।

४१. प्राकृतिक कोप दैवी चेतावनी

एक विद्यार्थी लिखता है:—

"भूकम्प के विषय का आपका लेख पढ़ा। मैं विज्ञान का विद्यार्थी हूँ, इसलिए मैं यह नहीं मान सकता कि भूकम्प का अस्पृश्यता से कुछ सम्बन्ध है। आप भूकम्प को हमारे पाप का परिणाम मानते हैं। यह तो निरा वहम है। पर मान लीजिए कि ऐसा सम्बन्ध है, तो भूकम्प बिहार में ही क्यों आया? अस्पृश्यता के पाप में तो सारा ही हिन्दुस्तान सना हुआ है। कृपया इस शंका का निवारण कीजिए। आप पर मेरा पूरा विश्वास है। मगर आपकी यह बात तो किसी तरह गले के नीचे नहीं उतरती।"

विज्ञान के विद्यार्थी को जितना समझ में न आवे उतना न मानने का अधिकार नहीं। विज्ञान का विद्यार्थी नम्र होता है। जो बात वह सुने उसे झट से ठुकरा न दे, उस पर उसे विचार करना चाहिए। हम इस संसार में थोड़ी ही चीजों को समझ सकते हैं, अगणित वस्तुओं को नहीं समझ सकते। इसी से ज्ञानियों को ज्यों-ज्यों ज्ञान प्राप्त होता जाता है, त्यों-त्यों वे नम्र बनते जाते हैं, क्योंकि ज्ञानी का ज्ञान तो अपने अज्ञान का पहाड़ देखने में है। जितना ही गहरा वह उतरता है, उतना ही वह देखता है कि वह तो कुछ भी नहीं जानता। बल्कि जितना वह जानता है, वह सब उसका अनुमान ही है। ऐसा लिखकर मैं विज्ञान का खण्डन नहीं करना चाहता। अल्प ही क्यों न हो, ज्ञान का उपयोग तो है ही। किन्तु जितना जानने को है उसे देखते हुए हमारा उपलब्ध ज्ञान समुद्र के बिन्दु से भी न्यून है।

इस जगत् में जीवमात्र का मूल एक ही है, और इसी कारण मूलस्वरूप में सब एक ही हैं। इसमें वनस्पति से लेकर मानव प्राणी तक सभी का समावेश हो जाता है। जो यह समझता है, उसकी दृष्टि में एक जीव का दुःख उन सब जीवों का दुःख है; एक का सुख उन सबका सुख है। अतएव त्यागवृत्ति में सच्चा सुख माना गया है, और है भी। इसलिए यदि वह विद्यार्थी जीवमात्र का ऐक्य स्वीकार करता है, तो बिहार के दैवी दण्ड में सभी आ जाते हैं। जिन्हें भूकम्प का स्पर्श

मालूम नहीं हुआ, वे कुछ अछूते नहीं रहे। प्रत्यक्ष रीति से उन्हें अनुभव नहीं हुआ, तो यह उनका अज्ञान समझना चाहिए। बिहार ही क्यों, दूसरा प्रान्त क्यों नहीं, यह बात ईश्वर से पूछने वाले हम कौन? उसकी कला समझ में नहीं आती। उसकी तो अविगत गति है। इसीलिए जहां बुद्धि की गति नहीं, वहां श्रद्धा काम देती है।

हम यह अनेक उदाहरणों से सिद्ध कर सकते हैं कि भौतिक घटनाओं का अध्यात्म के साथ सम्बन्ध होता है। भौतिक वस्तु की उत्पत्ति भी एक ही शक्ति से होती है। अतः भौतिक तथा आध्यात्मिक के बीच में अनिवार्य भेद नहीं है। वर्षा होना एक भौतिक घटना है, पर उसका सम्बन्ध मनुष्य के सुख-दुःख के साथ तो है ही। तो फिर उसके पाप-पुण्य के साथ उसका सम्बन्ध क्यों नहीं? संसार के इतिहास में हमें ऐसा समय याद नहीं पड़ता, जब असंख्य लोगों ने भूकम्प आदि घटनाओं को मनुष्य के पाप के साथ न जोड़ा हो। आज भी अनेक स्थानों में धार्मिक मनुष्य इस सम्बन्ध को मानते हैं।

हमारे किस पाप के कारण ऐसा संकट आता है, यह कोई समझ नहीं सकता। स्वर्ण-नियम तो यह है, कि इसे सब लोग अपने व्यक्तिगत तथा सामाजिक पाप का दण्ड मानें। तुम्हारे पाप की बदौलत यह संकट आया है, ऐसा कहने में अभिमान है। मेरे पाप से यह हुआ, ऐसा मानने में नम्रता है; ज्ञान है। जो लोग अस्पृश्यता को पाप नहीं मानते उन्हें मेरा यह मनवाने का प्रयत्न नहीं है कि भूकम्प अस्पृश्यता के पाप का फल है। वे तो खुशी से मानें कि वह मेरे पाप का परिणाम है। ऐसी घटनाओं में सत्य-असत्य का अन्तिम निर्णय अपूर्ण मनुष्य नहीं कर सकता। हमारे अपने पाप की बदौलत भूकम्प आया, यदि मैं अपने पाठकों को इतना विश्वास करा सकूं तो मैं समझूंगा कि मेरा काम पूरा हो गया। फिर तो अस्पृश्यता का महापाप मानने वाले भूकम्प के साथ उसका सम्बन्ध जोड़कर समय पर उस पाप का यथा-शक्ति प्रायश्चित्त अवश्य करेंगे।

—हि० ब०। ह० से० २०।४।१९३४]

- ज्ञानियों का ज्ञान तो अपने अज्ञान का पहाड़ देखने में है।
- हमारा उपलब्ध ज्ञान समुद्र के बिन्दु से भी न्यून है।
- जीवमात्र का मूल एक ही है, इसी कारण मूलस्वरूप में सब एक ही हैं।
- जहां बुद्धि की गति नहीं, वहां श्रद्धा काम देती है।
- भौतिक घटनाओं का अध्यात्म के साथ सम्बन्ध होता है।

४२. ईश से याचना और शून्यता

ईश्वर से याचना करने का अर्थ है तीव्र इच्छा करना। ईश्वर हमसे भिन्न भी है और अभिन्न भी है। भिन्न है क्योंकि वह सम्पूर्ण है; अभिन्न है क्योंकि हम उसके अंश हैं। समुद्र से अलग पड़ जानेवाली बूंद यदि समुद्र से विनती न करे तो किस से करे? परन्तु समुद्र के लिए कुछ करने या न करने की बात है क्या? प्रार्थना वियोगी का विलाप है, उसके बिना देहधारी जी ही नहीं सकता।

राष्ट्र की प्रगति की कुंजी हमारे हाथ में है भी। और नहीं भी है। यदि हम शून्यवत् हो जायं तो ही प्रगति होगी। शून्यवत् होना हमारे हाथ में है, परन्तु प्रगति हमारे हाथ में नहीं है। क्योंकि शून्य बने कि प्रगति एकमात्र परमात्मा के हाथ में रहती है।

'ऊधो करमन की गति न्यारी' यह शुद्ध सत्य है। कर्म का नियम है, इतना हम जान सकते हैं, परन्तु हम यह नहीं जानते कि वह नियम किस ढंग से काम करता है। इतनी प्रभु की कृपा है। सामान्य राजा के नियम भी जब हम नहीं जानते, तो फिर नियम की मूर्ति के समान परमात्मा के (सारे) नियमों को हम कैसे जान सकते हैं?

—वर्धा, ३।२।१९३५। बापू के पत्र : कुमारी प्रेमा बहिन कंटक के नाम, पृ० २३५, न० जी० प्र० मं०]

- **प्रार्थना वियोगी का विलाप है। उसके बिना देहधारी जी ही नहीं सकता।**

४३. मन्दिर और मूर्ति

...मन्दिर उस अदृष्ट, अगोचर और अनिर्वचनीय ईश्वर तथा हम-जैसे अनन्त महासागर के अल्पातिअल्प बिन्दुओं के बीच सेतु-रूप है। हम सारे मनुष्य तत्वचिन्तक नहीं होते। हम तो मिट्टी के पुतले हैं, धरती पर बसने वाले मानव प्राणी हैं, इसीलिए हमारा मन धरती में ही रमता है। इसीलिए हमें अदृश्य ईश्वर का चिन्तन करके सन्तोष नहीं होता। हम कोई ऐसी वस्तु चाहते हैं जिसका स्पर्श कर सकें; जिसे देख सकें; जिसके आगे घुटने टेक सकें। भले ही वह वस्तु कोई ग्रन्थ हो, पत्थर का खाली मकान हो या अनेक मूर्तियों से भरा कोई मन्दिर हो। किसी को ग्रन्थ से शान्ति मिलेगी; किसी किसी को खाली मकान से तृप्ति होगी तो दूसरे बहुत-से लोगों को तबतक सन्तोष नहीं होगा, जबतक वे उन

खाली मकानों में कोई वस्तु स्थापित हुई नहीं देख लेंगे। मैं आपसे कहता हूँ कि आप यह भाव लेकर इन मन्दिरों में न जायं कि ये मन्दिर अन्धविश्वासों को आश्रय देने वाले घर हैं। अगर आप मन में श्रद्धा-भाव रखकर इन मन्दिरों में जायंगे, तो आप देखेंगे कि हर बार वहां जाकर आप शुद्ध बन रहे हैं। और (तब) जीवित-जाग्रत ईश्वर पर आपकी श्रद्धा बढ़ती ही जायगी।

—ह० से०, ३०।१।१९३७]

● **मन्दिर उस अदृश्य, अगोचर और अनिर्वचनीय ईश्वर तथा हम-जैसे अनन्त महासागर के अल्पातिअल्प बिन्दुओं के बीच सेतु-रूप है।**

४४. मूर्ति-पूजा

···मूर्ति को ही ईश्वर समझना बुरा है, मूर्ति-पूजा बुरी नहीं है। मूर्ति-पूजक मूर्ति को ईश्वर नहीं समझता, लेकिन पत्थर में भी ईश्वर को देखता है और इसलिए ईश्वर के साथ एकात्म-भाव-स्थापन के लिए वह मूर्ति की सहायता लेता है। हिन्दुओं के एक-एक बच्चे को मालूम है कि बनारस के प्रसिद्ध मन्दिर का पत्थर काशी-विश्वनाथ नहीं है, पर उसका विश्वास है कि उस पत्थर में विशेष रूप से भगवान विश्वनाथ विराजमान हैं।

इस तरह कल्पना के घोड़े दौड़ाने में कोई हानि नहीं, लाभ ही है। पुस्तकों की दूकान पर गीता की जितनी प्रतियाँ रखी रहती हैं, उनमें वह पवित्रता का भान नहीं रहता, जो मैं अपनी गीता की पुस्तक में समझता हूँ। । तर्क से तो यह मालूम होता है कि मेरी गीता में उतनी ही पवित्रता है, जितनी और किसी में। वास्तव में पवित्रता मेरी कल्पना की वस्तु है। लेकिन ऐसी कल्पना से विलक्षण ठोस परिणाम निकलते हैं। उससे मनुष्यों के जीवन बदल जाते हैं। मेरी राय में, हम मानें न मानें हम सब मूर्ति-पूजक हैं। पुस्तक, इमारत, चित्र और नक्शा—ये सब अवश्य ही मूर्तियाँ हैं, जिनमें ईश्वर का निवास है, मगर वे ईश्वर नहीं हैं। जो यह कहता कि वे ईश्वर हैं, वह भूल करता है।

—ह० ज०। ह० से०, ९।३।१९४०]

● **हम मानें न मानें, हम सब मूर्ति-पूजक हैं।**

४५. ईशोपनिषद की शिक्षा

दम्भी व्यक्ति भी मुँह से ईश्वर का नाम लेते हैं, लेकिन बगल में छुरी हो तो वह किस काम का ? अगर हृदय से राम-नाम लिया जाय तो कभी थकान महसूस नहीं होगी।—

ईशोपनिषद् के पहिले मन्त्र में कहा गया है कि सारा जगत् ईश्वर से आच्छादित है। सब कुछ ईश्वर ही है। हमारा कुछ नहीं। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह एक बार अपना सब कुछ ईश्वर को अर्पित कर दे और उसके बाद सेवा के लिए जितनी ज़रूरत हो केवल उतनी मात्रा में लेकर उसका उपयोग करे, उससे अधिक एक कण भी न ले। दूसरों के धन की इच्छा तक न करे; सेवा के लिए उसे जितना चाहिए उसको छोड़ कर बाकी सबको पराया धन समझे। मेरा ही उदाहरण लीजिए। मैं इस महल में पड़ा हूं। इसका मतलब यह नहीं कि चूंकि यह मुझे मिल गया है, मैं सारे का सारा अपने काम में ले आऊं।

तालसताय ने अपनी एक अमर कहानी में इस सवाल का जवाब दिया है कि आदमी को कितनी जमीन चाहिए। शैतान एक आदमी को फुसलाता है और वरदान देता है कि वह एक साँस में दौड़कर जितनी जमीन घेर ले, उतनी उसकी हो जायगी। लालच का मारा बेचारा आदमी आगे दौड़ता ही जाता है। अन्त में सूर्यास्त तक जहां से चला था वहां वापस पहुंचते ही उसका दम निकल जाता है और उसे दफ़नाने के लिए सिर्फ़ छः फ़ुट जमीन काम आती है।

इसी प्रकार अगर मैं स्वयं को धोखा देकर यह मानने लगूँ कि मुझे सारे बंगले की जरूरत है, तो मेरे-जसा कोई मूर्ख नहीं। केवल उल्टी समझ का आदमी इस मन्त्र का यह अर्थ कर सकता है कि एक बार ईश्वर के सामने भोग लगाने के बाद जो चाहो, हड़प कर जाओ। यह तो मन्त्र के वास्तविक अर्थ की हँसी उड़ाना होगा। नये और चटकीले-भड़कीले कपड़े पहिनने के बदले अगर कोई फटे-पुराने किन्तु मरम्मत किये हुए कपड़े पहिने तो यह मुझे ज्यादा अच्छा लगेगा। फटे कपड़े पहिनना आलस्य की निशानी है इसलिए उसमें शर्म है। मगर टांके या पेवन्द लगे कपड़े पहिनना गरीबी या त्याग और परिश्रम की निशानी है। इसी तरह अगर कोई आदमी मुझे २५ हज़ार की रक़म दे देता है और मैं उसको अपने आनन्द-विलास में ख़र्च कर देता हूं, तो मेरी कीमत एक कौड़ी की हो जाती है। किन्तु सारी रकम हाथ में रखने पर भी मैं उसमें से अपनी ज़रूरत के लिए एक कौड़ी ही खर्च करूं तो इसमें मेरी कीमत है। तभी यह माना जायगा कि मैंने ईशोपनिषद् के मन्त्र का अर्थ समझ लिया है।

—प्रार्थना सभा, शिमला २।५।१९४६। शिमला, ३।५।१९४६। ह० से० १२।५।१९४६]

४६. मेरे राम

यह कहना नादानी है कि मैं राम—सिर्फ एक आदमी—को भगवान के साथ मिलाता हूं। मैंने कई बार स्पष्ट किया है कि मेरा राम स्वयं भगवान है।

वह पहिले था, आज भी मौजूद है और भविष्य में भी हमेशा रहेगा। वह न कभी पैदा हुआ, न किसी ने उसे बनाया। इसलिए आप भिन्न मजहबों को सहन करें और उनका आदर करें। मैं खुद मूर्तियों को नहीं मानता, मगर मैं मूर्ति-पूजकों का उतना ही आदर करता हूँ, जितना दूसरों का। जो लोग मूर्तियां पूजते हैं वे भी उसी एक भगवान को पूजते हैं, जो हर जगह है, जो उंगली से काटे गये नाखून में भी है। मेरे ऐसे मुसलमान दोस्त हैं, जिनके नाम रहीम, रहमान, करीम हैं। मैं उन्हें रहीम, करीम और रहमान कहकर पुकारता हूँ, तो क्या मैं उन्हें खुदा मान लेता हूँ ?

—साधुरखिल के प्रसिद्ध मुसलमान सलीमुल्ला साहब के बाड़े में हुई प्रार्थना सभा के प्रवचन से। ह० ज०। ह० से०, २३।२।१९४७]

● मेरा राम स्वयं भगवान है।

४७. मानव : महान शिल्पी का यन्त्र

घटनाएं जैसी होती हैं, उन पर वह (गीता का भक्त) ध्यान देता रहता है और स्वाभाविक प्रतिक्रिया करता है और अपने हिस्से को इस तरह अदा करता है, मानों वह उस महान शिल्पकार के हाथ में एक साधन हो, ठीक उसी तरह जैसे कोई अच्छी तरह काम करनेवाली मशीन कारीगर के इशारे से अपने-आप काम करती है। किसी चेतन बुद्धिमान प्राणी के लिए यन्त्र की तरह बन जाना सबसे कठिन होता है। फिर भी किसी को शून्य बनना हो, तो पूर्णता की इच्छा रखनेवाले को ठीक ऐसा ही बनना होगा। यन्त्र और मनुष्य में बड़ा भारी भेद यह है कि यन्त्र जड़ है और मनुष्य पूरी तरह चेतन है और उस महान शिल्पकार के हाथ में जानबूझ कर यन्त्र बनता है। श्रीकृष्ण तो साफ शब्दों में कहते हैं कि सब प्राणी यन्त्र के पुर्जों की तरह ईश्वर के चलाये चलते हैं।

—बापू के पत्र : मीरा के नाम, पृष्ठ २४७, संस्करण १९५९]

● सब प्राणी यन्त्र के पुर्जों की तरह ईश्वर के चलाये चलते हैं।

४८. ईश्वर : हमारा पिता

जब हम यह जानते हैं कि ईश्वर स्वयं ही रहस्यों का रहस्य है, तब उसके किसी भी कार्य से हमें व्याकुल क्यों होना चाहिए, यदि वह हमारी इच्छा के अनु-सार काम करता अथवा यदि वह ठीक हमारी तरह काम करता, तब तो न हम

उसके उत्पन्न किये हुए प्राणी होते और न वह हमारा स्रष्टा—पिता होता। हमारे आस-पास जो अभेद्य अन्धकार छाया रहता है, वह अभिशाप नहीं परन्तु वरदान है। ईश्वर ने हमें अपने सामने का एक कदम देखने की शक्ति प्रदान की है और यदि दिव्य प्रकाश उस कदम को हमारे सामने प्रकट कर देता है तो इतना बस होना चाहिए। तब हम न्यूमैन[1] के साथ गा सकते हैं, मेरे लिए एक कदम बस है। और अपने अतीत के अनुभव से हम इस बात का विश्वास रख सकते हैं कि अगला कदम सदा ही हमारी दृष्टि में होगा। दूसरे शब्दों में, अभेद्य अन्धकार इतना अभेद्य नहीं होता जितना होने की हम उसके बारे में कल्पना कर लेते हैं। परन्तु हमें वह अभेद्य उस समय दिखाई देता है जब हम अधीर बन कर उसे एक कदम से आगे देखना चाहते हैं। और ईश्वर कभी-कभी जो भौतिक आपत्तियाँ भेजता है, वे भी प्रच्छन्न रूप में वरदान ही होती हैं। वरदान वे केवल उन्हीं लोगों के लिए हो सकती हैं, जो उन्हें आत्म-निरीक्षण और आत्मशुद्धि के लिए मिली हुई चेतावनी समझते हैं।

—माई डीयर चाइल्ड, संस्करण १९५९, पृ० १०४-०५]

---

१. कार्डिनल न्यूमैन: प्रसिद्ध अंग्रेजी पादरी और कवि।
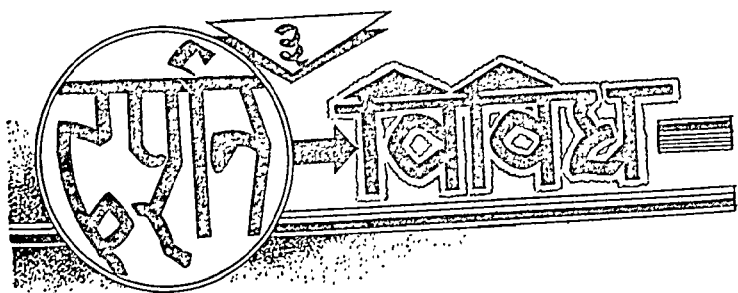
१. गीता का उपदेश

गीता कहती है कि मन[1] ही बन्धन तथा मोक्ष का कारण है। सुधन्वा खौलते तेल में डाल दिया गया था। जिस व्यक्ति ने उसे तेल में डलवाया था उसने सोचा था कि उसे इससे दुःख होगा, किन्तु सुधन्वा को उससे अपनी भक्ति की तीव्रता प्रदर्शित करने का सुअवसर मिल गया।

—श्री मगनलाल गांधी को लिखे पत्र से। फाल्गुण वदी ७ संवत १९६६। २।४।-१९१०। सं० गां० वां०, खण्ड १० पृ० २२१]

२. मानव का कर्तव्य

प्रत्येक मनुष्य को स्वयं अपनी अन्तरात्मा की आवाज़ सुननी चाहिए, स्वयं अपना स्वामी होना चाहिए और स्वयं अपने अन्तर में ईश्वर का राज्य खोजना चाहिए।

—श्री डब्ल्यू० जे० वायवर्ग को लिखे पत्र से। १०।५।१९१०। अंग्रेजी। इं० ओ०, २१।५।१९१०। सं० गां० वां०, खण्ड १०, पृष्ठ २६६]

३. वैयक्तिक साधना

[श्री मगनलाल गांधी को लिखे पत्र से]

यदि तुम आत्मा को समर्थ मानते हो तो तुम्हारी आत्मा भी वैसी ही है। मेरी आत्मा और तुम्हारी आत्मा में कोई भेद नहीं है। तुम्हारे अन्दर अनात्मा का जो अंश है यानी भीरुता, संशय, अनिश्चय, इत्यादि उसे तुम दूर कर दो, तो हम दोनों समान ही हैं। अन्तर इतना ही है कि दीर्घ प्रयत्न के बाद मैंने अपना अधिकांश मल धो डाला है। यदि तुम दृढ़तापूर्वक प्रयत्न करोगे, तो तुम भी उतना ही, बल्कि उससे अधिक धो सकोगे।

—सोमवार की रात, १७।७।१९११। सं० गां० वां०, खण्ड ११, पृष्ठ १२३]

---

१. मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

४. मिथ्यावाद

सच्चा ज्ञान तो नरसिंह मेहता और सुदामा जी ने सिखाया है, यही बात मन में जमती है। इन्द्रियों के भोगों का उपभोग करके यह कहना कि मैं कुछ नहीं करता हूँ, इन्द्रियां ही अपना काम कर रही हैं, मैं तो द्रष्टा मात्र हूँ आदि उक्तियाँ तो बिल्कुल मिथ्यावाद-जैसी हैं। ऐसे वचन तो केवल वही कह सकता है, जिसने पूरी तरह इन्द्रिय-दमन कर लिया है और जिसकी इन्द्रियां केवल शरीर-यात्रा के निमित्त व्यापार करती हैं। इस हिसाब से हममें एक भी मनुष्य ऐसी बात कहने का अधिकारी नहीं है, और जबतक हमारे जीवन में खरी गरीबी नहीं आती तबतक हममें वह योग्यता भी नहीं आ सकती। राजा आदि अपने पुण्य के प्रताप से राजा बनते हैं, ऐसा मान लेना निराधार है। कहा यही जाना चाहिए कि कर्मों के बल पर ही राज्य-पद मिलता है। परन्तु वें कर्म पुण्य-कर्म ही होते हैं, आत्मा के स्वरूप का विचार करते हुए यह कहना भी एकदम असत्य लगता है।

—श्री छगनलाल और मगनलाल गांधी को लिखे पत्र से। श्रावण बदी १४ २३।८।१९११, रात्रि ग्यारह बजे। सं० गां० वां०, खण्ड ११, पृष्ठ १४५]

५. तपश्चर्या

[श्री राव जी भाई पटेल को लिखे पत्र से]

तपश्चर्या पर आचरण करने से कितना प्राप्त होगा, इसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता। इस बात को समझना उतना ही सरल है, जितना त्रैराशिक-नियमों को समझना।

—केप टाउन, रविवार, ५।२।१९१४ के बाद। सं० गां० वां०, खण्ड १२ पृष्ठ ३४६]

६. भावना ही प्रमुख है

रामचन्द्र जी की मूर्ति के दर्शन करने की इच्छा रखने वाले तुलसीदास जी को कृष्ण की मूर्ति राम के रूप में दिखाई दी। हमारे कितने ही विद्यार्थी, यदि विद्यालय का नियम हो तो उसके पालन हेतु, बाइबिल के वर्ग में जाते हैं। फिर भी बाइबिल-ज्ञान से अछूते रहते हैं। दोष निकालने की नीयत से गीता पढ़ने वाले को गीता में दोष मिल जायंगे। मोक्ष चाहने वाले को गीता मोक्ष का सबसे अच्छा

साधन बताती है। कुछ लोगों को कुरान शरीफ़ में सिर्फ दोष ही दोष दिखाई देते हैं, दूसरे उसे पढ़ कर और मनन करके संसार-सागर से पार होते हैं।...
—बिहार छात्र सम्मेलन में दिये गये भाषण से। भागलपुर, १५।१०।१९१७। गुजराती। 'महात्मा गांधी नी विचारसृष्टि।' सं० गां० वां०, खण्ड १४, पृष्ठ ८]

७. ईश्वर की शोध

मेरा विश्वास है कि यदि हम मनुष्य से डरना छोड़ दें और केवल ईश्वर के सत्य की ही शोध करें, तो हम सब ईश्वर के दूत बन सकते हैं। मेरा अवश्य ही यह विश्वास है कि मैं केवल ईश्वर के सत्य की ही शोध में लगा हुआ हूं और मैंने मनुष्य का डर बिल्कुल छोड़ दिया है।
—यं० इं०, २५।५।१९२१]

८. मेरे राम

...राम तो मेरे हृदय में राज्य कर रहे हैं।...मेरे न मां हैं, न बाप और न भाई। मैं छत्रहीन हूँ। राम ही मेरे सर्वस्व हैं। वही मां हैं, बाप हैं, भाई हैं, सर्वस्व हैं। मैं उसी का जिलाया जीता हूँ। सारी स्त्री जाति में मुझे वही दिखाई देता है। इस कारण मैं समस्त स्त्रियों को मां या बहिन के समान मानता हूँ। मैं सभी पुरुषों में उसी को देखता हूँ। इसलिए सब को अवस्था के अनुसार बाप, भाई या पुत्र की तरह मानता हूँ। मैं उसी राम को भंगी और ब्राह्मण में देखता हूँ। इसलिए दोनों की वन्दना करता हूँ।
—न० जी०। हि० न० जी० ८।६।१९२४]

९. सृजनकर्ता का यशोगान

जब मैं सूर्यास्त के रंगों का अनोखा वैभव या चन्द्रमा की शोभा निहारता हूँ तब मेरी आत्मा सिरजनहार की पूजा में फूल उठती है। इन सारी रचनाओं में मैं उसके और उसकी दया के दर्शन करने का प्रयत्न करता हूँ।
—यं० इं०, १३।११।१९२४]

१०. ईश्वर का स्वरूप

ईश्वरीय अनुग्रह और प्रकाश का ठीका किसी एक कौम या जाति को नहीं है। वे बिना भेदभाव उन सब बन्दों को प्राप्त होते हैं जो उसकी सेवा में उपस्थित रहते हैं। उस जाति और धर्म का नामोनिशान दुनिया के पर्दे से मिटे बिना नहीं रहेगा जो अपना दारोमदार अन्याय, असत्य और पशुबल पर रखता है। ईश्वर प्रकाश है, अन्धकार नहीं। वह प्रेम है, घृणा नहीं; सत्य है, असत्य नहीं। केवल ईश्वर ही महान है। हम सब उसके बन्दे हैं; उसकी चरण-रज हैं। आइए, हम सब मिलकर नम्र बनें और ईश्वर के छोटे-से-छोटे बन्दे के भी इस संसार में रहने के अधिकार को स्वीकार करें। श्रीकृष्ण ने फटे-पुराने चीथड़े पहने हुए सुदामा का वह स्वागत-सत्कार किया, जो किसी का नहीं किया। गोस्वामी तुलसीदास जी का कथन है, 'दया धर्म को मूल है देह मूल अभिमान।'

—उनतालीसवीं राष्ट्रीय महासभा-बेलगांव में दिये गये अध्यक्षीय भाषण से।

—हिं० न० जी०, २६।१२।१९२४]

- **ईश्वर प्रकाश है, अन्धकार नहीं। वह प्रेम है, घृणा नहीं; सत्य है, असत्य नहीं।**

११. धर्मग्रन्थों का भाव ही ग्राह्य है

मैं अक्षरवादी नहीं हूँ। इसलिए मैं संसार के विभिन्न धर्मग्रन्थों का भाव समझने की कोशिश करता हूँ। अर्थ लगाने के लिए मैं—इन शास्त्रों ने सत्य और अहिंसा की जो कसौटी बताई है, उसी का उपयोग करता हूँ। उस कसौटी पर जो चीज खरी नहीं उतरती उसे मैं अस्वीकार कर देता हूँ और जो खरी उतरती है, उसकी कद्र करता हूँ।

ज्ञान पर किसी वर्ग या समुदाय का विशेषाधिकार नहीं हो सकता। लेकिन मैं यह मान सकता हूँ कि जबतक लोगों को प्रारम्भिक तालीम न मिल जाय तबतक वे ऊंचे या सूक्ष्म सत्यों का आकलन नहीं कर सकते। जैसे कि प्रारम्भिक तैयारी न करने वाले लोग बहुत ऊंचाई पर रहने वाले सूक्ष्म वायुमण्डल में साँस नहीं ले सकते या सामान्य गणित की प्रारम्भिक शिक्षा न पाने वाले उच्च भूमिति या बीजगणित को समझने या पचाने की शक्ति नहीं रखते।

—यं० इं०, २७।८।१९२५]

१२. आत्मा की गति

[प्रश्नोत्तर]

प्रश्न—धार्मिक प्रश्नों के लेख में अपने लिखा है कि आत्मा एक ही हो तो उसका अनेक आत्मा के रूप में असंख्य योनियों में भ्रमण करना असम्भव नहीं गिना जाना चाहिए। तो क्या एक ही आत्मा मनुष्य की देह से निकल कर पशु-योनि अथवा वनस्पति में जन्म ले सकती है? . . .

उत्तर—मेरी यह मान्यता अवश्य है कि मनुष्य योनि में जन्म लेने के बाद पशु वनस्पति आदि योनियों में भी आत्मा का पतन हो सकता है।

—न० जी०। हि० न० जी०, ८।४।१९२६]

१३. आध्यात्मिक शंकाएं

[कुछ प्रश्नोत्तर]

प्रश्न—परमेश्वर का ध्यान करना चाहिए या नहीं?

उत्तर—बेशक, परमेश्वर के रूप को बुद्धि-द्वारा जान कर हृदयंगम करने के लिए ध्यान करना जरूरी है।

प्रश्न—अगर ध्यान करना जरूरी है तो किस प्रकार?

उत्तर—परमेश्वर निरंजन, निराकार और ध्यान से भी परे है। अव्यक्त मार्ग देहधारियों के लिए दुःखमय है। इसलिए उन्हें सगुण व्यक्त रूप का ध्यान करना चाहिए। इस युग में और इस देश में तो वह दरिद्रनारायण के ही रूप में दिखाई देता है। इसलिए उसका ध्यान करने का मार्ग दरिद्रों की सेवा करना है। यह सेवा अनेक रीतियों से हो सकती है।

प्रश्न—ईश्वर का रूप कैसा है?

उत्तर—इस प्रश्न का उत्तर ऊपर दिया जा चुका है, इसलिए अब देने की जरूरत नहीं रहती। किन्तु फिर भी कहता हूं कि वह अपना स्वरूप स्वयं ही जानता है या जो मनुष्य उसे जान सके हैं, वे समझा नहीं सकते। वह शब्दों से परे है। उसका परिचय देने योग्य भाषा अभी नहीं बनी। इसीलिए हमें जैसा अनुकूल पड़ता है उसे हम मत्स्य, वाराह, नृसिंह और मनुष्य के रूप में पूजते हैं। ऐसा करने में हम सभी खोटे और सच्चे हैं। अपनी-अपनी दृष्टि में सभी सच्चे, विरोधी की दृष्टि में झूठे और परमात्मा की दृष्टि में सच्चे भी और झूठे भी हैं।

—न० जी०। हि० न० जी०, २३।९।१९२६]

- परमेश्वर निरंजन, निराकार और ध्यान से भी परे है।
- वह (परमेश्वर) अपना स्वरूप स्वयं ही जानता है।

१४. अस्तित्व-विस्मृति

'मैं-पन' भूल जाओ। इतना कर लो तो कहीं भी जा सकती हो।

—बोलगढ़, १२।१२।१९२७। 'बापू के पत्र : आश्रम की बहिनों को' पृष्ठ ५९, न० जी० प्र० मं०]

१५. जन्म और मोक्ष

अगर मोक्ष के लिए सतत प्रयत्न न हो, तो जन्म तो अनिवार्य है ही। और जन्म हमें अच्छा लगता है, इसलिए किसी भी तरह दुःख का कारण नहीं। दुःख हमारी मूर्च्छा में है। यह समझ कर मैंने अपना एक भी काम क्षण भर के लिए भी नहीं रोका।

—११।२।१९२९। 'बापू के पत्र : आश्रम की बहिनों को' पृष्ठ ७२, न० जी० प्र० मं०]

१६. आत्मा का मिलन

[सुश्री मीरा बहिन को लिखे पत्र से]

आत्मा का आत्मा से मिलन होना अधिक अच्छा है। इस सुखद मिलन को कोई सत्ता रोक नहीं सकती।

—यरवदा मन्दिर, २०।७।१९३०। 'बापू के पत्र : मीरा के नाम', पृष्ठ ९२, न० जी० प्र० मं०]

१७. ॐकार की महत्ता

वेदों ने ब्रह्म का वर्णन ॐ तत्सत रूप से किया है, अतः श्रद्धालु को चाहिए कि यज्ञ, दान, तप आदि क्रिया इसका उच्चारण करके करे। ॐ—अर्थात् एकाक्षरी ब्रह्म। तत् अर्थात् वह। सत् अर्थात् सत्य, कल्याणरूप। अर्थ यह कि ईश्वर एक है, यही है, यही सत्य है, यही कल्याण करने वाला है।

—यरवदा मन्दिर, १४।२।१९३२। 'गीता-बोध', पृष्ठ ७९, स० सा० मं० दसवां संस्करण १९५४]

१८. सत्य-रूप ईश्वर

[आश्रम के बच्चों को लिखे पत्र से]

ईश्वर सत्य है यह कहने के बजाय मैं यह कहता हूँ कि सत्य ईश्वर है। मुझे हमेशा ऐसा नहीं सूझा था। सूझ तो चार-एक वर्ष पहिले ही पड़ी। मगर अन-जान में ही मेरा वर्ताव इसी किस्म का रहा है। ईश्वर को मैंने सत्य के ही रूप में जाना है। एक समय ऐसा था, जब ईश्वर की हस्ती के विषय में शंका थी। मगर सत्य की हस्ती के बारे में कभी नहीं थी। यह सत्य केवल जड़ गुण नहीं बल्कि शुद्ध चैतन्यमय गुण है। वही राज्य करता है, इसलिए ईश्वर है। यह विचार दिल में पैठ गया हो, तो तुम्हारे दूसरे सवालों का जवाब इसी में आ जाता है।—मेरे लिए तो यह अनुभवगम्य-जैसा है। 'जैसा' इसलिए कहता हूँ कि मैंने सत्य-देव का साक्षात्कार नहीं किया है। सिर्फ झांकी हुई है। श्रद्धा अटल है।

—२१।३।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ २७]

१९. मृत्यु

[श्री जुगतराम को लिखे पत्र से]

...मौत का अफसोस किसलिए? मरने लायक मृत्यु स्वागत-योग्य है। जो मरते हैं वे फिर जन्म लेने के लिए ही न? इसलिए खेद का कोई कारण नहीं है।

—२१।३।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ २६-२७]

२०. प्रभु-साक्षात्कार

[सुश्री हेमप्रभा देवी द्वारा पत्र में पूछे गये प्रश्न का लिखित उत्तर]

प्रश्न—इस मानव-देह में प्रभु के दर्शन हो सकते हैं?

उत्तर—मनुष्य-देह में ईश्वर-दर्शन होगा या नहीं, यह प्रश्न गीता-भक्त के मन में पैदा ही नहीं होता, क्योंकि वह कर्म का अधिकारी है, फल का कभी नहीं। और जिस बात का अधिकार नहीं है, उसका विचार क्यों किया जाय? फिर भी मेरी राय है कि देह रहते पूर्ण साक्षात्कार असम्भव है। हम ठेठ उसके पास तक जरूर पहुंच सकते हैं, मगर शरीर का अस्तित्व होने से द्वार-प्रवेश असम्भव मालूम होता है : ईश्वर-विरह का दुःख तो हमें सदा ही रहना चाहिए। वह न रहेगा तो

प्रयत्न बन्द हो जायगा या शिथिल पड़ जायगा। विरह-दुःख का परिणाम निराशा नहीं, आशा होना चाहिए; मन्दता नहीं, अधिकाधिक उद्यम होना चाहिए। कोशिश थोड़ी भले ही हो, परन्तु वह बेकार नहीं जाती। यह भगवान की प्रतिज्ञा है। इसलिए हमारा विरह-दुःख भी आनन्ददायक हो जाना चाहिए। क्योंकि हमें विश्वास होना चाहिए कि किसी-न-किसी दिन साक्षात्कार हुए विना नहीं रहेगा।

—२२।३।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ ३१]

- वह (गीता-भक्त) कर्म का अधिकारी है, फल का कभी नहीं।
- देह रहते पूर्ण (ईश्वर का) साक्षात्कार असम्भव है।
- ईश्वर-विरह का दुःख तो हमें सदा ही रहना चाहिए।
- विरह-दुःख का परिणाम निराशा नहीं आशा होना चाहिए।

२१. ईश्वर और विज्ञान

[एक एम० ए०, बी० एस-सी० तक शिक्षा प्राप्त भाई ने गांधी जी को लिखा, 'बहुत विज्ञान पढ़ने के बाद ईश्वर पर श्रद्धा नहीं जमती। मगर ऐसा लगता है कि (श्रद्धा) होनी चाहिए। इसका क्या उपाय है?' गांधी जी ने इस शंकित मनःस्थिति वाले भाई को निम्नलिखित उत्तर दिया—सम्पा०]

तुम्हारा करुण पत्र मिला। ईश्वर तो अन्तर में है। इसलिए भौतिक विज्ञान के कुछ भी शोधन किये जायं, तो भी उनसे ईश्वर पर जीवित श्रद्धा नहीं हो सकती। अलबत्ता, कुछ लोगों को भौतिक विज्ञान से जरूर मदद मिली है, मगर उनकी गिनती अंगुलियों पर की जा सकती है। तुम्हें मेरा सुझाव तो यह है कि ईश्वर के अस्तित्व के बारे में तर्क न करो—जैसे हम अपनी हस्ती के बारे में दलील नहीं करते। यूक्लिड के स्वयंसिद्ध सूत्र की तरह यह मान ही लो कि ईश्वर है, क्योंकि असंख्य धर्मात्मा ऐसा कह गये हैं और उनका जीवन इस बात का असन्दिग्ध प्रमाण है। तुम अपनी श्रद्धा के प्रमाण-स्वरूप रोज सुबह-शाम पन्द्रह-पन्द्रह मिनट राम-नाम जपो और रामायण के पाठ में रमे रहो।

—२५।४।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ ११७]

- ईश्वर तो अन्तर में है।

२२. तर्क और भक्ति

[श्री पुरुषोत्तम के पत्र के उत्तर में लिखित पत्र से]

'जैन दर्शन में शुद्ध न्याय पर जोर है'—इस वाक्य के बारे में जरा गलतफ़हमी हुई है। 'शुद्ध न्याय' का अर्थ शुद्ध नीति और शुद्ध निर्णय हो सकता है।

और आम तौर पर इस शब्द को हम इसी अर्थ में समझते हैं। मगर मैंने इस अर्थ में इस्तेमाल नहीं किया है। मेरा मतलब यह कहने का था कि जैन दर्शन में 'तर्क' पर ज्यादा जोर दिया जाता है। लेकिन 'तर्क' से कभी-कभी उल्टे निर्णय हो जाते हैं और भयंकर परिणाम निकल आते हैं। इसमें दोष तर्क का नहीं है। मगर शुद्ध निर्णय पर पहुंचने के लिए जो सामग्री होनी चाहिए वह हमेशा नहीं होती। फिर, यह भी नहीं होता कि लिखने या बोलने वाला खास शब्द खास अर्थ में इस्ते-माल करे, तो पढ़ने या सुननेवाला भी वही अर्थ समझे। इसलिए हृदय को यानी भक्ति, श्रद्धा और अनुभव-ज्ञान को आगे रखा गया है। तर्क केवल बुद्धि का विषय है। हृदय को जो चीज सिद्ध हो गई है, वहां तर्क यानी बुद्धि नहीं पहुँच सकती; उसकी बिल्कुल जरूरत नहीं है। लेकिन इसके विपरीत किसी बात को बुद्धि मान ले, मगर वह हृदय में न उतरे तो त्याज्य हो जाती है। मैंने यह जो कहा है उसे स्पष्ट करने के लिए तू अपने-आप अनेक उदाहरण गढ़ सकेगा। मैंने अभी जिस अर्थ में 'न्याय' शब्द इस्तेमाल किया है, उस अर्थ में यह कभी साध्य वस्तु नहीं हो सकती। न्याय और निष्काम कर्मयोग, दोनों, साधन हैं। न्याय बुद्धि का विषय है; निष्काम कर्मयोग हृदय का है। बुद्धि से हम निष्कामता तक नहीं पहुँच सकते।

—१२।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ १४८]

- **शुद्ध न्याय का अर्थ शुद्ध नीति और शुद्ध निर्णय हो सकता है।**
- **तर्क से कभी-कभी उल्टे निर्णय हो जाते हैं और भयंकर परिणाम निकल आते हैं।**
- **हृदय को यानी भक्ति, श्रद्धा और अनुभव-ज्ञान को आगे रखा गया है।**
- **न्याय और निष्काम कर्मयोग, दोनों, साधन हैं।**
- **बुद्धि से हम निष्कामता तक नहीं पहुँच सकते।**

२३. आयु-सीमा

पूर्णायु सौ वर्ष से भी ज्यादा हो सकती है। मगर कितने ही वर्ष हो तो भी कालचक्र अनन्त है और उसमें मनुष्य के एक आयुष्य की गिनती एक बिन्दु का करो-ड़वां भाग भी नहीं है। इसके लिए मोह क्या, या हिसाब क्या? और हम हिसाब लगायें भी तो वह किसी भी तरह निश्चयात्मक नहीं हो सकता। अनुमान से इतना कहा जा सकता है कि ज्यादा-से-ज्यादा उम्र कितनी हो। वैसे तो हम तन्दु-रुस्त बच्चों को भी मरते देखते हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि विषयी

दीर्घायु नहीं हो सकता। अधिक से अधिक यह कह सकते हैं कि जिनका जीवन शुरू से ही सादा और विषय-रहित होगा वे ज्यादातर दीर्घजीवी होंगे। मगर जो आदमी सिर्फ दीर्घजीवी बनने के लिए विषयों पर काबू करता है, उसके लिए यही कहा जायगा कि उसने चूहे के लिए पहाड़ खोदने का काम किया। विषयों को हमें जीतना है आत्मा को पहिचानने के लिए। विषयों को जीतने की कोशिश में शरीर ज्यादा दिन रहने के बजाय थोड़े दिन रहे, तो वैसा होने देना चाहिए। शरीर का निरोगी या दीर्घायु होना विषयरहित होने का छोटे-से-छोटा परिणाम है।

— १९।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ १६०-१६१]

- कालचक्र अनन्त है।
- शरीर का निरोगी या दीर्घायु होना विषयरहित होने का छोटे-से-छोटा परिणाम है।

२४. किस प्रतीक की उपासना करें ?

[श्री प्रभुदास ने पत्र लिखकर गांधी जी से पूछा था कि गीता में 'मामेकं शरणं व्रज' आता है, 'मत्परः' आता है, इसमें 'मत्परः' का क्या अर्थ है? आप ईश्वर का अर्थ सत्य बताते हैं, तो मनुष्य सत्य का प्र ीक क्या बनाये? राम-नाम जपे पर राम कौन?'' इस प्रश्नों का गांधी जी ने जो उत्तर दिया, वह संकलित किया जा रहा है।—सम्पा०]

मत्परः यानी सत्यपरायण। 'चरणपद्मे मम चित्त निष्पन्दित करो हे'— इसमें चरणपद्म का अर्थ है सत्यनारायण का चरणकमल। यह शब्द इस्तेमाल करके भक्त ने सत्य को मूर्तिमान बना दिया है। सत्य तो अमूर्त्त है। इसलिए सब लोग अपने को ठीक लगे, ऐसी सत्य की मूर्ति की कल्पना कर लें। यह समझ लेने के बाद असंख्य मनुष्य असंख्य मूर्तियों की कल्पना कर सकते हैं। जबतक ये सब कल्पनाएं ही रहेंगी, तबतक सच्ची ही हैं, क्योंकि इस मूर्ति से मनुष्य को अपने लिए जो-कुछ चाहिए सो मिल जाता है। असल में तो विष्णु, महेश्वर ब्रह्मा, भगवान, ईश्वर—ये सब नाम बिना अर्थ के या अधूरे अर्थ वाले हैं। सत्य ही पूरे अर्थवाला नाम है।

कोई यह कहे कि मैं भगवान के लिए मरूंगा, तो इसका अर्थ वह खुद नहीं समझा सकता और सुननेवाला भी शायद ही समझेगा। मैं सत्य के लिए मरूंगा, यह कहनेवाला खुद समझता है और बहुत-कुछ सुननेवाला भी समझ सकेगा।

तू पूछता है कि राम का अर्थ क्या ? इसका अर्थ मैं समझाऊं और तू उसका जप करे, तो यह लगभग निरर्थक है। मगर तू जिसे भजना चाहता है वह राम है, यह समझ कर राम-नाम जपेगा तभी वह तेरे लिए कामधेनु हो सकता है। तू ऐसे संकल्प के साथ जप फिर भले ही तोते की तरह रटता हो। तेरे जप के पीछे संकल्प है; तोते की रटन के पीछे संकल्प नहीं है। यह बड़ा फर्क है। यहां तक कि संकल्प के कारण तू तर जा सकता है। तोता संकल्परहित होने पर थक कर अपनी रटन छोड़ देगा, या मालिक के लिए करता होगा तो अपना रोज का खाना-पीना लेकर चुप हो जायगा। इस दृष्टि से तुझे किसी प्रतीक की जरूरत नहीं और इसीलिए तुलसीदास ने राम से राम के नाम की महिमा अधिक बतलाई है। यानी यह बताया कि राम का अर्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। अर्थ तो भक्त अपनी भक्ति के अनुसार बाद में पैदा कर लेगा। यही तो इस तरह के जप की खूबी है, नहीं तो यह कहना साबित ही नहीं हो सकता कि जड़-से-जड़ मनुष्य में भी चेतनता आ सकती है। शर्त एक ही है कि नाम का जप किसी को दिखाने के लिए न हो, किसी को धोखा देने के लिए न हो। मैंने बताया उस ढंग से संकल्प और श्रद्धा के साथ जपना चाहिए। मुझे इसमें कोई शंका नहीं कि जो आदमी इस तरह जपते हुए नहीं थकता, उस आदमी के लिए वह कल्पतरु हो जाता है। जिन्हें धीरज होगा वे सब अपने लिए सिद्ध कर सकते हैं।

प्रथम तो किसी का दिनों और किसी का वर्षों तक इस जप के समय मन भटका करेगा, बेचैन रहेगा और नींद आयेगी और इससे भी ज्यादा दुःखद परिणाम आयेगा। फिर भी जो आदमी जपता ही रहेगा उसे यह तप जरूर फलेगा। यह निःसन्देह बात है।—श्रद्धा जम जाय तो चलते-फिरते, खाते-पीते, सोते-उठते यही रटन लगा और हारने का नाम न ले। भले ही सारा जन्म इसी में बीत जाय। यह करता रह और इस बारे में तनिक भी शंका न रख कि तुझे दिन-दिन अधिक शान्ति मिलेगी :

—२०।५।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ १६१-१६२]

- असल में तो विष्णु, महेश्वर, ब्रह्मा, भगवान, ईश्वर—ये सब नाम बिना अर्थ के या अधूरे अर्थवाले हैं। 'सत्य' ही पूरे अर्थवाला नाम है।
- राम का अर्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। अर्थ तो भक्त अपनी भक्ति के अनुसार बाद में पैदा कर लेगा।
- नाम का जप किसी को दिखाने के लिए न हो, किसी को धोखा देने के लिए न हो।

२५. जीवन का ध्येय

[एक स्त्री को उत्तर]

जीवन का ध्येय बेशक खुद अपने को—आत्मा को पहिचानना है। जबतक हम प्राणिमात्र के साथ एकता महसूस करना न सीख लें, तबतक आत्मा को पहिचान नहीं सकते। ऐसे जीवन का समग्र योग ही ईश्वर है। इसीलिए हम सब में रहने वाले ईश्वर को जानना जरूरी है। ऐसा ज्ञान आत्यन्तिक और निःस्वार्थ सेवा से ही मिल सकता है।

—२१।६।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ २३८]

● जीवन का समग्र योग ही ईश्वर है।

२६. अनासक्ति

[एक पत्रांश]

अनासक्ति का अर्थ बेशक यह है कि अपने और अपनों के प्रति हम अनासक्त रहें। 'पर' के प्रति यानी सत्य के प्रति, ईश्वर के प्रति आसक्ति हो और वह यहां तक कि तन्मय हो जायं, तद्रूप हो जायं।

—२५।६।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ २५०]

२७. ईश्वर एवं सत्य

[श्री मैथ्यू को लिखे पत्र से]

ईश्वर सत्य है, इसमें "है" का अर्थ "बराबर" है। मगर इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि ईश्वर सत्यमय है। सत्य ईश्वर का केवल एक गुण या एक विभूति नहीं है, बल्कि सत्य ही ईश्वर है। अगर वह सत्य नहीं है तो कुछ भी नहीं है।—

—९।७।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ २७५]

२८. जन्म-मृत्यु

[श्री छगनलाल जोशी को लिखे पत्र से]

समझने वाले के लिए जन्म-मरण बराबर है। इसलिए राम जी को आगे रखा है।

—१०।७।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ २८०]

२९. ईश्वर और उसका क़ानून

[सुश्री शीरीनबाई को लिखे पत्र से]

हम ईश्वर को उलाहना देते हैं। उसके दोष निकालते हैं और उसका अस्तित्व मानने से इन्कार करते हैं और वह हमें यह सब कुछ करने देता है। मगर ऐसा करना हमारा अज्ञान है। हम रोज सुबह प्रार्थना में एक सुन्दर संस्कृत श्लोक बोलते हैं:—

विपदो नैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः।
विपद विस्मरणं विष्णोस्सम्पन्नारायणस्मृतिः॥

और क्या उस अंग्रेज कवि ने भी नहीं कहा है कि 'चीजें जैसी दीखती हैं वैसी नहीं होतीं।' बात यह है कि ईश्वर के सारे कानून हम जानते हों, तभी हमें उन बातों का अर्थ मिल सकता है जो साधारण हालत में हमारी समझ में नहीं आतीं। हम इतना तो जानते ही हैं या हमें जानना चाहिए कि ईश्वर पूरी तरह भला और न्यायी है।...जीवन का अर्थ है यम-नियम। उसके लिए हमें कष्ट की आग में से गुजरना पड़ता है।...

—२५।७।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ ३२२]

- **ईश्वर पूरी तरह भला और न्यायी है।**
- **जीवन का अर्थ है यम-नियम।**

३०. ईश्वर

[एक पत्रांश]

...ईश्वर तो सभी के सिर पर है। यानी हम घोर अज्ञान के कारण अपने को अनाथ मानते हैं।...सच्चा कवच हमारी श्रद्धा है। मनुष्य-शरीर की हस्ती काँच के कंगन से भी वहुत कम है। काँच का कंगन यत्न के साथ रखने से सैकड़ों वर्ष तक चल सकता है। मनुष्य का शरीर कितना भी यत्न किया जाय, तो भी एक खास हद से आगे जा ही नहीं सकता, और उस मर्यादा के अन्दर भी चाहे जब नष्ट हो सकता है। ऐसी चीज पर भरोसा क्या किया जाय?

—७।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ ३४७]

- **मनुष्य-शरीर की हस्ती काँच के कंगन से भी वहुत कम है।**

३१. अन्तर का स्वर

[सुश्री प्रेमा बहिन कंटक को लिखे पत्र से]

अन्दर की आवाज़ ऐसी चीज है, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। मगर कई बार हमें ऐसा ख़याल होता है कि भीतर से अमुक प्रेरणा हुई है। मैंने जब उसे पहिचानना सीखा वह मेरा प्रार्थना-काल कहा जा सकता है—यानी १९०६ के आस-पास। तू पूछती है इसलिए याद करके यह लिख रहा हूँ। बाक़ी वैसे मुझे कुछ ऐसा भान हुआ हो कि 'अरे आज तो कोई नया अनुभव हुआ,' सो बात तो मेरे जीवन में नहीं है। जैसे हमारे बाल अनजाने बढ़ते हैं, वैसे ही मैं मानता हूँ कि मेरा आध्यात्मिक जीवन बढ़ा है।

—७।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ ३४५-३४६]

● **अन्दर की आवाज़ ऐसी चीज है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता।**

३२. शरीर के प्रति दृष्टिकोण

[एक पत्रांश]

. . .की लाश देखने गई, यह अच्छा किया। इस हालत में हम सबको किसी दिन पहुँचना है। और यह इच्छा होनी चाहिए कि वहाँ पहुँचने का समय आये तो हम खुश होकर यह घर छोड़ें। जहाँ तक हो सके उसे (घर-रूपी शरीर को) साफ़, पवित्र और तन्दुरुस्त रखें। मगर जाय तब जाने दें। यह हमें बरतने के लिए मिला है। देने वाले को जब ले जाना हो तब खुशी से ले जाय। हमें उसका उपयोग भी सेवा के लिए ही करना है, अपने भोगों के लिए नहीं।

—७।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ ३४६]

३३. दुःखानुभूति

[श्री छगनलाल जोशी को लिखे पत्र से]

जो खुद होकर दुःख अपने सिर ले, उनके मन में भी दुःख की शिकायत नहीं होती। उल्टे वह दुःख सुख-जैसा लगना चाहिए। उबलते तेल के कड़ाह में सुधन्वा कैसे नहाये होंगे? प्रह्लाद ने जलते हुए लाल लोहे के खम्भे का आलिंगन कैसे किया होगा? इन्हें बनावटी किस्से न मानना, क्योंकि ऐसा आज भी हो

सकता है। रिडली, लेटिमर, मंसूर के उदाहरण तो ऐतिहासिक हैं। दूसरे तुम खुद याद कर सकते हो।

—१४।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ ३५५]

३४. काल-चक्र और हमारा अस्तित्व

[श्री बालकृष्ण को लिखे पत्र से]

मेरी राय यह है कि हमारी उम्र का पैमाना छोटा-बड़ा हो सकता है। असल में हर देह अपने सारे धर्मों के साथ उत्पन्न होती है। हम नहीं जानते वे क्या हैं? उन्हें जानने की जरूरत भी नहीं है।

काल के विभाग मनुष्य के किये हुए हैं और वे कालचक्र में रजकण से भी छोटे हैं। हमारी गिनती के करोड़ों हिमालय जमा करें, तो भी वे कालचक्र से छोटे हैं। इसलिए मनुष्य के हाथ में जो कुछ है, वह नहीं के वरावर है। भले ही वह उसी में मस्त रहे।

—२०।८।१९३२। म० भा० डा०, भाग १, पृष्ठ ३६६]

- **देह अपने सारे धर्मों के साथ उत्पन्न होती है।**
- **काल के विभाग कालचक्र में रजकण से भी छोटे हैं।**
- **मनुष्य के हाथ में जो कुछ है वह नहीं के वरावर है।**

३५. गीता का चमत्कारिक श्लोक

गीता जी के तीसरे अध्याय का पांचवा श्लोक[1] वहुत ही चमत्कारिक है। भौतिकशास्त्री वता चुके हैं कि इसमें वर्णित सिद्धान्त सर्वव्यापक हैं। इसका अर्थ यह है कि कोई भी आदमी एक क्षण भी कर्म किये विना नहीं रह सकता। कर्म का अर्थ है गति और यह नियम जड़-चेतन सवके लिए लागू है। मनुष्य इस नियम पर निष्काम भाव से चलता है तो यही उसका ज्ञान और यही उसकी विशेषता है। इसी की पूर्ति में ईशोपनिषद् के दो मन्त्र हैं। वे भी इतने ही चमत्कारी हैं।

—२३।८।१९३२। 'महादेव भाईनी डायरी', भाग १, पृष्ठ ३७४]

---

१. न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।

- कोई भी आदमी एक क्षण भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता।
- कर्म का अर्थ है गति और यह नियम जड़-चेतन सबके लिए लागू है।

३६. मन्दिर एवं मूर्तिपूजा : एक दृष्टिकोण

[एक पत्रांश]

मूर्तिपूजा और आश्रम में मन्दिर और मूर्ति-स्थापना के बारे में मेरे विचार बन चुके हैं। अपने बारे में मैंने कहा है कि मैं मूर्तिपूजक और मूर्तिभंजक दोनों हूँ। शरीरधारी की कल्पना का ईश्वर मूर्तिमान होगा ही। वह मूर्तिभाव से उसकी कल्पना में बसता भी जरूर है। इस प्रकार मैं मूर्तिपूजक हूँ। मगर एक भी रूप को—आकृति को—परमेश्वर के रूप में पूजने के लिए मेरे मन ने कभी 'हां' नहीं की। वहाँ मेरे मन में "नेति-नेति" होता है। इसलिए मैंने हमेशा अपने को मूर्तिभंजक माना है। इस तरह के विचार के बारे में मेरे मन में हमेशा यह रहा है कि हम आश्रम में मन्दिर न बनायें। इसीलिए प्रार्थना के लिए भी मकान नहीं बनाया गया। आकाश की छत और दिशाओं की दीवार बनाकर हम उसमें बैठ गये। अगर सब धर्मों के प्रति समभाव रखना हो, तो हमारी यही स्थिति होनी चाहिए। आजकल वेदादि में चंचुपात कर रहा हूँ। वहां भी यही देख रहा हूँ। कहीं भी मूर्तिपूजा के लिए स्थान नहीं देखता। फिर भी हिन्दू-धर्म में मूर्ति के लिए स्थान है, इसलिए हम उसका द्रोह न करें। उसकी पूजा आवश्यक नहीं, ऐच्छिक है। इसलिए मुझे लगता है कि हम समाज के रूप में मन्दिर से अलग रहें तो अच्छा है।...

—११।९।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृष्ठ १६]

- मैं मूर्तिपूजक और मूर्तिभंजक दोनों हूँ।
- शरीरधारी की कल्पना का ईश्वर मूर्तिमान होगा ही।
- हिन्दू-धर्म में मूर्ति के लिए स्थान है—इसलिए हम उसका द्रोह न करें।
- उसकी (मूर्ति की) पूजा आवश्यक नहीं, ऐच्छिक है।
- हम समाज के रूप में मन्दिर से अलग रहें तो अच्छा है।

३७. ईश्वर-दर्शन

[सन्त मेहरबाबा गांधी जी को यदि वे चालीस दिन का उपवास कर लें तो ईश्वर-दर्शन कराने का आश्वासन देते थे। सन्त के शिष्य श्री दादाचान जी को

पत्र लिखते हुए गांधी जी ने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित विचार व्यक्त किये--सम्पा०]

...यह मानने में मुझे बड़ा संकोच है कि कोई दूसरे को ईश्वर-दर्शन करा सकता है। हृदय इन्कार करता है। मगर जब बाबा ऐसा दावा करते हैं, तब मैं कहता हूँ;—"आप मुझे ईश्वर-दर्शन करा दें, तो बहुत अच्छा है।" जो कहता है कि मैंने ईश्वर-दर्शन किया है उसने किया ही है, यह मानना जरूरी नहीं है। ईश्वर-दर्शन किया है—ऐसा कहने वाले बहुत से तो भ्रम में पड़े हुए पाये गये हैं। बहुतों के लिए यह केवल अपने मन का प्रतिबिम्ब होता है। यह तो मैं मानता ही नहीं कि ईश्वर-दर्शन का अर्थ किसी बाहरी शक्ति का दर्शन है। क्योंकि मेरा यह खयाल है कि ईश्वर तो हम सब में बसता ही है, परन्तु उसे हृदय से कोई-कोई ही पहिचानते हैं। बुद्धि से पहिचानना काफ़ी नहीं है। मुझे ऐसा महसूस हुआ करता है कि यह दर्शन कोई किसी को नहीं करा सकता।

ईश्वर के दर्शन के लिए किसी के कराये उपवास नहीं हो सकते। मुझे अन्त-प्रेरणा हो, तभी हो सकते हैं। ऐसी प्रेरणा होने पर मैं किसी के रोके रुकनेवाला नहीं हूं। यह मान लेने का कोई कारण नहीं कि उपवास करने से ईश्वर-दर्शन हो जायगा। यह बात मेरे दिल में नहीं उतरती कि मेरे चालीस दिन के उपवास करने के बदले ये बाबा ईश्वर-दर्शन करा सकते हैं। यह बदला तो आसान है। ऐसा होता हो तो मेरी निगाह में ईश्वर-दर्शन की कोई कीमत नहीं।

मैं तो आज तक यह मानता आया हूं कि बाबा जीवन के विभाग[1] नहीं करते। जिसका जीवन धर्म से रँगा हुआ है, उसके खयाल में राजनीति और अर्थशास्त्र सब धर्म के अंग हैं, और उनमें से एक को भी छोड़ नहीं सकता। मेरी मति के अनुसार जो धर्म को बहुत-सी प्रवृत्तियों में से एक प्रवृत्ति मानता है वह धर्म को जानता ही नहीं।...अपने धर्म के पालन के लिए ही मैं राजनीति और समाजसेवा इत्यादि में पड़ा हुआ हूँ।

—१०।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृष्ठ १०५-१०६]

- **ईश्वर-दर्शन किया है—ऐसा कहने वाले बहुत से तो भ्रम में पड़े पाये गये हैं।**
- **ईश्वर तो हम सब में बसता ही है, परन्तु उसे हृदय से कोई-कोई ही पहिचानते हैं।**

---

१. सन्त मेहरबाबा ने गांधी जी को सलाह दी थी कि उन्हें राजनीति छोड़ कर सामाजिक कार्य करना चाहिए।

- यह (ईश्वर) दर्शन कोई किसी को नहीं करा सकता।
- जिसका जीवन धर्म से रँगा हुआ है, उसके ख्याल से राजनीति और अर्थशास्त्र सब धर्म के अंग हैं।
- जो धर्म को बहुत-सी प्रवृत्तियों में से एक प्रवृत्ति मानता है वह धर्म को जानता ही नहीं।

३८. आपका ईश्वर : मेरा ईश्वर

[पादरी हेंडरसन को लिखे पत्र से]

आप जब "मेरा ईश्वर" और "तुम्हारा ईश्वर" जैसी बात कहते हैं, तब आपके साथ चर्चा करना फ़िज़ूल है। मैं तो आज तक यही मानता हूँ कि बुद्धिमान और मूर्ख का, पापी का और सन्त का ईश्वर एक ही है। मेरा यह सुझाव है कि मेरे साथ बहस करने के बजाय आप मेरे लिए प्रार्थना कीजिए कि "आपका" ईश्वर मुझे बुद्धि दे और आपके ख़याल से मेरी जो भूल है उसे मैं समझ सकूं।
—१७।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृष्ठ १२२]

- बुद्धिमान का और मूर्ख का, पापी का और सन्त का ईश्वर एक ही है।

३९. विद्या और अविद्या

[श्री कुलकर्णी को लिखे पत्र से]

विद्या का अर्थ ज्ञान और अविद्या का अर्थ कर्म है। सम्भूति और असम्भूति का अर्थ इससे मिलता-जुलता ही है। इसलिए असम्भूति का अर्थ हुआ शरीर और सम्भूति का अर्थ हुआ आत्मा। यह सिर्फ मेरे सन्तोष के लिए है और इस प्रकार ईशोपनिषद् का अर्थ मुझे सरल और सन्तोषजनक प्रतीत हुआ है।
—३०।१०।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृष्ठ १५७ ।]

४०. गीता की आत्मा

गीता का मध्य बिन्दु क्या है, उसका निश्चय कर लेना। फिर प्रत्येक श्लोक का अर्थ, जो अपने जीवन में उपयोगी है, उसको आचार में रखना। यह सबसे बड़ी टीका है और यही गीता का सच्चा अभ्यास है। गीता का मध्य बिन्दु अनासक्ति ही है—इसमें थोड़ा भी शक नहीं होना चाहिए। दूसरे किसी कारण से

गीता नहीं लिखी गई, इसमें मुझे कुछ भी शंका नहीं है। और मैं तो यह अनुभव से जानता हूँ कि अनासक्ति विना मनुष्य न सत्य का पालन कर सकता है, न अहिंसा का। अनासक्त होना कठिन है, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन उसमें आश्चर्य क्या है? सत्य-नारायण का दर्शन करने में परिश्रम तो होना ही चाहिए और अनासक्ति के विना यह दर्शन अशक्य है।

—३१।१०।१९३२। महादेव भाईनी डायरी भाग २, पृष्ठ १९१]

- **गीता का मध्यविन्दु अनासक्ति ही है।**
- **अनासक्ति विना मनुष्य न सत्य का पालन कर सकता है न अहिंसा का।**

४१. श्रद्धा

[श्री मगनभाई के नाम लिखे पत्र से]

जैसे-जैसे ईश्वर पर आस्था वढ़ती जाती है, वैसे-वैसे कर्त्तव्य-कर्म में रस वढ़ता जाता है, जानकारी वढ़ती जाती है, सावधानी वढ़ती जाती है और उसी के साथ निश्चिन्तता और धीरज वढ़ता जाता है; यह मेरा अनुभव दृढ़ होता जाता है।

मेरी श्रद्धा अमर्यादित है, इसलिए मैं यह मानता हूं कि छोटा-वड़ा सव कुछ ईश्वर ही कराता है। वह यह किस तरह कराता होगा, यह मैं नहीं जानता। मगर जिसने तन, मन और धन यानी सर्वस्व उसे सौंप दिया है, वह यह मानता हो कि वह खुद कुछ कर रहा है, तो कहा जायगा कि वह चोर वन गया है। एक भी काम मैं करता हूँ, ऐसा मूर्च्छा में मान कर मैं पाप नहीं कमाऊंगा। मूर्च्छा में भी मैं ऐसा मान लेता होऊं कि यह तो मैंने किया, या लौकिक भाषा में विनोद के लिए या घृणा न दीखने के खयाल से कहता होऊं, तो यह मूर्खता है। सच तो यह है कि दिन-दिन शून्यता वढ़ती जाती है, इसलिए जव यह गर्व मन में आ जाता है कि मैं कर रहा हूं, तव दुःख होता है।

—३।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृष्ठ १६८]

- **मेरी श्रद्धा अमर्यादित है।**
- **छोटा, वड़ा सव कुछ ईश्वर ही कराता है।**

४२. अनासक्ति की साधना

[श्री रामदास को लिखे पत्र से]

तूने पूछा है कि मैंने अनासक्ति कैसे साधी? मेरा काम सव स्वाभाविक होने से, यानी सत्य की साधना से स्फुरित होने के कारण, वहुत आसान हो गया

है। जगत् मात्र की सेवा करने की भावना पैदा होने के कारण अनासक्ति सहज ही आ जाती है। मैं अगर सिर्फ कुटुम्बियों की ही सेवा करने बैठ गया होता, तब तो उसमें सहज ही राग पैदा हो जाता; आसक्ति भी रहती; व्याधि, मृत्यु वगैरह के उद्वेग भी रहते, मगर जहां असंख्यों की सेवा अपना ली जाती है, वहां उद्वेग भाग ही जाता है। किस-किस की मृत्यु या व्याधि का उद्वेग किया जाय? वह लगभग असम्भव हो जाता है। मगर अनासक्ति का अर्थ जड़ता भी नहीं है; निर्दयता भी नहीं है; क्योंकि सेवा तो करनी ही होगी, इसलिए दया की भावना मन्द पड़ने के बजाय तीव्र होगी, कार्यदक्षता भी बढ़ेगी और एकाग्रता भी बढ़ेगी। और ये सब अनासक्ति के चिह्न हैं। फिर खूबी यह है कि ऐसा करने से कुटुम्ब-सेवा मिट नहीं जाती, क्योंकि सबकी सेवा में यह सेवा भी आजाती है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि बाकी तुम भाइयों की या किसी भी कुटुम्बीजन की सेवा मेरे हाथों कम हुई हो, सो मैं नहीं मानता। उसमें से आसक्ति उठ गई और समभाव आ गया, जिससे वह शुद्ध हो गई। मेरा विश्वास है कि तुमने, किसी ने कुछ भी खोया नहीं और मैंने तो बहुत-कुछ पाया है। इस प्रकार मेरे लिए तो अनासक्ति सुलभ हो गई। अनासक्ति[1] नाम तो गीता का अनुवाद पूरा करके उसके लिए एक खास नाम काका[2] ने माँगा तब सहज ही याद आ गया। सबकी सेवा करनी हो तो वह अनासक्ति-पूर्वक ही हो सकती है। और यह बात तो थी ही नहीं कि मैंने यह ज्ञान पाने के बाद अनासक्ति को अपनाया। मुझे तो धीरे-धीरे मालूम हुआ, आसपास रहने वालों को मुझसे पहिले मालूम हुआ।

मैं जब हिन्दुस्तान आया तब मुझे साधारण लोग 'कर्मयोगी' के रूप में जानने लग गये थे। गीता का अध्ययन तो मैं दक्षिण अफ्रीका में भी करता था। मगर 'कर्मयोगी' क्या होता है, यह सब मैंने सोच नहीं रखा था। परन्तु दूसरों ने देखा कि मेरे जीवन में यह सब है और बाद में मुझे भी ऐसा लगने लगा कि उनकी बात सही है। ऐसा सुयोग सभी को नहीं मिल सकता। मुझे मिला, इसका कारण मैं यह मानता हूँ कि मैं जन्म से सत्य का पुजारी रहा हूँ। नवें अध्याय में भगवान का जो वचन है उसे रट लेना—बड़ा दुराचारी भी अनन्य भाव से उसकी भक्ति करे तो वह साधु है। पृथिवी रसातल में चली जाय, तो भी भगवान के वचन मिथ्या नहीं हो सकते।

—७।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृष्ठ १८१-१८२]

---

१. गांधी जी-कृत गीता-भाष्य का नाम 'अनासक्ति योग' है।

२. काकासाहब कालेलकर।

- जगत् मात्र की सेवा की भावना पैदा होने के कारण अनासक्ति सहज ही आ जाती है।
- जहां असंख्यों की सेवा अपना ली जाती है, वहां उद्वेग भाग जाता है।
- अनासक्ति का अर्थ जड़ता नहीं है, निर्दयता नहीं है।
- सबकी सेवा करनी हो तो वह अनासक्तिपूर्वक ही हो सकती है।

४३. जीवन-मृत्यु

[श्री जमनालाल बजाज को लिखे पत्र से]

जो मृत्यु चाहे जब छोटे-बड़े, गोरे-काले, मनुष्य-पशु या दूसरे सबके लिए आने ही वाली है,—उसका डर क्या? और उसका शोक भी क्या? मुझे तो बहुत बार ऐसा लगता है कि जन्म की अपेक्षा मृत्यु अधिक अच्छी चीज होनी चाहिए। जन्म से पहिले माता के गर्भ में जो यातना भोगनी पड़ती है, उसे तो मैं छोड़ देता हूं। परन्तु जनमते ही जो यातना शुरू होती है उसका तो हमें प्रत्यक्ष अनुभव है। उस वक्त की पराधीनता कैसी है? और वह तो सबके लिए एक-सी होती है। जबकि मृत्यु में, यदि जीवन स्वच्छ हो, तो पराधीनता-जैसी कुछ नहीं रहती। बालक में ज्ञान की इच्छा नहीं होती और न उसमें किसी तरह ज्ञान की सम्भावना ही होती है। मृत्यु के समय तो ब्राह्मी स्थिति की सम्भावना है। इतना ही नहीं बल्कि हम जानते हैं कि बहुत लोगों की मृत्यु ऐसी स्थिति में होती है। जन्म का अर्थ तो दुःख में प्रवेश है ही जबकि मृत्यु सम्पूर्ण दुःख से मुक्ति हो सकती है। इस प्रकार मृत्यु के सौन्दर्य के विषय में और उसके लाभ के विषय में हम बहुत कुछ विचार कर सकते हैं और इसे अपने जीवन में सम्भवनीय बना सकते हैं।

—यरवदा मन्दिर, ८।११।१९३२। बापू के पत्र: बजाज परिवार के नाम पृष्ठ ८३, अ० भा० स० से० सं०]

४४. मूर्ति-पूजा का तत्व

अमुक चीज मुझे सहायक नहीं होती, इसलिए दूसरों के बारे में मैं लापरवाह रहूं और यह जानने का कष्ट न करूं कि वह उनके लिए सहायक होती है या नहीं, यह ठीक नहीं। मैं जानता हूं कि अमुक प्रकार की मूर्तिपूजा करोड़ों मनुष्यों को सहायक होती है। इसका कारण यह भी नहीं कि उनका विकास मुझसे कम हुआ

है, मगर उनका मानस मुझसे दूसरी तरह का बना हुआ है। मेरे बारे में भी इतनी बात न भूलनी चाहिए कि मैं मूर्तिपूजा को पाप नहीं मानता। इतना ही नहीं, मैं यह भी मानता हूँ कि किसी-न-किसी रूप में वह हम सबके लिए आवश्यक हो जाती है। अलग-अलग प्रकार की पूजाओं में फ़र्क़ परिमाण का ही होता है, तत्व का नहीं। मस्जिद में जाना और गिरजे में जाना भी एक तरह की मूर्तिपूजा है। बाइबिल, कुरान, गीता या ऐसे किसी और ग्रन्थ के प्रति पूज्यभाव रखना भी मूर्तिपूजा ही है। आप किसी ग्रन्थ या मकान का उपयोग न करें और अपनी कल्पना में ही परमेश्वर का कोई खास चित्र खींच लें और उसमें कुछ खास गुणों का आरोपण करें, तो यह भी मूर्तिपूजा हुई। जो पत्थर की मूर्ति की पूजा करते हैं, उनकी पूजा इन दूसरी पूजाओं से ज्यादा स्थूल है, यह भी मैं नहीं कहूँगा। बड़े विद्वान न्यायाधीश भी अपने घरों में मूर्तियाँ रखते पाये गये हैं। पंडित मालवीय[1] जी जैसे तत्वज्ञानी अपने गृहदेवता का पूजन किये बिना मुंह में अन्न नहीं डालते। ऐसी पूजा को वहम मानने में अज्ञान और अभिमान दोनों हैं। पूजा करनेवालों की कल्पना में तो ईश्वर का अधिष्ठान मन्त्रपूत पत्थर में है, आसपास पड़े हुए दूसरे पत्थरों में नहीं। मन्दिर में भी जहाँ मूर्ति रखी जाती है, वह स्थान मन्दिर के दूसरे स्थानों से ज्यादा पवित्र माना जाता है। इस प्रकार के उदाहरण आप कितने ही ढूंढ़ सकेंगी। मेरी दलील विचारों या पूजा में शिथिलता लाने के लिए नहीं है। किसी भी स्वरूप की सच्चे दिल से की गई पूजा, पूजा करनेवाले के लिए एकसी अच्छी और फलदायक है। यह ज़माना अब चला गया कि कोई व्यक्ति या समूह इस मामले में विशेष अधिकार भोगे। पूजा की खास विधि या शब्दों की तरफ़ ईश्वर नहीं देखता। वह तो हमारे कृत्यों और हमारी वाणी के आरपार देख सकता है। और हम खुद ही अपने जिन विचारों को नहीं समझ सकते उन्हें भी वह जानता और समझता है। उसके सामने तो हमारे विचार ही असली चीज है।

—मिस मेरी बार को लिखे पत्र से। २९।११।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृष्ठ २४१-२४२]

- **मैं मूर्तिपूजा को पाप नहीं मानता।**
- **किसी-न-किसी रूप में वह (मूर्तिपूजा) हम सब के लिए आवश्यक हो जाती है।**
- **मस्जिद में जाना और गिरजे में जाना भी एक तरह की मूर्तिपूजा है।**
- **किसी ग्रन्थ के प्रति पूज्यभाव रखना भी मूर्तिपूजा ही है।**
- **पूजा की खास विधि या शब्दों की तरफ ईश्वर नहीं देखता।**

---

१. पंडित मदनमोहन मालवीय।

४५. मुमुक्षु-परम्परा का अन्तर्नाद

मुमुक्षु जीवों की परम्परा यह है कि जबतक अपना माना हुआ अधिक अनुभवी अपने पास हो, तबतक उससे पूछ कर नया क़दम उठाया जाय। अन्तर्नाद सभी को सुनाई नहीं देता। अन्तर्नाद का आभास मात्र हो सकता है। और सच पूछा जाय तो 'मैं' का ही नाद होता है। 'मैं' का अर्थ है शैतान, रावण और दैत्य। हमारे अन्दर राम बोल रहा है या रावण, इसका पता हमेशा नहीं लग सकता। रावण अक्सर साधु के वेष में ही आता है और उस समय राम-जैसा लगता है। इसलिए जो अधिक अनुभवी हो उससे पूछा जाय।

—६।१२।१९३२। म० भा० डा०, भाग २, पृष्ठ २५९]

- **अन्तर्नाद सभी को सुनाई नहीं देता।**
- **अन्तर्नाद का आभासमात्र हो सकता है।**
- **'मैं' का अर्थ है शैतान, रावण और दैत्य।**

४६. ईश्वर का अस्तित्व

[प्रश्नोत्तर]

प्रश्न—ईश्वर है? और है तो कहां है?

उत्तर—हमारी हस्ती है क्या? हवा है, इसका पता कैसे चलता है? हवा को आँखों से देख सकते हैं? हाथ से पकड़ सकते हैं? फिर ईश्वर तो हवा से सूक्ष्म और हवा से हलका भी है।

प्रश्न—इतना समझ में आता है। परन्तु आप लिख दीजिए कि ईश्वर सर्वव्यापक है और मन्दिर में भी है। यह सबको बताऊंगा तो वे मान लेंगे।

उत्तर—ईश्वर को प्रमाणपत्र लिख दूं? सर्वव्यापक तो वह है ही। यदि मनुष्य देख सके तो वह सब जगह है। किन्तु कोई यह माने कि ईश्वर मन्दिर में ही है, तो वह ईश्वर के साथ का लाभ वहां ले। ईश्वर हवा की तरह सब जगह फैला हुआ है। पर हवा का भी बनाने वाला ईश्वर है।

—१०।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० ४०-४१]

४७. कुछ आध्यात्मिक प्रसंग

[एक सिन्धी सज्जन से हुई वार्ता के अंश]

प्रश्न—टैगोर ही जब आपको महान बताते हैं, तो हम तो आपको जरूर महान मानेंगे।

गांधी जी—आप भले ही मानिए, पर मैं ऐसा नहीं मान सकता। इससे उल्टे मैं तो यह कहूंगा कि जो आदमी अपने को महान मानता है, वह महान नहीं हो सकता। पैगम्बर कहते हैं कि मेरे पास आओ। किन्तु ऐसा ईश्वर उनसे कहलाता है। वे नम्रतापूर्वक ऐसा कहते हैं। अपने को महान समझकर ऐसा नहीं कहते। अपने लिए 'मैं' जैसी कोई चीज उनमें होती ही नहीं। वे मानते हैं कि इस क्षण तो ईश्वर मुझमें बसा हुआ है। उनके बड़प्पन का सवाल ही नहीं। एक ईश्वर ही महान है। या वे इसलिए महान हैं कि ईश्वर उनके द्वारा बोलता है या उनके जरिये काम करता है। किन्तु वे यह नहीं कह सकते कि हम ईश्वर को अपने द्वारा काम करने देते हैं।

प्रश्न—किन्तु तत्वज्ञान की दृष्टि से तो मनुष्य कहता है कि मैं आत्मा हूं या परमात्मा हूं।

गांधी जी—हां, तात्विक दृष्टि से यह सही है। किन्तु जैसे 'यूक्लिड' की सीधी लकीर या 'यूक्लिड' का बिन्दु आप खींच नहीं सकते, उसी तरह अद्वैत परम सत्य है और वह ईश्वर में ही बसता है। हमको द्वैत मालूम होता है, इसलिए कहीं-न-कहीं अद्वैत होना ही चाहिए। मनुष्य को ऐसा लगे कि मैं ईश्वर हूं, तो वह 'मैं' तो मनुष्य ही है। मनुष्य के रूप में तो वह द्वैती ही है। किन्तु द्वैती के रूप में भी ईश्वर के साथ वह एक है।

प्रश्न—रामकृष्ण परमहंस को आपने 'मैन गाड' (मानवेश्वर) कहा है। रामकृष्ण क्या ईश्वर से अलग थे?

गांधी जी—उनके द्वारा ईश्वर काम कर रहा था। यही बात कृष्ण के लिए कही जा सकती है। मैं तो कृष्ण में या ईसा मसीह में ऐसे असाधारण या अलौकिक गुणों का, जो दूसरे मनुष्यों में हो ही नहीं सकते, आरोपण नहीं करता। यह दूसरी बात है कि साधारण लोगों से उनमें विशेष शक्ति थी।

मनुष्य के मर जाने के पहिले उसका मूल्य नहीं लगाना चाहिए। मैं दंभी या मूर्ख भी हो सकता हूं। बदमाश आदमी दुनिया को लम्बे समय तक धोखा दे सकता है। दंभी मनुष्य तो इससे भी ज्यादा धोखा दे सकता है। किन्तु लोग मुझसे पूछें कि तब आप अधिकारपूर्ण वाणी में हमारे साथ कैसे बातें करते हैं, तो मैं कहूंगा कि कोई-न-कोई मुझसे ऐसी बातें कराता है। जैसे जगत् पर ईश्वर का प्रभाव पड़ता है, वैसे ही जगत् पर मनुष्य का प्रभाव भी पड़ता है। ऐसे प्रभावशाली मनुष्य 'गुरु' कहलाते हैं। मैं ऐसे गुरु की तलाश में हूं। मैं भी बहुत से आदमियों पर प्रभाव डालता हूं, इस अर्थ में कि मेरे शब्द को वे कानून मानते हैं। मैं अपनी इस वशीकरण शक्ति को काम करने से कैसे रोक सकता हूं? यद्यपि मैं इसे

अपनी वशीकरण शक्ति कहता ही नहीं। यह शक्ति तो ईश्वर ने मुझे दे रखी है। साधारण मनुष्यों में भी ऐसी शक्ति होती है। किन्तु उन्हें इसका भान नहीं होता। ऐसा भान होना ही महत्व की बात है।

प्रश्न—मेरी बहिन इस मामले में आपकी बात सुनने से इन्कार करती हैं। और सब बातों में वह आपको अवतार मानती हैं। किन्तु इस मामले में नहीं मानतीं। क्या मैं लोगों से यह कह सकता हूं कि तुम शास्त्रों को भले ही न मानो, परन्तु गांधी जी को अवतार के रूप में मानो?

गांधी जी—आप ऐसा नहीं कह सकते। किन्तु यह विचार आपको इतना अधिक पकड़ ले कि आपसे कहे बिना रहा ही न जाय, तो दूसरी बात है। यह भ्रम हो सकता है, परन्तु आपके लिए वह सत्य वस्तु है। सामनेवाले मनुष्य के साथ बहस में आप यह कहेंगे कि मैं तुम्हें समझा तो नहीं सकता, किन्तु बात मेरी ही सच है। मैं इस आदमी की बात माने बिना रह ही नहीं सकता।

किन्तु आप ऐसा कहने या न कहने के बारे में मेरी सलाह लें, तो मैं कहूंगा कि न कहिए। ईश्वर मेरे द्वारा काम ले रहा होगा, तो करोड़ों लोग जैसा मैं कहूंगा वैसा करेंगे। किन्तु आप मुझसे पूछने आयें कि मैं क्या करूं, तो मैं नहीं कह सकता कि आप इसी तरह कीजिए।

मैं पैगम्बर होने का दावा नहीं करता। मुझे ऐसा लगे तो मैं कहने से हिचकिचानेवाला नहीं हूं। मुझे बहुत धुंधला-सा प्रकाश मिला है, और उससे मुझे आनन्द है। मेरे लिए तो यह प्रकाश काफी है। दूसरों को यह प्रकाश बहुत ज्यादा तेज भी लग सकता है।

—१०।१।१९३३। म० भा० डा०, भाग ३, पृ० ३९-४०]

- **जो आदमी अपने को महान मानता है वह महान नहीं हो सकता।**
- **अद्वैत परम सत्य है और वह शरीर में ही बसता है।**
- **मनुष्य के मर जाने के पहिले उसका मूल्य नहीं लगाना चाहिए।**
- **मैं पैगम्बर नहीं हूं। मुझे बहुत धुंधला-सा प्रकाश मिला है और उससे मुझे आनन्द है।**

४८. प्रार्थना क्यों और कैसे?

[पर्णकुटी की कन्याशाला की एक बालिका और गांधी के बीच हुए प्रश्नोत्तर—सम्पा०]

बालिका—प्रार्थना कर्त्तव्य समझ कर करनी चाहिए या इच्छानुसार?

गांधीजी—भोजन कर्त्तव्य समझ कर किया जाता है या अपनी इच्छानुसार ?

बालिका—भोजन बिना तो काम नहीं चलता।

गांधीजी—तो प्रार्थना के बिना भी नहीं चलना चाहिए। जैसे भोजन बिना शरीर विकसित नहीं होता, उसी प्रकार प्रार्थना बिना आत्म-विकास नहीं होता। जैसे अन्न देह का आहार है, उसी प्रकार प्रार्थना आत्मा का आहार है। प्रार्थना-बिना आत्मा निस्तेज हो जाती है। इसका कारण यह कि भगवद्गीता में आत्मा को अमर कहा है, पर वह अज्ञान-ग्रस्त हो जाती है। इस संसार में बहुत से लोग प्रार्थना नहीं करते; वे विमूढ़ के समान हैं। जिन्हें आत्मा का ज्ञान नहीं, वे अज्ञानी हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि प्रार्थना कर्त्तव्यानुसार होनी चाहिए, यह तो इच्छानुसार होनी चाहिए। यदि कोई कर्त्तव्यानुरूप प्रार्थना कराने लगे तो वह पाखण्ड में परिणत हो जाती है, पर हमें स्वयं प्रार्थना इच्छानुसार करनी चाहिए। भोजन हमेशा धर्म नहीं होता। उसके बिना कुछ दिन काम चल सकता है। अपच होने पर खाना नहीं खाया जाता। पर प्रार्थना का उपवास नहीं होता। हमें अपने लिए प्रार्थना इतनी अधिक कर्त्तव्यरूप बना लेनी चाहिए कि उसके बिना एक दिन भी न चले। तुम लड़कियां अगर यह निश्चय कर लो कि राजपाट मिलने पर भी झूठ नहीं बोलोगी, तो यह बात कर्त्तव्यानुसार होगी या इच्छानुसार ? तुमने यदि प्रातःकाल चार बजे और सायंकाल साढ़े सात बजे प्रार्थना करने का निश्चय कर लिया हो या नियम बना लिया हो, तो तुम्हें इस बारे में अपने प्रति बल-प्रयोग करना ही होगा। इसी नियम के बाँध लेने से प्रार्थना सफल हो सकती है। संसार में बिना नियम के कोई काम नहीं हो सकता।

—ह० से० २२।९।१९३३]

- **जैसे अन्न देह का आहार है उसी प्रकार प्रार्थना आत्मा का आहार है।**
- **भोजन हमेशा धर्म नहीं होता पर प्रार्थना का उपवास नहीं होता।**

४९. ईश्वर के कानून

हम न तो ईश्वर के सब कानूनों को जानते हैं और न हमें उनकी कार्य-पद्धति ही मालूम है। बड़े-से-बड़े वैज्ञानिक या अध्यात्मवादी का ज्ञान भी रजकण के समान है। यदि ईश्वर मेरे लिए अपने पार्थिव पिता की भांति कोई व्यक्ति नहीं है, तो इसका मतलब यह है कि वह उससे अनन्तगुना अधिक है। मेरे जीवन की छोटी-से-छोटी बात भी उसके शासन के अधीन है। मैं शब्दशः यह मानता हूं

कि उसकी इच्छा के विना एक पत्ता भी नहीं हिलता। हर साँस जो मैं लेता हूं उसकी कृपा पर निर्भर है।

—ह० ज० १६।२।१९३४]

५०. ईश्वरीय लीला

मेरा यह विश्वास दिनानुदिन दृढ़ होता जा रहा है कि भगवान की लीलाओं को मनुष्य की बुद्धि पूरी तरह समझ नहीं सकती। ईश्वर ने अपनी समझ से मानवी दृष्टि को सीमित कर रखा है—और यह ठीक ही किया है, नहीं तो मनुष्य के अहंकार की आज कोई सीमा नहीं रहती। लेकिन साथ ही, जबकि मैं यह विश्वास करता हूँ कि ईश्वर की लीलाओं को मनुष्य पूरी तरह समझ नहीं सकता, मेरा यह भी पक्का विश्वास है कि विना उस सिरजनहार की मर्जी के एक पत्ती भी नहीं हिल सकती। सब कुछ उसकी आज्ञा के अनुसार ही होता है; सब उसी का हुक्म बजा लाते हैं।

—छपरा २७।३।१९३४। ह० से०, ६।४।१९३४]

५१. अनासक्ति

हमारी इन्द्रियां जो कुछ देखती हैं वह सत्य ही है, ऐसी बात नहीं। अक्सर तो वे असत्य ही देखती हैं। इसीलिए अनासक्ति का मार्ग ढूंढ़ा गया। अनासक्ति अर्थात् इन्द्रियों से परे जाना। यह तो उनमें रहने वाली आसक्ति को छोड़ने से ही हो सकता है। आँख का प्रमाण मानें तो पृथिवी समतल ही सिद्ध होगी न? सूरज सोने के थाली के सिवा क्या है? आँखें जो देखती हैं वही अगर प्रेमा हो तो मेरी मुसीबत हो जाय न? कानों से मेरे बारे में जो कुछ तू सुने वह सब सच मान बैठे तो?

—वर्धा, ४।१२।१९३४। बापू के पत्र : कुमारी प्रेमा बहिन कंटक के नाम, पृष्ठ २३०, न० जी० प्र० म०]

५२. कर्म का नियम

कर्म का नियम समझना आसान है। जो कानून हम यन्त्रशास्त्र में सीखते हैं वही उसमें है। दृश्य शक्तियां एक साथ काम करती हैं; उनका एक ही दृश्य परिणाम हम देख सकते हैं। यही बात कर्मों के विषय में भी है।

—बिड़ला मिल्स, दिल्ली, ३१।१२।१९३४। बापू के पत्र : प्रेमा बहिन कंटक के नाम, पृष्ठ २३४, न० जी० प्र० म०]

५३. अनासक्त भाव

जैसा अपने बारे में वैसा ही दूसरे के बारे में। अपने बारे में अनासक्त रहने पर भी सर्दी-गर्मी का भान तो रहेगा ही। ठण्ड में गर्मी और गर्मी में ठण्ड तो हम ढूंढ़ेंगे ही, परन्तु खोज सफल न हो तो रोने नहीं बैठेंगे,—यही अनासक्ति है।

—बिड़ला मिल्स, दिल्ली, ३१।१२।१९३४। बापू के पत्र: प्रेमा बहिन कंटक के नाम, पृष्ठ, २३३, न० जी० प्र० म०]

५४. ईशोपनिषद् का एक रत्न

[१७ जनवरी १९३७ को त्रावणकोर राज्य के अन्तर्गत हरिपाद नामक गांव में दिये गये भाषण का यह अंश है।—सम्पा०]

कल रात को क्विलन की सभा में मैंने हिन्दू-धर्म का सन्देश समझाया था। उसी के विषय में आप लोगों के समक्ष कुछ मिनट मैं बोलना चाहता हूँ। उस सभा में मैंने कहा था कि समस्त हिन्दू धर्म का सार ईशोपनिषद् के पहिले श्लोक में आ जाता है। मैंने यह भी कहा था कि अन्य सब हिन्दू धर्म-ग्रन्थ जलकर भस्म हो जायं, और यह एक ही श्लोक हमारे पास बच रहे तो उन ग्रन्थों के नाश से हमारी कोई हानि नहीं होगी; तब भी हिन्दू धर्म हमारे पास रह ही जायगा। इस मन्त्र की मूल संस्कृत भाषा इतनी सरल है कि संस्कृत पढ़नेवाला छोटा-सा बालक भी उसे समझ सकता है। यह उपनिषद् वेद की मूल संहिता का एक भाग माना जाता है; ऐसी इसकी प्रतिष्ठा है। हम जिन उपनिषदों को जानते हैं उनमें यह छोटे-से-छोटा है। पर जैसा कि मैंने कहा है, इस उपनिषद् का यह पहिला मन्त्र ही नष्ट होने से बच जाय तो हमारी सारी ज्ञान-पिपासा शमन करने के लिए यह काफी है। इस मन्त्र को मैं अपने सदोष संस्कृत उच्चारण से बोलकर सुनाता हूं :—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

जो तनिक भी संस्कृत जानता होगा वह देखेगा कि दूसरे वैदिक मन्त्रों की तरह इस मन्त्र में कोई गूढ़ या अटपटी बात नहीं है। इसका अर्थ इतना ही है—इस जगत् में छोटा या बड़ा जो कुछ है उसमें, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म परमाणु तक में, ईश्वर व्याप्त है। वह सिरजनहार है; राजा है; ईश अर्थात् राज्य करनेवाला है। जो स्रष्टा है वह अपनी सृष्टि-रचना के अधिकार से ही स्वभावतः राजा या शासक

भी वन जाता है। इस मन्त्र में मन्त्रद्रष्टा ऋषि ने प्रभु के लिए सिवा एक 'ईश' के
और कोई विशेषण नहीं लगाया, और उसके शासन में से कोई भी चीज़ बाकी नहीं
रखी। वह कहता है कि हम जो कुछ भी देखते हैं वह ईश्वर से व्याप्त है। इसमें
मन्त्र का दूसरा भाग स्वाभाविक रीति से फलित होता है। ऋषि कहता है, सब--
इस विश्व में जो कुछ भी है उसका, अपनी पृथिवी के इस छोटे-से गोले का ही नहीं,
वल्कि समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड का त्याग कर दो। इन सबका त्याग करने के लिए
ऋषि हमसे इतना ही कहता है कि हम इतने अल्पातिअल्प, सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु
हैं कि इस विश्व में कोई वस्तु हमारी है---ऐसे स्वामित्व की यदि हम कल्पना करें
तो हम उपहासास्पद समझे जायंगे। इसके बाद ऋषि कहता है कि त्याग का वदला
है 'भुंजीथाः'---अर्थात्, तुम्हें जो चाहिए वह सब भोगो। पर 'भोगो' इसके अन्दर
एक अर्थ है---इसकी जगह आप चाहें तो, "काम में लाओ, खाओ", चाहे जिस शब्द
का उपयोग कर सकते हैं। इसका यह अर्थ है कि आपके विकास के लिए जो जरूरी
हो उससे अधिक आप नहीं ले सकते। इसलिए इस भोग या उपयोग में दो शर्तों
की मर्यादा रखी है। एक तो यह कि हम त्यागवृत्ति रखें या फिर भागवतकार के
कथनानुसार "कृष्णार्पणमस्तु सर्वम्" की भावना मन में रख कर भोगें। जो
भागवत धर्म को मानता है उसको नित्य प्रातःकाल अपने विचार, अपनी वाणी
और अपने धर्म श्रीकृष्ण को अर्पण करने पड़ते हैं। यह त्याग या समर्पण किये
विना उसे किसी को छूने या एक कटोरा पानी पीने का भी अधिकार नहीं। इस
त्याग का, समर्पण का कर्म करने के पश्चात् मनुष्य को इस कर्म के द्वारा अपने नित्य
के जीवन के लिए जितना अन्न-वस्त्र और आश्रय आवश्यक है उसे प्राप्त करने का
अधिकार मिलता है। इसलिए आप जिस तरह चाहें उस तरह ले सकते हैं।
चाहें तो यह मानें कि भोग या उपभोग त्याग का वदला है, या यह मानें कि त्याग
भोग की एक अनिवार्य शर्त है; हमारे जीवन के लिए, आत्मा के लिए त्याग अत्यन्त
आवश्यक है। और जैसे इस मन्त्र में दी हुई शर्त अधूरी हो, अतः वैदिक ऋषि
तुरन्त ही उसे पूरा कर देने के लिए इतना और जोड़ देता है, "जो कुछ दूसरे के
स्वामित्व का है उसका लोभ न करो।" अब मैं आपसे कहता हूं कि दुनिया के
किसी भी भाग में प्राप्त होनेवाला तत्वज्ञान या धर्मतत्व इस मन्त्र में आ गया है
और इससे जो भी विपरीत है उसको अस्वीकार कर दिया गया है। शास्त्रार्थ के
जो नियम हैं उनके अनुसार जो वचन श्रुति का विरोधी हो---और यह, ईशाव-
निषद् श्रुति है ही---उसे सर्वथा अस्वीकार कर देना चाहिए! ......मैंने
उपनिषद् का जो मन्त्र वताया है, मैं चाहता हूं कि उसे सब स्त्री-पुरुष और वालक
अपने हृदय में अच्छी तरह अंकित कर लें। और यदि मेरी मान्यता के अनुसार

५३. अनासक्त भाव

जैसा अपने बारे में वैसा ही दूसरे के बारे में। अपने बारे में अनासक्त रहने पर भी सर्दी-गर्मी का भान तो रहेगा ही। ठण्ड में गर्मी और गर्मी में ठण्ड तो हम ढूंढ़ेंगे ही, परन्तु खोज सफल न हो तो रोने नहीं बैठेंगे,—यही अनासक्ति है।

—बिड़ला मिल्स, दिल्ली, ३१।१२।१९३४। बापू के पत्र : प्रेमा बहिन कंटक के नाम, पृष्ठ, २३३, न० जी० प्र० म०]

५४. ईशोपनिषद् का एक रत्न

[१७ जनवरी १९३७ को त्रावणकोर राज्य के अन्तर्गत हरिपाद नामक गांव में दिये गये भाषण का यह अंश है।—सम्पा०]

कल रात को क्विलन की सभा में मैंने हिन्दू-धर्म का सन्देश समझाया था। उसी के विषय में आप लोगों के समक्ष कुछ मिनट मैं बोलना चाहता हूँ। उस सभा में मैंने कहा था कि समस्त हिन्दू धर्म का सार ईशोपनिषद् के पहिले श्लोक में आ जाता है। मैंने यह भी कहा था कि अन्य सब हिन्दू धर्म-ग्रन्थ जलकर भस्म हो जायं, और यह एक ही श्लोक हमारे पास बच रहे तो उन ग्रन्थों के नाश से हमारी कोई हानि नहीं होगी; तब भी हिन्दू धर्म हमारे पास रह ही जायगा। इस मन्त्र की मूल संस्कृत भाषा इतनी सरल है कि संस्कृत पढ़नेवाला छोटा-सा बालक भी उसे समझ सकता है। यह उपनिषद् वेद की मूल संहिता का एक भाग माना जाता है; ऐसी इसकी प्रतिष्ठा है। हम जिन उपनिषदों को जानते हैं उनमें यह छोटे-से-छोटा है। पर जैसा कि मैंने कहा है, इस उपनिषद् का यह पहिला मन्त्र ही नष्ट होने से बच जाय तो हमारी सारी ज्ञान-पिपासा शमन करने के लिए यह काफी है। इस मन्त्र को मैं अपने सदोष संस्कृत उच्चारण से बोलकर सुनाता हूं :—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

जो तनिक भी संस्कृत जानता होगा वह देखेगा कि दूसरे वैदिक मन्त्रों की तरह इस मन्त्र में कोई गूढ़ या अटपटी बात नहीं है। इसका अर्थ इतना ही है— इस जगत् में छोटा या बड़ा जो कुछ है उसमें, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म परमाणु तक में, ईश्वर व्याप्त है। वह सिरजनहार है; राजा है; ईश अर्थात् राज्य करनेवाला है। जो स्रष्टा है वह अपनी सृष्टि-रचना के अधिकार से ही स्वभावतः राजा या शासक

भी बन जाता है। इस मन्त्र में मन्त्रद्रष्टा ऋषि ने प्रभु के लिए सिवा एक 'ईश' के और कोई विशेषण नहीं लगाया, और उसके शासन में से कोई भी चीज़ बाकी नहीं रखी। वह कहता है कि हम जो कुछ भी देखते हैं वह ईश्वर से व्याप्त है। इसमें मन्त्र का दूसरा भाग स्वाभाविक रीति से फलित होता है। ऋषि कहता है, सब—इस विश्व में जो कुछ भी है उसका, अपनी पृथिवी के इस छोटे-से गोले का ही नहीं, बल्कि समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड का त्याग कर दो। इन सबका त्याग करने के लिए ऋषि हमसे इतना ही कहता है कि हम इतने अल्पातिअल्प, सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु हैं कि इस विश्व में कोई वस्तु हमारी है—ऐसे स्वामित्व की यदि हम कल्पना करें तो हम उपहासास्पद समझे जायंगे। इसके बाद ऋषि कहता है कि त्याग का बदला है 'भुंजीथाः'—अर्थात्, तुम्हें जो चाहिए वह सब भोगो। पर 'भोगो' इसके अन्दर एक अर्थ है—इसकी जगह आप चाहें तो, "काम में लाओ, खाओ", चाहे जिस शब्द का उपयोग कर सकते हैं। इसका यह अर्थ है कि आपके विकास के लिए जो जरूरी हो उससे अधिक आप नहीं ले सकते। इसलिए इस भोग या उपयोग में दो शर्तों की मर्यादा रखी है। एक तो यह कि हम त्यागवृत्ति रखें या फिर भागवतकार के कथनानुसार "कृष्णार्पणमस्तु सर्वम्" की भावना मन में रख कर भोगें। जो भागवत धर्म को मानता है उसको नित्य प्रातःकाल अपने विचार, अपनी वाणी और अपने धर्म श्रीकृष्ण को अर्पण करने पड़ते हैं। यह त्याग या समर्पण किये बिना उसे किसी को छूने या एक कटोरा पानी पीने का भी अधिकार नहीं। इस त्याग का, समर्पण का कर्म करने के पश्चात् मनुष्य को इस कर्म के द्वारा अपने नित्य के जीवन के लिए जितना अन्न-वस्त्र और आश्रय आवश्यक है उसे प्राप्त करने का अधिकार मिलता है। इसलिए आप जिस तरह चाहें उस तरह ले सकते हैं। चाहें तो यह मानें कि भोग या उपभोग त्याग का बदला है, या यह मानें कि त्याग भोग की एक अनिवार्य शर्त है; हमारे जीवन के लिए, आत्मा के लिए त्याग अत्यन्त आवश्यक है। और जैसे इस मन्त्र में दी हुई शर्त अधूरी हो, अतः वैदिक ऋषि तुरन्त ही उसे पूरा कर देने के लिए इतना और जोड़ देता है, "जो कुछ दूसरे के स्वामित्व का है उसका लोभ न करो।" अब मैं आपसे कहता हूँ कि दुनिया के किसी भी भाग में प्राप्त होनेवाला तत्वज्ञान या धर्मतत्व इस मन्त्र में आ गया है और इससे जो भी विपरीत है उसको अस्वीकार कर दिया गया है। शास्त्रार्थ के जो नियम हैं उनके अनुसार जो वचन श्रुति का विरोधी हो—और यह, ईशोपनिषद् श्रुति है ही—उसे सर्वथा अस्वीकार कर देना चाहिए! ......मैंने उपनिषद् का जो मन्त्र बताया है, मैं चाहता हूँ कि उसे सब स्त्री-पुरुष और बालक अपने हृदय में अच्छी तरह अंकित कर लें। और यदि मेरी मान्यता के अनुसार

इस मन्त्र में हिन्दू धर्म का सार आ जाता हो, तो यह मुद्रालेख प्रत्येक मन्दिर के द्वार पर खुदवा देना चाहिए।
—ह० ज०। ह० से० ६।२।१९३७।]

- हिन्दू धर्म का सार ईशोपनिषद् के पहिले श्लोक में आ जाता है।
- इस जगत् में छोटा या बड़ा जो कुछ है उसमें, सूक्ष्म से सूक्ष्म परमाणु तक में, ईश्वर व्याप्त है।
- हम जो कुछ भी देखते हैं वह ईश्वर से व्याप्त है।
- जो भागवत धर्म मानता है उसको नित्य प्रातःकाल अपने विचार, अपनी वाणी और अपने धर्म श्रीकृष्ण को अर्पण करने पड़ते हैं।
- भोग या उपभोग त्याग का बदला है।

५५. व्यापक मन्त्र

[त्रावणकोर यात्रा के दौरान कोट्टयम गांव की सभा में दिये गये भाषण का अंश—सम्पा०]

मैंने बाइबिल का एक धर्मनिष्ठ ईसाई की दृष्टि से, और कुरान का एक धर्मनिष्ठ मुसलमान की दृष्टि से अध्ययन करने का प्रयत्न किया है, और इन दोनों ही धर्मग्रन्थों में मुझे जो अच्छे अंश जान पड़े उन्हें अपने जीवन में उतारते हुए मुझे कभी संकोच नहीं हुआ। मैंने दुनिया के दूसरे धर्मशास्त्रों को भी पढ़ा है, पर इन दो का नाम तो मैंने दृष्टान्त रूप में दिया है। किन्तु आप यह पूछ सकते हैं कि यदि मैं सर्व धर्मों को एक समान सच्चा और आदरणीय कहता हूँ, तो मैं हिन्दू बना हुआ हूँ इसका अर्थ क्या है? इसका कारण मैं आपको बताता हूँ। इधर मैंने हजारों स्त्री-पुरुषों की जिन सभाओं में भाषण दिये हैं उनमें मैंने, हिन्दूधर्म का जो अर्थ मैं समझता हूँ, उसे समझाने का प्रयत्न किया है। मैंने उन्हें ईशोपनिषद् के एक अत्यन्त सीधे-सादे मन्त्र को हिन्दूधर्म का साररूप बताया है। आप जानते हैं कि यह उन उपनिषदों में एक है जो कि वेद संहिता जितनी पवित्र मानी जाती हैं।

ईशोपनिषद् के पहिले ही श्लोक का अर्थ यह है—इस जगत् की सब वस्तुओं के अणु-अणु में ईश्वर व्याप रहा है। इस मन्त्र में ईश्वर को स्रष्टा, ईश, विश्व का अधिष्ठाता कहा है। इस मन्त्र के द्रष्टा ऋषि को यह कह कर सन्तोष नहीं हुआ कि सारा जगत् ईश्वर से व्याप्त है। अतः उसने आगे चल कर कहा—"ईश्वर सर्व-

व्यापी है, इसलिए यहां तुम्हारे स्वामित्व की कोई भी वस्तु नहीं; तुम्हारी देह भी तुम्हारी नहीं। तुम्हारे पास जो कुछ है उसका स्वामी तो ईश्वर है। उसके इस अधिकार से कोई इन्कार नहीं कर सकता। इस विषय में उसके साथ कोई कलह नहीं कर सकता। इसलिए जब अपने को हिन्दू कहनेवाला कोई भी मनुष्य द्विजत्व प्राप्त करता है, या जैसा कि ईसाई कहते हैं, जब वह नया अवतार लेता है, तब उसने जिस-जिस वस्तु को अज्ञान के कारण अपनी सम्पत्ति कहा था, उन सबको उसे ईश्वरार्पण कर देना पड़ता है। ईश्वरार्पण या त्याग करने के बाद उससे कहा जाता है कि, अन्न-वस्त्र-आश्रय आदि के सम्बन्ध में ईश्वर उसके योगक्षेम का वहन करेगा; उसे जिस वस्तु की आवश्यकता होगी, भगवान उसे वह देगा इसलिए जीवन की आवश्यक वस्तुओं को भोगने या उनका उपयोग करने के लिए शर्त यह है कि या तो वे ईश्वर को अर्पण कर दी जायँ, या उनका त्याग कर दिया जाय। और यह अर्पण या त्याग रोज़ होना चाहिए, नहीं तो शायद इस माया-मोह वाली दुनिया में हम जीवन की यह सबसे मुख्य बात भूल जायं। यह कह चुकने के बाद मन्त्रद्रष्टा ऋषि कहता है, "किसी के धन का लोभ न करो।" मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि इस छोटे से मन्त्र में जो सत्य समाया हुआ है वह प्रत्येक मनुष्य की इहलोक की तथा परलोक की ऊँची-से-ऊँची सब आकांक्षाओं को तृप्त करता है। जगत् के धर्मग्रन्थों की शोध के दौरान मुझे ऐसी कोई बात नहीं मिली, जो इस मन्त्र में जोड़ी जा सके। धर्मग्रन्थों का जो अल्प वाचन मैंने किया है—मैं मानता हूँ कि मेरा वाचन अति अल्प है—उसकी ओर दृष्टि डालने पर मुझे लगता है कि सर्व धर्मग्रन्थों में जो कुछ अच्छा हैं, उस सबका इस मन्त्र से ही उद्भव हुआ है। समस्त विश्व का बन्धुत्त्व—मनुष्यमात्र का ही नहीं, किन्तु जगत् के जीवमात्र का बन्धुत्व—देखना हो तो वह मुझे इस मन्त्र में मिल जाता है। सर्वेश्वर प्रभु-विषयक अविचल श्रद्धा चाहिए तो वह मुझे इस मन्त्र में मिलती है। सर्वभाव से ईश्वर की शरण में जाना हो, और यह आस्था रखनी हो कि ईश्वर मेरे योगक्षेम का वहन करेगा तो वह आस्था भी, मैं कहता हूँ कि, मुझे इस मन्त्र में मिलती है। चूँकि ईश्वर हमारे और तुम्हारे सबके रोम-रोम में, प्रत्येक श्वासोच्छ्वास में व्याप्त है, अतः इससे मैं जगत् के सब जीवों की समानता का सिद्धान्त निकालता हूँ, और इससे तमाम तात्विक साम्यवादियों की आकांक्षाओं की भी तृप्ति होनी चाहिए। यह मन्त्र मुझे बताता है कि जो चीज़ ईश्वर के स्वामित्व की है उसे मैं अपनी नहीं मान सकता। यदि मेरे जीवन को और इस मन्त्र पर आस्था रखनेवाले सब मनुष्यों के जीवन को पूर्णतः समर्पित बनना हो तो इससे यह अर्थ निकलता है कि वह जीवन सेवामय होना चाहिए।

—कोट्टायम २०।१।१९३७। ह० से० ६।२।१९३७]

५६. ईश्वर का वास

शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो ईश्वर भलाई और बुराई दोनों के मूल में है। वह खूनी का खंजर और चीर-फाड़ करने वाले सर्जन का चाकू, दोनों का संचालन करता है। परन्तु इसके बावजूद, हमारे जीवन के हित की दृष्टि से, भलाई और बुराई एक दूसरे से सर्वथा भिन्न और असंगत हैं। हमारे लिए वे प्रकाश और अन्धकार की, ईश्वर और शैतान की प्रतीक हैं।

—ह० ज०, २०।२।१९३७]

५७. शरीर-सत्ता का ज्ञान

शरीर केवल ईश्वर के रहने या आत्मा को पहिचानने का घर है, यह जान लें तो सब कुछ अपने आप ठिकाने आ जाय। ऐसा हो जाय तो धर्म के नाम पर चल रहा ढोंग मिट जाय।

—महाबलेश्वर, ३।५।१९४५। 'बापू के पत्र : मणि बहिन पटेल के नाम' पृष्ठ १३७, न० जी० प्र० मं०]

५८. ईश्वर का अर्थ

"आजकल आपकी लिखी गीताबोध (पुस्तक) पढ़ रहा हूँ और उसे समझने की कोशिश करता हूँ। गीताबोध के दसवें अध्याय को पढ़ने के बाद जो सवाल मेरे मन में उठा है, उसी के सम्बन्ध में यह पत्र लिख रहा हूँ। उसमें लिखा गया है कि श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं : 'और छल करनेवालों का द्यूत भी मुझी को समझ।' इस संसार में जो भी कुछ होता है, वह मेरी आज्ञा के बिना नहीं हो सकता। भला-बुरा भी तभी होता है, जब मैं होने देता हूं। तो क्या भगवान बुरा भी होने देता है? और जब यह चीज भगवान की आज्ञा से होती है, तो वह इसका बदला बुराई के रूप में कैसे दे सकता है? क्या परमात्मा से संसार की उत्पत्ति इसीलिए है? क्या संसार का समय शान्तिपूर्ण वातावरण में कभी बीत ही नहीं सकता?"

एक पत्र-लेखक ने यह सवाल पूछा है। यह कहना कि बुराई का मालिक भी ईश्वर है, कानों को कठोर लगता है। लेकिन अगर वह अच्छाई का मालिक है, तो बुराई का भी है ही। रावण ने अनन्त शक्ति दिखाई, वह भी तब जब ईश्वर ने उसे दिखाने दी। मेरे ख़याल में इस सारी उलझन की जड़ ईश्वर-तत्व को न समझने में

है। ईश्वर कोई पुरुष नहीं, व्यक्ति नहीं। उसके लिए कोई विशेषण नहीं लगाया जा सकता। ईश्वर खुद ही नियम बनानेवाला और न्यायाधीश है। संसार में हमें यह चीज़ इतनी सुसंगत रीति से कहीं देखने को नहीं मिलती। लेकिन जब कोई आदमी ऐसा करता है, तो हम उसे शाहंशाह नीरो (शैतान) के रूप में देखते हैं। उदाहरण के लिए हिन्दुस्तान का वाइसराय खुद नियम बनाने वाला, नियम और न्यायाधीश है। मनुष्य को यह स्थिति शोभा नहीं देती। लेकिन जिसे हम ईश्वर के रूप में पूजते हैं, उसके लिए तो यह न केवल शोभनीय है, बल्कि वास्तविक यथार्थ भी यही है। अगर हम इस चीज़ को समझ लें, तो इस पत्र में जो सवाल उठाया गया है, उसका जवाब मिल जाता है, या यों कहिए कि फिर वह सवाल उठ ही नहीं सकता।

दुनिया अपना समय शान्तिमय वातावरण में बिता ही नहीं सकती, यह सवाल भी खड़ा नहीं हो सकता। जब दुनिया चाहेगी तब वातावरण भी शान्तिमय हो जायगा। यह सवाल तो उठना ही न चाहिए कि दुनिया कभी ऐसा चाहेगी या नहीं, या चाहेगी तो कब। ऐसे सवाल उठाना मेरे खयाल में निठल्लेपन की निशानी है। "आप भला, तो जग भला" के अनुसार सवाल पूछनेवाले खुद हर हालत में शान्ति रख सकें, तो उन्हें समझ लेना चाहिए कि जो काम वे खुद कर सकते हैं, वह सारी दुनिया कर सकेगी। ऐसा न मानने का मतलब होगा कि वे बड़े अभिमानी हैं।

—ह० ब०। ह० से० २४।२।१९४६]

● ईश्वर खुद ही नियम बनानेवाला और न्यायाधीश है।

५९. अनासक्ति-रसायन

...मेरा वर्तमान जीवन कितना ही अच्छा क्यों न हो, तो भी अपने पूर्व जीवन के कारण, सम्भव है, मैं पूरी उम्र तक जी न सकूँ। फिर भी, मेरा विचार है कि अपने मन और शरीर के बीच सम्पूर्ण अनासक्ति सिद्ध करके मैं अपने पूर्व जीवन के प्रभाव को मिटा सकता हूँ। अनासक्ति-द्वारा मनुष्य अपने विगत जीवन की बुरी आदतों के प्रभाव को मिटा सकता है और विरासत में मिली हुई त्रुटियों और आस-पास के दोषों का भी निवारण कर सकता है। सामान्य रूप से जब-जब अनजाने या जान-बूझ कर प्राकृतिक नियमों को तोड़ा जाता है तब-तब इंसान को उसकी कीमत चुकानी पड़ती है। लेकिन इसमें आशा की बात यह है कि अगर व्यक्ति पूरी तरह अनासक्त बन सके तो वह इन सब चीजों को मिटा सकता है। जबतक

व्यक्ति 'द्विज' नहीं बनता, यानी वह अपने जीवन का कायापलट नहीं कर डालता, तबतक उसे शाश्वत जीवन की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसके विपरीत अगर आदमी अपने जीवन को बदल डाले तो वह शाश्वत जीवन प्राप्त कर सकता है। मृत्यु से पहिले दूसरी कोई बाधा नहीं होती। आदमी जहां चाहे और जब चाहे तब अपने जीवन में नये सिरे से हेरफेर कर सकता है। अगर वह अनासक्ति की कुल्हाड़ी से भूतकाल के बन्धनों और विरासतों को पूरी तरह काट चुका है, तो बीता हुआ समय उसके वर्तमान जीवन-प्रवाह में कोई रुकावट नहीं डाल सकता।
—पूना, २।३।१९४६। ह० ज०। ह० से०, ७।४।१९४६]

६०. मूर्ति और देवालय

व्यक्तिगत रूप से मैं स्वयं उतना बड़ा मूर्ति-भंजक हूँ, जितना कि मूर्ति-पूजक हूँ। आप सब लोग भी हिन्दू हों या मुसलमान, इसी प्रकार के हैं, चाहे इस बात को आप स्वीकार करें या न करें। मैं जानता हूं कि मनुष्य प्रतीक-प्रेमी है। क्या मस्जिद और गिरजे वस्तुतः वही चीज नहीं हैं, जो मन्दिर है ? परमेश्वर सब जगह रहता है। वह मानव-शरीर के रोम-रोम में जिस तरह समाया हुआ है उसी तरह और उसी प्रमाण में वह समस्त निर्जीव वस्तुओं में भी वर्तमान है। लेकिन मनुष्य ने कुछ वस्तुओं और स्थानों में अन्य वस्तुओं और स्थानों से अधिक पवित्रता मान ली है।—अगर पूजा की स्वतन्त्रता पर रोक लगाई जाय तो मैं स्वयं मूर्ति को अपनी छाती से चिपकाकर उसकी रक्षा के लिए अपने प्राणों का बलिदान कर देना पसन्द करूंगा।
—१२।३।१९४७। ह० ज०। ह० से०, ३०।३।१९४७]

६१. मेरी चिन्ता

जिसे मैं सम्पूर्ण विश्वास के साथ अपने श्वासोच्छ्वास का स्वामी समझता हूं; जिसे मैं अपना नमक देने वाला मानता हूँ, उससे मैं अभी तक दूर हूँ, यह चीज मुझे प्रति क्षण खटकती है। इसके कारण-रूप अपने विकारों को मैं देख सकता हूँ, पर उन्हें अभी तक निकाल नहीं पा रहा हूँ।
—आत्मकथा की प्रस्तावना, पृष्ठ ९, संस्करण १९५७]

६२. मेरी अधीरता

अपने सर्जनहार प्रभु की उपस्थिति अनुभव करने के लिए मैं अधीर हो गया हूँ। मेरे लिए वह सत्यरूप है। अपने जीवन के पूर्वार्द्ध में मैंने यह जान लिया कि यदि मुझे सत्य का साक्षात्कार करना हो, तो प्राणों को खतरे में डाल कर भी मुझे प्रेम के नियम का पालन करना चाहिए।

— नेशंस वाइस, पृ० ३१९]

गांधी जी के प्रेरणा-स्रोत

[१]

व्यक्ति : प्राचीन

१. हरिश्चन्द्र

सूर्यवंश-रत्न अयोध्यापति हरिश्चन्द्र भगवान राम के पूर्वज थे। इनकी सत्यनिष्ठा की अमर गाथा आज भी भारतीय जनमानस पर दृढ़ता और स्पष्टता से अंकित है। गांधी जी ने बचपन में ही हरिश्चन्द्र नाटक देखा था। तभी से उनके मन में सत्याचरण के प्रति दृढ़ श्रद्धा उद्भूत हुई जो कालान्तर में अनुक्षण विकसित होती रहीं। गांधी जी ने हरिश्चन्द्र की यशगाथा से बहुत प्रेरणा प्राप्त की थी और सत्य के प्रति उनकी निष्ठा में इस प्रेरणा की बड़ी देन है।

२. राम

मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम का चरित गांधी जी का आदर्श एवं आराध्य रहा है। गांधी जी रामायण को हिन्दू धर्म के श्रेष्ठतम ग्रन्थों में से एक मानते हैं, जो उनकी सनातन वैष्णव मान्यताओं के लिए उपयुक्त ही है। रामचरित के विभिन्न प्रसंगों (राम का राज्य-त्याग, विमाता कैकेयी एवं वनवास-दाता पिता के प्रति अकल्मष स्नेह, निर्दोष एकपत्नीव्रत, दृढ़ता, शूरता, प्रतिज्ञा-पालन, प्रजारंजन, भरत का बन्धु प्रेम, लक्ष्मण का ब्रह्मचर्य-पालन एवं सेवा-भाव, हनुमान की स्वामि-भक्ति आदि) से गांधी जी को अत्यधिक प्रेरणा मिली थी और वे समय-समय पर इनका उदाहरण देते थे।

ऊपर से देखने में दशरथ-नन्दन राम गांधी जी के आदर्श थे पर गांधी जी जिस राम की उपासना करते थे, जिसके नामोच्चारण के साथ उन्होंने शरीर-त्याग किया वह दशरथ-नन्दन के अतिरिक्त कुछ और भी था। वह देहधारी, मर्त्य, क्षत्रिय राजकुमार नहीं, अलख, अगोचर, निरंजन, निरंकार परब्रह्म था। वह घट-घटवासी दिव्य ज्योति सगुण के साथ ही निर्गुण भी थी।

राम की इस रूप में उपासना अनेक निर्गुण भक्त सन्त-कवियों, यथा कबीर, ने की है। वे कहते हैं—दशरथ सुत तिहुं लोक बखाना, राम नाम का मरम है आना।

गांधी जी कुछ इसी शैली में अपने राम की व्याख्या करते हैं—"मेरा राम, हमारी प्रार्थना का राम, ऐतिहासिक राम नहीं है, जो दशरथ का पुत्र और अयोध्या

का राजा था। वह नित्य अजन्मा और अद्वितीय परमेश्वर है। मैं उसी की पूजा करता हूँ। मैं उसी की सहायता चाहता हूँ और आपको भी ऐसा ही करना चाहिए। वह समान रूप से सबका है। इसलिए मुझे कोई कारण नहीं दीखता कि किसी मुसलमान को या और किसी को भी उसका नाम लेने में आपत्ति क्यों होनी चाहिए। परन्तु ईश्वर को राम के रूप में पहिचानने के लिए वह किसी प्रकार बँधा नहीं है।"

इस निरंजन परमेश्वर-रूप राम-नाम के अहर्निश उच्चारण का प्रयत्न और आग्रह गांधी जी को यावज्जीवन बना रहा। इस राम पर उनकी दृढ़ आस्था थी। उनकी दृष्टि में यही राम मनुष्य को संकट, भय और बाधाओं से मुक्त कर सकता है।

गांधी जी की धार्मिक विचारणा में राम-नाम को वही महत्व प्राप्त है, जो शरीर में प्राण को है।

३. कृष्ण

भगवान कृष्ण का कर्मयोग-सन्देश (गीता) विश्व के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थों में एक है। गांधी जी ने इस कृति से सर्वाधिक प्रेरणा प्राप्त की थी। उन्होंने कृष्ण के जीवन के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर विस्तार से विचार किया। कृष्ण की ऐतिहासिकता, उनकी लीलाओं की रूपकमय व्याख्या और उनके देवत्व की यथार्थता के सम्बन्ध में गांधी जी ने विस्तार से लिखा है। उनके धार्मिक चिन्तन पर कृष्ण-चरित का उपयुक्त प्रभाव पड़ा है। परन्तु इस सम्बन्ध में भी राम की भांति उनके कृष्ण ऐतिहासिक कृष्ण नहीं हैं; जगदीश्वर के प्रतीक हैं। उनके लिए जो राम हैं, वही कृष्ण हैं।

४. प्रह्लाद

राक्षसराज हिरण्यकशिपु के पुत्र भक्त प्रह्लाद अपनी आस्था एवं विनय के लिए आदर्श रहे हैं। प्रह्लाद ने ईश्वर के अस्तित्व-विषयक अपने अत्याचारी पिता की धारणा का नम्रतापूर्वक विरोध किया। अभिमानी पिता ईश्वर के अस्तित्व से इन्कार करते थे किन्तु प्रह्लाद की प्रभु पर अनन्त आस्था थी। बालक प्रह्लाद को इस आस्था के लिए समुद्र में डुबोया गया; आग में जलाया गया किन्तु उसका बाल भी बाँका नहीं हुआ। अन्त में भक्त की आस्था विजयिनी हुई।

गांधी जी प्रह्लाद को आदर्श सविनय अवज्ञाकारी मानते थे। वे भक्त बालक की नम्रता, विनय, धैर्य, कष्ट-सहिष्णुता एवं आस्था को प्रेरणा की वस्तु मानते और बताते थे।

५. श्रवणकुमार

मातृ-पितृ-भक्त बालक श्रवणकुमार की कथा हमारे पौराणिक साहित्य की प्रेरणाप्रद कथा-मालिका का सुमेरु है। गांधी जी ने बचपन में टीन के बक्सों में दिखाये जाने वाले बायस्कोप में बालक श्रवणकुमार का चित्र देखा था। माता-पिता की सेवा की प्रेरणा उन्हें इस चित्र से मिली थी। श्रवणकुमार के प्रशंसनीय और श्लाघ्य चरित्र की स्तुति गांधी जी ने अनेक स्थानों पर की है।

६. महावीर

जैन धर्म के प्रवर्त्तक महावीर तथा उनके उपदेशों से गांधी जी ने अपने धर्म-चिन्तन में बड़ी प्रेरणा प्राप्त की थी। उनके त्याग, तितिक्षा, तप तथा जीवमात्र के प्रति करुणा, जिसने लाखों भारतीयों को आज भी अनुप्राणित कर रखा है, से अपने जीवनादर्शों का निर्माण करने में गांधी जी को बड़ी सहायता मिली थी।

७. बुद्ध

कपिलवस्तु में जन्मे शाक्यवंशीय राजकुमार सिद्धार्थ ने गौतम बुद्ध के नाम से विश्व को अहिंसा, जीव-दया, करुणा एवं संयम का उपदेश दिया। बुद्ध ने उस समय धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया था जब भारतभूमि यज्ञ-पशुओं के रक्त से स्नान कर रही थी; जब वेद और शास्त्र प्रचण्ड तर्कों एवं कर्मकाण्डवाद से 'धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां' की स्थिति को पहुँच गये थे। उनका उपदेश कुछ ही दिनों में भारत की सीमा लाँघकर लंका, वर्मा, हिन्देशिया, हिन्दचीन, मंगोलिया, मध्य एशिया एवं चीन तक पहुँच गया।

गांधी जी ने सर एडविन आर्नल्ड-कृत बुद्ध चरित (लाइट आफ़ एशिया) से भगवान बुद्ध के कृतित्व एवं व्यक्तित्व का परिचय प्राप्त किया। उन्हें अहिंसा पर विचार करने में बुद्ध से सहायता मिली। बुद्ध की जीवदया, जो समस्त प्राणिजगत् तक जाती थी, गांधी जी की दृष्टि में ईसा की करुणा से भी श्रेष्ठ थी। बुद्ध के त्याग, करुणा और नीति से उन्होंने बहुत प्रेरणा ली थी।

८. सुकरात

ईसा से लगभग ४०० वर्ष पूर्व यूनान के एथेंस नगर में सुकरात (साक्रेटीज़) नामक चिन्तक, दार्शनिक महापुरुष हुए थे। उन्होंने सत्य और नीति-विषयक श्रेष्ठतम विचारों का उपदेश जनता को दिया। उनके विचार तत्कालीन राज्याधिकारियों को न रुचे और उन्होंने सुकरात पर मुकदमा चलाया। दार्शनिक

सुकरात ने निर्भीक भाव से अत्यन्त युक्तिपूर्वक अपने ऊपर लगाये गये आरोपों का खण्डन किया किन्तु द्वेषी न्यायपतियों ने उसे मृत्युदण्ड दिया। सुकरात ने न्याय करनेवालों के प्रति द्वेष या अमर्ष प्रदर्शित किये बिना हँसकर विष का प्याला पिया और मृत्यु को गले लगाया।

गांधी जी ने दक्षिण अफ्रीका-प्रवास के दौरान सुकरात के जीवन-वृत और कृतित्व के सम्बन्ध में अध्ययन किया था। उन्हें यूनानी दार्शनिक की श्रद्धा, सत्य-निष्ठा, नीतिमत्ता, निर्भीकता, सरलता, त्याग एवं चिन्तन के प्रति सहज आकर्षण हो आया। उन्होंने सुकरात के सम्बन्ध में एक लेख-माला भी 'इण्डियनओपीनियन' में प्रकाशित कराई थी। उनके धर्म एवं नीति-सम्बन्धी विचारों की पृष्ठभूमि में इस यूनानी महापुरुष की प्रेरणा प्रभूत मात्रा में रही है।

९. ईसा

ईसाई धर्म अथवा ईसा मसीह के सम्बन्ध में गांधी जी अल्पावस्था में विशेष रूप से कुछ नहीं जानते थे। उनके मस्तिष्क में ईसाई-धर्म का गलत चित्र था। किन्तु इंग्लैण्ड जाकर गांधी जी ने ईसा मसीह और उनके धर्म के बारे में पढ़ा और उससे प्रभावित हुए। गिरि-प्रवचन और उनके दस आदेश ने गांधी जी को सर्वाधिक प्रभावित किया। गिरि-प्रवचन में उन्हें उच्चकोटि की उदारता, सहिष्णुता, क्षमा और करुणा के दर्शन हुए। ईसा को वह आदर्श सत्याग्रही मानते थे जिसने सत्य के लिए चरम बलिदान दिया।

ईसाई धर्म की सामूहिक प्रार्थना, ईसा का बलिदान आदि ऐसी प्रेरक वस्तुएं थीं जिनसे गांधी जी ने अपने धार्मिक आचरण के लिए प्रेरणा प्राप्त की थी। पर वे ईसा को ईसाइयों की तरह ईश्वर का एकमात्र पुत्र नहीं मान सके,---ऐसा एकमात्र पुत्र जिसकी शरण जाने से ही मनुष्य को मुक्ति मिल सकती है। गांधी जी इस सम्बन्ध में स्पष्ट कहते हैं---

"ईसा ने ईश्वरीय भावना और इच्छा को जिस तरह प्रकट किया उस तरह और कोई नहीं कर सका। इसी अर्थ में मैं उन्हें ईश्वर-पुत्र के रूप में देखता और मानता हूं। और चूँकि ईसा के जीवन में यह महत्व और अलौकिकता है, इसलिए मेरा विश्वास है कि वे केवल ईसाई-जगत् के ही नहीं, परन्तु सारे संसार के हैं; सभी जातियों और लोगों के हैं---भले वे किसी भी झण्डे, नाम या सिद्धान्त के मातहत काम करें, किसी भी ऐसे धर्म को न मानें या ऐसे ईश्वर की पूजा करें जो उन्हें बाप-दादों से विरासत में मिला हो।" (---दि मार्डन रिव्यू, अक्तूबर १९४१, पृ० ४०६)

१०. मुहम्मद

इस्लाम के पैगम्बर मुहम्मद साहब उच्चकोटि के तपस्वी, ज्ञानी, संत और साहसी योद्धा थे। इन्होंने उस समय जन्म लिया जब अरब जाति विभिन्न कबीलों में बँटी थी और कुरीतियों, अन्धविश्वासों और अज्ञानपूर्ण धर्म-निष्ठाओं से जकड़ी हुई थी। इस्लाम के पैगम्बर ने अपने चारों ओर फैले इस अज्ञान-तिमिर को दूर कर ज्ञान की ज्योति फैलाई। उन्होंने संसार को एकेश्वरवाद और ईश्वर की सर्वश्रेष्ठता का विश्वास दिलाया। उन्होंने जिस धर्म का उपदेश किया वह धार्मिक रूढ़ियों, अन्ध श्रद्धाओं से मुक्त एक सरल, सादा और सहज धर्म था। उसमें मूर्तिपूजा न थी; पेचीदी शास्त्र-क्रियाएं न थीं; तर्क से परे थोथी कल्पना न थी।

इस्लाम की सादगी ने अरबों को आकर्षित किया और वे सब इस श्रेष्ठ धर्म की ध्वजा-तले एकत्र हो गये। पैगम्बर मुहम्मद साहब का सन्देश तूफान की गति से एशिया, अफ्रीका और यूरोप तक फैल गया। भूमध्य सागर से प्रशान्त महासागर के बीच विस्तृत क्षेत्र में इस्लाम की विजय-पताका फहराने लगी।

गांधी जी ने पैगम्बर मुहम्मद साहब के व्यक्तित्व और कृतित्व का गम्भीर अध्ययन किया था। दक्षिण-अफ्रीका-निवास के दौरान उनका मुसलमानों से सम्पर्क बढ़ा और वे इस्लाम एवं उसके पैगम्बर के जीवन-वृत्त से अत्यन्त प्रभावित हुए। पैगम्बर की सादगी, सत्यनिष्ठा, एवं तपश्चर्या गांधी जी को अनुकरणीय लगी। इसीलिए उन्होंने अनेक स्थलों पर कहा है कि इस्लाम के प्रसार का कारण उसके सैनिकों की तलवार नहीं, उसके फकीरों का सादा-सरल जीवन है। पैगम्बर की ईश्वर के प्रति अडिग आस्था भी गांधी जी के लिए अनुकरणीय वस्तु थी, जिसके उद्धरण उन्होंने अनेक बार प्रस्तुत किये हैं।

गांधी जी जीवन भर हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रबल समर्थक और इस्लाम के जिज्ञासु अध्येता बने रहे।

इसके अतिरिक्त गांधी जी ने कबीर, सूरदास, मीराबाई, तुलसीदास, नरसी मेहता, अखा भगत, तुकाराम, एकनाथ, श्यामल भट्ट इत्यादि अनेकानेक संतों एवं भक्तों की रचनाओं से प्रेरणा ग्रहण कर अपनी सत्यनिष्ठा एवं भक्ति-भावना को दृढ़ किया था। उनके जीवन में इन सब की प्रेरणाएं ओत-प्रोत हैं।

[२]

व्यक्ति : अर्वाचीन

१. माँ पुतलीबाई

श्रीमती पुतली बाई महात्मा गांधी की माता थीं। वह धार्मिक विचारोंवाली एक साध्वी महिला थीं और पूजा-पाठ के बिना कभी भोजन नहीं करती थीं। प्रतिदिन वैष्णव-मन्दिर जातीं और प्रतिवर्ष चातुर्मास्य व्रत करती थीं। कठिन-से-कठिन व्रत लेकर उस पर दृढ़तापूर्वक आरूढ़ रहना और रुग्ण हो जाने पर भी उसे न छोड़ना पुतली बाई का स्वभाव था। एक बार चान्द्रायण व्रत करते समय वे अस्वस्थ हुईं पर उन्होंने व्रत न छोड़ा। एक वर्ष उन्होंने चातुर्मास में एक दिन के अन्तर से भोजन करने का व्रत लिया और उसका निर्वाह किया। निरन्तर दो-तीन दिन का व्रत तो उन्हें बहुधा करना पड़ता था। एक चातुर्मास में उन्होंने सूर्य-नारायण के दर्शन के पश्चात् भोजन करने का व्रत लिया था। बालक गांधी परिवार के अन्य बच्चों के साथ बड़ी उत्सुकता से सूर्य-दर्शन की बाट जोहते। वर्षा-ऋतु में यों भी सूर्य के दर्शन दुर्लभ हो जाते हैं। ऐसे भी दिन आते जब बालक गांधी सूर्य को देख कर मां को पुकार उठते—'मां-मां सूर्य निकला।' माता पुतली बाई तेज कदमों सूर्य के दर्शन-हेतु आतीं तबतक वह बादलों में छुप जाता। मां यह कहते हुए लौट जातीं कि कोई बात नहीं, आज खाना बदा नहीं है।

यदि इस कथन में अंशमात्र भी सत्य है कि धरित्री और जननी के संस्कार की छाया व्यक्ति पर सर्वप्रथम पड़ती है, तो हमें निःसंकोच भाव से यह मान लेना चाहिए कि गांधी जी की परवर्ती अटूट धार्मिक निष्ठा का बीज उनकी माता की अडिग धार्मिक आस्था में निहित था। हमारी संस्कृति ने देवताओं की कोटि में प्रथम स्थान पर मां को अभिषिक्त कर कहा है—मातृ देवो भव, पितृ देवो भव, आचार्य देवो भव। इस वचन के अनुसार भी गांधी जी की धार्मिक प्रेरणा का पहिला श्रेय उनकी माता को मिलना चाहिए।

गांधी जी बैरिस्टरी के अध्ययन-हेतु इंग्लैण्ड जाने लगे तो उनकी मां ने उनसे दो प्रतिज्ञाएं करवाई थीं। प्रथम तो यह कि इंग्लैण्ड में गांधी जी मद्य-मांस का सेवन नहीं करेंगे और द्वितीय यह कि वह स्त्री-संसर्ग से बचे रहेंगे। महात्मा जी ने ये संकल्प धारण किये और किस प्रकार प्रतिकूल परिस्थितियों से जूझ कर इनका निर्वाह किया, इसका प्रेरणाप्रद विवरण आत्मकथा में विस्तार से दिया गया है।

गांधी जी की धार्मिक प्रवृत्तियों का एक सशक्त संबल उनकी माता का आदर्श धार्मिक चरित्र था, इसमें सन्देह नहीं।

२. रंभा

यह गांधी-परिवार की सेविका थीं। इन्होंने बालक गांधी का पालन-पोषण किया था। यह एक धार्मिक वृत्ति वाली अपढ़ महिला थीं, जिन्हें समस्त वेद-वेदांग और शास्त्र तथा स्मृतियोंके महासागर के मन्थन-स्वरूप उद्‌भूत नवनीत राम-नाम पर आस्था थी। आज भी हिन्दू-समाज में जो लोग अति पठित नहीं हैं, सरल स्वभाव और आस्थाशील वृत्ति के हैं, वे वेद-वितण्डा के अस्ति-नास्ति को छोड़ कर शान्तिपूर्वक राम के चरण गह लेते हैं। रंभाबाई भी ऐसे ही व्यक्तियों में एक थीं।

गांधी जी बचपन में भीरु और भीत स्वभाव के बालक थे। उन्हें भूत और साँप आदि का डर लगा करता था। वे अपने भय को दूर भगाने वाली किसी संजीवनी की तलाश में थे। उन्होंने रंभाबाई से अपना भय कह सुनाया तो सीधी-सादी दासी ने उन्हें अपना राम-बाण उपाय सुझा दिया। उसने बालक गांधी से कहा कि भय के प्रसंगों पर वह राम-नाम ले लिया करें; इससे उनकी रक्षा होगी। गांधी जी ने दासी की सलाह पर राम-नाम लेना सीख लिया और यह शाश्वत-नाम आगे चल कर उनके जीवन का संबल बन गया। मृत्यु के समय गांधी जी की अन्तिम श्वास ने भी पूर्ण दृढ़ता से राम-नाम का उच्चारण किया।

गांधी जी ने रंभाबाई को राम-नाम के मन्त्रदाता रूप में कृतज्ञतापूर्वक स्मरण किया है।

३. लाधा महाराज

यह पोरबन्दर के एक परमभक्त रामायणी संत थे। इन्होंने गांधी जी के रुग्ण पिता को कुछ दिनों तक रामायण की कथा सुनाई थी। कहते हैं कि एक बार इन्हें कुष्ठ रोग हो गया। इन्होंने इसके लिए कोई औषधोपचार नहीं किया। यह राम-नाम का जप करते और बीलेश्वर महादेव के मन्दिर पर चढ़े हुए बिल्वपत्र लेकर उन्हें कुष्ठ-पीड़ित अंग पर बाँधते। कुछ ही दिनों में इस उपचार से लाधा महाराज रोग-मुक्त हो गये। जिन दिनों बालक गांधी ने उन्हें देखा था, वे पूर्णतया रोग-मुक्त थे। उनका कण्ठ मधुर था। वह दोहे-चौपाई गाकर उनका अर्थ समझाते थे। स्वयं राम-कथा-रस में लीन हो जाते और श्रोताओं को भी उसमें आकण्ठ निमग्न कर देते। बालक गांधी को इस कथा में बहुत रस मिलता था।

लाधा महाराज की प्रेरणा ने ही गांधी जी के अन्दर रामचरितमानस के प्रति अनुराग उत्पन्न कर दिया और आगे चल कर उन्होंने इसको भक्ति मार्ग के सर्वोत्तम ग्रन्थ की संज्ञा दी। लाधा महाराज की प्रेरणा का दूसरा प्रतिफल था गांधी जी के अन्दर ईश्वर की अनन्त चमत्कारपूर्ण शक्तियों में विश्वास उत्पन्न होना। जो प्रकृत और सहज रूप से सम्भव नहीं वह सब ईश-कृपा से हस्तामलकवत् साध्य है, इस धारणा के प्रमाणस्वरूप गांधी जी ने अनेक स्थलों पर लाधा महाराज की रोग-मुक्ति का प्रमाण प्रस्तुत किया है।

३. अज्ञात अंग्रेज-बन्धु

इंग्लैण्ड-निवास के दौरान गांधी जी का परिचय दो अंग्रेजों से हुआ जो सगे भाई थे। गांधी जी ने इनका नाम तो नहीं दिया है, किन्तु अपनी धार्मिक प्रेरणा के लिए इनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त की है। ये दोनों भाई उदार विचारोंवाले थियासफिस्ट थे। थियॉसफी अनेक धर्मों के उच्चादर्श की चयनवृत्ति पर आधारित एक उदार सम्प्रदाय है जो रहस्यवाद और हिन्दू-धर्म पर मुख्य रूप से आधारित है।

दोनों भाई गीता पर अपार श्रद्धा रखते थे। उन्होंने अंग्रेज कवि एडविन अर्नल्ड-कृत गीता का अनुवाद पढ़ा था और वे इसे मूल संस्कृत में भी पढ़ना चाहते थे। उन्होंने गांधी जी को संस्कृत में गीता पढ़ने के लिए आमन्त्रित किया। गांधी जी इस बात के लिए लज्जित हुए कि उन्होंने संस्कृत या भाषा किसी रूप में गीता नहीं पढ़ी थी। फिर भी वे अपने यत्किंचित संस्कृत-ज्ञान से गीता-अध्ययन में जो भी सहयोग संभव था, देने के लिए राजी हुए। अंग्रेज बन्धुओं के साथ गीता का अध्ययन गांधी जी के धार्मिक चिन्तन का प्रकाश-स्तम्भ बन गया। उन्होंने इन्हीं भाइयों की प्रेरणा से लाइट आफ एशिया (बुद्ध-चरित) भी पढ़ा और इस प्रकार वे भगवान बुद्ध एवं बौद्ध धर्म से परिचित हुए। ये भाई गांधी जी को ब्लैवेट्स्की लाज में भी ले गये जहाँ गांधी जी का परिचय मैडम ब्लैवेट्स्की और श्रीमती एनीबेसेण्ट से कराया गया। इस प्रकार उन्हें थियासफी को निकट से देखने-समझने का मौक़ा मिला। उन्होंने इन भाइयों-द्वारा प्रदत्त 'की टु थियासफी' पुस्तक पढ़ी। इससे पहिली बार उनकी इस धारणा का पूर्णतया खण्डन हो गया कि हिन्दू-धर्म वहमों से भरा है।

ये दोनों भाई गांधी जी को गीता से परिचित कराने, बौद्ध धर्म एवं थियासफी से परिचित कराने एवं हिन्दू-धर्म के प्रति उनकी आस्था दृढ़ करने के श्रेय-भागी हैं।

४. श्री मद्राजचन्द्र (रायचन्द भाई)

यह महात्मा गांधी के धर्म-दीप थे। गांधी जी धार्मिक विषयों में इन्हें मार्ग-दर्शक और सलाहकार मानते थे। उनके मन में धर्म-सम्बन्धी जो भी जिज्ञासा अथवा शंका उठती थी उसका समाधान वह रायचन्द भाई के पास ढूँढ़ा करते थे।

श्रीमद्राजचन्द्र एक प्रसिद्ध जैन सन्त थे। इनका जन्म काठियावाड़ के अन्तर्गत मोरवी जिले के ववाणिया नामक एक छोटे से गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम रजवीभाई था। इनका जन्म कार्तिक सुदी १५ सम्वत् १९२४ को हुआ था। यह ओसवाल वैश्य जाति में जन्मे थे। बाल्यावस्था से ही अत्यन्त होनहार और विलक्षण स्वभाव के थे। इनमें अष्टावधान करने की शक्ति किशोरावस्था में ही आ चुकी थी। श्रीमद्राजचन्द्र ने अपनी चिन्तन-धारा, काव्य शक्ति और अवधान-शक्ति में चमत्कारिक विकास किया और बम्बई आये। बम्वई से प्रकाशित अनेक प्रमुख पत्रों ने इस जैन सन्त की अलौकिक शक्ति की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की। इनके बारे में २४ जनवरी सन् १८८७ के टाइम्स आफ़ इण्डिया में यह नोट प्रकाशित हुआ था :—

"राजचन्द्र जी भाई नामक एक १९ वर्ष के युवा हिन्दू की स्मरण-शक्ति तथा मानसिक शक्ति के प्रयोग देखने के लिए गत शनिवार के सन्ध्या समय फ्राम जी कावस जी इंस्टीट्यूट में देशी सज्जनों का एक भव्य सम्मेलन हुआ था। इस सम्मेलन के सभापति डाक्टर पीटर्सन नियुक्त हुए थे। भिन्न-भिन्न जातियों के दर्शकों में से दस सज्जनों की एक समिति संगठित की गई। इन सज्जनों ने दस भाषाओं के छः-छः शब्दों के दस वाक्य वना कर लिख दिये और वे विना तरतीव श्रीमद्राजचन्द्र को सुना दिये गये। इसके थोड़े ही समय बाद इस हिन्दू युवा ने देखते-देखते अपनी स्मृति के वल पर उन सब वाक्यों को क्रमवार सुना दिया। हिन्दू युवक की इस विलक्षण शक्ति को देख उपस्थित मण्डली वहुत ही प्रसन्न हुई। इस युवा की स्पर्शेन्द्रिय और मन अलौकिक थे। इस वात की परीक्षा के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की लगभग वारह पुस्तकें उसे वताई गई, और सव के नाम सुना दिये गये। इसके वाद उसकी आँखों पर पट्टी वाँध कर उसके हाथों पर जो-जो पुस्तकें रखी गई उन्हें हाथों से टटोल कर उन सवके नाम इस युवक ने वता दिये। डाक्टर पीटर्सन ने इस युवक की आश्चर्यजनक स्मरणशक्ति और मानसिक शक्ति को देख कर इसे वहुत धन्यवाद दिया और जैनसमाज की ओर से इसे एक स्वर्ण-पदक प्रदान किया।"

बम्वई हाईकोर्ट के चीफ़ जस्टिस सर चार्ल्स सारजेण्ट तो श्रीमद् राजचन्द्र

की प्रतिभा से इतने प्रभावित हुए कि उन्हें इंग्लैण्ड चलने के लिए कहने लगे। पर मुमुक्षु रायचन्द्र भाई ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया।

इक्कीस वर्ष की अवस्था में राजचन्द्र भाई ने व्यापारिक क्षेत्र में प्रवेश किया। वे रत्नों का व्यवसाय करते थे और उसमें अत्यन्त सफल रहे। इन्होंने विवाह भी किया पर गृहस्थाश्रम में इनकी स्थिति जल-कमलवत् थी।

श्रीमद् राजचन्द्र जन्म से ही वैराग्य-वृत्ति के थे। वह निरन्तर चिन्तन एवं ध्यान में लीन रहते। उन्होंने अनेक भारतीय दर्शनों एवं धर्मों का गहरा अध्ययन किया था और अच्छे अनुकरणीय विचारों को प्रत्येक धर्म-दर्शन से ग्रहण कर लेना उनकी सहज वृत्ति थी। धार्मिक सहिष्णुता उनमें पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थी। वह स्वयं श्वेताम्वर जैन सम्प्रदाय के अनुयायी थे पर अद्वैतवादी शंकराचार्य एवं भगवान कृष्ण की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करने में उन्हें कोई हिचक न थी।

श्रीमद् राजचन्द्र ने थोड़ी ही अवस्था में इस संसार का त्याग किया पर वह जवतक जिये अपनी ज्ञान-ज्योति से देश को प्रकाशित करते रहे।

गांधी जी और रायचन्द भाई का सम्पर्क अत्यन्त घनिष्ठ था। गांधी जी ने स्वयं स्वीकार किया है, "मेरे जीवन पर मुख्य रूप से श्रीमद् राजचन्द्र की छाप पड़ी है। महात्मा तालसताय और रस्किन की अपेक्षा भी श्रीमद् राजचन्द्र ने मुझ पर गहरा असर डाला है। मैंने अनेक वार कहा और लिखा है कि मैंने अपने जीवन में वहुतों से वहुत कुछ ग्रहण किया है। पर यदि मैंने सवसे अधिक किसी के जीवन से ग्रहण किया हो तो वह कवि श्री (श्रीमद् राजचन्द्र) के जीवन से ग्रहण किया है। दयाधर्म तो मैंने उन्हीं के जीवन से सीखा है। वहुत से प्रसंगों में तो हमें जड़ होकर वैसी ही प्रवृत्ति करनी चाहिए। शुद्ध जड़ और चैतन्य में भेद नहीं के वरावर है। सारा जगत् जड़-रूप ही दीख पड़ता है। आत्मा तो क्वचित् ही प्रकाशित होती है। ऐसा व्यवहार अलौकिक पुरुषों का होता है और मैंने यह देखा है कि ऐसा व्यवहार श्रीमद् राजचन्द्र भाई का था।"

गांधी जी के समक्ष जव भी करणीय-अकरणीय, धर्माधर्म का संकट उत्पन्न हुआ उन्होंने रायचन्द भाई से सलाह ली। यद्यपि उन्होंने रायचन्द भाई को अपना गुरु नहीं वनाया और वह जन्म भर गुरु की खोज में रहे पर श्रीमद् राजचन्द्र को धर्म-निदेशक मानते थे, इसमें सन्देह नहीं है।

५. तालसताय

रूस के अभिजात घराने में जन्मे इस दार्शनिक एवं चिन्तक के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से गांधी जी अत्यन्त प्रभावित थे। अन्यत्र हमने तालसताय की कुछ उन

कृतियों के बारे में लिखा है, जिन्हें गांधी जी ने पढ़ा और सराहा था। किन्तु इस रूसी महापुरुष का जीवन स्वयं में एक सराहनीय महाकाव्य है, जिसका अध्ययन गांधी जी ने बड़ी रुचि से किया था।

तात्सताय ने धनी घर में जन्म लेकर भी साधारण श्रमिक और कृषक का जीवन बिताया। शस्त्रयुद्ध के वह घोर विरोधी थे। उनमें विश्व-मानवता के सौहार्द्र के प्रति बलवती आस्था थी। वह धर्म के उस अंश पर बल देते थे जो समग्र विश्व का मानव धर्म कहा जा सकता है। धर्म के नैतिक पक्ष के प्रति वे जागरूक थे। ईश्वर के अस्तित्व के प्रति उनकी दृढ़ निष्ठा थी और प्रभु को हृदय की गुहा में खोजने के समर्थक थे।

स्पष्ट है कि ताल्सताय की यह जीवन-दृष्टि गांधी जी को अपने चिन्तन के अति निकट प्रतीत हुई। उन्होंने दक्षिण अफ्रीका-प्रवास के दौरान ताल्सताय से पत्र-व्यवहार किया। आगे चल कर उन्होंने अपनी धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक मान्यताओं में ताल्सताय की विचारणा का उद्धरण बड़ी श्रद्धा से अनेक स्थलों पर प्रस्तुत किया। उन्होंने प्रत्येक मनुष्य के लिए श्रम की अनिवार्यता का सिद्धान्त ताल्सताय से ही लिया था। दक्षिण अफ्रीका में तो ताल्सताय फार्म की स्थापना ही की थी। गांधी जी महापुरुषों की जिस त्रयी को अपना आदर्श मानते हैं ताल्सताय उनमें से एक हैं।

७. कोट्स

ये श्री बेकर के प्रार्थना-समाज के सदस्य एक क्वेकर ईसाई थे। ये निर्मल स्वभाव के धर्मनिष्ठ युवक थे। गांधी जी की श्री कोट्स से गहरी मैत्री हो गई। दोनों साथ घूमने जाते और धार्मिक सत्संग करते। श्री कोट्स ने गांधी जी को ईसाई-धर्म की अनेक पुस्तकें पढ़ने के लिए दीं। वह गांधी जी को ईसाई बनाने के लिए अथक प्रयत्न करते रहे और इसके लिए उन्होंने ईसाई-धर्म की सूक्ष्म से सूक्ष्म विशेषताओं का वर्णन किया। वह गांधी जी को अज्ञान-कूप में पड़ा मानते थे और सहानुभूतिपूर्वक उन्हें उसमें से निकाल कर सच्चे धर्म की राह लगाना चाहते थे। उन्होंने गांधी जी के गले में वैष्णवी कण्ठी पड़ी देखकर उसे उतार देने के लिए कहा, किन्तु गांधी जी ने केवल भावनावश उसे उतारने में असमर्थता व्यक्त की। गांधी जी श्री कोट्स की ईसाई-धर्मसम्बन्धी अनेक व्याख्याओं से सन्तुष्ट हुए परन्तु उनके प्रभाव में आकर वह अपना धर्म नहीं छोड़ सके।

ईसाई-धर्म की व्याख्या, ईसाई धर्म की पुस्तकों एवं धर्मनिष्ठ ईसाइयों के सम्पर्क के लिए गांधी जी को श्री कोट्स से बड़ी सहायता मिली।

८. स्पेंसर वाल्टन

ये दक्षिण अफ्रीका के मिशन के मुख्य थे। गांधी जी ने दक्षिण अफ्रीका-प्रवास के दौरान अपने अन्दर आत्मदर्शन एवं धर्मनिरीक्षण की जो लालसा जाग्रत की थी, उसके लिए मुख्यत: ईसाइयों से सत्संग किया था। श्री वाल्टन ऐसे ईसाइयों में एक प्रमुख विभूति थे। गांधी जी और श्री वाल्टन का सम्बन्ध कौटुम्बिक-सा हो गया। श्री वाल्टन का ढंग निराला था। उन्होंने कभी गांधी जी से ईसाई बनने को नहीं कहा, पर अपना जीवन उनके समक्ष रख दिया। श्री वाल्टन की धर्मपत्नी भी अत्यन्त तेजस्वी एवं विनीत स्वभाव की महिला थीं। इस परिवार का वातावरण एक धर्मपरायण व्यक्ति के परिवार का आदर्श था। इस दम्पति में उदारता, सहिष्णुता, सत्य, नम्रता, उद्योगशीलता और कर्त्तव्यपरायणता कूट-कूट कर भरी थी। वाल्टन दम्पति के साथ गांधी जी खुल कर धर्म-चर्चा कर सके। इनके प्रभाव से गांधी जी ईसाई तो नहीं बन सके, पर उन्हें एक आदर्श धार्मिक पुरुष की झांकी निश्चित रूप से मिल गई।

९. रामकृष्ण परमहंस

बंगाल के सुप्रसिद्ध अद्वैतवादी परमहंस रामकृष्ण अध्यात्म-जगत् की एक मान्य विभूति थे। शक्ति के परम आराधक इस संत की अनन्य भक्ति आधुनिक युग की एक पवित्र उपलब्धि कही जायगी।

गांधी जी रामकृष्ण के चरित से अत्यन्त प्रभावित थे। वह उनकी भक्ति के गहरे प्रशंसक थे। उनकी दृष्टि में शिष्य विवेकानन्द की अपेक्षा गुरु रामकृष्ण अधिक श्रेष्ठ सन्त थे, इसलिए नहीं कि गुरु शिष्य से बड़ा होता है बल्कि इसलिए कि विवेकानन्द एक प्रचारक के रूप में चाहे जितने महान रहे हों, तदाकार तद्रूप भक्ति में रामकृष्ण ही श्रेष्ठ ठहरते हैं।

रामकृष्ण के वचनों और उपदेशों को गांधी जी बड़ी तन्मयता से मनन करते थे। परमहंस का एक स्मरणीय वचनामृत राजकुमारी अफ्री एरिस्टार्यी ने गांधी जी को भेजा था जो निम्नलिखित है—

"जब तुम काम करते हो तो अपना एक हाथ इस्तेमाल करो और दूसरा भगवान के चरणों में रहने दो। जब काम बन्द रहे तब उनके चरण दोनों हाथों से पकड़ कर अपने हृदय पर रख लो।"

गांधी जी उक्त वचन पर मुग्ध हो गये थे और उन्हें यह अपने जीवन-सिद्धान्तों की प्रतिध्वनि प्रतीत हुई थी।

टिप्पणी

गांधी जी मधुमक्षिका-वृत्ति के महापुरुष थे; हर व्यक्ति, धर्म और स्थिति से अमृत ग्रहण कर लेते थे। उनके जीवन में कितने ही व्यक्तियों का योग है। अपने बहुत-से सहयोगियों एवं अनुयायियों से भी उन्होंने धर्म की, सत्य की बहुतेरी व्याख्याओं में सहायता ली। आचार्य विनोबा, आचार्य काका कालेलकर, स्व० किशोरीलाल भाई इत्यादि से भी विचार-विमर्श करते रहते थे। यहां जो चन्द नाम दिये गये हैं, वे अन्तिम नहीं हैं; केवल सूचक मात्र हैं।

[३]

कृतियाँ : प्राचीन

१. गीता

कर्मयोग का शाश्वत सन्देश गीता, महाभारत का एक अंश है। भारत के जनमानस में सदियों से इस कृति के प्रति शाश्वत समादर की भावना वद्धमूल होती रही है। यह साक्षात् परब्रह्म की वाणी मानी जाती है, अतएव इसकी शिक्षाओं को लोग ईश्वरीय अनुज्ञा मानकर स्वीकारते हैं।

गांधी जी ने सर्वप्रथम इंग्लैण्ड में गीता से परिचय प्राप्त किया। कुछ ही दिनों में यह कृति उनकी प्रेरणाओं, मान्यताओं का केन्द्र-बिन्दु बन गई। गीता को वह माता और कामधेनु मानने लगे। उन्होंने गीता पर स्वयं ही टीका लिखी, जो प्रकाशित हो चुकी है। गीता के कर्मयोग को गांधी जी ने अपने जीवन में उतारा। उन्होंने कर्मयोग की विशद व्याख्या स्थल-स्थल पर की है और सम्पूर्ण मानवता को उस पर दृढ़तापूर्वक चलने का उपदेश किया है।

कुछ विद्वानों का कथन है कि गीता में भगवान कृष्ण ने कर्त्तव्य की वेदी पर निर्मम होकर हिंसक युद्ध करने और दुष्ट अथवा अन्यायी को मारने की खुली छूट दी है। दूसरे शब्दों में गीता का मूल आदेश हिंसा है। किन्तु गांधी जी इसके विपरीत मानते हैं कि गीता का मूल स्वर अहिंसा है। करणीय कर्त्तव्य के समक्ष मोह में न पड़ना उचित है, कभी-कभी जीव-हरण भी दयावश अर्थात् अहिंसा मानी जा सकती है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि गीता युद्ध और हिंसा सिखाती है। यह तो इस ग्रन्थ-रत्न का जल्दी में लगाया हुआ भ्रामक अर्थ है। महाभारत के महासमर की समाप्ति पर केवल पाँच पाण्डव शेष रह जाते हैं; उनके विरोधी तो नष्ट हो ही जाते हैं, साथ ही उनके स्वजन एवं बन्धुजन भी मारे जाते हैं, जिनके योगक्षेम के लिए पाण्डवों ने राज्य हस्तगत करना चाहा था। और इसके साथ ही देश की सुजलां-सुफलां धरती और इसकी गोद में समृद्धि की वीणा बजाने वाले असंख्य पुरुष, उन पुरुषों-द्वारा यत्न से पोषित एक महान संस्कृति और उनका ज्ञान, विज्ञान, कला आदि सब एक महासमर की भेंट चढ़ जाते हैं। शेष रहता है एक अवसाद-पूर्ण निष्कम्भ जिसमें चिताओं की लपटें हैं, विधवाओं का विलाप है, विकलांगों की आहें हैं और है युद्धोत्तरकालीन मनहूसी, सन्नाटा, अनाचार,

अनैतिकता एवं वर्ण-संकर सन्तति। क्या इस विषादमय दृश्य को विजय कहा जा सकता है? इसका अर्थ तो यह हुआ कि शस्त्रयुद्ध में विजेता और विजित दोनों पराभूत और विफल-मनोरथ रहते हैं। इसलिए गीता का सन्देश शस्त्र-युद्ध एवं हिंसा की निरर्थकता सिद्ध करना है, उसका समर्थन करना नहीं।

गीता से अहिंसा की प्रेरणा प्राप्त करना गांधी जी के दार्शनिक मस्तिष्क की एक मौलिक कल्पना कही जायगी। उन्होंने यावज्जीवन इस ग्रन्थ पर श्रद्धा रखी और इससे प्रेरणा प्राप्त करते रहे।

२. रामचरित मानस

गांधी जी की दृष्टि में गोस्वामी तुलसीदास की अमर कृति 'रामचरितमानस' मानव जीवन के शाश्वत मूल्यों का महत्वपूर्ण विवेचन है। इस कृति से गांधी जी का परिचय बाल्यावस्था में ही हो गया और वह इसकी रसमय कथा के माध्यम से अनेक आदर्शों के अंकुर हृदय में प्रस्फुटित कर चुके थे। आगे चल कर उन्होंने इस कृति से अधिकाधिक प्रेरणा प्राप्त की। गांधी जी सगर्व कहा करते थे कि यदि हिन्दू-धर्म का सम्पूर्ण विशाल साहित्य-भाण्डार नष्ट हो जाय और मात्र गीता एवं रामायण शेष रहें तो भी इस धर्म का कुछ नहीं बिगड़ेगा। रामचरितमानस में प्रतिष्ठित मर्यादाओं के कठोर किन्तु स्पृहणीय, अनुकरणीय मानदण्ड को गांधी जी ने दृढ़ता से अपने जीवन में उतारा था। उनकी धार्मिक मान्यताओं की पृष्ठभूमि में रामचरित मानस की प्रेरणा सहज ही देखने को मिलती है।

३. योगदर्शन

षड्दर्शनों में से योग दर्शन महर्षि पतंजलि की कृति है। इसमें योगमार्ग की विशद व्याख्या की गई है। गांधी जी ने इस कृति को गम्भीरता से पढ़ा था। इसके अहिंसा-विषयक सूत्र 'अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः' को उन्होंने अनेक स्थलों पर उद्धृत किया है।

४. ईशोपनिषद्

इस पुस्तक का पूरा नाम ईशावास्योपनिषद है। गांधी जी ने उपनिषदों के विशाल भण्डार का एक-एक ग्रन्थ-रत्न देखा-परखा था। पर वह सबसे अधिक प्रभावित ईशोपनिषद से हुए। इस ग्रन्थ का पहिला श्लोक गांधी जी के विचार से विश्व के एक श्रेष्ठतम सिद्धान्त की अवतारणता करता है। वह श्लोक यों है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंचजगत्यां जगत्।
तेनत्यक्तेन भुंजीथाः मागृधः कस्यस्विद्धनम्॥

"इस संसार में जो कुछ है वह सब ईश्वर का है—यह मान कर ईश्वर-द्वारा उच्छिष्ट जो प्राप्त हो हम उसी का भोग करें और किसी के धन की लालसा न रखें।"

गांधी जी ने इस चमत्कारिक श्लोक से ट्रस्टीशिप (संरक्षकता) के जिस मौलिक सिद्धान्त का विकास किया वह समाज की आर्थिक समस्याओं के लिए एक सरल-सहज निदान प्रस्तुत करता है।

जगत् में सब कुछ ईश्वर का है तो व्यक्तिगत स्वामित्व की बात ही कहाँ रही? यदि हम इस आदर्श को मान लें तो आर्थिक क्षेत्र में होड़ाहोड़ी, अशान्ति और वंचना का जो दौर चल रहा है, जिसकी चरम परिणति पर महायुद्ध तक हो चुके हैं, वह समाप्त हो जायगा। तब हम उतनी ही सम्पत्ति का उपभोग करेंगे, जितने की हमें जरूरत है। शेष को हम ईश्वरीय आदेश मान कर समाज के दूसरे जरूरतमन्द भाइयों को दे देंगे।

संरक्षकता के सिद्धान्त को हम धार्मिक अर्थशास्त्र का सिद्धान्त कह सकते हैं। यह समाजवाद एवं साम्यवाद का आध्यात्मिक विकल्प है, जो पूर्वोक्त दोनों की त्रुटियों से पूर्णतया मुक्त है। संरक्षकता का सिद्धान्त गांधी जी की मौलिक देन है। गांधी जी ने इस सिद्धान्त की प्रेरणा ईशोपनिषद से ही प्राप्त की थी।

५. कुरान शरीफ़

इस्लाम धर्म के प्रतिनिधि धर्म-ग्रन्थ कुरान के प्रति गांधी जी की सम्यक् अनुरक्ति थी। उन्होंने अनेक टीकाओं एवं भाष्यों के माध्यम से इस ग्रन्थ का गम्भीर अध्ययन किया था। इस ग्रन्थ में वर्णित एकेश्वरवाद एवं धर्म के सरल, सहज तत्वों की बात उनके हृदय को छूती थी। किन्तु कुरान का उद्धरण देकर सामाजिक अथवा राजनीतिक क्षेत्र में जिन गलत कामों का औचित्य सिद्ध किया जा सकता था, गांधी जी उन सबका समर्थन नहीं कर सकते थे। उनके जीवन में अनेक अवसर ऐसे आये जब उन्हें कुरान का उद्धरण देनेवाले मुल्ला-मौलवियों की भूल सुधारने को बाध्य होना पड़ा। उदाहरण के लिए संगसारी अर्थात् पापी को पत्थर के मार-मार कर खत्म कर देने की सजा पर एक विवाद उठ खड़ा हुआ था। कुरान के पण्डितों का मत था कि यह सजा कुरान-विहित है किन्तु गांधी जी ने इसका स्पष्ट प्रतिवाद किया। इसी प्रकार कुरान में काफिर को मारना पुण्य-कार्य बताया गया है। गांधी जी ने इस मान्यता का भी खण्डन किया था।

किन्तु कुरान शरीफ़ के उत्तम उपदेशों का गांधी जी पर वांछित प्रभाव पड़ा था, इसमें सन्देह नहीं।

६. बाइबिल

ईसाई धर्म का प्रतिनिधि धर्म-ग्रन्थ बाइबिल विश्व की श्रेष्ठतम आध्यात्मिक कृतियों में समादृत है। गांधी जी का इस कृति से प्रथम परिचय इंग्लैण्ड में हुआ। उन्होंने बाइबिल को बड़ी रुचि से पढ़ा। इसके 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' (पुराने करार) प्रकरण से तो वे तनिक भी आकर्षित न हुए किन्तु 'न्यू टेस्टामेण्ट' (नये करार) ने उनकी आध्यात्मिक क्षुधा को शान्त किया। ईसा का गिरि-प्रवचन (सर्मन आन द माउण्ट) और उनके दस आदेश (कमाण्डमेण्ट्स) उन्हें अपनी भावना के अनुरूप लगे। इस अंश में वर्णित क्षमा, करुणा, दया और निष्ठापरक उपदेश गांधी जी के मन में रम गये।

आगे चलकर दक्षिण अफ्रीका में गांधी जी ने बाइबिल और उसके भाष्यों का गम्भीर अध्ययन किया। वे ईसाई धर्म के ज्ञाताओं से समय-समय पर खुलकर बाइबिल के सम्बन्ध में विवेचना करते थे। पर उन्हें इस ग्रन्थ के उस वचन पर आस्था नहीं थी जिसमें कहा गया है कि ईसा एकमात्र ईश्वर का बेटा है और मुक्ति पाने के लिए मनुष्य को उसकी शरण जाना चाहिए अर्थात् ईसाई हो जाना चाहिए। गांधी जी मानते थे कि यदि ईसा ईश्वर के पुत्र हैं तो उस अर्थ में सम्पूर्ण मानवता ईश्वर की ही सन्तान है। और मुक्ति पाने के अनेक मार्ग हो सकते हैं, पर यह मार्ग एकमात्र नहीं है। दूसरे सभी प्रधान धर्म-मार्गों का भी गन्तव्य मुक्ति ही है। मुक्ति पाने के लिए बाइबिल का आदेश मान कर ईसाई-धर्म स्वीकार करना जरूरी नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति स्वधर्म का पालन करते हुए ही मुक्त हो सकता है क्योंकि 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।'—अपने धर्म का पालन करते हुए मृत्यु भी श्रेयस्कर है, किन्तु पर-धर्म स्वीकार करना भय का कारण है।

७. ज़ेन्दावेस्ता

पारसी धर्म का मूल ग्रन्थ जेन्द अवेस्ता भारतीय वेदों के अत्यन्त निकट है। इसकी रचना से ज्ञात होता है कि एक समय मध्य एशिया में भारतीय और ईरानी शाखा के आर्य एक साथ रहते थे और वह प्राकृतिक शक्तियों, विशेषकर अग्नि की उपासना का आदेश देता है। अग्नि शरीर का धारक तत्व, बलदायक तत्व है, इसलिए पारसी धर्मग्रन्थ ने उसकी महिमा का गुणगान किया है। अहुरमज्द और अहरिमान, क्रमशः दैवी और राक्षसी शक्तियों की व्याख्या भी इस ग्रन्थ में है।

कृतियां : अर्वाचीन

१. सर्वोदय (अन टु दिस लास्ट)

श्री रस्किन की यह कृति दक्षिण अफ्रीका में श्री पोलक ने गांधी जी को पढ़ने के लिए दी थी। इस पुस्तक का असर गांधी जी पर जादू-भरा हुआ। जैसा कि पुस्तक के शीर्षक से ज्ञात है, इसमें समाज के सभी व्यक्तियों का सभी क्षेत्रों में कल्याण हो, इस विषय की व्याख्या की गई है। गांधी जी ने पुस्तक पढ़ने के साथ ही अगली भोर से उसके अनुरूप अपना और साथियों का जीवन ढालना प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने इसका अनुवाद भी किया, जो प्रकाशित हो चुका है।

सर्वोदय के सिद्धान्त का सारांश गांधी जी की राय में इस प्रकार है—

१. सबके भले में अपना भला समाया हुआ है।

२. वकील और नाई दोनों के काम की कीमत एक-सी होनी चाहिए, क्योंकि आजीविका का अधिकार सबको समान है।

३. सादा, श्रमपूर्ण, कृषक का जीवन ही सच्चा जीवन है।

गांधी जी ने धार्मिक ही नहीं सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में भी सर्वोदय के सिद्धान्तों का अनुसरण किया।

२. 'पिलग्रिम्स प्राग्रेस'

जान बनियन की यह प्रसिद्ध कृति विश्व-साहित्य में अपना स्थान रखती है। यह एक आस्थावान ईसाई-द्वारा किया गया बाइबिल के चुने हुए अंशों पर भाष्य है। यहां हम इस कृति और इसके कृतिकार के सम्बन्ध में गांधी जी के विचार उन्हीं के शब्दों में दे रहे हैं। ये विचार गांधी जी ने आश्रमवासी बालकों के समक्ष पिलग्रिम्स प्र.ग्रेस का पाठ आरम्भ करते हुए व्यक्त किये थे।

"देखो भाई, इसका लेखक कौन है? जान बनियन। तुम्हें मालूम है, वह कौन था? वह हमारे प्रह्लाद जी-जैसा सत्यव्रती था। जैसे प्रह्लाद जी ने सत्य की खातिर कष्ट सहे, वैसे ही वह भी सत्य के खातिर जेल में रहा था, और जैसे हमारे तिलक महाराज ने जेल में रह कर गीता-रहस्य लिखा था, वैसे ही उसने भी जेल में यह तीर्थयात्री की यात्रा लिखी थी। इसे यात्रा कहो, उत्थान कहो या प्रगति कहो।

"जैसे गीता पर भाष्य है वैसे पिलग्रिम्स प्राग्रेस बाइबिल का एक भाष्य है। इसे बाइबिल पर लिखा गया भाष्य भी नहीं कहा जा सकता, बल्कि कहना चाहिए कि यह बाइबिल के सबसे सुन्दर भाग का विवेचन है। अंग्रेजी में तो यह बहुत ही ऊंची चीज मानी जाती है; इसे लगभग बाइबिल के समान स्तर पर ही प्रतिष्ठित किया जाता है। बनियन ने बच्चों के लिए यह इतनी सरल और सुन्दर भाषा में लिखी है कि जहां-जहां अंग्रेजी भाषा बोली जाती है, वहां-वहां वह बच्चों के लिए अद्‌भुत पुस्तक मानी जाती है। इससे भी अधिक, पुस्तक के उपोद्‌घात में, जैसे तुलसीदास जी ने रामायण के बारे में कहा है, वैसे ही इस पुस्तक के बारे में भी कहा गया है कि इसे भविष्य में सब लोग पढ़ेंगे। और यह है भी रामायण–जैसी। जैसे तुलसीकृत रामायण में बच्चों को भी रस आता है और बहुत-से बड़े-बड़े लोग भी गोते खाते हैं, उसी तरह इस पुस्तक में भी बच्चों को बहुत रस आ सकता है। परन्तु अब तो हम यह पुस्तक पढ़ेंगे। देखो उसने यह कहा है––

"संसाररूपी वन में भटकते-भटकते.....हमारे यहां भी संसार को घोर वन बताया गया है। इसी तरह उसने भी संसार को वन कहा है। वह कहता है, मैं ऐसे संसाररूपी वन में थका-माँदा एक घोर गुफा में आ पड़ा। शरीर-श्रम से ही थका-माँदा नहीं था, बल्कि आत्मिक श्रम से भी श्रान्त था। अनेक विचार किये, अनेक स्थानों में अनेक बातें जानीं और सुनीं, परन्तु कोई तत्व की बात नहीं मिली।" बेचारे की आत्मा थककर चूर हो गई थी, इसलिए वह थकान से सो गया। सो गया और सपना देखा। सपने में उसने क्या देखा ? किसे देखा रूखी,[1] मालूम है, फटे-पुराने कपड़े पहिने एक आदमी को। अच्छा बच्चो! भला बताओ तो जब सुदामा श्रीकृष्ण के यहां गया, तब वह कैसे कपड़े पहिने था ? क्या वह रेशमी किनारी की धोती, जरी का कोट, खासी कीमती दक्षिणी पगड़ी और कसीदे-दार दुपट्टा था ? नहीं वह फटे-पुराने कपड़े पहिने था। इसी तरह यह आदमी भी चिथड़े पहिने था। क्यों रूखी, मालूम है, सुदामा क्या पहिने था ? तुझे तो मालूम नहीं होगा, लेकिन मुझे तो मालूम है। क्योंकि मैं तो सुदामा के गांव पोरबन्दर में पैदा हुआ हूं। खैर, सुदामा का मुंह किस तरफ था ? क्या अपने घर की तरफ था ? भाई, वह तो अपना घर छोड़ कर भगवान के घर जा रहा था। इसी तरह हमारा यात्री भी अपने घर की तरफ से मुंह मोड़ कर किसी दूसरी ही ओर पग बढ़ा रहा था। और फिर उसकी पीठ पर क्या लदा था ? जैसी बोरी उसकी पीठ पर लदी थी वैसी ही, रूखी, जब हम कोचरब में थे, तब कभी मजदूर पाँच

---

१. मगनलाल गांधी की पुत्री।

मन की बोरी लेकर आता था; वह पसीने से लथपथ होता था और इतना झुक जाता था कि मैं उसे कैसे कह सकता था कि तू सीधे खड़ा रह। इस आदमी के हाथ में एक पुस्तक थी। वह पुस्तक और कोई नहीं बाइबिल ही थी। उसे पढ़ कर उसकी आँखों से आँसू झर रहे थे। गोपीचन्द की याद है तुम्हें? जब वह नहाने बैठा था, तब उसकी माता उसे ऊपर से देख रही थी; उसकी आँखों से आंसू झर रहे थे और गोपीचन्द के ऊपर गिर रहे थे। बादल तो कोई थे नहीं, फिर भी वर्षा कहां से हो रही थी? गोपीचन्द ने देखा कि वर्षा तो उसकी माता की आँखों से हो रही है। लेकिन वह क्यों रो रही थी, यह तो फिर कभी समझाऊंगा। परन्तु इस यात्री की आँखों से भी आँसू झर रहे थे। वह भगवान के घर जाने के लिए निकला था। वह तो भक्त-प्रवर था इसलिए उसकी आँखों से आँसू झर रहे थे।"

३. वैकुण्ठ तुम्हारे हृदय में है

'दि किंगडम आफ़ गाड इज विदिन यू', काउण्ट लियो तालसताय की यह कृति विश्व-साहित्य में अपना स्थान रखती है। गांधी जी ने यह पुस्तक पढ़ी तो वे इसकी स्वतन्त्र विचारशैली, प्रौढ़नीति और सत्य के कायल हो गये। इस पुस्तक ने उनका मन मोह लिया और वे इससे अत्यधिक प्रभावित हुए।

४. गास्पेल्स इन ब्रीफ (नवविधान का सार)

५. ह्वाट टु डू? (क्या करें?)

ये दोनों कृतियाँ प्रसिद्ध रूसी विचारक एवं साहित्यकार लियो तालसताय की हैं। गांधी जी ने दक्षिण अफ्रीका में दोनों कृतियों को पढ़ा था। तालसताय की विचार-धारा पर वे पूर्णतया मुग्ध हुए बिना न रह सके। इन कृतियों ने उन्हें यह विचार करने के लिए प्रेरणा दी कि विश्व-प्रेम मनुष्य को कहां तक ले जा सकता है।

६. जरथुस्त्र के वचन : सेइंग्स आफ़ जरथुस्त्र

यह पुस्तक पारसी धर्म के आदि प्रवर्तक जरथुस्त्र का संग्रह है। इसे गांधी जी ने दक्षिण अफ्रीका में पढ़ा और इसके द्वारा उन्हें पारसी धर्म को समझने में सहायता मिली।

७. धर्म-विचार

श्री नर्मदाशंकर राय की यह पुस्तक किसी मित्र ने गांधी जी को दक्षिण अफ्रीका में भेजी थी। इस कृति की प्रस्तावना गांधी जी को अत्यन्त आकर्षक लगी।

श्री नर्मदाशंकर राय अपने विलासमय जीवन के लिए प्रसिद्ध थे। प्रस्तावना में उनके जीवन में हुए परिवर्तनों का वर्णन किया गया था। इसने गांधी जी के हृदय में पुस्तक के प्रति श्रद्धा बढ़ा दी।

८. इण्डिया : ह्वाट कैन इट टीच अस ?
(भारत क्या सिखाता है ?)

उपर्युक्त कृति संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान, वेद-भाष्यकार एवं प्राच्यविद्याविद् मैक्समूलर की है। मैक्समूलर को भारतीय संस्कृति के आदि स्रोत--वेदों से पहिली बार पाश्चात्य जगत् को परिचित कराने के लिए सदैव स्मरण किया जाता रहेगा। उपर्युक्त पुस्तक में उन्होंने भारत के सांस्कृतिक, धार्मिक एवं सामाजिक गौरव का मुक्तकण्ठ से यशोगान किया है। गांधी जी ने इस पुस्तक को अत्यन्त रुचि से पढ़ा और इसने हिन्दू-धर्म के प्रति उनकी श्रद्धा को बढ़ाने में सहायता दी।

टिप्पणी

गांधी जी ने विविध स्रोतों, व्यक्तियों, कृतियों, भजनों से धर्म एवं नीति की प्रेरणाएं प्राप्त की थीं। इनमें वेद, उपनिषद्, (विशेषत: ईशोपनिषद) योगसूत्र, महाभारत, रामायण, धम्मपद, बाइबिल, कुरानशरीफ, संतों की वाणियां एवं पद मुख्य हैं। देश-विदेश की कितनी ही कृतियों से वह प्रभावित हुए। वह एक विकासमान पुरुष थे और हर जगह से सत्य एवं श्रेय ग्रहण कर लेते थे।

सांकेतिका

नीति

[अ]

[ई]

[उ]

[ऋ]

[ए]

[ओ]

[क]

[फ]

[ब]

[भ]

[म]

[य]

[श]

[स]

[ह]

सांकेतिका

धर्म

[अ]

[आ]

[उ]

[ख]

[घ]

[च]

[ज]

[ज्ञ]

[ध]

[न]

[प]

[फ]

[म]

[र]

[ल]

[व]

(श)

[ष]

[स]

[ह]

सांकेतिका

दर्शन

[अ]

[फ]

[ब]

[भ]

[म]

[य]

[र]

[ल]

[व]

[श]

[स]

गांधी-साहित्य प्रकाशन

का

चतुर्थ चरण

●

शिक्षण एवं संस्कृति

- गांधी जी के तत्सम्बन्धी विचारों का विशाल संकलन।
- भारतीय जीवन में शिक्षण के आधार क्या होने चाहिए और उसे किस प्रकार जीवन के निकट लाया जा सकता है, इस पर प्रामाणिक विचार।
- संस्कृति एवं कला की सजीव सामग्री।

शीघ्र तैयार होगा

●

गांधी-साहित्य-प्रकाशन

का

पञ्चम चरण

•

सामाजिक समस्याएं

गांधीजी की तद्विषयक रचनाओं, भाषणों एवं सूत्रों का विशाल संग्रह

•

ग्रन्थ तैयार हो रहा है।

•

गांधी-साहित्य-प्रकाशन

इलाहाबाद